

प्रेमचंद रचनावली

8

प्रेमचंद रचनावली

8



सम्पादकीय

प्रेमचंद रचनावली

खण्ड : आठ

भूमिका एवं मार्गदर्शन

डॉ० रामविलास शर्मा





प्रकाशकीय

'प्रेमचंद रचनावली' का प्रकाशन **जनवाणी** के लिए गौरव की बात है। कॉपीराइट समाप्त होने के बाद प्रेमचंद साहित्य विपुल मात्रा में प्रकाशित-प्रचारित हुआ। पर उनका सम्पूर्ण साहित्य अब तक कहीं भी एक जगह उपलब्ध नहीं था। लगातार यह जरूरत महसूस की जा रही थी कि उनके सम्पूर्ण साहित्य का प्रामाणिक प्रकाशन हो।

श्रेष्ठ और कालजयी साहित्यकारों के समग्र कृतित्व का एकत्र प्रकाशन कई दृष्टियों से उपयोगी होता है। इसी आलोक में **'प्रेमचंद रचनावली'** की कुछ विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख बहुत आवश्यक है। इस रचनावली में पहली बार सम्पूर्ण प्रेमचंद साहित्य सर्वाधिक शुद्ध और प्रामाणिक मूल पाठ के साथ सामने आया है। सम्पूर्ण रचनाओं का विभाजन पहले विधावार तत्पश्चात् कालक्रमानुसार किया गया है। रचनाओं के प्रथम प्रकाशन एवं उनके कालक्रम संबंधी प्रामाणिक जानकारी प्रत्येक रचना के अन्त में दी गई है जिससे प्रेमचंद के कृतित्व के अध्ययन और मूल्यांकन में विशेष सुविधा होगी। इसकी अधिकांश सामग्री प्रथम संस्करणों या काफी पुराने संस्करणों से ली गई है। प्रेमचंद साहित्य के अध्ययन, अध्यापन तथा शोध के लिए इस रचनावली का अपना एक ऐतिहासिक महत्त्व है, क्योंकि इसमें प्रेमचंद की अब तक उपलब्ध सम्पूर्ण तथा अद्यतन सामग्री का समावेश कर लिया गया है। रचनावली के बीस खण्डों का क्रमबद्ध प्रारूप इस प्रकार है—

> **खण्ड 1-6 :** मौलिक उपन्यास, **खण्ड 7-9 :** लेख, भाषण, संस्मरण, संपादकीय, भूमिकाएं, समीक्षाएं, **खण्ड 10 :** मौलिक नाटक, **खण्ड 11-15:** सम्पूर्ण कहानियां (302), **खण्ड 16-17 :** अनुवाद (उपन्यास, नाटक, कहानी), **खण्ड 18 :** जीवनी एवं बाल साहित्य, **खण्ड 19 :** पत्र (चिट्ठी-पत्री), **खण्ड 20 :** विविध।

रचनावली की विस्तृत भूमिका मूर्धन्य आलोचक डॉ॰ रामविलास शर्मा ने लिखी है, जो इस रचनावली की सबसे बड़ी उपलब्धि है। डॉ॰ शर्मा ने अपनी साहित्य-साधना के व्यस्त क्षणों में भी हर कदम पर हमारा मार्गदर्शन किया। रचनावली का जो यह उत्कृष्ट रूप सामने आया है यह सब उन्हीं के आशीर्वाद का प्रतिफल है। इस कृपा और सहयोग के लिए मैं उनके प्रति नतमस्तक हूं।

बिहार विधान परिषद् के माननीय सभापति, हिन्दी और उर्दू के वरिष्ठ साहित्यकार प्रो॰ जाबिर हुसेन ने प्रेमचंद रचनावली के संपादक-मण्डल का अध्यक्ष होना स्वीकार किया और रचनावली के संपादन कार्य में हमारा उचित मार्गदर्शन किया, इसके लिए मैं उनका आभारी हूं। साथ ही संपादक-मण्डल के विद्वान सदस्यों के प्रति भी हार्दिक आभार प्रकट करता हूं।

श्री केशवदेव शर्मा ने अपनी तमाम व्यस्तताओं के बावजूद सम्पादन कार्य में जिस गहरी लगन, समझदारी और आत्मीयता से सहयोग किया है उसके लिए उनके प्रति अनेकश: धन्यवाद। उनका अहर्निश सानिध्य मुझे स्फूर्ति प्रदान करता रहा। डॉ॰ गीता शर्मा एवं डॉ॰ अशोक कुमार शर्मा, वेद प्रकाश सोनी तथा डॉ॰ विनय के प्रति भी उनके हार्दिक सहयोग के लिए आभारी हूं।

भाई राम आनंद साहित्य क्षेत्र में प्रवेश करते ही प्रेमचंद द्वारा स्थापित प्रकाशन संस्थान **'सरस्वती प्रेस'** से जुड़ गए थे। लगभग बीस वर्षों तक उन्होंने स्व० श्रीपत राय (प्रेमचंद के ज्येष्ठ पुत्र) के मार्गदर्शन में अप्राप्य प्रेमचंद साहित्य पर शोध कार्य किया। वे स्व० श्रीपत राय के संपादन में प्रकाशित होने वाली विख्यात कथा-पत्रिका **'कहानी'** के सहायक संपादक रहे। श्रीपत राय के देहांत के बाद उन्होंने **'कहानी'** का स्वतंत्र रूप से संपादन किया और उसे नया रूप तथा गरिमा प्रदान की। उन्होंने जिस गहरी सूझ-बूझ, लगन, धैर्य और निष्ठा से इस रचनावली के संपादन कार्य को इतने सुरुचिपूर्ण और वैज्ञानिक ढंग से संपन्न किया, इसके लिए वे हम सबों के साधुवाद के पात्र हैं।

श्री हरीशचन्द्र वार्ष्णेय, श्री प्रेमशंकर शर्मा, श्री उदयकान्त पाठक ने प्रूफ-संशोधन और सम्पूर्ण मुद्रण कार्य में विशेष जागरूकता और मनस्विता का परिचय दिया, इनके साथ विमलसिंह, आर० के० यादव, सुनील जैन, शिवानंदसिंह तथा संस्था के अन्य सभी सहकर्मियों के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करता हूं क्योंकि इन सबके सहयोग और सद्‌भाव के बिना यह काम पूरा होना लगभग असंभव था।

मेरी भ्रातृजा रीमा और भ्रातृज संदीप, संजीव, मनीष, विक्रांत, चेतन की लगन और सूझबूझ ने भी मुझे सदैव प्रेरित और उत्साहित किया वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

रचनावली के मुद्रण का कार्य श्री कान्तीप्रसाद शर्मा की देखरेख में हुआ है। उनकी सूझबूझ और श्रमनिष्ठा के लिए वे हमारे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

सर्वश्री विजयदान देथा, यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', रामकुमार कृषक, स्वामी प्रेम जहीर, डॉ० कुसुम वियोगी, रामकुमार शर्मा आदि सभी मित्रों के सुझावों के लिए भी आभारी हूं।

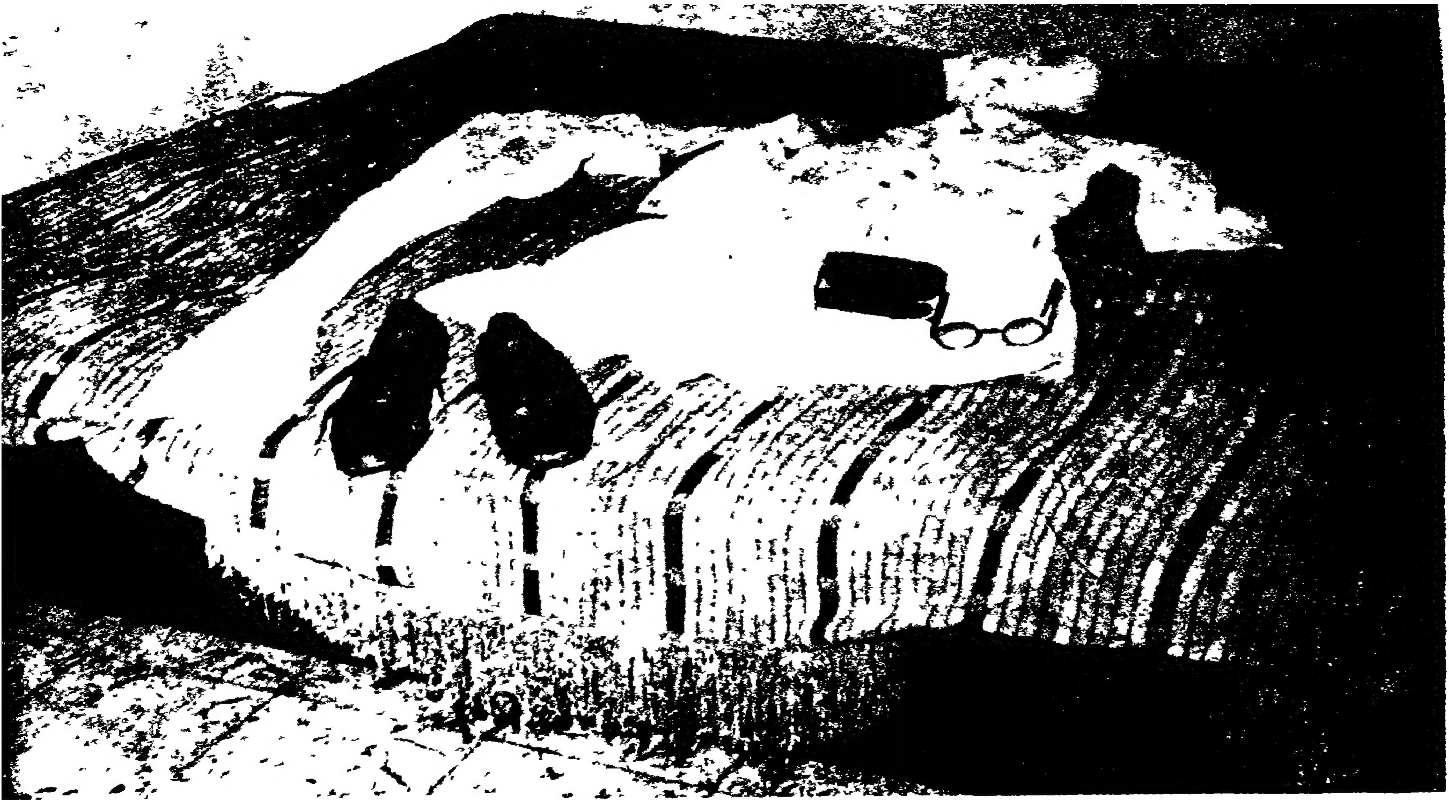
इस कार्य में पूज्य माताजी श्रीमती जसवन्ती देवी का आशीर्वाद और पिताश्री प्रेमनाथ शर्मा का दीर्घकालीन प्रकाशन-व्यवसाय का अनुभव और आशीर्वाद मेरे विशेष प्रेरणा स्रोत रहे। इनके साथ मातृतुल्या भाभी श्रीमती ललिता शर्मा, अग्रज राजकुमार शर्मा, चमनलाल शर्मा, धर्मपाल शर्मा एवं उनकी धर्मपत्नी इन्दु शर्मा के साथ भाई हरीशकुमार शर्मा एवं सुभाषचन्द्र शर्मा के साथ ही चाचा श्री दीनानाथ शर्मा का भी आभारी हूं जिन्होंने पग-पग पर मेरा मार्ग-दर्शन किया। और सबसे अंत में सहधर्मिणी श्रीमती गीता शर्मा ने जो सहयोग और संबल प्रदान किया उसके लिए आभार अथवा धन्यवाद जैसा शब्द बहुत कम होगा। सारा श्रेय उन्हीं का है।

नेशनल लाइब्रेरी, कलकत्ता के सहयोग से दुर्लभ पुस्तक 'महात्मा शेखसादी' लगभग सत्तर वर्ष बाद एक बार फिर इस रचनावली के मार्फत पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की जा रही है। मैं नेशनल लाइब्रेरी कलकत्ता के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूं। उन समस्त संस्थानों, पुस्तकालयों, विभागों, संस्थाओं, लेखकों, संपादकों, अधिकारियों और व्यक्तियों के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूं, जिन्होंने इस रचनावली के आयोजन में सहयोग किया।

अन्त में विद्वान पाठकों से हमारा निवेदन है कि वे इस रचनावली की त्रुटियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करें ताकि आगामी संस्करणों में उन्हें दूर किया जा सके।

हम आशा करते हैं कि हिन्दी जगत् इस बहु-प्रतीक्षित रचनावली का हार्दिक स्वागत करेगा।

अरुण कुमार
(प्रबंध निदेशक)



पहनावा एवं अन्य वस्तुएं सादा जीवन उच्च विचार



राम आनंद (संपादक : प्रेमचद रचनावली) कलामर्मज्ञ स्व रायकृष्ण दास के साथ

प्रेमचंद युगीन स्मृतियां



प्रेमचद की पौत्री कथा लखिका : मारा गय

परम्परा का निर्वाह

अनुक्रमणिका

स्वदेश का संदेश

'स्वदेश' के लिए सचमुच यह संतोष और सौभाग्य की बात है कि उसका जन्म एक नवीन युग में हो रहा है—ऐसे नवीन और शुभ युग में, जो अपने सच्चे सिद्धान्तों के बल पर, निकटवर्ती भविष्य में, सारे संसार से अपनी सत्ता और महत्ता आप मनवा लेगा। परन्तु अभी इस नवीन और शुभ युग की केवल पौ फटी है—प्रकाश होना बाकी है। तो भी हम इस युग का हृदय से स्वागत करते हैं। हमें संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति डॉ० विल्सन के शब्दों में, इस बात पर पूर्ण विश्वास है कि आज से चार-पांच वर्ष पहले 'कोई राष्ट्र किसी विशेष सिद्धान्त को लेकर समर-क्षेत्र में नहीं उतरा था'—केवल युग की आवश्यकता ने सभी राष्ट्रों के मुंह से बड़ी-बड़ी बातें निकलवा ली थी। ऐसे दशा में हम अब यह भी निस्संकोच होकर कह सकते हैं कि इस नवीन युग की आवश्यकता संसार की गति को भी अपने अनुकूल मोड़ लेने से बाज न आयेगी।

हम अपनी इस पिछली बात पर इसलिए और भी जोर देते हैं कि समय की दशा कभी स्थिर नहीं रहती। हां, यह जरूर है कि वायु के समान कभी तो उसकी गति ऐसी मंद होती है कि हमको उसका ज्ञान ही नहीं हो पाता और कभी इतनी प्रचंड कि उसके वेग से प्राचीन से प्राचीन प्रथाएं उखड़ जाती हैं, समाज-सागर में हलचल मच जाती है और बड़े से बड़े अटल सिद्धान्तों की जड़ें हिल जाती हैं। अतएव, वर्तमान समय की गति को, यदि हम इसी प्रचंड पवन के नाम से पुकारें तो बेजा न होगा। उसने दो-एक वर्षों ही में राष्ट्र की दशाओं में वह परिवर्तन कर दिया जो साधारणतः सामान्य गति से, शताब्दियों में भी न होता। अब तक उन स्वराज्य-प्राप्त देशों में भी, जिनका राष्ट्र-संगठन सम्पूर्ण समझा जाता था, कुछ गिने-गिनाये लोग ही जनता के भाग्य के विधाता होते थे। धन सर्वप्रधान वस्तु थी। उसी की वृद्धि पर देश की उन्नति, देश का गौरव और देश की शक्ति निर्भर समझी जाती थी। यदि उस धन की रक्षा करने के निमित्त असंख्य प्राणियों का बलिदान करना पड़े तो भी इसमें कोई आपत्ति न थी। राष्ट्रों का लक्ष्य केवल धन और प्रभुत्व का संग्रह था। न्याय, प्रेम, सद्व्यवहार, दया और धर्म का मान घटते-घटते शून्य हो गया था। धन ही धर्म था, धन ही न्याय और धन ही सब कुछ। जनता केवल धन-वृद्धि की सामग्री मात्र समझी जाती थी। पर इस युद्ध ने इस स्थिति में बहुत कुछ संशोधन कर दिया है। स्वेच्छाचारिता का सम्पूर्ण नाश हो गया है—चाहे वह प्रधान व्यक्तियों के हाथों में रही हो और चाहे राज-कर्मचारियों के। रूस, जर्मनी, आस्ट्रिया आदि देशों में अब जनता स्वयं अपने भाग्य की अधिकारिणी बनती जा रही है। प्रभुत्व और राज्य-विस्तार के लिए वह अपने रक्त बहाने वालों को अब कठिन से कठिन दण्ड देने पर प्रस्तुत है।

यह तो हुआ रण-परास्त देशों का हाल। विजय-प्राप्त देशों में भी जनता के स्वत्व और अधिकार बढ़ा दिये गये हैं। इंगलैंड ने स्त्रियों को अभी तक राजकीय स्वत्वों से वंचित रखा था। मजदूरों और किसानों में भी कितनों ही को ये स्वत्व प्राप्त न थे। पर अब पार्लामेण्ट में बैठने और उसके मेम्बरों के चुनने का अधिकार इतना विस्तृत हो गया है कि वोटरों में लगभग अस्सी लाख स्त्री-पुरुषों की संख्या बढ़ गयी है; केवल इतना ही नहीं, मजदूरों की स्वास्थ्य-रक्षा, उनकी मजदूरी की वृद्धि और अन्य नाना प्रकार की सुविधाओं का प्रयत्न किया जा रहा है। सचमुच जनता का इतना गौरव इस युद्ध से पहले कभी न था। वास्तव में इस युद्ध में अगर किसी की जीत हुई है तो वह है जनता की जीत। इस युद्ध ने जनता के लिए वह कर दिया है जो फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने भी न किया था।

इस युद्ध-रूपी क्षीर-सागर के मथने से दूसरा फल-रत्न यह निकला है कि अब निर्बल जातियों को शक्ति-सम्पन्न जातियों का आहार नहीं बनने दिया जायगा। अब तक शक्तिशाली जातियां निर्बल को अपना खाद्य समझती थीं। जिसकी लाठी उसकी भैंस का सिद्धान्त सर्वमान्य था। पोलैण्ड अपनी इच्छा के विरुद्ध जर्मनी, रूस, आस्ट्रिया आदि देशों का ग्रास बना हुआ था। सर्बिया पर आस्ट्रिया के दांत थे। राज्य-विस्तार की धुन में इस बात की रत्ती भर भी परवाह न की जाती थी कि जिन पर हम अधिकार जमाना चाहते हैं, वास्तव में उनकी अपनी इच्छा क्या है? विजयी राजा अथवा साम्राज्य को अधिकार था कि परास्त देशों के जिस भाग को चाहे हड़प बैठे। यहां तक धांधली होती थी कि दहेजों में राष्ट्रों के वारे-न्यारे हो जाते थे। परन्तु अब इस दुरवस्था का संशोधन हो रहा है। अब भविष्य में राष्ट्रों के साथ वस्तुओं या पशुओं के समान व्यवहार नहीं किया जायगा। प्रत्येक जाति को इस बात का अधिकार होगा कि वह अपने भाग्य का आप निर्णय करे, वह जिस साम्राज्य के आधीन रहना चाहे रहे, और उसकी इच्छा हो तो, स्वयं अपना राज्य-शासन आप करे। हम नहीं कह सकते कि इस प्रथा का क्या फल होगा। संभव है, संसार असंख्य छोटे-मोटे राज्यों में विभक्त हो जाय, पर कुछ भी हो उसका फल इतना अवश्य होगा कि राज्य-विस्तार की कुचेष्टा का लोप हो जायगा। निर्बल जातियां भी निश्शंक अपना जीवन-निर्वाह कर सकेंगी। उन्हें किसी बलवान जाति के पैरों तले कुचले जाने का भय न रहेगा। वास्तव में यह समय राष्ट्रों के निर्माण का समय है। 'लीग आफ नेशन्स' अर्थात् जातियों की पंचायत का उद्योग हो रहा है और आशा है कि थोड़े ही दिनों में यह संस्था विद्यमान हो जायगी। सचमुच वह दिन संसार के लिए आनन्द का दिन होगा। उस समय यह बड़ी-बड़ी सेनाएं, यह जहाजों के शक्तिमय समूह, यह अस्त्र-शस्त्र की वृद्धि, यह संघर्षण, यह चढ़ा-ऊपरी सब भंग हो जायगी। कम से कम इतनी प्रतिद्वंद्विता न रहेगी भारत की दीन आंखें भी इस पंचायत की ओर लगी हैं, पर कौन यह कहने का साहस करेगा कि हम भी उस पंचायत में सम्मिलित होने के योग्य हैं। हमारे समाज में अभी ऊंच-नीच का विचार ज्यों का त्यों बना है। चमार अब भी अछूत है और डोमों का स्पर्श करना तो हमारे लिए घोर पातक है। मनुष्य की आत्मा की श्रेष्ठता, उसका गौरव, हम भूले बैठे हैं। हमारी दृष्टि स्थूल हो गयी है। वह शरीर के भीतर प्रवेश नहीं कर सकती। उसे आत्मिक समानता, पवित्रता और व्यापकता दिखलायी ही नहीं देती। हमारे कृषक अब भी नीच समझे जाते हैं। उनसे अब भी बेगार ली जाती है, उन पर नाना प्रकार के अन्याय किए जाते हैं, स्वार्थान्ध जमींदार-गण उन्हें सताने और कुचलने में अब भी संकोच नहीं करते। हमारे ऊपर

मूर्खता का अब भी वही पुराना साम्राज्य है। हमें या तो शिक्षा दी ही नहीं जाती या दी जाती है तो वह हमारे आदर्श से बिल्कुल गिरी हुई है। सारांश यह कि उस पंचायत में सम्मिलित होने के पहले हमको बड़ी-बड़ी तैयारियां करनी हैं। जब तक वह तैयारियां पूरी न होंगी तब तक पंचायत में हमें स्थान मिलना कठिन है। हमारी राजनैतिक और सामाजिक सुधारक संस्थाएं अभी तक नगरों का ही चक्कर काटती रही हैं—वे बाहर नहीं निकलने पायीं। हमारी जाति, जो प्रधानत: देहातों में रहती है, बिल्कुल नहीं जनाती कि हम क्या कर रहे हैं। वह हमारी वेश-भूषा और भाव को देखकर हमसे कुछ पृथक-सी हो गयी है। उसे जगाना, उसे अपनाना, उसकी उपेक्षा न करके उसके प्रति प्रेम और संवेदना के भाव प्रकट करना—यह प्रत्येक स्वदेशाभिमानी का प्रधान कर्त्तव्य है। हमारे नगरों में राजनैतिक बयार बह चली है परन्तु हमारे देहातों में अभी तक उसका प्रवेश नहीं हुआ है। यह उद्देश्य प्रत्येक स्वदेश-वत्सल के सामने है, इसको पूरा करना उसका धर्म है। यह माना कि हमारी शक्तियां न्यून हैं, हमारे हृदय में बल नहीं, हमारी आत्मा दुर्बल हो गयी है, हमारे हाथ और पैर शिथिल पड़ गये हैं, परन्तु इन सब बाधाओं के होते हुए भी हम यह भी जानते हैं कि यदि हमको संसार में जीवित और सम्मानित रहना है तो यह बोझ हमें उठाना ही पड़ेगा। हमें प्रस्ताव पास करते-करते बहुत दिन हो गये और यद्यपि उसका कुछ न कुछ फल अवश्य निकला परन्तु समय और शक्तिव्यय को देखते हुए यह आशातीत नहीं कहा जा सकता। कारण यही था कि हमने अपने कार्य-क्षेत्र को संकुचित रक्खा। अब उसके विस्तार का समय आ गया है। संभव है कभी यह आशा की जाती रही हो कि हिन्दुस्तान के शिक्षित लोग अपना एक अलग गुट बना लेंगे। पर अब वह स्वप्न देखना भूल है। **हिन्दुस्तान का उद्धार हिन्दुस्तान की जनता पर निर्भर है।** जनता में अपनी योग्यता के अनुसार यह भाव पैदा करना प्रत्येक स्वदेशवासी का परम धर्म है। स्वदेश तुम्हें संदेश दे रहा है कि तुम भी मनुष्य हो, तुमको भी ईश्वर के यहां से समान अधिकार प्राप्त हैं। तुममें भी उन्नति करने की, गौरवशाली बनने की शक्ति मौजूद है। उठो उससे काम लो। यह आलस्य छोड़ो हिम्मत मजबूत करो और परमात्मा तुम्हारे सहायक होंगे।

[संपादकीय। 'स्वदेश' प्रवेशांक वसंत पंचमी विक्रमी संवत 1975 (1918) में प्रकाशित। संचालक संपादक पं. दशरथप्रसाद द्विवेदी के अनुसार प्रेमचंद द्वारा लिखित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

नया वर्ष

वैशाख से हमारे नये वर्ष का आरम्भ होता है। हम नये उत्साह, नयी आकांक्षाओं तथा नये हौसलों से इसका स्वागत करते हैं। गत वर्ष हमारी तपस्याओं का समय था उसने हमें परीक्षाग्नि में भलीभांति तपाया हमारी दृढ़ता को, व्रत को, आदर्श को खूब आजमाया, और हम उन परीक्षाओं में सफल निकले। हमने अपने अहिंसा-व्रत से, अपने आत्म-बल से, अपनी अदम्य नैतिक शक्ति से दुनिया के सामने आत्मोद्धार का एक महान उज्ज्वल आदर्श रख दिया, हमने दिखा दिया कि इस गयी-बीती दशा में भी हम सत्य और धर्म पर कितने आरूढ़ हो सकते हैं। संसार में और कौन-सा देश है, जहां बालक, जवान और बूढ़े सभी समान उत्साह से जेल की कठिन से कठिन यंत्रणाएं सहने के लिए तैयार हो जायं? खेलकूद

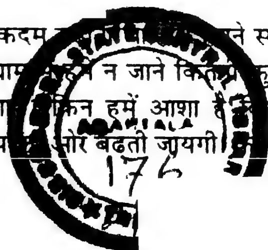
पर जान देने वाले बच्चे पुलिस के डंडों का वीरों की तरह सामना करें? गर्म खून वाले युवक जो नाक पर मक्खी को नहीं बैठने देते गालियों और गोलियों की वर्षा में अचल और अटल खड़े रहे ! और अपने शान्ति-भवन में बैठने वाले बूढ़े हंसते और जय-ध्वनि करते हुए जेल चले? संसार ने हमारे इस त्याग को देखा और विस्मित हो गया—अगर ऐसे प्राणी हैं जिन्हें इस त्याग और तपस्या की ओट में अराजकता और रक्त और अशान्ति छिपी हुई मालूम होती है तो वह या तो हृदय-शून्य ऐंग्लोईडियन हैं या हमारे लिबरल मित्र।

नौकरशाही को पहले हमारे व्रत पर विश्वास न था। वह इसे कौन्सिल की वक्तृताओं की भाँति निरर्थक, अप्राकृतिक और सामर्थ्यहीन समझती थी, पर जब शनैः-शनैः उसे संग्राम की सात्विकता का अनुभव हुआ तो उसके हाथ-पांव फूल गये, उसने इस सत्याग्रह का प्रतिकार करने के लिए पशुबल का आश्रय लिया और इतनी क्रूरता से आघात करने शुरू किये कि चन्द महीनों ही में सत्याग्रहियों का बड़ा भाग—जो इस आन्दोलन का प्राण था—जेलखानों में डाल दिया गया। इस आत्मसमर्पण ने इतना सवेग प्रवाह धारण किया कि शंका होने लगी कि इस आवेग में वह किनारे के गांवों, खेतों और वृक्षों को न बहा ले जाय—आन्दोलन का निर्माण कारक विभाग निर्जीव न हो जाये। अतएव हमारे कुशल महारथी ने हमारी गति को मन्द कर दिया। इसी स्थिति में वर्ष का अन्त हो रहा है।

संसार के विस्तृत क्षेत्र में भी कुछ ऐसी ही स्थिति हो रही है, अंतर केवल यह है कि वहां स्वार्थ का स्वार्थ से, द्वेष का द्वेष से, कूटनीति का कूटनीति से, संग्राम हो रहा है। गत वर्ष संसार में शान्ति की व्यवस्था करने के लिए सम्मेलनों का तांता बंधा रहा। मंत्रि-दल आये और गये, पत्रों में खूब चहल-पहल रही, संसार के कोने-कोने में शान्ति की खोज की गयी पर उसका निशान न मिला—हृदयस्थल में ढूंढ़ने की किसी को न सूझी। इस समय जेनेवा में बड़े समारोह से सम्मेलन हो रहा है। इससे बड़ी-बड़ी आशाएं की गयी थीं, वह रूस में, निकट-पूर्व में शान्ति का उद्भव करने वाला था; पर अन्य सम्मेलनों की भाँति यह उद्योग भी निष्फल होता दिखायी देता है। फ्रांस का विजयमद, इंगलैण्ड की स्वार्थनीति और यूनान की निरंकुशता उसका सर्वनाश किये डालती है।

नया वर्ष हमारे लिए कर्त्तव्यों का गुरुतर भार साथ लाया है। वह संगठन ! संगठन ! की ध्वनि करता हुआ आ रहा है। गत वर्ष हमने बहुत कुछ तपस्या की। हजारों वीरों की भेंट चढ़ायी, किन्तु उचित संगठन न होने के कारण हम अपने अहिंसा-व्रत का समुचित रीति पर पालन न कर सके। हमारी समग्र शक्तियां केवल एक ही धारा में प्रवाहित होती रहीं। इस वक्त हमें अपनी बिखरी हुई शक्तियों को समेट कर उनका सदुपयोग करना है। खद्दर बुनना और उसका प्रचार करना, कांग्रेस के मेम्बर बनाना और धन एकत्र करना, कपास की खेती को प्रोत्साहन देना, राष्ट्रीय शिक्षालयों को सुव्यवस्थित करना और उनके संचालन के लिए कोष जमा करना, समस्त भारत को स्वराज के घोर नाद से गुंजा देना—यह हमारे कार्यक्रम का संक्षिप्त स्वरूप है।

हमें इस विस्तृत कर्म-क्षेत्र में उत्साह से कदम [illegible] ने संसार के सबसे शक्तिशाली साम्राज्य से लड़ाई ठानी है। इस संग्राम में हमें न जाने कितनी कुर्बानियां करनी पड़ेंगी, न जाने कितनी बार परास्त होना पड़ेगा, लेकिन हमें आशा है कि भारत-संतान अविरल उद्योग और कर्मपरायणता से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती जायगी। काम कठिन है पर



आसाध्य नहीं है। याद रखिये, हमें अंग्रेज जाति से स्वराज्य नहीं लेना है, हमें अपने ही भाइयों से, अपने ही देश-बन्धुओं से स्वराज्य लेना है, हमें अपनी शक्तियां नौकरशाही से सत्याग्रह करने में नहीं, अपने भाइयों से सत्याग्रह करने में लगानी चाहिए। जन-सम्मति को अपनी ओर फेर लेना स्वराज्य-प्राप्ति का मुख्य साधन है। नहीं, बल्कि स्वयं स्वराज्य है। हम इस लक्ष्य के जितना ही निकट होते जाएंगे उतना ही स्वराज्य के निकट होते जाएंगे। नया वर्ष हमारे लिए यही संदेशा लाया है।

अब कुछ अपने प्रति। 'मर्यादा' को ज्ञानमंडल के चार्ज में आये छ: मास हो गये। हमने 'मर्यादा' का सर्वांग सुन्दर बनाने में कोई कसर नहीं उठा रक्खी और निरन्तर हानि उठाकर भी अपने कर्त्तव्य का पालन किया। हम आगामी वर्ष से इसे और भी सुन्दर बनाने का प्रयत्न करेंगे। हमारा इरादा है कि इसमें चित्रों की संख्या अधिक की जाय। पाठ्य सामग्री में भी हम कुछ परिवर्तन करना चाहते हैं। विद्वानों के लेखों के अतिरिक्त हम प्रतिमास 'विज्ञान ज्योति' के नाम से वैज्ञानिक आविष्कारों का उल्लेख किया करेंगे, तथा 'हास्य और विनोद' के नाम से पाठकों के मनोरंजन की सामग्री भी जुटाएंगे। हमारा यह भी संकल्प है कि संसार के कुछ अन्य प्रतिष्ठित पत्रिकाओं के लेखों का सारांश भी दिया जाय। इस माला का नाम होगा 'सामयिक प्रसंग'। पत्रिका को अधिक उपयोगी बनाने के लिए यदि पाठक-वृन्द हमें अपने सत्परामर्श से सूचित करेंगे तो हम यथासाध्य उस पर भी विचार करेंगे। मगर हम जहां पाठकों के लिए इतनी जिम्मेदारियां सिर पर लेने का निश्चय कर चुके हैं, वहां हम यह भी आशा करते हैं कि पाठक-गण भी पत्रिका को अपनाकर, इसे अपनी चीज समझ कर हमें प्रोत्साहित करेंगे। हम पाठकों को विश्वास दिलाते हैं कि इस वक्त तक ग्राहकों की संख्या इतनी निराशा-जनक रही है कि यदि पत्रिका के वर्तमान संचालक महोदय इतने उदार न होते तो इसका जीवित रहना कठिन हो जाता। हम पत्रिका से लाभ उठाने की आकांक्षा नहीं रखते। हम केवल पाठकों की सेवा करना चाहते हैं, और हमारी उनसे यही विनय है कि वह हमें अपनी गुणग्राहकता का परिचय देकर बाधित करें।

[संपादकीय। 'मर्यादा', वैशाख, विक्रमी संवत् 1979 (अप्रैल, 1922) में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

रूस और जर्मनी की संधि

इधर देश-देशान्तरों के मन्त्रिवर्ग योरोप में शान्ति की व्यवस्था करने के लिए जेनेवा में एकत्र थे, उधर रूस और जर्मनी में संधि हो गयी। इस संधि ने मित्रराष्ट्रों के सारे मंसूबों को खाक में मिला दिया। यारों ने सोचा था कि रूस से मनमानी व्यापारिक सुविधाएं करा लेंगे और ज़ार को जो रुपये कर्ज़ दिये थे वह भी चक्रवृद्धि सहित वसूल कर लेंगे, धीरे-धीरे सोवियत गवर्नमेण्ट को हज़म कर जायेंगे, फिर हमारी वर्तमान आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था (या कुव्यवस्था) का विरोध करने वाला कोई न रहेगा। उधर जर्मनी से जुर्माने की रकम वसूल करने पर जोर दिया जायेगा। वास्तव में यह सम्मेलन इसीलिए हुआ था कि रूस को नीचा दिखाया जाय, पर रूस की नीति-चातुरी ने मित्रों को वह झांसा दिया कि आप लोग दांत कटकटाकर और कुन्द तौलकर रह जाते हैं। रूस का तो बाल-बांका कर नहीं सकते, जर्मनी

पर अपना गुस्सा उतार रहे हैं। कहते हैं, हम इस संधि को स्वीकार नहीं करते, यह जर्मनी की धोखाबाजी है, शरारत है, नीचता है। फ्रांस तो बिल्कुल जामे से बाहर हो गया है। मगर अब पछताये होत का जब चिड़ियां चुग गयीं खेत। जर्मनी युद्ध में हारा जरूर, मगर इसका अर्थ यह नहीं है कि उसने सदैव के लिए अपने को मित्रराष्ट्रों के हाथों बेच दिया, अपने स्वच्छन्द जीवन का अन्त कर दिया। आप लोग तो जिससे चाहे संधि करें, जितनी शक्ति चाहें बढ़ायें और अपने बल को खूब संगठित करें, और जर्मनी हाथ पर हाथ धरे बैठा रहे ! उसे जब मित्रों ने बिरादरी से निकाल दिया, प्रत्येक अवसर पर धुतकार और फटकार और तिरस्कार से उसका स्वागत करने लगे, बात-बात पर उसे दबाने, और उसका मस्तक नीचा करने की चेष्टा करने लगे तो जर्मनी को विवश होकर रूस का आश्रय लेना पड़ा। उसे अपने माल की खपत के लिए, कच्चा माल प्राप्त करने के लिए कोई देश चाहिए न? या जर्मनी में मित्रों की कोष-पूर्ति के लिए आकाश से रुपये बरसेंगे? अब मित्रों ने पोलैंड को भड़काया है, कदाचित् रूमानिया को भी सोवियत सरकार से लड़ा देने की चालें चले, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि मित्र-दलों की पालिसी ने यहां खूब ठोकर खायी और अब जर्मनी या रूस को अकेला समझकर दबाना उतना सहज न होगा। मित्रगण अब भी चेत जायं, इसी में उनकी भलाई है, नहीं तो जर्मनी ने भी तंग आकर अपने यहां सोवियत राज्य स्थापित कर दिया तो फिर सिवाय कफ अफसोस मलने के और कुछ न हाथ आयेगा। अभी अकेले और दुर्बल रूस ने संसार को हिला रक्खा है, संगठित और कार्य चतुर जर्मनी भी मिल गया तो फिर पूंजीपतियों के आधिपत्य का अन्त ही हो जायेगा।

[संपादकीय। 'मर्यादा', वैशाख, विक्रमी सम्वत् 1979 (अप्रेल, 1922) में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

गल्पांक का प्रस्ताव

विशेषांक के निकलने में कदाचित समस्त हिन्दी पत्रिकाओं में 'चांद' ही को प्रथम स्थान प्राप्त है। अपने जन्म से लेकर अब तक 'चांद' के नौ विशेषांक निकल चुके हैं। इस वर्ष भी उसने चार विशेषांक निकालने का निश्चय कर लिया है। उसका वर्ष नवम्बर से शुरू होता है और गत मास 'चांद' का प्रवेशांक निकल चुका है। उसके बाद ही गल्पांक प्रकाशित करने का प्रस्ताव, उसके सम्पादक और व्यवस्थापक के अदम्य उत्साह का द्योतक है। हिन्दी में पत्र-पत्रिकाओं की जो दशा है वह सुहृदजनों से छिपी नहीं है। इन कठिनाइयों से जरा भी आशंकित न होकर, बराबर आगे कदम बढ़ाते जाना अजेय आशावादिता के सिवा और क्या कहा जा सकता है। किसी कवि ने कहा है-

'ज़िन्दगी ज़िन्दादिली का नाम है
मुर्दादिल क्या ख़ाक जिया करते हैं।'

यही उत्साहशीलता, यही आशावादिता जीवन है और जीवन में आकर्षण का होना स्वाभाविक है। यही कारण है कि जो 'चांद' आज से चार-पांच वर्ष पहले एक हजार छपता था, आज समस्त भारतवर्ष की मासिक पत्रिकाओं में सर्वोच्च स्थान पर आरूढ़ होने पर गर्व कर सकता है। 'चांद' आकर्षण-शक्ति का आगार भी तो है !

आज से एक महीना पहले जब 'चांद' के सुयोग्य सम्पादक ने मुझसे गल्पांक प्रकाशित करने का प्रस्ताव किया, तो मैं विस्मित रह गया। प्रस्ताव बिल्कुल नूतन और असाधारण था। मुझे भय हुआ कि कहीं गल्पांक का मजाक न उड़ाया जाय। नये विचार सनातन धर्मावलम्बियों की दृष्टि में हास्यास्पद होते ही हैं। लोग नाक न सिकोड़ने लगें, यह क्या खुराफात है। भला कोई तुक भी तो हो गल्पों में ऐसी कौन-सी विशेषता है कि उनको यह महत्व दिया जाय। किन्तु साहित्य में गल्प के महत्व पर जब विचार किया तो मुझे इस प्रस्ताव का सहर्ष स्वागत करने और इस अंक का सम्पादन-भार लेने में कोई बाधा न दिखायी दी। गल्प वर्तमान साहित्य में एक नयी चीज है। लेकिन इसके साथ ही उसका अनिर्वाय अंग है। कोई पत्रिका गल्पों के बिना रोचक नहीं हो सकती और हिन्दी में न सही, अन्य समुन्नत भाषाओं में तो ऐसी कितनी ही पत्रिकाएं हैं जिनमें गल्पों के सिवा और कुछ होता ही नहीं।

वास्तव में गल्प में सिवा और किसी प्रकार के लेखों में यह गुण नहीं है कि वह अव्यक्त, अदृश्य और अलक्षित रूप से समाज में नवीन भावों, सिद्धांतों और तत्वों का प्रचार कर सके। हमारे देश में पराधीनता के कारण जीवन-संग्राम इतना भीषण है कि हमारी सारी मानसिक और शारीरिक शक्ति उसमें समाप्त हो जाती है। शुष्क और दुष्ग्राह्य विषयों का अध्ययन करने की हममें क्षमता ही नहीं रह जाती। हम नये विचार ग्रहण ता करना चाहते हैं, पर इस तरह कि हमें परिश्रम या अध्ययन न करना पड़े। यह विभूति गल्प ही में है कि वह मनोरंजन करते हुए हमें विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति, इतिहास, भूगोल, गणित, शिल्प, स्वास्थ्य, वाणिज्य, आदि की शिक्षा दे सकती है, यहां तक कि आज औषधियों की बिक्री का भी काम इससे लिया जाता है। इसे आप औषधालय की अमृतधारा समझिये, जो जुकाम से लेकर तपेदिक तक में समान रूप से अपना चमत्कार दिखाती है। आजकल सिनेमा का प्रचार दिनोंदिन डाकगाड़ी की चाल की तरह बढ़ रहा है। इसने साहित्य के एक प्रधान अंग नाटक का गला घोंट दिया। अभी सिनेमा में स्वर की कमी है। संसार के विद्वान इस समस्या को हल करने में दत्तचित्त हैं और आशा है कि बहुत थोड़े काल में सिनेमा के चित्र बातें भी करेंगे, गीत भी गायेंगे। उस दिन ड्रामा का प्राणान्त ही समझिए।

कविता केवल भावों से सम्बन्ध रखने वाली वस्तु है। वह हमारे उत्कृष्ट कोमल भावों ही को कम्पित कर सकती है। किन्तु कविता-देवी को कल-कारखानों, घनी बस्तियों, ऊंची-नीची अट्टालिकाओं और वाणिज्य तथा व्यापार की कंचन-भरी कोठियों से घृणा है। उसे तो हरे-भरे जल-तट, मधुर स्वर से गाने वाली नदियों, निर्जन पवित्र स्थानों ही से कुछ विशेष प्रेम है। वर्तमान परिस्थिति उसके लिए अनुकूल नहीं। उसे संग्राम, संघर्ष और द्वन्द्व से चिढ़ है। अब और साहित्य में क्या रह गया? निबन्ध। हां, निस्सन्देह, लेकिन, यह शिक्षा को मनन करने की वस्तु है, मनोरंजन की नहीं।

अब उपन्यास ही बाकी बच रहता है। लेकिन जिस सिनेमा ने नाटक की हत्या कर डाली वही उपन्यासों का भी खून कर रहा है। रुपये, आठ आने का खर्च करके केवल दो-तीन घंटे में जब हम विक्टर ह्यूगो, टॉल्स्टॉय, कैरे तथा हार्डी जैसे धुरन्धर विद्वानों की सर्वोत्कृष्ट रचनाओं का समुचित आनन्द उठा सकते हैं, तो पुस्तक लेकर अपनी कोठरी में कई-कई दिनों तक पढ़ने का कष्ट क्यों उठाने लगे? माना कि सिनेमा में भाषा के सारस्य, उक्तियों की सुन्दरता, विचारों की नवीनता और मौलिकता, वाक्यों के मनोहर विन्यास, शब्दों

की मनोहारिणी सजावट, मीठी-मीठी चुटकियों, हृदय में चुभ जाने वाले व्यंग्यों का रसास्वादन हम नहीं कर सकते, लेकिन अधिकांश प्राणी मनोरंजन चाहते हैं और सिनेमा वाले रचना के मर्मस्पर्शी स्थलों को चित्रित करने में नहीं चूकते। सरस साहित्य का स्वाद, सरसरी तौर से पढ़ने से नहीं मिलता। हमारे सुलेखक-वृन्द भावों को शब्दों में ऐसा छिपाते हैं कि जब तक एक वाक्य को बार-बार न पढ़िये उसका पूरा आनन्द नहीं मिलता। और यहां इतना अवकाश नहीं। दस घन्टे दफ्तर या कचहरी में सिर मारने के बाद अब मस्तिष्क में इतनी ताकत कहां कि साहित्य से सिर मारें।

ऐसी परिस्थिति में गल्प ही एक ऐसी वस्तु है जो उपयोगिता, मनोरंजकता और कम से कम समय लेने में सिनेमा से टक्कर ले सकता है। उपन्यास पढ़ने को कई दिन चाहिए और वह भी एकान्त। यहां दो में एक भी प्राप्त नहीं। सिनेमा देखने के लिए भी तैयारी की जरूरत है। शाम ही को भोजन आदि से छुट्टी कर लो, तीन घन्टों के लिए घर से गायब रहो, वहां से नौ बजे जाड़े-पाले, बादल-बूंदी में घर लौटो, सिनेमा हाल में भी तीन घन्टे भीड़-भाड़ में आसन जमाने तपस्या करते रहो। क्या इसमें कुछ कम कष्ट है? कहीं हमारी अनुपस्थिति में कोई आंखों का अंधा और गांठ का पूरा मुवक्किल आ पड़ा तो शिकार हाथ से निकल जाने की सम्भावना ही है। गल्प, इन सब झंझटों, बखेड़ों से पाक है। दफ्तर, कचहरी, विद्यालय, दूकान, वायुसेवन, सैर-सफर कहीं जाते हों, 'चांद' का गल्पांक उठा लीजिए और चल दीजिए। रेल में तो गल्प आपके लिए अनिवार्य है। उसके बिना आपका समय किसी तरह कट ही नहीं सकता। अगर आपको लम्बा सफर करना है, बम्बई से दिल्ली या कलकत्ता जाना है, और वह भी कम से कम सेकन्ड क्लास में तब तो आप 'कायाकल्प', 'चन्द्रकान्ता' 'गृहदाह', 'बलिदान' कोई भी उपन्यास लेकर पढ़ सकते हैं।

लेकिन अगर सफर छोटा है, बनारस से लखनऊ या प्रयाग जाना है और वह भी इन्टर या तीसरे दरजे में तब आपके लिए गल्पांक के सिवाय और कोई उपाय नहीं। उस विपत्ति में इसी के हाथों आपका निस्तार होगा, उस मौके पर आपका यही दुबला-पतला, छोटा मोटा मित्र ही काम आयेगा। तोप और मशीन-गन बडी लड़ाई के लिए हैं और दुर्भाग्यवश बड़ी लड़ाइयां सौ दो सौ में कहीं एक बार होती है। पिस्तौल और तमंचे की जरूरत तो आपको पहर रहती है। कम से कम हाथ में एक मजबूत छड़ी तो होनी ही चाहिए। और न सही, कोई कुत्ते साहब ही आपसे खामख्वाह उलझ पड़े तो? गल्प आपकी छड़ी है, जिसे आप सफर में किसी तरह नहीं छोड़ सकते।

दूकान पर बैठे ग्राहकों की बाट देखते-देखते जब आपकी आंखें दुखने लगें, चट गल्पांक उठा लीजिए, फिर चाहे ग्राहक आए या न आए, आपकी बला से, आपको ग्राहकों की परवा न रहेगी। आप संध्या समय बिना एक पैसे का माल बेचे प्रसन्न-चित्त घर लौट सकते हैं। किसी अफसर के इजलास में पैरवी करके लौटने के बाद, दूसरे इजलास में जाने के पहले, यदि दस-बीस मिनट का भी अवसर मिल गया तो गल्पांक आपके साथ है। यह समय बड़े मजे से कट जायगा। आपको अर्दली की आवाज की ओर कान न लगाये रहना पड़ेगा। अर्दली की पुकार खुद-ब-खुद आपके कान में पहुंचेगी और इतनी जल्द पहुंचेगी कि आपको आश्चर्य होगा। यदि आपने गल्प समाप्त कर लिया है तो 'चांद' को मेज पर रख दीजिए और तेजी से लपके हुए जाइए—इतनी तेजी से नहीं कि जल्दी के बदले और विलम्ब हो और चोट

घाते में मिले। यदि अभी गल्प समाप्त नहीं हुआ तो पत्रिका को हाथ में लिए, देखते जाइए, इजलास तक जाते-जाते उसके बचे हुए दो-एक पृष्ठ समाप्त हो जाएंगे। अध्यापक महोदयों को तो हम गल्प पढ़ने की सलाह न देंगे। उसके पास न समय की कमी है, न अवकाश की। वह चाहें तो 'तिलिस्मे होशरुबा' की अठाइस जिल्दें, 'बोस्तानें खयाल' के सात भाग, चन्द्रकान्ता सन्तति' के चौबीस हिस्से या 'अलिफ लैला' की हजारों रातें आनन्दपूर्वक समाप्त कर सकते हैं।

लेकिन विद्यार्थियों के गल्पाध्ययन के हम कट्टर पक्षपाती हैं। उपन्यास तो ये बेचारे पढ़ ही नहीं सकते, इतना अवकाश कहां, पोट की पोट पुस्तकें पढ़नी हैं और परीक्षा का भूत सिर पर सवार है। हां, परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने के बाद वे चाहें तो उपन्यास पढ़ सकते हैं, क्योंकि तब बरसों सिवा उपन्यास पढ़ने के और कोई काम न रहेगा। हां, जीवन की मौलिक आवश्यकताओं से निश्चिन्त रहने की शर्त है। लेकिन अध्ययन-काल में तो गल्प ही उनका उद्धार कर सकता है। जहां ईथिक्स से जी ऊबे चट गल्पांक उठाइए और पन्द्रह-बीस मिनट में आपका दिमाग ताजा हो जायगा, सिर का चक्कर खाना भाग खड़ा होगा और आप नयी स्फूर्ति से भाषा-विज्ञान पर धावा करेंगे। जिस विद्यार्थी के पास यह अमृतधारा है उसे फिर किसी दूसरी मनोरंजनौषधि की जरूरत ही नहीं। एक बूंद जल या शक्कर में मिलाकर उतार लीजिए तबीयत हरी हो जायगी, सारी विपत्ति-बाधा पलायन कर जाएगी। अजी हम तो कहते हैं, लेक्चर हॉल में भी में भी यदि आपको नींद आने लगे तो चुपके से गल्पांक निकाल लीजिए और बेधड़क डेस्क पर रख लीजिए। आपकी निद्रा काफूर हो जायगी। गिरफ्तार होने की जरा भी शंका नहीं, अध्यापक महोदय की सारी चेतना और उपचेतना-शक्ति तत्वविवेचना में संग्लन हो रही है।

महिलाओं का तो गल्प के बिना जीवन ही दुस्तर समझिए। उनके लिए न सिनेमा है, न उपन्यास, न चहलकदमी। इन स्वर्गीय पदार्थों से विधि-बाम ने उन्हें किसी पूर्व कुसंस्कार के प्रायश्चित रूप से वंचित कर दिया है। संध्या समय सिनेमा देखने जायं तो बताइए भोजन कौन बनाए? अगर कोई मिस्त्रानी लगी हुई है तो भोजन की चिन्ता नहीं। लेकिन नन्हें-नन्हें बालकों की हठीली, चंचल कलह प्रिय सेना तो साथ न छोड़ेगी। एक दर्जन न सही, मगर आधे दर्जन बच्चों को साथ ले जाना क्या मुंह का कौर है या खाला जी का घर? अगर पुरुषों को एक दिन यह मुसीबत पड़ जाय तो छठी का दूध याद आ जाय। और तो क्या कहें, पचास सैकड़े पुरुष तो उसी दिन वैराग्य धारण कर लें। अगर संसार-लोलुपता बहुत बढ़ी हुई है तो कदाचित् इतनी जल्द वे वैराग्य न लेंगे लेकिन सन्तान-निग्रह की पुस्तकों के लिए तो 'चांद' कार्यालय को तुरन्त ही कार्ड डाल दिया जायगा। खैर, जनाब, खुदा न करे कि पुरुषों के सिर यह बला आवे नहीं तो सृष्टि का अन्त ही समझिए, अल्लाह मियां को अपने क्रीड़ा-कौशल के लिए दूसरे ही प्रकार की दुनिया रचनी पड़ेगी। औरों की बात तो नहीं चलाते, हम तो उसी दिन जहर खाकर सो रहेंगे। अब बताइए यह आधे दर्जन बछड़े बांधे कैसे जायं? सब-के-सब तो गोद में आ ही नहीं सकते। विवश होकर एक बग्घी करनी पड़ी। चलिए, दो रुपये की चपत पड़ गई। रास्ते में बच्चों की भूख का क्या ठिकाना? हलवाई की दूकान देखी या खोमचे वाले की आवाज सुनी और भूख लगी। पांच बजे के चले-चले कहीं सात बजे सिनेमा भवन के पास पहुंचे। मगर इसकी शायद ही कभी नौबत आती है। अधिकतर तो यही सुना है और

दो-एक बार देखने में भी आया है कि महिलाओं का अदम्य धैर्य भी हाथ से जाता रहता है और उन्हें आधे रास्ते से घर लौटना पड़ता है। अगर किसी तरह रोते-धोते सिनेमा पहुंच भी गईं और हाल में भी जा पहुंचीं तो यह न समझिए कि मुसीबत का खात्मा हो गया। असली विपत्ति तो अब शुरू होती है। कोई कुरसी को उलटता है, कोई किसी के चुटकी काटता है, कोई रो-रोकर दुनिया सिर पर उठाता है, माता बेचारी किस-किस को समझाए। छोटे तो धमकाने से मान भी जाते हैं, बड़े जिन से आशा थी कि शान्ति से बैठेंगे, उन्हें भी आकर नटखटी सूझती है। उनके प्रश्नों का उत्तर देना स्वयं एक बला है। जनाब, वह चिल्ल-पों मचता है कि सारा हॉल घबड़ा उठता है। लोग दांत पीस-पीसकर मुट्ठियां बांध-बांधकर रह जाते हैं। कम्पनी का जमाना है कहीं नवाबी होती तो खून ही कर डालते। उधर बच्चे हैं कि अपनी शरारत से बाज नहीं आते। अभागिनी माता को तमाशे का लेशमात्र भी आनन्द नहीं मिलता। सारा ध्यान और मनोयोग बच्चों के शासन की भेंट हो जाता है। और जब वह यहां से घर पहुंचती है तो मानो उसे निर्वाण प्राप्त हो जाता है। कान पकड़ती है कि अब कभी सिनेमा का नाम न लेंगे। दस रुपये दण्ड पड़ गए, मानो जुरमाना दे आए। यह तो सिनेमा का हाल हुआ। कहीं थियेटर हुआ तब तो मरण ही समझो। लड़कों का कोलाहल आंखें नहीं बन्द कर सकता पर कान तो फाड़ सकता है। उधर स्टेज से सा रे गा मा की ध्वनि उठी इधर मुन्नू ने पंचम स्वर में अलापना शुरू कर दिया। फिर बताइए दर्शक लोग क्यों न दांत पीसें और क्यों न अपना माथा पीटें, छाती कूटें। भारतवर्ष में रुपये-दो रुपये सरकारी कर्मचारियों के लिए विशेषत: पुलिस और रजिस्ट्री विभाग वालों के लिए तो कोई बड़ी बात नहीं, लेकिन हमा-शुमा के लिए तो जनाब एक रुपया एक लाख के बराबर है। दिन भर बैठे-बैठे कमर टूट गई, आंखें फूट गईं, भेजा फट गया, पसीने की नदी बह गई, तब जाके मुद्रा देवी के दर्शन प्राप्त हुए, तब यह कैसे सम्भव है कि उसी महा-कष्ट प्राप्त मुद्रा से खरीदे हुए आनन्द में बाधा पड़ते देखकर हम मौन रह जायं? दूसरों की बात हम नहीं चलाते। सम्भव है ऐसे लोग भी हों जो खून का घूंट पीकर रह जायं। लेकिन मेरे लिए तो यह असह्य है। यहां तो अपने ही बच्चों के शोरगुल से जामे से बाहर हो जाता हूं। जब तक घर पर रहता हूं सारा समय चपतबाजी में ही व्यतीत करता हूं। यहां तक इस काम में अभ्यस्त हो गया हूं कि यदि कभी देवी जी अपनी सेना लेकर गंगा-स्नान को चली जाती हैं तो बार-बार हाथों में खुजली होती है और कोई नहीं मिलता तो बूढ़े नौकर ही पर दो-चार हाथ साफ कर लेता हूं।

सिनेमा और थियेटर का तो यह हाल हुआ, उपन्यास कोई महिला कैसे पढ़ सकती है यह तो उसके लिए वर्जित फल, आकाश-कुसुम है। प्रात: से लेकर आधी रात तक तो दम मारने का अवकाश नहीं मिलता। अगर सबेरे बच्चों को नाश्ता न मिले तो वह जीता ही नोच डालें, उनसे भी किसी तरह प्राण बच जायं तो स्वामी जी चाय में एक मिनट की देर होने पर मेघवत् गरज उठते हैं। उनकी यह गगनभेदी ध्वनि सुनकर स्त्री के तो प्राण ही निकल जाते हैं, मालूम होता है घर की दीवारें हिल रही हैं, धरती कांप रही है। और क्यों न गरजें। उन्हें इसका सोलहों आने अधिकार है। स्त्री और है ही किस मरज की दवा। खैर, नाश्ते से तो अभी फुरसत मिलने नहीं पाई थी कि भोजन की बारी आ पहुंची। किसी तरह यह बला भी टली, स्वामी अपने काम पर गए और लड़के स्कूल सिधारे तो छोटे बच्चों के मुकदमे पेश होने लगे। मगर न्यायाधीश को अभियुक्त को दण्ड देकर जो फुरसत मिल जाती है, उसका यहां नाम भी नहीं।

दण्ड दिया तो कान के परदे फड़वाने के लिए भी तैयार रहना पड़ता है। दो-चार मुकदमे पेश होते-होते फिर तीन बजे और लड़के स्कूल से आ पहुंचे। अधिकांश तो ऐसा होता है कि एक या दो बजने के पहले ही आ पहुंचते हैं और ऐसा तो शायद ही कभी होता है कि घर आने पर तीन न बजते हों। न जाने स्कूल वाले घड़ी तेज कर देते हैं, या लड़के छुट्टी होने से पहले ही भाग खड़े होते हैं। आये दिन एक न एक त्यौहार, व्यर्थ की छुट्टी। आज क्या है? व्यास पूजा की छुट्टी है। आज क्या है? मौनी अमावस्या की छुट्टी है। आज क्या है? निर्जला एकादशी है। इन त्यौहारों में और तो कुछ नहीं होता, हां गृहिणी का उत्तरदायित्व भयंकर मात्रा में बढ़ जाता है। और दिन तो सिर में पीड़ा ही होकर रह जाती है, छुट्टियों में तो मौत का सामना होता है। दिन तो खैर किसी भाँति कट गया, पर रात को काली बला ही समझो, कभी किसी बच्चे को दस्त आ रहे हैं, कभी कोई ज्वर में पड़ा है, कभी दांत निकल रहे हैं कभी ठंड लग गयी है, शिशु-शुश्रूषा के कष्ट माता के सिवा और कौन झेल सकता है? रातें बैठे-बैठे कट जाती हैं पति महाशय पास ही पलंग पर पड़े, नाक की शहनाई बजा रहे हैं। ऐसी डरावनी आवाज निकल रही है मानो कोई कुत्ता गुर्रा रहा हो। बेचारी अबला सुन-सुन मारे भय के सूखी जा रही है, पर पति को जगाने की हिम्मत नहीं पड़ती। सम्भव है पति देवता की निद्रा भंग हो जाती है, पर आंखें नहीं खोलते। उठना तो दूर रहा, शायद अपने दिल में सोचते हैं, मैं अपना काम पूरा कर चुका, मैं क्यों अपने आराम में खलल डालूं। तुम्हारे सिर पर जो पड़े वह तुम आप भुगतो। इसी भय, चिन्ता और ग्लानि में बहुधा अबलाओं का जीवन व्यतीत हो जाता है। उच्च साहित्य ऐसे विपद्-ग्रस्त प्राणियों का साथ नहीं देता, वह चिन्ता से मुक्ति देने वाली वस्तु नहीं, चिन्ता को निमन्त्रण देने वाली वस्तु है। वह कहता है घर के सारे काम-काज छोड़कर मेरी उपासना करो, तब मैं वरदान दूंगा, तब तुम्हें मुझसे साक्षात् होगा, इस शोर-गुल, चीख-पुकार, मार-धाड, हाय-तोबा में मैं नहीं आता, इधर आने का मुझे साहस ही नहीं होता। भोजन बनाना है, कोई चिन्ता नहीं। लडका रोता है, रोने दो। स्वामी के आने का समय हुआ, आने दो। कुछ परवा नहीं, घर के काम धन्धे को तिलांजलि दे दो और मेरे हो जाओ। अतएव महिलाएं उपन्यासों से मन लगाते भयभीत होती हैं। उनके दुख-दर्द का साथी तो बेचारा गल्प ही है। चाय का पानी चूल्हे पर पर चढ़ा हुआ है। इन दस मिनटों के सदुपयोग का सबसे उत्तम उपाय यही है कि गल्पांक खोलकर बैठ जाइए। जब तक पानी गर्म होगा, आप किसी मानस-प्रदेश की सैर करके लौट आएंगी। बच्चे को थपकियां देकर सुलाते-सुलाते भी इस गल्पोद्यान में एक बार भ्रमण कर सकती हैं। यहां समय नष्ट होने का भय नहीं। यह साधु का आशीर्वाद है जो आप राह चलते प्राप्त कर सकती हैं, यह आपके समय का Bye-Product (फालतू पैदावार) है।

यहां हम उस श्रेणी के सज्जनों का बिल्कुल भूल गये जिनका समय किसी तरह काटे नहीं कटता, मानो किसी रांड़ का चरखा हो। इस श्रेणी के तीन भेद हैं, वैद्य, हकीम और डाक्टर। यहां डाक्टर का आशय वह डाक्टर नही जो डाक्टर रवीन्द्रनाथ या डाक्टर सप्रू का है। सत्य मानिये ये सज्जन एक कांटा भी नहीं निकाल सकते। यहां डाक्टर का आशय वह मनुष्य है जो जीवन की रक्षा के लिए विष खिलाता है, जिसकी उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ प्राणनाशक कीटों की भी वृद्धि हो रही है, जिसने मानव जीवन को कीटों का क्रीड़ास्थल बना दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि कलियुग वास्तव में कलियुग है। मौत का बजार गर्म है। लेकिन फिर भी

अधिकांश डाक्टर मक्खी मारते ही देखे जाते हैं। बेचारे सारे दिन अपने कमरे में बैठे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पत्थर लुढ़काया करते हैं कि किसी भांति कोई शिकार फंसे। खुदा भेज, मौला भेज की रट लगाया करते हैं। कोई सिर-दर्द का रोगी भी आ फंसा तो समझ लो उस गरीब की जान की कुशल नहीं। कोई भयंकर रोग लेकर जायगा। तुरन्त उसके फेफड़ों की परीक्षा होने लगी और एक क्षण में डाक्टर साहब ने बड़े विद्वत्तापूर्ण भाव से यह तत्व निकलकर रख दिया कि जनाब आपको Galloping pthisis (गैलपिंग थाइसिस) हो रहा है। इतना सुनते ही बेचारे रोगी के प्राण पखेरू उड़ जाते हैं, फिर इस शंका को वह हृदय से नहीं निकाल सकता। सोते-जागते यही शंका उसके सिर पर सवार रहती है, यहां तक कि अन्त को Galloping pthisis के लक्षण दृष्टिकोण होने लगते हैं और डाक्टर साहब की भविष्यवाणी पूरी हो जाती है। अब रोगी आपकी शरण आ गया, आपके चरणों पर अपने आपको समर्पण कर दिया। अब बढ़-बढ़कर हाथ मरिये, आपकी बहार है। औषधियों के बिल न चुका सके तो उसका घर-बार कुर्क करा लीजिए, मगर जाने न दीजिए, क्योंकि ऐसे शुभ अवसर रोज नहीं मिलते, जैसा आपको स्वयं अनुभव है। इन महानुभावों से हमारा निवेदन है कि इस आशामय प्रतीक्षा के समय का आप भलीभांति सदुपयोग कर सकते हैं। क्या उपन्यास पढ़कर? कदापि नहीं। उसका आनन्द उठाने के लिए जिस एकाग्रता की जरूरत है वह आपको कहां नसीब? आपकी आंखें तो सड़क पर आने-जाने वालों की ओर लगी हुई हैं? इस मानसिक व्यग्रता की दशा में गल्प ही वह मन्त्र है जो आपको शान्ति प्रदान कर सकता है। उठा लीजिए गल्पांक। इसमें आपका दोहरा फायदा है। अभी पथिक आपको हाथ पर हाथ धरे बैठा देखता है, तो समझता है आप गरजमन्द हैं। आपको पढ़ते देखेगा तो समझेगा आप बड़े अध्ययनशील हैं, नित्य शास्त्र-सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ा करते हैं। इससे आपकी कीर्ति बढ़ेगी और कहीं किसी राजा-रईस की निगाह पड़ गयी तो आपका बेड़ा पार है। आप उसके पारिवारिक चिकित्सक नियुक्त हो जायंगे, पांचों की घी में होंगी। यह भी याद रखिए कि यदि आपकी स्मृति में मनोरंजक गल्पों का काफी खजाना हो तो आप अपने रोगियों का उससे कहीं अधिक उपकार कर सकते हैं जितना अपनी कड़वी, जहरीली दवाएं पिलाकर। हां, यह ध्यान रहे कि कहानियां जरा हास्यपूर्ण हों।

इस जीवन-संग्राम में साहित्य पर जो सबसे बुरा असर पड़ा है वह यह है कि वह मर्सिया बना जाता है। कोई पत्र-पत्रिका या पुस्तक उठा लीजिए, आदि से अन्त तक रुलाने वाली बातों से भरा पाइएगा। यहां तक कि हमारी लेखन-शैली भी इतनी गंभीर हो गयी है कि उसे शोक-शैली कह सकते हैं। यह हम न मानेंगे कि वर्तमान परिस्थितियों ने हमें शोकवादी बना दिया है। आखिर हम आपस में बैठकर हंसते-बोलते तो हैं ही, हंसना भूल तो नहीं गये। हां, अगर कुछ दिन यही हाल रहा तो सम्भव है कि अनुपयोग के कारण यह शक्ति हमसे छीन ली जाय, विकास न पाने के कारण उसका लोप हो जाय। रोने का ठेका साहित्य-सेवा ही क्यों लें? मजा यह है कि हमारे नवयुवक लेखक जब कलम हाथ में लेते हैं तो तुरन्त पचपन-साला गाम्भीर्य धारण कर लेते हैं। कदाचित् वह समझते हैं कि विनोद हमारी शान के खिलाफ है, छिछोरापन है। अगर वह ऐसा समझते हैं तो यह उनकी बड़ी भारी—महात्मा गांधी के शब्दों में हिमालियन—भूल है। हास्य साहित्य-रसों में अगर प्रधान नहीं तो एक प्रधान रस अवश्य है। हम तो यही कहेंगे कि यह प्रधान रस, बल्कि उससे भी चार अंगुल ऊंचा है। न जाने शृंगार

को क्यों प्रधान रस माना जाता है। जिस रस का आरम्भ सत्रह वर्ष से पहले नहीं होता और कदाचित् चालीस वर्ष के पहले ही समाप्त हो जाता है, उसे प्रधान क्यों माना जाय? हास्य क्यों न प्रधान रस माना जाय, जिसका विकास शिशु के छठवें मास से ही होने लगता है और जीवन-पर्यन्त रहता है, यहां तक कि मरण-शैय्या पर पड़ा हुआ रोगी भी मृत्यु से दो-चार मिनट पहले तक हंसता देखा गया है। आप कहेंगे, साहब, विपत्ति में हंसी नहीं आती। आंतें तो कायं-कूयं कर रही हैं, आप कहते हैं हंसिए। भला इस दशा में कहीं हंसी आती है? हंसी तो पेट भरने पर ही आती है। मैं इसे नहीं मानता। गांवों की दशा कितनी दयनीय है, इसके लिखने की जरूरत नहीं। बेचारे किसान पहर रात रहे से काम करने लगते हैं और पहर रात तक बराबर काम करते रहते हैं। इस बीच में कदाचित् एक बार भी उन्हें पेट भर भोजन नहीं मिलता। न बदन पर कपड़ा है, न पेट में अन्न, न देह पर मांस, जमींदार की धौंस अलग, लगान की चिन्ता ऊपर से। एक लगान ही क्यों, यों कहिए कि बेचारे चिन्ता के एटलाण्टिक सागर में डुबकियां खा रहे हैं। लेकिन वहां भी हंसी का अभाव नहीं। वे भी हंसते देखे जाते हैं, वे भी कभी-कभी चुहल और विनोद में मग्न हो जाते हैं। पर, हमारे साहित्य-समाज पर ग्लानि और दु:ख का ऐसा भारी बोझ लदा हुआ है कि उनकी कलम के नोंकों पर हंसी आने का नाम नहीं लेती। क्या वे कसम खा सकते हैं कि मित्र-समाज में वे कभी हंसते ही नहीं? अदालती कसम नहीं। सच्ची गंगाजली उठा सकते हैं? हम कह सकते हैं हंसना मनुष्य-मात्र के लिए अनिवार्य है। आप हसत हैं और खूब खिलखिलाकर। आपके कहकहे दीवारों को हिला देते हैं। मगर न जाने क्यों कलम हाथ में लेते ही आप गम्भीरता के सागर में डूबने-उतराने लगते हैं। कम-से-कम नवयुवकों के लेख में तो विनोद की प्रधानता होनी चाहिए। गम्भीरता उनके लिए अस्वाभाविक है। हम बूढ़े खूसट रोने के लिए क्या थोड़े हैं जो हमारे नवयुवक भी इस काम में हमारा हाथ बटायें। नहीं साहब, हमें आपकी सहायता की आवश्यकता नहीं। हम अकेले इतना रो सकते हैं कि कहिए आंखों से गंगा बहा दें, कहिए महासागर तरंगित कर दें। हमारी आंखें महर्षि अगस्त्य के चिल्लू से जौ भर भी कम नहीं हैं। आप हमारे क्षेत्र में आकर हमारे साथ जबर्दस्ती करते हैं। हम इस क्षेत्र को उतना ही स्वरक्षित रखना चाहते हैं जितना हमारे योरोपीय साम्राज्यवादी भूमण्डल को । जिस तरह उन्हें यह असह्य है कि कोई अन्य जाति एक अंगुल जमीन पर अपना कब्जा जमा ले, उसी तरह हमें भी असह्य है कि नवयुवक महाशय आकर हमारे क्षेत्र में हस्तक्षेप करें। हम आपको समझाये देते हैं, अगर आप मान गये तो खैर, नहीं तो जनाब हमने भी पुलीस का दरवाजा देखा है। जान पर खेलकर एक रौप्य-मुद्रा निकालेंगे और दारोगा जी को नजर देकर चटपट रपट कर देंगे, तब आपको आटे-दाल का भाव मालूम होगा। बूढ़े अपनी जायदाद के कितने लोभी होते हैं यह शायद आपको मालूम नहीं, हम आपको इसका प्रमाण दे देंगे। आप में नया जोश है, नया रक्त है, नया जीवन है, नयी स्फूर्ति है, आप अगर रोने पर उतारू होंगे तो प्रलय ही कर डालेंगे। फिर हम गरीबों के लिए कहां जगह रह जायगी, सिवाय परलोक के। इसलिए हम पर दया कीजिए और वैराग्य, नैराश्य, विषाद के विषय हमारे लिए रिजर्व रखकर अपने लिए, विनोद, परिहास और शौर्य रख लीजिए। इस तरह हमारे और आपके बीच में समझौता हो जाने से कलह का मार्ग बन्द हो जायगा।

हम यह मानते हैं कि, वर्तमान जलवायु हास्य के विकास के अनुकूल नहीं। लेकिन

हमें अपनी प्रबल आशावादिता से इस नैराश्य-तिमिर को हटाना होगा। रोने के लिए हमारा घर ही क्या थोड़ा है कि हम अपने साहित्य-कुंज में आकर भी वही रोना-धोना शुरू करें। साहित्यकारों को जिन्दादिल होने की बड़ी जरूरत है। हमसे कई बूढ़े आदमियों ने कहा है कि ऐसी कोई चीज लिखिये जिसमें हंसी आवे। आप लोग तो ऐसी ही चीजें लिखते हैं जिसे पढ़कर रोना ही आता है और मन और भी दु:खी हो जाता है। दु:खी हृदय जिस चीज का अपने आप-पास अभाव पाता है उसे वह साहित्य में खोजता है। लेकिन उसे जब यहां भी निराशा होती है तो वह साहित्य से भी उदासीन हो जाता है। आज हमारी जनता चार्ली चैपलिन की नकलें देखकर क्यों लोट-पोट हो जाती है? जिस दिन उसका तमाशा होता है उस दिन क्यों हाल ठसाठस भर जाता है? इसीलिए कि वहां हमें थोड़ी देर के लिए अपनी दुखमय परिस्थितियों को विस्मृत कर देने की आशा होती है। किसी भाषा को लीजिए, उसके हास्य-चरित्र ही उसकी जान होते हैं। हां, हास्य सौजन्यपूर्ण होना चाहिए, यह नहीं कि वहां भी अपने दिल के फफोले फोड़े जायं। हम इस समय विपत्ति के रोग में ग्रसित हैं, हमें ऐसी औषधि की जरूरत है जो यह दु:ख हरे, हमारे सन्ताप को मिटावे, हमें संभाले। और ऐसे साहित्य का उत्थान नवयुवकों द्वारा ही हो सकता है। विपत्ति रोने से नहीं कटती। रोने से तो वह और भी प्राणघातक हो जाती है। उसे हम हंसकर ही काट सकते हैं। कम से कम विपत्ति का भार कुछ तो हलका हो जाता है। रात को बन में भटका हुआ पथिक दीपक की ज्योति देखकर जिस भाँति उसकी ओर लपकता है, उसी तरह हम चाहते हैं कि विपत्ति के मारे हुए प्रेमी पाठक साहित्य की ओर लपकें। उन्हें विश्वास हो कि यहां हमारे दु:ख का बोझ कुछ हलका होगा, हमें सुख का अनुभव होगा, हमारा गम गलत होगा। हास्यमय गल्पों द्वारा यह उद्देश्य कुछ न कुछ अवश्य पूरा हो सकता है। हां, हास्य अश्लीलतारहित, निर्मल, उदार होना चाहिए। साहित्यिक हास्य और सामाजिक हास्य में बड़ा अन्तर होता है। वही बात जिससे मित्र-गोष्ठी में पेटों में बल पड़ जाते हैं, साहित्य में निन्द्य हो जाती है। खुसरो और बीरबल की कथाएं यों बहुत ही हास्यपूर्ण हैं लेकिन उनमें अधिकांश ऐसी हैं, जिन्हें साहित्य में लाना साहित्य का अपमान करना होगा।

[संपादकीय। 'चांद', दिसम्बर, 1926 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

'चांद' का मारवाड़ी अंक

महाशय सुदर्शन जी का यह नोट हमें उस समय मिला जब हम स्वयं 'चांद' (मारवाड़ी अंक—गोयनका) के विषय में अपने विचार प्रकट करने जा रहे थे, मगर सुदर्शन जी ने हमारे भावों को इतने जोरदार और मर्मस्पर्शी शब्दों में व्यक्त कर दिया है कि अब हमें कुछ लिखने की जरूरत नहीं मालूम होती। 'चांद' ने स्त्री-समाज के सुधार का बीड़ा उठाया है। कह नहीं सकते, सुधार से उसके मनस्वी सम्पादक का क्या मंशा है। वह अंग्रेज महिलाओं का आदर्श हमारे सामने पेश करता है, या रूसी, या अमेरिकन, या उसने खुद कोई नमूना ईजाद किया है। हमारी समझ में तो ऐसा भ्रष्ट साहित्य संसार की किसी भाषा में नहीं है। गन्दी चीजें बिकती खूब हैं, इसमें सन्देह नहीं। कोई उसे पसन्द न करे, पर एक बार पढ़ना अवश्य चाहता है। भांड़ों की गन्दी गालियां सुनने और उन पर हंसने के लिए लोग बेदरेग रुपये खर्च करते हैं। यह

मन की एक प्रवृत्ति है। शराब की तरफ क्यों मन लपकता है? हम जानत हैं कि यह अच्छी चीज नहीं, फिर भी शौक से पीते हैं। 'चांद' के सुयोग्य सम्पादक ने मन की इसी प्रवृत्ति से अपना मतलब गांठने की तरकीब निकाली है। कह नहीं सकते, उसे कहां तक सफलता हो रही है। सुनते हैं, उसकी ग्राहक-संख्या 15000 हो गयी है। किसी सरकारी ऑडिटर ने इसकी तस्दीक भी की है। फिर भला सन्देह की कहां गुंजाइश है? मगर उस पर भी 1000 रु० माहवार का घाटा हो रहा है। शायद सहगल साहब को कोई दफीना मिल गया होगा, या सम्भव है कारूं का खजाना या पारस पत्थर हाथ लग गया हो, जभी तो इतनी बड़ी हानि हर महीना उठा रहे हैं और यह सब हिन्दू-स्त्रियों के उद्धार के लिए! उनकी दुरवस्था देखकर आप रक्त के आंसू रोते रहते हैं। आप उन्हें कामी पुरुषों के हमलों से बचाने के लिए ही तो कामासक्त नरेशों की कामलीला के नग्न चित्र खींचते रहते हैं। महिलाओं को राजा साहब की गैलरी और पट्ठों के जोड़ का हाल सुनाकर आप उनके सुधार और संस्कार की कुछ कम कोशिश कर रहे हैं! खैर!

'चांद' ने पक्के और कुशल व्यापारियों की भांति बिक्री के सिद्धान्त को सर्वोपरि समझा है। चीज बिकनी चाहिए, उससे किसी की हानि होती है तो हमारी बला से! मुर्दा दोजख में जाय या बहिश्त में, हमें अपने हलवे-मांडे से मतलब है। इधर हमसे कई महिलाओं ने 'चांद' की इस कुत्सित प्रवृत्ति की शिकायत की, फिर भी 'चांद' के कार्यालय में ऐसे पत्रों का तांता लगा रहता है जिनमें ऐसे ही लेखों का आदेश किया जाता है। हम तो जनता से यही कहेंगे कि यदि वह स्त्री-समाज का उपकार चाहती है, तो उसे 'चांद' का बहिष्कार करना चाहिए। ऐसे साहित्य से समाज को जो हानि हो रही है, उसका अनुमान करना कठिन है। अगर 'मातृ-मन्दिर' में भी इसी नीति का पालन किया गया, तो स्त्रियों का ईश्वर ही मालिक है। ऐसी मनोवृत्ति का आदमी 'मातृ-मन्दिर' जैसी संस्था का संचालक हो, यह समाज का दुर्भाग्य है।

[टिप्पणी। हिन्दी मासिक 'माधुरी' वर्ष 8, खण्ड 1, संख्या 6, दिसम्बर 1929 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 में संकलित। 'आलोचना और पुस्तक परिचय' स्तम्भ में सुदर्शन की 'चांद' पर प्रकाशित टिप्पणी पर दिया गया प्रेमचंद का नोट।]

जापान के लोग लम्बे हो रहे हैं

हिन्दुस्तान के लोग दिन दिन दुर्बल होते जाते हैं। लेकिन जापान के एक पत्र ने लिखा है–जापानियों का डील धीरे-धीरे ऊंचा हो रहा है। बलिष्ठ तो वे पहले भी होते थे, लेकिन अब वे ऊंचे भी हो रहे हैं। इसका कारण है, रहन-सहन में सुधार। अब वे पहले से अच्छा और पुष्टिकारक भोजन पाते हैं, ज्यादा साफ और हवादार घरों में रहते हैं, आर्थिक चिन्ताओं का भार भी कम हो गया है। जहां अस्सी फी सैकड़े आदमी आधे-पेट भोजन नहीं पाते, वे क्या बढ़ेंगे और क्या मोटाएंगे? शायद सौ वर्ष के बाद हिन्दुस्तानियों की कहानी रह जायगी।

[सपादकीय। 'हंस', मार्च, 1930 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रथम संस्करण) में संकलित। परन्तु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में सकलित]

जेल सुधार

जिस तरह किसी व्यक्ति के चरित्र का अन्दाजा उसके मित्रों को देखकर किया जा सकता है, उसी तरह किसी राज्य की सुव्यवस्था का अन्दाजा, उसके जेलों की दशा से हो सकता है। रूस के जेल भारत के जेलों को देखते स्वर्ग हैं। यहां तक की ईरान-जैसे देश के जेल भी बहुत कुछ सुधर चुके हैं। हमारे जेलों की दशा जितनी खराब है, शायद संसार में इस बात में कोई उसका सानी न मिलेगा। जतीन्द्रनाथ दास के उत्सर्ग का कुछ फल उस सुधार के रूप में निकला है, जो अभी किये गए हैं; मगर कैदियों का कई दरजों में विभाजित किया जाना और हरेक कक्षा के साथ अलग-अलग व्यवहार करना, उन बुराइयों की दवा नहीं है। जेल ऐसे होने चाहिए कि कैदी उसमें से मन और विचार में कुछ सुधरकर निकले, यह नहीं कि उसके पतन की क्रिया वहां जाकर और भी पूरी हो जाय। इस सुधार से यह फल न होगा, हां जो धनी है, उन्हें वहां कुछ आराम हो जायगा। गरीब की सब जगह मौत है, जेल में भी। मालूम नहीं, ईश्वर के घर भी यही भेद-भाव है या इससे कुछ अच्छी दशा है।

[संपादकीय। 'हंस', मार्च, 1930 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रथम संस्करण) में संकलित। परन्तु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 में संकलित।]

डोमिनियन और स्वराज्य

न डोमिनियन मांगे से मिलेगा, न स्वराज्य। जो शक्ति डोमिनियन छीनकर ले सकती है, वह स्वराज्य भी ले सकती है। इंग्लैण्ड के लिए दोनों समान हैं। डोमिनियन स्टेट्स में गोलमेज-कांफ्रेंस का उलझावा है, इसलिए वह भारत को इस उलझावे में डालकर भारत पर बहुत दिनों तक राज्य कर सकता है। फिर उसमें किस्तों की गुंजाइश है और किस्तों की अवधि एक हजार वर्षों तक बढ़ाई जा सकती है। इसलिए इंग्लैण्ड का डोमिनियन स्टेट्स के नाम से न घबड़ाना समझ में आता है। स्वराज्य में किस्तों की गुंजाइश नहीं, न गोलमेज का उलझावा है, इसीलिए वह स्वराज्य के नाम से कानों पर हाथ रखता है। लेकिन हमारे ही भाइयों में इस प्रश्न पर क्यों मतभेद है, इसका रहस्य आसानी से समझ में नहीं आता। वे इतने बेसमझ तो हैं नहीं कि इंग्लैंड की इस चाल को न समझते हों। अनुमान यही होता है कि इस चाल को समझकर भी वे डोमिनियन के पक्ष में हैं, तो इसका कुछ और आशय है। डोमिनियन पक्ष को गौर से देखिए, तो उसमें हमारे राजे-महाराजे, हमारे जमींदार, हमारे धनी-मानी भाई ही ज्यादा नजर आते हैं। क्या इसका यह कारण है कि वे समझते हैं कि स्वराज्य की दशा में उन्हें बहुत-कुछ दबकर रहना पड़ेगा? स्वराज्य में मजदूरों और किसानों की आवाज इतनी निर्बल न रहेगी? क्या यह लोग उस आवाज के भय से थरथरा रहे हैं? हमें तो ऐसा ही जान पड़ता है। वे अपने दिल में समझ रहे हैं कि उनके हितों की रक्षा अंग्रेजी-शासन ही से हो सकती है। स्वराज्य कभी उन्हें गरीबों को कुचलने और उनका रक्त चूसने न देगा। डोमिनियन का अर्थ उनके लिए यही है कि दो-चार गवर्नरियां, दो-चार बड़े-बड़े पद, उन्हें और मिल जाएंगे। इनका डोमिनियन स्टेट्स इसके सिवा और कुछ नहीं है। ताल्लुकेदार और राजे इसी तरह गरीबों को चूसते चले जाएंगे। स्वराज्य गरीबों की अलग आवाज है, डोमिनियन गरीबों की कमाई पर

मोटे होने वालों की। सम्भव है, अभी अमीरों की आवाज कुछ दिन और गरीबों को दबाये रक्खे। गरीबों के सब्र का प्याला अब भर गया है। इंग्लैंड को अगर अपना रोजगार प्यारा है, अगर अपने मजदूरों की प्राण-रक्षा करनी है, तो उसे गरीबों की आवाज को ठुकराना नहीं चाहिए, वरना भारत के राजों और शिक्षित-समाज के ऊंचे ओहदेदारों के संभाले उसका रोजगार न संभलेगा। जब एक बार गरीब समझ जाएंगे कि इंगलैंड उनका दुश्मन है, तो फिर इंग्लैंड की खैरियत नहीं। इंग्लैंड अपनी संगठित शक्ति से उनका संगठित होना रोक सकता है, लेकिन बहुत दिनों तक नहीं।

[संपादकीय। 'हंस', मार्च, 1930 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रथम संस्करण) में संकलित। परन्तु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

पहले हिन्दुस्तानी, फिर और कुछ

हिन्दू तो हमेशा से यही रट लगाते चले आ रहे हैं, लेकिन मुसलमान इस आवाज में शरीक न थे। बीच में एक बार मौ॰ मुहम्मदअली या शायद उनके बड़े भाई साहब ने यह आवाज मुंह से निकालने का साहस किया था, मगर थोड़े दिनों के बाद उन्होंने फिर पहलू बदला और पहले मुसलमान फिर और कुछ' का नारा बुलन्द किया। फिर क्या था, मुसलिम दल में उनका जितना सम्मान कम हो गया था, उससे कई गुना ज्यादा मिल गया। आज अगर कोई मुसलमान 'पहले हिन्दुस्तानी' होने का दावा करे, तो उस पर चारों तरफ से बौछारें होने लगेंगी। 'पहले मुसलमान' बनकर धर्मान्ध जनता की निगाह में गौरव प्राप्त कर लेना तो आसान है, पर उसका मुसलमानों की मनोवृत्ति पर जो बुरा असर पड़ता है, वह देश-हित के लिए घातक है। मुसलमान किसी प्रश्न पर राष्ट्र की आंखों से नहीं देखता, वह उसे मुसलिम आंखों से देखता है। वह अगर कोई प्रश्न पूछता है, तो मुसलिम दृष्टि से, किसी बात का विरोध करता है, तो वह मुसलिम दृष्टि से। लाखों मुसलमान बाढ़ और सूखे के कारण तबाह हो रहे हैं। उनकी तरफ किसी मुसलमान मेम्बर की निगाह नहीं जाती। आज तक कोई ऐसा मुस्लिम संघटन नहीं बना, जो मुस्लिम जनता की सांसारिक दशा को सुधारने का प्रयत्न करता। हां, उनकी धार्मिक मनोवृत्ति से फायदा उठाने वालों की कमी नहीं है। महात्मा गांधी खद्दर का प्रचार दिलोजान से कर रहे हैं। इससे मुसलमान जुलाहों का फायदा अगर हिन्दू कोरियों से ज्यादा नहीं तो कम भी नहीं है। लेकिन जहां इस सूबे के छोटे-से-छोटे शहर ने महात्माजी को थैलियां भेंट कीं, अलीगढ़ ने केवल सूखा ऐड्रेस देना ही काफी समझा। यह मुसलिम मनोवृत्ति है। देखा चाहिए, सर तेजबहादुर सप्रू सर्वदल सम्मेलन को सफल बनाने में कहां तक सफल होते हैं। हमारी आशा तो नौजवान मुसलमानों का मुंह ताक रही है। इसलामिया कॉलेज लाहौर में, जहां अधिकांश मुसलमान छात्र थे, स्वाधीनता का प्रस्ताव मुसलमान नेताओं के विरोध पर भी पास हो गया। इससे पता चलता है कि हवा का रुख किधर है।

[संपादकीय। 'हंस', मार्च, 1930 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रथम संस्करण) में संकलित। परन्तु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

महात्माजी का वाइसराय से निवेदन

महात्माजी ने वाइसराय को जो पत्र लिखा है, उसे 'अल्टीमेटम' कहना उस पत्र के महत्व को मिटाना है। वह एक सच्चे आत्मदर्शी हृदय के उद्गार हैं। उसमें एक भी ऐसा शब्द नहीं है, जिसमें मालिन्य, क्रोध, द्वेष या कटुता की गन्ध हो। उस पवित्र आत्मा में मालिन्य या द्वेष का स्थान ही नहीं है। वह किसी शत्रु नहीं, सबका मित्र है। अंग्रेजी शासन का ऐसा सम्पूर्ण इतिहास इतने थोड़े-से शब्दों में, इतनी सद्-प्रेरणा के साथ महात्माजी के सिवा दूसरा कौन लिख सकता था। उस पत्र में जितनी जागृति, जितनी स्फूर्ति, जितना सत्साहस है, वह शायद भगवद्गीता में हो तो हो, और तो हमें कहीं नहीं मिलता। भारत के ही इतिहास में नहीं, संसार के इतिहास में भी वह यादगार बनकर रहेगा। पाठक के हृदय पर एक-एक शब्द देव-वाणी-सा प्रभाव डालता है, प्रतिक्षण आत्मा ऊंची होती जाती है, यहां तक कि उसे समाप्त कर लेने पर आप अपने को एक नई दुनिया में पाते हैं। महात्मा गांधी ने स्पष्ट कह दिया है, कि हम पद के लिए, धन के लिए, अधिकार के लिए स्वराज्य नहीं चाहते, हम स्वराज्य चाहते हैं उन गूंगे, बेजबान आदमियों के लिए, जो दिन-दिन दरिद्र होते जा रहे हैं। अगर आज सभी अंग्रेज अफसरों की जगह हिन्दुस्तानी हो जायं, तब भी हम स्वराज्य से उतने ही दूर रहेंगे, जितने इस वक्त हैं। हमारा उद्देश्य तो तभी पूरा होगा, जब हमारी दरिद्र, क्षुधित, वस्त्रहीन जनता की दशा कुछ सुधरेगी।

मगर हमारे देश में हमारे ही कुछ ऐसे भाई हैं, जिन्हें इस निवेदन में कोई नयी बात, कोई नया सन्देश नहीं नजर आता। उन पर उसके ऊंचे, पवित्र भावों का जरा भी असर नहीं पड़ा। वह अब भी यही रट लगाये जा रहे हैं कि महात्माजी आग से खेल रहे हैं, समाज की जड़ खोदने वाली शक्तियों को उभार रहे हैं। जिन्हें अंग्रेजों के साथ मिलकर प्रजा को लूटते हुए अपना स्वार्थ सिद्ध करने का अवसर प्राप्त है, वे इसके सिवा और कह ही क्या सकते हैं। वे अपना स्वार्थ देखते हैं, अपनी प्रभुता का सिक्का जमते देखना चाहते हैं। उनके स्वराज्य में गरीबों को, मजदूरों को, किसानों को स्थान नहीं है, स्थान है केवल अपने लिए, मगर जिस व्यक्ति के हृदय में गरीबों की दिन-दिन गिरती हुई दशा देखकर ज्वाला-सी उठती रहती है, जो उनकी मूक वेदना देख-देखकर तड़प रहा है, वह किसी ऐसे स्वराज्य की कल्पना से सन्तुष्ट नहीं हो सकता, जिसमें कुछ ऊंचे दरजे के आदमियों का हित हो और प्रजा की दशा ज्यों कि त्यों बनी रहे। हमारी लड़ाई केवल अंग्रेज सत्ताधारियों ही नहीं हिन्दुस्तानी सत्ताधारियों से भी है। हमें ऐसे लक्षण नजर आ रहे हैं कि दोनों सत्ताधारी इस अधार्मिक संग्राम में आपस में मिल जायेंगे और प्रजा को दबाने की, इस आन्दोलन को कुचलने की कोशिश करेंगे। लेकिन यह उन्हीं के हक में बुरा होगा। प्रजा की दशा तो अब जितनी बुरी है, उससे बुरी और हो ही क्या सकती है? हां, जो लोग प्रजा के मत्थे ऐश करते हैं, यूरोप में विहार करते हैं, मोटरों में बैठे हुए हवा में उड़ते हैं, उनकी खैरियत नहीं है। हम उन्हें धमकी नहीं दे रहे हैं, धांधली उसी वक्त तक हो सकती है, जब तक जनता सोई हुई है। हम अब भी आशा रखते हैं कि महात्माजी का सदुद्योग सत्ताधारियों के विचारकोण में इच्छित परिवर्तन करेगा। विचारों का परिवर्तन अब तक तलवार से होता आया है, लेकिन विचार-जैसी सूक्ष्म वस्तु पर तलवार का असर या तो होता ही नहीं या होता है तो स्थायी नहीं होता। सूक्ष्म वस्तु पर सूक्ष्म वस्तु का ही

असर पड़ता है। भारत ने इसके पहले भी संसार के सामने आध्यात्मिक आदर्श रक्खे हैं, वही चेष्टा वह फिर कर रहा है। वह इतिहास की परम्परागत प्रगति को बदल देना चाहता है। वह सफल होगा या विफल, यह दैव के हाथ में है, लेकिन उसकी विफलता भी ऐसी होगी, जिस पर सैकड़ों सफलताएं भेंट की जा सकती हैं।

हमें आशा है कि वाइसराय के हृदय पर इस निवेदन का कुछ असर होगा, वह उस सौजन्य, विनम्रता और सच्चाई की कुछ कद्र करेंगे। पर वाइसराय की ओर से उसका जो जवाब दिया गया है, वह सिद्ध कर रहा है कि महात्माजी का सन्देश उनके हृदय तक नहीं पहुंचा।

[संपादकीय। 'हंस', मार्च, 1930 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रथम संस्करण) में संकलित। परन्तु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

युवकों का कर्त्तव्य

अब युवकों का क्या कर्त्तव्य है? युवक नई दशाओं का प्रवर्तक हुआ करता है। संसार का इतिहास युवकों के साहस और शौर्य का इतिहास है। जिसके हृदय में जवानी का जोश है, यौवन की उमंग है, जो अभी दुनिया के धक्के खा-खाकर हतोत्साह नहीं हुआ, जो अभी बाल-बच्चों की फिक्र से आजाद है अगर वही हिम्मत छोड़कर बैठ रहेगा, तो मैदान में आएगा कौन? फिर, क्या उसका उदासीन होना इंसाफ की बात है? आखिर यह संग्राम किस लिए छिड़ा है? कौन इससे ज्यादा फायदा उठावेगा? कौन इस पौधे के फल खावेगा? बूढ़े चन्द दिनों के मेहमान हैं। जब युवक ही स्वराज्य का सुख भोगेंगे, तो क्या यह इंसाफ की बात होगी कि वे दुबके बैठे रहें? हम इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते कि वे गुलामी में खुश हैं और अपनी दशा को सुधारने की लगन उन्हें नहीं है। यौवन कहीं भी इतना बेजान नहीं हुआ करता। तुम्हारी दशा देखकर ही नेताओं को स्वराज्य की फिक्र हुई है। वह देख रहे हैं कि तुम जी तोड़कर डिग्रियां लेते हो पर तुम्हें कोई पूछता नहीं, जहां तुम्हें होना चाहिए वहां विदेशी लोग डटे हुए हैं। स्वराज्य वास्तव में तुम्हारे लिए है, और तुम्हें उसके आन्दोलन में प्रमुख भाग लेना चाहिए। गवर्नर और चांसलर तुम्हें तरह-तरह के स्वार्थमय उपदेश देकर, तुम्हें अपने कर्त्तव्य से हटाने की कोशिश करेंगे, पर हमें विश्वास है, तुम अपना नफा-नुकसान समझते हो और अपने जन्म-अधिकार को एक प्याले-भर दूध के लिए न बेचोगे। लेकिन यह न समझो कि केवल स्वराज्य का झण्डा गाड़कर, और 'इन्कलाब' की हांक लगाकर तुम अपना कर्त्तव्य पूरा कर लेते हो। तुम्हें मिश्नरी जोश और धैर्य के साथ इस काम में जुट जाना चाहिए। संसार के युवकों ने जो कुछ किया है, वह तुम भी कर सकते हो। क्या तुम स्वराज्य का सन्देश गांवों में नहीं पहुंचा सकते? क्या तुम गांवों के संगठन में योग नहीं दे सकते? हम सच कहते हैं, एल-एल० बी० या एम० ए० हो जाने के बाद यह असली तालीम, यह अनुभव तुम्हें इतना हितकर सिद्ध होगा, जितना पुस्तक-ज्ञान से उम्र-भर भी नहीं हो सकता। तुम मर्द हो जाओगे।

सरल जीवन, स्वाधीनता के संग्राम की तैयारी हो

लेकिन जब हम अपने छात्रों का विलास-प्रेम देखते हैं, तो हमें उनके विषय में बड़ी चिन्ता होती है। वे रोज अपनी जरूरतें बढ़ाते जाते हैं, विदेशी चीजों की चमक-दमक ने उन्हें अपना गुलाम बना लिया है। वे चाय और कॉफी-साबुन और सेंट के और न-जाने कितनी अल्लम-गल्लम चीजों के दास हो गये हैं। बाजार में चले जाइए, आप युवकों और युवतियों को शौक और विलास की चीजें खरीदने में रत पाएंगे। वह यह समझ रहे हैं कि विलास की चीजें बढ़ा लेने से ही जीवन का आदर्श ऊंचा हो जाता है। यूनिवर्सिटियों में अपने अध्यापकों का विलास-प्रेम देखकर यदि उन्हें ऐसा विचार होता है, तो उनका दोष नहीं। यहां तो आवे का आवा बिगड़ा हुआ है। सादा और सरल जीवन से उन्हें घृणा-सी होती है। अगर उनका कोई सहपाठी सीधा-सादा हो, तो वे उसकी हंसी उड़ाते हैं, उस पर तालियां बजाते हैं। अंग्रेज अगर इन चीजों के शौकीन हैं, तो इसलिए कि इस तरह वे अपने देश के व्यवसाय की मदद करते हैं। फिर, वे सम्पन्न हैं, हमारी और उनकी बराबरी ही क्या? उन्होंने फसल काट ली है, अब मजे से बैठे खा रहे हैं। हमने तो अभी फसल बोई भी नहीं, हम अगर उनकी नकल करें, तो इसके सिवा कि बीज खा डालें, और क्या कर सकते हैं? और यही हो रहा है। जिस गाढ़ी कमाई को देशी व्यवसाय और धन्धे में खर्च होना चाहिए था, वह यूरोप चली जा रही है और हम उन आदतों के गुलाम होकर अपना भविष्य खाक में मिला रहे हैं। शौक और सिंगार के बन्दे जिन्दगी में कभी स्वाधीनता का अनुभव कर सकते हैं, हमें इसमें सन्देह है। विद्यालय से निकलते ही उन्हें नौकरी चाहिए—इसके लिए वे हर तरह की खुशामद और नकघिसनी करने के लिए तैयार हैं। नौकरी मिल गई, तो उन्हें अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए अपनी ऊपरी आमदनी की फ्रिक होती है। उनकी आत्मा की स्वतंत्रता, शौक की वेदी पर चढ़ा दी जाती है। दुनिया के जितने बड़े-से-बड़े महापुरुष हो गये हैं, और हैं, वे जीवन की सरलता का उपदेश देते आये हैं और दे रहे हैं, मगर हमारे छात्र हैं कि हैट और कॉलर की फिक्र में ही अपना भविष्य बिगाड़ रहे हैं।

[संपादकीय। 'हंस', मार्च, 1930 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रथम सस्करण) में सकलित। परन्तु बाद के सस्करणों में इसे हटा दिया गया। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 में सकलित। इस संपादकीय का एक उपशीर्षक 'सरल जीवन, स्वाधीनता के संग्राम की तैयारी हो' भी है।]

राजनीति और रिश्वत

वर्तमान राजनीति में रिश्वत भी एक जरूरी मद है। क्या इंग्लैण्ड, क्या फ्रांस, क्या जापान, सभी सभ्य और उन्नत देशों में यह मरज दिन-दिन बढ़ता जा रहा है। चुनाव लड़ने के लिए बड़े-बड़े लोग जमा किये जाते हैं और वोटरों से वोट लेने के लिए सभी तरह के प्रलोभनों से काम लिया जाता है। जब देश के शासक खुद ऐसे काम करते हैं, तो उसे रोके कौन? शैतान ही जानता है, चुनाव के लिए कैसी-कैसी चालें चली जाती हैं, कैसे-कैसे दांव खेले जाते हैं। अपने प्रतिद्वन्द्वी को नीचा दिखाने के लिए बुरे-से-बुरे साधन काम में लाए जाते हैं। जिस दल के पास धन ज्यादा हो, और कार्यकर्त्ता—कन्वैसर—अच्छे हों, उसकी जीत होती है। यह

वर्तमान शासन-पद्धति का कलंक है। इसका फल यह होता है कि सबसे योग्य व्यक्ति नहीं, सबसे चालबाज लोग ही चुनाव के संग्राम में विजयी होते हैं। ऐसे ही स्वार्थी, आदर्शहीन एवं विवेकहीन मनुष्यों के हाथ में संसार का शासन है। फिर अगर संसार में स्वार्थ का राज्य है, तो क्या आश्चर्य !

[सपादकीय। 'हंस', मार्च, 1930 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रथम संस्करण) में संकलित। परन्तु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

शान्ति-रक्षा

हिज एक्सीलेंसी वाइसराय से लेकर सूबों के हिज एक्सीलेंसियों तक सभी कानून और शान्ति की रक्षा की धमकियां दे रहे हैं, जिसका अर्थ यह है कि इस वक्त कानून और शान्ति की रक्षा के लिए, जो कुछ किया जा रहा है, उससे ज्यादा और भीषण रीति से किया जायगा। और, उधर महात्मा गांधी हैं कि किसी दशा में भी शान्ति को हाथ से नहीं छोड़ना चाहते, यहां तक कि अवज्ञा का सारा भार उन्होंने अपने सिर ले लिया है।

जहां तक शान्ति-रक्षा का सम्बन्ध है, ऐसा कौन आदमी होगा जो सरकार से इस विषय में सहयोग न करे और मुल्क में बदअमनी हो जाने दे ! मगर मुश्किल यह है कि सरकार ने जिस चीज का नाम शान्ति रख छोड़ा है, वह हमारे लिए न शान्ति है न कानून। जो कानून राष्ट्र बनाता है, उसका पालन वह स्वयं शान्तिपूर्वक करता है, लेकिन जो कानून दूसरे लोग उसके लिए बना देते हैं, उनकी पाबन्दी वह करता तो है पर संगीनों और मशीनगनों के जोर से, और ऐसी शान्ति को कौन शान्ति कहेगा, जिसका आधार तलवारों की झंकार और तोपों की गरज है? जहां तक हमें याद है, सरकार ने और चाहे जितनी गलतियां की हों, शान्ति की रक्षा में उसने कभी गलती नहीं की। यह दूसरी बात है कि हिन्दू-मुसलमान आपस में लड़-लड़कर एक दूसरे के प्राण लें, एक-दूसरे की जायदाद लूटे, घरों में आग लगावें, औरतों की आबरू बिगाडें !"न जाने सरकार की शान्ति-रक्षिणी शक्ति ऐसे नाजुक मौकों पर क्यों नहीं काम करती !

[सपादकीय। 'हंस', मार्च, 1930 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रथम संस्करण) में संकलित। परन्तु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 में संकलित।]

'हंस' के जन्म पर

हंस के लिए यह परम सौभाग्य की बात है कि उसका जन्म ऐसे शुभ अवसर पर हुआ है, जब भारत में एक नये युग का आगमन हो रहा है, जब भारत पराधीनता की बेड़ियों से निकलने के लिए तड़पने लगा है। इस तिथि की यादगार एक दिन देश में कोई विशाल रूप धारण करेगी। बहुत छोटी-छोटी, तुच्छ विजयों पर बड़ी-बड़ी शानदार यादगारें बन चली हैं। इस महान् विजय की यादगार हम क्या और कैसे बनावेंगे, यह तो भविष्य की बात है पर यह विजय एक ऐसी विजय है, जिसकी नजीर संसार में नहीं मिल सकती और उसकी यादगार भी वैसी ही शानदार होगी। हम भी उस नये देवता की पूजा करने के लिए, उस विजय की

यादगार कायम करने के लिए, अपना मिट्टी का दीपक लेकर खड़े होते हैं। और हमारी बिसात ही क्या है ! शायद आप पूछें, संग्राम शुरू होते ही विजय का स्वप्न देखने लगे ! उसकी यादगार बनाने की भी सूझ गई ! मगर स्वाधीनता केवल मन की एक वृत्ति है। इस वृत्ति का जागना ही स्वाधीन हो जाना है। अब तक इस विचार ने जन्म ही न लिया था। हमारी चेतना इतनी मन्द, शिथिल और निर्जीव हो गई थी कि उसमें ऐसी महान् कल्पना का आविर्भाव ही न हो सकता था; पर भारत के कर्णधार महात्मा गांधी ने इस विचार की सृष्टि कर दी। अब वह बढ़ेगा, फूलेगा-फलेगा। अब से पहले हमने अपने उद्धार के जो उपाय सोचे, वे व्यर्थ सिद्ध हुए, हालाँकि उनके आरम्भ में भी सत्ताधारियों की ओर से ऐसा ही विरोध हुआ था। इसी भाँति इस संग्राम में भी एक दिन हम विजयी होंगे। वह दिन देर में आयेगा या जल्द, यह हमारे पराक्रम, बुद्धि और साहस पर मुनहसर है। हां, हमारा यह धर्म है कि उस दिन को जल्द-से-जल्द लाने के लिए तपस्या करते रहें। यही 'हंस' का ध्येय होगा, और इसी ध्येय के अनुकूल उसकी नीति होगी।

हंस की नीति

कहते हैं, जब श्रीरामचन्द्र समुद्र पर पुल बांध रहे थे, उस वक्त वहां छोटे-छोटे पशु-पक्षियों ने मिट्टी ला-लाकर समुद्र के पाटने में मदद दी थी। इस समय देश में उससे कहीं विकट संग्राम छिड़ा हुआ है। भारत ने शान्तिमय समर की भेरी बजा दी है। 'हंस' भी मानसरोवर की शान्ति छोड़कर, अपनी नन्हीं-सी चोंच में चुटकी भर मिट्टी लिये हुए, समुद्र पाटने—आजादी के जंग में योग देने—चला है। समुद्र का विस्तार देखकर उसकी हिम्मत छूट रही है, लेकिन संघ-शक्ति ने उसका दिल मजबूत कर दिया है। समुद्र पटने के पहले ही उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जायगी, या वह अन्त तक मैदान में डटा रहेगा, यह तो कोई ज्योतिषी ही जाने, पर हमें ऐसा विश्वास है कि 'हंस' की लगन इतनी कच्ची न होगी। यह तो हुई उसकी राजनीति। साहित्य और समाज में वह उन गुणों का परिचय देगा, जो परम्परा ने उसे प्रदान कर दिए हैं।

[संपादकीय। 'हंस', मार्च, 1930 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रथम संस्करण) में संकलित। परन्तु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 में संकलित।]

आज़ादी की लड़ाई में कौन लोग आगे हैं?

इस लड़ाई ने हमारे कॉलेजों और यूनिवर्सिटियों की कलई खोल दी। हमने आशा की थी कि जैसे अन्य देशों में ऐसी लड़ाइयों में छात्र वर्ग प्रमुख भाग लिया करते हैं, वैसे यहां भी होगा, पर ऐसा नहीं हुआ। हमारा शिक्षित समुदाय, चाहे वह सरकारी नौकर हो या वकील, या प्रोफेसर या छात्र, सभी अंग्रेज़ी सरकार को अपना इष्ट समझते हैं और उसकी हड्डियों पर दौड़ने को तैयार हैं। प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि निन्यानवे सैकड़े ग्रेजुएटों के लिए सभी द्वार बन्द हैं; पर निराशा में भी आशा लगाये बैठे हैं कि शायद हमारी ही तकदीर जाग जाय। देख रहे हैं कि कांग्रेस के आन्दोलन से ही अब थोड़े-से ऊंचे ओहदे हिन्दुस्तानियों को मिलने लगे हैं, फिर भी राजनीति को हौआ समझे बैठे हुए हैं। या तो उनमें साहस नहीं, या शक्ति नहीं, या

आत्म-गौरव नहीं, या उत्साह नहीं। जिस देश के शिक्षित युवक इतने मन्दोत्साह हों, उसका भविष्य उज्ज्वल नहीं कहा जा सकता। हमारा.वकील समुदाय तो इस संग्राम से ऐसा भाग रहा है, जैसे आदमी की सूरत देखते ही गीदड़ भागे। हमारे बड़े-से-बड़े नेता–जिनकी जूतियों का तस्मा खोलने के लायक भी ये लोग नहीं–धड़ाधड़ जेलों में बन्द किये जा रहे हैं; पर यह है कि अपने बिलों में मुंह छिपाये पड़े हैं। यहां तक कि स्वदेशी वस्तु-व्यवहार की प्रतिज्ञा पर दस्तख़त करते हुए भी उनके हाथ कांपने लगते हैं और कलम हाथ से छूटकर गिर पड़ती है और आज़ादी का नमक देखकर तो उन्हें जूड़ी-सी चढ़ आती है। हमें यह देखने का अरमान ही रह गया कि कोई वकील किसी जत्थे का नायक होता। नहीं, वह तमाशा देखना भी ख़तरनाक समझते हैं। बस, मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक। कचहरी गये, और घर आये। उन्हें दीन-दुनिया से कोई मतलब नहीं। इस बगैरती का कोई भी ठिकाना है ! अभी किसी सरकारी पार्टी में शरीक होने का नेवता मिल जाय, तो मारे खुशी से पागल हो जाएं। नेवते के कार्ड के लिए बड़ी-बड़ी चालें चली जाती हैं, नाक रगड़ी जाती है, और वह कार्ड तो साक्षात् कल्प-वृक्ष ही है। गोरी सूरत देखी और माथा जमीन पर टेक दिया। ऐसे लोगों के दिन अब गिने हुए हैं। स्वाधीन भारत में ऐसे देख-द्रोहियों के लिए कोई स्थान न होगा। वह जनता, जिसे यूनिवर्सिटियों की हवा नहीं लगी और आन्दोलनों की तरह इस संग्राम में भी आगे-आगे है–हमारे छोटे-छोटे दूकानदार, मज़दूर, पेशेवर ही सैनिकों की अगली सफों में हैं और भविष्य उन्हीं के हाथ में है। लक्षण कह रहे हैं, सूट-बूट वाले अंग्रेजों के गुलामों की वही हालत होने वाली है, जो रूस में हुई है। यह लोग खुद अपने पांव में कुल्हाड़ी मार रहे हैं। जनता और सब मुआफ कर देती है, पर देश-द्रोह को वह कभी मुआफ नहीं करती। राष्ट्रीय संस्थाओं को देखिये–गुजरात विद्यापीठ, काशी-विद्यापीठ, अभय-आश्रम, गुरुकुल-कांगड़ी, प्रेम-विद्यालय, वृन्दावन आदि ने अपने-अपने सिपाहियों के जत्थे भेजे और भेज रहे हैं। उनके छात्र जान हथेली पर रक्खे मैदान में निकल पड़े हैं, पर यूनिवर्सिटियों ने भी कोई जत्था भेजा? हमें तो ख़बर नहीं। यूनिवर्सिटियों में भी कोई प्रोफेसर आगे बढ़ा? कहां की बात ! अपने लोग यह रोग नहीं पालते आनन्द से भोजन करें, रूसी उपन्यास पढ़ें, ताश खेलें, ग्रामोफोन या रेडियो का आनन्द उठावें, या इस झंझट में पड़ें? जिन्दगी सुख भोगने के लिए है, झोंकने के लिए नहीं ! काश, ये यूनिवर्सिटियां न खुली होतीं, काश आज उनकी ईट-से-ईट बज जाती, तो हमारे देश में द्रोहियों की इतनी संख्या न होती। ये विद्यालय नहीं हैं, गुलाम पैदा करने के कारख़ाना हैं। स्वतन्त्र भारत ऐसे विद्यालयों की जड़ खोदकर फेंक देगा।

[संपादकीय। 'हंस', अप्रैल, 1930 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

क्या मुसलमान कांग्रेस के साथ नहीं हैं?

अभी तक तो सरकार के लिए यह कहने की गुंजाइश बाकी थी, कि इस आन्दोलन में केवल कांग्रेस के गरम दल वाले ही शामिल हैं; लेकिन दिन-दिन उस पर यह हकीकत खुलती जाती है, कि आज़ादी की लड़ाई में देश के सभी दल मिले हुए हैं और अगर उनके मिलने में कुछ कसर थी, तो वह सरकार की हिमाकत और पागलपन की बदौलत पूरी हुई जाती है। पुरानी कहावत है–बुरे दिन आते हैं, तो बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है। इस वक्त ऐसा जान पड़ता है, कि

अंग्रेजों के बुरे दिन आ गये हैं, नहीं तो अंग्रेजी कपड़े को अन्द देशों के कपड़ों से कम महसूल पर लाने का प्रस्ताव पास करने की जरूरत ही क्या थी? गैर-सरकारी बहुमत इस प्रस्ताव के विरुद्ध था; पर सरकार ने अपनी ज़िद से उसे पास करके ही छोड़ा। नतीजा क्या हुआ! आज पं० मदनमोहन मालवीय मि० केलकर, मि० अणे, मि० हसनइमाम हमारे साथ हैं और व्यापारी-दल तो बिल्कुल अलग ही हो गया। अब सरकार को माडरेटों में नाम लेने के लिए दो-चार लिबरल और रह गये हैं। हमें आशा है कि उसकी कोई नई हिमाकत यह कमाल कर दिखायेगी। हालांकि लिबरलों के विषय में हमें सन्देह है कि कोई अनीति, अत्याचार इन्हें जगा सकता है। इनकी आशा अपार है, और धैर्य अनन्त। वायसराय सेक्रेटरी, अण्डरसेक्रेटरी, और भी जिसकी वाणी की कुछ इज़्ज़त है, कह चुके कि डोमीनियन स्टेट्स अभी बहुत दूर है; लेकिन हमारे लिबरल भाई हैं, कि उस 'बहुत दूर' को 'बहुत नज़दीक' समझने के लिए बेकरार हैं। लिबरलों की राजनीति डिनर-पार्टी और ड्राइंग-रूम तक महदूद है; इसलिए सरकार के अन्तिम आधार अगर लिबरल हों, तो यह सरकार और लिबरल दोनों ही के लिए आपस में हाथ मिलाने और बधाइयां देने का अवसर हो सकता है। अगर इस तिनके का सहारा सरकार लेना चाहती है, तो शौक से ले, मगर सरकार ने शुरू से जिस हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य की उपासना की है, उसे इस संकट के अवसर पर कैसे भूल जाती! कहा जा रहा है, और लिखा जा रहा है कि मुसलमान इस आन्दोलन में कांग्रेस के साथ नहीं हैं। मुसलमान नेता जत्थेदार बन-बनकर कैद हों, मार खायें, कितनी ही कांग्रेस कमिटियों के प्रधान और मन्त्री हों, लेकिन फिर भी यही कहा जाता है कि मुसलमान कांग्रेस के साथ नहीं है। जमैयतुल-उलमा जैसा सर्वमान्य मण्डल पुकार-पुकारकर कह रहा है कि नमक का महसूल स्लामी शरीयत के खिलाफ है, पर कहने वाले कह जाते हैं--मुसलमान इस आन्दोलन के साथ नहीं। मालूम नहीं, वह यह कह-कहकर किसे धोखा देना चाहते हैं। हां, हम यह मानने को तैयार हैं कि हमारे ख़ानबहादुर साहबान, जिनकी संख्या ईश्वर की दया से, अंग्रेजों की असीम कृपा होने पर भी, बहुत ज़्यादा नहीं, बेशक हमारे साथ नहीं हैं, मगर ख़ां साहब नहीं हैं तो राय साहब भी तो नहीं हैं। यों कहिए कि यह उन लोगों का आन्दोलन है, जो अपने सारे संकटों का मोचन एकमात्र स्वराज्य ही को समझते हैं। जो गरीब हैं, भूखे हैं, दलित हैं, या जो गैरत से भरा हुआ, देशाभिमान से चमकता हुआ हृदय रखते हैं और यह देखकर जिनका खून खौलने लगता है कि कोई दूसरा हमारे ऊपर शासन करे! इसमें न हिन्दू की कैद है, न मुसलमान की। दोनों ही समान रूप से यह संकट झेल रहे हैं, तो दोनों समान रूप से शरीक हैं। मुसलमान आज़ादी के प्रेम में हिन्दुओं से पीछे रह जायें, सह असम्भव है। मिस्र, ईरान अफगानिस्तान और तुर्की यह सब मुसलमानों ही के देश हैं। देखिये, अपनी आज़ादी के लिए उन्होंने क्या-क्या किया और कर रहे हैं वह कौम कभी आज़ादी के खिलाफ नहीं जा सकती। दो-चार मौलवी, दो-चार 'सर', दस-पांच 'आनरेबुल' यह हांक लगाये जायेंगे, शौक से लगावें। हिन्दू हों या मुसलमान जो अंग्रेजी राज्य में धन और अधिकार के सुख लूट रहे हैं, वे अंग्रेजी सरकार के परम भक्त हैं और रहेंगे और रहना चाहिए। वे किसी के तो नामकहलाहल बने रहें। जिसे अपने जीवन-निर्वाह के लिए अपने बाहुबल पर भरोसा नहीं है, जो अंग्रेजों की शरण आकर कोई ओहदा पा जाना अपनी जिन्दगी का निर्वाण समझता है, वह हमेशा उस पक्ष की तरफ रहेगा, जहां उसे सफलता-प्राप्ति का पूरा भरोसा है। ऐसे लोग ख़तरे की तरफ

भूलकर भी न आवेंगे। अमेरिका के गुलाम भी तो 'गुलामों की आज़ादी' की लड़ाई में मालिकों के पक्ष में लड़े थे। ऐसी गुलाम प्रकृति के लोग हमेशा रहेंगे और उनके रहने से किसी आन्दोलन का नाश नहीं होता। मगर हमें यह कोशिश करते रहना चाहिए कि हमारी इस मुसाहल की हालत में हवा का झोंका न लगने पाये; नहीं तो वह घातक हो जायेगा। कहीं अछूतों को हमसे भड़काने की कोशिश की जायेगी और की जा रही है, कहीं हिन्दू-मुसलमानों को लड़ा देने के मंसूबे सोचे जायेंगे। हमें इन सब चालों को तीव्र दृष्टि से देखते रहना चाहिए। क्या ज़माने की खूबी है कि जिन लोगों ने अछूतों को उससे कहीं ज़्यादा दलित किया है जितना कट्टर-से-कट्टर हिन्दू-समाज कर सकता था, वह आज अछूतों के शुभचिन्तक बने हुए हैं! बेगार की सख़्तियों का दोष किस पर है–हिन्दू समाज पर या सरकार पर? उन्हें अपढ़ रखने का दोष किस पर है–हिन्दू-समाज पर या सरकर पर? उन्हें ताड़ी, शराब, गांजा, चरस पिला-पिलाकर कौन रुपये कमाता है–सरकार या हिन्दू-समाज? प्रारम्भिक शिक्षा का बिल सरकार ने पेश किया था, स्वर्गीय मि० गोखले ने? उसे किसने धनाभाव का बहाना करके नामंजूर कर दिया–हिन्दू-समाज ने या सरकार ने? हमें पूरा विश्वास है कि जिस सरकार ने कितनी ही अछूत जातों को जरामय-पेशा बना दिया, उसी शुभ-चिन्तना पर हमारे दलित-समाज के नेता लोग भरोसा न करेंगे। हिन्दू-समाज अपने दलित भाईयों के प्रति अपना कर्त्तव्य समझने लगा है और वह भी दिन दूर नहीं है जब आर्य और अनार्य, ऊंच और नीच की कैद नाम को भी बाकी न रहेगी। सम्भव है, देहातों के कट्टर हिन्दू कहीं-कहीं अब भी उनके साथ वही पुराना बर्ताव करते हों, लेकिन विचारशील हिन्दू-समाज अब उस अन्याय को कायम न रहने देगा।

[संपादकीय। 'हंस', अप्रैल, 1930 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 में संकलित।]

देहातों में प्रोपेगेण्डे की जरूरत

अब तक हमारे आन्दोलन शहरों तक ही महदूद रहे हैं, लेकिन नमक-कर-भंग देहातों में भी जा पहुंचा है। सत्याग्रही दलों का देहातों में पैदल निकलना ऐसा प्रोपेगेण्डा है, जिसके महत्त्व का अनुमान नहीं किया जा सकता। नौकरशाही का आतंक देहातों पर शहरों से कहीं ज्यादा छाया हुआ है। वहां सब-इंस्पेक्टर का दर्जा ईश्वर से कुछ ही कम होता है और कांस्टेबुल तो खुदमुख्तार बादशाह ही है। कोई आन्दोलन, जिससे पुलिस के रोब दाब में फर्क पड़े, उसकी हवा भी वहां नहीं पहुंचने पाती। मगर अब समय आ गया है कि हमारे स्वयंसेवक बड़ी संख्या में देहातों में पहुंचें और जलसों और जुलूसों से लोगों में राजनैतिक भाव भरें और उन्हें आने वाले महासंग्राम के लिए तैयार करें। अगर देहातों में यह आग लग गई, तो फिर किसी के बुझाए न बुझेगी। हम यह मानते हैं कि देहातों में नौकरशाही दमन के कठोर-से-कठोर शस्त्रों का प्रहार करेगी, जमींदारों को भड़काएगी, तरह-तरह की गलतफहमियां फैलाएगी, पर हमें इन कठिनाइयों का सामना करना है। हमें यह समझा देना है कि इस राज्य में सबसे ज्यादा हमारे देहात ही सताये जाते हैं, और स्वराज्य में सबसे ज्यादा हित देहात वालों ही का सिद्ध होगा।

[संपादकीय। 'हंस', अप्रैल. 1930 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

मशीनगन और शान्ति

शान्ति स्थापित करने के दो साधन हैं। एक तो मानवीय है, दूसरा दानवीय। एक मशीनगन है, दूसरा देश की वास्तविक दशा को समझना और उसके अनुकूल व्यवहार करना। सरकार ने अपने स्वभावानुसार मशीनगन से काम लेना ही उचित समझा है। इसका परिणाम क्या होगा, सरकार को इसकी चिन्ता नहीं। पुलिस और सेना उसके पास हैं। देश में जितने स्वाधीनता के उपासक हैं, वे सब बड़ी आसानी से तोप का शिकार बनाये जा सकते हैं। भारत गरीब है, यहां ऐसे आदमियों की कभी कमी न रहेगी, जो पेट के लिए अपने भाइयों का गला काटने को तैयार रहें। कांग्रेस के लोग जेल में पहुंच ही गए। और दलों के इने-गिने आदमी हैं, उनको फांस लेना और भी आसान है। रहे हमारे लिबरल भाई, उनकी परवा ही किसे है? सरकार उनकी सहायता के बगैर भी राज कर सकती है। टैक्सों को दूना कर देने का उसे अख्तियार है। इस तरह वह इससे बड़ी फौज भी रख सकती है। मशीनगनों के सामने चूं करने का किसे हौसला हो सकता है। अंग्रेज अधिकारियों के वेतन बड़ी आसानी से बढ़ाए जा सकते हैं। कुछ थोड़े से ओहदे हिन्दुस्तानियों को देकर बड़ी आसानी से काम लिया जा सकता है। समाचार-पत्रों को एकदम बन्द कर देने से फिर कहीं से विरोध की आवाज भी न आवेगी। सरकार अपने दिल में सन्तोष कर सकती है कि अब किसी को कोई शिकायत नहीं रही। रिफॉर्म की, गोलमेज-कान्फ्रेंस की और डोमिनियन स्टेट्स की चर्चा ही व्यर्थ है। यह इसी दानवी नीति का फल है कि आज भारत में अंग्रेजों का कोई दोस्त नहीं है। जो लोग अपने स्वार्थवश सरकार की खुशामद करते हैं, वे भी उसके भक्त नहीं हैं। ऐसी प्रजा पर राज करना अगर अंग्रेजों के लिए गौरव की बात है, तो हम नहीं समझते कि वह अपनी सभ्यता और उच्चता का किस मुंह से दावा कर सकती है। अगर अंग्रेजों की जगह इस वक्त हबशी होते, तो वे भी दमन ही तो करते। दमन शासन का सबसे निकृष्ट रूप है और अंग्रेजों ने उसी का आश्रय लिया है। क्या उनका खयाल है कि जिस शक्ति से दबकर उन्होंने सुधार किये और कान्फ्रेंस के वादे किये, वह शक्ति अब गायब हो गई है? दमन उस शक्ति को दिन-दिन मजबूत कर रहा है। उस राज्य के लिए इससे बढ़कर कलंक की दूसरी बात नहीं हो सकती कि उसे हर एक बात के लिए मशीनगनों ही की शरण लेना पड़े। जिस राज्य में जनता पर महज इसलिए गोलियां चलाई जायं कि वह अपने लीडरों की गिरफ्तारी पर शोक मनाने के लिए जमा होती है, उसके चल-चलाव के दिन अब आ गए हैं। पेशावर में जो हत्याकांड हुआ है, वह कभी न होता, अगर नौकरशाही ने मशीनगनों और फौजी हथियारों से जनता को धमकाया न होता। वह जमाना गया, जब जनता पशुबल के प्रदर्शन से डर जाया करती थी। अब वह डरती नहीं, वह उसे अपनी पराधीनता का हेतु समझकर उसकी जड़ खोदने के लिए और दृढ़ संकल्प कर लेती है। नमक कानून टूट गया। सरकार की मशीनगनें उसको न बचा सकीं। लाखों नमक बनाने वाले आज गर्व से सिर उठाए घूम रहे हैं। आर्डिनेंस भी टूट जायगा। कोई कानून, जिसको राष्ट्र के नेताओं ने स्वीकार नहीं किया है और जिसका केवल पशुबल आधार है, अब जनता उसके सामने सिर झुकाने को तैयार नहीं है। सरकार अगर आंखें बन्द रखना चाहती है तो रक्खे, पर उसके आंखें बन्द कर लेने से देश की स्थिति नहीं बदल सकती। देश अब अपनी किस्मत का मालिक आप बनना चाहता है और उसकी कीमत अदा करने का निश्चय कर

चुका.है। पेशावर और कराची-जैसे काण्ड उसके पतन को और निकट ला रहे हैं।

[संपादकीय। 'हंस', अप्रैल, 1930 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 मे संकलित।]

स्वराज से किसका अहित होगा

कुछ लोग स्वराज आन्दोलन से इसलिए घबड़ा रहे हैं कि इससे उनके हितों की हत्या हो जायगी। और, इस भय के कारण या तो दूर से इस संग्राम का तमाशा देख रहे हैं या जिन्हें अपनी प्रभुता ज्यादा प्यारी है वे परोक्ष या अपरोक्षरूप से सरकार का साथ देने पर आमादा हैं। इनमें अधिकांश हमारे जमींदार, सरकारी नौकर, बड़े-बड़े व्यापारी और रुपये वाले लोग शामिल हैं। उन्हें भय है कि अगर यह आन्दोलन सफल हो गया तो जमींदारी छिन जायगी, नौकरी से अलग कर दिये जायंगे, धन जब्त कर लिया जायगा। इसलिए इस आन्दोलन को सिर न उठाने दिया जाय। उन्हें ब्रिटिश सरकार के बने रहने में अपनी कुशल नजर आती है। हम आज इसी प्रश्न पर कुछ विचार करना चाहते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि स्वराज का आन्दोलन गरीबों का आन्दोलन है। अंग्रेजी राज्य में, गरीबों, मजदूरों और किसानों की दशा जितनी खराब है, और होती जा रही है, उतनी समाज के और किसी अंग की नहीं। यां तो सरकार ने किसी को बदाग नहीं छोड़ा, शिक्षित समुदाय आये दिन अपने हकों को छिनते देखता है राजों-रईसों की जायदादें और रियासतें जब्त हो रही हैं, व्यापारियों और मिलों के स्वामियां को मैनचेस्टर और लंकाशायर का शिकार बनाया जा रहा है, लेकिन यह सब कुछ होने पर भी सरकार के हाथों किसी सम्प्रदाय की इतनी बरबादी नहीं हुई है जितनी किसानां और मजदूरों की—खासकर किसानों की। सरकारी नौकरों की तनख्वाहें बढ़ गयीं, नये सुधारों से भी उन्हें कुछ फायदा पहुंचा, उनके लिए कई महाविद्यालय खुल गए, व्यापारियों के भी कुछ आंसू पोंछे गए पर किसानों की हालत रोज ब रोज खराब ही होती जा रही है। उन पर लगान बढ़ता जाता है, सख्तियां बढ़ती जाती हैं। कौंसिलों में उनके हितों का कोई रक्षक नहीं। वे जमींदारों के चंगुल में इस बुरी तरह फंसे हैं कि दबाव में पड़कर वे उन्हीं को अपना प्रतिनिधि बनाने पर मजबूर होते हैं जो उनके हितों का भक्षण करते रहते हैं। कांग्रेस के मेम्बर या और लोग भी कभी-कभी न्याय और नीति के नाते भले ही किसानों की वकालत करें, लेकिन किसानों के नाना प्रकार के दुःखों और वेदनाओं की उन्हें वह अखर नहीं हो सकती, जो एक किसान को हो सकती है, अतएव हमारे राष्ट्र का सबसे बड़ा भाग अन्याय-पीड़ित है। सब छोटे-बड़े उसी को नोचते हैं, उसी का रक्त और मांस खा-खाकर मोटे होते हैं, पर कोई उसकी खबर नहीं लेता। मजदूरों के संघठन हैं, सरकारी नौकरों ने भी अपने-अपने दल संघठित कर लिए, जमींदारों और महाजनों का दल भी व्यवस्थित है, मगर किसानों का कोई संघ नहीं। उनकी शक्ति बिखरी हुई है। अगर उन्हें संघठित करने की कोशिश की जाती है, तो सरकार, जमींदार, सरकारी मुलाजिम और महाजन सभी भन्ना उठते हैं। चारों ओर से हाय-हाय मच जाती है। बोलशेविज्म का हौआ बताकर उस आन्दोलन को जड़ से खोदकर फेंक दिया जाता है, इसलिए यह कहना गलत नहीं है, कि स्वराज किसानों की मांग है, उन्हें जिन्दा रखने के लिए आवश्यक है, अनिवार्य है, लेकिन किसानों का उपकार करके, वह और सभी समुदायों का अपकार करेगा, यह क्यों

समझ लिया जाता है? हां, अगर किसानों का उपकार ही औरों का अपकार हो, तो दूसरी बात, लेकिन न्याय-बुद्धि कभी इसे स्वीकार करने की नीचता नहीं कर सकती।

सबसे पहले जमींदारों को लीजिए, क्योंकि विरोधी दलों में प्रमुख भाग इसी दल का है। जमींदारों में भी और सब समुदायों की भांति अच्छे भी हैं, बुरे भी। अगर जमींदार अपने अन्याय से अपने को इतना कलंकित न कर ले, कि उसका अस्तित्व ही दूसरों की आंखों में खटकता हो, तो वह किसानों का मुखिया, नेता और रक्षक बना हुआ अनन्तकाल तक जीवन का उपभोग कर सकता है। स्वराज्य-काल में लगान तो कुछ न कुछ जरूर ही कम हो जायगा, किसान पचास सैकड़े से कम की कमी को स्वीकार न करेंगे, और उसी के साथ जमींदार की आमदनी भी कम हो जायगी, लेकिन क्या स्वराज्य, न्याय और धर्म से इतना शून्य हो जायगा, कि वह किसी समुदाय के जायज हकों का अपहरण कर ले? यह असम्भव है। जमींदार रहेंगे, उनका आदर और सम्मान भी रहेगा, उनका रोब-दाब भी रहेगा, हां बेगार न रहेगी, नजराने न रहेंगे, अंधाधुंध लूट न रहेगी, मगर होंगे वे अपने घर के राजा। वह सलामियां और खुशामदें और सिजदें और नकघिसनियां, जो वो आये-दिन हाकिमों की किया करते हैं, गायब हो जायंगी। आमदनी कुछ जरूर घटेगी, पर इसके बदले सम्मान बढ़ जायगा और वह समाज के सच्चे नेता बन जायंगे। अगर हम अपनी सेवा और व्यवहार और साधना से साबित कर दें, कि हमारा रहना जरूरी है, हमारे बगैर काम न चलेगा, तो हमारा कोई बहिष्कार नहीं कर सकता। जो जमींदार प्रजा को लूटना ही अपना अधिकार समझते हैं, उनसे तो हमें कुछ कहना ही नहीं, लेकिन जो सज्जन हैं, उदार हैं, कर्तव्य-परायण हैं, उनसे हम यह निवेदन अवश्य करेंगे, कि आप अपने थोड़े से स्वार्थ की रक्षा के लिए स्वराज में बाधक न बनें। स्वाधीन बनकर आधी खा लेना गुलामी की पूरी से कहीं अच्छा है। आप उन वीरों के नामलेवा हैं, जिनका नाम इतिहास में अमर है। यह आन्दोलन तो खुद आप में पैदा होना चाहिए था। उसका विरोध करना आपको शोभा नहीं देता। शोभा तो यह देता है, कि आप इस आन्दोलन के अगुआ होते और देश आपके पीछे होता। आप अपने बाहुबल और बुद्धिबल का परिचय देकर देश को अपना अनुयायी बना लेते। लेकिन आप इस समय कर्त्तव्य क्षेत्र से मुख ही नहीं मोड़ रहे हैं, आप दूसरों का उत्साह भी तोड़ देते हैं। अपने से दूसरों को भी गुलाम बनाये रखने की फिक्र कर रहे हैं। अगर आपको यह भय है, कि आपने जरा भी कान खड़े किये और आपकी रियासत जब्त हुई, आप दूध की मक्खी की भांति निकालकर फेंक दिये गये, तो इस तरह आप के दिन अपनी खैर मनायेंगे। वही सरकार जिसके दामन में आप मुंह छिपाये हुए हैं, आपको ठुकरा देगी। आपको हम विश्वास दिलाते हैं, कि आपने देश का साथ दिया, तो देश भी आपका साथ देगा और अगर आपने उसके मार्ग में बाधाएं डालीं, तो आप चाहे दूसरों के बल पर कुछ दिन और प्रभुता के मजे उड़ा लें, पर आप जनता की नजरों से गिर जायंगे और जिनके बल पर आप कूद रहे हैं, वे ही आपको निकाल बाहर करेंगे। जब तक उन्हें मालूम है, कि प्रजा पर आपका दबाव है वे आपको अपने स्वार्थ का यंत्र बनाये हुए हैं। जिस दिन उन्हें यकीन हो जायगा कि आपके निकाले जाने पर कोई एक बूंद आंसू भी न बहायेगा, उसी दिन आपका अन्त हो जायगा, इसलिए आपका भविष्य स्वराज्य के गर्भ में है। अगर आप देश के द्रोही न बनें, तो स्वराज्य से आपके भयभीत होने का कोई कारण नहीं है।

अब व्यापारियों को लीजिए। हमारे यहां बड़े व्यापारियों में दो प्रकार के लोग हैं। एक

तो वह जो खुद माल तैयार करते हैं—दूसरे वो जो दिसावर से माल मंगाते हैं। तीसरे प्रकार के वे लोग भी हैं, जो यहां से कच्चे पदार्थ दिसावर भेजते हैं। जो लोग विलायती माल का रोजगार करते हैं, सम्भव है उन्हें कुछ दिनों, जब तक नयी व्यवस्था ठीक न हो जाय, हानि उठानी पड़े, लेकिन इन्तजाम ठीक हो जाने के बाद, फिर उनके लिए सुभीते ही सुभीते हैं। तब उन्हें खुद अपना माल तैयार करने की सुविधाएं होंगी, रेलों का भाड़ा कम हो जायगा, चुंगी-महसूल घट जायगा, वह खुद अपने मिलों में इतना माल बनाने लगेंगे, कि उन्हें बाहर से थोड़ा ही माल मंगाने की जरूरत होगी। स्वराज्य-सरकार आज की सरकार की भांति जरा-जरा-सी बात पर दिक न करेगी और न उसके पास कोई दूसरा मैनचेस्टर या लंकाशायर होगा। जिस तरह की सहायता उनकी सफलता के लिए दरकार होगी, उसकी आयोजना सरकार खुद करेगी। उसके धन और व्यापार-वृद्धि के सदुपयोग के कितने ऐसे ही मार्ग खुल जायंगे, जिनकी इस वक्त कल्पना भी नहीं की जा सकती। तब अंग्रेज आढ़तियों की खुशामद उन्हें न करनी पड़ेगी, न अधिकारियों को डाली पेश करनी पड़ेगी। बड़े-बड़े सरकारी ठीके, जो अब विदेशियों को मिल जाते हैं, तब यहीं के व्यापारियों को मिलेंगे। उनके अपने जहाज होंगे, अपने बैंक होंगे, अपने कारखाने होंगे, लेकिन हाल में कुछ नुकसान उठाये बिना वह सुदिन नहीं आ सकता। अगर इन्होंने हाल की हानि का मुंह देखा और इस आन्दोलन से किनारे रहे, तो याद रहे उनकी यह दशा भी न रहने पायेगी। विदेशी व्यापारी उन्हें दिन-दिन दबाते चले जायंगे। रहे हमारे छोटे-मोटे दुकानदार, जो विदेशी चीजों का व्यापार करते हैं, उन्हें इस आन्दोलन से डरने का कोई मौका नहीं। वह जनता में जिस चीज की रुचि देखेंगे वही चीजें मंगायेंगे। उनका बीच का नफा कहीं नहीं गया है।

अब सरकारी नौकरों को लीजिए। उनमें बहुत बड़ी संख्या थोड़ा वेतन पाने वालों की है। यह जैसे अब हैं, वैसे ही तब रहेंगे। इनका वेतन स्वराज्य-सरकार नहीं घटा सकती। हां, जो बड़ी-बड़ी लम्बी रकमें डकराते हैं, उनकी स्वराज्य-सरकार में छीछालेदर होगी। दस-दस और पांच पांच हजार उड़ाने वालों का तब नामोनिशान भी न रहने पायेगा। स्वराज्य-सरकार में छोटों की इतनी हकतलफी न होगी, न बड़ों की इतनी चांदी रहेगी। स्वराज्य-सरकार की यह कोशिश न होगी, कि वह दो आदमियों का काम एक आदमी से ले और उसे दूना वेतन दे। हमारे पढ़े लिखे लोग लाखों की संख्या में बेकार बैठे हैं और यहां एक एक अफसर इतना वेतन ले रहा है, जिसमें दस परिवारों का निर्वाह आसानी से हो जाता। तब सरकारी नौकरी सेवा-भाव प्रधान होगी, लोग धन लूटने के लिए उसमें न आवेंगे। अंग्रेजों ने लम्बी-लम्बी तनख्वाहें देकर हम स्वदेशवासियों का आदर्श गिरा दिया है। तब सरकारी नौकरी रोब और धन का साधन न होगी, बल्कि सेवा और धर्म का। तब लोग सरकारी नौकरों की इज्जत करेंगे, भय से नहीं, भक्ति से। दुनिया के किसी मुल्क में मातहतों और अफसरों के वेतनों में इतनी विषमता नहीं है, जितनी भारत में। यह भीषण दृश्य यहीं देखने में आता है, कि चौबीस घंटे सड़कों पर पहरा देने वाला, रातों को अंधेरी गलियों में चक्कर लगाने वाला कांस्टेबिल, तो पन्द्रह-बीस रुपये पाये और महलों में ऐश से विलास करने वाले अफसर, पन्द्रह सौ और दो हजार रुपये हड़प करें। बाबूजी नौ बजे दिन से नौ बजे रात तक तीस रुपये में आंखें फोड़ें और उनके अफसर केवल कागजों पर दस्तखत करके तीन सौ रुपये फटकारें। स्वराज्य-सरकार के हाथों इस कुदशा का सुधार होगा। न अफसरों के चिराग आसमान में जलेंगे, न

गरीबों के घरों में अंधेरा रहने पायेगा।

गरीबों की छाती पर दुनिया ठहरी हुई है, यह कठोर सत्य है। हरेक आन्दोलन में गरीब लोग ही आगे बढ़ते हैं, यह भी अमर सत्य है। इस आन्दोलन में गरीब ही आगे-आगे हैं और उन्हीं को रहना भी चाहिए, क्योंकि स्वराज्य से सबसे ज्यादा फायदा उन्हीं को होगा भी, लेकिन जैसा हमने ऊपर दिखाने की चेष्टा की है, स्वराज्य हो जाने से समाज के किसी अंग को कोई हानि नहीं पहुंच सकती, लाभ ही लाभ होंगे। हां, उनको अवश्य हानि होगी, जो खुशामद और लूट और अन्याय के मजे उड़ा रहे हैं। वे अगर स्वराज्य के बाहर रहें, तो उनका फायदा है, लेकिन जो नीति-धर्म और सत्य के मानने वाले हैं, उनके लिए स्वराज्य से चौंकने का कोई कारण नहीं। उन्हें दिल खोलकर, निर्भय रूप से इस संग्राम में सम्मिलित होना चाहिए। ऐसे अवसर रोज-रोज नहीं आते।

[संपादकीय। 'हंस', अप्रैल, 1930 में प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग 2 में संकलित।]

हिन्दू-मुसलिम बांट-बखरे का प्रश्न

भारतीय एकता के विरोधी यह कहते कभी नहीं थकते कि जब तक हिन्दुओं और मुसलमानों में हिस्से का समझौता न हो जाय, मुसलमान इस संग्राम में शामिल नहीं हो सकते। इस कथन में कितनी सच्चाई है, इसे मुसलिम जनता अब समझने लगी है। वह यह है, कि जब तक एक तीसरी शक्ति इन दोनो जातियों के वैमनस्य से फायदा उठाने वाली रहेगी, एकता का सूर्य कभी उदय न होगा। पूरी एकता तो स्वराज्य मिल जाने पर ही हो सकती है। हिस्से का निश्चय करने के लिए एक से अधिक बार कोशिशें की गई, यहां तक कि आज भी सर तेजबहादुर सप्रू सर्वदल-सम्मेलन करने में लगे हुए हैं, मगर उन कोशिशों का फल क्या निकला? समझौता न हुआ, न हुआ। कोई रोजगार शुरू किया जाता है, तो पहले ही से यह निश्चय नहीं कर लिया जाता कि हम इतने रुपये फी सैकड़े नफा लेंगे। पहले तो उसके लिए पूंजी जमा की जाती है। फिर संगठन शुरू होता है तब माल की तैयारी होती है, इसके बाद खपत का सवाल होता है, आखिर में नफे का प्रश्न आता है। यहां पहले ही से नफे के हिस्से तय करने की सलाह की जाती है। अरे भाई जान, पहले पूंजी तो लगाओ, अभी नफे का क्या सवाल है? हिन्दुस्तान अगर इतने दिनों की गुलामी से कुछ सीख सका है, तो वह यह है कि समाज के किसी अंग को असंतुष्ट रखकर कोई राष्ट्र दुनिया में उन्नति नहीं कर सकता। हमें विश्वास है कि भारत इस सबक को अब कभी न भूलेगा। महात्मा गांधी ने तो यहां तक कह दिया है कि मुसलमान जितना चाहें ले लें, इसमें हिस्से का सवाल ही नहीं। स्वराज्य के अधीन राजपद धन कमाने का साधन नहीं, प्रजा की सेवा का साधन होगा। हम तो यही समझे बैठे हैं। अगर उस दशा में भी हमारे मुसलमान भाई राजपदों या मेम्बरियों में बड़ा हिस्सा लेने का आग्रह करेंगे, तो स्वराज्य-सरकार उनके मार्ग में बाधक न बनेगी। उस वक्त राजपद वही स्वीकार करेंगे, जो देश के लिए त्याग करना चाहेंगे, धन लोलुप, और विलासी जनों के लिए स्वराज्य-शासन में कोई स्थान न होगा।

[संपादकीय। 'हंस', अप्रैल, 1930 में प्रकाशित। 'प्रेमचद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।

दमन

दमन का बाजार गर्म है। निर्बल का एकमात्र आधार रोना है, सबल का एकमात्र आधार आंखें तरेरना। दोनों क्रियाएं आंखों से ही होती हैं; लेकिन उनमें कितना बड़ा अन्तर है ! स्वेच्छाचारी सरकारों की बुनियाद पशु-बल पर होती है। वह हरेक अवसर पर अपना पशु-बल दिखाने को तैयार रहती हैं। प्रजा की हरेक शिकायत की दवा उनके पास संगीन और मशीनगन है। पशु-बल पर उनका अखंड विश्वास है। उनकी समझ में यह हरेक बीमारी की अचूक दवा है। वह कभी इसे स्वीकार नहीं करतीं, कि यह दवा कभी-कभी चूक भी जाती है। अगर पुराना इतिहास इसके विरुद्ध कोई प्रमाण देता है, अगर रूस, इटली, फ्रांस और स्वयं इंग्लैंड आदि देशों में इसका व्यर्थ होना सिद्ध हो गया है, तो हमारी सरकार इससे यह नतीजा निकालती है, कि उन देशों में उतना दमन नहीं किया गया, जितना जरूरी था। अगर पक्का, सोलहों आना दमन होता, तो मजाल थी, कि शासकों को सफलता न होती। उन देशों के शासक कच्चे थे, दमन करना न जानते थे। हमारी सरकार दमननीति के व्यवहार में सबसे बाजी लिये जा रही है और यह कौन कह सकता है, कि वह गलती पर है। पुरानी कहावत है, कि मार के आगे भूत भागता है। आखिर आन्दोलन करने वाले आदमी ही तो हैं ! मार्शल लॉ से, जेलखानों में बन्द करके, सरकार उन्हें चुप कर सकती है, मगर जैसा जर्मनी के प्रिंस बिस्मार्क जैसे पशुबलवादी को भी स्वीकार करना पड़ा था, कि "संगीन से तुम चाहे जो काम ले लो, पर उस पर बैठ नहीं सकते।" हमारी सरकार दमन के व्यवहार से, चाहे जाति को चुप कर दे, पर उसे शान्त नहीं रख सकती। उसके लिए दोनों रास्ते खुले हुए हैं। एक तो प्रजा की शान्ति–उससे उत्पन्न होने वाली विभूतियों की ओर ले जाती है, दूसरी प्रजा की अशान्ति–उससे उत्पन्न होने वाली विपत्तियों की ओर। एक तरफ कीर्त्ति है, गौरव है, पारस्परिक सहानुभूति है, दूसरी ओर अपकीर्ति है, अन्याय है, नोच-खसोट है। हम यह कभी स्वीकार नहीं कर सकते, कि अंग्रेजों को नेकनामी से प्रेम नहीं। व्यक्ति की भाँति ही कोई जाति इतनी पतित नहीं हो सकती, कि उसे बदनामी की लज्जा न हो। क्या आने वाली अंग्रेज जाति इतिहास के पन्नों में अपने पूर्वजों की क्रूर कथाएं पढ़कर गौरवान्वित होगी? क्या अंग्रेज जाति चाहती है, कि उसके और भारत के बीच इतना वैमनस्य हो जाय, जो सदियों में भी न मिटे? अंग्रेजों का भविष्य उनके वाणिज्य और व्यवसाय पर है। क्या भारतीय जनता को असन्तुष्ट रखकर वह अपने व्यापार को जीवित रख सकते हैं? मि॰ वेजवुड बेन ने अभी अपने व्याख्यान में कहा है, कि बड़ी से बड़ी फौजी ताकत भी भारतीय किसानों को अंग्रेजी चीजें लेने पर मजबूर नहीं कर सकती। तब जान-बूझकर सरकार क्यों इतनी निर्दयता से दमन पर कमर बांधे हुए है, यह हमारी समझ में नहीं आता। हमने मि॰ वेजवुड बेन के व्याख्यान को बड़े ध्यान से पढ़ा। उससे हमें घोर निराशा हुई। वह अभी तक भारतीय आन्दोलन का तत्त्व ही नहीं समझे, या शायद समझते हुए भी न समझने की चेष्टा कर रहे हैं। अगर उनका ख्याल है, कि यह आंदोलन कांग्रेस के थोड़े-से आदमियों का खड़ा किया हुआ है और उन्हें जेल में बन्द करके या डंडों से पीटकर इसकी जड़ खोदी जा सकती है, तो यह उनकी भूल है। यह एक राष्ट्रीय आंदोलन है, यह भारतीय आत्मा के स्वाधीनता-प्रेम की विकल जागृति है। महात्मा गांधी क्यों भारत के हृदय पर राज्य कर रहे हैं? इसीलिए कि वह इस विकल जागृति के जीते-जागते अवतार हैं।

वह भारत के सत्य, धर्म, नीति और जीवन के सर्वोत्तम आदर्श हैं। उन्हें जेल में बन्द करके सरकार ने अगर कोई बात सिद्ध की, तो वह यह है कि जिस शासन में ऐसा देव-तुल्य पुरुष भी स्वाधीन नहीं रह सकता, वह जितनी जल्द मिट जाय, उतना ही भारत के लिए और समस्त संसार के लिए कल्याणकारी होगा। मि० बेन फरमाते हैं, कि किसानों पर इस आंदोलन का असर नहीं है और न मुसलमानों पर है। हम मि० बेन को इतना सादालौह न समझते थे। स्वराज्य-आंदोलन खासकर किसानों ही का आंदोलन है। क्या किसान इतने बड़े मूर्ख हैं, कि वह अपना हित भी नहीं समझते? सम्भव है, कि उनके पास अपने भावों और विचारों के प्रकट करने का वैसा अवसर, साधन और साहस न हो, जिसका मि० बेन जैसे आदमी पर असर पड़ता, पर इसका यह आशय नहीं, कि वह इस आन्दोलन में शरीक ही नहीं है? अगर इस आन्दोलन में उनका कोई फायदा न होता, शिक्षित समाज ने उन्हें बेवकूफ बनाकर केवल अपना मतलब गांठना चाहा होता, तो सम्भव था, किसान शरीक न होते; लेकिन जब किसानों की आर्थिक कठिनाइयों का सुधार इस आंदलोन के मुख्य तत्वों में है, तो किसान क्यों न शरीक होंगे? किसानों से ज्यादा कर और कौन देता है? उनके खेत में उपज हो या न हो, पर उन्हें लगान अवश्य देना पड़ेगा और लगान भी वह जो बराबर बढ़ता चला जाता है। क्या किसान बोलते नहीं, तो क्या अपनी दशा को महसूस भी नहीं करते? महात्मा जी ने तो खुद किसानों को 'बेजबान' कहा है। अभी तो इस आंदोलन को चले हुए तीन महीने भी पूरे नहीं हुए। ईश्वर ने चाहा, तो सरकार को यह भी मालूम हो जायगा, कि किसान इस आंदोलन में कहां तक शरीक हैं। रहे मुसलमान। पिछले वैमनस्यों के कारण अभी कुछ मुसलमान जनता ऐसी अवश्य है, जो इस आंदोलन को शुबहे की निगाह से देखती है, पर अधिकांश लोग हमारे साथ हैं, जैसा कि जमेयतुलउल्मा के फैसले से जाहिर है। पेशावर मुसलमानों का शहर है और वहां की जनता पर जो कुछ हुआ है, उसने हमारे बहुत से मुस्लिम भाइयों की आंखें खोल दी हैं। अभी बम्बई के भिंडी बाजार में मुसलिम जनता पर जो कुछ किया गया है, उसका असर भी जरूर होगा। फिर क्या यह अंगरेजी सरकार के लिए गौरव की बात है, कि वह आंदोलन के तत्व पर विचार न करके ऐसे विचारों से सन्तोष प्राप्त करे, कि इस आंदोलन में फलां शरीक है, फलां नहीं शरीक है। यह एक अप्रिय सत्य है पर उसे विवश होकर कहना ही पड़ता है कि मुस्लिम नेताओं में इस वक्त कुछ ऐसे लोग मौजूद हैं, जिन पर मुस्लिम जनता का विश्वास नहीं। कुछ मुसलिम नेता इस आन्दोलन से अपने मतलब गांठने की फिक्र में पड़े हुए हैं और मुस्लिम जनता के हितों को अपने स्वार्थ पर बलिदान कर रहे हैं। क्या लगान कम हो जाने से केवल हिन्दू किसानों का हित होगा? क्या स्वदेशी के प्रचार से केवल हिन्दुओं का हित होगा? मेम्बरियों और ओहदों के लिए झगड़ना मुसलिम जनता के हितों को थोड़े से शिक्षित समाज के स्वार्थ की भेंट करना है। हमें पूरी आशा है, और उसके लक्षण भी दिखायी दे रहे हैं, कि बहुत जल्द मुसलिम जनता अपने नेताओं से फिरकर इस आन्दोलन में शरीक हो जायगी। मुसलिम जनता को भी अब यह बात मालूम हो गयी है, कि सरकार को न हिन्दुओं से प्रेम है, न मुसलमानों से। उसके मार्ग में जो बाधक होगा, चाहे वह हिन्दू हो, या मुसलमान, उसके साथ किसी तरह की रिआयत न की जायगी। सरकार को नीच हिन्दू-जातियों से भी कुछ आशा है। कहीं-कहीं उसकी तरफ से इस आन्दोलन के विरोध की आवाजें भी आ रही हैं। हमें इस बात से लज्जा और खेद है, कि ऊंची जातों ने नीची जातों के

साथ पूर्वकाल में ऐसा अच्छा सलूक नहीं किया, जैसा उन्हें करना चाहिए था, लेकिन जागा हुआ हिन्दू-समाज अब अपने पिछले दुर्व्यवहारों का प्रायश्चित कर रहा है और कांग्रेस उन पुराने लचर और अमानुषीय बन्धनों को तोड़ने में अपना पूरा जोर लगा रही है। कांग्रेसी हिन्दू की नजर में सभी हिन्दू बराबर हैं। वह किसी के साथ मिलने, साथ भोजन करने, देवमन्दिरों में एक साथ पूजा करने में आना-कानी नहीं करता। वह हिन्दू-धर्म के ठीकेदारों से लड़ने पर भी तैयार है। एक अछूत भाई से बराबरी के नाते से मिलकर कांग्रेसमैन-को जितना आनन्द होता है, उसे बयान करने की जरूरत नहीं। उसका बस चले, तो वह आज ही ऊंच-नीच के बन्धनों को तोड़ दे। हमें विश्वास है, कि बहुत थोड़े दिनों में ऊंच-नीच का भेद केवल इतिहास में रह जायगा, मगर हम सरकार से पूछते हैं, आप जो अछूतों के बड़े हितैषी बनते हैं, आपने उनके उद्धार के लिए क्या किया है? आपने क्यों बेगार बन्द नहीं की? क्या आपको यह नहीं मालूम कि बेगार जिनसे ली जाती है, वह यही नीच भाई हैं? जरायमपेशा जातियों की सृष्टि किसने की है? आपने या कांग्रेस ने? नीच भाइयों की शिक्षा के लिए प्रबन्ध करने में आपने कितनी उदारता से काम लिया है? इन बातों के होते हुए भी आप किस मुंह से अछूतों के हितैषी बनने का दावा कर सकते हैं? हमारे आदि हिन्दू भाई अब अपना दोस्त-दुश्मन पहचानने लगे हैं और हमें पूरा विश्वास है कि वह इस अवसर पर अपनी समझ से काम लेंगे। हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि कांग्रेस के द्वारा ही उनका उद्धार हो सकता है और कोई शक्ति उनका उपकार नहीं कर सकती।

जिस निर्दयता से दमन किया जा रहा है, उससे तो यह साफ मालूम होता है, कि सरकार भारत की जागृति से घबड़ाई हुई है। Law and order का ढकोसला बनाकर सरकार खुद Law and order का भंग कर रही है। कानून केवल प्रजा ही के लिए नहीं है। सरकार पर भी उसके बनाये हुए कानून उतने ही लागू होते हैं, जितने प्रजा पर मगर हम यहां देखते हैं कि इस जागृति को दबाने के लिए सरकार किसी कानून की परवा नहीं कर रही है। जिस अपराध के लिए जो दंड नियत कर दिया गया है उसका वह दंड न देकर सरकार जब जनता पर डंडों का प्रहार कराती है तो उसे न्याय सगत नहीं कहा जा सकता। आमतौर पर यही होता है कि कांग्रेस का एक जुलूस निकलता है अगर जुलूस को अपनी राह चले जाने दिया जाय तो कोई चूं भी न करे। कांग्रेस या उससे हमदर्दी रखने वाली जनता लूटने के लिए जुलूस नहीं निकालती, न शांति भंग करने के इरादे से चलती है मगर सरकार इसे अपमान समझती है और जुलूस को रोकने के लिए नये नये दफे लगाती है पुलीस से निहत्थों को पिटवाती है और जिस चीज की रक्षा के लिए वह यह सब कुछ करने का दावा करती है, वह इस कार्रवाई से भंग हो जाती है। पेशावर, पटना, कलकत्ता, लखनऊ सभी जगह वही एक किस्सा है। हम लखनऊ को लेते हैं। जिस हजरतगंज में कांग्रेस के जुलूस को रोकने के लिए सैकड़ों सिर तोड़ दिये गये, उसी हजरतगंज से उसके पहले दो बार कांग्रेस का जुलूस शान्तिपूर्वक निकल गया था और एक चींटी की भी जान न गयी थी। इससे स्पष्ट है, कि सरकार भारतीय जागृति को दमन के जोर से दबाना चाहती है। Law and order केवल बहाना है। शोलापुर की परिस्थिति पर सरकार ने जो विज्ञप्ति प्रकाशित की है, या पेशावर की तहकीकाती कमेटी के सामने सरकारी कर्मचारियों ने जो बयान दिए हैं, उनसे भी यही प्रकट होता है, कि कर्मचारियों ने बेजा जल्दबाजी से काम लिया। पहले कहा गया था, कि शोलापुर में तीन पुलीसमैनों को

मारकर जला दिया गया था। अब खुद सरकारी रिपोर्ट कहती है, कि यह बात गलत थी। तो फिर मार्शल लॉ जारी करने और हत्याकांड का अपराधी कौन है? पेशावर में तहकीकाती कमेटी के सामने जो बयान हो रहे हैं, उनसे विदित होता है, कि जब तक जनता के तीन आदमी सशस्त्र कारों से कुचल नहीं गये, किसी ने पत्थर नहीं फेंके। एक कर्मचारी ने तो यहां तक कहा, कि फौज को बुलाने की कोई जरूरत न थी। फिर भी फौज बुलायी गयी और कितने ही आदमी मार डाले गये। क्या यही Law and order की रक्षा है? हम यह मानते हैं, कि कहीं-कहीं जनता ने पत्थर फेंके होंगे, पर उसी वक्त, जब पुलीस या फौज ने कोई ज्यादती की होगी। खेद तो इस बात का है, कि सेक्रेटरी तक पुलीस की इन डण्डेबाजियों की तारीफें कर रहे हैं और हिज एक्सेलेंसी भी यही फरमाते हैं कि कहीं उससे ज्यादा सख्ती नहीं की गयी जितनी जरूरी थी। हमारे नेता गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रहे हैं, कि पुलीस घोर अत्याचार कर रही है। इस कठोर दमन से उदासीन होकर लोग एसेम्बली और कौन्सिलों से धड़ाधड़ इस्तीफे दे रहे हैं; पर सरकार यही कहे जाती है, कि जरूरत से ज्यादा सख्ती कहीं नहीं की गई। सेक्रेटरी साहब ने तो इन इस्तीफों का जिक्र तक नहीं किया। अब तो स्त्रियों पर भी सख्ती होने लगी है। देखना चाहिए, यह दमन क्या-क्या गुल खिलाता है। हम तो इतना ही जानते हैं, कि जागृति दमन से दबने वाली नहीं। दमन से वह और भी जोर पकड़ेगी।

[संपादकीय। 'हंस', मई, 1930 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

मौलाना हसरत मोहानी

अगर तुम्हें क्रान्ति की तस्वीर देखनी हो, जीती-जागती, बोलती-चालती तस्वीर, अपनी सारी विभूति, सारे कला के साथ, तो मौलाना हसरत मोहानी को देखो। तुम्हें ज्ञात होगा कि क्रान्ति के रूप और तत्व में कोई सादृश्य नहीं होता। लेकिन क्या था? बिल्कुल साधारण मजदूर जैसा रूप के किसी गांव में देख सकते हो। चेहरे पर तेज और प्रतिभा और संग्राम का नाम नहीं। गांधी को देखो। इससे ज्यादा गरीब, सरल, देहकानी सूरत और किसकी होगी? बस ऐसा मालूम होता है कि कोई मजदूर अभी काम करके लौटा है। हसरत के चेहरे पर भी वही नम्रता है, वही दीनता है, पर उसके अन्दर क्रान्ति का अथाह समुद्र लहरें मार रहा है। ठिगना कद, स्थूलता की ओर झुकी हुई सुगठित देह, सांवला रंग, चेहरे पर चेचक के दाग, खिचड़ी दाढ़ी, फैशन और नुमाइश से कोसों दूर, त्याग और निग्रह की मूर्ति, जिसे रूईदार गदले और खद्दर से स्वाभाविक प्रेम है। अलीगढ़ के ठाट-बाट, रंग-ढंग का जादू कभी उन पर नहीं चला। हम निश्चय नहीं कह सकते, पर हमने, तो उन्हें हमेशा फैशन के खिलाफ कमर कसे, तलवार खींचे पाया। मुसलमानों में शायद हसरत ही वह बुजुर्ग हैं जिन्होंने आज से पन्द्रह वर्ष पहले भारत की पूरी आजादी की कल्पना की और आज तक उसी पर कायम हैं। पहले पहल वह स्वर्गीय महात्मा तिलक के अनुयायी हुए। नरम राजनीति में उनकी गर्म तबियत के लिए कोई खिंचाव, कोई रुचि न थी। थोड़े ही दिनों में वह अपने गुरु से भी चार कदम और आगे बढ़ गये और उस समय पूर्ण स्वराज का डंका बजाया, जब कांग्रेस का गर्म से गर्म नेता भी पूर्ण स्वराज का नाम लेते कांपता था। उस जमाने में हसरत का कोई साथी न था, लोग उन्हें झक्की समझते थे, पर वह शेर अपनी धुन का पक्का था। अपने लक्ष्य से उसने कभी मुंह

नहीं मोड़ा। नेहरू रिपोर्ट ने बहुत से मुसलमानों को कांग्रेस से अलग कर दिया। पूरी आजादी का दीवाना हसरत भी उस रिपोर्ट का दुश्मन हो गया। मौलाना के विचारों में उस वक्त हिन्दुओं से विरोध की झलक आने लगी थी। उनके हिन्दू मित्रों की समझ में उनकी यह नीति न आती थी। वे समझने लगे, इन पर भी नौकरशाही का जादू चल गया, पर अब विदित हुआ कि मौलाना अपने मार्ग से जरा भी विचलित नहीं हुए थे। नेहरू-रिपोर्ट का आदर्श था डोमेनियन स्टेट्स। मौलाना खूब जानते हैं कि जब तक भारत की लगाम अंग्रेजों के हाथ में रहेगी, हमारी शासन व्यवस्था कितनी ही निर्दोष क्यों न हो, उसका संचालन इस प्रकार किया जा सकता है, भिन्न-भिन्न जातियों और मजहबों को इस भाँति लड़ाया जा सकता है कि नौकरशाही का हमेशा बोलबाला रहे। इसलिए ज्योंही कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज का प्रस्ताव स्वीकार किया, मौलाना हसरत संग्राम में कूद पड़े। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम समझौते की प्रतीक्षा नहीं की क्योंकि वह जानते हैं कि वर्तमान दशाओं में कोई समझौता होना असम्भव है। यह संग्राम का समय है, समझौते का समय बाद को आयेगा जब कि विजय प्राप्त हो जायगी। कितने ही बने हुए लोग जो कांग्रेस का विरोध इसलिए करते थे कि यह तो डोमीनियन स्टेट्स को अपना इष्ट बनाये हुए है और हम स्वाधीनता के उपासक हैं, कांग्रेस का क्यों साथ दें, वह लोग आज समझौते का बहाना निकालकर जाति की आंखों में धूल झोंकना और अपनी शान बनाये रखना चाहते हैं, पर कौम उन्हें खूब समझ रही है और अब उनके पंजे में आने वाली नहीं।

मौलाना हसरत का समस्त जीवन ही व्रत है। औरों की तरह उन्होंने कानून पढ़कर धन कमाने की इच्छा नहीं की, सरकारी नौकरी के लिए कभी सरकार की चौखट पर नाक नहीं रगड़ी। डिग्री लेने के बाद ही उन्होंने 'उर्दू मुअल्ला' नामक साहित्यिक पत्रिका अलीगढ़ से निकाली और एक मुद्दत तक उसे चलाते रहे। जब वह जेल चले गए तो पत्रिका बन्द हो गई। कुछ दिनों से आपने 'मुस्तकिल' नाम का दैनिक पत्र निकाला है और उसी को चला रहे हैं। 'उर्दू-मुअल्ला' के दो आश्रय थे—साहित्य और राजनीति। उसके साहित्यिक भाग में जितनी सुरुचि और मौलिकता होती थी, उसके राजनैतिक भाग में उतनी ही निर्भीकता और उदारता। उर्दू-साहित्य के उत्थान में मौलाना ने जो काम किया है वह चिरस्थायी रहेगा।

मौलाना हसरत उर्दू के खास कवि हैं और उर्दू कवियों में उनका स्थान सबसे ऊंचा नहीं, तो किसी से कम भी नहीं। जागृति के भाव तो आपके कलाम में जितने मिलेंगे, उर्दू के किसी कवि के कलाम में नहीं मिल सकते। उर्दू कविता के पुराने रंग को निभाते हुए उन्होंने नयी उमगों और उद्‌गारों को उसमें ऐसा भरा है कि उनका कलाम अपने रंग में निराला है। प्रेम के रहस्य जितनी खूबी से आपने दिखाये हैं, जितनी मार्मिकता से उसका चित्रण किया है, हम दावे से कह सकते हैं कि उर्दू के किसी कवि ने भी नहीं किया और शब्द-योजना तो आपका हिस्सा है। उसमें कोई आपका सानी नहीं। आपके शेरों में कितने ऐसे शेर हैं, जिनमें दोहरे अर्थ निकलते हैं। साधारण तौर पर देखिए, तो वह मामूली शृंगार का शेर है, लेकिन जरा गौर से पढ़िए तो आपको उसमें एक दूसरा ही समां दिखाई देगा—उसमें आजादी के दीवाने की तड़प है, नाला है, फरियाद है। उर्दू के प्राचीन साहित्य की इतनी खोज भी किसी ने कम ही की होगी। आज उर्दू के पुराने कवियों से जो उर्दू की जनता को इतनी दिलचस्पी है, इसका सेहरा हसरत ही के सिर है।

1921 के असहयोग आन्दोलन में कानपुर में स्वदेशी कपड़ों की एक दूकान

खिलाफत स्टोर' के नाम से खुली थी। हसरत उसके मैनेजर थे। उसी दूकान से मिला हुआ स्वदेशी वस्त्रों का भण्डार था। भण्डार में बिजली की रोशनी और पंखे थे, मगर 'खिलाफत स्टोर' में इन तकुल्लुफात का गुजर न था। राष्ट्र का यह सेवक ताड़ की एक पंखियां लिए बैठा रहता और जब गर्मी बहुत सताती तो उसे झल लेता था। यह उनकी सादगी पसन्द या मुश्किल पसन्द प्रकृति की एक छोटी-सी मिसाल है। अमीरी के चोचलों से उन्हें घृणा है। जिस दिल में आजादी की लगन समाई हुई हो उसे टीमटाम से क्या मतलब। आजादी पहले दिल से शुरू होती है और दिल की आजादी यही त्याग यही निग्रह है। जो अपनी जरूरतों का गुलाम नहीं वह हमेशा आजाद है। जो लोग दिखावे और ठाट के गुलाम होकर आजादी की रट लगाते हैं, वे आजादी को बदनाम करते हैं।

एक बार कानपुर के डी॰ ए॰ वी॰ कालेज में इस प्रस्ताव पर बहस हुई—स्वराज छोटी-छोटी किस्तों में लिया जाना चाहिए। डिबेट अंग्रेजी में थी। डा॰ दीवानचन्द्र प्रधान थे। हसरत भी मौजूद थ। शायद आपको अंग्रेजी बोलने का अभ्यास नहीं है। कांग्रेस के कितने ही अन्य लीडरों की भांति अंग्रेजी में बात करना आप अपने लिए शान की बात नहीं समझते। आप मंच पर गए और दो-चार वाक्य बोलकर चले आए, पर उन थोड़े से शब्दों में आप एक पूरा व्याख्यान दे आए।

किसी अगले अंक में हम मौलाना हसरत की काव्य-कला की चर्चा करेंगे।

[संपादकीय। 'हंस' मई, 1930 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

अमन-सभाएं

अमन-सभाओं का संगठन शुरू हो गया। अब की उनका नामकरण ज्यादा मार्जित हुआ है। कहीं वह हितकारिणी-सभा है, कहीं शान्ति-रक्षिणी। उसके प्रवर्तक साधारणत: दो एक रायबहादुर या खानबहादुर होते हैं और प्रत्येक जिले का अधिकारी वर्ग। उनका प्रापेगेण्डा राष्ट्रीय आन्दोलन के विरुद्ध हो रहा है। चौकीदार, थानेदार, पटवारी, तहसीलदार, हाकिम परगना सभी उसकी मदद पर कमर बांधे हुए हैं। उन्हें पूरा अख्तियार है कि कांग्रेस की जितनी चाहे मिट्टी पलीद करें। उसे बदमाशों का दल कहें, चाहे लुटेरों का संघ, कोई उनकी जबान नहीं पकड़ सकता। कांग्रेस के विरुद्ध इस वक्त जो कुछ भी कहा जाय, जो कुछ भी किया जाय, वह सब उत्तम है, श्रेष्ठ है और कांग्रेस की जबान बन्द कर दी गई है। प्राय: सभी बड़े प्रान्तों में 144 धारा लगा दी गई है। समाचार-पत्रों का निकलना भी असम्भव कर दिया गया है। ऐसी दशा में कांग्रेस अपने विरुद्ध फैलाए गए आपेक्षों और लांछनों और अपवादों का जवाब कैसे दे? यह तो वैसा ही है—किसी आदमी के हाथ-पांव बांधकर, आप उसके घर में आग लगा दें। हमें ऐसी अमन-सभाओं का पहले कुछ अनुभव हो चुका है। इन्हें टोडी सभा कहना ही उपयुक्त होगा। हमें आशा है कि जनता अब ऐसी सभाओं का रहस्य खूब समझने लगी है। वह इन गोरखधन्धों में न फंसेगी। मजा तो यह है कि प्रजाहित का यह सागर उसी समय तरंगित होता है जब कांग्रेस का आतंक घटा की भांति छा जाता है। तभी बेगार कम करने के, नजराने बन्द करने के और इसी प्रकार के दूसरे अनुष्ठान किए जाने लगते हैं और कांग्रेस का दबाव कम होते ही फिर वही नोच-खसोट शुरू हो जाती है।

[संपादकीय। 'हंस', जून, 1930 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 में संकलित।]

डंडा

यों तो इंग्लैंड ने पिछले सौ सालों में बड़ी-बड़ी अद्भुत चीजों का आविष्कार किया, बड़े-बड़े दार्शनिक और वैज्ञानिक तत्त्वों का निरूपण किया, लेकिन सबसे अद्भुत आविष्कार जो उसने हिन्दुस्तानी नौकरशाही के संयोग से किया है और जो अनन्तकाल तक उसके यश की ध्वजा को फहराता रक्खेगा, वह नीतिशास्त्र का यह चमत्कारपूर्ण, युगांतरकारी आविष्कार है, जिसे डंडाशास्त्र कहते हैं। यह बिल्कुल नया आविष्कार है और इसके लिए इंग्लैंड और भारत दोनों ही सरकारों की जितनी प्रशंसा की जाय, वह थोड़ी है। इसने शासन-विज्ञान को कितना सरल, कितना तरल बना दिया है, कि इस आविष्कार के सामने डंडौत करने की इच्छा होती है। अब न कानून की जरूरत है, न व्यवस्था की, कौन्सिलें और एसेम्बलियां सब व्यर्थ, अदालतें और महकमे सब फिजूल। डंडा क्या नहीं कर सकता—वह अजेय है, सर्वशक्तिमान है। बस डंडेबाजों का एक दल बना लो, पक्का, मजबूत, अटल दल। वह सारी मुश्किलों को हल कर देगा। मजदूरों की सभा मजदूरी बढ़ाने का आन्दोलन करती है—दो डंडा ! किसानों की फसल मारी गयी, वह लगान देने में असमर्थ हैं, कोई मुजायका नहीं—दो डंडा ! तान-तान कर, कस-कस कर। डंडा सर्वशक्तिमान है—रुपये निकलवा लेगा। कोई जरा भी सिर उठावे, जरा भी चूं करे—दो डंडा ! वह युवक कपड़े की दूकान पर खड़ा है, खरीददारों से कह रहा है—विलायती कपड़े न खरीदो—दो डंडा ! उसकी इतनी हिम्मत, कि इंग्लैंड की शान में ऐसी अनर्गल बात मुंह से निकाले, ऐसा मारो कि जबान ही बन्द हो जाय। वह देखना, एक स्वयंसेवक शराब-ताड़ी की दूकान पर जा पहुंचा। नशेबाजों को समझा रहा है—दो डंडा ! देर न करो, ताबड़-तोड़ लगाओ, खूब कस कर लगाओ। इन सिर-फिरों की यही दवा है। जहां कहीं राष्ट्रीयता की, जागृति की, आत्मगौरव की झलक देखो, बस तुरन्त डंडे से काम लो। इस मरज की यही अचूक दवा है और इसका आविष्कार किया है—भारत सरकार और अंगरेजी सरकार ने मिलकर। कुछ न पूछिए ! कितनी जांफिशानी और परीशानी के बाद यह आविष्कार हो पाया है। इसका पेटेंट करा लेना चाहिए, वरना शायद कोई दूसरी जाति इस पर अधिकार कर बैठे ! हालांकि जहां तक हम समझते हैं, भारत के सिवा, जिसने अहिंसा का व्रत ले रक्खा है, संसार के और किसी भाग में यह आविष्कार उपयोगी सिद्ध न होगा, बल्कि उलटे आविष्कारकों के हक में ही घातक सिद्ध होगा। अहा हा ! कितना सुन्दर दृश्य है ! वह सड़क पर कई हजार आदमी झंडा लिये, कौमी नारे लगाते चले आ रहे हैं। बच्चे भी हैं, स्त्रियां भी हैं, बूढ़े भी हैं। अपने देश से प्रेम करने के लिए उम्र की कैद नहीं है। इधर लट्ठबंद, भालेबंद और राइफलबंद पुलीस के जवान पैंतरे बदल रहे हैं, जैसे शिकारी कुत्ते शिकार को देखकर अधीर हो जाते हैं कि कब छूटें और शिकार पर टूट पड़ें। जंजीर खोलते-खोलते आफत आ जाती है। बिल्कुल यही हाल हमारे पुलीस के इन शूर-वीरों का है, जिनमें अंगरेजी सार्जेंट तो उबला पड़ता है, बहादुरी का जोश उसके दिल में आंधी की तरह उमड़ा आ रहा है। हुक्म मिलता है-चार्ज ! फिर देखिए इन सूरमाओं की बहादुरी। निहत्थे, सिर झुकाकर बैठे हुए, जबान बंद रखने वाले आदमियों पर डंडों और भालों का वार शुरू हो जाता है। और अगर किसी तरफ से एकाध पत्थर आ गया, चाहे वह खुफिया पुलीस वालों ही ने क्यों न फेंका हो, तो प्रलय हो गया ! बस 'फायर' का हुक्म मिल गया। धड़धड़ बन्दूकें चलने लगीं और लोग

पडापड़ गिरने लगे और हमारे अफसर लोग जो ऐसे अवसरों पर तमाशा देखने के लिए अवश्य आ जाया करते है, खुश हो होकर तालियाँ बजाने लगे। वाह क्या बहादुरी है, क्या डिसिप्लिन है भारत के सिवा संसार में और कहाँ ऐसे वीर पैदा हो सकते है और इंग्लैंड के सिवा और कहाँ ऐसे जोशीले अफसर और नौकर!

तो आजकल इंद्र भगवान का राज है! [illegible] देश में शान्ति है!! आश्चर्य है कि इस बीसवीं सदी में और सभ्यता के शिखर पर बैठने वालों के हाथों भारतवासियों का यह ह्रास हो रहा है। कौन सा ऐसा हृदय है जो आहत और दलित नहीं, कौन सी आँख है जो खून के आँसू नहीं रो रही है। शायद हमारे सर्वज्ञ और दयालु विधाता समझते है, कि लाठी से चोट नहीं लगती मगर वास्तव में लाठी की चोट गोली के जख्मों से कहीं अधिक कष्टसाध्य होती है। पिंडारों का हाल इतिहास में पढ़ा करते थे पर आजकल जो अनीति हो रही है और प्रजा को जिस तरह कुचला जा रहा है, उस पर तो पिंडारे भी दाँतों उँगली दबाते पर अंगरेजी सभ्यता का एक अंग यह भी है कि अपनी बुराइयों पर तो पर्दा डाला जाय और दूसरों पर खूब कीचड़ फेंका जाय। धरसाना, वीरमगाम, विलेपार्ले, लखनऊ, मिदनापुर, बम्बई, दिल्ली कहाँ तक गिनाएँ। यह अंगरेजी शौर्य और पराक्रम की एक अविश्रांत कथा है। निहत्थों पर, स्त्रियों पर, बालकों पर, राह चलते पथिकों पर, घर में बैठे हुए प्राणियों पर डंडों का वार करना ऐसा ही वीर जाति का काम है और अगर कोई इसको यथार्थ रूप में बयान करने का साहस करे तो उसके लिए पुलीस का दफा [illegible] है, जेल है [illegible] इतना ही नहीं [illegible] पुलीस के छोटे अधिकारियों से लेकर वाइसराय और पार्लमेंट तक एक स्वर से पुकारते हैं—पुलीस का व्यवहार प्रशंसनीय था [illegible] हमारे बड़े से बड़े नेता [illegible] पुलीस [illegible] सरकार की [illegible] प्रमाण मिलता है [illegible] पुलीस [illegible] और न्याय [illegible] [illegible]

[illegible] हमारी [illegible] अधिकार [illegible] और [illegible] उसका [illegible] हमारी प्रजा [illegible] सरकार [illegible] नादान जनता [illegible] हमारे [illegible] जनता की मूर्खता और अदूरदर्शिता से [illegible] जनता को दोनों [illegible] रही है पर जनता उनकी [illegible] नहीं होती [illegible] सकता है कि अंगरेजी सरकार [illegible] भारत का शासन कर रही है।

[सम्पादकीय, 'हंस' जून [illegible] में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

शिक्षा-विभाग और कांग्रेस

[illegible] तो हमारे शिक्षा विभाग ने क्रमशः राष्ट्रीय आन्दोलनों का विरोध किया है और छात्रों को [illegible] अलग रखने की बराबर कोशिश की है पर अब की बार [illegible] इसने निश्चय सा कर [illegible], कि उसने छात्रों की आजादी की [illegible] भी न [illegible] लड़कों के कानों में [illegible] अनेक भी न [illegible] यह मानते [illegible] को अपना समय [illegible] लगाना चाहिए, एकाग्रचित होकर ज्ञान [illegible] चाहिए, पर इसका यह [illegible] नहीं है कि देश में चाहे कितनी ही बड़ी [illegible] छात्र किताबों के कीड़े [illegible] परीक्षाओं की [illegible] रहें हमारा विश्वास है, कि [illegible] जैसा अच्छा अभ्यास [illegible] स्वयंसेवक [illegible] हो सकता है वह कृत्रिम साधनों द्वारा कदापि नहीं हो सकता। [illegible] एक बार [illegible] में जितना मानसिक और आत्मिक विकास हो सकता है [illegible] और पढ़ने में भी संभव नहीं। एक बार दो चार दंड खा लेना [illegible] हृदय और मस्तिष्क दोनों ही के लिए महान् [illegible] है। शिक्षा [illegible] अनुभव। अनुभव ज्ञान शिक्षा ज्योति का दीपक है।

[illegible] संग्राम में जो अनुभव प्राप्त हो सकता है वह और कहाँ से हो सकता है [illegible] आदमी [illegible] पड़ता है यह आत्मसम्मान [illegible] अपनी [illegible] अपनी बुद्धि को अपने आपको अस्वाभाविक बंधनों में [illegible] की [illegible] चेष्टा है। इस आंदोलन से छात्रों को दूर रखने की कोशिश वही [illegible] कर सकता है जिसकी बुनियाद [illegible] पर है। क्या हमने नहीं देखा है कि [illegible] युद्ध छिड़ा हुआ था तो स्कूल और विद्यालय बंद हो गये थे तब [illegible] क्या नहीं [illegible] स्कूलों के [illegible] शिक्षा विभाग [illegible] में यह प्रस्ताव किया कि छात्रों को इस समय से दूर रखा जाय [illegible] इसमें आत्मसम्मान का एक अंग भी है [illegible] कि वह इस [illegible] प्रोग्राम में शरीक नहीं होगा और इस अन्याय पूर्ण बंधनों के अधीन अपना [illegible] नौकरी के [illegible] मिलेगी नवयुवकों के [illegible] गुलामी का पट्टा डालना [illegible] नहीं हो सकता। ऐसी पाठशालाओं में [illegible] जहाँ राष्ट्रीयता का [illegible] गला घोंटा जा रहा हो और गुलामी पैदा करना [illegible] अपना ध्येय समझा गया हो सर्वथा [illegible] है। हमें पूरा विश्वास है कि शिक्षा विभाग को इस विषय में मुँह की खानी पड़ेगी। अगर [illegible] हो तो छात्रों पर फीस बढ़ाकर [illegible] में अध्यापकों [illegible] इस चैलेंज को स्वीकार कर लेना चाहिए।

[सम्पादकीय, 'हंस', [illegible] 1930 में प्रकाशित। [illegible] में संकलित।]

साइमन रिपार्ट

साइमन रिपोर्ट प्रकाशित हो गई। खूब धड़ल्ले से बिक रही है। सुनते हैं, लाखों तक संख्या पहुंच चुकी है। इंग्लैंड के कुछ लोग रिपोर्ट की तारीफों के पुल बंध रहे हैं, कुछ बिगड़ रहे हैं कि यह विधान तो इंग्लैंड को गारत ही कर देगा। बहुत कम ऐसे प्राणी हैं, जो उसकी निन्दा करते हों। पर भारत में ऐसा एक भी प्राणी नहीं जो रिपोर्ट को लचर, रद्दी, घृणित और त्याज्य न कह रहा हो। हमारे लिबरल, दूसरे सरकार-भक्त और सिक्ख भी, जिन्हें प्रसन्न रखने की इस रिपोर्ट में जी-तोड़ कोशिश की गयी है, रूठ हुए हैं। लिबरलों ने तो उसकी खूब दुर्गति बनाई है। यही रिपोर्ट लिखने के लिए, यह कमीशन इंग्लैंड से आया था। गरीब भारत का लाखों रुपया खर्च किया, कितनी ही जगहों डंडों की वर्षा कराई और देश में फूट का बीज बोया। और अंगरेजी सरकार, यह जानते हुए भी कि इस रिपोर्ट को भारत कभी स्वीकार न करेगा, इतने दिनों तक उसकी आड़ लिए शांतिपूर्वक बैठी रही। इस रिपोर्ट को देखकर अब सिद्ध हुआ, कि इंग्लैंड में विवेक और विचार का दीवाला हो गया है, केवल साम्राज्यवादिता का जोर है, और पशुबल ही राजनीति का मूलाधार है। संभव था, अगर दोनों तरफ दिल साफ होते, तो यह विधान सफलता से चलाया जा सकता। अगर शासकों के हृदय में कुछ परिवर्तन हो जाय, तो इस विधान के द्वारा देश का बहुत कुछ कल्याण हो सकता है। मगर वह Change of heart--कहीं नजर नहीं आता। और ऐसी दशा में इस विधान से किसी उपकार की आशा नहीं की जा सकती। कुछ कागजी परिवर्तन तो अवश्य हो जाएगा, किन्तु जनता की दशा पूर्ववत् बनी रहेगी--यही अन्याय, यही दमन, यही अनीति। भारत ने इस रिपोर्ट को उसी तरह पैरों से ठुकरा दिया, जैसे उसने साइमन-कमीशन को ठुकराया था।

[संपादकीय। 'हंस' जून 1930 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 में संकलित।]

संग्राम में साहित्य

घोर संकट में पड़ने पर ही आदमी की ऊंची से ऊंची, कठोर से कठोर और पवित्र से पवित्र मनोवृत्तियों का विकास होता है। साधारण दशा में मनुष्य का जीवन भी साधारण होता है। वह भोजन करता है, सोता है, हंसता है, विनोद का आनन्द उठाता है। असाधारण दशा में उसका जीवन भी असाधारण हो जाता है और परिस्थितियों पर विजय पाने, या विरोधी कारणों से अपनी आत्म-रक्षा करने के लिए उसे अपने छिपे हुए मनो अस्त्रों को बाहर निकालना पड़ता है। आत्म त्याग और बलिदान के, धैर्य और साहस के, उदारता और विशालता के जौहर उसी वक्त खुलते हैं जब हम बाधाओं से घिर जाते हैं। जब देश में कोई विप्लव या संग्राम होता है तो जहां वह चारों तरफ हाहाकार मचा देता है, वहां उसमें देव दुर्लभ गुणों का संस्कार भी कर देता है, और साहित्य क्या है? हमारी अन्ततम मनोवृत्तियों के विकास का इतिहास। इसलिए यह कहना अनुचित नहीं है कि साहित्य का विकास संग्राम ही में होता है। संसार-साहित्य के उज्ज्वल से उज्ज्वल रत्नों को ले लो उनकी सृष्टि या तो किसी संग्राम काल में हुई है, या किसी संग्राम से सम्बन्ध रखती है।

रूस और जापान के युद्ध में आत्म बलिदान के जैसे उदाहरण मिलते हैं, वे और कहां

मिलेंगे? यूरोपियन युद्ध में भी साधारण मनुष्यों ने ऐसे-ऐसे विलक्षण काम कर दिखाए, जिन पर हम आज भी दांतों में उंगली दबाते हैं। हमारा स्वाधीनता-संग्राम भी ऐसे उदाहरणों से खाली नहीं है। यद्यपि हमारे समाचार-पत्रों की जबानें बन्द हैं और देश में जो कुछ हो रहा है, हमें उसकी खबर नहीं होने पाती, फिर भी कभी-कभी त्याग और सेवा, शौर्य और विनय के ऐसे-ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं, जिन पर हम चकित हो जाते हैं। ऐसी ही दो-एक घटनाएं हम आज अपने पाठकों को सुनाते हैं।

एक नगर में कुछ रमणियां कपडे की दूकानों पर पहरा लगाए खडी थीं। विदेशी कपडों के प्रेमी दूकानों पर आते थे, पर उन रमणियों को देखकर हट जाते थे। शाम का वक्त था। कुछ अंधेरा हो चला था। उसी वक्त एक आदमी एक दूकान के सामने आकर कपडे खरीदने के लिए आग्रह करने लगा। एक रमणी ने जाकर उससे कहा-"महाशय, मैं आपसे प्रार्थना करती हूं कि आप विलायती कपडा न खरीदें।"

ग्राहक ने उस रमणी को रसिक नेत्रों से देखकर कहा-"अगर तुम मेरी एक बात स्वीकार कर लो, तो मैं कसम खाता हूं कभी विलायती कपडा न खरीदूंगा।"

रमणी ने कुछ सशंक होकर उसकी ओर देखा और बोली "क्या आज्ञा है?"

ग्राहक लम्पट था। मुस्कराकर बोला-"बस मुझे एक बोसा दे दो।"

रमणी का मुख अरुणवर्ण हो गया लज्जा से नहीं, क्रोध से। दूसरी दूकानों पर और कितने ही वालंटियर खडे थे। अगर वह जरा सा इशारा कर देती, तो उस लम्पट की धज्जियां उड जातीं पर रमणी विनय की अपार शक्ति से परिचित थी। उसने सजल नेत्रों से कहा-"अगर आपकी यही इच्छा है तो ले लीजिए मगर विदेशी कपडा न खरीदिए।" ग्राहक परास्त हो गया। वह उसी वक्त उस रमणी के चरणों में गिर पडा और प्रण किया कि कभी विलायती वस्त्र न लूंगा। क्षमा प्रार्थना की और लज्जित तथा संस्कृत होकर चला गया।

एक दूसरे नगर की एक और घटना सुनिए। यह भी कपडे की दूकान और पिकेटिंग ही की घटना है। एक दुराग्रही मुसलमान की दूकान पर जोरों की पिकेटिंग हो रही थी। सहसा एक मुसलमान सज्जन अपने कुमार पुत्र के साथ कपडा खरीदने आए। सत्याग्रहियों ने हाथ जोडे, पैरों पडे, दूकान के सामने लेट गए, पर खरीददार पर कोई असर न हुआ। वह इन स्वयंसेवकों को रौंदता हुआ दूकान में चला गया। कपडे लेकर निकला तो फिर वालंटियरों को रास्ते में लेटे पाया। उसने क्रोध में आकर एक स्वयंसेवक के एक ठोकर लगाई। स्वयंसेवक के सिर से खून निकल आया। फिर भी वह अपनी जगह से न हिला। कुमार पुत्र दूकान के जीने पर खडा यह तमाशा देख रहा था। उसका बाल हृदय यह अमानुषिक व्यवहार सहन न कर सका। उसने पिता से कहा-"पापा आप कपडे लौटा दीजिए।"

बाप ने कहा-"लौटा दूं! मैं इन सबों की छाती पर से निकल जाऊंगा।"

"नहीं आप लौटा दीजिए!"

"तुम्हें क्या हो गया है? भला लिए हुए कपडे लौटा दूं!"

"जी हां!"

"यह कभी नहीं हो सकता।"

"तो फिर मेरी छाती पर पैर रखकर जाइए।"

यह कहता हुआ वह बालक अपने पिता के सामने लेट गया। पिता ने तुरन्त बालक को

उठाकर छाती से लगा लिया और कपड़े लौटाकर घर चला गया।

तीसरी घटना कानपुर नगर की है। एक महाशय अपने पुत्र को स्वयंसेवक न बनने देते थे। पुत्र के मन में देश-सेवा का असीम उत्साह था; पर माता-पिता की अवज्ञा न कर सकता था। एक ओर देश-प्रेम था दूसरी ओर माता-पिता की भक्ति। यह अन्तर्द्वन्द्व उसके लिए एक दिन असह्य हो उठा। उसने घर वालों से तो कुछ न कहा, जाकर रेल की पटरी पर लेट गया। जरा देर में एक गाड़ी आई और उसकी हड्डियों तक को चूर-चूर कर गई।

चौथी घटना एक दूसरे नगर की है। मन्दिरों पर स्वयंसेवक का पहरा था। स्वयंसेवक जिसे विलायती कपड़े पहने देखते थे उसे मन्दिर में न जाने देते थे। उसके सामने लेट जाते थे। कहीं-कहीं स्त्रियां भी पहरा दे रही थीं। सहसा एक स्त्री खद्दर की साड़ी पहने आकर मन्दिर के द्वार पर खड़ी हो गई। वह कांग्रेस की स्वयंसेविका न थी। न उसके अंचल में सत्याग्रह का बिल्ला ही था वह मंदिर के द्वार पर खड़ी तमाशा देख रही थी। और स्वयंसेविकाएं विदेशी वस्त्रधारियों से अनुनय विनय करती थीं। सत्याग्रह करती थीं पर वह स्त्री सबसे अलग चुपचाप खड़ी थी। उसे आए कोई घण्टा-भर हुआ होगा कि सड़क पर एक फिटन आकर खड़ी हुई और उसमें से एक महाशय सुन्दर महीन रेशमी पाड़ की धोती पहने निकले। यह थे रायबहादुर हीरामल, शहर के सबसे बड़े रईस, आनरेरी मैजिस्ट्रेट, सरकार के परम राजभक्त और शहर की अमन-सभा के प्रधान। नगर में उनसे बढ़कर कांग्रेस का विरोधी न था। पुजारी जी ने लपककर उनका स्वागत किया था। और उन्हें गाड़ी से उतारा। स्वयंसेविकाओं की हिम्मत न पड़ी कि उन्हें रोक लें। वह उनके बीच से होते हुए द्वार पर आए और अन्दर जाना ही चाहते थे कि वही खद्दरधारी रमणी आकर उनके सामने खड़ी हो गई और गम्भीर स्वर में बोली—"आप ये कपड़े पहनकर अन्दर नहीं जा सकते।"

हीरामलजी ने देखा, तो सामने उनकी पत्नी खड़ी है। कलेजे में बरछी-सी चुभ गई। बोले—"तुम यहां क्यों आई?"

रमणी ने दृढ़ता से उत्तर दिया—"इसका जवाब फिर दूंगी। आप ये कपड़े पहने हुए मन्दिर में नहीं जा सकते।"

"तुम मुझे नहीं रोक सकतीं।"

"तो मेरी छाती पर पांव रखकर जाइएगा।"

यह कहती हुई वह मन्दिर के द्वार पर बैठ गई।

"तुम मुझे बदनाम करना चाहती हो!"

"नहीं, मैं आपके मुंह का कलंक मिटाना चाहती हूं।"

"मैं कहता हूं, हट जाओ। पति का विरोध करना स्त्रियों का धर्म नहीं है। तुम क्या अनर्थ कर रही हो यह तुम नहीं समझ सकतीं।"

"मैं यहां आपकी पत्नी नहीं हूं। देश की सेविका हूं। यहां मेरा कर्तव्य यही है, जो मैं कर रही हूं। घर में मेरा धर्म आपकी आज्ञाओं को मानना था। यहां मेरा धर्म देश की आज्ञा को मानना है।"

हीरामलजी ने धमकी भी दी, मिन्नतें भी कीं, पर रमणी द्वार से न हटी। आखिर पति को लज्जित होकर लौटना पड़ा। उसी दिन उनका स्वदेशी संस्कार हुआ।

पांचवीं घटना उन गढ़वाली वीरों की ही है जिन्होंने पेशावर के सत्याग्रहियों पर गोली

चलाने से इनकार कर दिया। शायद हमारी सरकार को पहली बार राष्ट्रीय [illegible] की महत्ता का बोध हुआ। [illegible] जिन्हें हम लोग [illegible] सरकार को अपना विश्वास था जिनसे राष्ट्रीय [illegible] जागृति [illegible] सकता था [illegible] [illegible] पता चला [illegible] [illegible] [illegible] उदाहरण संसार के इतिहास में [illegible]

[illegible]

अगर तुम क्षत्रिय हो।

[illegible] अपने क्षत्रिय धर्म का पालन [illegible] क्षत्रिय धर्म क्या है [illegible] अपने धर्म का पालन किया था। क्या गरीबों [illegible] किसान [illegible] [illegible]

[illegible] आ [illegible] में अपार [illegible] का [illegible] करना है [illegible] [illegible] तक [illegible] उनकी सलामियां करते [illegible] पेश करते [illegible] मगर तुम [illegible] में हम यह आशा [illegible] क्योंकि तुमने उस युग में जन्म लिया है जब पृथ्वी के [illegible] भाग में गुलामी की बेड़ियां टूट रही हैं। परम्परा के बन्धन ढीले हो रहे हैं। अन्याय [illegible] रहा है। सत्य और न्याय की विजय हो रही है। तुम्हारी आंखों के सामने संसार में क्या क्या तबदीलियां हो गईं तुम नहीं जानते? रूस की जारशाही मिट गयी ईरान की [illegible] मिट गई तुर्की की [illegible] मिट गई चीन की [illegible] मिट गई जरमनी की कैसरशाही मिट गई यहां तक कि स्पेन ने भी स्वाधीनता की सांस ली मगर भारत कहां है?

वहीं, जहां था। दीन, दुखी, दरिद्र। जानते हो क्यों? इसलिए कि क्षत्रियों ने धर्म का पालन करना छोड़ दिया। क्या तुम जवान होकर भी उसी बूढ़ी, खूसट, लज्जास्पद, कायरता से भरी हुई, खुशामद में डूबी हुई नीति का पालन करोगे? कभी नहीं, तुम नये युग के नामलेवा हो, तुम जवान हो, सजग हो, अभी नीच स्वार्थ ने तुम्हें अपने रंग में नहीं रंगा, अभी तुम्हारी कमर ने झुकना नहीं सीखा, तुम्हारे सिर ने सिजदे करना नहीं सीखा, तुम में जोश है। हमें तुमसे आशा है। तुम भारत के मुख से वह कलंक मिटा दोगे, जो आज उसे सिर नहीं उठाने देता। सत्य का संग्राम छिड़ गया है, उसमें वीरों की भांति अपने कर्त्तव्य का पालन करो। कौम के बनने-बिगड़ने की जिम्मेदारी नौजवानों के सिर होती है। यह जवान ही है, जो सत्य के संग्राम में पहले कदम उठाते हैं। तुम तो क्षत्रिय युवक हो, क्या हम तुम्हें बताएं, कि इस समय तुम्हारा क्या धर्म है?

[संपादकीय। 'हंस', नवम्बर, 1930 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

गोलमेज कान्फ्रेंस

हम गोलमेज-कान्फ्रेंस के निन्दकों में नहीं हैं। हम स्वीकार करते हैं, कि हमारे कितने ही नेता केवल राष्ट्र-हित के विचार से उसमें शरीक हुए हैं। और तरह-तरह की बाधाओं का सामना करके वे देश के उद्धार के लिए कोई मार्ग सोच निकालने में जी-जान से लगे हुए हैं। वे अपनी जिम्मेदारियों को खूब समझते हैं और जो लोग उनकी निन्दा या उपेक्षा करते हैं, वे उनके साथ अन्याय करते हैं। यह समझना कि कांग्रेस के लीडरों ही ने अक्लमन्दी का ठेका ले लिया है और जो लोग उसके बाहर हैं वे सबके सब देश-द्रोही हैं सरासर अन्याय है। गोलमेज में ऐसे-ऐसे अनुभवी नेता शरीक हैं, जिनकी हमने सदैव इज्जत की है और अब भी करते हैं। हमें विश्वास है, कि वे लोग कोई ऐसा काम न करेंगे जिससे राष्ट्र को हानि पहुंचे, लेकिन एक रुख को देखने से ऐसा अनुमान होता है कि उन्हें अपने कार्य में विशेष सफलता की सम्भावना नहीं। एक तरफ हमारे मुसलिम नेता हैं जो मि० जिन्ना की चौदह शर्तों को देश की भाग्य रेखा बना डालने पर तुले हुए हैं। दूसरी ओर हिन्दू नेता हैं जो इन शर्तों को उसी दशा में मंजूर करना चाहते हैं जब पहले यह तय हो जाय कि गवर्नमेंट डोमिनियन स्टेटस स्वीकार करने पर तैयार है। डोमिनियन स्टेटस के विषय में अब यह स्पष्ट हो गया है कि साम्राज्य का कोई भी अंग अपनी इच्छानुसार से पृथक हो सकता है। यह प्रत्येक डोमिनियन की इच्छा के अधीन है कि वह जब तक चाहे साम्राज्य में रहे और जब उसे साम्राज्य में रहना अपने लिए किसी कारण से अहितकर मालूम हो, तो अलग हो जाय। ऐसी दशा में डोमिनियन स्टेटस और पूर्ण स्वराज्य में बहुत थोड़ा या केवल नाम का अन्तर रह जाता है। हमारे विचार में भी डोमिनियन स्टेटस की स्वीकृति पर ही मुसलिम शर्तों को मंजूर करना चाहिए। इसके बगैर मुसलिम शर्तों को स्वीकार करने में बड़ी बाधाएं खड़ी होंगी। सरकार की जो नीति है, उसका तकाजा यही होगा, कि मुसलिम शर्तों को प्रधानता देकर थोड़ा सा सुधार और कर दें। ऐसी दशा में आपस में वैमनस्य ही बढ़ेगा। हम यह स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि भारत सुधार नहीं चाहता, वह अपने भाग्य निर्णय का अधिकार चाहता है। गोलमेज वालों को समझ लेना चाहिए कि नुमाइशी सुधारों को स्वीकार करके वे भारत में शांति-स्थापन न कर सकेंगे। हम

उनसे अनुरोध करते हैं कि वे सबसे ज्यादा जोर इसी बात पर दें, कि कान्फ्रेंस की पहली शर्त डोमिनियम स्टेट्स की स्वीकृति हो। जब सरकार इस शर्त को मान ले तब वे आगे बढ़ें, अन्यथा अपनी आबरू लेकर भारत लौट आवें और राष्ट्र संग्राम में सम्मिलित हो जावें। हमारे लिबरल नेता डोमिनियन स्टेट्स के साथ Safe guards की जो शर्त लगा दिया करते हैं, उसके विषय में हमें यही निवेदन करना है कि Safe guards की आड़ में बहुत कुछ किया जा सकता है। यहां तक कि डोमिनियन स्टेट्स को केवल नाम का गोरखधन्धा बनाया जा सकता है। अतएव Safe guards से बहुत सावधान रहने की जरूरत है। अगर रुपये की थैली और फौज पर सरकार का अधिकार रहा, तो डोमिनियन स्टेट्स का कोई अर्थ न होगा। इसलिए इन दोनों विभागों पर हमारा अधिकार परमावश्यक है।

[संपादकीय। 'हंस', नवम्बर, 1930 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 में संकलित।]

नवां आर्डिनेन्स

पंजाब के एक अंगरेजी पत्र ने लार्ड इरविन को लार्ड-आर्डिनेन्स की उपाधि दी है, और उन आर्डिनेन्सों की संख्या को देखते हुए—जो गत आठ महीनों में जारी किए गए हैं—यह उपाधि कुछ बेजा नहीं मालूम होती। जिस वाइसराय की सच्चाई और नेकनीयती की महात्माजी ने तारीफ की, वह स्वार्थी मन्त्रियों के हाथ में यों कठपुतली बनेगा, इसकी आशा हमें नहीं थी। ताबड़तोड आर्डिनेन्स निकलते चले जा रहे हैं, हालांकि जनता पर उनका कोई असर नहीं होता। अब नवा आर्डिनेन्स निकाला गया है, जिसने कर्मचारियों को कांग्रेस या अन्य विद्रोही संस्थाओं की जायदादों को जब्त कर लेने का अधिकार दे दिया है। हमारी समझ में नहीं आता, कि नौकरशाही कब तक सर्प की ओर से आंखें बन्द करके बांबी पीटती जायगी। असंतोष न मकानों में है, न जायदाद में, वह दिलों के अन्दर है, और जब तक उसे न दूर किया जाएगा, यों व्यर्थ छाती पीटने से कोई नतीजा नहीं। क्या कांग्रेस के लिए किसी मकान की जरूरत है? वह किसी वृक्ष की छांह में बैठकर विचार कर सकती है। उसका काम इसी तरह, बल्कि और जोर के साथ चलता रहेगा। उसे किसी कोष की क्या जरूरत है, जनता की सहानुभूति ही उसका अखंड कोष है, जिसमें से अब तक करोड़ों रुपये निकल चुके हैं और आगे भी निकलते रहेंगे।

[संपादकीय। 'हंस', नवम्बर, 1930 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 में संकलित।]

पिकेटिंग आर्डिनेन्स

वाइसराय को स्वेच्छा से छः महीने के लिए कोई भी कानून जारी करने का अधिकार इसलिए दिया गया था, कि जब एकाएक कोई परिस्थिति ऐसी आ जाय, कि एसेम्बली में उस कानून को पास कराना असुविधाजनक हो और इधर देश में कोई अनर्थ हो जाने की शंका हो, तो प्रबन्ध-संचालन में कोई रुकावट न पैदा हो, पर उसका इस तरह दुरुपयोग किया गया, कि प्रजा के स्वयंसिद्ध अधिकारों को कुचलने के लिए मनमाने आर्डिनेंस जारी किए गए। इस बात का एक क्षण के लिए भी विचार न किया गया, कि जिन लोगों को आर्डिनेंस द्वारा जनता

पर जुल्म करने का अख्तियार प्राप्त होगा, वे कैसी-कैसी सख्तियां और उस अधिकार का कैसा बुरा इस्तेमाल करेंगे, मगर जब ऊपर ही से अधिकारों के दुरुपयोग की क्रिया आरंभ हुई, तो यह मान लेना पड़ेगा, कि वाइसराय और उनके सहयोगी इस बात से बेखबर न थे, कि इन आर्डिनेंसों द्वारा जनता पर कानून की आड़ में हर एक प्रकार की सख्ती की जायगी, और यही उनका उद्देश्य था। क्रिया शुरू हो गई और शासन चक्र भीषण गति से चलने लगा। क्या वाइसराय और उनके सहयोगियों को यह मालूम है, कि इन आर्डिनेंसों द्वारा जनता का गला दबाकर कितनी रिश्वतें ली जा रही हैं? कितना जातिगत वैमनस्य बढ़ाया जा रहा है? और जनता की आह और फरियाद का जवाब डंडों और गोलियों से दिया जा रहा है? इस आंदोलन का और कोई फल निकले या न निकले, लेकिन एक फल तो अवश्य निकला, कि नौकरशाही अपने नग्न रूप में जाहिर हो गई। अब किसी अधिकारी को यह कहने का मुंह नहीं है, कि अंगरेज लोग भारत को न्याय और सभ्यता का सबक सिखाने के लिए उस पर राज्य कर रहे हैं। अंगरेजी शासन का उद्देश्य केवल एक है, और वह है भारत में अंगरेजी व्यापार का प्रसार और शिक्षित अंगरेज बेकारों के लिए बड़ी-बड़ी जगहों का आयोजन। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत की गर्दन पर सवार है और उसे यह किसी तरह स्वीकार नहीं है, कि उसके स्वार्थ में जौ भर की कमी हो। आप उसके स्वार्थ में हस्तक्षेप न करें, तो वह एक खास दायरे के अन्दर आपके साथ न्याय, मनुष्यत्व और सौजन्य का व्यवहार करने को राजी है, लेकिन आपने उसके स्वार्थ की ओर आंख भी उठाई, तो आपकी कुशल नहीं। वह न्याय, मनुष्यत्व और सौजन्य सब गायब हो जायगा और शासन का विकराल रूप आपके सामने आ खड़ा होगा। यह हर एक आदमी का हक है कि अपने किसी भाई को कोई अनुचित काम करते देखकर समझाए, हाथ-पांव से नहीं, धमकाकर नहीं-हाथ जोड़कर पैरों पर पड़कर। यह उसका स्वाभाविक अधिकार है, मगर आज आप इतना कह दें, तो आपके लिए जेल का द्वार है। आपका भाई शराब पीता हो और अपना सर्वस्व बिगाड़ रहा हो, पर आपको उसे समझाने या रोकने का हक नहीं है, यहां तक कि आप अपने पुत्र को भी नहीं रोक सकते। आप जेल में ठूंस दिए जायंगे, और विलायती कपड़ों के विरुद्ध तो जबान खोलना ही जुर्म है। किसी को एकान्त में इतना कह देना काफी है कि अमुक व्यक्ति मुझे कपड़े खरीदने से रोक रहा है। बस आप बांध लिए जायंगे और यह भी निश्चय है कि आपको सजा भी हो जायगी। आप अपने को कितना ही बेकसूर साबित करें, आपकी एक न सुनी जायगी। कोई दूकानदार जिसे चाहे एक इशारे से गिरफ्तार करा सकता है। यह तो कहो भारत में अभी लोग धर्म को भूले नहीं हैं और ऐसा कम होता है, कि निजी द्वेष निकालने के लिए लोग इस कानून से काम लें। सरकार ने अपनी तरफ से कोई बात नहीं उठा रखी और यह भी नहीं कहा जा सकता कि कुछ दूकानदार ऐसा नहीं कर रहे हैं। आज लगभग साठ हजार आदमी जेल में केवल इसीलिए बन्द हैं, कि उन्होंने अपने भाइयों को विदेशी कपड़े लेने से रोकने की चेष्टा की थी। अगर भारत के कल्याण पर सरकार की निगाह होती तो, क्या ऐसा कानून जारी किया जाता? विलायती कपड़े के व्यापारियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन में जितनी सहायता दी है, उसके लिए देश चिरकाल तक उनका ऋणी रहेगा, अगर उन्होंने खुले दिल से आन्दोलन में भाग न लिया होता, तो हमें विदेशी-बहिष्कार में उसकी शतांश सफलता भी न होती, जितनी हो रही है। उन्होंने बड़े-बड़े नुकसान उठाए और उठा रहे हैं। हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं, कि कांग्रेस को

उनके साथ पूरी सहानुभूति है, पर परिस्थितियों ने कांग्रेस को विवश कर रक्खा है, मगर सरकार को यह आर्डिनेन्स जारी करके क्या मिला? महीने-भर में यह आर्डिनेन्स भी समाप्त हो जायगा और अंगरेजी कपड़ों का बाजार जरा भी न चेता और न चेत सकेगा। अपयश के सिवा और कुछ नहीं। आंकड़ों से सिद्ध होता है, कि इंग्लैंड में बेकारों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जाती है और कपड़े की खपत कम होती जाती है। हम मानते हैं, कि इस बहिष्कार से भारत को भी कम क्षति नहीं पहुंच रही है। धनी के अपार धन-समूह से मुट्ठी दो मुट्ठी निकल जाय, तो उसे क्या अखर होगी? दरिद्र के लिए पैसे-कौड़ी की हानि ही बहुत कुछ है, पर इसके साथ ही यह भी मानना पड़ेगा, कि दरिद्र चाहे दो एक दिन निराहार रह ले, पर धनी को अपने भोग-विलास में जरा-सी कमी भी असह्य होती है। हमने विलायती कपड़ों की नींव पर अपना जो व्यापार-भवन खड़ा किया है, वह वास्तव में हमारे लिए गुलामी का जेलखाना बन गया है और उस भवन को गिराये बिना हमारा कल्याण नहीं हो सकता।

[सम्पादकीय। 'हंस' नवम्बर 1930 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

वीरभूमि बारदोली

स्वातन्त्र्य संग्राम में किसी समय चित्तौड़ ने जो यश प्राप्त किया और भारत का मुख जिस भांति उज्ज्वल किया, वही यश इस निःशस्त्र संग्राम में बारदोली ने प्राप्त किया और उसी भांति भारत का मुख उज्ज्वल किया है। सिद्धान्त पर अपना सर्वस्व बलिदान कर देने की नजीर संसार के इतिहास में कदाचित् मुश्किल से मिलेगी। व्यक्तिगत रूप से लोगों ने बड़े-बड़े त्याग किये हैं और अपनी आत्मा की रक्षा के लिए बड़ी-बड़ी कुर्बानियां की हैं, और एक प्रान्त की [illegible] सारी जनता ने अपना सब कुछ अर्पण कर दे, इसकी नजीर नहीं मिलती। आज बारदोली उजाड़ है। [illegible] रह रहे हैं। वहां की आदर्श नर-नारी, बालक-बालिकाएं सब [illegible] आस-पास की रियासतों में जा बसे हैं। यह न समझिए कि उनकी दशा भी [illegible] के किसानों की सी है, नहीं, वे [illegible] जमींदार हैं, कुछ लोग तो करोड़ [illegible] हैं। उनमें अधिकांश ऐसे हैं जिनके घर वाले विदेशों में धनोपार्जन कर रहे हैं। उनके घर पक्के और विशाल हैं, घर के सामान मूल्यवान हैं और उनका जीवन भी सुखसाध्य है, पर इस समय उन्होंने सिद्धांत पर सब कुछ होम कर दिया। उनकी जायदाद दूसरों के हाथ में चली जायगी, उनके घरों में दूसरे लोग आ आकर बसेंगे, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं है। वह शायद भारत के बसने वालों से ऐसे अमानुषीय व्यवहार की आशा नहीं रखते। उनका यह दैवी साहस देखकर हम लज्जा से सिर झुका लेते हैं, क्योंकि हम अपने में वह तप और वह विश्वास नहीं पाते। तुम धन्य हो बारदोली के वीरो! अगर संसार का नियंता कहीं है, तो तुम्हारा यह त्याग निष्फल न जाएगा। तुमने स्वराज्य को अपने भाग्य का अंग बना लिया है और धर्म की विजय अवश्य होगी।

[सम्पादकीय। 'हंस', दिसम्बर, 1930 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

स्वराज्य सग्राम में किसकी विजय हो रही है

जहां किसी नेता के पकड़े जाने का समाचार आया, किसी शहर में सौ-पचास आदमियों के घायल होने की खबर मिली और हमारे चेहरों पर मुर्दनी छाई। हमारे सिर झुक जाते हैं, मुंह से बेकसी की आह निकल जाती है और ऐसा जान पड़ता है, कि हमारे राष्ट्र की नौका अब डूबना चाहती है, मगर सोचिए, वह हमारी हार के लक्षण हैं या जीत के? महात्मा गांधी ने जब समर-क्षेत्र में पदार्पण किया, तो उन्होंने खूब समझ लिया था, कि मैं पकड़ लिया जाऊंगा। उन्होंने अपने जांनशीन भी चुन लिए थे। तो, अगर जेनरल की इच्छानुसार ही संग्राम चल रहा है, तो यह जेनरल की हार है, या जीत? अगर शत्रु विजयी होता, तो सबसे पहले वह हमारे जेनरल के रचे हुए चक्र-व्यूह को तोड़ता, जेनरल ने जितनी चालें सोच रक्खी थीं, उन सभों को पलट देता, पर ऐसा वह नहीं कर सका। उसको झक मार कर हमारे जेनरल के आदेशों के सामने ही सर झुकाना पड़ा, यहां तक कि महात्माजी ने संग्राम की प्रगति की जो कल्पना की थी, वह अक्षरश: सत्य होती जा रही है। तो, यह हमारे जेनरल की विजय है, या पराजय?

नि:शस्त्र संग्राम का मूल-तत्व क्या है? यही कि शत्रु को हम इतना दमन करने पर मजबूर कर दें, कि वह खुद अपनी ही निगाह में गिर जाय, खुद उसकी आत्मा उससे घृणा करने लगे, यहां तक कि उसकी पुलिस और सेना उसकी दमनकारी आज्ञाओं का पालन करने से इन्कार कर दे। उसके साथ ही हम विनय के प्रत्येक अंग का पालन करते रहें। अविनय का एक शब्द भी हमारे मुंह से न निकले। अविनय का एक भी विचार हमारे मन में न आवे। ऐसे विनय के आदर्श के सामने पशुबल बहुत दिनों तक अपना जोर नहीं दिखा सकता। लोकमत पशुबल की कठोर गति को देखकर कृपाशील हो जाता है, आन्दोलन का जोर बढ़ने लगता है, सरकार के बड़े-बड़े भक्त उसका साथ छोड़ देते हैं, और उसे ऐसे ऐसे कानून बनाने पड़ते हैं, जिससे जनता के स्वाभाविक जीवन में बाधा पड़ती है। जनता भी सत्याग्रहियों में सम्मिलित हो जाती है। अधिकारियों को संगीनों और मशीनगनों का आश्रय लेना पड़ता है उसका आर्थिक और राजनीतिक दीवाला हो जाता है। यहां तक कि अधिकारियों को राज्य का संचालन करना असम्भव हो जाता है। क्या हम इन उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर रहे हैं आंदोलन इतने दमन के बाद भी क्या बढ़ता नहीं जा रहा है? उसका क्षेत्र विस्तृत नहीं होता जा रहा है? जिन शहरों में दस बीस स्वयंसेवक न मिलते थे, उन्हीं शहरों में क्या अब दस बीस आदमी रोज जेल नहीं जा रहे हैं? हम इसे अपनी विजय कहें या पराजय? कितने ही लिबरल नेताओं ने सरकार की दमन नीति के विरोध में कौंसिलों से इस्तीफे नहीं दिए? सैयद हसन इमाम और मालवीयजी जैसे लोग किस शक्ति से खिंच आए और जेल में तपस्या कर रहे हैं? और अभी तो सातवां ही महीना है, क्या यह हमारी हार के चिह्न हैं? मुझे तो यह शानदार फतह मालूम होती है।

संग्राम में स्वभावत: विजय वही लाभ करता है, जिसमें दम ज्यादा है, जो ज्यादा देर तक मैदान में खड़ा हो सकता है। जिसकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। जर्मनी की जीत युद्ध के जल्द से जल्द खत्म हो जाने में थी। समय के साथ उसकी शक्ति घटती जाती थी। अंगरेजों की जीत युद्ध के तूल खींचने में थी। उसी भांति हमारी विजय आन्दोलन के दीर्घ होने में है हमारी शक्ति दिन-दिन बढ़ती जायेगी, हमारा संगठन उत्तरोत्तर पूर्ण होता जायगा। अभी

हमारा कार्य-क्षेत्र शहरों तक है। वह धीरे-धीरे देहातों में फैलेगा। समाज के कितन ही अंग अभी अछूते पड़े हैं। वे भी धीरे- धीरे हमारे प्रभाव में आवेंगे। इसके विपरीत अंगरेजों की शक्ति, दिन-दिन क्षीण होती जायगी, उसके सहायक, अलग होते जायंगे, उसकी आय कम होती जायगी, उसका रोब, घटता जायगा, उसकी साख, लुप्त होती जायगी और जब साख न रही, तो उस राज्य का अन्त ही समझ लो। अभी तक ता सितारा हमारा ही बुलन्द है और ग्रहों का योग बता रहा है, कि वह दिन-दिन बुलन्द होता जायगा। जनता पर जितने डन्डे पड़ते हैं, वह अंगरेजी आधिपत्य पर एक-एक कुल्हाड़ी के आघात से कम नहीं है। हमने यही समझ कर डन्डों का स्वागत किया है, सिर झुका-झुकाकर उसे अंगीकार किया है। यही हमारी विजय है। यही डन्डेबाजी, यही दमन, यही पशुता अंगरेजी राज्य का विध्वस करेगी।

हमारी हार उस वक्त हो जाती है, जब हम विनय के आदर्श से गिर जाते हैं, जब हम पुलीस के विरुद्ध गालियां और कटु वचनों का प्रयोग करने लगते हैं, जब हम प्रतिकार के वश होकर वार करते हैं, जब हम दंगे-फसाद पर आमादा हो जाते हैं। हमारी जीत लोकमत की सहानुभूति पर है। जिन कामों से आप लोकमत की सहानुभूति पा सकें वह आपके रोकड़, खाते के हैं, जिन कामों से लोकमत की सहानुभूति खो दें, वह देना खाते के हैं। गालियां बक कर, या अधिकारियों के प्रति अपमान-सूचक इशारे करके आप लोकमत के विरुद्ध चले जाते है। वहीं आपकी हार है। पर ऐसी वारदातें अभी तक इतनी कम हुई है, कि हम उन्हें उंगलियों पर गिन सकते हैं।

सबसे बड़ी बात, जो हमारी विजय को निश्चित कर देती है, वह 'हक' है। हम 'हक' पर है और 'हक' की हमेशा विजय होनी है यह एक अमर सत्य है। समय भी हमारे साथ है। यह डिमाक्रेशी का युग है। निरंकुशता की जड़ें खोखली होती जा रही है। संसार ने निरंकुश शासन का, या तो अन्त कर दिया, या करता जा रहा है, अतएव समय भी हमारे साथ है। लोगों के दिलों में स्वाधीनता की लगन पैदा हो गइ है, उसके लिए कुर्बानियां करने पर, उसकी कीमत देने पर प्राणों की बाजी लगाने पर तैयार है। गोलिया और लाठियों के सामने साहस पूर्वक खड़े रहना इतिहास में बहुत बड़े महत्त्व की बात है। इससे उस उन्माद का परिचय मिलता है, जो किसी महान उद्देश्य की सिद्धि के लिए लाजिमी है। समय अपना प्रभाव दिखाकर रहेगा। अंगरेजो के बुरे दिन आ रहे है। आर्थिक दशा में वह अब दूसरे दरजे की शक्ति है, सैनिक और नाविक-बल में तीसरे दरजे की। यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि संसार की सहानुभूति हमारे हाथ है। यद्यपि अभी तक उसका प्रमाण नहीं मिला, पर जर्मनी, जापान, अमेरिका तीनों ही भारतीय परिस्थिति को बडे गौर से देख रहे हैं। अमेरिका के कई प्रभावशाली सज्जनों ने, जिनका चर्चा से सम्बन्ध है, मि वेजवुड बेन को एक चेतावनी दे दी है, और कहीं कहीं जलसों में भारत से सहानुभूति भी प्रकट की गई है। यह सभी शुभ लक्षण हमारी विजय के परिचायक हैं।

हमें सबसे बड़ी शंका मुसलमानों की ओर से है। हिन्दू-मुसलिम दंगों की खबरें पढ़-पढ़कर हम हताश हो जाते हैं, लेकिन पहलू से भी हमारी पोजीशन दिन-दिन मजबूत होती जा रही है। ढाका और किशोरगंज के दंगों के कारण कुछ क्यों न हो, पर देश में उनसे कोई खलबली नहीं मची। लोगों ने मन ही मन इन कारणों को समझ लिया और अब अधिक सावधान हो गये हैं। मुसलमानों में इस समय दो राजनीतिक दल हैं। एक कांग्रेस से सहानुभूति

रखने वाला मुसलिम नेशनलिस्ट दल, दूसरा मुसलिम-लीग दल। अब मुसलिम-जनता मुसलिम लीग पार्टी की चालों को खूब समझने लगी है। उसमें अधिकांश वही लोग सम्मिलित हैं, जो या तो अंगरेजी सरकार के नौकर हैं, या थे, या जिन्हें अपना स्वार्थ निकालना है। निस्वार्थ भाव से देश की सेवा करने वाले, उस दल में बहुत कम हैं। नेशनलिस्ट दल ने तो लखनऊ में अपना अधिवेशन करके साफ कह दिया कि हम कांग्रेस के अवज्ञा-आंदोलन को न्याय-संगत समझते हैं और कांग्रेस की कुर्बानियों की प्रशंसा करते हैं। जब तक कांग्रेस गोलमेज़ कान्फ्रेन्स में न जायगी, यह लोग भी न जायंगे। दूसरे दल ने भी प्रयाग अधिवेशन किया। उसने कांग्रेस आंदोलन की निंदा की और गोलमेज़ सभा में जाने का निश्चय भी प्रकट किया, पर इतना उनको भी कहना ही पड़ा, कि गोलमेज़ सभा में हमारा अभीष्ट न पूरा हुआ, तो वहां से लौटकर हम भी यहीं आंदोलन आरंभ करेंगे। हम जानते हैं, कि यह उस दल की धमकी है, और सरकार ने यदि उसके साथ थोड़ी-सी रिआयत कर दी, जिसकी बहुत कुछ संभावना है, तो वह सरकार का तरफदार रहेगा। मुसलमानों का एक तीसरा दल भी है, जो सोलहों आना कांग्रेस के साथ है और आलिमों ने इसी दल को अपनाया है, इसलिए मुसलमानों की ओर से भी हम निश्चिन्त हो सकते हैं। कांग्रेस को इस समय अपनी उदारता दिखानी चाहिए और यह जानते हुए, कि दो-चार मेम्बरों की कमी-बेशी से किसी जाति का भविष्य नहीं बनता-बिगड़ता, मुसलमानों को असंतुष्ट न करना चाहिए। समय आने पर यह धर्मगत वातावरण आप ही आप दूर हो जायगा और आर्थिक सिद्धांतों के अधीन नये-नये दल बन जायंगे।

सारांश यह, कि हमें चारों ओर अपनी विजय के लक्षण दिखाई देते हैं, और हम इसी तरह क्षेत्र में डटे रहेंगे, तो निस्संदेह हमारी मनोकामना पूरी होगी। सरकार ने जो ये आर्डिनेंस पास किए हैं, इन्हीं से प्रकट है कि वह अपनी हार स्वीकार कर रही है। जब राजसंस्था अपने ही बनाए हुए कानूनों को पैरों तले रौंदना शुरू करे, तो उसकी दशा उस पागल की-सी समझनी चाहिए, जो आप ही अपनी देह को दांतों से काटता है, आप ही अपना मांस नोचता है। ऐसा प्राणी बहुत दिन जीवित नहीं रह सकता। उसकी जिन्दगी का पैमाना लबरेज हो चुका है। आख़िर इन विशेष कानूनों का—इन गैरकानूनी कानूनों का—क्या परिणाम हुआ? वही, जो होना स्वाभाविक था, पिकेटिंग को सरकार ने बंद करना चाहा था। पिकेटिंग का दिन दिन जोर बढ़ता जा रहा है। समाचार-पत्रों के बंद करने में बेशक सरकार को सफलता हुई, लेकिन कानून तोड़कर साइक्लोस्टाइल पर छपने वाले पर्चों ने तो शासकों की नाक ही तराश ली। आंदोलन का जोर सौगुना बढ़ गया। इसमें भी सरकार को सफलता नहीं मिली। कहीं खादी पहनना अपराध है, कहीं गांधी टोपी लगाना अपराध है, कहीं तकली का व्यवहार करना अपराध है। लार्ड अर्विन अगर मातहतों की इन हिमाकतों को पसन्द करते हैं, तो वह कठपुतली हैं, अगर नापसन्द करते हैं, और कुछ बोल नहीं सकते, तो कमजोर। मगर हमें न उनसे कोई शिकायत है, न उनके मातहतों से। आपको डंडे चलाना मुबारक, हमें डंडे खाना मुबारक! अगर संसार का कोई नियंता है, तो वह न्याय करेगा। हमें अपने सत्य का ही बल है।

[संपादकीय। 'हंस', नवम्बर, 1930 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

बम्बई के एक मजिस्ट्रेट का भ्रम

बम्बई के चीफ प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट ने शोलापुर दिवस मनाने के अपराध में कांग्रेस के कार्यकर्ताओं को दण्ड देते हुए फैसले में एक बड़े मजे की बात कही है। वह यह कि इस दिवस के मनाने का अर्थ है, खूनियों को प्रोत्साहित करना। यह बिल्कुल गलत है। इसका अर्थ केवल यह है कि इन आदमियों को जो सजा दी गई है, वह जनता की दृष्टि में जरूरत से कहीं ज्यादा कठोर है और नौकरशाही ने समस्त देश के मत को कुचलकर उन्हें फांसी दी है। मारने का अख्तियार आपको है लेकिन रोने का अख्तियार मार खाने वालों को है। यह अधिकार आप उनसे छीन नहीं सकते।

[संपादकीय। 'हंस', जनवरी, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

मिस्टर हरविलास शारदा का नया कानून

सामाजिक प्रश्नों में हम सरकारी हस्तक्षेप के पक्षपाती नहीं और हमारे विचार में विवाह की अवस्था का कानून जारी कराके हमने वह काम कानून से किया, जो जनता के विचारों के सुधार से ही हो सकता है। मगर विधवाओं को अपने स्वर्गारोही पति की जायदाद पर अधिकार दिलाने का जो बिल मि॰ शारदा पेश करने जा रहे हैं उससे एक बड़े भारी सामाजिक अन्याय का परिशोध होगा। हिन्दू समाज ने अपनी देवियों के साथ बहुत दिनों जुल्म किया और अब इस जुल्म की जड़ खोदने में विलम्ब न करना चाहिए। हमें आशा है, मि॰ शारदा के इस बिल का देश स्वागत करेगा।

[संपादकीय। 'हंस', जनवरी, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

स्वराज्य आंदोलन पर आक्षेप

अभी वाइसराय साहब ने फरमाया है कि सत्याग्रह आंदोलन ने लोगों को कानून के सम्मान और भय का निर्मूल और जनता की कुप्रवृत्तियों को जागृत कर दिया है। बिहार के गवर्नर साहब ने भी अपने एक भाषण में यही विचार प्रकट किए हैं। कानून के सम्मान को इस आंदोलन ने निर्मूल नहीं किया है, उसे निर्मूल किया है गैर-कानूनी कानूनों ने, पुलिस की लाठियों ने, जेल के डण्डों ने, और फौज की गोलियों ने। हां, अब जनता उस कानून को कानून न मानेगी, जो किसी व्यक्ति विशेष के दिमाग से निकले हों। वह उसी कानून को कानून मानेगी, जिसके निर्माण में उसने स्वयं निर्वाचक रूप से भाग लिया है। कांग्रेस के स्वयंसेवक उसी तरह देवता नहीं हैं, जैसे पुलिस के कर्मचारी। पर वह अपना कर्त्तव्य समझते हैं और जानते हैं कि यह धर्म-संग्राम है और धर्म के बन्धनों को तोड़ नहीं सकते। हां, जब सख्तियां असहनीय हो जाती हैं तब आदमी पागल होकर जो कुछ कर बैठे वह थोड़ा है।

[संपादकीय। 'हंस', जनवरी, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

उर्दू के विशेषांक

उर्दू पत्रिकाओं में भी अब विशेषांक निकालने की प्रथा चल पड़ी है। 'नैरंगे-खयाल', 'साकी', रहनुमाए-तालीम' आदि ने सुन्दर-सचित्र विशेषांक निकाले हैं। 'रहनुमाए तालीम' का विशेषांक तो इतना बृहदाकार है कि कदाचित् ही भारत की किसी भाषा में इतना भारी-भरकम अंक निकला होगा। इसमें लगभग ४00 पृष्ठ और 200 से ऊपर चित्र हैं। हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने भी 'हिन्दुस्तानी' नाम से एक तिमाही रिसाला निकालना शुरू किया है और हमारे मित्र श्री सुदर्शन ने भी 'चन्दन' नाम से एक सचित्र पत्रिका निकाली है। इसके उपरान्त 'सितारा', 'फिल्मिस्तान', आदि पत्रिकाएं भी निकलने लगी हैं, जिनका सम्बन्ध विशेषकर सिनेमा से है। जहां तक हमें मालूम है, हिन्दी में अभी तक फिल्म-सम्बन्धी कोई पत्रिका नहीं निकली है। इस विचार से उर्दू ने हिन्दी से बाजी मार ली है। यद्यपि इन फिल्मी पत्रिकाओं में अभी तक कोई उच्च कोटि की नहीं है, पर जब कार्य आरम्भ हो गया है, तो एक दिन पूरा भी हो जायगा। हिन्दी में तो ऐसा शैथिल्य दिखाई दे रहा है, जिसे देखकर हतोत्साह होना पड़ता है।

[सम्पादकीय। 'हंस', फरवरी, 1931 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

कांग्रेस ज़िन्दाबाद

गत वर्ष चौथी मार्च को महात्मा गांधी जी ने डांडी की ओर प्रस्थान करके स्वराज्य-संग्राम की रण-भेरी बजाई थी। पूरे साल भर के बाद चौथी मार्च को क्षणिक संधि की घोषणा हुई और कांग्रेस ने पहला मोर्चा जीता। यह सफलता किन साधनों द्वारा प्राप्त हुई है, इसको दुहराने की जरूरत नहीं। वह सारे दृश्य अभी तक हमारी आंखों के सामने हैं। जिस काम को हम असाध्य समझ रहे थे, वह इतना सरल था, इसकी हमने कल्पना भी नहीं की थी। हमने लगभग अस्सी हजार स्वयंसेवक जेल भेजे, कांग्रेस के सभी प्रमुख नेताओं को बन्दी बनना पड़ा, पर सच पूछिए तो ऐसे महान उद्देश्य के लिए जितना त्याग किया गया वह कुछ नहीं के बराबर है। कुशल सेनापति वही है, जो थोड़े से थोड़े रक्तपात से बड़ी से बड़ी विजय करा दिखाए। महात्मा गांधी जी उन्हीं कुशल सेनापतियों में हैं। अहिंसा और सत्याग्रह का ऐसा अमोघ अस्त्र उन्होंने देश के हाथ में दिया, कि हम ब्रिटिश सरकार की मशीनगनों और हवाई जहाजों को तुच्छ समझ कर निहत्थे मैदान में निकल पड़े और वह शक्तिशाली साम्राज्य, जिसने संसार पर अपना प्रभुत्व जमाए रखने के लिए पचास लाख आदमियों का बलिदान कर दिया था, हमारा लोहा मान गया। योरोपीय महासमर में भारत ने भी लगभग पन्द्रह लाख सैनिकों का बलिदान किया था और असंख्य धन वारा था, पर उसका क्या फल निकला! वह पशुबल का संग्राम पशुबल से था। यह आत्मबल का संग्राम पशुबल से था और पशुबल को आत्मबल के सामने नीचा देखना पड़ा। हम यही नहीं कहते, कि हमारा अभीष्ट पूरा हो गया और हमें पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई, पर जिस सरकार ने पहले हमारे उद्योग को हेय समझा था और उसकी हंसी उड़ाई थी, उसी सरकार का हमसे सन्धि करने पर विवश होना क्या छोटी बात है? जब विपक्षी ने हमारी शक्ति को स्वीकार कर लिया, तो वह हमसे फिर ताल

ठोंकने का साहस नहीं कर सकता। जिस शत्रु के हृदय में आप अपना आतंक जमा सकते हैं, उसकी पीठ में धूल लगा देना उससे कहीं सरल है, मुश्किल होता है, अपनी शक्ति का सिक्का बिठाना। वह अभीष्ट कांग्रेस ने पूरा कर लिया। ब्रिटिश सरकार अब दोबारा भारत की संयुक्त शक्ति का सामना करने का साहस नहीं कर सकती उसे अब अगर कोई आशा है, तो वह भारत के विभिन्न समुदायों-संप्रदायों का परस्पर वैमनस्य है। अगर कांग्रेस ने इस वैमनस्य को जीत लिया तो फिर उसकी कोई मांग नहीं जो अंग्रेज सरकार पूरी करने के लिए मजबूर न हो जाय। गोलमेज़-परिषद् में सभी वर्गों ने डोमिनियन स्टेट्स का समर्थन करके अंग्रेज सरकार को चकित कर दिया था। प्रतिनिधियों का चुनाव जिस रीति से किया गया था, उससे सरकार ने यह आशा बांध ली थी, कि यह एक स्वर होकर कुछ कह ही न सकेंगे। जितने मुंह होंगे, उतनी ही बातें होंगी। ऐसी परिषद् को बच्चों का खेल सिद्ध कर देना कुछ मुश्किल न था, लेकिन परिषद् ने एक स्वर होकर डोमिनियन स्टेट्स की सदा बुलन्द की। हां, ब्रिटिश सरकार की इतनी चाल चल गयी कि परिषद् ने संरक्षणों को स्वीकार कर लिया जिसने परिषद् को अपंग कर दिया। जो कुछ कसर रही, वह सांप्रदायिक स्वत्वों के बंटवारे के झमले में पूरी हो गयी। महात्मा गांधी जी ने देखा कि अब समझौते का अवसर आ गया है और जब समझौता से कार्य सिद्ध हो तो बलिदानों की जरूरत क्या। आपने कहा है, कि "बलिदानों की एक सीमा तक तो आवश्यकता होती है, लेकिन उस सीमा के निकल जाने पर कष्टों का आवाहन करना मूर्खता की पराकाष्ठा है।" हमारा राष्ट्रीय आंदोलन महात्मा जी का चलाया हुआ है। वही इसके प्रवर्तक और संचालक हैं। जब उन्हें विश्वास है कि अब वह अवसर आ गया है, जब समझौते से ज्यादा सफलता की आशा है, तो कौन कह सकता है कि उन्होंने संधि करके भूल की। अब तो हमारी जीत इसी में है, कि भारत जो कुछ मांगे, एक स्वर होकर मांगे, फिर अंग्रेज सरकार को वह मांग पूरी करने के सिवा और कोई मार्ग न रहेगा। गोलमेज-परिषद् में स्वत्वों पर जो नोच-खसोट हुई उसका कारण यही था कि उसके प्रतिनिधि राष्ट्रभक्त न थे, पंथ भक्त थे। अब वह अविश्वास का वातावरण बदल गया है, और हमें पूरा विश्वास है, कि साम्प्रदायिक विरोध की बाधा हमारे मार्ग में न खड़ी होगी। मुसल्मि नौजवानों की मनोवृत्ति साम्प्रदायिक नहीं। इसका परिचय पहले ही मिल चुका है। हमारे मुसलिम नौजवान विशेष अधिकारों के उपासक नहीं, न वह सरकार का रक्षा का हाथ अपने सिर पर रहना आवश्यक समझते हैं। उनमें पुरुषार्थ है, उत्साह है, आत्मविश्वास है और वह राष्ट्र के हित के लिए पंथगत स्वत्वों को छोड़ना जानते हैं। जिस जाति में व्यापक भ्रातृ-भाव का आदर्श है, जहां कोई छोटा है न बड़ा है, सब बराबर हैं, वह जाति अगर विशेष अधिकारों और छोटी-छोटी नौकरियों के लिए राष्ट्रहित में बाधक हो, तो वह अपने ऊंचे आदर्श से गिर जायगी। जब नारी जाति में इतना आत्मबल आ गया है कि वह देश के लिए कठिन से कठिन यातना सहने के लिए तैयार है तो क्या हमारे मुसलिम नौजवान इस अवसर पर अपने पुरुषार्थ का परिचय न देंगे? भारत की वीर देवियों ने इस कठिन अवसर पर जिस वीरता का परिचय दिया है, वह संसार के इतिहास में अद्वितीय है। वह कोमलांगी रमणियां, जो परदे में रहना ही अपना गौरव समझती थीं, जिस वीरता से मैदान में आ खड़ी हुईं, उसने संसार को चकित कर दिया। हम तो यह कहना भी अतिशयोक्ति नहीं समझते, कि इस संग्राम में विजय का सेहरा नारी-जाति ही के सिर है। माताओं ने सदैव अपनी सन्तान के लिए बलिदान किया है और

आज उसी मातृत्व ने भारत का उद्धार किया है।

[संपादकीय। 'हंस', फरवरी, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

नारी-जाति के अधिकार

यों तो भारतीय नारी सदैव कुलदेवी समझी गई है और उसे समाज में पुरुषों से ऊंचा पद प्राप्त है किन्तु अन्यान्य कारणों से, जिनकी विवेचना करने का यह अवसर नहीं है, उसका स्थान गौण हो गया था। वह मन्दबुद्धिता जिसने एक ओर पराधीनता की बेड़ी पांव में डाली, दूसरी ओर नारी जाति पर मनमाने अत्याचार करती गई। ऊंच-नीच का ऐसा संक्रामक रोग फैला, कि उसने समाज को ही छिन्न-भिन्न कर दिया। बल्कि स्त्री-पुरुष में भी भेद डाल दिया। पुरुषों ने नारी जाति के स्वत्वों का अपहरण करना शुरू किया, लेकिन राष्ट्रीयता और सद्‌बुद्धि की जो लहर इस समय आई हुई है, वह इन तमाम भेदों को मिटा देगी और एक बार फिर हमारी माताएं उसी ऊंचे पद पर आरूढ़ होंगी जो उनका हक है। भारत अपनी माताओं का सदैव भक्त रहा है। मातृ-पूजा उसके धर्म का एक मुख्य अंग है। क्या आज अपनी माताओं द्वारा विजयी होकर वह नारी-जाति के स्वत्वों को स्वीकार न करेगा? भारत के पतन-काल में जब पुरुषों को अपने ही ऊपर विश्वास न था वह स्त्रियों पर क्या विश्वास करते, पर इस एक वर्ष के सत्याग्रह-संग्राम ने सिद्ध कर दिया कि भारत की देवियां अब भी धर्म और कर्त्तव्य की वेदी पर अपने को होम कर सकती हैं। यदि पुरुषों को अब भी उन पर शासन करने का उन्माद हो तो उसे शीघ्र से शीघ्र दूर कर देना चाहिए, क्योंकि वह चाहे दें या न दें, देवियां अपने स्वत्वों को लेकर ही रहेंगी। उन्हें हर एक विषय में पुरुषों के समान अधिकार होना चाहिए और इसका निर्णय देवियों ही पर छोड़ देना चाहिए कि वे अपने हितार्थ जो स्वत्व चाहें ले लें। हमारे विचार में निम्नलिखित विषयों पर नारियों को असंतोष है और इस असंतोष को देवियों के इच्छानुसार ही शमन करना पड़ेगा—

1 एक विवाह का नियम स्त्री-पुरुषों दोनों ही के लिए समान रूप से लागू हो। कोई पुरुष पत्नी के जीवन-काल में दूसरा विवाह न कर सके।

2 पुरुष की सम्पत्ति पर पत्नी का पूरा अधिकार हो। वह उसे रेहन-बय जो कुछ चाहे कर सके।

3 पिता की सम्पत्ति पर पुत्रों और पुत्रियों का समान अधिकार हो।

4 तलाक का कानून जारी किया जाय और वह स्त्री-पुरुष दोनों ही के लिए समान हो।

5 तलाक के समय स्त्री पुरुष की आधी सम्पत्ति पाए और यदि मौरूसी जायदाद हो, तो उसका एक अंश।

[संपादकीय। 'हंस', फरवरी, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

साहित्यिक उदासीनता

हिन्दी साहित्य में आजकल जो शिथिलता सी छाई हुई है, उसे देखकर साहित्य-प्रेमियों को हताश होना पड़ता है। आज हिन्दी में एक भी ऐसा सफल प्रकाशक नहीं, जो साल भर में दो-

चार पुस्तकों से अधिक निकाल सकता हो। प्रत्येक प्रकाशक के कार्यालय में हस्त-लिखित पुस्तकों का ढेर लगा पड़ा है; पर प्रकाशकों को साहस नहीं होता कि उन्हें प्रकाशित कर दें। दो-चार इने-गिने लेखकों की पुस्तकें ही छपती हैं; पर वहां भी पुस्तकों की निकासी नहीं होती। दो हजार का एडीशन बिकते-बिकते कम-से-कम तीन साल लग जाते हैं। अधिकांश पुस्तकों की तो दस साल में अगर दो हजार प्रतियां निकल जायं, तो गनीमत समझी जाती है। जब पुस्तकों की बिक्री का यह हाल है, तो प्रकाशक पुरस्कार कहां से दें और दें भी तो वह पत्र-पुष्प से अधिक नहीं हो सकता। पत्र-पुष्प से लेखक को क्या सन्तोष हो सकता है क्योंकि वह भी आदमी है और उसकी भी जरूरतें होती रही हैं। इसका फल यह है कि लेखक अलग उत्साहहीन होते जाते हैं, प्रकाशक अलग कन्धा डालते जाते हैं और साहित्य की जो उन्नति होनी चाहिए, वह नहीं होने पाती। लेखक को अच्छा पुरस्कार मिलने की आशा हो तो वह तन-मन से रचना में प्रवृत्त हो सकता है, और प्रकाशक को यदि अच्छी बिक्री की आशा हो तो वह रुपये लगाने को भी तैयार हो जाता है। लेकिन सारा दारमदार पुस्तकों की बिक्री पर है, और जब तक हिन्दी पाठक पुस्तकें खरीदना अपना कर्त्तव्य न समझने लगेंगे, यह शिथिलता ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। कितने खेद की बात है कि बड़ी-बड़ी आमदनी रखने वाले सज्जन भी हिन्दी की पुस्तकें मांगकर पढ़ने में संकोच नहीं करते। शायद वे हिन्दी-पुस्तकें पढ़ना ही हिन्दी पर कोई एहसान समझते हैं। इस विषय में उर्दू वाले क्या कर रहे हैं, उसकी चर्चा हम यहां कर देना चाहते हैं, लाहौर में, जो उर्दू का केन्द्र है, कुछ लोगों ने एक समिति बना ली है और उसका काम है शहर-शहर और कस्बे कस्बे घूमकर पाठकों से अपनी आय का शतांश उर्दू पुस्तकें खरीदने में खर्च करने का अनुरोध करना। पाठक जो पुस्तक चाहे अपनी रुचि के अनुसार खरीदे, पर खरीदे ज़रूर। पाठकों से एक प्रतिज्ञा कराई जाती है और सुनते हैं कि समिति को इस सदुद्योग में खासी सफलता हो रही है। बहुत से पाठक तो केवल इसलिए पुस्तकें नहीं खरीदते कि उन्हें खबर ही नहीं, कौन-कौन-सी अच्छी पुस्तकें निकलती हैं। उनका इस तरफ ध्यान ही नहीं जाता। जरूरत की चीज तो उन्हें झक मारकर लेनी पड़ती हैं—स्त्री-लड़के सभी आग्रह करते हैं लेकिन पुस्तकों के लिए ऐसा आग्रह अभी नहीं होता। केवल पाठ्य पुस्तकें तो खरीद ली जाती हैं। अन्य पुस्तकों का खरीदना अनावश्यक या फिजूल-खर्ची समझी जाती है। मगर जब समिति ने पब्लिक का ध्यान इस ओर खींचा, तो लोग बड़े हर्ष से उसके साथ सहयोग करने को तैयार हो गये। कितने ही सज्जनों ने तो पुस्तकों के चुनाव का भार भी समिति के सिर रख दिया। जिसकी वार्षिक आय बारह सौ रुपये है, वह साल-भर में बारह रुपये की पुस्तकें खरीदने का प्रण कर ले, तो हमें विश्वास है, कि थोड़े ही दिनों में हिन्दी-साहित्य प्रेमियों का कल्याण हो सकता है। ऐसे सज्जनों की कमी नहीं, केवल साहित्य प्रेमियों को उनके कर्त्तव्य की याद दिलाने की जरूरत है। अगर उर्दू में ऐसी समिति बन सकती है, तो हिन्दी में भी अवश्य बन सकती है, अगर हमारी हिन्दी-सभाएं इस तरफ, ध्यान दें, तो साहित्य का बहुत उपकार हो सकता है।

[संपादकीय। 'हंस', फरवरी, 1931 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 में संकलित।]

कर्मवीर विद्यार्थी जी

कानपुर के इस हत्याकाण्ड में राष्ट्र को सबसे भयंकर जो क्षति पहुंची है वह विद्यार्थी जी की शहादत है। लुटा हुआ धन फिर आ जायगा, उजड़े हुए घर फिर आबाद हो जाएंगे, माताओं के गोद में फिर बच्चे खलेंगे, पर वह कर्मवीर भारत से सदैव के लिए उठ गया। विद्यार्थी जी के जीवन की सरलता और पवित्रता सात्विक थी। हम यह तो नहीं कह सकते कि हमारी उनसे घनिष्ठता थी, पर साल में दो-तीन बार हमें उनके दर्शनों का सौभाग्य अवश्य हो जाता था और उनके दर्शनों से आत्मा पर आशीर्वाद का-सा जो असर पड़ता था, वह अकथनीय है। स्वार्थ-चिन्ता ने कभी उनकी आत्मा को मलिन नहीं किया। उनका समस्त जीवन यज्ञमय था और कदाचित् ईश्वर की इच्छा थी, कि उनकी मृत्यु उस यज्ञ की पूर्णाहुति हो। उस विद्रोह के एक या दो दिन पहले लखनऊ कांग्रेस कमेटी के दफ्तर में हमें उनके दर्शन हुए थे। उनके जेल से लौटने के बाद मैं उनसे मिल न सका था। कितने तपाक से गले मिले। विनोद महान आत्माओं का स्थायी गुण है। उनकी सीधी-सी बात में भी विनोद की कुछ न कुछ मात्रा होती है। अपने जेल जीवन की एक घटना हंस-हंसकर सुनाने लगे। विक्टर ह्यूगा पर उनकी बड़ी श्रद्धा थी। 'नाइंटी थ्री' का अनुवाद वे पहले कर चुके थे। अबकी जेल में ह्यूगो के जगत प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लेमिजरबुल' का उन्होंने अनुवाद किया था। बोले, 'कोई पन्द्रह सौ पृष्ठ होंगे। आपका प्रेम छापना चाहे तो मैं दे सकता हूं।'

यह तो उनका विनोद मात्र था।

कौन जानता कि यह उनके अन्तिम दर्शन हैं। उस समय तो कराची जाने की बातचीत हो रही थी।

विद्यार्थी जी ने देश में जो सम्मान और यश प्राप्त किया, वह उनकी सेवा का प्रसाद था। वह बहुत बड़े विद्वान न थे, बड़ी-बड़ी उपाधियां न प्राप्त की थीं, मगर हृदय में सेवा की ऐसी लगन थी, जिसने उनकी लेखनी को ओज, उनकी भाषा को स्फूर्ति, उनकी वाणी को प्रभाव और व्यक्तित्व को गौरव प्रदान कर दिया था। उनकी आत्मा निष्कपट और निर्भीक थी। राजनीतिक समस्याओं पर वह जितने साहस से अपनी सम्मति प्रकट करते थे, उसने हमारे सम्पादकीय जीवन में अमर स्मृतियां छोड़ी हैं। अत्याचार के विरुद्ध उनकी तलवार सदैव म्यान से बाहर रहती थी। 'प्रताप' ने अपने बीस वर्ष के जीवन में जितनी बाधाओं पर सफलता के साथ विजय पायी वह विद्यार्थी जी के सदसाहस, न्याय-निष्ठा और कर्तव्य-प्रेम का उज्ज्वल प्रमाण है।

हिन्दू-मुसलिम एकता के वह अनन्य भक्त थे। विद्यार्थी जी उन राष्ट्र-सेवियों में से थे जिन्होंने साम्प्रदायिकता को कभी अपने पास नहीं आने दिया। वह उनके राष्ट्रीय जीवन का मूल सिद्धांत था। हम यह अनुमान कर सकते हैं कि कानपुर में जब वह आग भड़की, तो उनकी आत्मा को कितना आघात पहुंचा। शहर में हाहाकार मचा हुआ था। शहर के नेता कर्तव्य-भ्रष्ट से अपने-अपने घरों में बैठे थे। हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे पर अमानुषिक अत्याचार कर रहे थे, वह यह कर्मवीर अपने प्राणों को हथेली पर लिए पीड़ित परिवारों को सुरक्षित स्थानों पर पहुंचाता, आहतों की सेवा और अनाथों की सहायता करता फिरता था। हितचिन्तक गण समझाते थे, पर जिसके जीवन का मूल आधार इतनी निर्दयता से पैरों तले

रोंदा जा रहा हो, उसे ऐसी चेतावनियों की क्या परवाह हो सकती थी। धर्म जैसी पवित्र वस्तु भी मलिन आत्माओं में जाकर इतना भयंकर रूप धारण कर लेती है। धर्म जिसका उद्देश्य है मनुष्य को सत्य की ओर ले जाना, उसकी परलोक बुद्धि को शक्ति देना वही मानवी दुर्बलताओं से कलुषित होकर आज हिंसक जन्तु के रूप में प्रकट हो रहा है। वह धर्मान्धता जो ऐसी पवित्र आत्माओं के रक्त से अपने हाथ रंगती है, उसकी किन शब्दों में निन्दा की जाय। उन्हीं लोगों के हाथों यह अनर्थ हुआ कि जिनकी रक्षा के लिए वह निकले हुए थे। धर्मान्धता तेरी बलिहारी है तू शत्रु और मित्र का भी विवेक नहीं रखती।

आज इस कर्मवीर की मृत्यु ने हमारे राष्ट्रीय जीवन में ऐसा स्थान खाली कर दिया है, जिसकी पूर्ति होना कठिन है।

[सपादकीय। 'हंस', मार्च, 193। में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

कांग्रेस

कांग्रेस का अधिवेशन समाप्त हो गया। हमें कुछ शंका थी, कि शायद गांधी-इर्विन समझौते के विरोधी कुछ गुल न खिलाएं, पर वह शंका निर्मूल सिद्ध हुई। विरोधियों ने चेष्टा तो की कि महात्मा गांधी के विरुद्ध प्रदर्शन किया जाय, और काली झंडियां भी निकालीं, लेकिन महात्मा जी के प्रभाव के सामने उनकी कुछ चली नहीं। कांग्रेस ने बहुमत से देहली के समझौते का समर्थन किया और महात्मा जी के नेतृत्व में कांग्रेस प्रतिनिधियों का सम्मिलित होना निश्चित हो गया। सबसे अधिक प्रसन्नता हमें स्वराज्य की उस व्याख्या से हुई, जो कांग्रेस ने एक प्रस्ताव के रूप में मंजूर की है। उसने उन शंकाओं का शमन कर दिया, जो कांग्रेस की नीति के विषय में कुछ लोगों को थीं। अब कांग्रेस का ध्येय राष्ट्र के सामने है। वह गरीबों की संस्था है, गरीबों के हितों की रक्षा उसका प्रधान कर्त्तव्य है। उसके विधान में मजदूरों, किसानों और गरीबों के लिए वही स्थान है जो अन्य लोगों के लिए। वर्ग, जाति वर्ण आदि के भेदों को उसने एकदम मिटा दिया है। हम कांग्रेस को इस प्रस्ताव के लिए बधाई देते हैं। स्वराज्य की इस व्याख्या को लाखों की संख्या में बांटना चाहिए। ऐसा कोई घर न होना चाहिए जिसमें उसकी एक प्रति न हो। अब जनता को इस विषय में कोई संदेह न रहेगा कि वह किन स्वत्वों के लिए लड़ रही है, स्वराज्य से उसे क्या लाभ होगा और उसकी प्राप्ति का क्या मार्ग है।

[सपादकीय। 'हंस', मार्च, 1931। में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

नवयुग-1

हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के प्रकोप से नवयुग आरम्भ हो रहा है, उसी भाँति जैसे नववर्ष का प्रारम्भ होलिका के प्रचण्ड अग्निकाण्ड में होता है। एक तरफ कांग्रेस की वर्किंग कमेटी प्रयाग में बैठी हुई गोलमेज़ परिषद् की शर्तों पर विचार कर रही थी, दूसरी ओर काशी में विद्रोह की आग धधक रही थी। और ठीक उस समय जब कांग्रेस समझौते की स्वीकृति पर फैसला सुनाने जा रही थी, कानपुर में भीषण हत्याकाण्ड आरम्भ हो गया। काशी की अपेक्षा कानपुर का दंगा कहीं अधिक भीषण और प्रलयंकारी था। अभी निश्चय रूप से नहीं कहा जा

सकता कि इस हत्याकाण्ड से राष्ट्र को कितनी क्षति पहुंची पर इसमें सन्देह नहीं कि हानि इतनी अधिक हुई है जो वर्षों में पूरी न होगी। एक सप्ताह तक कानपुर में अराजकता का पूरा आधिपत्य रहा। सरकार अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ उसका दमन न कर सकी। बुद्धि यह मानने को तैयार नहीं होती कि जो सरकार राजनैतिक आंदोलन का दमन करने में इतनी तत्परता से काम ले सकती है, इतनी आसानी से गोलियां चलवा सकती है, वह इस अवसर पर इतनी अशक्त हो गई कि उसकी उपस्थिति में रक्त की नदी बह गई और वह कुछ न कर सकी ! क्या खुफिया पुलिस केवल राजनीतिक प्रगति की जांच करने के लिए ही है? उसे जनता में आन्दोलित होने वाली भावनाओं का पहले से क्यों ज्ञान नहीं होता? क्यों उसके कर्मचारी बारूद पर सोये रहते हैं और जब तक धड़ाका नहीं हो जाता, उन्हें खबर नहीं होती? सम्भव है सरकार की इस दलील में कुछ सत्य हो कि वह दंगे को दबाने के लिए काफी शक्ति न रखती थी, पर साधारण बुद्धि जिस नतीजे पर पहुंची है वह यह है कि सरकारी कर्मचारियों ने जान-बूझकर केवल यह दिखाने के लिए कि बगैर सरकारी सहायता के तुम लोग कुछ नहीं कर सकते, यहां तक कि शान्तिपूर्वक रह भी नहीं सकते और तुम्हें एक-दूसरे को फाड़ खाने से बचाने के लिए एक तीसरी बलवान शक्ति का रहना अनिवार्य है, इस हत्याकाण्ड को रोकने की कोशिश नहीं की। उनका यह अभिप्राय पूरा हुआ या नहीं, हम नहीं कह सकते लेकिन इतना हम कह सकते हैं कि सरकार का जो कुछ रहा-सहा विश्वास था वह भी जनता के दिलों से उठ गया। जनसाधारण को ऐसे काण्डों को रोकने का एक ही उपाय सूझता है और वह उत्तरदायित्वपूर्ण विधान है। यदि सरकार को भय होता कि ऐसी दुर्घटना उसे जड़ से उखाड़ देगी, उसके विरुद्ध ऐसा वातावरण पैदा हो जायगा कि जिसमें उसकी सत्ता ही बाधा में पड़ जायगी तो वह यों तटस्थ न रहती। एक मास के अन्दर काशी, मिर्जापुर, आगरा आदि स्थानों में जातिगत वैमनस्य का इतना भयकर रूप धारण कर लेना अगर हमें कोई शिक्षा देता है तो वह यह है कि मुस्लिम भाइयों को अपने साथ न ले चलने में हमने भूल की। यह सत्य है कि हमने उनकी सहायता के लिए सदैव हाथ फैलाये रखा, सदैव उनकी सहानुभूति की याचना करते रहे, लेकिन यह भी मानना पड़ेगा कि बगैर आपस में कोई समझौता किये हुए सत्याग्रह आन्दोलन का सूत्रपात कर देना हमारे मुस्लिम भाइयों को अप्रिय ही नहीं लगा, उसमें कुछ सन्देह भी उत्पन्न किया। शायद आन्दोलन की सफलता ने उन्हें और भी भयभीत कर दिया हो। जिस काम में हम शरीक नहीं होते, जिसकी सफलता की हमें कोई आशा नहीं होती, उसे सफल होते देखकर हमें स्वाभाविक रूप से कुछ चिढ़ होती है। मुस्लिम भाइयों में इसी मनोवृत्ति ने अवश्य असंतोष पैदा किया और यह अनुभव कि हिन्दुओं ने मुसलमानों के एक अंश की सहायता से इतना बड़ा पड़ाव मार लिया, मुसलमानों को अपनी दृष्टि में पराभूत कर दिया। इधर राष्ट्रीय आन्दोलन की आशातीत सफलता ने बहुत सम्भव है, हमें अनम्र बना दिया हो, हम यह समझने लगे हों कि मुसलमानों की सहायता के बगैर भी हम बहुत कुछ कर सकते हैं। जो कुछ भी हो यह मानना पड़ेगा कि अभी पंथगत द्वेष की हमारे समाज में प्रधानता है और जब तक हम इस द्वेष और विरोध को मिटा न लेंगे, हम राजनीति के क्षेत्र में कदम नहीं बढ़ा सकते। ऐसे ही दंगे पहले सत्याग्रह आन्दोलन के बाद हुए थे। मगर दोनों में बड़ा अन्तर है। उस वक्त के सभी दंगों का कारण धार्मिक था, मसजिद के सामने बाजा बजाना या कुर्बानी। इस समय जो दंगे हो रहे हैं उनके कारण राजनीतिक हैं।

काशी में एक विदेशी कपड़े के व्यापारी की हत्या ने बारूद में आग लगाई। कानपुर में मुसलमानों की दूकानें बन्द करवाने की चेष्टा ने पुआल में चिनगारी का काम किया। पुआल पहले से मौजूद था, केवल चिनगारी की कमी थी। हम खुद कांग्रेस मेन हैं। आज से नहीं, हमेशा से। असहयोग में हमारा विश्वास है, मगर हम कहने से बाज नहीं रह सकते कि कांग्रेस ने मुसलमानों को अपना सहायक बनाने की ओर उतनी कोशिश नहीं कि जितनी करनी चाहिए थी। वह हिन्दू सहायता प्राप्त करके ही संतुष्ट रह गई। भारत में हिन्दू बाईस करोड़ हैं। बाईस करोड़ अगर कोई काम करने का निश्चय कर लें तो उन्हें कौन रोक सकता है। हिन्दुओं में इसी मनोवृत्ति ने प्रधानता प्राप्त कर ली। मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा की गई अवश्य पर बेदिली के साथ। कांग्रेस ने ऐसी सम्भावनाओं की ओर ध्यान नहीं दिया। यह उसी अदूरदर्शिता का परिणाम है। यह ठीक है कि पहले ही कांग्रेस के जिम्मेदार आदमियों को जेल में डाल देने से, जिनमें ऐसे मुसलमान नेताओं की संख्या काफी थी, जो मुसलमानों पर असर डाल सकते थे, बहुत कुछ जिम्मेदारी सरकार के सिर आ पड़ती है। लेकिन यह मानते हुए भी ठंडे दिल से विचार करने पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कांग्रेस प्रोग्राम में वैमनस्य पैदा होने की सम्भावना होते हुए भी उसने मुस्लिम जनता का दिल हाथ में लेने में कोई उल्लेखनीय उद्योग नहीं किया और इस तरह से उसने विपक्षियों को अपना अनर्थकारी प्रोपेगेण्डा करने के लिए उपयुक्त क्षेत्र बना दिया। अपनी भूलों को स्वीकार कर लेने में हमें किसी प्रकार का संकोच न होना चाहिए क्योंकि उससे भविष्य के लिए सचेत हो जाते हैं। हमें यह देखकर संतोष होता है कि इन हत्याकाण्डों के बाद अब आपस में मेल-जोल की ओर लोगों का ध्यान अधिक हो गया है। यदि हम पहले से ही सचेष्ट हो जाते तो क्यों यह अनर्थ होता। जिस तरह आज लोग गली-गली और मुहल्ले-मुहल्ले चक्कर लगा-लगाकर प्रेम का संदेश सुनाते फिरते हैं, उसी भांति यदि पहले भी यह प्रोपेगेण्डा किया जाता, तो यह नौबत क्यों आती। हम तो यहां तक कहेंगे कि किसी पर दूकान बन्द करने के लिए दबाव डालना और समाज के एक मुख्य अंग का सहयोग प्राप्त किये बिना, पिकेटिंग करना भी वांछनीय न था। घर-घर घूमकर वही काम यदि उतनी सफलता से नहीं तो उनके खतरे के बगैर किया जा सकता था। यह कहना कि हमने सदैव विनय और सौजन्य से काम लिया है, सत्य पर पर्दा डालना है और जिद से जिद पैदा होती है। यह वही सब मवाद है जो इतने दिनों भीतर ही भीतर पककर अब इस रूप में प्रकट हुआ है। इस सत्य को स्वीकार कर लेने में ही हमारा उद्धार है। हमें आशा है कि हम ज्यादा संयम, ज्यादा विचार, ज्यादा नम्रता से काम लेंगे और हिन्दू मुस्लिम मैत्री को केवल राजनीतिक आवश्यकता न समझेंगे, बल्कि अपने कर्म का एक तत्व बना लेंगे। यदि ऐसा हुआ तो बुराई से भलाई पैदा हो जायगी और भविष्य में आने वाली कठिनाइयों पर हम सदैव के लिए विजयी हो जाएंगे।

[सपादकीय। 'हंस', मार्च, 1931। में प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-2 मे संकलित।]

मिर्जापुर कांफ्रेन्स में एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव

मिर्जापुर ने सबसे महत्त्व की जो बात की, वह थी श्री युसुफ इमाम के प्रस्ताव को स्वीकार करना। इसका अभिप्राय यह था कि कांग्रेस वालों को किसी साम्प्रदायिक कार्य में प्रमुख भाग

नहीं लेना चाहिए। इसका यह आशय कदापि नहीं कि आर्य-समाज या ब्रह्म-समाज या अन्य अगणित पंथों के मानने वाले, कांग्रेस के फार्म पर हस्ताक्षर करते ही अपने- अपने धर्म को तिलांजलि दे दें। इसका आशय यह है कि साम्प्रदायिकता के रूप में जो राजनीतिक पाखंड फैलाया जाता है, उससे कांग्रेस वाले कोई सरोकार न रक्खें। उदाहरण के तौर पर देखिए-- आर्य-समाज या ब्रह्म-समाज यदि कांग्रेस के मन्तव्य के विरुद्ध हिन्दू-हितों की रक्षा के लिए एक डेपुटेशन ले जायं या कोई प्रस्ताव ही स्वीकृत करें, तो कांग्रेस वालों को उससे पृथक् होना पड़ेगा। जहां तक शुद्ध धर्म का संबंध है, कांग्रेस वाले भी अन्य प्राणियों की भांति स्वाधीन हैं, लेकिन ज्योंही धर्म राजनीति के क्षेत्र में कदम रक्खे, कांग्रेस वालों को उससे नाता तोड लेना चाहिए। कांग्रेस में दुर्भाग्यवश हिन्दू और मुस्लिम मनोवृत्तियों का अभी तक काफी जोर है। हिन्दू सभा के सैकड़ों ही यह उपासक इस आन्दोलन को इस समय कमजोर देखकर कांग्रेस में आ मिले हैं और यहां भी वही जहरीला असर फैला रहे हैं। अगर कांग्रेस में इस मनोवृत्ति को प्रोत्साहन न मिलता, तो पंथगत द्वेष कभी इतना भीषण रूप न धारण करता। हम से अधिकांश लोग अब भी कहने को तो कांग्रेसमैन हैं, इंकलाब की चीख मारते हैं, झंडे का गीन गला फाड़-फाड़ कर गाते हैं, लेकिन अंदर देखिए, तो राष्ट्रीयता छू नहीं गई। कानपुर में अगर हिन्दुओं ने अधिक मुसलमानों को मारा, या मुसलमानों ने हिन्दुओं का वध करने में बाजी मारी, तो वे संतुष्ट हैं। धर्म के संकीर्ण क्षेत्र के बाहर उनकी निगाह नहीं पहुंचती, वह या तो हिन्दू हैं, या मुसलमान, हिन्दुस्तानीपन का भाव उनसे कोसों दूर है। वे लोग मौके की ताक में हैं, ज्योंही जनता को धर्म की ओर झुकते देखेंगे, तुरन्त कांग्रेस से निकल भागेंगे, क्योंकि उन्हें तो लीडरी चाहिए, चाहे कांग्रेस से मिले या हिन्दूसभा में, या मुसलिम लीग में। हिन्दूसभा की लीडरी ज्यादा मूल्यवान है, क्योंकि रुचि भी तो उधर ही है। जब तक इस दूषित मनोवृत्ति का हम अंत न कर देंगे, जब तक अपना हिन्दू या मुसलमान होना भूल न जाएंगे, जब तक हम अन्य धर्मावलम्बियों के साथ उतना ही प्रेम न करेंगे जितना निज धर्म वालों के साथ करते हैं, सारांश यह कि जब तक हम पथजनित संकीर्णता से मुक्त न हो जाएंगे, इस बेड़ी को तोड़कर फेंक न देंगे, देश का उद्धार होना असम्भव है। कोई नहीं कहता कि आप नमाज न पढ़ें। नहीं जो मनुष्य धर्म-भाव शून्य है, वह राष्ट्रीयता के भाव से भी शून्य रहेगा। पाचों वक्त नमाज पढ़िए, रोजे रखिए, देवताओं की जितनी पूजा चाहे कीजिए, जितनी संध्या चाहे कीजिए, हवन की सुगंध से देश को सुगंधित कर दीजिए, मगर धर्म को राजनीति से गड़बड़ न कीजिए क्योंकि धर्म ईश्वर और मनुष्य के संबंध की वस्तु है। हम तो यहां तक कहते हैं कि अगर आपके धर्म में कुछ ऐसी बातें जो राष्ट्रीयता की परीक्षा में पूरी नहीं उतरती, सर्वदेशिक हितों में बाधक होती हैं, तो उन्हें त्याज्य समझिए। काफिर और म्लेच्छ का हमारे धर्म से नामोनिशान मिट जाना चाहिए। धर्म इतना उदार हो जाना चाहिए कि यदि हमारा पुत्र या स्त्री किसी दूसरे धर्म की अनुयायी हो जायं, तो हमें जरा भी शोक या ताप न हो। इसकी एकता में हमारे उद्धार की शक्ति है। हम इस प्रस्ताव का हृदय से स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि कांग्रेस के साम्प्रदायिक मनोवृत्ति वाले लीडरों के दिल पर उसका अच्छा असर पड़ेगा।

[संपादकीय। 'हंस', अप्रैल, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

राज-कर्मचारियों का पक्षपातपूर्ण व्यवहार

अनुचित पक्षपात तो सभी के लिए निंद्य है लेकिन राज-कर्मचारियों के लिए तो वह सर्वथा अक्षम्य है। अगर कोई हिन्दू अफसर वह हिन्दुओं का पक्षपात करके मुसलमानों का अहित करता है, तो वह हिन्दुओं के साथ घोर अत्याचार करता है। उसी तरह कोई मुसलमान अफसर पक्षपात की धुन में हिन्दुओं का गला घोंटे, तो वह इसलाम को बदनाम करता है। यह सच है कि ऐसे अफसरों को उनके मतवाले पूजने लगते हैं, उन्हें उसे अपनी जाति का उद्धारक समझते हैं, मगर कर्मचारियों को सदैव मत-मतांतर से ऊंचा रहना चाहिए। अनुचित पक्षपात करके वह यह सिद्ध कर रहे हैं कि अभी उनमें स्वराज्य की योग्यता नहीं आई। हमारे विचार में तो जब कभी किसी अफसर को पक्षपात करते देखा जाय, तो समझ लेना चाहिए कि वह भेदनीति का पालन कर रहा है और उसके जाल से हमें बचना चाहिए।

[संपादकीय। 'हंस', अप्रैल, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

राष्ट्रीय कार्यों में गुलामी

हमें यह देखकर महान दुःख होता है कि हमारे राष्ट्रीय कार्यों में अब भी अंग्रेजी का वही प्राधान्य है और महात्मा जी ने कांग्रेसी कार्यकर्ताओं का हिन्दी के विषय में जो उपदेश दिया था उस पर कान नहीं दिया गया। अन्य प्रान्त वाले अगर हमारे प्रान्त में अंग्रेजी का आश्रय लें, तो किसी हद तक क्षमा के पात्र हैं, मगर तुर्रा तो यह है कि इसी प्रान्त के कांग्रेसी कार्यकर्ता अंग्रेजी में पत्र-व्यवहार करना, अंग्रेजी में रिपोर्ट लिखना, अंग्रेजी में नोटिस प्रकाशित करना, अपने लिए शान समझते हैं। जब राष्ट्रीय नेताओं के हाथों राष्ट्र-भाषा का यह अनादर हो, तो किससे शिकायत की जाय। शायद भाषा में लिखना-पढ़ना हमारे कांग्रेसी नेताओं को भी अपनी मर्यादा के विरुद्ध जान पड़ता है। वह अपनी अंग्रेजी की योग्यता का प्रदर्शन करके जनता को शायद प्रभावित करना चाहते हैं। अगर उनकी यह मनोवृत्ति है, और इसके सिवा हो ही क्या सकती है, तो ऐसे सज्जन दया के पात्र हैं क्योंकि वह खुद अपनी मानसिक पराधीनता की डौंड़ी पीट रहे हैं। इसमें बहुत से अच्छी अंग्रेजी की योग्यता रखते हैं। वह दिल में सोचते होंगे, अगर हिन्दी में लिखा पढ़ा तो हमारे अंग्रेजी पढ़ने का क्या फल? यह भी हो सकता है कि उन्हें हिन्दी में लिखने का शऊर न हो। यदि ऐसा है तो जनता को चाहिए, ऐसे गुलाम तबीयत के लोगों का तिरस्कार करे। कांग्रेस जो कुछ अन्य देशों में प्रचार के लिए करती है, उसका अंग्रेजी में होना तो हमारी समझ में आता है। अन्य प्रान्तों में पत्र-व्यवहार करने के लिए भी अभी कुछ दिन अंग्रेजी का मुंह ताकना पड़ेगा। लेकिन जो बातें इसी प्रान्त तक रह जाती हैं, उनके लिए अंग्रेजी के दामन से मुंह छिपाना लज्जास्पद और राष्ट्रीय आदर्शों के सर्वथा प्रतिकूल है। कम से कम इस प्रान्त में जो लोग हिन्दी लिपि उतनी सरलता से नहीं लिख सकते, जितनी सरलता से वह अंग्रेजी लिख लेते हैं, उन्हें अपने ऊपर लज्जित होना चाहिए।

[संपादकीय। 'हंस', अप्रैल, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

शिक्षा-प्रणाली में एक आवश्यक सुधार

साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का सुधार कैसे हो? हमारे विचार में इसका एक साधन हमारे शिक्षा-पाठ्यक्रम में थोड़ी-सी तबदीली है। अभी तक हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे के रीति-नीति, विचार-व्यवहार, साहित्य और दर्शन से कोरे रहते हैं और गत कई वर्षों से यह पृथकता और भी बढ़ती जाती है। अभी बहुत दिन नहीं गुजरे कि हिन्दू बड़े शौक से उर्दू-फारसी पढ़ते थे। बड़े-बड़े संस्कृत के विद्वान् ब्राह्मण भी अपने लड़कों को फारसी-उर्दू पढ़ाया करते थे; पर गत पच्चीस-तीस वर्षों से परिस्थिति बहुत कुछ बदल गई है। अब हिन्दू उर्दू-फारसी का नाम नहीं लेता और मुसलमानों में तो रहीम और रसखान अकल्पनीय हो गए। ज्यों-ज्यों यह पृथकता बढ़ती जाती है, हमारी धार्मिक कूपमंडूकता भी बढ़ती जाती है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम एक-दूसरे का साहित्य पढ़ें, विचार समझें, उनके दृष्टिकोण को जानें। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए सबसे सुगम उपाय यह है कि हिन्दी-उर्दू नीचे से ऊपर तक लाजिमी कर दी जाए। तीसरी कक्षा से बी॰ ए॰ तक दोनों भाषाएं पढ़ाई जायं। भाषा के साथ-साथ एक-दूसरे की संस्कृति का परिचय भी छात्रों को हो जायगा और राष्ट्रीय एकता की जड़ मजबूत होगी। लिपि और शब्द-भेद का झगड़ा भी आसानी से मिट जायगा। हरेक शिक्षित मनुष्य एक-सी सरलता से हिन्दी-उर्दू दोनों ही लिख-पढ़ सकेगा। फिर आप चाहे अपनी दरखास्त जिस लिपि में लिखें, उसे कोई आपत्ति न होगी। 'जबान' की समस्या को हल करने का इसके सिवाय दूसरा उपाय नहीं है। साहित्य का मन पर कुछ न कुछ असर होता ही है, अगर अंग्रेजी साहित्य पढ़कर हम स्वाधीनता की दुहाई देते हुए भी अंग्रजी के गुलाम हैं, कोई वजह नहीं कि हिन्दी-उर्दू साहित्य का हमारे दिलों पर कोई असर न पड़े। हमें विश्वास है कि इस उपाय से दोनों जातियां निकटतर हो जायंगी। कुछ समय हुआ, मौलवी हामिदउल्लाह अफसर ने 'लीडर' में यह प्रस्ताव उपस्थित किया था और अगर 'लीडर' में प्रकाशित पत्रों से जनता की रुचि का अनुमान किया जा सकता है, तो हम कह सकते हैं कि शिक्षित समुदाय ने इस प्रस्ताव का समर्थन भी किया था। हम नहीं कह सकते, उसका शिक्षा के अधिकारियों पर कुछ असर पड़ा या नहीं, पर हममें से हरेक का कर्तव्य है कि वह इस प्रस्ताव का समर्थन करे और यदि अभी नहीं, तो स्वराज्य काल में शिक्षा-पद्धति में, सबसे पहले यही सुधार किया जाय। कहा जा सकता है कि अंग्रजी साहित्य पढ़कर तो हमारी अंग्रेजों से मैत्री नहीं हुई, फिर हिन्दी-उर्दू पढ़कर हिन्दू-मुसलमान कैसे मित्र हो जाएंगे। पंजाब में हिन्दू विशेष रूप से उर्दू पढ़ते-लिखते हैं, फिर भी मुसलमानों से उनका मेल नहीं, बल्कि वहां यह वैमनस्य और भी उग्र रूप धारण किए हुए है। इसके जवाब में कहा जा सकता है कि पंजाब में भी वैमनस्य उसी वक्त से बढ़ा है, जब से भाषा का भेद बढ़ा। जिस दिन लिपि की समस्या हल हो जायगी, उसी दिन वैमनस्य की जड़ कट जायगी। फिर अभी तक एकतरफा मुआमला है। हिन्दू तो उर्दू पढ़ते हैं, पर मुसलमान हिन्दी नहीं पढ़ते। क्या तुलसी और सूर की मनोहर वाणी का कुछ भी असर न होगा? हिन्दू आदर्शों का कुछ भी आकर्षण न होगा? एक दूसरे की संस्कृति के गुण क्या अपना जादू न डालेंगे? हिन्दू त्याग और बलिदान, मुसलिम मातृभाव और समता दिलों में कुछ भी जागृति न उत्पन्न करेगी? यों तो लड़ाई भाई-भाई और बाप-बेटे में भी होती है पर सभी बाप एक ओर सभी बेटे दूसरी ओर खड़े होकर लट्ठम-लट्ठ नहीं

करते। ऐसे व्यक्तिगत झगड़े सामूहिक रूप नहीं धारण करते। भारतवर्ष में जो जातिगत द्वेष है, वह हमारी राजनीतिक पराधीनता के कारण है। इसका पूरा-पूरा दमन तो स्वराज्य से ही होगा; लेकिन जिस बीमारी ने वर्षों तक समाज को खोखला किया है, क्या उसे आप एक-दो खुराकों में दूर कर सकते हैं? साम्प्रदायिक विद्यालय जिस युग के स्मारक हैं, क्या वह युग समाप्त हो गया है? जिस तरह विद्या मूर्खता से श्रेष्ठ है, चाहे विद्वानों में एक-एक शब्द पर लट्ठ ही क्यों न चल जाय, उसी भाँति दो जातियों में परस्पर प्रेम पैदा करने का एक साधन एक-दूसरे के साहित्य का पढ़ना है, चाहे इसका अपवाद ही क्यों न नजर आए।

[संपादकीय। 'हंस', अप्रैल, 1931 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

स्वार्थांधता की पराकाष्ठा

धर्मनिष्ठा को किस भाँति द्वेष के रूप में बदला जाता है, इसकी एक मिसाल इसी प्रान्त के एक नगर में मिली है। एक मुसलमान गुंडा कुरान शरीफ से एक वरक फाड़ और उसमें विष्ठा भरकर एक मसजिद में फेंक रहा था। सौभाग्य से रंगे हाथों ही पकड़ लिया गया और जनता ने उसकी मरम्मत भी खूब की, मगर यह संयोग की बात है कि उसका उद्देश्य पूरा न हुआ। अगर वह अपना काम कर जाता, तो निस्संदेह हिन्दुओं पर इसका इलजाम आता और संभव था, आपस में दंगा भी हो जाता। मुसलमान गुंडे ने क्यों यह नीचता की, इसका कारण सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इससे पता चलता है कि धार्मिक आघात पहुंचाकर किस भाँति हिन्दू-मुसलिम विरोध की आग भड़काई जाती है। यह तो कल्पना ही न की जा सकती थी कि किसी मुसलमान ने यह हरकत की होगी, हिन्दू ही पर शुबहा होता और हिन्दुओं से बदला लेने की चेष्टा की जाती। हम स्वार्थांध होकर इतने नीचे गिर सकते हैं !

[संपादकीय। 'हंस', अप्रैल, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

हमारे नेताओं की बहकी बातें

कभी-कभी हमारे विचारशील नेता भी कोई मौलिक उक्ति निकालने की धुन में ऊटपटांग बकने लगते हैं। मौलाना शौकतअली ने तो दीवाने मुल्ला का रूप धर लिया है। आपने अपने एक व्याख्यान में कहा–"मैं एक लाख गांधियों से अकेला लड़ने को तैयार हूं। एक दूसरे अवसर पर आपने लाख की संख्या को करोड़ तक पहुंचा दिया। हम नहीं समझते, इस तरह के उन्मत्त प्रलाप से मौलाना का मंशा क्या है। यदि वह अपने अलौकिक बाहुबल का प्रदर्शन करना चाहते हैं, तो ऐसे वाक्यों से उनकी दुर्बलता और भी प्रकट होती है। महात्मा गांधी की शक्ति उनके बाहुबल में नहीं, उनके आत्मबल में है, जिसने भारतीय सरकार तक को हिला दिया है और जो निकट भविष्य में मुसलिम लीडरी भी उनके हाथों से छीन लेगी। जमाने का रुख कहे देता है कि जो लोग राष्ट्रीयता से द्रोह करेंगे उन्हें मुंह की खानी पड़ेगी। वह दिन अब लदा जा रहा है, जब पृथकता और मुसलिम हितों का सब्जबाग दिखाकर मुसलिम जनता को ठगा गया था। अब जनता समझने लगी है कि भारत में हिन्दू और मुसलमान दोनों एक ही नाव पर सवार हैं। डूबेंगे, तो दोनों साथ डूबेंगे। पार लगेंगे तो दोनों साथ पार लगेंगे। कानपुर का

दंगा, हमें विश्वास है, हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य का अंतिम उच्छ्वास था। आज नेशनलिस्ट मुसलमान समस्त भारतवर्ष में संगठित हो रहे हैं और शीघ्र ही दुनिया देखेगी कि पृथकता के उपासकों में सरकार के पिट्ठुओं को सिवा और कोई नहीं है।

अगर मौलाना शौकतअली ने इस प्रलाप से अपने को हास्यास्पद बना लिया है तो सरदार पटेल ने भी गुजरात में एक दूसरे तरह के प्रलाप से अपनी अनम्रता प्रकट की है। आपने एक व्याख्यान में फरमाया—"भारत में घोर संग्राम छिड़ने वाला है और जिन्हें अपनी जान प्यारी हो, उन्हें भारत से प्रस्थान कर जाना चाहिए।" सरदार पटेल को चाहे जान प्यारी न हो, लेकिन और तो सभी मनुष्यों को अपनी जान प्यारी होती है और जिसको जान जितनी प्यारी होती है, वह उस व्यवस्था को लाने में उतने ही उत्साह और त्याग से योग देता है, जिसमें जीवन अधिक सुखी हो। स्वराज्य के लिए हम इसीलिए लड़ रहे हैं कि हमें अपनी जान प्यारी है और हम उसे ऐसी परिस्थिति में देखना चाहते हैं, जहां वह स्वच्छन्द रूप से उन्नति कर सके। जो मर जाना ही अपने लिए शुभ समझता है, वह स्वराज्य में कदापि योग नहीं दे सकता। फिर सरदार साहब को जान प्यारी नहीं है, यह कौन कह सकता है? अभी दो साल पहले वह वकालत करते थे, विलायत कानून पढ़ने गये थे, इसीलिए कि जान प्यारी थी। अगर दो साल से उन्हें विशेष जागृति हो गई है, तो क्या ऐसा नहीं हो सकता कि जिन पर वह आज लांछन लगा रहे हैं कल उन्हें भी यही जागृति प्राप्त हो जाय। जिन परिस्थितियों में आपका अधिकांश जीवन बीता है, उन्हीं परिस्थितियों में और बहुत से लोग आज भी अपना जीवन काट रहे हैं। अगर आप उनसे पहले चौंक पड़ें, तो आपको उन पर कटाक्ष करने का अधिकार नहीं है। आपको चाहिए उन्हें अपने पुरुषार्थ और तप से सचेत करें, उन पर फिकरे चुस्त करके आप उनका दिल दुखाने के सिवा और कुछ नहीं कर सकते। फिर आप यह क्यों समझते हैं कि स्वराज्य का ठेका आपने ही लिया है। जिस तरह आप स्वराज्य के इच्छुक हैं, उसी तरह और लोग भी हैं। शायद ही कोई ऐसा अधम प्राणी हो, जो स्वराज्य का प्रेमी न हो। आप में ज्यादा शक्ति और साहस है, आप शस्त्र लेकर मैदान में आ जाते हैं, लेकिन क्या जो आदमी आनाज और गोली-बारूद और वर्दी-कपड़े से आपकी सहायता कर रहा है वह किसी गिनती में ही नहीं? कांग्रेस ने इस संग्राम में करोड़ों खर्च किया होगा। यह रुपये सरदार पटेल के घर से नहीं निकले, यह पब्लिक ने प्रदान किये थे। इस धन के सिवा स्वराज्य का आंदोलन एक दिन भी न चल सकता। नम्रता योद्धाओं का शृंगार है। डींग मारना और दूसरों पर आवाजें कसना, उनकी शान के खिलाफ है।

[संपादकीय। 'हंस', अप्रैल, 1931 में प्रकाशित। 'प्रेमचन्द का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 में संकलित।]

नये सहयोगियों का स्वागत

मासिक 'त्यागभूमि' को साप्ताहिक रूप में देखकर हमें कुछ विशेष आनन्द नहीं हुआ। 'त्यागभूमि' ने मासिक पत्रिकाओं में विशेष स्थान प्राप्त कर लिया था। उसने अपने लिए एक नया क्षेत्र निकाल लिया था। साप्ताहिक तो इस ढंग के और भी कितने ही हैं फिर भी यह समझकर कि साप्ताहिक रूप में पत्रिका की उपयोगिता और बढ़ गई होगी, हम इसका स्वागत करते हैं। 'अभ्युदय' में कुछ दिनों से सजीवता के लक्षण नज़र आने लगे हैं। उसका

गेटअप, लेखों की शैली और साहित्यिक रंग में उसमें एक नई स्फूर्ति डाल दी है। प्रत्येक अंक में दो-एक अच्छे लेख पढ़ने को मिल जाते हैं। हमारे खयाल में साप्ताहिक पत्रों में खबरें देने के मोह को छोड़ देना चाहिए, खासकर ऐसी खबरें जिनका हमसे कोई सम्बन्ध नहीं। 'प्रेमा' का नया अंक 'हास्यांक' के रूप में निकाला और सुन्दर निकला है। मगर टाइटल पर 'हास्य'के देवता का जो चित्र दिया गया है वह कुछ जंचता नहीं। हरिऔध की 'ब्रजभाषा में हास्य-रस' शीर्षक लेख बड़ा ही मनोरंजक और भावपूर्ण है।

[संपादकीय। 'हंस', मई, 1931 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 में संकलित।]

साहित्य में समालोचना

साहित्य में समालोचना का जो महत्त्व है उसकी बयान करने की ज़रूरत नहीं। सत्-साहित्य का निर्माण बहु गम्भीर समालोचना पर ही मुनहसर है। योरप में इस युग को समालोचना का युग कहते हैं। वहां प्रतिवर्ष सैकड़ों पुस्तकें केवल समालोचना के विषय की निकलती रहती हैं, यहां तक कि ऐसे ग्रन्थों का प्रचार, प्रभाव और स्थान क्रियात्मक रचनाओं से किसी प्रकार घटकर नहीं है। कितने ही पत्रों और पत्रिकाओं में स्थायी रूप से आलोचनाएं निकलती रहती हैं, लेकिन हिन्दी में या तो समालोचना होती ही नहीं या होती है तो द्वेष या झूठी प्रशंसा से भरी हुई अथवा ऊपरी, उथली और बहिर्मुखी। ऐसे समालोचक बहुत कम हैं जो किसी रचना को तह में डूबकर उसका तात्त्विक, मनोवैज्ञानिक विवेचन कर सकें। हां, कभी-कभी प्राचीन ग्रन्थों की आलोचना नज़र आ जाती है जिसे सही मानों में समालोचना कह सकते हैं, मगर हम तो इसे साहित्यिक मुर्दापरस्ती कही कहेंगे। प्राचीन कवियों और साहित्याचार्यों का यशगान हमारा धर्म है, लेकिन जो प्राणी केवल अतीत में रहे, पुरानी सम्पदा का ही स्वप्न देखता रहे और अपने सामने आने वाली बातों की तरफ से आंखें बन्द कर ले, वह कभी अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है, इसमें हमें संदेह है। पुरानों ने जो कुछ लिखा है, सोचा और किया, वह पुरानी दशाओं और परिस्थितियों के अधीन किया। नये जो कुछ लिखते, सोचते या कहते हैं वह वर्तमान परिस्थितियों के अधीन करते हैं। इनकी रचनाओं में वही भावनाएं और आकाक्षाएं होती है जिनसे वर्तमान युग आन्दोलित हो रहा है। यदि हम पुराने विशाल खंडहरों ही को प्रतिमा की भांति पूजते रहें और अपनी नई झोंपड़ी की बिल्कुल चिन्ता न करें तो हमारी क्या दशा होगी, इसका हम अनुमान कर सकते हैं।

आइए देखें, इस अभाव का कारण क्या है। हिन्दी-साहित्य में ऐसे लेखकों की ईश्वर की दया से कमी नहीं है जो संसार-साहित्य से परिचित हैं, साहित्य के मर्मज्ञ हैं, साहित्य के तत्त्वों को समझते हैं। साहित्य का पथ प्रदर्शन उन्हीं का कर्त्तव्य है। लेकिन या तो वे हिन्दी पुस्तकों की आलोचना करना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं या उन्हें हिन्दी-साहित्य में कोई चीज आलोचना के योग्य मिलती ही नहीं या फिर हिन्दी भाषा उन्हें अपने गहरे विचारों को प्रकट करने के लिए काफी नहीं मालूम होती है। इन तीनों ही कारणों में कुछ-न-कुछ तत्त्व हैं, मगर इसका इलाज क्या हिन्दी-साहित्य से मुंह मोड़ लेना है? क्या आंखें बन्द करके बैठ जाने से ही सारी विपत्ति-बाधाएं टल जाती हैं? हमें साहित्य का निर्माण करना है, हमें हिन्दी को भारत की प्रधान भाषा बनाना है, हमें हिन्दी-द्वारा राष्ट्रीय एकता की जड़ें जमाना

है। क्यों इस तरह उदासीन हो जाने से ये उद्देश्य पूरे होंगे? योरोपीय भाषाओं की इसलिए उन्नति हो रही है कि वहां दिमाग और दिल रखने वाले व्यक्ति उससे दिलचस्पी रखते हैं, बड़े-बड़े पदाधिकारी, लीडर, प्रोफेसर और धर्म-आचार्य साहित्य की प्रगति से परिचित रहना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। यही नहीं बल्कि अपने साहित्य से प्रेम उनके जीवन का एक अंग है, उसी तरह जैसे अपने देश के नगरों और दृश्यों की सैर। लेकिन हमारे यहां चोटी के लोग देशी साहित्य की तरफ ताकना भी हेय समझते हैं। कितने ही तो बड़े रोब से कहते हैं? हिन्दी में रखा ही क्या है ! अगर कुछ गिने-गिनाये लोग हैं भी तो वे समझते हैं कि इस क्षेत्र में आकर हमने एहसान किया है। वे यह आशा रखते हैं कि हिन्दी संसार उनकी हर एक बात को आंखें बन्द करके स्वीकार करे उनके कलम से जो कुछ निकले, ब्रह्मवाक्य समझा जाय। शायद वे समझते हैं, मौलिकता उपाधियों से आती है। वे यह भूल जाते हैं कि बिरला ही कोई उपाधिधारी मौलिक होता है। उपाधियां जानी हुई, और पढ़ी हुई बातों के प्रदर्शन से या परिवर्तन से मिलती है। मौलिकता इसके सिवा और कुछ भी है। अगर कोई 'डॉक्टर' या 'प्रोफेसर' लिखे तो शायद ऊंचे मस्तिष्क वालों की यह बिरादरी उसका स्वागत करे। लेकिन दुर्भाग्यवश हिन्दी के अधिकांश लेखक न डॉक्टर हैं, न फिलासफर, फिर उनकी रचनाएं कैसे सम्मान पायें, और कैसे आलोचना के योग्य समझी जायं? किसी वस्तु की प्रशंसा तो और बात है।, निन्दा भी कुछ-न-कुछ उसका महत्त्व बढ़ाती है वह निन्दा के योग्य तो समझी गई ! हमारी यह दिमाग वालों की बिरादरी किसी रचना की प्रशंसा तो कर ही नहीं सकती क्योंकि इससे उसकी हेठी होती है? दुनिया कहेगी, यह तो शॉ और शेली शिलर की बातें किया करते थे, उस आकाश से इतने नीचे कैसे गिर गए ! हिन्दी में भी कोई ऐसी चीज हो सकती है, जिसकी ओर वे आंखें उठा सकें, यह तो उनकी शिक्षा और गौरव के लिए लज्जास्पद है। बेचारे ने तीन वर्ष पेरिस और लन्दन की खाक छानी, इसीलिए कि हिन्दी-लेखकों की आलोचना करे ! फारसी पढ़कर भी तेल बेचे ! हम ऐसे कितने ही सज्जनों को जानते हैं जो डॉक्टर या डी लिट्० होने के पहले हिन्दी में लिखते थे, लेकिन जब से डॉक्टरेट की उपाधि मिली, वह पतंग की भांति आकाश में उड़ने लगे। आलोचना साहित्य की उनके द्वारा पूर्ति हो सकती थी क्योंकि रचना के लिए चाहे विशेष शिक्षा की जरूरत न हो आलोचना के लिए संसार साहित्य से परिचित होने की जरूरत है। हमारे पास कितने ही युवक लेखकों की रचनाएं, प्रकाशित होने के पहले, सम्मति के लिए आती रहती हैं। लेखकों के हृदय में भाव है मस्तिष्क में विचार हैं कुछ प्रतिभा है, कुछ लगन, कुछ संस्कार? उसे केवल एक अच्छे सलाहकार की जरूरत है। इतना सहारा पाकर वह कुछ से कुछ हो जा सकता है, लेकिन यह सहारा उसे नहीं मिलता। न कोई ऐसे व्यक्ति हैं, न समिति, न मण्डल। केवल पुस्तक-प्रकाशकों की पसन्द का भरोसा है। उसने रचना स्वीकार कर ली, तो खैर, नहीं तो सारी की कराई मेहनत पर पानी फिर गया ! प्रेरक शक्तियों में यशोलिप्सा शायद सबसे बलवान है। जब यह उद्देश्य भी पूरा नहीं होता, तो लेखक कन्धा डाल देता है और इस भांति न जाने कितने गुदड़ी के रत्न छिपे रह जाते हैं। या फिर वह प्रकाशक महोदय के आदेशानुसार लिखना शुरू करता है और इस तरह नियन्त्रण न होने के कारण, साहित्य में कुरुचि बढ़ती जाती है। इस तरफ जैनेन्द्रकुमारजी की 'परख', प्रसादजी का 'कंकाल', प्रतापनारायणजी की 'विदा', निरालाजी की 'अप्सरा', वृन्दावनलालजी की 'गढ़कुण्डार' आदि कई सुन्दर रचनाएं प्रकाशित

हुई हैं। मगर इनमें से एक भी गहरी, व्यापक, तात्त्विक आलोचना नहीं निकलती। जिन महानुभावों में ऐसी आलोचना की सामर्थ्य थी, उन्हें शायद इन पुस्तकों की खबर भी नहीं हुई। इनसे कहीं घटिया किताबें अंग्रेजी में निकलती रहती हैं और उन्हें ऊंची बिरादरी वाले सज्जन शौक से पढ़ते और संग्रह करते हैं; पर इन रत्नों की ओर किसी का ध्यान आकृष्ट न हुआ। प्रशंसा न करते, दोष तो दिखा देते, ताकि इनके लेखक आगे के लिए सचेत हो जाते, पर शायद इसे भी वे अपने लिए जलील समझते हैं। इंगलैण्ड का रेम्जे मैक्डोनल्ड या बौनर ला अंग्रेजी-साहित्य पर प्रकाश डालने वाला व्याख्यान दे सकता है, पर हमारे नेता खद्दर पहनकर अंग्रेजी लिखने और बोलने में अपना गौरव समझते हुए, हिन्दी-साहित्य का क-ख ग भी नहीं जानते। यह इसी उदासीनता का नतीजा है कि 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा' जैसा भावशून्य गीत हमारे राष्ट्रीय जीवन में इतना प्रचार पा रहा है। 'वन्दे मातरम्' को यदि 'विजयी विश्व' के मुकाबले में रखकर देखिए, तो आपको विदित होगा कि आपकी लापरवाही ने हिन्दी-साहित्य का आदर्श से कितना नीचे गिरा दिया है। जहां अच्छी चीज की कद्र करने वाले और परखने वाले नहीं हैं, वहां नकली, घटिया, जटियल चीजें ही बाजार में आवें, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। वास्तव में हमारे यहां साहित्यिक जीवन का पता ही नहीं। नीचे से ऊपर तक मुर्दनी-सी छाई हुई है। यही मुख्य कारण है कि हिन्दी लेखकों में बहुत-से ऐसे लोग आ गए हैं जिनका स्थान कहीं और था। और, जब तक शिक्षित समुदाय अपने साहित्यिक कर्त्तव्य की यों अवहेलना करता रहेगा, यही दशा बनी रहेगी। जहां साहित्य-सम्मेलन जैसी सार्वजनिक संस्था के सदस्यों की कुछ संख्या दो सौ से अधिक नहीं, वहां का साहित्य बनने में अभी बहुत दिन लगेंगे।

[सम्पादकीय। 'हंस' मई 1931 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 में संकलित।]

स्वराज्य मिलकर रहेगा

कभी कभी देश को देखकर हम स्वराज्य की निराश हो जाते हैं। जहां हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे की गर्दन काटने पर तुले हैं, जहां किसान और जमींदार में संघर्ष है, अछूतों और वर्ण वालों में संघर्ष है, वहां स्वराज्य के विषय में शंकाओं का होना स्वाभाविक है। लेकिन इन सब बाधाओं के होते हुए भी स्वराज्य के पक्ष में एक ऐसी बलवान शक्ति है, जिसके सामने यह बाधाएं बहुत दिनों तक नहीं ठहर सकतीं और वह शक्ति है समय की प्रगति या संसार का जनमत। संसार ने चाहे और किसी विषय में उन्नति की हो या नहीं, लेकिन शासन व्यवस्था के सिद्धांतों में पिछले बीस वर्षों में एक क्रांति-सी हो गई है। आज कोई शक्तिशाली राष्ट्र किसी निर्बल राष्ट्र पर प्रभुत्व जमाने के लिए कोई न कोई बहाना ढूंढ़ने पर मजबूर है। वह नि:शंक होकर यह कहने का साहस नहीं रखता कि हमने इस देश को जीता है, और तलवार के जोर से अपने अधीन रखेंगे। यदि वह ऐसा कहे तो संसार में उसके विरुद्ध ऐसा तूफान उठ खड़ा होगा कि उसे प्राण रक्षा के लिए कहीं पनाह न मिलेगी। सबल स्वार्थ का महन संसार अब नहीं कर सकता। आज चर्चिल या रादर मियर या साम्राज्यवाद का कोई दूसरा उपासक भारत पर कोई आक्षेप करता है, कोई दिल दुखाने वाली बात करता है तो उस पर चारों तरफ से बौछारें पड़ने लगती हैं, यहां तक कि चर्चिल के दल का नेता भी उसका

समर्थन नहीं करता। अब अंग्रेज व्यापारी भी ज्यादा से ज्यादा यही मांगते हैं कि उन्हें हिन्दुस्तान में हिन्दुस्तानियों के बराबर ही हक मिले। कर्जों के विषय में भी यह निश्चित-सा है कि भारत के सिर ऐसे कर्ज नहीं मढ़े जा सकते जो भारत के हित न लिए गए हों। सारांश यह कि यह युग स्वराज युग है, जनता एकाधिपत्य को सहन नहीं कर सकती, चाहे वह स्वदेशी ही क्यों न हो। जैसा लार्ड इर्विन ने हाल में इंग्लैण्ड में कहा है–'प्रभुत्व का आदर्श अब नहीं रहा, यह साझेदारी के आदर्श का युग है।' भारत अगर अंग्रेजी साम्राज्य में रह सकता है तो गुलाम बनकर नहीं; बराबर का साझेदार बनकर। अगर आज भारत में जातिगत वैमनस्य बढ़ता है तो उसकी जिम्मेदारी भी सरकार ही के सिर पड़ती है। अधिकारी मण्डल को कानपुर में ऐसा कड़वा अनुभव हुआ है कि शायद ऐसे अवसरों को दूर रखने में वह कभी इतनी गफलत न करेगा। हिन्दू-मुसलमानों में मेल रहे इसकी भी सरकार को फिक्र रखनी होगी। क्योंकि वैमनस्य की जिम्मेदारी उसके सिर ही पड़ती है और अब संसार को यह धोखा नहीं दिया जा सकता कि अंग्रेजी राज्य का रहना इसलिए जरूरी है कि हिन्दू-मुसलमान एक-दूसरे को फाड़ न खायं। इस तरह की आवाज चाहे किसी तरफ से उठे, वह सरकार द्वारा प्रेरित समझ ली जाती हैं और उसका प्रभाव मिट जाता है। अतएव सरकार के हाथ में यह जो भेद का आखिरी हथियार था वह भी निकम्मा हो गया, उसकी सारी बातें खुल गईं। अब भारत या संसार साम्प्रदायिक विद्वेषों से मुगालते में नहीं डाला जा सकता। उधर किफायत की जरूरत और खर्च पूरा करने के लिए ऊंचे अधिकारियों को न तोड़कर करों का बढ़ाना और छोटे-छोटे अमलों का तकलीफ करना, यह सभी बातें लोगों की स्वराज्य-लालसा को उत्तरोत्तर तीव्र करती जा रही हैं। देश को अपनी सारी, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक बीमारियों की एक ही अमोघ औषधि देख पड़ रही है और वह 'स्वराज्य' है और संसार का जनमत उसके साथ है। इंग्लैण्ड के पास अगर अब कोई शक्ति बच रही है तो वह प्रोपेगंडा है। अनुभव ने बतला दिया है कि एक मिस मेयो भारत को संसार की आंखों में इतना गिरा सकती है कि सारे देश का संयुक्त प्रयास भी अब उसे वहां से उठाने में सफल नहीं होता। हमें ऐसी मिस मेयो और उसी थैली के चट्टों-बट्टों से भारत की रक्षा करनी है। अगर ऐसे अवसर पर हमारे कुछ वक्तृता, कुशल, प्रभावशाली नेता (सरोजिनी नायडू की भांति) अमेरिका भ्रमण करें, उसके साथ ही यह प्रयास भी किया जाय कि फिल्मों द्वारा भारतीय संस्कृति का शुद्ध और यथार्थ रूप संसार के सामने रखा जाय, तो हमें विश्वास है, देश का बड़ा कल्याण होगा।

[संपादकीय। 'हंस', मई, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

कुछ अपने विषय में

'हंस' का एक वर्ष समाप्त हो गया। हम इसके बारह अंक निकाल सके, इसकी बधाई हमें दूसरे दें, या न दें, हम स्वयं अपने आपको बधाई दिये लेते हैं। जिन उद्देश्यों के साथ वह क्षेत्र में उतरा था, उन्हें हमने कहां तक पूरा किया, इसका निर्णय पाठक करें। हम तो यही कह सकते हैं कि हमने अपनी ओर से कोई ढीलापन नहीं किया। हमें आर्थिक हानि हुई, राजनैतिक दंड भी भोगना पड़ा, पर हमने हिम्मत न हारी हम अपनी त्रुटियों को जानते हैं और यथाशक्ति उनको दूर करने की चेष्टा कर रहे हैं। कुछ सज्जनों की सलाह है कि 'हंस' में

आदि से अंत तक कहानियों के सिवाय कुछ न हो। यह प्रधानरूप से कहानियों की पत्रिका न रहकर पूर्ण रूप से हो जाय। कछ सज्जन मुक्ता-मंजूषा और इसकी टिप्पणियों को कायम रखना चाहते हैं और पत्रिका को एकांगी नहीं बनाना चाहते। हम खुद अभी तक कुछ निश्चय नहीं कर सके। हम अपने प्रेमी पाठकों से अनुरोध करते हैं कि वह इस विषय में अपनी सम्मति प्रदान करके हमारे पथ को निश्चित कर दें। हमें इसका खेद भी है कि हम मौलिक कहानियों की संख्या और अधिक न बढ़ा सके। हम अपने नौजवान दोस्तों से आशा करते हैं कि वह अपने नये रक्त और उत्साह से साहित्य के इस अंग की पूर्ति करेंगे। हम हर एक नये लेखक को प्रोत्साहित करने को तत्पर हैं। हां, यह अवश्य चाहते हैं कि जो सज्जन इस मैदान में आएं, वह एक आदर्श लेकर आएं और साहित्य रचना को बच्चों का खेल न समझें। पश्चिम वालों के प्रभाव में आकर हम लोग भी शृंगार-प्रधान कहानियां लिखने ही में कला का विकास समझते हैं। कुछ लोग जीवन के नग्न चित्रों को खींचना ही साहित्य का ध्येय समझ बैठे हैं, किन्तु मानव जीवन में ऐसे अनेक भाव हैं, जिनका पाठक पर इससे कहीं अच्छा असर पड़ सकता है। मोटी बात इतनी है कि जो कुछ लिखा जाय, आत्मा से और आत्मा के लिए लिखा जाय।

पाठकों से किसी प्रकार की सहायता मांगना, हम अपना अधिकर नहीं समझते। हम जब साहित्य-क्षेत्र में आए थे तो पाठकों से पूछकर न आए थे। हमें साहित्य में एक मिशन पूरा करना था, उसे पूरा करने का प्रयत्न कर रहे हैं। पाठकों को यदि हमारे उद्देश्यों से सहानूभृति है, तो वह स्वयं हमारी सहायता करेंगे। अगर नहीं, तो हमारा कहना व्यर्थ है। हमने अपने सामने जो आदर्श रक्खा है, वह हमारा उत्साह बढ़ाता रहने के लिए काफी है। हम घाटे-नफे के कायल नहीं, जिसे ईश्वर ने जिस योग्य बनाया हो, उस कर्त्तव्य को पालन करना उसका धर्म है और धर्म व्यवसाय की वस्तु नहीं।

[सम्पादकीय। 'हंस', जून, १९३१ में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग ३ में संकलित।]

गोरी जातियों का प्रभाव क्यों कम हो रहा है

लार्ड इर्विन से किसी ने हाल में एक जलसे में पूछा- अंग्रेजों के प्रति भारतवासियों को इतना अविश्वास और अप्रतिष्ठा कब से हुई है और इसके क्या कारण हैं? इसका लार्ड इर्विन ने जो उत्तर दिया, वह विचार करने योग्य है। आपने फर्माया, गोरी जातियों की प्रतिष्ठा तो उसी वक्त उठ गई जब जापान ने रूसियों पर विजय पाई। और कारण है, यूरोपीय महासमर में भारतवासियों का सम्मिलित होना और सिनेमा का भारत में प्रचार। इसका अर्थ यह है कि भारतवासियों को ज्यों-ज्यों गोरों के आंतरिक जीवन का परिचय मिलता जाता है, गोरों का प्रभाव मिटता जाता है। महासमर ने इतना ही नहीं सिद्ध कर दिया कि परुषार्थ और साहस में भारत वाले गोरों से जौ भर भी कम नहीं हैं, बल्कि यह भी सिद्ध कर दिया कि गोरे न्याय और धर्म और नीति और शिष्टता के पुतले नहीं हैं, जैसे वह भारत में बन जाते हैं। चाहिए तो था कि गोरों का रण-कौशल, उनका महान् संघठन, उनका दैविक धैर्य, उनकी नीति-परायणता और उदारता देखकर भारत वाले दिल में उनके कायल हो जाते, पर ऐसा नहीं हुआ। भारत वालों ने देखा कि यह लोग भी हमारे ही जैसी दुर्बलताओं से भरे हुए मनुष्य हैं, जो संकट

पड़ने पर धर्म को ताक पर रख देते हैं, जो विजय-पाने के लिए अनीति और अनाचार के पिशाच बन जाते हैं, जो नीच स्वार्थ के प्रवाह में सद्भावों को भूल जाते हैं। सारांश यह कि जिन गुणों के बल पर गोरे दूसरों पर राज करते हैं, उनमें से एक भी मौजूद नहीं और भारत मे उनका जो रूप नजर आता है, वह बना हुआ है। चरित्र बल से ही एक जाति दूसरी जाति पर आतंक जमा सकती है। पशुबल से स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सकता। भारतवासियों ने देखा कि यह चरित्र-बल गौरांगों में नाम को भी नहीं है। किसी जाति का चरित्र उसके गिने-गिनाए महापुरुषों के आचरण से नहीं सिद्ध होता, बल्कि जन-साधारण के व्यवहार से। जिन देशों की जनता शराब को पानी की भाँति पीती हो, चाय को जीवन का आधार समझती हो, वह बहुत संस्कृत नहीं हो सकती। लड़ाइयों में जब गोरे लोग विजय पा जाते हैं, तो पराजितों के साथ कितना अमानुषीय व्यवहार करते हैं, यह जानी हुई बात है। भारत में तो गोरे सोलजरों का यह हाल है कि जिस इलाके में इनका पड़ाव पड़ जाता है, वहां स्त्रियों का राह चलना बंद हो जाता है। सीधे बोलना तो वह जानते ही नहीं। गोरे ही क्यों हमारे सिविलियनों का भी यही हाल है। वह इतने मगरूर, इतने विनयशून्य, इतने अक्खड़ होते हैं, कि कोई शरीफ हिन्दुस्तानी गल्ला दबने ही पर उनसे मुलाकात करने जाता है। उनसे मिलने में भारत वालों को ऐसा अनुमान होता है कि वह अपनी आत्मा का खून कर रहे हैं। उनके सत्संग से शुभ प्रभाव लेकर तो शायद ही कोई लौटता हो। जो मिलता है, वह तीसमारखां बना हुआ, ऐसा रूप बनाए हुए मानो वह अभी आकाश से उतरा है। महासमर ने इस भ्रम का निवारण कर दिया। भारतीयों को गोरों के साथ मिलने का, सोने का, बरतने का अवसर मिला और उन्होंने गोरों को जितना ही अन्दर से देखा, उतनी ही उन्हें अश्रद्धा होती गई।

मगर सिनेमा ने तो परदा और भी फास कर दिया। जो ढका हुआ था, वह भी खुल गया। महासमर में तो पन्द्रह लाख से ज्यादा आदमी नहीं गये। सिनेमा तो इससे कहीं ज्यादा आदमी नित्य देखते हैं। हालांकि कोशिश की जाती है कि यूरोप और अमेरिका के अच्छे ही फिल्म भारत में आएं। फिल्मों का नियमित रूप से संसर होता है, एक बाकायदा महकमा ही इस काम के लिए खुला हुआ है। अभी हाल में सिनेमा इन्क्वायरी कमेटी तहकीकात कर चुकी है, लेकिन फिर भी जो फिल्म आते हैं, उनका असर यह होता है कि भारतीयों को गोरे जीवन के कुछ ऐसे दृश्य देखने में आते हैं कि उनके दिल में उस जाति के प्रति घृणा भाव उत्पन्न होते हैं। और यह उस जाति का हाल है जो दुनिया को तहजीब सिखाने का दावा करती है उसी जाति की एक मिस मेयो आकर भारतीय जीवन के कुछ कलुषित अंगों की तस्वीर खींचती है तो गोरी जातियों को रोमांच होने लगता है। अगर गोरों का जीवन आदर्श होता, तो उसमें ऐसी खूबियां होतीं कि दूसरों के दिल में उससे भक्ति और सम्मान का संचार होता है तो उसका यह उल्टा असर क्यों होता? पर बात यह नहीं है। गोरों ने आदि से ही प्रेम के बल पर नहीं, आतंक के बल पर संसार पर प्रभुत्व जमाया है। वह कालों की नजरों में अपने ऐबों को छिपाकर अपनी नीतिमत्ता की साख बिठाए हुए थे और अब आधुनिक आविष्कारों ने उस परदे का ढका रहना मुश्किल कर दिया है। एक दिन था, जब भारत वाले गोरों को देवता समझते थे। तब आमदौरफ्त की इतनी सुविधाएं न थीं और गोरांगों को अपने काले दागों का छिपाना आसान था, पर अब वह दाग छिपाए नहीं छिपते, बल्कि उल्टे और स्पष्ट हो रहे हैं। गोरी जातियों को अब अगर कालों की प्रतिष्ठा का पात्र बनना है तो परदे में छिपकर नहीं,

स्वामी बनकर नहीं, भाई बनकर ही सम्भव है। पश्चिमी सभ्यता का दिवाला हो रहा है। एक दूसरे महासमर के बादल मंडला रहे हैं। अगर भविष्यवाणी सत्य निकली तो संसार में उस सभ्यता की यादगार केवल मिलों के टूटे-फूटे चिह्न और संसार के कोष में संघर्ष का सिद्धांत मात्र रह जायंगे।

[सपादकीय। 'हंस', जून, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

देश की वर्तमान परिस्थिति

देश में इस समय आर्थिक संकट के कारण, जो दशा उपस्थित हो गई है, उसे जल्द न संभाला गया तो बड़े भारी उपद्रव की आशंका है। महात्मा गांधी क्रान्ति नहीं चाहते और न क्रान्ति से आज तक किसी जाति का उद्धार हुआ है। महात्मा जी ने हमें जो मार्ग बतलाया, उससे क्रान्ति की भीषणता के बिना ही क्रान्ति के लाभ प्राप्त हो सकते हैं, लेकिन एक ओर सरकार और उसके पिट्ठू जमींदार और दूसरी ओर हमारे कुछ तेजदम और जोशीले कार्यकर्ता नादिरशाह बने हुए क्रान्ति के सामान पैदा कर रहे हैं। सरकार से तो हमें शिकायत नहीं। जो चीज हमारे काम न आए, उसे नष्ट कर देना भी राजनीति का एक सिद्धांत है। शत्रु को बढ़ते देखकर फसल को जलाना, कुओं में विष डाल देना और घास को जला देना, हारने वाले दल की पुरानी नीति है। इसी नीति से रूसियों ने नेपोलियन पर विजय पाई थी। देश में यदि इस समय जगह जगह उपद्रव होने लगें, तो स्वभावत: जनता का ध्यान लक्ष्य से हटकर घरेलू झगड़ों की ओर चला जायगा और स्वराज्य की नौका मझधार में चक्कर खाने लगेगी। कानपुर के उपद्रव ने परिस्थिति को कितना बदल दिया, हम अपने आंखो से देख रहे हैं। हमें तो शिकायत अपने उन जोशीले भाइयों से है जो महात्माजी के किए-धरे को मिट्टी में मिला रहे हैं। हमारी जीत पहले भी धर्म पर जमे रहने में थी, अब भी है और आगे भी रहेगी। हमने सरकार से जो समझौता किया है, उस पर हमें दृढ़ता के साथ डटे रहना चाहिए। हाथी के दांत दिखाने के और, और खाने के और वाली नीति पर चलने में हमारा कल्याण नहीं है, एक साथ युद्ध और शान्ति दोनों की दुहाई न देनी चाहिए। महात्मा जी ने किसान भाइयों को सलाह दी थी कि दखीलकारों को रुपये में आठ आने अवश्य देना चाहिए। यदि किसान इससे अधिक दे सकें तो दें, लेकिन इतना जरूर दें। किन्तु एक ओर तो हमारे जमींदार इससे अधिक वसूल करने पर तुले हुए हैं, दूसरी ओर हमारे कार्यकर्ता, जिनमें कुछ बड़े-बड़े नाम भी हैं, महात्मा जी के आदेशों पर ध्यान न देकर किसान भाइयों को अपना शिकार बना रहे हैं। इन वीर पुरुषों में होड़-सी लगी हुई है कि कौन गर्म से गर्म बात कहकर जनता पर अपने नेतृत्व का सिक्का जमा दे। सच्चा लीडर हम उसे कहेंगे, जो देश को धर्म के रास्ते पर चलाए, जिसके कर्म और वचन में कोई अन्तर न हो, जो भीतर से भी वैसा हो, जैसा बाहर से। बार- बार कहना कि हमें युद्ध के लिए तैयार रहना चाहिए, मानों समझौते की मुहलत केवल इसलिए मिली है कि युद्ध की तैयारी की जाय, देश को धोखा देना है। देश को भारतीय चर्चिलों और राथरमियरों से बचाने की जरूरत है, वरना यह लोग स्वराज्य संग्राम को रक्तमय बनाकर इसे बदनाम कर देंगे और संसार की सहानुभूति खो बैठेंगे। धर्म-युद्ध की जीत, धर्म को मजबूत पकड़े रहने में है। जनता स्वयं विचार करने की शक्ति नहीं रखती। जनतंत्र में भी राष्ट्र की बागडोर गिने-गिनाए

हाथों ही में रहती है। उसे जिस रास्ते पर लगाया जाय, उसी पर चलने लगती है। जरूरत है वातावरण को शान्त बनाने की। जहरीले वातावरण का परिणाम अभी हम कानपुर में देख चुके हैं। देश को जल की जरूरत है, अग्नि की नहीं। आग लगाकर जलाने के सिवा और क्या किया जा सकता है। क्रान्ति-क्रान्ति की दुहाई देकर, वक्तृताओं में हिंसा की पुट देकर, जोशीले और अदूरदर्शी कार्यकर्ताओं की पीठ ठोंककर, देश में जो आग लगाई जा रही है, उसका परिणाम अच्छा न होगा। घरेलू युद्ध से घातक कोई युद्ध नहीं होता और उपद्रव हो जाने पर उससे अपना स्वार्थ सिद्ध करने वाले, जलते हुए घरों से अपने हाथ सेंकने वाले कितने आदमी कहां से निकल आते हैं, यह हम सभी जानते हैं हम देश को इस परिस्थिति से बचाना चाहते हैं, क्योंकि हमने अब तक जो कुछ किया है शान्त रह कर ही किया है और आगे भी जो हमारी जीत होगी, वह अहिंसा ही के बल से होगी। हिंसा का भूत हमारे सिर सवार हुआ और हमारा सर्वनाश हुआ। केवल मौखिक अहिंसा से काम नहीं चल सकता। हमें मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसा का अनुयायी होना पड़ेगा। यह कहना कि हमारा सर्वनाश तो पहले ही हो चुका है, कानपुर उस सर्वनाश की ताजा मिसाल है। जो लोग उस नरमेध की आहुति बन गए हैं जिनका सर्वस्व लुट चुका है, और आज जिन्हें रोटियों का सहारा नहीं, उनसे पूछो कि इस दशा और पूर्व दशा में क्या अन्तर है? हमारा अपने किसान भाइयों से यही अनुरोध है कि वह महात्मा जी को अपना सच्चा नेता मानें और उनके बताए हुए मार्ग से जौ भर भी विचलित न हों। गरीबों और विचलितों का, महात्मा जी से बड़ा शुभचिन्तक संसार में दूसरा नहीं है। दूसरा कोई आदमी अगर उनसे कुछ और कहता है, तो उससे कह दें, कि पहले आकर हमारी तरह हल में जुतो, पसीना बहाओ, हमारी ही बिरादरी के एक अंग बन जाओ, तब हम तुम्हारी सुनेंगे। अपनी वकालत चलाने के लिए, आने वाले चुनाव में वोट लेने के लिए, अथवा अपना व्यवसाय-वृद्धि के लिए हमारी खुशामद न करो। तुम टट्टी की आड़ से जो शिकार खेल रहे हो, उसे हम खूब जानते हैं। जो लोग महलों में रहते हैं, अमीरों की जिन्दगी बसर करते हैं, मोटर के नीचे एक कदम नहीं चल सकते, जिनको भोजन के लिए तर माल चाहिए, वह क्या जानें कि गरीबों पर क्या गुजरती है। वह तो आग लगाकर चल देते हैं, घर जलते हैं गरीबों के। इस वक्त अगर किसान भाई सोच-विचार से काम न लेंगे और महात्मा जी के मार्ग से हट जायंगे, तो उन्हें हमेशा के लिए पछताना पड़ेगा।

[संपादकीय। 'हंस', जून, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

पृथक् और संयुक्त निर्वाचन

मुसलिम जमाअतों में समझौते की जो बातचीत देहली और भोपाल में चली थी, उसका जनाजा शिमला में उठ गया। शिमला क्या समझकर इस बातचीत के लिए चुना गया था, हम नहीं जानते, अगर पिछले अनुभव कुछ सिखा सकते हैं, तो शिमले की आब-हवा ऐसे प्रयत्नों के लिए अनुकूल नहीं कही जा सकती। न डॉक्टर अंसारी दबे न डॉक्टर इकबाल। बातचीत अनिश्चित समय के लिए बन्द हो गयी। अब मुआमला भारत सरकार और गोलमेज़ के हाथ में है और उसका जो कुछ फल होगा उसके विषय में भी सफलता के साथ अनुमान किया जा सकता है। हमारे विचार में एकाध मौके ऐसे पैदा हुए जब नेशनलिस्ट मुसलिमों को दब जाना

चाहिए था। मसलन पांच वर्ष पृथक् निर्वाचन के बाद मुसलिम जनता से निर्वाचन-विधि के विषय में आदेश लेना कोई ऐसी बात न थी, जिस पर विचार न किया जा सकता, लेकिन नेशनलिस्ट अब अपने को इतना अल्पसंख्यक नहीं समझते कि वह मुसलिम लीग वालों से दबें। दोनों को अपनी शक्ति का विश्वास है। कम से कम इतना तो सिद्ध ही हो चुका कि मुसलमानों की एक बड़ी जमात पृथक् निर्वाचन को देश के हित के लिए ही नहीं, मुसलमानों के लिए भी हानिकर समझती है। मौलाना जफरुल मुल्क ने हाल में इस समस्या को हल करने के लिए एक सिद्धान्त सोच निकाला है। जहां हिन्दुओं की संख्या बहुत ज्यादा है, वहां मुसलमानों को उनकी संख्या के अनुसार वोट दिए जायं। इसके उपरान्त उन्हें संयुक्त निर्वाचन में सम्मिलित होने का अधिकार भी दिया जाय। मुसलमानों को जिन सूबों में बहुमत हो, वहां हिन्दुओं के साथ यही बर्ताव करना चाहिए। जिन सूबों में दोनों की संख्याओं में थोड़ा ही अन्तर हो, वहां भी यही सिद्धान्त लागू हो सकता है। हमें इस विचार में कोई असंगति नहीं दीखती। हिन्दुओं को इस विषय में कदाचित् कोई आपत्ति न होगी लेकिन पहले हमारे मुसलिम भाई तो निश्चय कर लें।

[संपादकीय। 'हंस', जून, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

साहित्यिक क्लबों की आवश्यकता

हिन्दी बोलने और समझने वालों की संख्या भारत में पन्द्रह करोड़ से कम नहीं है। बंगाली बोलने और समझने वाले कुल पांच करोड़ हैं। फिर भी बंगाली पुस्तकों के देखते, हिन्दी पुस्तकों और पत्रिकाओं की खपत कुछ नहीं है। यहां अच्छी से अच्छी पत्रिका भी घाटे ही पर चलती है और अच्छी से अच्छी पुस्तक भी गोदाम में पड़ी सड़ती है। कोई सज्जन एक पुस्तक मंगा लेते हैं तो सारे मुहल्ले में लूट मच जाती है। लोग एक-दो मील से उसके लिए दौड़ते हैं। अक्सर पुस्तक के स्वामी को पुस्तक देखने को नहीं मिलती और वह हाथोंहाथ गायब हो जाती है। यह कैफियत देखकर वह सोचता है, कहां से इस बला में आ पड़े। पुस्तक नहीं देते तो बमुरौवत कहलाते हैं, स्वार्थी की उपाधि मिलती है। देते हैं तो लौटकर नहीं आती। इसलिए पुस्तक मंगाएं ही क्यों? यह है हमारा साहित्यानुराग! पुस्तक पढ़ना तो चाहते हैं, पर गांठ का पैसा खर्च करके नहीं। जिनकी माकूल आमदनी है वह भी पुस्तकों की भिक्षा मांगने में नहीं शरमाते। अगर यही दशा रही तो हम नहीं समझते, साहित्य की उन्नति कैसे होगी। प्रकाशक नये उत्साह से मैदान में आता है पर साल-दो साल में घर की जमा गंवाकर बैठ जाता है। नयी नयी पत्रिकाएं निकलती हैं और दस पांच हजार का खून करके प्रस्थान कर जाती हैं। इस शिथिलता का एक उपाय जगह जगह साहित्यिक क्लबों का खुलना है। प्रत्येक कस्बे और गांव में ऐसे क्लब स्थापित होने चाहिए। नगरों में तो हर मुहल्ले में ऐसे क्लबों का खुलना वांछनीय है। अगर दो-एक उत्साही सज्जन भी हिम्मत करें, तो उन्हें दस, बीस, तीस ऐसे साहित्यानुरागी मिल जायेंगे जो उसे चार आने महीने तक खुशी से दे देंगे। अगर इन क्लबों द्वारा सौ रुपये वार्षिक की पुस्तकें और पत्रिकाएं खपने लगें तो साहित्य का उद्धार हो सकता है। समस्त देश में अगर ऐसे दस हजार क्लब भी खुल जायं तो बहुत कुछ काम चल जाय। इस क्लब के मेम्बरों का एक काम यह भी होगा कि वह साहित्य-प्रेमियों को एक रुपये, दो

रुपये, चार रुपये सालाना की पुस्तकें खरीदने के लिए नियम-बद्ध कर सकें। सभ्य देशों में ऐसे क्लबों की बड़ी कसरत है और यही कारण है कि वहां मामूली किताबें भी पचास-पचास हजार तक बिक जाती हैं। हमें आशा है, हिन्दी संसार इस प्रस्ताव की ओर ध्यान देगा।

[संपादकीय। 'हंस', जून, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' खण्ड-3 में संकलित।]

अंग्रेजी भाषा का रोग

हम 'हंस' के पाठकों का ध्यान इस विषय की ओर पहले भी आकृष्ट कर चुके हैं। हमें यह लिखते दु:ख होता है कि हमारे राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता भी इस रोग में उतने ही ग्रस्त हैं, जितने सरकार के कर्मचारी या वकील या कालेजों के अध्यापक। इसमें सन्देह नहीं कि वे खद्दर पहनने लगे हैं, पर उनके मनोभावों में लेशमात्र भी संस्कृति नहीं आयी। किसी कमेटी की बैठक में चले जाइए, आप खद्दरधारी महाशयों को फर्राटे से अंग्रेजी झाड़ते हुए पायेंगे। वह शब्द और वाक्य जो उन्होंने दैनिक पत्रों या अंग्रेजी पत्रों में पढ़े हैं, बाहर निकलने के लिए अकुलाते रहते हैं और अवसर पाते ही फूट निकलते हैं। हंसी तो तब आती है जब यह हजरत अंग्रेजी न जानने वाली महिलाओं के सामने भी अपने वाग्विलास से बाज नहीं आते। अंग्रेजी भाषा का यह जादू कब तक हमारे सिरों पर रहेगा? कब तक हम अंग्रेजी के गुलाम बने रहेंगे। इससे तो यही टपकता है कि राष्ट्रीयता अभी हृदय की गहराई तक नहीं पहुंचने पायी। महात्मा गांधी के सिवाय हम किसी नेता का हिन्दी भाषा के प्रचार पर जोर देते नहीं देखते। यह विदित रहे कि जब तक हमारी राष्ट्रभाषा का निर्माण न होगा, भारतीय राष्ट्र का निर्माण ख्वाब और खयाल हैं। जापानी, जपानी में अपने भावों को प्रकट करता है, चीनी, चीनी भाषा में। ईरानी, फारसी में, लेकिन भारत की शिक्षित जनता अंग्रेजी पढ़ने और बोलने में अपना गौरव समझती है। कितने ही सज्जन तो यह कहने में संकोच नहीं करते कि हिन्दी लिखने या बोलने में उन्हें असुविधा होती है। यह सीधी-सादी मानसिक दासता है। बड़े से बड़ा हिन्दुस्तानी भी एक गोरे से बात करता है तो अंग्रेजी में। वह यह भूलकर भी नहीं सोचता कि अंग्रेज हिन्दुस्तानी में क्यों न बात करें। खैर, अंग्रेजी से अंग्रेजी में बात करने को किसी हद तक क्षम्य भी मान लिया जा सकता है, लेकिन आपस में अंग्रेजी में बातचीत करने के लिए तो कोई दलील ही नहीं।

[संपादकीय। 'हंस', सितम्बर, 1931 में 'अंग्रेजी वेष और भाषा रोग' शीर्षक से प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

नया प्रेस बिल

सरकार ने समाचार पत्रों के लिए एक नया दंड-विधान सोच निकाला। क्रांतिकारियों की अमानुषीय लीलाओं को रोकने के लिए यही उपाय सबसे सरल समझा गया है। सरकार का कथन है कि समाचार-पत्रों में उत्तेजना पैदा करने के लिए लेख निकलते हैं, हत्याकारियों की तस्वीरें छपती हैं, और अप्रत्यक्ष रूप से उनकी प्रशंसा की जाती है। यदि ऐसे समाचार पत्र हैं, और इसमें संदेह नहीं कि हैं, तो उनके साथ कानूनी बर्ताव होना चाहिए। इस वक्त भी जो कानून मौजूद है, उसके द्वारा सरकार ऐसे पत्रों की जबान बन्द कर सकती है, उसकी हस्ती

मिटा सकती है। लेकिन एक नया कानून बनाकर अधिकारियों को यह अधिकार दे देना कि वे जिस पत्र को चाहें, कुचल डालें और सरकारी नीति की निष्पक्ष आलोचना करने के लिए भी पत्रों को दण्ड दे सकें, खतरे की बात है। और यह कानून उस वक्त बनाया जा रहा है, जब भारत को स्वराज्य देने की बातचीत हो रही है। इस वक्त तो कहा जा रहा है, जिम्मेदार पत्रों को इस विधान से डरने का कोई कारण नहीं, है, लेकिन अधिकारियों को कोई अधिकार देकर यह आशा करना कि वह उसका व्यवहार सोच-समझकर करेंगे और अपनी कारगुजारी दिखाने के लिए निरपराधियों पर भी आघात न कर बैठेंगे, तजरबे से गलत साबित हुआ है। महात्मा गांधी से बड़ा अहिंसावादी व्यक्ति और कौन होगा, पर उन्होंने भी इस विधान का विरोध किया है और इसे भारतीय जनमत के विकास में बाधक समझा है, अधिकारियों को कानून की सर्वशक्तिमानता पर अखंड विश्वास है। वह कानून की निरर्थकता को आखों से नित्य देख देखकर भी कोई उपदेश नहीं ग्रहण करते। रोज नये-नये कानून बनते हैं और रोज नये-नये अपराधों का आविष्कार होता है और यह होड़ बराबर चली जाती है। मगर, जैसे बाहरी लीप थोप से जीर्णदीवार नहीं संभल सकती, उसी भाँति विषमता से भरा हुआ समाज कानूनों से स्वस्थ नहीं रह सकता। चोरी, डाका, जाल, हत्या इन सभी अपराधों का कारण सामाजिक वैषम्य है। जब इस वैषम्य में जाति-द्वेष मिल जाता है, तो उसका रूप और भी भयंकर हो जाता है। कोई भी समझदार आदमी हत्याकारियों की प्रशंसा नहीं कर सकता। संसार में इससे बड़ी भूल नहीं हो सकती कि हत्याओं से किसी देश का उद्धार हो सकता है। लड़ाई से लड़ाई का अंत हो सकता, तो आज संसार में शांति का राज्य होता। लड़ाई और द्वेष को प्रेम ही जीत सकता है। प्रेम, शक्ति का संचय किये बगैर नहीं हो सकता। अहिंसा कायरों का कर्त्तव्य नहीं, महान बलवानों का कर्त्तव्य है। प्रेम वही कर सकता है, जो शक्तिमान हो। चाहे वह शक्ति आत्मा की हो, या देह की। इन अपराधों का दमन करना सरकार का ही धर्म नहीं, राष्ट्र का धर्म भी है, क्योंकि ऐसे कृत्यों से राष्ट्र को हानि पहुंचती है। उसके नाम में ही कलंक नहीं लगता, उसका भविष्य भी अंधकार में पड जाता है। जब तक हमारी मनोवृत्ति ऐसी रहेगी कि ऐसी हत्याओं की गुप्तरूप से प्रशंसा करते रहें, किसी अंग्रेजी या हिन्दुस्तानी कर्मचारी की हत्या की खबर सुनते ही फड़क उठें, पत्र खोलकर पहले यही देखें कि कहीं कोई हत्या हुई या नहीं, उस वक्त तक हत्याओं का अंत न होगा। हमारा ऐसा विश्वास होना चाहिए कि द्वेषमय हिंसा करना ही धर्म-विरुद्ध नहीं उसकी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सराहना करना भी धर्म-विरुद्ध है। राष्ट्रों में लड़ाइयां होती हैं वह खुल्लम-खुल्ला, ललकार कर होती हैं क्षात्र धर्म में वैसी लड़ाई के लिए स्थान है। वीरता की प्रशंसा की गई है और की जायगी। पर, छिपकर स्त्री पुरुष, बाल वृद्ध की हत्या करना अत्यन्त घृणित है, और जो मनोवृत्ति ऐसे काम की तारीफ करती है, वह निस्संदेह अस्वस्थ है।

[संपादकीय। 'हंस', सितम्बर, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

फौजी कालेज की आयोजना

फौजों को भारतीय बनाने के लिए फौजी अफसरों की जरूरत है और अफसरों की फौजी तालीम के लिए एक कालेज होना चाहिए। वैसे ही एक कालेज बनाने की स्कीम तैयार करने

के लिए एक कमेटी बनायी गयी थी, जिसके सभापति भारत के फौजी लाट थे। उस कमेटी ने अब अपनी रिपोर्ट प्रकाशित कर दी है। उसे देखकर हमें निराशा हुई। लाट साहब साठ अफसर प्रतिवर्ष उस विद्यालय से निकालना चाहते हैं। कमेटी के गैर-सरकारी सदस्य उस संख्या को एक सौ बीस तक ले जाते हैं। भारत में चार हजार फौजी अफसर हैं। इस हिसाब से यदि बीच में कोई अंग्रेज अफसर न लिया जाय, तो इतने अफसरों के तैयार करने में पैंतिस वर्ष लग जायेंगे। और लाट साहब की संख्या के हिसाब से सत्तर वर्ष। इससे तो यही साबित होता है कि सरकार अपने फौजी आधिपत्य की अवधि को अधिक से अधिक बढ़ाना चाहती हैं। जिन दिनों योरोप में लड़ाई हो रही थी, युवकों को चंद हफ्ते कवायद सिखाकर काम पर भेज दिया जाता था, और वहां वे अफसर बड़ी योग्यता से अपना काम करते थे। कम से कम उनके विरुद्ध कोई शिकायत नहीं सुनी गयी। पर भारत में चार हजार फौजी अफसर तैयार करने में पैंतिस या सत्तर वर्ष लगते हैं! इससे सरकार की नीयत साफ जाहिर होती है। हम पूछते हैं, हमें चार हजार अफसरों की जरूरत ही क्या है? जब हमारी देश-रक्षा का भार हमारे ऊपर होगा, तो हम निश्चय कर लेंगे कि हमें इससे कम अफसरों की जरूरत है, या ज्यादा। इतने ही खर्च में हम ऐसे-ऐसे दो विद्यालय खोल सकते हैं और पैंतिस वर्ष में जो काम होगा, उसे सत्रह वर्षों में पूरा कर सकते हैं। हमारा तो ख्याल है कि फौजी कालेज के अलग होने की जरूरत नहीं। हमारे विद्यालयों में जैसे साइंस का प्रबन्ध है, वैसे ही फौजी तालीम का भी प्रबन्ध हो सकता है। पहाड़ खोदकर चुहिया निकालना हमारी सरकार की पुरानी नीति है। खैर, हमें यही खुशी है कि कई कमीशनों और कमेटियों के बाद यह नौबत ता आयी। अब यह देखना है कि इस रिपोर्ट को कार्य रूप में लाने में कितना समय लगता है। रिपोर्ट में 1932 से कालेज खोल देने की बात कही गयी है। देखिये।

[संपादकीय। 'हंस', सितम्बर 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

महात्माजी की विजय-यात्रा

महात्मा गांधी के रवाना होते ही समस्त भारतवर्ष की आंखें लंदन की तरफ फिर गई हैं। महात्माजी ने दिखा दिया है कि वह राजनीति में भी उतने ही कुशल हैं, जितने संग्राम में। कितने ही लाल बुझक्कड़ों को महात्माजी की राजनैतिक विवेकशीलता में संदेह था। उनका खयाल था महात्माजी धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र के लिए ही बनाए हैं। वह Saint हैं और राजनीति से उन्हें कोई लगाव नहीं। राजनीति में चालें हैं, तिकड़मबाजी है, आंखों में धूल झोंकना है, कहना कुछ और करना कुछ है। लेकिन महात्माजी ने सिद्ध कर दिया कि वह राजनीति में भी, धर्मनीति में जौ-भर भी इधर-उधर नहीं होते। सच तो यह है कि महात्माजी ने राजनीति को उसकी गंदगियों से पाक कर दिया है। उनकी राजनीति और धर्मनीति दोनों एक हैं। यही कारण है कि वह समर में जितने वीर और साहसी हैं, सन्धि में उतने ही दूरदर्शी और दृढ़। ऐसे विरले ही होते हैं, जिनमें यह दोनों गुण समान रूप से मौजूद हों। साधारणतः समर का वीर सेनापति, जो बड़ी-बड़ी सेनाओं का संचालन करता है, राजनीतिज्ञों की मंडली में आकर चकरा जाता है। उसी तरह राजनीति का धुरंधर पंडित युद्ध-क्षेत्र में जाकर अपनी अयोग्यता का प्रदर्शन करता है। महात्माजी की व्यापक बुद्धि, धर्म और समाज, संधि और

समर में समान रूप से अपना चमत्कार दिखाती है।

लेकिन इस समय महात्माजी के सामने जो काम है, वह आसान नहीं है। लंदन में वह गोलमेज़ के चारों तरफ बैठे हुए, ऐसे-ऐसे चतुर खेलाड़ियों के बीच में खड़े होंगे, जिन्होंने राज्य-संचालन को जीवन-तत्व बना लिया है। जहां अंग्रेजी सेना असफल हो गई है, वहां बहुधा अंग्रेजी डिप्लोमेसी ने विजय पाई है। इंग्लैंड में अब मजूरों का अधिकार नहीं है। लेकिन जब मजूरों के हाथ में पूरा अधिकार था, उस समय भी साम्राज्यवादियों का इतना जोर था कि मजूर-सरकार उनकी इच्छा के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकती थी, और अब तो सर सामुयेल होर, लार्ड रिडिंग, लार्ड पील जैसे-जैसे सज्जन कैबिनेट में हैं जिन्हें भारत से उतनी ही सहानुभूति है, जितनी स्वामी को सेवक से होती है। ऐसी दशा में महात्माजी का उद्देश्य अगर सफल हो सकता है, तो इसी तरह कि राष्ट्र की पूरी शक्ति महात्माजी के पीछे हो। हमको कोई शंका अंग्रेज मिनिस्ट्रों से नहीं, जितनी अपने ही भाइयों से है। अंग्रेज व्यापारी हैं। उनके जीवन के लिए अनिवार्य है। खेती-बाड़ी करके अपना निर्वाह नहीं कर सकते। उन्हें मालूम हो गया है कि भारत को तलवार के जोर पर दबाकर वह व्यापार नहीं कर सकते, केवल राज्य करने का व्यसन उन्हें अपने व्यापार को चौपट करने, अपने जीवन को खतरे में डालने, और अपनी हस्ती मिटा देने पर राजी नहीं कर सकता। बाल्डविन हों या चर्चिल मैकडोनेल्ड हों या लायड जार्ज, इस बात को कोई नहीं भूल सकता कि इंग्लैंड का व्यापार ही उसके प्राण हैं और जिस दिन इंग्लैंड का व्यापार न रहेगा, उस दिन इंग्लैंड भी न रहेगा। हां हमारे भइयों में अब भी एक ऐसा शक्तिशाली समूह है जो स्वराज्य से डरता है। उसे भय है कि स्वराज्य में हिन्दू बहुमत उसे पीस डालेगा। इस समय सारी कोशिश अपने मुसलिम भाइयों की सहानुभूति प्राप्त करने, उनके दिलों से शंका और अविश्वास को मिटाने में लगनी चाहिए। यही हमारे राजनीतिक उद्धार की कुंजी है। कांग्रेस ने इस शंका और अविश्वास के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ा है, फिर भी वह पिशाच अभी तक छिपा बैठा है और जब अवसर पाता है कहीं न कहीं से अपनी पैशाचिक लीला दिखा देता है। मुसलमानों में इस वक्त कोई नेता नहीं है। जितने नेता हैं, वह एक एक टुकड़ी के नेता हैं। मौलाना हसरत मौहानी पर अधिकांश मुसलिम जनता का विश्वास है पर मौलाना इतनी जल्द जल्द पहलू बदलते हैं कभी पक्के राष्ट्रवादी बन जाते हैं कभी पक्के मुसलिम लीडर कि मुसलिम जनता उन्हें पहेली समझती है। ऐसी बिन दूल्हा की बरात किस अवसर पर क्या करेगी, नहीं कहा जा सकता। उन्हें समझावें तो कैसे, उनके साथ शर्तें करें, तो कैसे। सभी अपनी-अपनी डफली अलग अलग बजा रहे हैं। इसे स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति न होनी चाहिए। मुसलिम भाइयों की यह शंका तथा अविश्वास केवल दुराग्रह के कारण नहीं है। उसका कारण है भेद-भाव, वह छूत-विचार, वह पृथकता है, जो दुर्भाग्य से अभी तक अपने पूरे जोर के साथ राज कर रही है। जब हिन्दू, एक मुसलमान के हाथ का पानी नहीं पी सकता, तो मुसलमान को कैसे उस पर विश्वास हो सकता है, वह कैसे उसे अपना मित्र और हित-चिंतक समझ सकता है? कुछ पढ़े-लिखे मुसलमान उंगलियों पर गिनने-लायक ऐसे होंगे, जो समझते हैं कि भेद भाव नफरत के कारण नहीं, इसीलिए नहीं, कि हिन्दू मुसलमानों को नीचा समझता है, बल्कि इसलिए कि यह भेद-भाव का भूत उसके सिर पर हजारों बरस से सवार है, जो अपने स्वधर्मियों से भी उतना ही पृथक् रक्खे हुए हैं, जितना अन्य धर्म-वालों से। ब्राह्मण को एक

कायस्थ के हाथ का भोजन अखाद्य है। नहीं, एक प्रान्त के ब्राह्मण के लिए दूसरे प्रान्त के विप्रजी के हाथ का भोजन वर्जित है। यहां तक कि ऐसे-ऐसे कुलीन भी पड़े हुए हैं, कि जो अपने हाथ के सिवा और किसी के हाथ का पकाया भोजन खा ही नहीं सकते, चाहे भूखों मर जायं। हिन्दू इस भिन्नता को समझता है और उसे इसके सहने की आदत पड़ी हुई है, वह किसी वर्ग का हो, उसे भी किसी न किसी को अछूत समझने का गौरव मिल ही जाता है, लेकिन आज मुसलमान इस फिलासफी को नहीं समझ सकता। वह तो यही जानता है कि हिन्दू उसे नीचा समझते हैं और यह कोई आत्म-सम्मान रखने वाली जाति नहीं सह सकती। ऐसे विचारों के रखते हुए कोई राष्ट्र नहीं बन सकता और अगर कुछ दिनों के लिए बन भी जाय, तो टिक नहीं सकता।

[संपादकीय। 'हंस', सितम्बर, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग भाग-2 में संकलित।]

गोलमेज़-परिषद् में गोलमाल

हमारे मुसलमान भाइयों ने आख़िर वह कर ही डाला, जिसकी हमें शंका थी, पर यह समझकर कि शायद योरोप के नये वातावरण में वह कुछ उदार हो जायं, हम उस शंका को बहलाते रहे थे। महात्मा गांधी जी भी यही समझकर गोलमेज में सम्मिलित हुए थे। अगर उन्हें यह मालूम होता, कि मुस्लिम मेम्बर वहां यह अडंगा लगायेंगे, तो वह जाते ही क्यों। हालांकि अभी तक महात्माजी निराश नहीं हुए हैं और हमारी ईश्वर से प्रार्थना है, कि उनकी आशावादिता प्रवंचना न निकले, पर हमें सन्देह अवश्य है। मुसलमानों ने बहुत दिनों इस देश पर राज्य किया है और अब भी कई देशों में स्वराज्य कर रहे हैं, इसलिए उनकी राजनैतिक बुद्धि पर कम से कम इतना विश्वास अवश्य था कि इस अवसर पर यह मुल्क का साथ देंगे। मिस्र, तुर्की आदि देशों के नेताओं ने मुस्लिम नेताओं से जो अपील की थी, उसने हमारे विश्वास को दृढ़ कर दिया था, पर अब मालूम हुआ कि हमारा विश्वास मिथ्या था। हिन्दू बहुमत में हैं। किसी हिकमत से भी उनकी संख्या घटाई नहीं जा सकती। इधर मुसलमान कोई ऐसी व्यवस्था न मंजूर करेंगे, जिसमें बहुमत से किसी हानि की सम्भावना हो। इसलिए भारत को जन्म-जन्मान्तर तक इसी पराधीनता की दशा में रहना होगा। उनकी रक्षा के लिए भारत पर अंग्रेजों का शासन अनिवार्य है। नहीं हिन्दू मुसलमानों से पुरानी अदावतें निकालेंगे, और भारत में उनका रहना मुश्किल कर देंगे। तो क्या हिन्दू उस वक्त तक चुपचाप बैठे रहें, जब तक उसका बहुमत घटते-घटते अल्पमत न हो जाय? इसके सिवा और कोई उपाय नहीं सूझता।

गोलमेज के मुस्लिम प्रतिनिधियों को हिन्दुओं पर विश्वास नहीं है, अंग्रेजों पर विश्वास है। जिनसे उनका चोली-दामन का साथ है, जिनके साथ उनका भाईचारा है, उन पर उन्हें विश्वास नहीं है। अंग्रेजों पर उन्हें विश्वास है, जो उन पर शासन करते हैं।

यह हम कैसे कहें कि वे मुसलमान प्रतिनिधि स्वाधीनता के उतने ही इच्छुक नहीं हैं, जितने हिन्दू हैं। या वह देश या अपनी जाति का नफा-नुकसान नहीं समझते, उनमें सभी शिक्षित हैं, विचारशील हैं। देश के दुर्भाग्य के सिवा हम इसे क्या कहें। शायद ईश्वर को यह मंजूर नहीं है कि अभी भारत स्वाधीन हो, शायद अभी भारत ने आजादी का वह मूल्य नहीं

दिया, जो देना चाहिए, और अभी उसे और बलिदान की ज़रूरत है।

इंग्लैंड में आजकल नया निर्वाचन हो रहा है। उस निर्वाचन में कंज़रवेटिव दल के बहुमत पाने की ही सम्भावना है। मिस्टर रोज़े मेक्डोनेल्ड के पृथक् हो जाने से मजूरदल की शक्ति बहुत कुछ क्षीण हो गई है। आपस में बिखरा हुआ मजूरदल कंज़वेटिव दल को परास्त कर सकेगा, इसमें सन्देह है। रेमज़ू मेक्डोनेल्ड का भाग्य भी अब उन्हीं लोगों के हाथों में है, जो अब तक उनके विपक्षी थे और जिनके राजनैतिक विचार मेक्डोनेल्ड के विचारों से उतने ही भिन्न हैं, जितना प्रकाश अन्धकार से। मैक्डोनेल्ड साहब ने अभी जो कुलांट मारी है, इससे सिद्ध कर दिया है कि वह सिद्धांत के उतने प्रेमी नहीं, जितने समय-प्रवाह के। वह समय की गति देखकर अपने विचारों में उलट-फेर कर सकते हैं, तो क्या अब वह कंज़रवेटिव दल वालों को अप्रसन्न करने का नैतिक साहस दिखा सकेंगे? हमें इसमें संदह है। उन्होंने महात्मा गांधी के यह कहने पर कि प्रतिनिधियों का चुनाव ही इस ढंग पर हुआ है कि आपस में किसी समझौते का होना संदिग्ध था, जो फटकार बताई उससे उनके मानसिक परिवर्तन का कुछ पता चलता है। महात्माजी ने एक सत्य बात कही थी। हां, वह कड़वा सत्य था। यह कौन-सा न्याय है कि जिन मुसलिम नेताओं ने राष्ट्रीय संग्राम में कोई भाग नहीं लिया, जो बराबर सरकार के भक्त रहे, जिनके विषय में यह कोई छिपी हुई बात न थी कि वे हिन्दुओं से विरोध रखते हैं, वह तो दर्जनों की संख्या में भेज दिये गये, और वह मुस्लिम-दल, जिसने स्वाधीनता के लिए बलिदान किये, जो हिन्दुओं पर विश्वास रखता है, जिसकी संख्या, जितनी मुस्लिम लीग के नामलेवों की है, जिसकी शाखाएं भारत के प्रत्येक भाग में हैं, उस दल का एक आदमी भी न भेजा गया? एक आदमी छूत छुड़ाने को भेज दिया गया, तो उसे बोलने का अवसर न दिया गया! क्या यह समझने के लिए किसी सूक्ष्म बुद्धि की जरूरत है कि नौकरशाही ने यह चुनाव इसी इरादे से किया था कि गोलमेज में विघ्न पड़े और कोई बात तय न हो सके! पर महात्मा जी ने यह कह दिया, तो सभी भन्ना उठे। सर शफी गरज उठे, मेक्डोनेल्ड साहब तड़प उठे, यहां तक कि अछूतों के प्रतिनिधि कहलाने वाले डाक्टर अम्बेडकर भी चीख पड़े। एक अमेरिकन पत्र के सम्वाददाता ने तो यहां तक लिखा कि मुस्लिम और अन्य अल्पमतों के नेता महात्मा गांधी से विरोध भी करते हैं, तो सम्मान के साथ, डाक्टर आम्बेडकर तो असज्जनता कर बैठते हैं। क्यों न हो! हिन्दुओं से बदला लेने का इससे अच्छा कौन-सा अवसर आवेगा! अंग्रेज जाति उनका उद्धार करने पर आमादा हो गई है। हिन्दुओं से सारी पुरानी कसर आज ही निकाल लो। डाक्टर साहब तो विद्वान् आदमी हैं, क्या वह यह नहीं जानते कि विजेताओं ने हमेशा कमज़ोरों को दबाया है, यहां तक कि वही अंग्रेज जाति जिन्हें वह अपना उद्धारक समझ रहे हैं, अपनी पराधीन जातियों पर किस प्रकार शासन कर रही है? अफ्रीका वालों से अंग्रेजों की न्यायपरता की कथा पूछिए, रेडइण्डियन से पूछिये, अस्ट्रेलिया के मावरियों से पूछिए, भारत वालों से पूछिए। और यह कोई दो-चार हज़ार साल पुरानी बात नहीं है, आज भी हम ज़बरदस्त का ठेंगा अपने सिर पर देख रहे हैं। पुराने ज़माने में हिन्दुओं ने भी वही किया, तो उन्होंने वही किया जो परम्परा से होता चला आता है। लेकिन देखना यह है, कि हिन्दू नेता आज अपने अछूत भाइयों के साथ भी वही पुराना व्यवहार कर रहे हैं, या उसमें कुछ परिवर्तन हुआ है। कांग्रेस ने राष्ट्र के स्वत्वों की जो घोषणा की है, उसमें हरेक भारतीय के समान अधिकार रखे हैं। किसी दल, मत या जाति को

अयोग्य नहीं ठहराया। किसी को विशेष अधिकार नहीं दिया। वोट का हक हरेक को दिया गया है। राज-पद पर भी सबका समान अधिकार माना गया है। यह कहा जा सकता है कि अछूत भाई अभी ऊंची जातियों से बराबरी नहीं कर सकते, क्योंकि वह शिक्षा और सभ्यता में बहुत पिछड़े हैं, पर क्या यह बात स्वराज्य हो जाने पर नहीं कही जा सकती। उस वक्त अगर यहां की स्वराज्य सरकार इनके साथ अन्याय करती है तो उन्हें शिकायत करने का आन्दोलन करने का मौका था। इस वक्त तो वह पृथकता का राग अलापकर हमारे शत्रुओं का साथ दे रहे हैं। हिन्दू अब इतने नादान नहीं है, कि वह अपने ही देह के अंग को अपंग करके संसार में अपना अस्तित्व बनाये रखने का स्वप्न देख सकें। हजारों साल की गुलामी ने अब उन्हें सुझा दिया है कि अपने कुछ भाइयों को नीच बनाकर उन्होंने अपना ही जीवन संकट में डाल दिया है, और उनका उद्धार अब इसी में है, कि उन भाइयों को बराबर के अधिकार दें और उन्हें वास्तव में अपना भाई समझें। लेकिन अगर इस वक्त डाक्टर साहब ने मुसलमानों, ईसाइयों, ऐंग्लोइण्डियनों के साथ विशेष अधिकार पर ज़ोर दिया, तो यह राष्ट्र क्या होगा, लड़ैतियों का अखाड़ा होगा। भारत का उद्धार अब इसी में है कि हम राष्ट्र-धर्म के उपासक बनें, विशेष अधिकारों के लिए न लड़कर, समान अधिकारों के लिए लड़ें। हिन्दू या मुसलमान, अछूत या ईसाई बनकर नहीं, भारतीय बनकर संयुक्त उन्नति की ओर अग्रसर हों, अन्यथा हिन्दू मुसलमान, अछूत और सिक्ख सब रसातल को चले जायेंगे।

अगर सम्प्रदायवादियों ने और उनकी पीठ पर हाथ फेरने वाले साम्राज्यवादी अंग्रेजों ने समझा है, कि राष्ट्रीय भारत गोलमेज के गोलमाल से हताश हो जायगा, तो वह गलती पर हैं। इस पराधीनता ने भारत की आत्मा को जगा दिया है, और वह अब किसी शक्ति के रोके नहीं रुकती। धर्म का सम्बन्ध मनुष्य से और ईश्वर से है। उसके बीच में देश, जाति और राष्ट्र किसी को भी दखल देने का अधिकार नहीं। हम इस विषय में स्वाधीन हैं। हम मसजिद में जायं या मन्दिर में हिन्दी पढ़ें या उर्दू, धोती बांधें या पाजामा पहनें, हम स्वाधीन हैं, लेकिन धर्म के नाम पर राष्ट्र को भिन्न-भिन्न दलों में विभक्त करना, ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्धों को राष्ट्रीय मामलों में घसीट लाना, राष्ट्रीय-भारत कभी गवारा न करेगा। भारत ने बहुत कुछ तो समझ लिया है और जो कसर है वह भी अब समझता है, कि सम्पूर्ण भारत का हित एक है, उसमें कोई भी विभिन्नता नहीं है। सरकारी नौकरियों के लिए अभी तक शिक्षित समाज के मन में मोह है। वही मोह, वही लोभ, इस विभिन्नता का कारण है। लेकिन अगर अभी वह समय नहीं आया तो अब उसके आने में देर नहीं है। जब वास्तविक राष्ट्र शिक्षित समाज की संकीर्ण स्वार्थपरता के विरोध में विद्रोह करेगा। मुट्ठी भर पढ़े-लिखे आदमियों का कोई अधिकार नहीं, कि वह अपने हलुए-मांड़े के लिए सम्पूर्ण राष्ट्र का जीवन संकटमय बनावें। वह ज़माना आ रहा है, जब भारत के किसान, भारत के दूकानदार, भारत के मजूर, खुद अपना नफा-नुकसान समझेंगे और अपने हितों का शिक्षित समुदाय के पैरों तले कुचला जाना गवारा न करेंगे। शिक्षितों ने जीवन के पच्छिमी, नकली, आडम्बरमय आदर्शों की गुलामी करके भारत को गर्त में ढकेल दिया है। भारत का एक सुशिक्षित व्यक्ति आज ज़रूरतों का ऐसा गुलाम हो गया है, कि उसे जीवित रखने के लिए कम से कम पचास मजूरों और किसानों को मरना चाहिए। इसी आडम्बरमय जीवन के निर्वाह के लिए तरह-तरह के ढोंग रचे जाते हैं, धर्म की आड़ ली जाती है, संस्कृति का रोना रोया जाता है, विशेष अधिकार का

भूत खड़ा किया जाता है, भाषा और लिपी अनेक कल्पित विभिन्नताओं की दुहाई दी जाती है, केवल इसलिए कि शिक्षितों को खटमली-जीवन आनन्द से व्यतीत हो। वह बंगलों में रहें, मोटरों पर सैर करें, अंग्रजों से हाथ मिलावें और योरोप की सैर करें। हां, वह समय अब दूर नहीं है, जब भारत इस नकली आदर्श से, विद्रोह करेगा और पृथकता को मकड़ी के से जाल को छिन्न-भिन्न कर देगा।

[संपादकीय। 'हंस', अक्टूबर 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

सरकारी खर्चे में किफायत

घर में आग लगी हुई है और सरकार किफायत करने के मंसूबे बांध रही है। महीनों कमेटी ने विचार किया, महीनों गवर्नमेंट विचार करेगी, तब महीनों के बाद किफायत शुरू होगी और किफायत भी क्या? छोटे छोटे अमले निकाल दिये जायंगे, ऊंचे ओहदेदार चैन करते रहेंगे। राष्ट्र आखिर इसीलिए तो है, कि वह मरे और सरकारी कर्मचारी चैन करें। अगर आमदनी में कमी हो रही है, तो कोई चिन्ता की बात नहीं। मनमाने कर बढ़ाये जा सकते हैं, रेल का किराया चौगुना कर दो, जिसे हजार बार गरज होगी, सफर करेगा। डाक के महसूल चौगुने कर दो, जिसे हजार बार गरज होगी, डाकखाने में जायगा। आखिर डाक का काम तो रुक नहीं सकता। अभी कर वृद्धि के लिए बहुत बड़ी गुंजाइश है। सौ रुपये साल की आमदनी पर भी कर लगाया जा सकता है। प्रजा रोयेगी, रोये, सरकार का खर्च तो पूरा हो जायगा। गरीब से गरीब मुल्क खर्च अमीर से अमीर मुल्क से बढ़ न जाय, तो बात ही क्या रही। आखिर भारत को मालूम कैसे होगा कि हम पराधीन हैं। इंग्लैंड का बादशाह अपने खर्च में कमी कर दे, आनन फानन वजीर से लेकर नीचे तक पन्द्रह फीसदी वेतनों में कमी हो जाय, पर भारत में ओहदेदारों का वेतन कैसे घटाया जा सकता है? उसका नाम लेना भी जुर्म है। भला फौज के खर्च में इससे ज्यादा कमी क्या हो सकती है! स्टेशनरी का खर्च कम कर दिया बिजली का खर्च कम कर दिया अब और क्या चाहिए। उधर प्रजा है कि भूखों मर रही है, न खाने को अन्न है न तन ढांकने को वस्त्र। जो कुछ उपज हुई थी, वह लगान में गई। कितने ही घरों में तो लोटा थाली और गहने जेवर भी लगान की भेंट हो गए। पर खर्च में कमी नहीं हो सकती। गरीबों को एक जून भी ज्वार की रोटी न मयस्सर न हो, पर हमारे साहबों को मक्खन और अंडे और शराब और अंगूर अनार दिन में पांच बार चाहिए। संसार मरे, हम तो जीते हैं। यही पच्छिमी सभ्यता है। कितना दुःख होता है, जब हम देखते हैं, कि हमारी सरकार को देश की परिस्थिति की बिल्कुल चिन्ता नहीं। उसे तो डंडे का बल है। किसान आप मरेगा और लगान अदा करेगा, वरना डंडे से खबर ली जायगी। उसे इतना ही जिन्दा रहना चाहिए कि वह सार खेत जोत बो सके। इससे ज्यादा जिन्दा रहने की उसे जरूरत नहीं। ईश्वर की दया से आबादी भी कम नहीं। अगर दस-पांच करोड़ आदमी मर भी जायं, तो क्या चिन्ता। जमीन परती नहीं रह सकती, और लगान फिर भी वसूल हो ही जायगा कर मिल ही जायगा। अगर कमी की ऐसी ही जरूरत होगी तो मदरसे तोड़ दिये जायंगे, शफाखाने बंद कर दिये जायंगे या लड़कों की फीस दुगनी कर दी जायगी, और शफाखाने दवाओं की दूकान बना दिए जायंगे। बीमारी के लिए तो कहीं खोजने नहीं जाना है, और लड़के भी मदरसे आवेंगे ही। और न आवें

तो सरकार का क्या बिगड़ता है। उससे लगान और कर में कोई कमी नहीं होती।

अगर यह दशा न होती तो स्वराज्य की कामना ही क्या जन्म लेती।

[संपादकीय। 'हंस', अक्टूबर, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

नवीन और प्राचीन

पूर्व और पश्चिम की प्राचीन संस्कृति में विशेष अन्तर न था। हां, चूँकि नयी संस्कृति का बड़ा भाग पश्चिम से आया है, इसलिए उसे पश्चिमी की उपाधि मिल गयी है। पश्चिमी संस्कृति ने हमें बहुत दिनों तक चकाचौंध में डाल रखा। उसकी चटक मटक देखकर हम ऐसे मतवाले हुए, कि जो कुछ सुन्दर और सरल भी हमारे यहां था, वह भी हमारी नजरों से गिर गया। वक्त की पाबन्दी ही लीजिए! हमारे यहां पुरानी सभ्यता यह थी कि कोई परिचित या मित्र जिस वक्त चाहे हमारे पास बे रोक टोक आ सकता था। हम उससे बातें करके खुश होते थे। उस वक्त हमें यह विचार कभी न सताता था कि इस मनुष्य के आ जाने से हमारा समय नष्ट हो रहा है। एक मित्र की दिलजोई हमारी निगाह में रुपये से कहीं ज्यादा मूल्यवान थी। लेकिन अब हम हरेक चीज को रुपये के कांटे पर तौलते हैं। अमानी किसी ऐसे आदमी का आना जिससे हमारा कोई स्वार्थ न सिद्ध होता हो, हमें जहर सा लगता है। एक आदमी आपको अपना हितैषी समझकर अपना दुःख रोने या सलाह लेने के लिए आपके पास आता है और आप उसके पास दस मिनट बैठना भी भार समझते हैं, क्योंकि अब समय का मूल्य रुपये में आंका जाता है। मनुष्यता से, सद्भाव से, दिलजोई से किसी को प्रयोजन नहीं है। जो कुछ है रुपया है! अब हमारे बड़े आदमियों के द्वार पर भी भीतर और बाहर का भेद लगा रहता है। जिससे स्वार्थ है उसके लिए भीतर है। जिससे कोई प्रयोजन नहीं उसके लिए बाहर है। और हम उस संस्कृति का बखान करते नहीं थकते। पश्चिम आदमियत का गला घोंटकर स्वार्थ की मशीन बन गया है। यही हमें यह सिखा रहा है।

पूर्वी सभ्यता अतिथियों के आगमन से फूल उठती थी, उसे अपना अहोभाग्य समझती थी कि कोई मेहमान आया। वह आधी रात को आये या पिछली रात को, उसकी खातिरदारी में कोई कसर न होती थी। घर में सबसे अच्छा पलंग पाता था, सबसे अच्छा भोजन खाता था और सारा घर उसकी सेवा सत्कार में लगा रहता था। अब पश्चिम की सभ्यता ने हमें रोटी चोर बनना सिखा दिया है। मेहमान आया और हमारे प्राण पखेरू उड़ गये। कहां से कहां यह बला सिर पड़ी। अब मना रहे हैं कि वह जल्द से जल्द दफा हो जाय! गृहस्वामी का मुंह उतरा हुआ है, स्वामिनी की भवें चढ़ी हुई हैं। मालूम होता है कोई अमंगल अपनी अंधेरी छाया डाल रहा है। बाबू साहब अपना कमरा नहीं छोड़ सकते। मेहमान बाहर बरामदे में टिका दिया जाता है। स्वामिनी जमाने भर की लौंडी नहीं है कि जो चाहे दनदनाता चला आये और वह सबके लिए भोजन बनाने बैठे। उसे तो अपने घर वालों के लिए भोजन बनाना पहाड़ हो रहा है। तब तक यह जमदूत न जाने कहां से फट पड़े। और अंधेर तो देखो, पहले से सूचना भी न दी, नहीं कोई बहाना कर लेते कि बीमार हैं या कहीं बाहर जा रहे हैं। जिस दिन मेहमान बिदा होता है, घर में जैसे नया दिन होता है। हम इतने स्वार्थी, इतने संकीर्ण हो गये हैं कि निःस्वार्थ भाव से कोई काम नहीं कर सकते। अगर

अतिथि कोई मुकदमा लाया हो, या उसमें किसी मोटे मरीज के फँसने की आशा हो, या उसके जरिये कोई बड़ा आर्डर मिलने की सम्भावना हो, तो फिर परिस्थिति बदल जाती है। उस अतिथि की खूब खातिर होती है, मालूम होता है सारा घर उस पर प्राण दे रहा है। यहाँ भी वही रुपया, वही हाय ! हाय ! और जो सज्जन नये रंग में जितने रंगे हैं उनमें यह संकीर्णता उतनी ही अधिक है। देहातियों में, मजूरों में, वैश्यों में यह प्रवृत्ति अभी उतनी तीव्र नहीं है जितनी शिक्षित और सभ्य समाज में। अपने लिए जो कुछ हो अपने लिए, यही उनका जीवन तत्व है। हम यह नहीं कहते कि इस नयी संस्कृति में और उस पुरानी अतिथि-सेवा में सब बुराइयाँ ही बुराइयाँ या खूबियाँ ही खूबियाँ हैं। पुराने आतिथ्य में बहुधा बेफिक्रे और निकम्मे मेहमान सिर पर सवार हो जाते थे। लेकिन बेफिक्रे या निकम्मे आदमियों के सत्कार में भी तो कुछ सज्जनता थी, कुछ उदारता थी। इस नयी संकीर्णता में तो कोरा स्वार्थ है, कोरी [illegible]।

पश्चिम ने हमें सबसे जहरीला जो पाठ पढ़ाया है वह [illegible] है। समस्त समाज [illegible] स्वार्थ के [illegible] गोदकर वह [illegible] स्वार्थ का पिशाच हो गया है। उसमें न हृदय है, न [illegible] है, न दर्द है, बस सिर से पैर तक [illegible] स्वार्थ भरा हुआ है। हमने [illegible] एक भी स्वार्थ से [illegible]। प्राचीन संस्कृति में चिकित्सक के लिए [illegible] लेना हराम था। [illegible] जिसे चाहे किसी मरीज [illegible] थी। [illegible] उसमें [illegible] न था। [illegible] दवा के [illegible]। [illegible] कल्पना [illegible] जाता था। [illegible] सेवा [illegible]। इसी को वह अपना गौरव समझते थे [illegible] होता [illegible] स्वार्थ [illegible] डाक्टर [illegible] फीस [illegible] पश्चिम [illegible] समाज में [illegible] पाता [illegible] पाता [illegible] उसमें [illegible] समाज [illegible] प्रकार [illegible] जायेगा [illegible] मुँह से क्या [illegible] का [illegible] कर गये पश्चिमी गुरु ने हमें यह नया पाठ पढ़ाया है। अब हमारे महात्मा लोग बिना फीस के आशीर्वाद भी नहीं दे सकते। पहले बुद्धि या सिद्धि का साफल्य था सेवा और उपकार में था, अब स्वार्थ सिद्धि में। मरीज के होठों पर प्राण लगे हों, डाक्टर साहब बिना फीस लिये नहीं जा सकते। यह तो दूनी चौगुनी फीस वसूल करने का मौका है। ऐसे शिकार क्या रोज फँसते हैं ? जब स्वार्थ के उपासक [illegible] कुएँ में भंग पड़ गयी है, तो हमारे अध्यापक जी ने क्या अपराध किया है। वह भी योरोप जायेंगे, वहाँ से लौटकर लम्बा वेतन लेंगे। 'करियर' बनाना ही तो जीवन का उद्देश्य है ! वाह रे पश्चिम ! तेरी लीला ईश्वर की लीला से भी विचित्र है। क्या वे दिन फिर कभी आयेंगे, जब हमारी पुरानी संस्कृति का अभ्युदय होगा ! उस संस्कृति का जिसमें गरीबी कलंक न थी। क्या आशा है।

[सम्पादकीय। 'हंस' [illegible]म्बर 193[illegible] में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग [illegible] में संकलित।]

हिन्दू-मुस्लिम एकता

दिलों में गुबार भरा हुआ है, फिर मैल कैसे हो। मैली चीज पर कोई रंग नहीं चढ़ सकता, यहां तक कि जब तक दीवाल साफ न हो, उस पर सीमेंट का पलास्तर भी नहीं ठहरता। हम गलत इतिहास पढ़-पढ़कर एक-दूसरे के प्रति तरह-तरह की गलतफहमियां दिल में भरे हुए हैं, और उन्हें किसी तरह दिल से नहीं निकालना चाहते, मानो उन्हीं पर हमारा जीवन का आधार हो। मुसलमानों को अगर यह शिकायत है कि हिन्दू हमसे परहेज करते हैं, हमें अछूत समझते हैं, हमारे हाथ का पानी तक नहीं पीना चाहते, तो हिन्दुओं को यह शिकायत है, कि मुसलमानों ने हमारे मन्दिर तोड़े, हमारे तीर्थ-स्थानों को लूटा, हमारे राजाओं की लड़कियां अपने महल में डालीं, और जाने क्या-क्या उपद्रव किए। हिन्दू मुसलमानों के आचार और धर्म की हंसी उड़ाते हैं, मुसलमान हिन्दुओं के आचार और धर्म की। विजयी जाति पराजितों पर जो सबसे कठोर आघात करती है, वह है, उनके इतिहास को विषैला बना देना। प्राचीन, हमारे भविष्य का प्रथ-प्रदर्शक हुआ करता है। प्राचीन को दूषित करके, उसमें द्वेष और भेद और कीना भरकर, भविष्य को भुलाया जा सकता है। वही भारत में हो रहा है। यह बात हमारे अन्दर ठूंस दी गई है, कि हिन्दू और मुसलमान हमेशा से दो विरोधी दलों में विभाजित रहे हैं, हालांकि ऐसा कहना सत्य का गला घोंटना है। यह बिल्कुल गलत है, कि इसलाम तलवार के बल से फैला। तलवार के बल से कोई धर्म नहीं फैलता, और कुछ दिनों के लिए फैल भी जाय, तो चिरजीवी नहीं हो सकता। भारत में इसलाम के फैलने का कारण, ऊंची जाति वाले हिन्दुओं का नीची जातियों पर अत्याचार था। बौद्धों ने ऊंच-नीच का, भेद मिटाकर नीचों के उद्धार का प्रयास किया, और इसमें उन्हें अच्छी सफलता मिली, लेकिन जब हिन्दू धर्म ने फिर जोर पकड़ा, तो नीची जातियों पर फिर वही पुराना अत्याचार शुरू हुआ, बल्कि और जोरों के साथ। ऊंचों ने नीचों से उनके विद्रोह का बदला लेने की ठानी। नीचों ने बौद्ध-काल में अपना आत्म-सम्मान पा लिया था। वह उच्चवर्गीय हिन्दुओं से बराबरी का दावा करने लगे थे। उस बराबरी का मजा चखने के बाद, अब उन्हें अपने को नीच समझना दुस्सह हो गया। यह खींच-तान हो ही रही थी कि इसलाम ने नये सिद्धान्तों के साथ पदार्पण किया। वहां ऊंच नीच का भेद न था। छोटे-बड़े, ऊंच-नीच की कैद न थी। इसलाम की दीक्षा लेते ही मनुष्य की सारी अशुद्धियां, सारी अयोग्यताएं, मानो धुल जाती थीं। वह मसजिद में इमाम के पीछे खड़ा होकर नमाज पढ़ सकता था, बड़े से बड़े सैयदजादे के साथ एक दस्तरखान पर बैठकर भोजन कर सकता था। यहां तक कि उच्चवर्गीय हिन्दुओं की दृष्टि में भी उसका सम्मान बढ़ जाता था। हिन्दू अछूत से हाथ नहीं मिला सकता, पर मुसलमानों के साथ मिलने-जुलने में उसे कोई बाधा नहीं होती। वहां कोई नहीं पूछता, कि अमुक पुरुष कैसा, किस जाति का मुसलमान है। वहां तो सभी मुसलमान हैं। इसलिए नीचों ने इस नये धर्म का बड़े हर्ष से स्वागत किया, और गांव के गांव मुसलमान हो गए। जहां वर्गीय हिन्दुओं का अत्याचार जितना ही ज्यादा था, वहां यह विरोधाग्नि भी उतनी ही प्रचण्ड थी, और वहीं इसलाम की तबलीग भी खूब हुई। कश्मीर, आसाम, पूर्वी बंगाल आदि इसके उदाहरण हैं। आज भी नीची जातियों में गाजी मियां और ताजियों की पूजा बड़ी श्रद्धा के साथ की जाती है। उनकी दृष्टि में इसलाम विजयी शत्रु नहीं, उद्धारक था। यह है इसलाम के फैलने का इतिहास, और आज

भी वर्गीय हिन्दू अपने पुराने संस्कारों को नहीं बदल सके हैं। आज भी छूत-छात और भेद-भाव को मानते आते हैं। आज भी मन्दिरों में, कुओं पर, संस्थाओं में, बड़ी रोक-टोक है। महात्मा गांधी ने अपने जीवन में सबसे बड़ा काम किया है, वह इस भेद-भाव पर कुठाराघात है। वर्गीय हिन्दुओं में जो एक सूक्ष्म-सी ऊपरी जागृति नजर आती है, इसका श्रेय महात्माजी को है।

तो इसलाम तलवार के बल से नहीं, बल्कि अपने धर्म-तत्वों की व्यापकता के बल से फैला। इसलिए फैला, कि उसके यहां मनुष्यमात्र के अधिकार समान हैं। अब रही संस्कृति। हमें तो हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति में कोई ऐसा मौलिक भेद नहीं नजर आता। अगर मुसलमान पाजामा पहनता है, तो पंजाब और सीमा प्रान्त के सारे हिन्दू स्त्री-पुरुष पाजामा पहनते हैं। अचकन में भी मुसलमानी नहीं रही। रहा चौका-चूल्हा। पंजाब में चौके-चूल्हे का झगड़ा, हिन्दुओं में भी नहीं है, और शिक्षित समाज तो कहीं भी चौके-चूल्हे का कायल नहीं। मध्यप्रान्त के मुसलमान भी हिन्दुओं की ही भांति चौके-चूल्हे की नीति का व्यवहार करते हैं। हिन्दू, मुस्लिम भेद के लिए, यहां भी कोई टिकाव नहीं मिलता। हमारे देवता अलग हैं, उनके देवता अलग। पुराणों के देवता को चाहे कुछ कहा जाय, हम तो प्रतिमा को ही देवता मानते हैं। शिव और राम और कृष्ण और विष्णु जैसे हमारे देवता हैं, वैसे ही मुहम्मद, अली और हुसैन आदि मुसलमानों के देवता या पूज्य पुरुष हैं। हमारे देवता जैसे त्याग, आत्मज्ञान, वीरता और संयम के लिए आदरणीय हैं, उसी भाँति मुस्लिम देवता भी हैं, अगर हम श्री रामचन्द्र को स्मरणीय समझे जाते हैं, तो कोई कारण नहीं, कि हुसैन को उतना ही आदरणीय न समझें। हम मन्दिरों में पूजा करने जाते हैं, मुसलमान मसजिदों में, ईसाई गिरिजाघरों में। मगर कोई जैनी या आर्य-समाजी मन्दिर में पूजा करने नहीं जाता। क्या इसलिए कि हम जैनियों या आर्य-समाजियों को अपने से पृथक् समझते हैं? सिख भी मन्दिरों में नहीं जाते। उनके गुरुद्वारे अलग हैं, पर इसलिए हम सिक्खों से लड़ने नहीं जाते। यों तो हिन्दू-हिन्दू में, जाति-जाति में, वर्ग-वर्ग में भेद है और इन भेदों पर हम लड़ने लग जायें, तो जीवन नरक-तुल्य हो जाय। तो जब हम इन भेदों को भूल जाते हैं, तो मसजिद में नमाज पढ़ना क्यों आपत्ति की बात समझी जाय। महात्मा गांधी तो गिरजा में भी प्रार्थना कर लेते हैं। यहां भी हमें हिन्दू-मुसलिम भेद के लिए कोई आधार नहीं मिलता। तो क्या वह गऊ-हत्या में है? या शिखा में? या जनेऊ में? जनेऊ तो आज कम से कम अस्सी फीसदी हिन्दू नहीं पहनते, और शिखा भी अब उतनी व्यापक वस्तु नहीं है। हम किसी हिन्दू को इसलिए अहिन्दू नहीं कह सकते, कि वह शिखाधारी नहीं है। बंगाल में शिखा का प्रचार नहीं। रही गऊ-हत्या। यह तो मालूम ही है कि अरब में गायें नहीं होतीं। वहां तो ऊंट और घोड़े ही पाए जाते हैं। भारत खेती का देश है, और यहां गाय को जितना महत्व दिया जाय उतना थोड़ा है। लेकिन आज कौल-कसम लिया जाय तो शायद ऐसे बहुत कम राजे-महाराजे या विदेश में शिक्षा प्राप्त करने वाले हिन्दू निकलेंगे जो गौमांस न खा चुके हों। और उनमें से कितने ही आज हमारे नेता हैं, और हम उनके नामों पर जायघोश करते हैं। अछूत जातियां भी गौमांस खाती हैं, और आज हम उनके उत्थान के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। हमने उनके मन्दिरों में प्रवेश के निमित्त कोई शर्त नहीं लगाई और न लगानी चाहिए। हमें अख्तियार है, हम गऊ की पूजा करें, लेकिन हमें यह अख्तियार नहीं है, कि हम दूसरों को गऊ-पूजा के लिए बाध्य कर सकें। हम ज्यादा से ज्यादा यही कर सकते हैं, कि गौमांस-

भक्षियों की न्यायबुद्धि को स्पर्श करें। फिर मुसलमनों में अधिकतर गौमांस वही लोग खाते हैं, जो गरीब हैं, और गरीब अधिकतर वही लोग हैं, जो किसी जमाने में हिन्दुओं से तंग आकर मुसलमान हो गए थे। वे हिन्दू-समाज से जले हुए थे और उसे जलाना और चिढ़ाना चाहते थे। वही प्रवृत्ति उनमें अब तक चली आती है। जो मुसलमान हिन्दुओं के पड़ोस में देहातों में रहते हैं, वे प्राय: गौमांस से उतनी ही घृणा करते हैं जितनी साधारण हिन्दू। इसलिए यदि हम चाहते हैं कि मुसलमान भी गौभक्त हों, तो उसका उपाय यही है कि हमारे और उनके बीच में घनिष्ठता हो, परस्पर ऐक्य हो। तभी वे हमारे धार्मिक मनोभावों का आदर करेंगे। बहरहाल इस जाति-द्वेष का कारण गौहत्या नहीं है। और उर्दू-हिन्दी का झगड़ा तो थोड़े-से शिक्षितों तक ही महदूद है। अन्य प्रान्तों के मुसलमान उर्दू के भक्त नहीं और न हिन्दी के विरोधी हैं। वे जिस प्रान्त में रहते हैं, उसी की भाषा का व्यवहार करते हैं। सारांश यह, कि हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का कोई यथार्थ कारण नहीं नजर आता। फिर भी वैमनस्य है और इससे इनकार नहीं किया जा सकता। यहां तक कि हममें बहुत कम ऐसे महानुभाव हैं, जो इस वैमनस्य के ऊपर उठ सकें। खेद तो यह है, कि हमारे राष्ट्रीय नेता भी इस प्रवृत्ति से खाली नहीं हैं। और यही कारण है, कि हम एकता-एकता चिल्लाने पर भी, उस एकता से उतनी ही दूर हैं। जरूरत यह है कि, जैसा हम पहले कह चुके हैं, कि हम गलत इतिहास को दिल से निकाल डालें और देश-काल को भली- भांति विचार करके अपनी धारणाएं स्थिर करें। तब हम देखेंगे, कि जिन्हें हम अपना शत्रु समझते थे, उन्होंने वास्तव में दलितों का उद्धार किया है। हमारे जात पांत के कठोर बन्धनों को सरल किया है, और हमारी सभ्यता के विकास में सहायक हुए हैं। यह कोई छोटी और महत्वहीन बात नहीं कि 1957 के विद्रोह में हिन्दू- मुसलमान दोनों ही ने जिसे अपना नेता बनाया, वह दिल्ली का शक्तिहीन बादशाह था। हिन्दू- मुसलमान नृपतियों में पहले भी लड़ाइयां हुई हैं, पर वह लड़ाइयां धार्मिक द्वेष के कारण नहीं, स्पर्धा के कारण थीं, उसी तरह जैसे हिन्दू राजे, आपस में लड़ा करते हैं। उन हिन्दू- मुस्लिम लड़ाइयों में हिन्दू सिपाही मुसलमानों की ओर होते थे, और मुसलमान सिपाही हिन्दुओं की ओर।

प्रोफेसर मुहम्मद हबीब ऑक्सन ने अपने 'मध्यकाल में हिन्दू- मुस्लिम सम्बन्ध' नाम से इस विषय पर एक विद्वतापूर्ण लेख लिखा है, जिसका एक अंश हम नकल करते हैं

'कहा जाता है, कि हिन्दुओं को घोड़े पर सवार होने, तीर चलाने और जुलूस निकालने तथा स्नान और पूजा-पाठ का निषेध था, पर किंवदन्तियां मौलिक प्रमाणों के गलत मुताला (अध्ययन) से पैदा हुई हैं। उस जमाने का हिन्दू मजहब संगठित और शक्तिशाली था। उसके साथ मुसलमान बादशाह इसलिए रवादारी बरतते थे, कि इसके सिवा दूसरी राह न थी। उनके लिए साम्प्रदायिक संघर्ष का फल तबाही के सिवा और कुछ न होता। यह विचित्र बात है, कि मध्यकालीन इतिहास के राजनैतिक या ऐतिहासिक साहित्य में हिन्दू-मुस्लिम द्वन्द्व का कोई छोटे से छोटा प्रमाण नहीं मिलता। लेकिन इसका कारण यह नहीं है, कि हिन्दू इसके लिए तैयार न थे। नहीं ! वह तो अपनी रणप्रियता के लिए बदनाम थे। लेकिन इस काल की किसी लड़ाई में भी हम सेनाओं को साम्प्रदायिक आधार पर लड़ते नहीं पाते। अफगानी सिपाहियों का एक दस्ता तराइन की लड़ाई में राय पिथौरा के नीचे लड़ा था। मुसलमानों की एक पैदल सेना ने पानीपत की लड़ाई में मराठों की मदद की थी। असली हिन्दू-मुस्लिम लड़ाई तो वास्तव में कभी हुई ही नहीं।

[संपादकीय। 'हंस', नवम्बर, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

गोलमेज़ सभा का विसर्जन-1

गोलमेज़ सभा जिस तरह पहली बार गपशप करके समाप्त हो गई, उसी तरह दूसरी बार भी गपशप करके समाप्त हो गई। समाप्त क्यों हुई, अभी कुछ और गपशप होगी और यह सिलसिला शायद दो-चार साल चलेगा। कमेटियों और तहकीकातों से असली बात को टालते रहना राजनीति की पुरानी चाल है और वह इस वक्त भी चली जा रही है। जहां किसी बात की शिकायत पैदा हुई और शिकायत ने जोर पकड़ा कि फौरन तहकीकात कमेटी बना दी गई। शिकायत करने वालों में, जिनकी आवाज सबसे ऊंची थी, उन्हें उस तहकीकाती कमेटी में शरीक कर लिया गया। साल-दो साल तहकीकात में लगे, तब तक वह शिकायत कुछ ठंडी पड़ गई। अगर कमेटी ने जोरदार सिफारिशें कीं, तो उन पर विचार करने के लिए एक कमेटी और बना दी गई। जब नौकरशाही कुछ करना नहीं चाहती, केवल बहानों से काम लेना चाहती है तो वह फौरन तहकीकात शुरू कर देती है। ऐसी ऐसी मोटी बातों की तहकीकात होने लगती है, जिन्हें एक-एक बच्चा जानता है। और कमेटी के कायम होने से उसकी रिपोर्ट छपने और उस पर विचार होने तक, या तो यह बात ही पुरानी हो जाती है, या पब्लिक का ध्यान दूसरी बातों की ओर चला जाता है। गोलमेज में भी यही अभिनय हुआ। मांगा तो जा रहा था स्वराज्य, अंग्रेजी राज्य की जनता की तो यह मांग थी, मगर फेडरेशन का स्वांग खड़ा करके उसमें राजाओं को शरीक करके, ख्वामख्वाह एक उलझन डाल दी गई। स्वराज्य का मुआमला पीछे दब गया। अब फेडरेशन का शोर सुनाई देने लगा। राजे अधिकतर दकियानूसी विचारों के हैं ही, सरकार का उनके ऊपर दबाव भी बेहद है, इसलिए ब्रिटिश इंडिया की बढ़ती हुई स्वराज्य की इच्छा को पीछे रोक रखने के लिए फेडरेशन का स्वांग खड़ा कर दिया गया। चार छह साल तक तो मुआमला यों ही टाल गया, मगर सच पूछिए, तो यह स्कीम ही बच्चों का तमाशा थी। अंग्रेजी सरकार असली अधिकार छोड़ना नहीं चाहती। फौज और माल और बड़ी व्यवस्थापक सभा की जिम्मेदारी देने पर तैयार नहीं है, तो हमारी समझ में नहीं आता, इस बैठा बहम कराने का अभिप्राय ही क्या था। कहा जाता है तुम लोग आपस में खुद तस्फिया कर लो, जो चाहो वह हम दे देते हैं। यह गोलमेज सभा हुई ही क्यों? लिबरलों की मांगें मालूम थीं ही मुसलमानों की मांगें भी मालूम थीं ही, कांग्रेस ने भी अपनी शर्तें प्रकाशित कर ही दी थीं, तो फिर वह कौन-सी जमाअत थी, जिसकी राय लेने के लिए गोलमेज़ सभा की गई। वास्तव में गोलमेज सभा कांग्रेस आंदोलन का नतीजा थी, पर उसका उद्देश्य कांग्रेस की शर्तों पर विचार करना नहीं, बल्कि भिन्न भिन्न दलों के प्रतिनिधियों को जमा करके उनमें जो मत विरोध है, उसका प्रदर्शन करना था। भारत में उन भिन्न-भिन्न दलों का कोई असर न हो, कोई गिनती न हो, न उनके अनुयायियों की कुछ संख्या हो, पर इंग्लैंड में उन्हें वही महत्व दिया गया, जो कांग्रेस को था। इतने आदमी जमा ही क्यों किए गए भिन्न भिन्न विचारों के व्यक्तियों को जमा करके यह आशा करना कि वह आपस में मिलकर कोई समझौता करेंगे, दुराशा मात्र है। कांग्रेस ने जो संग्राम छेड़ा था, वह किसी जाति-विशेष, या वर्ण-विशेष के हित के लिए नहीं छेड़ा था। वह राष्ट्र की ओर से सभी जातियों और वर्णों के हित को सामने रखकर लड़ने खड़ी हुई थी। इसीलिए उसमें हरेक जाति और वर्ण के आदमी शरीक थे। जहां तक स्वराज्य का सम्बन्ध है, कांग्रेस ही राष्ट्र थी। और किसी दल ने तो उंगली

तक न उठाई। धन, जान कांग्रेस ने बलिदान किए। पर जब समझौते का समय आया, तो कांग्रेस भी उसी लाठी से हांक दी गई, जिस लाठी से और दल वाले हांके गए। कांग्रेस को राष्ट्र न समझ कर कई दलों में से एक समझा गया। कांग्रेस ने पहले ही समझ लिया था कि गोलमेज़ में कुछ होना-हवाना नहीं है, लेकिन चूंकि कई नेताओं का आग्रह था और उन्हें विश्वास था कि इंग्लैंड सच्चे दिल से न्याय करना चाहता है, इसलिए कांग्रेस ने महात्मा गांधी को वहां अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजना स्वीकार कर लिया। लेकिन उसे शुरू से सभा के सफल होने में संदेह था। और उसका संदेह सत्य निकला। अब कांग्रेस के ऊपर यह दोष नहीं लगाया जा सकता कि उसने मसालहत से काम लेने के बदले जिद से काम लिया। महात्मा गांधी शान्ति के उपासक हैं। मसालहत से काम लेने में वह जितना दबे और झुके, उसने विरोधियों को भी उनके शान्ति-प्रिय होने का विश्वास दिला दिया और यद्यपि अभी कोई प्रत्यक्ष फल नहीं निकला, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि महात्मा जी का जाना बेकार हुआ। इंग्लैंड का सबसे कट्टर दल भी केन्द्रीय उत्तरदायित्व स्वीकार करने पर बाध्य हुआ, मगर किसी वस्तु को आदर्श रूप मान लेना और बात है और उसे व्यवहार में लाना और बात। ऐसा अनुमान होता है कि कांग्रेस ने पिछले साल जो तपस्याएं की हैं, वह इच्छित वरदान के लिए काफी न थीं और अभी उसे और तपस्या करनी पड़ेग

[संपादकीय। 'हंस', दिसम्बर, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

बंगाल आर्डिनेंस

बंगाल आर्डिनेंस पास करके सरकार ने वही किया, जो बमबाज़ों की इच्छा थी। बमबाज़ यही तो चाहता है कि सरकार को ऐसे-ऐसे अन्याचार करने पर उत्तेजित किया जाय, कि जनता उसे अपना दुश्मन समझने लगे। इस कानून ने यह उद्देश्य पूरा कर दिया। पुलिस शुबह में निरपराधियों को पकड़ेगी ही। नतीजा यह होगा, कि जो लोग उस पार्टी से कोई सरोकार न रखते थे, वे भी सरकार के विरोधी हो जायंगे। बमबाज तो अपने को छिपाए रखता है। खटका देखते ही चम्पत हो जाता है। पकड़े जाते हैं वह जो लगन के साथ राष्ट्रीय काम करते होते हैं, और जिनसे पुलिस चौकन्नी रहती है। इसलिए यह कानून बमबाजों का तो अंत न कर सकेगा, हां, कांग्रेस और इसी उद्देश्य से काम करने वाली दूसरी संस्थाओं का अन्त कर देगा। इधर कई महीनों से बमबाज़ों की उग्रता और सरकार का धैर्य देख-देखकर जनता को सरकार से सहानुभूति होने लगी थी, लेकिन इस कानून ने आकर उस स्पिरिट का गला घोंट दिया। बमबाज़ों तक तो हमारी आवाज पहुंच ही न सकेगी, लेकिन अगर उनमें नीति और धर्म का पूर्णरूप से लोप नहीं हो गया है तो उन्हें अपने कृत्यों के फलस्वरूप निरपराधियों को प्रताड़ित होते देखकर लज्जित होना चाहिए। दो-चार कर्मचारियों की हत्या करके वह चाहे अपने को विजयी समझ लें, लेकिन यथार्थ में उनके हाथों राष्ट्र का जो अहित हो रहा है।, उसका अनुमान करना कठिन है। यह न तो बहादुरी है, और न ईमानदारी, कि तुम तो आग लगाकर दूर खड़े हो जाओ और घर दूसरों का जले। संसार पर आज भी प्रेम और सत्य का राज्य है। आज भी अन्याय को न्याय के सामने सिर उठाने का साहस नहीं होता। महात्माजी ने प्रेम और अहिंसा का बल प्रदर्शित करके सारे संसार को चकित कर दिया है। अगर अभी उन शस्त्रों से

हम विजय न पा सकें तो इसका यह कारण नहीं है कि वह शस्त्र दूषित हैं, बल्कि यह कि हम हिंसा भाव को दिल से निकाल नहीं सके। हिंसा से हिंसा और अहिंसा से अहिंसा उत्पन्न होती है। यह ध्रुव सत्य है और इस प्राकृतिक नियम को याद रखना बलवानों के लिए जितना आवश्यक है, उतना ही सरकार के लिए भी है।

[संपादकीय। 'हंस', दिसम्बर, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

संयुक्त प्रान्त के दो कन्वोकेशन

युनिवर्सिटी तो भारत में कोई है नहीं, हां, ग्रेजुएट बनाने के लिए कई कारखाने हैं इस लिहाज से संयुक्त प्रान्त भारत का लंकाशायर या बम्बई है। यहां ऐसे-ऐसे पांच बड़े-बड़े कारखाने हैं, जहां युवकों को दुर्व्यसन और फिजूलखर्ची और विलासिता और झूठे अभिमान की शिक्षा दी जाती है। बी० ए० पास होने का अर्थ व्यावहारिक रूप से यही है कि अमुक युवक दुर्गुणों में पास हो चुका है। वह सिवा दफ्तर में कलम घिसने के और किसी काम का नहीं है। उस गरीब का कोई दोष नहीं। वह तो खुद इस मशीन में बना हुआ है। आखिर उसने जो कुछ देखा है, जो कुछ सुना है जो कुछ पढ़ा है वही आदर्श तो उसके सामने हैं। किसी युनिवर्सिटी में चले जाइए। वहां आपको भारतीयता की कहीं गन्ध भी न मिलेगी। वहां अंग्रेजी भाषा का, अंग्रेजी वेश का, अंग्रेजी आचार का ही आधिपत्य है। त्याग और प्रेम के आदर्श का एक सिरे से बहिष्कार कर दिया गया है। वहां वही विद्वान् है, जो इंग्लेण्ड से कोई बड़ी सी उपाधि लाया है। वहां जो कुछ है, उपाधि है। इन विद्यालयों ने भारत में 'फैशनबुल' समुदाय की सृष्टि करने में जो जो काम कर दिखाया है, वह और किसी ने नहीं किया। जो उसकी चार दीवारी के अन्दर रह आया, उस पर वहां यका जादू ऐसा चढ़ा कि उम्र भर नहीं उतरता। भारत की व्यक्तिगत आय अधिक से अधिक तीन रुपया महीना है पर हमारा उपाधिधारी युवक साठ रुपये से कम में गुजर ही नहीं कर सकता। वह अकेला बीस आदमियों का हिस्सा चट कर जाता है और उसके अध्यापक कम से कम दो सौ व्यक्तियों के। भारत जैसे गरीब देश में ही यह अन्धेर हो सकता है कि वहां के राजपद भोगियों का वेतन संसार के धनवानों देशों से कई गुना बढ़ा हुआ है। वही अन्धेर हमारे विद्यालय में भी है, क्योंकि वह भी उसी दफ्तरी शासन का एक अंग है। हमारे वाइसचांसलर साहब को तीन महीने में तीन हजार चाहिए। जिस विद्यालय का मुख्याधिष्ठाता विद्यार्थियों के सामने अपने आदर्श रख रहा है, उस विद्यालय के छात्र अगर धन के उपासक हों तो क्या आश्चर्य है। कहा जायगा इंग्लैण्ड में भी तो प्रोफेसरों के वेतन कम नहीं हैं, लेकिन कहां इंग्लैण्ड और कहां भारत।

खैर, अब की उपाधि-बंटाई के अवसर पर इलाहाबाद के कारखाने में सर रमन का भाषण हुआ और लखनऊ के कारखाने में सर राधाकृष्णन का। सर रमन चोटी के वैज्ञानिक हैं। और सर राधाकृष्णन चोटी के फिलासफर, पर इन दोनों भाषणों में बहुत अन्तर है। सर रमन ने तो प्रयाग के कारखाने की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और उसे आदर्श विद्यालय कहा है, हालांकि उसी प्रयाग के कारखाने में जब कुछ किफायत का प्रश्न उठा तो कारखाने की प्रबन्धकर्तृणी कमेटी ने यह निश्चय किया कि होस्टल के छात्रों की फीस बढ़ा दी जाय, क्योंकि अध्यापकों के वेतन में तो किसी तरह की कमी हो ही नहीं सकती। यह है उस विभाग

का हाल, जिस पर हमारा स्वराज्य है। रमन साहब ने तो प्रयाग विश्वविद्यालय की तुलना हार्वर्ड से करने में भी संकोच न किया। जिस विद्यालय में हमारे युवकों के चरित्र का निर्माण होता है, वहां स्वार्थपरता अपने नग्न रूप में खड़ी हो, यह हमारे दुर्भाग्य की बात है। और विभागों से तो हमें शिकायत नहीं। उनका अस्तित्त्व बल पर है। वह पशुबल से जितना चाहते हैं, हमसे वसूल करते हैं, जैसे चाहते हैं खर्च करते हैं। हम विवश हैं। लेकिन, विद्यालय तो हमारी सभ्यता के आदर्श हैं। सर रमन के शब्दों में-'हम एक महान सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं'-जब वहां स्वार्थ का प्रकोप इतना व्याप्त हो रहा है तो हम अपने भविष्य से निराश हो जाते हैं। हम अपने विद्यालयों से यह आशा करते हैं कि इस धनाभाव के अवसर पर वह स्वयं अपना खर्च कम कर देते, तब शायद अन्य सरकारी विभाग की आंखें खुलतीं। कम से कम हमें अपने विद्यालयों पर गर्व करने का मुंह होता, लेकिन इस नीति से कसम लेकर उन्होंने सिद्ध कर दिया कि वे भी स्वार्थोपासना में दूसरे विभागों से जौ भर भी कम नहीं हैं। हम ऐसे विद्यालयों को अपनी महान सभ्यता का उत्तराधिकारी नहीं समझते, बल्कि उसके लिए कलंक समझते हैं। हमारे विद्यालयों का आदर्श कुछ और था और वह अब भी कुछ छोटे रूप में गुरुकुलों में देखा जा सकता है। सबसे अचम्भे की जो बात सर रमन ने कही, वह यह थी-

'हिन्दुस्तान के विद्यालयों का धर्म नहीं है, कि वह इस क्रांति और परिवर्तन की गति को और भी तेज बनावें बल्कि उनका वास्तविक धर्म है कि वह जातीय विकास की इस द्रुत गति के लिए ब्रेक-रुकावट-का काम दें।' भारत में इस समय जो क्रांति व्याप्त हो रही है उसका तत्व हमारी समझ में सर रमन ने नहीं समझा। भारत की क्रांति, केवल अपनी आत्मा को पा जाने की इच्छा है। हम देख रहे हैं कि योरोप की स्वाधीनता की कृत्रिमता और हृदयहीनता भारत को ग्रस्त करती चली जाती है। हमारे विद्यालयों की स्थापना इसी उद्देश्य से सरकार द्वारा हुई थी और सरकार को अपने उद्योग में पूरी सफलता हुई। हमारी क्रांति अपनी खोई हुई आत्मा को--अपने त्याग और सरलता और आदर्शवाद को- फिर वापस लाना चाहती है और इस पश्चिमी संघर्ष और स्वार्थवाद को मिटाकर उसकी जगह सहयोग और सहृदयता को आसीन देखने को इच्छुक है। इसकी गति में ब्रेक लगाने का अर्थ यही हो सकता है कि भारत इस पतन को चुपचाप देखता रहे। घर में आग लग जाने पर उसे जल्द से जल्द बुझाना चाहिए क्योंकि विलम्ब से सर्वनाश की ही सम्भावना है।

लखनऊ विश्वविद्यालय में सर राधाकृष्णन का भाषण अपनी निर्भीकता और राष्ट्रीय भावों के एतबार से इस प्रकार के भाषणों में अद्वितीय है। सर राधाकृष्णन ने अधिकारियों की खुशी या नाखुशी की बिल्कुल परवाह न करके सच्ची और बेलाग बातें कह सुनाई हैं। इस आन्दोलन काल में विद्यालयों का क्या धर्म है और युवक छात्रों से क्या आशाएं की जानी चाहिए, इसका उन्होंने एक सच्चे देशभक्त की भांति विवेचन किया है। हम हमेशा सुनते आये हैं कि फिलासफरों के सम्बन्ध में कितनी ही हास्यास्पद कथाएं प्रचलित हैं, पर सर राधाकृष्णन के इस भाषण ने सिद्ध कर दिया कि वह फिलासफर होते हुए भी राष्ट्र के दु:ख से दुखी हैं और शिक्षित समुदाय का इस समय क्या धर्म है, इसे अच्छी तरह समझते हैं। विचारों की प्रौढ़ता और उदारता में हमने किसी कान्वोकेशन में ऐसा भाषण नहीं सुना। उसका एक-एक वाक्य दिल पर असर करनेवाला है। आपने कहा-

'बुद्धिमान आदमी का यह दावा नहीं होता कि हरेक विषय में वह कोई न कोई राय दे

सकता है, न वह किसी लेखक का सार एक वाक्य और किसी संस्कृति का तथ्य एक व्यंग्य म प्रकट करता है। बुद्धिमान मनुष्य की दृष्टि का विस्तार विचार कर स्वाधीनता और नवीनता और अन्य भावों का समझने की शक्ति होती है। वह हमेशा उन विचारों से सहानुभूति रखने को तैयार रहता है, जिसने उसे मतभेद है।

आगे चलकर आपने इन वाक्यों म विद्यालयों के पुराने आदर्श पर प्रकाश डाला

'प्राचीनकाल म विद्यालयों के संस्कार की उपमा एक मशाल से दी जाती थी जो एक हाथ से दूसरे हाथ और एक युग से दूसरे युग तक चलती रहती थी। यह मशाल एक भयंकर वस्तु है। इसने कितने ही आन्दोलनों को उठाया है कितनी ही हलचल जगाई है। यह क्रान्ति भावना का बोधक है वह आग है जो घास फूस और गन्दगी को जलाकर साफ कर देती है। अगर हम इन सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक आन्दोलनों से भयभीत हो जायं तो इस आग के फैलने से पैदा होते हैं तो हम विद्यालयों से दूर हो रहना चाहिए।'

आपने आगे चलकर कहा कि विद्यालय म युवावस्था का जोश और सजीवता होना चाहिए। अगर विद्यालय ऐसे मनुष्य पैदा करते हैं जो ... के ... है जो अपनी जान के ... मानते हैं जो ऐश आराम के बन्दे हैं जो आराम म बसते हैं तो वह विद्यालय अपने धर्म का पालन नहीं कर सकते। अगर उत्साह और पौरुष से भरे हुए युवकों को लेकर उन्हें ... स्वार्थी और प्रथा ... का गुलाम बना देते हैं अगर वह उनके विचारों को कुण्ठित कर देते हैं और उनकी आगे बढ़ने की शक्ति ... ... कर देते हैं तो वह अपने धर्म से दूर चला गया है।

यह भाषण आदि से अन्त तक उनके ओजस्वी उनके विद्वता से भरा हुआ है कि हममें से हरेक को उसे बार बार पढ़ना चाहिए।

[सम्पादकीय। 'हंस' दिसम्बर 19.. म प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग म संकलित।]

बधाइयां

हम देवी सुभद्राकुमारी चौहान को साहित्य सम्मेलन द्वारा और भाई जैनेन्द्रकुमार को हिन्दुस्तानी एकाडमी द्वारा पुरस्कृत होने पर हृदय से बधाई देते हैं। पांच सौ रुपया कोई बड़ी रकम नहीं है पर बधाई देते इस बात की है कि विद्वज्जनों ने उनके कमाल को स्वीकार किया। दोनों ही पुस्तकें देवी जी की 'बिखरे मोती' और जैनेन्द्रजी की 'परख' इस सम्मान के योग्य थीं। 'बिखरे मोती' नारी हृदय का प्रतिबिम्ब है नारी हृदय की सारी अभिलाषाओं और जागृतियों का आईना। 'परख' अन्तःप्रेरणा और दार्शनिक संकोच का संघर्ष है इतना हृदय को मसोसने वाला इतना स्वच्छन्द और निष्कपट जैसे बन्धनों म जकड़ी हुई आत्मा की पुकार हो।

विधि की कितनी क्रूर लीला है कि इधर तो यह पुरस्कार मिला उधर उनका साल भर का हसता-खेलता बच्चा परलोक सिधारा। अब किस मुह से कहें कि मित्रों की दावत करो। विधि को अगर उस आदर का मूल्य लेना था तो वह बिना आदर ही के भले थे। बधाई तो दी है, पर रोती हुई आखों से।

[सपादकीय। 'हंस' जनवरी 1932 मे प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग 3 मे सकलित।]

गोलमेज़ सभा का विसर्जन-2

गोलमेज़ की महफिल का तीसरा दौर भी खतम हो गया, लेकिन साकी ने शराब में कुछ ऐसी कारस्तानी की कि न कुछ रंग जमा न सुरूर गठा। शायद ऐसे ही मौके के लिए स्वर्गवासी सुरुर ने यह शेर कहा–

बजाय मय दिया पानी का एक गिलास मुझे।
समझ लिया मेरे साकी ने बदहवास मुझे।।

साकी ने तैयारियां तो ऐसी-ऐसी की थीं कि पीने वाले शायद समझे थे शैम्पेन न सही, जानीवाकर तो कहीं नहीं गया। बड़े-बड़े खुम मंगवाये थे, जिनकी खुशबू से दिमाग ताजा हो जाता था। साफ-सुथरी बोतलों में उनकी लाली देखकर पीने वालों के मुंह में पनी भर-भर आता था। मैखाने के द्वार पर मैकशों की भीड़ लगी हुई थी। लोग बेकरार होकर मिन्नतें कर रहे थे–लिल्लाह ! हमें भी अन्दर आने दो। बदमिजाज साकी बड़ी मुश्किलों से दरवाजा खोलता था। पहला दौर चला। लोग मुंह फीका करके एक दूसरे का मुंह देखने लगे मानो कह रहे हों–यार यह तो कुछ समझ में नहीं आता, कुछ फीकी-फीकी-सी है। साकी उनका रुख देखकर मुस्कराया और बोला–तुम लोग ठर्रा पीने वाले हो, इसका मजा क्या जानो। इसका लुत्फ इसके फीकेपन में ही है। फिर दूसरा दौर शुरू हुआ। अबकी दो-एक मैकशों ने साफ-साफ कह दिया–हजरते साकी, यह तो कुछ है नहीं, फीकी-फीकी-सी लगती है। साकी ने झिड़का नहीं, त्योरियां नहीं, बदलीं, सद्भाव से मुस्कराकर बोला–इसके फीकेपन पर न जाओ, यह वह चीज है जो अपना सानी नहीं रखती। तीसरा दौर शुरू हुआ, बिल्कुल पानी। पहले दोनों दौरों में कुछ गर्मी, कुछ तेजी, कुछ तल्खी थी, इस दौर में तो निखालिस पानी। पीने वाले हैरान होकर कभी बोतल की ओर देखते हैं, कभी खुम की ओर, कभी साकी की ओर और कभी एक दूसरे के मुंह की ओर। अगर यह पानी ही पिलाना था तो यह महफिल सजाने की, इस बोतल, खुम, सुराही और प्याले की क्या जरूरत थी। मगर पीने वालों का सरूर गठे या न गठे, यह तो कोई कह ही नहीं सकता कि महफिल नहीं जमी, दौर नहीं चले। साकी के दाम खड़े हो गये !

गोलमेज सभा समाप्त हो गई। खूब गपशप हुई, एक दूसरे की तारीफें हुई, यारों ने अपनी-अपनी जबान की चुल मिटाई, और अपने घर सिधारे। जहां सन्. 30 में थे, वहीं आज भी हैं। नहीं, वहां से भी पीछे। तब यह आर्डिनेंस न थे, साम्प्रदायिकता की यह प्रधानता न थी, राष्ट्रीयता की विरोधक इतनी व्यवस्थाएं न थीं। हम आगे बढ़ना चाहते थे। हमें पीछे ढकेल दिया गया। हम राष्ट्र-निर्माण का अधिकार चाहते थे, उस अधिकार को सात तालों के अन्दर बन्द कर दिया गया। आज भारत अपने शासकों के पांव के नीचे पड़ा सिसक रहा है, परास्त और पददलित। सायल साखी के द्वार पर भिक्षा मांगने गया था। साखी ने केवल यही कहा–लौट जाओ। उसने सायल को धक्के देकर निकाल दिया। और उसकी झोली में जो कुछ था उसे भी छीन कर जमीन पर फेंक दिया। वही मसल हुई चौबे जी छब्बे बनने गए थे, दूबे ही रह गए। हमने गोलमेज़ से बहुत बड़ी आशाएं न बांधी थीं, लेकिन कुछ न कुछ पाने की आशा अवश्य रखते थे। कम से कम एक चुटकी भर आटा तो मिल ही जायगा। लेकिन वह चुटकी तो न मिली, झोली अलबत्ता छिन गई।

चलते चलाते हैरान सर सैमुएल होर ने कुछ मीठी-मीठी बातें कीं, लार्ड सैके ने भी जख्म पर मरहम रक्खा, लेकिन मीठी बातें तो हम बहुत दिनों से सुनते आते हैं। उन बातों का क्रियात्मक रूप कुछ और ही होता है। दुधार गाय दो लात मार दे तो उसे हम खुशी से सह लेते हैं, लेकिन उस गाय को कौन पालेगा जो यों तो बड़ी सीधी है, उसकी नांद में भूसा, खली, दाना डाल जाओ, जरा भी नहीं बोलेगी, उसकी पीठ सहलाओ, चुपचाप खड़ी रहेगी, लेकिन तुमने थन में लगाया कि उसने तानकर लात जमाई।

समस्या थी अधिकार की, माली अधिकार की, फौजी अधिकार की, जिम्मेदारी शासन की। यह समस्याएं एक भी हल नहीं हुई। हम कुछ नहीं जानते फेडरेशन कब आवेगा, वह किस रूप-रंग का होगा, उसमें रियासतों और अंग्रेजी इलाकों में क्या सम्बन्ध होगा, व्यवस्थापक सभाओं के क्या अधिकार होंगे, वह फौजी खर्च में कुछ कमी-बेशी कर सकेंगी, फौज के भारतीयकरण की प्रगति को कुछ तेज कर सकेंगी ! क्या गवर्नर जेनरल और गवर्नरों के अधिकारों को ज्यों का त्यों रहने दिया जायगा? वे अब भी उसी स्वेच्छा से आर्डिनेन्स बनाते रहेंगे? प्रान्तीय स्वराज्य का बड़ा शोर सुन रहे थे। क्या वह भी उसी तरह मिनिस्टरों के अधिकार में होगा जैसे अब है या कार्उसिल का उन पर कुछ असर होगा? इन प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर हमें नहीं मिलता। अगर सारी चीख-पुकार का नतीजा यही हुआ कि 100 की जगह 230 मेम्बर कार्उसिलों में बैठें, तो मुफ्त की जहमत और खामख्वाह शासन का खर्च बढ़ाना है। इससे तो यही कहीं अच्छा है कि सारी व्यवस्थापक सभाएं और कार्यकारिणी सभाएं तोड़ दी जायं और गवर्नर साहबान स्वच्छन्दता से राज्य का संचालन करें। उस दशा में कम से कम इतना फायदा तो होगा कि सिर का बोझ कुछ हलका हो जायगा। जब हमें रूखी रोटियां ही मिलनी हैं तो हलुआ और मोहन भोग हमारे सामने क्यों रखा जाय। हम उन पदार्थों को देखने से ही तृप्त नहीं हो सकते, उन्हें खाना भी चाहते हैं। या तो हमारे पत्तलों पर लाकर डालिए या हमारी आंखों के सामने से हटा ले जाइए।

हां, दो एक बातों में ज़रूर गोलमेज में मुस्तैदी दिखाई गई। पहली दोनों सभाओं में यह स्पष्ट रूप से नहीं स्वीकार किया गया था कि मुसलमानों को केन्द्रीय सभा में 33 3 हिस्सा दिया जायगा। अबकी सर सैमुएल होर ने विदाई का यह पुरस्कार मुसलमानों को दिया। इलाहाबाद के एकता सम्मेलन में हिन्दू मुसलमानों में यह समझौता हुआ है। सेक्रेटरी साहब ने उस पर सरकारी मुहर लगा दी। अब वह पक्का हो गया। कुछ ऐसे मुसलमानों को जो बड़ी सभा में अपनी संख्या निश्चित न होने के कारण असन्तुष्ट थे, अब शिकायत की कोई गुंजाइश न रहेगी और वे एकता सम्मेलन से अधिक से अधिक जो पा सकते थे यों मिलते देखकर शायद सम्मेलन से पृथक् हो जायं। सिंध के विषय में भी सर सैमुएल ने वैसी ही तत्परता से काम लिया। पिछली गोलमेज़ में उन्होंने सन्देहात्मक शब्दों में सिंध की समस्या स्वीकार की थी। रुपये का प्रश्न बाधक हो रहा था और जब तक रुपये की कोई सबील न हो जाय इस विचार को स्थगित कर दिया गया था। एकता सम्मेलन ने सिंध का अलग किया जाना स्वीकार कर लिया। सर सैमुएल ने तुरन्त उस पर भी सरकारी मुहर लगा दी। इस तरह एकता सम्मेलन ने महीनों सिर खपाने के बाद समझौते की जो शर्त तय की थी उन्हें तुरन्त स्वीकार करके सर सैमुएल ने एकता सम्मेलन के नीचे से तख्ता खींच लिया है। बंगाल का मुआमला बाकी है। हिन्दुओं पर दबाव डाला जा रहा है कि वे अपने हिस्से की कुछ जगहें मुसलमानों

को दे दें। ज्योंही हिन्दुओं ने रजामंदी दे दी, उस पर भी सरकारी मुहर लग जायगी। मुसलमानों को पृथक् निर्वाचन के साथ वह अधिकार मिल जायंगे, जिसके लिए उन्होंने संयुक्त निर्वाचन की शर्त मानी थी। मि॰ रैमजे मैकडोनेल्ड के कथनानुसार यहां के सम्प्रदायों में परस्पर सहयोग से जो समझौते होंगे उनमें से जो गवर्नमेंट को पसंद आएंगे वे स्वीकार कर लिये जायंगे, जो न पसन्द आयंगे वे छोड़ दिए जायंगे। एकता सम्मेलन ने संयुक्त निर्वाचन को स्वीकार किया है। सरकार ने उसी तत्परता से इस समझौते को नहीं स्वीकार किया, क्योंकि मुसलमानों की एक बड़ी संख्या संयुक्त निर्वाचन को स्वीकार नहीं करती। हिन्दुओं की भी बड़ी संख्या सिंध का अलग किया जाना, मुसलमानों को एक तिहाई जगहों का दिया जाना स्वीकार नहीं करती। सर सैमुएल होर ने उन हिन्दुओं के विरोध की ओर ध्यान न दिया। चित पड़े तो मेरा, पट पड़े तो मेरा।

आर्थिक संरक्षणों की चर्चा करते हुए सर सैमुएल होर ने फरमाया–

"पिछले साल इस विषय पर भलीभाँति विचार करने के बाद ब्रिटिश सरकार इस नतीजे पर पहुंची है कि आर्थिक प्रबन्ध की जिम्मेदारी दिए बिना, शासन की सच्ची जिम्मेदारी नहीं दी जा सकती, अतः हम राजनीतिज्ञ भारतीयों की इस सम्बन्ध की उचित मांग को भी पूरा करना चाहते हैं और महाजनों की इस मांग की रक्षा करना चाहते हैं कि भारत की आर्थिक साख हमेशा बनी रहेगी– इसके बिगड़ने का सन्देह भी कभी पैदा न होगा। इसके सिवा एक और बात है। इधर भारत सचिव के नाम भारी सूद पर बहुत बड़ी रकम कर्ज ली गई है, जिसे अगले कई साल में चुकाना होगा। अतः इसका [illegible] प्रबन्ध करना पड़ेगा कि भारत-सरकार को कलंक न लगे। इसके लिए यह आवश्यक है कि कुछ ऐसे संरक्षण रहें, जिनसे दुनिया का विश्वास बना रहे और भारत सरकार भविष्य में माकूल सूद पर कर्ज पा सके।"

आगे चलकर सं॰ सरकार के साख और विश्वास की ओर से सर सैमुएल होर इतने चिन्तित हैं यह बड़े हर्ष की बात है, मगर आपके सिवा [illegible] राजनीतिज्ञ ने भी [illegible] इसे [illegible] आवरण में छिपाने की चेष्टा न की होगी। [illegible] सरकार [illegible] की [illegible] होगा, जिस दुनिया में अपनी साख और विश्वास का सवाल ही पैदा न होगा। [illegible] भारत दुनिया में इतनी बड़ी हुई है कि केवल उसके प्रतिबन्ध में ही भारत की साख बन जायगी? इस कथन का साफ-साफ अर्थ यह है कि शासकों को भारत पर विश्वास नहीं है और वे इसे वह अधिकार नहीं देना चाहते जिस पर और सारे अधिकारों और व्यवस्थाओं का दारोमदार है।

[संपादकीय। 'जागरण' 2 जनवरी, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

देशी रजवाड़े

अन्यत्र हमने बिगुल (लाहौर) के सम्पादक श्री फीरोजचन्द का अलवर समस्या पर एक सारगर्भित लेख प्रकाशित किया है और आशा करते हैं कि पाठक लेख की प्रत्येक पंक्ति को ध्यानपूर्वक पढ़ेंगे। इस लेख में अलवर दंगे का कारण, उसके जिम्मेदार तथा 'तीसरे शरारती' के विषय में विद्वान् लेखक ने जितने कारण बतलाये हैं, सभी हमें मान्य–स्वीकार हैं, तथा हमें इस बात का बड़ा दुख है कि भारत सरकार इस विषय पर उतनी दृढ़ता के साथ अपने

कर्त्तव्य को नहीं निभा पा रही है जैसा कि चाहिए और यह इस [illegible] की भागी है कि देशी–रियासतों के नरेश ब्रिटिश रियासत के शरारतियों के शिकार बन रहे हैं।

जैसी आशा है, शायद अलवर के अंतरंग प्रबन्ध में बहुत कुछ ब्रिटिश अफसरों का हाथ हो जावे। जो लोग अलवर के विरुद्ध बलवा कर रहे थे, उन्हें तभी यह सबक मिलेगा कि गए छब्बे बनने, दूबे होकर लौटे। पर इस प्रकार के दंगों के बाद देशी रियासतों के शासन में सरकार क्यों हस्तक्षेप करती है, यह हम नहीं समझ सकते। बर्मा विद्रोह के फलस्वरूप सर चार्ल्स इनेस की गवर्नरी का कार्यकाल बढ़ाया गया था। मोपला विद्रोह के बाद बम्बई सरकार में क्या हेर फेर हुआ! और इन बलवों का और अलवर या काश्मीर के दंगों का क्या मुकाबिला? बड़ [illegible] बात बड़ ही जाती।

[सम्पादकीय। 'जागरण' 6 फरवरी 1932 में प्रकाशित। विविध प्रसंग भाग [illegible] में संकलित।]

दमन की सीमा

[illegible] है। सरकार [illegible] देने को तैयार है [illegible] और [illegible] और देखना चाहती है। अच्छा [illegible]

कांग्रेस के [illegible] [illegible] सकता है कि [illegible] [illegible] उद्देश्य [illegible] आदर्श [illegible] नहीं सकता। [illegible] कांग्रेस [illegible] अगर [illegible] स्वीकार [illegible] गया। [illegible]

[illegible] आक्रामक [illegible] आश्वासन [illegible] पर अमल करने का समय आता है [illegible] जिससे कांग्रेस सरकार के इरादों पर संदेह होने लगता है। [illegible] कि वह राजनीति की उलझनों में सब [illegible] है। वह अवसर में आपत्ति का भाव [illegible] सत्ता का भाव देखना चाहती है। हम यह भी मान लेते हैं कि उसका ध्येय यही है। वह जल्द से जल्द देश का उद्धार करना चाहती है चाहे उस जल्दबाजी में कुछ लोगों के स्वार्थ की हानि ही क्यों न हो, जो वर्तमान परिस्थिति में लाभ उठा रहे हैं इसका कारण यह कदापि नहीं है कि कांग्रेस वर्तमान स्वार्थों को कुचलकर खुद अधिकार का भोग करना चाहती है बल्कि राष्ट्र दशा वास्तव में इतनी शोचनीय हो गयी है कि उसके उद्धार में एक दिन का विलम्ब एक एक युग के समान है।

प्रजा भूखों मर रही है, हमारे विधाताओं को अपने वेतन में रत्ती भर की कमी भी स्वीकार नहीं। सब खर्च ज्यों का त्यों चल रहा है। प्रजा के पास लगान देने को कुछ न हो

मगर सरकार अपना लगान वसूल करके ही छोड़ेगी, चाहे किसान बिक जाय, तबाह हो जाय, चाहे उसकी जमीन बेदखल हो जाय, उसके बरतन-भांड़े, बैल-बधिये, अनाज-भूसा सबका सब बिक जाय। आत्म रक्षा प्रकृति का नियम है। किसान भी प्रकृति का ही एक अंश है। वह भी चाहता है, कि पहले अपने खाने भर को स्वरक्षित रख ले, तब चाहे लगान दे, या साहूकार का ऋण चुकावे; मगर विधाता अपना कर किसी तरह नहीं छोड़ सकते। उनके खयाल में सरकार प्रजा के लिए नहीं; बल्कि प्रजा सरकार के लिए है। सरकार का शासन रहेगा, और इसी शान से रहेगा, प्रजा से उसे कोई मतलब नहीं। खर्च में कोई कमी नहीं हो सकती, या हो भी सकती है, तो बराय नाम। प्रजा पर कर बढ़ाकर शासन का खर्च वसूल कर लिया जायगा। प्रजा के रहने को झोंपड़े मयस्सर नहीं, सरकार को नयी दिल्ली बनवाने की धुन है, प्रजा को रोटियों का ठिकाना नहीं, अधिकारियों को दस-दस और पांच-पांच वेतन अवश्य मिलना चाहिए। कमी पूरी करने के लिए बीस मार्ग हैं—रेल और डाक का महसूल बढ़ाया जा सकता है, इनकमटैक्स बढ़ाया जा सकता है, माल पर महसूल बढ़ाया जा सकता है। खर्च बदस्तूर रहेगा, उसमें कमी नहीं हो सकती। इस सरकारी नीति से कांग्रेस का आश्वासन नहीं हो सकता और न होना चाहिए। सरकार यों तो जनता के हित-साधन का राग अलापते नहीं थकती, लेकिन जब उसको परिचय देने का समय आता है, तो बगलें झांकने लगती है। गोलमेज सभा में भी विधाताओं को इसकी फिक्र न थी, कि प्रजा की दशा क्योंकर सुधारी जाय, बल्कि यह फिक्र थी, कि कांग्रेस की शक्ति क्योंकर तोड़ी जाय। कांग्रेस के प्रोग्राम ने प्रजा को केंद्रित कर दिया था। कांग्रेस ने शायद पहली बार प्रजा-हित को अपना मुख्य उद्देश्य बनाया था। जो लोग वर्तमान अनीति से फायदा उठा रहे हैं, उन्होंने कांग्रेस की शक्ति तोड़ने में राजनीति का पूरा जोर लगा दिया और अल्पसंख्यक भाइयों का एक संघ बना डाला, जो बहुमत को अल्पमत कर देता है। बहुमत के विरुद्ध अल्पमत वालों को कुछ न कुछ असंतोष रहना स्वाभाविक है। इस भावना को खूब उत्तेजित किया गया और संघ का निर्माण हुआ। अगर वह संघ-विधान सफल हो जाता है—और लक्षण कह रहे हैं, कि वह अवश्य सफल होगा—तो बहुमत की शक्ति टूटी रखी है और बहुमत के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाली कांग्रेस चाहे निःशक्त न हो जाय और उसके प्रभाव और विस्तार में कमी आवश्य आ जायगी।

और यह चालें क्यों चली जा रही थीं? केवल इसलिए कि प्रजा की वकालत करने वाली संस्था कांग्रेस को अपंग कर दिया जाय। गोरों की सारी कोशिश कांग्रेस के विरुद्ध दलबंदी में लगती रही। मुसलमान भाइयों को, अछूत भाइयों को, दलित भाइयों को, सिक्ख भाइयों को, ईसाई भाइयों को इस तरह संगठित करने की आयोजना की जाती रही, कि ऊंची जाति वाले हिन्दू अलग हो जायं और अल्पमत में हो जायं। न-जाने किस तर्क से यह सोच लिया गया है, कि कांग्रेस हिन्दुओं की संस्था है और हिन्दुओं ही के हितों की रक्षा करती है। हालांकि कांग्रेस में अछूत भी हैं, सछूत भी हैं, ईसाई भी हैं, सिख भी हैं, मुसलमान भी हैं। यही वह संस्था है, जो प्रत्येक विषय पर राष्ट्रीय-दृष्टि से विचार करती है और जाति-द्वेष से अपने को बचाती रहती है।

इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए पृथक् निर्वाचन का विधान सोच निकाला गया। पृथकता ने हिन्दू-मुसलमानों में कितना वैमनस्य पैदा कर दिया है, यह उन सज्जनों को प्रोत्साहित करने के लिए काफी था। एक तरह से यह निश्चय कर लिया गया, कि विच्छेद-

नीति को बरता जाय। मुसलमान भाइयों को नौकरियों का प्रलोभन दिया गया। अछूत भाइयों को हिन्दुओं से अन्याय की शिकायत है ही और बजा शिकायत है। उन्हें पृथक् करते क्या देर लगती है। वहां डॉक्टर अम्बेडकर थे ही। वह बड़ी खुशी से इस गुट में आ गये। यह किसी ने सोचने की जहमत न उठायी, कि कांग्रेस ने जिस नीति की घोषणा की है, उससे राष्ट्र के किसी अंग को वास्तव में हानि पहुंचती है, या नहीं? कांग्रेस अगर शासन का खर्च कम करने को कहती है, तो इसमें किसी जाति विशेष का हित है। कांग्रेस अगर किसानों का लगान कम करने को कहती है, स्वदेशी का प्रचार करती है, खद्दर का प्रचार करती है, नमक का कानून उठवाना चाहती है, नशीली चीजों का व्यवसाय बन्द कराना चाहती है, तो इसमें राष्ट्र के किस अंग की हानि है? इस प्रश्न पर विचार करने की जरूरत न समझी गई। वहां तो कांग्रेस की शक्ति को तोड़ना ही ध्येय था, जिससे राष्ट्र में एकता न होने पाए और भेद-नीति द्वारा हमेशा देश पर विदेशियों का प्रभुत्व बना रहे और इस नीति की सफलता के लिए आवश्यक था, कि कांग्रेस को गैरकानूनी बना दिया जाय और उसके नेताओं और मददगारों को जेल भेज दिया जाय। इस तरह मैदान साफ करके भेद-नीति का बेखटके प्रचार किया जाय। कांग्रेस पर मनमाने आक्षेप लगाये जायं और उसे राष्ट्र की आंखों में हेय सिद्ध किया जाय और अगर कोई इन आक्षेपों का जवाब दे, तो उस पर तरह-तरह के कानून लगा दिये जायं। इस तरह साल-छ: महिने के प्रापगण्डा में कांग्रेस का जोर कम हो जायगा और फिर भेद-पीड़ित राष्ट्र पर मन-माने ढंग से शासन किया जायगा। कांग्रेस तो राष्ट्र के हित-चिंतन में लगी हुई थी और वहां इस बात पर बड़ों-बड़ों की अक्ल खर्च हो रही थी, कि किस तरकीब से इस बढ़ते हुए राष्ट्र को कुचला जाय। मि बेंथाल की रिपोर्ट और सर हूबर्ट कार के पत्र ने इस भेद-नीति का भण्डा फोड दिया है और उसे नग्नरूप में संसार के सामने खड़ा कर दिया है। फ्रेंचाइज कमेटी जो कुछ करेगी, वह हम जानते हैं। उसे जो कुछ करना था, वह इंग्लैंड में पहले ही तय किया जा चुका है। इस तरह जो शासन विधान तैयार होगा, उसमें न शक्ति होगी, न एकता होगी, न संगठन होगा और राष्ट्र की दशा पहले से भी खराब हो जायगी। मि बेंथाल कि रिपोर्ट में 'स्वराज्य' या सुधार का उद्देश्य भी यही दिखाया गया है, अर्थात्—शासन और शक्ति का संचार करना। तो यह निष्कर्ष निकला राष्ट्र जिस स्वराज्य का अर्थ प्रजाधिकारियो कि वृद्धि समझता है, शासन पक्ष वाले उसी स्वराज्य को अर्थ शासनाधिकार वृद्धि बताते हैं। जब दोनों पक्ष में इतना मौलिक मत-भेद है, तब इस आशा को कहीं सहारा नहीं मिलता, कि राष्ट्र की दशा निकट भविष्य में कुछ सुधरेगी। व्यवस्था कुछ बदल जायगी पर उससे राष्ट्र का हित न होगा, जिसे हम हित समझते हैं, बल्कि उसका उद्देश्य शासन की बेड़ियों को और मजबूत और राजसत्ता को और बलवान करना होगा। इंग्लैंड इसी तरह, बल्कि इससे भी ज्यादा निश्चिन्तता के साथ भारत का खून चूसता चला जायगा। गरीब देश इसी तरह भूखों मर-मरकर एक रोटी के लिए पसीना बहाता रहेगा और अधिकारी भी इसी तरह चैन की बंशी बजाते रहेंगे। जब राष्ट्र की शक्ति छिन्न-भिन्न हो जायगी, तो फिर नौकरशाही क्यों किसी की सुनने लगी।

हालांकि अल्पमत वालों में भी मत-भेद हैं। अछूतों का एक हिस्सा पृथक् चुनाव चाहता है, तो दूसरा हिस्सा मिले हुए चुनाव के पक्ष में भी है। मुसलमानों, ईसाइयों, सिक्खों सभी जातियों में यही दशा हो रही है। इनमें कौन हिस्सा बलवान है, कौन हिस्सा वास्तविक

रूप से प्रतिनिधि है, इसका फैसला करने का हमारे पास कोई साधन नहीं। सरकार जिसे चाहे, प्रतिनिधि समझे, जिसे चाहे, न समझे। अधिकारियों की प्रवृत्ति पृथकतावादियों की ओर ही है।

जो कुछ रही-सही आशा थी, उसका फेडरेशन ने चिराग गुल कर दिया। धन्य है वह मस्तिष्क जिसने फेडरेशन की कल्पना की। सुनने में तो ऐसा मालूम होता है, कि यह विधान संयुक्त अमेरिका के नमूने पर रचा जा रहा है, पर वास्तव में यह केवल राष्ट्र को चिरकाल तक दासता में जकड़े रखने का एक चमत्का"-पूर्ण साधन है। राजाओं को 1/3 जगहें दे दी जायंगी। मुसलमान भाई 1/3 लिए ही बैठे हैं। बाकी 1/3 में अछूत, दलित, हिन्दू, ईसाई, जमींदार, व्यापारी, किसान, स्त्री और न जाने कितने विशेषाधिकारों के लिए स्थान दिया जायगा। राष्ट्र का अन्त हो गया। राजाओं के प्रतिनिधि राज-सत्ता की उपासना करेंगे ही, मुसलमान जिस तरफ अपना फायदा देखेंगे उधर जायंगे। सभी दल अपनी-अपनी रक्षा करेंगे। राष्ट्र की रक्षा कौन करेगा?

बात यह है, कि इंग्लैंड राज-सत्ता का अल्पांश भी छोड़ना नहीं चाहता। कांग्रेस ही एक ऐसी संस्था है, जो वास्तविक रूप में जन-सत्ता चाहती है, जो जात-पांत के झगड़ों से अलग रहकर राष्ट्र के उद्धार का प्रयत्न करती है, जो दरिद्र किसानों के हित को सबसे ऊपर रखती है, विभिन्नता में एकता उत्पन्न करके राष्ट्र बलवान बनाना चाहती है, जिसका मुख्य सिद्धांत यह है, कि देश का शासन, देश के हित के लिए हो, हम अपने ही देश में दलित और अपमानित न रहें, हममें यह व्यापक बेकारी न रहे, हमारी जनता पशुओं की भाँति जीवन न व्यतीत करे। हम वह स्वराज्य चाहते हैं, जिसमें हमें राष्ट्र की इच्छानुसार परिवर्तन और सुधार करने का अधिकार हो, जिसमें हमारे ही धन से पलने वाले कर्मचारी हमीं को कुत्ता न समझें, जिसमें हम अपनी संस्कृति का निर्माण आप कर सकें। हम वह स्वराज्य चाहते हैं जिसमें हम भी उसी तरह रह सकें, जैसे फ्रांस या इंग्लैंड के लोग रहते हैं। इसके साथ ही हम उन बुराइयों से भी बचना चाहते हैं, जिनमें अन्य अधिकांश राष्ट्र पड़े हुए हैं। हम पश्चिमी सभ्यता की कृत्रिमताओं को मिटाकर उस पर भारतीयता की छाप लगाना चाहते हैं, हम वह स्वराज्य चाहते हैं, जिसमें स्वार्थ और लूट प्रधान न हो, नीति और धर्म प्रधान हो। सरकार यह तो जानती है कि खुले हुए शब्दों में यह कहने से इस समय काम नहीं चल सकता, कि हम भारत में शासन करने आए हैं और शासन करेंगे, इसलिए मुंह से तो वह मीठी मीठी, राजनैतिक सत्य से भरी हुई बातें कहती हैं लेकिन परिस्थिति में ऐसा परिवर्तन कर देना चाहती हैं, कि स्वराज्य की आवाज उठाने वाली कोई संस्था ही न रह जाय। लोग आपस में क्षुद्र स्वार्थों के लिए लड़ते रहें और सरकार ऊंचे आसन पर बैठकर न्याय का परिचय देती रहे। दरिद्र देशों में ऐसे मनुष्यों की कमी नहीं हो सकती, जो अपने स्वार्थ के लिए राष्ट्र का अहित करने को तैयार हो जायं और ऐसे मनुष्यों का सहयोग प्राप्त हो जायगा। फौज, पुलीस और ऐसे सज्जनों के सहयोग से भारत पर बहुत दिनों शासन किया जा सकता है, लेकिन जो लोग इस नीति को देश के लिए घातक समझते हैं, उनका हमेशा दमन करना पड़ेगा, अर्थात्—देश में हमेशा फौजी कानून से शासन किया जा सकेगा, क्योंकि देश के सेवक चुप होकर न बैठेंगे और उनकी वाणी में सत्य का ऐसा आकर्षण है, कि जनता उनके झंडे के नीचे जमा होने से रुक नहीं सकती। अतएव इंग्लैंड के सामने दो रास्ते हैं। एक जो राज-सत्ता का मार्ग है। तलवार के जोर से प्रजा को दबाये रक्खो, उनके खेत कटवाकर मालगुजारी वसूल कर लो,

जो वह कुछ गाढ़ा पसीना बहाकर कमाये वह रेल, डाक, नमक आदि के महसूल बढ़ाकर, आमदनी के टैक्स के रूप में वसूल कर लो। दूसरा जन-सत्ता का मार्ग है। प्रजा पर प्रजा के हित के लिए शासन करो। राजा और प्रजा का भाव दिल से निकाल डालो। अफसरी को बलाय ताक पर रख दो और प्रजा के सेवक बन जाओ। इस तरह राष्ट्र को शक्तिशाली और सम्पन्न बनाकर तुम यश के भागी ही न बनोगे, सुखी और स्वाधीन भारत, इंग्लैंड के लिए इस दरिद्र और दुखी भारत से कहीं ज्यादा मूल्यवान सिद्ध होगा, लेकिन इस वक्त इंग्लैंड इस तरह की बातें सुनने को तैयार नहीं है। वह भारत से अपना आतंक मनवा कर छोड़ेगा, मानो भारत ने कभी उसके आतंक को न माना था। आतंक तो वह लगभग दो सौ साल से देखता चला आता है। पहले वह इससे भयभीत होता था, अब भयभीत नहीं होता। अब तो आतंक से उसके मन में जलन होती है, अब तो उसे राजसी ठाट-बाट, धूम-धाम, चमक-दमक देखकर घृणा होती है, इक्कीस तोपों की सलामियां और स्पेशल गाड़ियां और मखमली पायंदाज उसे रोब में नहीं डालते, उसके दिल में घृणा का भाव उत्पन्न करते हैं। अब शासकों की स्वार्थ-नीति उनकी निर्दय माया-प्रेम, उनका निरीह, निष्फल आडम्बर, जैसे उसके जले पर नमक छिड़कते हैं। वह सरकार को केवल शोषक के रूप में देखता है। उसकी पुलीस उसे सताती है। उसके कर्मचारी उसके मुंह का कौर छीन कर खा जाते हैं। उसके बनाये हुए जमींदार उसे बदर्दी से कुचलते हैं। उसकी बनाई हुई अदालतें उसे तबाह करती हैं। देहात से, सुधार और सहयोग और शिक्षा और स्वास्थ्य और सभी आयोजनाएं, जिनसे राष्ट्र बनता है, जिनसे उसका विकास होता है, लापता हैं। हम दावे से कह सकते हैं कि आज सरकार के विषय में अगर जनता से वोट लिया जाय, तो समस्त भारत में पांच वोट भी न मिलेंगे। और जब तक हमारे विधाता भारत का शासन भारत के हित के लिए न करेंगे, जब तक भारत को इंग्लैंड का मजूर समझा जायगा, जब तक भारत को द्रव्योपार्जन का अखाड़ा, मोटी नौकरियों का क्षेत्र और इंग्लैंड के माल का बाजार समझा जायगा, जब तक कसाइयों की भांति इंग्लैंड की निगाह भारत के मांस पर रहेगी उस वक्त तक देश में न शांति होगी और न उन्नति। दमन सब कुछ कर सकता है, पर देश का उद्धार नहीं कर सकता और जब तक देश का उद्धार का आदर्श सामने न हो शासन केवल लूट है, और कुछ नहीं।

[सम्पादकीय। 'हंस' अप्रैल 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

अछूतपन मिटता जा रहा है

जाति के बंधन इस कल-कारखानों के युग में बहुत दिन तक नहीं रह सकते। अब भी लोग होटलों में खाने नहीं जाते, कहीं बाहर भी जाते हैं, तो मित्रों या संबंधियों के घर ठहरते हैं, लेकिन राष्ट्रीयता इन भावों को तोड़े डालती है। कांग्रेस के स्वयंसेवकों में सभी जाति और बिरादरी के युवक एक साथ, एक ही कैम्प में रहते हैं, साथ खाते हैं, साथ सोते हैं। इन कैम्पों में मुसलमान भी होते हैं और एकाध ईसाई भी निकल आता है। इस भांति एक संयुक्त राष्ट्र की बुनियाद पड़ गई है। इसमें संदेह नहीं कि महात्मा गांधी अछूतों की लड़ाई लड़ रहे हैं। और इस काम में उन्हें कितने ही सज्जनों का सहयोग मिल गया है, जो बड़ी एकाग्रता के साथ अछूतों में काम कर रहे हैं। सिद्धांत रूप से तो ऊंच-नीच का झगड़ा मिट गया, मंदिर भी

खुलते जा रहे हैं, लेकिन देहातों में यह हवा पहुंचते-पहुंचते अभी एक जमाना लग जायगा। आधी कठिनाई इसलिए बढ़ गई है कि अछूत स्वयं अपने को नीच समझता है और ऊंची जातियों से दूर रहना ही अपना धर्म समझता है।

[संपादकीय। 'हंस', मई, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

पं० पद्मसिंह जी शर्मा का स्वर्गवास

कौन जानता था कि हिन्दी-साहित्य का यह सूर्य अपने साहित्यिक जीवन के मध्याह्न में ही यों अस्त हो जायगा। पूज्य शर्मा जी उन धुन के पूरे मनुष्यों में थे, जो कभी बूढ़े नहीं होते। जिनके विचार समय के साथ प्रौढ़, उन्नत और उदार होते जाते हैं। इधर आपने कई ऐसे मार्के के लेख लिखे जिनसे सिद्ध हुआ कि आपकी अवस्था कुछ भी हो, आपके कलम में जवानी के ओज से भी बढ़ा हुआ ओज है। 'विशाल भारत' में हिन्दुस्तानी एकाडेमी द्वारा प्रकाशित मि० अब्दुल्लाह यूसुफ की आपने जो विद्वत्तापूर्ण आलोचना लिखी थी, उसने बड़े-बड़े दिग्गज, अहम्मन्य प्रोफेसरों को आपका लोहा मनवा दिया। आपकी अकाल मृत्यु में हिन्दी-साहित्य का एक स्तंभ उठ गया। आज हम चारों ओर निगाह दौड़ाते हैं और हमें कोई ऐसा आदमी नहीं दीखता, तो सुलेखक होने के साथ ही इतना प्रकाण्ड विद्वान् भी हो। आपमें नवीन और प्राचीन का अभूतपूर्व मेल हो गया था। क्या संस्कृत, क्या हिन्दी, क्या उर्दू, क्या फारसी, आप इन सभी साहित्यों के ज्ञाता थे। अकबर मरहूम के तो आप आशिक ही कहे जा सकते हैं। मैंने आपकी जबान से अकबर की सैकड़ों सूक्तियां सुनी हैं। आप उन पर मस्त हो जाते थे। हिन्दी में आप एक खास शैली के जन्मदाता हैं—जिसमें चुलबुलापन है, शोखी है, प्रवाह है और उसके साथ ही गांभीर्य भी। उनका पांडित्य उनके काबू में है। वह उस पर शहसवार की भांति सवार होते हैं। उसकी लगाम ढीली नहीं करते, उसे बहकने नहीं देते। सूक्तियों के आप भंडार थे। और इसमें तो कलाम ही नहीं कि काव्य-शास्त्र के आप मर्मज्ञ थे। उनके सतसई-संहार पर कुछ महानुभावों को यह एतराज है कि उसकी चुटकियां जरूरत से ज्यादा तेज हैं—चुटकियां नहीं हैं, बल्कि बरछियों की चोटें हैं। कहीं कहीं तो बमगोले हैं, लेकिन जब हम देखते हैं कि आलोच्य पुस्तक उस आदमी के कलम से निकली थी, जो विद्या वारिधि का उपाधिधारी था, तो हमें शर्मा जी की कटुता स्वाभाविक- सी लगने लगती है। शर्मा जी किसी नये लेखक में उन गलतियों को जरूर क्षमा कर देते। जो पुराना खिलाड़ी बिच्छू का मन्त्र न जानते हुए, सांप के मुंह में उंगली डाले, उसके दुस्साहस को शर्मा जी जैसा निर्भीक आलोचक कैसे क्षमा कर देता। और सतसई-संसार की भूमिका तो हिन्दी-साहित्य का रत्न है। शर्मा जी जितने बड़े साहित्य-सेवी थे, उससे कहीं बड़े मनुष्य थे। आपसे मिलकर कभी जी नहीं भरता था। नये लेखकों को आप वह प्रोत्साहन देते थे, जो माता अपने लटपटे बालक को देती है। मेरे ऊपर तो उनकी असीम कृपा थी। 'सेवासदन' उपन्यास-क्षेत्र में मेरा पहला प्रयास था। शर्मा जी ने जिस तरह दिल खोलकर उसकी दाद दी, वह मैं भूल नहीं सकता। उस समय उनकी कठोर आलोचना ने मेरा अंत कर दिया होता। उसके बाद जब-जब मुझे उनसे मिलने का सुअवसर मिला, इस तरह टूटकर गले लगाते थे, कि चित्त उनके इस सौजन्य पर पुलकित हो उठता था। सरल जीवन और ऊंचे विचार की ऐसी मिसाल मुश्किल से मिलेगी।

हमें विश्वास है, कि हिन्दी-संसार इस महारथी की कोई ऐसी यादगार बनायेगा, जिससे मालूम हो कि हिन्दी वाले गुणियों का सम्मान करना जानते हैं। वर्ना शर्मा जी के स्मारक तो उनकी वह रचनाएं हैं जो चिरकाल तक उन्हें अमर रखेंगी।

[संपादकीय। 'हंस', मई, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

पर्दा थोड़े दिनों का मेहमान है

पिछड़े हुए उत्तर भारत में भी पर्दा प्रथा उठी जाती है। पर्दे से समाज का जो अहित होता है, वह सभी जानते हैं तंग और प्रकाशहीन घरों में बंद रहकर कितनी ही स्त्रियां क्षय रोग का शिकार हो जाती हैं, लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन के इस एक वर्ष में पर्दा टूट गया। कांग्रेस ने माताओं और बहनों को राष्ट्र के कर्मक्षेत्र में ला खड़ा किया है और वह हरेक काम में आगे-आगे चल रही हैं। जलसों में वे बोलती हैं, पिकेटिंग का सारा भार उनके ऊपर है, हजारों बहनें जेल गई हैं। मेरठ जैसे शहर में भी, जहां पर्दे का पूरा रिवाज है, गांधीजी की गिरफ्तारी पर पांच हजार औरतों का जुलूस निकला। हिन्दू विश्वविद्यालय में युवक और युवतियां साथ-साथ पढते हैं, साथ बहसें करते है और साथ सामाजिक उत्सवों में शरीक होते हैं।

[संपादकीय—'हंस', मई, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

मि० एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड के भारतीय अनुभव

मि ब्रेल्सफोर्ड मजूर दल के उन सहृदय आदमियों में हैं, जो इंग्लैंड के साम्राज्यवादियों की लुटेरी नीति का जोरों से विरोध करते है। इस दल के एक दर्जन चुने हुए रत्नों में उनका भी शुमार है। बड़े ही विचारशील, उदारचेता, नीति-परायण व्यक्ति हैं। भारत के अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेख बराबर छपते रहते हैं। महात्मा गांधी और लार्ड इर्विन से समझौते की बातचीत होने से पहले ही, जब महात्मा जी जेल ही में थे, यह महाशय भारत आए थे। यहां इन्होंने जो कुछ देखा, जो कुछ समझा, उस पर उन्होंने एक पुस्तक की रचना की है, जिसका नाम है 'विद्रोही भारत'। पुस्तक के दो चार पृष्ठ पढ़ते ही आपको मालूम हो जायगा कि लेखक असाधारण बुद्धि और विचार का स्वामी है। अन्य सैर करने वालों की भांति वह सरकारी अफसरों के मेहमान नहीं रहे, बल्कि अपनी आंखों से देखने की और अपने कानों से सुनने की बराबर चेष्टा करते रहे। वह बडे-बडे शहरों की रौनक और बहार देखकर ही संतुष्ट नहीं हुए, छोटे-छोटे गांवों की जनता का जीवन भी देखा, कस्बों को भी देखा, मजूरों के मकान भी देखे। उनका ध्येय था असली भारत को देखना और अफसरों की मेहमानी में यह बात कहां मुमकिन थी। वहां दावतें मिलतीं, नाच मिलते, राजाओं के साथ शिकार खेलने के अवसर मिलते, असली भारत कहां मिलता, जो देहातों में गलता है, मरता है, रोता है।

भारत में आते ही विदेशी को यहां का पुरानापन पग-पग पर मिलने लगता है। देहातों का जीवन वही है, जो तीन-चार हजार साल पहले—वही पुराना हल है, वही पुरानी लढ़ी, वही पुराना जुआ और वही पुराना घर, वही पुराने बर्तन-भांडे। महाशय ब्रेल्सफोर्ड ने देहाती जीवन को बड़ी सूक्ष्म निगाहों से देखा है। देहातियों के साथ बैठे हैं, उनके हृदय तक पहुंचने

की चेष्टा की है, इस प्रसंग में वह एक जगह लिखते हैं–

'भारत में किसानों को कितना परिश्रम व्यर्थ करना पड़ता है, इसका अन्दाज यों है कि एक एकड़ गेहूं पैदा करने के लिए एक आदमी को लगातार चालीस दिन काम करना पड़ता है। मुझे इस पर पहले विश्वास न आता था, लेकिन सरकारी कागजों में भी यही अन्दाजा किया गया है। इससे कुछ-कुछ पता चलता है कि भारत क्यों दरिद्र है? उसे एक एकड़ गेहूं के लिए एक मजदूर की चालीस दिन की मेहनत लगानी पड़ती है। यही काम यूरोप में कलों की मदद से एक दिन से कम में ही पूरा हो जाता है, लेकिन अगर यहां के किसानों को कलें दी भी जायं तो क्या लाभ। उन्हें आराम ज्यादा मिलेगा, इसके सिवा इस समय उनके पास कोई काम करने को नहीं है।'

किसानों के मकरूज होने की बात कौन नहीं जानता। महाशय ब्रेल्सफोर्ड लिखते हैं-- 'यहां हरेक बच्चे को जन्म लेते ही कर्ज का तरका मिलता है और कर्जो से दबा हुआ ही उसका सूखा हुआ शरीर चिता में जल जाता है। सूद मामूली तौर पर साढ़े सैंतीस सैकड़े हैं। उस पर चक्रवृद्धि ब्याज ! कीटाणुओं की भांति ही कर्ज बढ़ने लगता है!'

यहां ब्याह का रोग है। घर में खाने को हो या न हो, ब्याह अवश्य करेंगे। ईश्वर ने जन्म दिया है तो भोजन भी देगा। उक्त महोदय लिखते हैं–

'मैंने जो अन्दाजा लगाया, तो यहां एक ब्याह का खर्च चौदह पौंड (एक सौ बयासी रुपये) निकला। यह रकम बहुत बड़ी नहीं है, लेकिन जिनकी आमदनी तीन पेंस रोजाना हो, उनके लिए तो यह घातक है। लेकिन दरिद्रता ने इस समस्या को हल करना शुरू कर दिया है। ब्याह करने के लिए धन कहां से आए। जिस गांव में ठहरा था, उसमें एक मजूर रेलवे में छह आने रोज पर नौकर है। गांव वाले उसे भाग्यशाली समझते हैं। खेती में यह बहार कहां ! वहां तो महाजन है, जमींदार है, पुलिस है और अदालत है। गाव में दो तरह के किसान हैं। दखीलकार और गैरदखीलकार। दखीलकार का लगान कम है, लगभग छः रुपये एकड़। गैर-दखीलकार को चढ़ा-ऊपरी के कारण दस रुपये तक देना पड़ता है। उपज छः से आठ मन तक होती है। बाजों की पैदावार बारह मन एकड़ हो जाती है, लेकिन ऐसे भाग्यवान कम है। आठ मन की पैदावार बाजार दर सोलह रुपये की होती है, इसमें दस रुपये लगान दे दिया जाय, तो कुल छः रुपये एकड़ की बचत होती है। इसमें तीन रुपये लगान के निकल गए। किसान को शायद ही कुछ बचना हो। पंजाब में भी, जो भारत का सबसे खुशहाल प्रान्त है, किसान की आमदनी चार आना रोज से अधिक नहीं है।'

हिन्दुस्तानी बगावत क्यों नहीं करते

ब्रेल्सफोर्ड साहब लिखते हैं–

'मुझसे पूछा जायगा कि जब भारत वाले इतने कष्ट में हैं, तो बगावत क्यों नहीं कर बैठते। इसका उत्तर यही है कि भारत दरिद्र है। जब पेट में भोजन नहीं जाता तो विद्रोह की कौन सोचे। मामूली हिन्दुस्तानी मामूली अंग्रेज मजदूर की आधी ताकत रखता है। विद्रोह बढ़ी हुई तिल्ली वाले आदमी नहीं करते। हिन्दुस्तानी में वह बल ही नहीं जो गाली या मार खाने पर झटपट घूंसा तान देता है। फिर समाज और बिरादरी का दबाव और रूढ़ियों का भार इतना ज्यादा है कि आदमी में कोई नयी बात सोचने या करने की क्षमता ही नहीं है। ऐसी सभ्यता

से व्यक्तित्व का लोप हो जाता है।'

भारत क्यों इतना गरीब है

मि० ब्रेल्सफोर्ड ने इस विषय की मीमांसा विस्तार के साथ की है। पहले वह सामाजिक कारणों पर आए हैं। 73 फीसदी भारतीय खेती-बारी पर लग हुए हैं। दस फीसदी कारखानों में, लेकिन औरतें बहुत कम काम करती हैं। ऊंची जातियों में परदे के कारण स्त्रियां खेतों में काम करने नहीं जातीं। नीच जाति की स्त्रियां पुरुषों क बराबर ही काम करती हैं। फिर भी धनोपार्जन में भारत की स्त्री योरोपीय स्त्रियों की बराबरी नहीं कर सकती। उस पर साधु संन्यासियों और आलसी भिक्षुकों की संख्या भी कुछ कम नहीं है। शिक्षित समाज भी कोई दफ्तरी काम न पा सकने के कारण बेकार पड़ा हुआ है। जो मजूर हैं भी, वह आधी जान के। पौष्टिक भोजन की कमी ने किसानों और मजूरों को अधमुआ बना दिया है। जनसंख्या इतनी बढ़ गई है, कि जोतने को जमीन नहीं मिलती। 1771 में चालीस एकड़ जमीन एक आदमी के हिस्से में पड़ती थी। आज तीन एकड़ रह गये हैं। संयुक्त प्रान्त में तो ढाई एकड़ से ज्यादा नहीं है। उस पर बंटवारों ने खेतों को और भी छोटा कर दिया है। ऐसी दशाओं में इस गरीबी के दो ही इलाज हैं -खेतों की पैदावार बढ़ाना और जनता के लिए नये-नये साधन पैदा करना। सिंचाई कुल पांच करोड़ एकड़ में होती है। आधी कुएं और तालाबों से और आधी नहरों से। नहरों में एक बहुत बड़ा ऐब है कि उपजाऊ भूमि का एक भाग नहर और उसकी शाखाओं में लग जाता है। रेशम, लाख, शहद, अंडे, दूध आदि के पैदा करने में बड़ी गुंजाइश है। यहां गाय की पूजा तो बहुत होती है, पर उसके खाने को मयस्सर नहीं होता। सौ एकड जात के पीछे यहां 67 जानवर हैं, हालैंड में केवल ३८ और मिस्र में 25, इसका नतीजा यह है कि स्वस्थ मवेशियां का भोजन बूढ़े और बेकार जानवर खा जाते हैं। चूहे, बन्दर, सुअर और हिरन आदि जानवर भी कुछ कम नुकसान नहीं करते। गवर्नमेण्ट को अभी तक शान्ति-स्थापन से ही छुट्टी नहीं मिली, कि वह प्रजा के आर्थिक उत्थान के प्रश्न पर विचार कर सकती। अभी तक तो उसने केवल इतना ही किया है कि प्रजा से कर वसूल करके कर्मचारियों के वेतन दिए और प्रजा को काबू में रखा। यह साधन जिस लक्ष्य के हैं, वहां तक अभी हम पहुंचे ही नहीं, बल्कि साधन ही को लक्ष्य समझ लिया गया। पुलिस, फौज और प्रबन्ध में बड़ी-बड़ी रकमें खर्च की जाती हैं। सहयोग, कृषि, आरोग्य आदि विभागों की कोई परवा नहीं की जाती। यों समझो कि उन्हें बेकार समझा जाता है। देश के प्रति सरकार की वही मनोवृत्ति है, जो बेसमझ और स्वार्थी जमींदारों की अपने असामियों की ओर होती है। बेशक सड़कें और रेलें बनीं, कलों का प्रचार भी हुआ, लेकिन इसका नतीजा क्या हुआ? गांव वाले जो छोटे-मोटे धन्धे करके अपना निर्वाह किया करते थे, वे उनके हाथ से निकल गए। उसकी जगह विदेशों से सस्ती चीजों ने आकर ले ली। अभी तक इन चीजों का भीतर के देहातों में गुजर न था—रेलें हरेक गांव में, हरेक पैठ में न पहुंच सकती थीं। लारियों द्वारा रही-सही कसर पूरी हो जायगी। नतीजा यही होगा, कि जैसे जुलाहे, धुने, रंगरेज, बंजारे आदि रोजगार खो बैठे और कोई और रोजगार न पाकर जमीन जोतने लगते, वही हाल दूसरे पेशे वालों का होगा। मि० ब्रेल्सफोर्ड की समझ में नहीं आता कि सरकार ने कृषि की उन्नति की ओर क्यों ध्यान नहीं दिया? इससे तो इंग्लैण्ड के हित को धक्का न पहुंचता था, बल्कि प्रजा खुशहाल होने पर अंग्रेजी माल और

अधिक मात्रा में खरीदती। अगर सरकार की ओर से प्रजा-हित का कोई काम शुरू भी किया जाता है, तो इतनी हुकूमत और सख्ती के साथ कि प्रजा उसे सरकारी विभाग और रुपये ऐंठने की कोई नयी स्कीम समझकर कोसों दूर भागती है और वह स्कीम असफल हो जाती है। इसका एकमात्र कारण यही है कि सरकार यहां केवल रोब से हुकूमत करना अपना मुख्य काम समझती है, दूसरे जन-हित के जितने काम हैं उन्हें बजरूरत और बेगार समझती है। उस स्कीम को सफल बनाने का भार पुलिस या प्रबन्ध-विभाग पर डाल दिया जाता है। पुलिस समझती है, कि उसके अधिकार में और वृद्धि हुई और मरीज को गला दबाकर दवा पिलाने लगती है। मरीज स्वभावत: ओठ बन्द कर लेता है। और दवा की एक बूंद भी नहीं पीता।

'हमने इस अध्याय में उन हेतुओं का वर्णन किया है जो भारत के समाज-संगठन और हिन्दू धर्म-तत्त्व में निहित हैं। यह पराधीनता का शाप है कि हिन्दुस्तानी समाज विदेशी राज्य को हरेक बुराई का जिम्मेदार ठहराता है। और अपने सामाजिक विधानों की बुराइयों की ओर से या तो आखें बन्द कर लेता है या उनकी और भी सराहना करता है क्योंकि कम से कम ये वस्तुएं तो उसकी अपनी हैं। लेकिन हम इस बात को जितना ही अनुभव करते हैं, कि जात-पांत, बाल-विवाह, अहिंसा, धर्म और इसी तरह की और बातें भारत की आर्थिक सुदशा, आरोग्य और सामाजिक न्याय के मार्ग में रुकावटें डालती हैं, उतनी ही प्रबल इच्छा होती है कि भारत की इस पराधीनता का अन्त हो जाय। इन बाधाओं के हटाने के लिए, उस मनोवृत्ति को बदलने के लिए, जिसमें जनता पली है, उन शक्तियों को तोड़ने के लिए जो मिथ्यावाद और अंधविश्वास की पोषक हैं, भारत का स्वाधीन होना परमावश्यक है। वर्तमान शासन द्वारा इन रूढ़ियों और मिथ्या विचारों के विरुद्ध आन्दोलनों को कोई प्रोत्साहन नहीं मिल सकता। भारत की इस अवनति का मुख्य कारण यह है कि उसे बुद्धिवाद और प्रत्यक्षवाद के उन आन्दोलनों से गुजरने का अवसर नहीं मिला, जिन्होंने अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में यूरोप को मध्यकालीन अंधकार से निकाल लिया। ऐसे आन्दोलन यहां जड़ न पकड़ सके, क्योंकि ज्योंही भारत में सार्वदेशिक विचार शक्ति उत्पन्न हुई, वह राष्ट्रीयता की ओर झुक पड़ी। राष्ट्रीयता शासकों में ऐब निकालती है, वह अतीत की बुराइयों पर आलोचनात्मक अंतर्दृष्टि नहीं डालती।'

इस कथन में यूरोपीय मस्तिष्क झलक रहा है अवश्य, पर शासकों का अहंकार नहीं है।

[संपादकीय। 'हंस', मई, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

तलाकों की संख्या क्यों बढ़ती जाती है?

योरोप के एक विद्वान ने तलाकों की मीमांसा करते हुए एक बड़े पते की बात कही है। वह कहता है कि ज्यों-ज्यों कृत्रिम उपायों से सन्तान निग्रह की प्रथा बढ़ती जा रही है, तलाकों का रिवाज भी बढ़ता जाता है। सन्तानों के लालन-पालन में माता-पिता के बीच में स्नेह की एक कड़ी बनी रहती थी। विलासिता की ओर उनकी रुचि अधिक न होती थी। अपनी सन्तान के लिए दोनों अधिक से अधिक संयम और त्याग करते थे। सन्तानों का निरोध करके अब स्त्री पुरुष दोनों ही विलासिता में डूबे जा रहे हैं और विलासिता सहिष्णु नहीं होती। हृदय की कठोरता उसके लिए अनिवार्य है। दुनिया चूल्हे में जाय, हमारी तो चैन से कटती है, जब तक

यह मनोभाव न हो, आदमी विलास में रत हो ही नहीं सकता। फिर मातृत्व में माता की शारीरिक और मानसिक शक्ति का बड़ा भाग खर्च हो जाता था। पुरुष को भी बाध्य होकर इस उत्तरदायित्व का कुछ न कुछ भार लेना ही पड़ता था। अब स्त्री-पुरुष दोनों इस चिन्ता से मुक्त होकर विलास में डूब गए हैं। विलासिता का पोषण नवीनता ही से होता है, यह मानी हुई बात है। ऐसी दशा में तलाकों की संख्या न बढ़े, तो क्या हो।

[संपादकीय। 'हंस', अगस्त, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

सिनेमा स्टारों के अर्धनग्न चित्र

इंग्लैंड के एक अंग्रेजी पत्र ने एक दूसरे अंग्रेजी पत्र को इसलिए जोर की फटकार बताई है कि उसने एक 'सिनेमा स्टार' से उसके जीवन का अनुभव लिखवाकर प्रकाशित किया है और इसे लज्जास्पद कहा है। भारत में भी अंग्रेजी पत्रों की देखा-देखी इस तरह की मनोवृत्ति बढ़ती जाती है जिन स्त्रियों का जीवन इतना घृणास्पद है कि, कोई भला आदमी अपनी लड़की को उनके साथ एक मिनट के लिए भी छोड़ना पसन्द न करेगा वही स्त्री सिनेमा में एक्ट्रेस बनते ही देवी बना दी जाती है और हरक पत्र में उसके चित्र छपते हैं, उसकी प्रशंसा की जाती है और यदि वह अपने जीवन के सनसनी पैदा करने वाले वृत्तांत लिखे, तो उसे बड़े हर्ष से प्रकाशित किया जाता है। हमारे विचार में समाचार-पत्रों का कर्त्तव्य केवल जनता में सनसनी पैदा करना और उनकी मनोवृत्तियों को विषाक्त करना नहीं, बल्कि उनमें स्वस्थ, निष्कलंक सुरुचि उत्पन्न करना है। इसमें संदेह नहीं कि हमें गुण का आदर करना चाहिए, चाहे वह कबीर के शब्दों में कितने ही 'अपावन ठौर' में क्यों न मिले, लेकिन, अर्धनग्न स्त्रियों के निर्लज्जतापूर्ण चित्र खींचकर जनता में कुत्सित भावनाओं को उत्तेजित करना, अथवा उनके लज्जास्पद चरित्र वर्णन करके पाठकों में कुवासना को जगाना, भारतीय आदर्श के विरुद्ध है।

[संपादकीय। 'हंस', अगस्त, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

जागरण का नया रूप

जागरण ने साहित्यिक पत्र के रूप में जन्म लिया था। और अपनी बाल्यावस्था के बारह अंक पूरे करके अब वह एक विस्तृत क्षेत्र में आता है। उसका जन्म अच्छे कुल में हुआ, उसका लालन-पालन भी सुयोग्य हाथों में हुआ। परखने वाले परख गये कि यह बालक होनहार है, पर साहित्य के परिमित क्षेत्र में उसका विकास जैसा होना चाहिए, वैसा न हो सकता था। हाथ-पांव मारने वाला बालक पालने में कैसे रहता, इसलिए उसके जन्मदाताओं को ऐसे अभिभावक की जरूरत पड़ी, जो जरा निष्ठुर हाथों से उसकी गोशमाली कर दिया करे, जो ममता भरे माखन और मिश्री की जगह सूखे चने और रूखी रोटियां खिलाये, क्योंकि संसार पहले चाहे लाड़-प्यार में पले बालकों को बढ़ने का अवसर देता हो, अब तो समय उनके अनुकूल नहीं रहा। आज संसार में वही बालक बाजी ले जाते हैं, जिसने बालपन में काड़ियां झेली हों, धक्के खाये हों, भूखे सोये हों, जाड़ों में ठिठुरें हों। गमले का पौदा धूप और वर्षा का

सामना क्या करेगा। वह चट्टान पर उगा हुआ पौदा ही है, जो जेठ की जलती लू, माघ के तीखे तुषार और भादों की मूसलाधार वर्षा में डटा खड़ा रहता है, और फलता-फूलता है। हमारे ऊपर इंतखाब की निगाह पड़ी। हम कह नहीं सकते, हम क्यों इस काम के लिए चुने गये। हम इस काम में कुछ बहुत अभ्यस्त नहीं हैं। अभी तक केवल एक चिड़िया पाली है, पर उसे भी कई बार संकट में डाल चुके हैं। शिकारियों के दो निशाने उस पर लग चुके हैं। पहले निशाने से तो वह किसी तरह बचा। यह दूसरा निशाना उसे ले मरता है या छोड़ता है, कह नहीं सकते। हम शिकारियों की चिरौरी-बिन्ती कर रहे हैं कि "भैया, इस बेचारे को अबकी और जाने दो, तुम्हारे पैरों पड़ते हैं। अब जो कभी तुम्हारे बाग में आवे, या तुम्हारा कुछ नुकसान करे तो, जो चाहे करना।" देखें शिकारी को दया आती है या नहीं। शिकारी ऐसे बड़े दयालु तो नहीं होते, लेकिन ममता अकड़ने वालों का सिर न झुकाए तो ममता ही क्या।

खैर हम अभिभावकी कला में कुशल नहीं हैं, फिर भी जागरण का भार हमारे ऊपर रखा गया है। हम अपने त्रुटियों को खूब समझते हैं। चुलबुले बालकों को संभालना कितना कठिन है, इसे वही लोग जानते हैं, जिन्हें इसका तजुरबा हो। लेकिन भाई, ईमान की बात यह है कि मिलता हुआ बालक किसको छोड़ा जाता है। हमने सोचा, चलो इसी के साथ अपनी तकदीर आजमाओ, कौन जाने तुम्हारे ही हाथों इसको ढंग पर लाने का जस बदा हो। दुनिया हमें इसका बाप न कहे? बाप कहलाने का गर्व किसे नहीं होता? लेकिन कम से कम इतना तो स्वीकार करेगी ही हमने इसे समाज का एक उपयोगी व्यक्ति बना दिया। यह हमें कोई न बताए कि इसके हाथों हमें पिंडापानी न पहुंचेगा। हम इतने धर्म ज्ञान शून्य नहीं हैं कि हमारा पिंडे पानी में विश्वास नहीं है। हम तो यही डर रहे हैं कि हमारे सिर कलंक न लग जाय कि लेकर लड़के को चौपट कर दिया। जस इस जमाने में किसे मिलता है? अपजस न मिले, यही बहुत है। हम तो सदैव महान आदर्श अपने सामने रखेंगे। बालक को निर्भीक, सत्यवादी, परिश्रमी, स्वस्थ, आचारवान्, विचारशील बनाने का प्रयत्न करेंगे। हमारी यही चेष्टा होगी कि वह किसी की खुशामद न करे, लेकिन विनय का हाथ से न जाने दे। वह कभी कभी कड़वी बातें भी कहेगा, पर सेवा भाव से। उसमें आस्था और श्रद्धा अवश्य होगी पर अंधविश्वास नहीं। उसका ध्येय होगा सत्य की खोज। वह वितंडावादी नहीं सत्य का पुजारी होगा चाहे उसे सत्य को स्वीकार करने में कितना ही अपमान हो। वह अप्रिय सत्य कहने से कभी न चूकेगा। वह केवल दूसरों के दोष न देखेगा, बल्कि अपने दोषों को स्वीकार करेगा। बिना अपने दोषों को दोष समझे उनके सुधार की इच्छा नहीं होती। वह निर्भीक होगा, पर दुस्साहसी नहीं। वह सत्यवादी होगा, सत्य से जौ भर न टलेगा, पर पक्षपात से अपना दामन बचाएगा। वह बूढ़ों में बूढ़ा, जवानों में जवान और बालकों में बालक होगा। वह जिस दृढ़ता से न्याय का पक्ष लेगा, उतनी ही दृढ़ता से अन्याय का विरोध करेगा, चाहे वह राजा की ओर से हो, समाज की ओर से हो अथवा धर्म की ओर से। वह सबलों का हितैषी होगा, पर निर्बलों पर उनके जुल्म को सहन न कर सकेगा। समाज का दुखी और दुर्बल अंश उसे सदा अपनी वकालत करते हुए पाएगा। वह कोरा न्यायवादी, गंभीर और शुष्क न रहेगा। वह मनुष्य केवल आधा ही जिन्दा है, जो कभी दिल खोलकर नहीं हंसता, विनोद से आनंदित नहीं होता। वह हंसने की बातें कहेगा, खुद हंसेगा और दूसरों को हंसायेगा। उसके मस्तिष्क में लतीफों और चुटकुलों का अक्षय भंडार होगा।

यह है हमारा आदर्श, लेकिन कहना जितना आसान है, करना उतना ही कठिन है। मनुष्य केवल उद्योग कर सकता है। अगर वह उद्योग ही करता रहे, तब भी समझना चाहिए, उसने बहुत कुछ कर लिया। हम अपने उद्देश्यों में सफल होंगे या नहीं, यह भविष्य की बात है। विज्ञान पाठकों और अपने सहृदय साहित्य सेवियों से हमारी यह विनीत प्रार्थना है कि इस दुस्तर कार्य में वह कृपा कर हमारी सहायता करेंगे, क्योंकि उनकी सहायता और सलाह वह शक्ति है, जिस पर भरोसा करके हमने इस भार को सिर पर लिया है।

कुछ सज्जन कहेंगे, हिन्दी में कई अच्छे साप्ताहिक पत्र हैं और वह हिन्दी की यथार्थ सेवा कर रहे हैं, फिर एक नये साप्ताहिक की क्या जरूरत थी। ऐसे सज्जनों से हमारा निवेदन यही है कि काशी की तीर्थभूमि में, जो हिन्दू-संस्कृति का केन्द्र है, इस समय एक भी साप्ताहिक-पत्र ऐसा नहीं निकलता, जिसकी अन्य भाषाओं के पत्रों से तुलना की जा सके। काशी को नागरीप्रचारिणी सभा पर गर्व है, हिन्दू-विश्वविद्यालय पर गर्व है, संस्कृत पाठशालाओं पर गर्व है। अपने विद्यापीठ पर गर्व है, हिन्दू-विश्वविद्यालय पर गर्व है कि हिन्दी-साहित्य के उपासक जितने काशी में है उतने और किसी एक स्थान में न होंगे। फिर भी काशी में कोई ऐसा साप्ताहिक पत्र नहीं है। क्या यह काशी के लिए गर्व की बात है काशी जैसे नगर में हिन्दी का एक भी साप्ताहिक पत्र न हो! यह भी तो है कि प्राणी-मात्र में आत्म व्यंजना की एक लालसा होती है? वह इसके लिए क्षेत्र की तलाश करता रहता है। जिसके पास धन के साथ सेवा भाव है, वह कोई विद्यालय खोलता है या कोई अनाथालय। जिसमें बोलने की शक्ति है, वह अपनी वाणी से, समाज की सेवा करता है, कोई अपने पुरुषार्थ से, कोई अपने आविष्कार से। साहित्य सेवियों के पास उनके कलम के सिवा सेवा का और क्या साधन है। वही कलम हाथ में और राष्ट्रहित का भाव हृदय में, सहयोगियों और विद्वज्जनों की सहायता की आशा मन में लेकर, हम इस क्षेत्र में आए हैं। यह बेड़ा पार होगा या नहीं, ईश्वर जाने। हमारे पास न संगठन है, न अनुभव। और धन का तो हमसे पुश्तैनी बैर है। किसी ने हिन्दी-पत्रकारों का परिहास करते हुए लिखा था, ''वह केवल एक कलम और एक रीम कागज लेकर समाचार पत्र निकाल बैठता है।'' यह व्यंग हमारे ऊपर अक्षरशः लागू है, पर हम सहृदय पाठकों के भरोसे और ईश्वर पर विश्वास रखते हुए अपने कर्तव्य पालन के लिए दृढ़ संकल्प के साथ इस क्षेत्र में आ रहे हैं।

[सम्पादकीय। 'जागरण', 22 अगस्त, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

साम्प्रदायिक मताधिकार की घोषणा

कंजरवेटिव गवर्नमेन्ट की साम्प्रदायिक मताधिकार विषयक विज्ञप्ति ने हिन्दुओं को बहुत असन्तुष्ट कर दिया है और पंजाब के सिक्ख लोग तो सत्याग्रह करने का विचार कर रहे हैं। ऐसा कोई विख्यात हिन्दू या सिक्ख नेता नहीं है, जिसने अपना रोष न प्रकट किया हो। इसका कारण यही है कि इन महानुभावों ने अपने-अपने हिस्से के विषय में जो आशाएं बांध रखी थीं, वह विफल हो गईं। विफल आशाएं ही असन्तोष उत्पन्न किया करती हैं। वास्तव में वही हुआ, जिसका एक तरह से हमें विश्वास था। गवर्नमेंट के लिए इसके सिवा और क्या साधन था कि वह अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए किसी एक प्रमुख दल की शरण ले। सिक्ख

इतने शक्तिशाली नहीं हैं, हिन्दू इतने लचीले नहीं हैं। ऐसी दशा में मुसलमानों के सिवा और किस पर गवर्नमेन्ट की निगाह पड़ती।

सरकार की दशा उस हारे हुए योधा की-सी है, जो एक खाई से दूसरी खाई में पीछे हटता हुआ अन्त को अन्तिम खाई में पहुंच जाता है। उस खाई के बाद सपाट मैदान है। या तो वह शत्रु को इस खाई में गिरा दे, या स्वयं अपने प्राण दे दे। इस अवस्था में वह विवश होकर अपने टूटे-फूटे शस्त्रों का प्रहार करता है। गवर्नमेंट किसी नीति से हमें हमारे अधिकारों से वंचित नहीं रख सकती थी, अतएव उसने अपना वही टूटा-फूटा शस्त्र निकल लिया है, जिसका नाम है—डिवाइड एण्ड रूल।

पर विजयी शत्रु पर शस्त्र का कोई असर न होगा। मद्रास, बम्बई, संयुक्त प्रांत, सी॰ पी॰ और आसाम में मुसलमानों को ज्यादा मताधिकार मिल जाने से परिस्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ा है। मुसलमानों का अल्पमत बहुमत न बन सका, लेकिन न्याय दृष्टि से देखिए, तो इन दोनों प्रान्तों में बहुमत मुसलमानों ही को मिलना चाहिए। मुसलमान काफी संगठित हैं। यदि उन्हें बहुमत न दिया जाता, तब भी अपनी संख्या के कारण मिल जाता। पंजाब में सिक्खों और हिन्दुओं को मिलाकर भी मुसलमानों की संख्या अधिक है। अगर मुसलमानों में इतनी कमजोरी है कि वे जनरल निर्वाचन से डरते हैं, तो वे दया के पात्र हैं। हमारा उन पर रोष करना व्यर्थ के लिए मनो-मालिन्य बढ़ाना है। अन्य प्रान्तों में मुसलमानों को जो वेटेज (अतिरिक्त अधिकार) दिया गया है इसमें बहुमत पर कोई असर नहीं पड़ता। पंजाब में हिन्दुओं और सिक्खों को वेटेज देने से मुसलमानों की प्रधानता गायब हो जाती है। ऐसी दशा में हम उनके सिर कोई इलजाम नहीं रख सकते।

फिर यह क्यों समझ लिया जाय कि मुसलमानों में बहुमत से हिन्दू या सिक्खों के हितों की हानि होगी। मुसलमानों का भारत पर कई सदियों से राज रहा है। अगर मुसलमान उस जमाने में हिन्दुओं को न कुचल सके, तो अब उसकी कोई संभावना नहीं रही। मुसलिम काल में इसकी काफी मिसालें मिलती हैं कि मुसलमानों के साथ हिन्दुओं ने सहयोग किया है। आज हिन्दू रियासतों में मुसलमान बड़े-बड़े पदों पर हैं। यह मिथ्या भ्रम है और इसे मन से निकल डालने ही में देश का कल्याण है।

इस वक्त हमारा कर्तव्य है कि मुसलमानों की सफलता पर उन्हें बधाई दें। मनोमालिन्य और द्वेष बढ़ाने से किसी की भी भलाई नहीं हो सकती। प्रतियोगिता में एक खिलाड़ी के जीतने पर शेष खिलाड़ियों का कर्तव्य यही होता है कि वे खुद हारते भी हुए जीतने वाले को मुबारकबाद दें और फिर उससे दूसरे मुकाबले में जीतने का उद्योग करते रहें। जीतने वाला इसलिए क्यों बुरा समझा जाय कि वह जीत गया। इस मनोवृत्ति से सिक्ख या हिन्दू भी वेटेज पाकर मुसलमानों में वही भय पैदा करेंगे, जो इस समय स्वयं उनके अन्दर है। अविश्वास से विश्वास नहीं पैदा हो सकता। हमारी लड़ाई मुसलमान भाइयों से नहीं है, गवर्नमेंट से है। आपस में लड़ने से गवर्नमेंट की जीत होगी। उसकी हार इसी में है कि हम डिवाइड एण्ड रूल वाली नीति को सफल न होने दें।

साम्प्रदायिक भेद नीति ही आपत्तिजनक है। गवर्नमेंट भारत को राष्ट्र नहीं समझती। हम अपने व्यवहार से उसे ऐसा समझने का अवसर भी नहीं देते। वह भारत को सम्प्रदायों की दृष्टि से देखती है। अतएव साम्प्रदायिक मताधिकार के लिए हम इतने इच्छुक हों, यह तो गवर्नमेंट की ही दृष्टि का समर्थन है। हमें यह दिखाना है—कि तुम चाहे हमें कितने ही टुकड़ों में बांटो, हम परवाह नहीं करते। हम एक राष्ट्र हैं इस भेद-नीति से हमारी राष्ट्रीयता को कुचलना संभव नहीं है।

[संपादकीय। 'जागरण', 22 अगस्त, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

अब हमें क्या करना है

मताधिकार-सम्बन्धी सरकारी घोषणा निकल गई। सरकार ने यह भी स्पष्ट कह दिया कि अब वह उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन करने को तैयार नहीं है। हां, यदि भारत वाले आपस में कोई समझौता करके इस घोषणा के विरुद्ध कोई बात तय कर लेंगे, तो सरकार को उसके मानने में आपत्ति न होगी, लेकिन इस घोषणा से राष्ट्र के भिन्न भिन्न दलों और संप्रदायों में जो परस्पर विरोधी भावनाएं पैदा हो रही हैं, उनसे हमें भय हो रहा है कि कहीं इतिहास अपने को फिर न दुहरावे और वही 1926-27 वाली परिस्थिति न उत्पन्न हो जावे। यदि ऐसा हुआ, तो राष्ट्र के लिए अभूतपूर्व संकट का सामना होगा। हम मुंह से चाहे कितना ही कहे जायं, कि हमें मुसलमानों और अपने दलित भाइयों से कोई शिकायत नहीं है, लेकिन जब हिन्दू और सिक्ख दोनों ही अपनी पूरी शक्ति से इस घोषणा की निन्दा और विरोध करेंगे तो स्वभावत: मुसलमानों और अन्य दलों को जिनके साथ कुछ रिआयत की गई है, बुरा लगेगा और वे भी अपने नव-प्राप्त अधिकार को स्वरक्षित रखने के लिए जी जान से उद्योग करेंगे। नतीजा यह होगा, कि देश दो भागों में विभक्त हो जायगा। एक ओर सरकार और मुसलमानों तथा अछूतों का बड़ा हिस्सा होगा, दूसरी ओर हिन्दू और सिक्खों का सम्पूर्ण भाग। इस नये संघर्ष का अन्त क्या होगा, यह तो कोई ज्योतिषी ही जाने पर देश में जो भीषण परिस्थिति उत्पन्न होगी, उसका अनुमान करने के लिए विशेष कल्पना की जरूरत नहीं। कानपुर और बम्बई में हम उसका नमूना देख चुके हैं।

इसलिए इस समय हमें बड़ी दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता से काम लेना पड़ेगा। दुनिया की निगाहें हमारी तरफ लगी हुई हैं। यदि हमने मताधिकारों के लिए आपस में लड़ाई ठान ली, तो मानों हम प्रत्यक्ष रूप से सरकार की इस दलील का समर्थन करेंगे, कि भारत में राष्ट्रीयता का भाव नहीं है। जहां एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय से इतना संशक है, वहां राष्ट्रीयता कहां। सरकार हमें भिन्न संप्रदायों के रूप में देखती है। हम क्यों अपने को उस रूप में देखें। स्वराज्य से हमारा उद्देश्य यही तो है कि भारत का शासन भारतवासियों के हित की दृष्टि से किया जाय। जब मुसलमानों को कुछ अधिकार अधिक मिल जाते हैं, तो हमें क्यों तुरंत यह विचार होता है कि हमारे साथ अन्याय हुआ। कारण ही ये है, कि हम मुंह से चाहे राष्ट्रीयता की दुहाई दें, दिल में हम सभी संप्रदायवादी हैं और हरेक बात को संप्रदाय की आंखों से देखते हैं। क्या यह सत्य नहीं है, कि जब कोई साम्प्रदायिक दंगा हो जाता है तो हम तुरन्त यह जानने के लिए

उत्सुक हो जाते हैं कि उस दंगे में कितने हिन्दू हताहत हुए और कितने मुसलमान। अगर हिन्दुओं की संख्या अधिक होती है, तो हम कितने उत्तेजित हो जाते हैं। इसके विपरीत अगर मुसलमानों की संख्या अधिक होती है, तो हम आराम की सांस लेते हैं। यह मनोवृत्ति राष्ट्रीयता का गला घोंटने वाली है, हमें इस मनोवृत्ति का मूलोच्छेद करना पड़ेगा, अन्यथा हमारा राष्ट्र मधुर स्वप्न ही रहेगा। जब हम सांप्रदायिक भावों पर विजय नहीं पा सके, तो हम मुसलमानों से क्यों आशा रखते हैं, कि वे ज्यादा उदार हो जायं। यह वही सांप्रदायिक मनोवृत्ति है, जो इस समय देश के इस सिरे से उस सिरे तक नंगा नाच कर रही है और विदेश में हमें हास्यास्पद बना रही है और मजा यह है, कि अभी किसी के फरिश्तों को खबर नहीं कि कौंसिलों को अधिकार मिलेंगे—अभी तो केवल जगहों की संख्या का मामला है।

हम यह क्यों भूल जाते हैं कि व्यावहारिक शासन में सांप्रदायिक प्रश्न बहुत कम आते हैं। कुरबानी और बाजे के झगड़े, अथवा हिन्दी-उर्दू का मामला ही शासन के मुख्य अंग नहीं हैं। शासन के अस्सी फीसदी काम ऐसे हैं जिनमें हिन्दू-मुसलिम सवाल पैदा ही नहीं होता। वह अधिकांश सामाजिक और आर्थिक होते हैं। फिर यह भी मनोवैज्ञानिक सत्य है, कि जिम्मेदारी न रहने की दशा में हम जिन बातों का विरोध करते हैं, उन्हीं बातों की, जिम्मेदारी आ जाने पर समर्थन करने लगते हैं। हमें आशा रखनी चाहिए कि मुसलिम दल ने जिन सांप्रदायिक मांगों के लिए अब तक जोर दिया है, उनके लिए अब वे आग्रह न करेंगे।

यह हम नहीं कहते, कि सरकार की घोषणा निर्दोष है। उसका सांप्रदायिक आधार ही आपत्तिजनक है। उसमें कतर-ब्योंत करके हम उसका रूप नहीं बदल सकते। हिन्दुओं और सिक्खों को दस-पांच जगह और मिल जाने से वह कम आपत्तिजनक न रहेगा, लेकिन उनका संप्रदायित्व कैसे मिटेगा? क्या हिन्दू अथवा सिक्ख आंदोलन से? इससे तो परस्पर द्वेष की आग और भी भड़केगी और राष्ट्र घातक भावनाएं और भी प्रबल होंगी। इसका केवल एक ही उपाय है—सांप्रदायिक मनोवृत्ति का शमन। जिस दिन हम इस मनोवृत्ति का त्याग देंगे, उसी दिन मुसलमानों में भी उसका ह्रास हो जायगा। अब आने वाले बरसों में इसी सांप्रदायिकता से संग्राम करना है—सहिष्णुता, विश्वास, धैर्य और सेवा के शस्त्रों से। इसी में राष्ट्र का कल्याण है।

[संपादकीय। 'जागरण', 29 अगस्त 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

नयी परिस्थितियों में ज़मींदारों का कर्त्तव्य

हाल में हिज एक्सेलेंसी गवर्नर ने बहराइच का दौरा किया था। वहां ताल्लुकेदार एसोसिएशन ने श्रीमान् की सेवा में एक एड्रेस पेश किया। उस एड्रेस में कहा गया था कि प्रान्त में कांउसिल आफ स्टेट की तरह एक दूसरा चेम्बर बनाया जाय और ज़मींदारों की रक्षा के लिए उन्हें अलग काफी मताधिकार दिया जाय। गवर्नर साहब ने इस एड्रेस का जवाब देते हुए ताल्लुकेदारों को जो उपदेश दिया, आशा है, उस पर उन सज्जनों ने ठंडे दिल से विचार किया होगा और भविष्य में वे उसका व्यवहार करेंगे। गवर्नर साहब ने बहुत ठीक कहा कि किसानों पर ज़मींदारों का जितना प्रभाव है, उतना और किसी का नहीं हो सकता। उन्हें स्वरक्षित जगहों पर भरोसा न करना चाहिए, क्योंकि साधारण कानून सभा में स्वरक्षित जगहों पर

बराबर हमले होते रहेंगे और बहुत दिनों तक इन हमलों को रोकना कठिन हो जायगा, मगर अड़चन तो यही है कि हमारे ज़मींदारों और ताल्लुकेदारों ने अपनी स्वार्थांधता और विलासिता तथा अभिमान में पड़कर इस प्रभाव को खो दिया है और अब उनका मुंह नहीं है कि साधारण सभा में भी प्रवेश पाने के लिए, वह अपने असामियों पर भरोसा कर सकें। अगर हमारे जमींदार विचारशील होते और समझते कि वह जो चैन कर रहे हैं वह असामियों की बदौलत, और उन असामियों के प्रति उनका कुछ कर्त्तव्य भी है, तो असामी उनसे विद्रोह क्यों करते। अगर ज़मींदारों का बस चलता, तो असामियों की दशा इससे भी गई बीती होती। यह तो कौंसिलों के उद्योग का नतीजा है, कि ज़मींदारों के हाथ एक हद तक बांध दिए गए हैं और कृषकों को भी कुछ अधिकार मिल गए हैं। अगर भूपतियों का आगे भी यही व्यवहार रहा, तो वास्तव में भविष्य उनके लिए अन्धकारमय है। जैसा गवर्नर महोदय ने फरमाया है— जमींदारों को अपने सद्व्यवहार पर भरोसा करना चाहिए, क्योंकि कृत्रिम साधनों से चाहे थोड़े दिनों उनकी रक्षा की जा सके, स्थायी रूप से नहीं की जा सकती। उसी तरह से, जैसे पथिक को लाठी से कुछ सहारा चाहे मिल जाय, पर मंजिल पर उसके पांव ही पहुंचा सकेंगे।

[सम्पादकीय। 'जागरण', 29 अगस्त, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

पुलिस प्रशंसा

प्रयाग के कमिश्नर मि. बामफोर्ड ने एक जलसे में पुलिस कर्मचारियों की प्रशंसा करते हुए फरमाया है—

"मैंने प्रयाग में आपका धैर्य, सद्भाव और पाबंदी बहुत समीप से देखी है, और मेरी इच्छा है कि उन सज्जनों में से भी कुछ लोगों को यह अवसर मिलता जो समझते हैं कि पुलिस का ओहदा पाते ही आदमी भला आदमी नहीं रह जाता।"

अधिकारियों के मुख से यह पुलिस प्रशंसा कोई नयी बात नहीं। बामफोर्ड साहब की विदाई का यह जलसा था। पुलिस कर्मचारियों ही ने यह जलसा किया था। सज्जनता का यही तकाजा था। कि मेहमान की थोड़ी सी तारीफ भी अवश्य की जाय, लेकिन छोटे बड़े लाट से लेकर हाकिम जिला तक, वाइसराय से लेकर चेम्बर आफ कामर्स के सभापति तक एक भी तो ऐसा नहीं बचा, जिसने पुलिस के सद्व्यवहार और सदाचार की सनद न दी हो। अब तो शायद अपनी तारीफ सुनते सुनते पुलिस का न भरने वाला पेट भी भर गया होगा।

पर इन एक लाख प्रशंसा पत्रों से कहीं ज्यादा कीमती और विश्वास पैदा करने वाला वह सर्टीफिकेट होता, जो किसी गरीब भारतवासी के मुख से निकलता। पुलिस एक ऐसा पत्र भी पेश कर सकती है? संसार में बुली नाम की एक वस्तु होती है। बुली अपने अफसरों की जूतियां चाटता है और जिन पर उसे कुछ अख्तियार होता है उनका खून ही नहीं प्राण चूस लेता है। हमारे पुलिस वाले अधिकतर बुली ही होते हैं।

[सम्पादकीय। 'जागरण', 29 अगस्त, 1923 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

सवाक् फिल्मों के दिन गिने हुए हैं

ऐसा जान पड़ता है कि सवाक् फिल्मों की हवा बहुत जल्द बिगड़ जायगी। मूक फिल्म एक साल तक भूमंडल में प्रचलित हो जाती थी। चारली के मसखरेपन का आनंद आस्ट्रेलिया, रूस और चीन सभी उठा सकते थे। सवाक् फिल्मों का क्षेत्र बहुत तंग हो गया है। क्योंकि अंग्रेजी फिल्मों का आनंद वही उठा सकते हैं, जो अंग्रेजी के ज्ञाता हों। किसी देश की साधारण जनता विदेश की भाषाओं में इतनी कुशल नहीं होती, कि विदेशी बोल-चाल समझ कर उसका आनंद उठा सके, अतएव सवाक् फिल्म बनाने वालों को बराबर घाटा हो रहा है और यह अवस्था बहुत दिन नहीं रह सकती। मूक चित्रों के दिन फिर लौटेंगे, ऐसी आशा है।

[संपादकीय। 'जागरण' 29 अगस्त, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

जागृति-1

जीवन के लिए जागना जितना जरूरी है, उतना ही जरूरी सोना है। दोनों क्रियाएं एक दूसरे के सहारे पर हैं। नींद का न आना भी एक बीमारी है, जिससे अनेक प्रकार की बाधाएं आ सकती हैं। और जो प्राणी रात-दिन सोता ही रहे, वह तो मरा-सा है ही। यदि दोनों क्रियाएं एक-दूसरे की सहायता करती रहें—आदमी जागे कर्म करने के लिए, सोये विश्राम करने के लिए—तो जीवन सुखी होता है, लेकिन जागना जीवन का मुख्य लक्षण है, सोना अर्थात्-विश्राम, तो केवल उसका एक सहायक है। इसलिए, जागृति जीवन और अभ्युदय का चिह्न है और निद्रा पतन तथा ह्रास का। जागृति रज-प्रधान क्रिया है, निद्रा में तम की प्रधानता होती है। कम से कम सोने के लिये अनेक उपाय और साधन बताए गए हैं। अधिक से अधिक सोने के लिए आज तक किसी ने कोई उपाय नहीं बताया—उसी तरह, जैसे स्वस्थ रहने के लिए तरह-तरह के प्रयत्न किए जाते हैं, पर बीमारी के लिए भी किसी ने कोई प्रयत्न किया है, ऐसा कभी सुनने में नहीं आया। वास्तव में स्वास्थ्य का न होना ही बीमारी है- उसी तरह, जैसे प्रकाश का न होना ही अंधकार है। आदमी जितना ही कम सोये उतना ही जागरूक है, यहां तक कि कई विद्वानों का मत है, सोना कोई आवश्यक क्रिया नहीं। संभव है तपस्वियों के लिए सोना आवश्यक न हो, उनकी प्रकृति में रज और सत् ही रह जाता हो, तम की सर्वथा हानि हो जाती हो, पर साधारण प्राणियों के लिए भी यही नियम लागू है कि मात्रा से अधिक सोने में हानि है, अतएव जब हम किसी राष्ट्र के विषय में जागृति की कामना करते हैं, तो इसका बोध यह होता है कि वह राष्ट्र मात्रा से अधिक तमोगुणी हो गया और उसमें जीवन की मात्रा जरूरत से कम है। हम इसी अवस्था में हैं और उससे निकलने का प्रयत्न कर रहे हैं। हम इस तत्व को मानते हैं कि हमारे लिए जागृति की बहुत बड़ी जरूरत है, लेकिन उस जागृति का, उस अभ्युदय का रूप क्या हो, इस विषय में अभी हममें थोड़ा मतभेद है, अनेक विचारक, अनेक सिद्धांत बताते हैं। हम जागरण के दो-चार अंकों में इसी विषय की विवेचना करना चाहते हैं।

सबसे पहले यह जरूरी है कि हम यह समझ लें—हमारे जीवन का उद्देश्य क्या है? जब तक हम इसका निश्चय न कर लें, हम जागृति का रूप स्थिर नहीं कर सकते। जैसे प्राणियों में प्रकृति भेद होता है और कभी-कभी ऐसा होता है कि जो वस्तु एक आदमी के लिए अमृत है, वही दूसरे आदमी के लिए घातक विष है, वैसे ही जातियों में भी प्रकृति भेद

होता है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं--देश कर प्राकृतिक अवस्था, जलवायु की विभिन्नता, परम्परा की विशेषता आदि। यदि हम इन परिस्थितियों को अपना दीपक न बनाएंगे, अपना मार्ग ऐसा न बनाएंगे, जो इन हालतों के अनुकूल हो, तो बहुत संभव है कि हम अपने लक्ष्य की प्राप्ति के बदले, दिन-दिन उससे दूर होते जायं। हमारी संस्कृति, जो सनातन से चली आती है, उसी के आधार पर हमें चलना होगा, क्योंकि संस्कृति केवल इन्हीं परिस्थितियों का समन्वय-मात्र है। यों कहना चाहिए कि संस्कृति का जो कुछ रूप है, वही इन्हीं परिस्थितियों का बनाया हुआ है। जब हम उस संस्कृति पर विचार करते हैं, तो हमें मालूम होता है वह कर्त्तव्य-प्रधान, धर्म-प्रधान, परमार्थ-प्रधान, अहिंसा-प्रधान, व्रत और नियम प्रधान संस्कृति है। उसमें व्यक्ति और समष्टि के सामंजस्य का ऐसा विधान है कि एक दूसरे का शत्रु न होकर सहायक बनी रहे। व्यक्ति के लिए धन और शौर्य प्राप्ति करने की पूरी स्वाधीनता है, पर उसका उपयोग समाज और राष्ट्र के हित के लिए होना चाहिए, भोग-विलास अथवा निर्बलों पर प्रभुत्व जमाने के लिए नहीं। 'अहिंसा परमोधर्म:' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्', यह दो सूत्र हमारी संस्कृति के मूल तत्व हैं और इस अधोवस्था में हम उन्हें अपनाये हुए हैं। यद्यपि अनेक कारणों से उस संस्कृति का रूप विकृत हो गया है, उसमें असंख्य बुराइयां घुस गई हैं, यहां तक कि अब उसका रूप पहचाना नहीं जा सकता, फिर भी यह तत्व प्रकाश-स्तभों की भांति अब भी प्रतिकूल दशाओं का सामना करते हुए खड़े हैं। बहुत कुछ खो चुकने पर भी, अब तक हममें जो कुछ रह गया है, वह उन्हीं प्रकाश-स्तभों का प्रसाद है। अन्यथा अब तक हमारी नौका न जाने कब की भंवर में पड़कर डूब चुकी होती। इस कथन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि हमारे जीवन का उद्देश्य प्रभुत्व की प्राप्ति नहीं, बल्कि परमार्थ संचय है। हमारे जीवन का आदर्श स्वार्थ की अंधी उपासना नहीं, संसार की निधि को समेटकर अपनी थैली में भर लेना नहीं वरन् संसार में इस तरह रहना है कि हमसे किसी को हानि न हो, किसी को कष्ट न हो, किसी का गला न दबे। हमारे आदर्श चरित्र नपोलियन जैसे नहीं, जो संसार पर अधिकार प्राप्त करना चाहता था, न क्लाइब या क्रामबेल जैसे, लेनिन या मुसोलिनी जैसे। हमारे आदर्श चरित्र कृष्ण और राम और अशोक जैसे राजा, अर्जुन और भीष्म जैसे योद्धा और गांधी जैसे गृहस्थ हैं। हमारा विश्वास संघर्ष में नहीं, सहयोग में है।

कहा जाता है कि सिद्धांत रूप से सभी संस्कृतियां एक-सी हैं। पूर्व और पश्चिम में कोई अंतर नहीं। वही अहिंसा और प्रेम और सेवा, जो हमारी संस्कृति का मूल तत्व है, पश्चिमी संस्कृति का भी मूलाधार है। जो कुछ अंतर है, वह नयी और पुरानी संस्कृति में है। पश्चिम की पुरानी संस्कृति हमारी संस्कृति से अभिन्न थी। जब से पश्चिम में कलों का युग आरंभ हुआ, तभी से वहां की संस्कृति में स्वार्थ और संघर्ष की प्रधानता हुई यद्यपि यह कथन बिल्कुल सार-हीन नहीं है, फिर भी पश्चिमी संस्कृति का जो उद्गम स्थान है, यानी यूनान और रोम, वह संघर्ष-प्रधान राष्ट्र था। ईसाई-धर्म, जो मू ' में बौद्ध-धर्म और बहुत अंशों में हिन्दू-धर्म का ही रूपान्तर है, पश्चिम में उस पौधे के समान था, जो कहीं विदेश से लाकर आरोपित किया गया हो। कुछ दिनों तक तो उसने अपने भीतर की शक्ति से बाहर की प्रतिकूल शक्तियों का सामना किया, फिर वह नष्ट हो गई। विदेशी पौधा उस प्रतिकूल जलवायु में फल-फूल न सका। आज पश्चिमी ईसाई कहलाते हुए भी, ईसाइयत से कोसों दूर

हैं। ईसाइयत की दया और अहिंसा का वहां कहीं नाम भी नहीं। रोम और यूनान के कवि, दार्शनिक, योद्धा तो प्रसिद्ध हैं, पर कोई त्यागी माहत्मा था, इसमें संदेह है। वह भोग-प्रधान संस्कृति थी और राष्ट्र के सभी अंग अधिक से अधिक भोगने के लिए लालायित रहते थे, जिसका परिणाम आपस के संघर्ष के सिवा और हो ही क्या सकता था। भारत में हमें प्राचीनकाल में ऐसे संघर्ष का पता नहीं मिलता। इसका कारण या तो यह हो सकता है कि यहां शक्तिशालियों ने दुर्बलों को इतना कुचल डाला था कि उनमें फरियाद करने की सामर्थ्य न थी, या यह कि त्याग और सेवा-भाव का इतना प्रसार था कि संघर्ष को पनपने के लिए कोई अवसर ही न मिलता था। देवताओं और असुरों में लड़ाइयों की कथाएं मिलती हैं, लेकिन वह स्वार्थ का संघर्ष न था, बल्कि सिद्धांत था। असुर भोगवादी थे, देवता त्यागवादी। देवता जब लड़े आत्मरक्षा के लिए। असुरों को परास्त करके उन पर रोब जमाने का भाव कभी उनके मन में न आया। योरोप में इसके प्रतिकूल स्वार्थ का संघर्ष था—गरीबों और अमीरों की, शासकों और शासितों की लड़ाई थी। उसी संघर्ष की छाप पश्चिमी संस्कृति के हरेक अंग पर लगी हुई है। ईसाई धर्म ने कई सदियों तक उस स्वाभाविक मनोवृत्ति को दबाए रखा। अंत में वह भी परास्त हो गई, अतएव योरोप के जीवन में आज जो स्वार्थ का उन्माद है, यह उसकी स्वाभाविक और सनातन मनोवृत्ति है। बार-बार क्रांति का होना, उसी स्वार्थमय संघर्ष का परिणाम था।

अगले सप्ताह में हम फिर इस प्रश्न पर विचार करेंगे।

[संपादकीय। 'जागरण' 5 सितम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

ओटावा सम्मेलन का आशीर्वाद

यह व्यवसाय का युग है। यहां व्यापारी और चीजों को बनाने वालों के स्वार्थ का राज है। खरीददार के हित की कोई परवा नहीं करता। खरीददार तो केवल इसलिए है कि व्यापारियों की चीजें खरीदे। उनके अस्तित्व की यही मंशा है। अगर वह खरीददार गरीब हो गया और अब चीजों के खरीदने की उसमें शक्ति नहीं रही तो बजाय इसके कि बाजार को स्वाभाविक गति से चलने दिया जाय इस बात के लिए व्यापारियों का सम्मेलन होता है कि चीजें कैसे महंगी हो सकें। कैसे खरीददारों की जेब से ज्यादा धन खींचा जा सके। व्यापारी को कैसे हानि हो सकती है? खरीददार का गला कटे, कोई परवाह नहीं। यही इस युग का धर्म है। व्यापारी अपना नफा कम नहीं कर सकता। प्रबंध में किफायत नहीं कर सकता। उसके हलवे-मांडे में जरा भी कमी नहीं हो सकती। उसे पूर्ववत् भोग-विलास करते रहना चाहिए। खरीददार को कानून से ऐसा दबाना चाहिए कि झख मारकर मंहगे दामों चीजें खरीदे। अगर इसके विरुद्ध कुछ कहिए, तो आपके ऊपर देशद्रोह का आक्षेप लगा दिया जाय। जापान हिन्दुस्तान में सस्ती चीजें भेजता है, इसलिए कर लगाकर उसके माल को बन्द कर देना चाहिए। यही ओटावा में हुआ। अहमदाबाद और लंकाशायर के मिल मालिक सस्तेपन में जापान का मुकाबला नहीं कर सकते। उसकी इस अयोग्यता का तावान राष्ट्र को देना चाहिए। कहा जाता है कि ओटावा के निश्चय से हमारे किसानों का विशेष उपकार होगा, क्योंकि इंग्लैंड रुई आदि पर दस फीसदी जो कर लगाने वाला है, वह अब भारत के माल पर न लगेगा, पर मुश्किल यह

है कि यहां के माल की खपत इंग्लैंड में इतनी नहीं होती, जितनी अंग्रेजी साम्राज्य से बाहर के देशों में। अगर उन देशों ने इसके जवाब में भारत के माल पर कर लगा दिया, तो भारत की कितनी बड़ी हानि होगी! मगर भारत के हानि-लाभ से किसे प्रयोजन है। इंग्लैंड की हानि न हो।

संपादकीय। 'जागरण', 12 सितम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

जागृति-2

पिछले अंक में हमने योरोप के संघर्ष और भारत के अहिंसा और प्रेम की चर्चा की थी। हमारी संस्कृति का मूल तत्व अहिंसा है, पश्चिम की संस्कृति का मूल तत्व संघर्ष है। यह बात नहीं है कि पश्चिम में अहिंसा भाव का अस्तित्व नहीं, या भारत में संघर्ष कोई अनोखी बात है, लेकिन हमें यहां अपवादों से बहस नहीं। पश्चिमी जीवन की नस-नस में, अणु-अणु में संघर्ष भरा हुआ है। उसी तरह भारतीय जीवन के अंग-अंग में अहिंसा और धर्म बसा हुआ है। संसार की विभूतियों पर अधिकार पाने के लिए और उन्हें भोगने के लिए संघर्ष और संग्राम अनिवार्य है। अहिंसा से तो केवल संतोष और त्याग और निवृत्ति का ही विकास होता है। योरोप का विजेता किसी संग्राम में विजय प्राप्त करने के बाद उस विजय से अधिक से अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न करता है। यहां अर्जुन विजय प्राप्त करके ग्लानि और विराग में डूब जाते हैं, अशोक प्रभुता के शिखर पर पहुंचकर भिक्षु बन जाता है और धर्म के प्रचार में अपना जीवन सार्थक करता है। संघर्ष में गोलबन्दी होती है, अन्यथा एक वर्ग दूसरे वर्ग को चट कर जाय, इसलिए प्रत्येक वर्ग अपना संगठन करता है और अपने स्वार्थों की रक्षा करने के लिए बराबर प्रयत्न करता रहता है। भारत में इस तरह की गुटबंदी का प्रमाण नहीं मिलता। किसी वर्ग को दूसरे वर्ग से इतना भय न था कि वह अपना संगठन करता। प्रत्येक वर्ग का कार्यक्षेत्र नियत था। उस क्षेत्र के अंदर वह अपना जीवन व्यतीत करता था। ब्राह्मण समाज और राष्ट्र का नेता था, इसलिए नहीं कि उसमें धन बल था या बाहुबल था, इसलिए कि उसमें ज्ञानबल था। वैश्य धन कमाता था, पर उस धन का जनहित में खर्च करता था। मनोवृत्तियां कुछ इस तरह की हो गई थी कि लोग अधिकारों की अपेक्षा अपने कर्त्तव्यों का ज्यादा विचार रखते थे। उस वक्त का राजा केवल सिंहासन की शोभा न बढ़ाता था, बल्कि उसे रात-दिन प्रजा के हित की चिंता रहती थी। वह नित्य अपने समय का कुछ न कुछ भाग प्रजा का दु:ख-दर्द सुनने में व्यतीत करता था, जिससे प्रजा में उसके प्रति भक्ति और श्रद्धा का भाव उत्पन्न होता था। जमींदार केवल किसान से लगान वसूल करके चैन न करता था, बल्कि प्रजा के हित की रक्षा करता था। कुएं और तालाब खुदवाना, अकाल और दुर्भिक्ष के समय प्रजा के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर देना, उसका धर्म था। अवश्य ही लोभी जमींदार भी होंगे, लेकिन समाज में वे बदनाम रहते थे और इसलिए उन्हें प्रजा पर अत्याचार करने का साहस न होता था।

इसके विपरीत पश्चिम में स्वार्थ और लोभ का राज है। कलों के आविष्कार ने व्यावसायिकता की एक हवा-सी फैला दी है। यह व्यावसायिकता पश्चिमी सभ्यता का कलंक है। संसार का जितना अहित इस व्यवसायवाद से हुआ है और आगे होगा, वह अभूतपूर्व है। इसी का यह कुपरिणाम है कि जो लोग अपने घरों में बैठकर अपना काम करते

थे, वे अब मिलों में आकर गुलामी करने पर मजबूर हैं। मिल का स्वामी उनसे अधिक से अधिक काम लेकर कम से कम मजूरी देना चाहता है, और यह संघर्ष यहां तक जोर पकड़ गया है कि योरोप के प्रत्येक देश में इसे उखाड़ फेंकने का प्रयत्न जोरों से हो रहा है। रूस ने तो उसे उखाड़ ही दिया, पर अन्य देशों में भी कम या ज्यादा संघर्ष छिड़ा हुआ है। मिलों में थोड़े से मजूर बहुत से आदमियों का काम कर लेते हैं, इसलिए बहुत से लोग बेकार रहते हैं। इस बेकारी को दूर करने के लिए मिलों में ज्यादा माल बनाना पड़ता है और उस माल की खपत के लिए बाजार खोजे जाते हैं। व्यवसायवाद और साम्राज्यवाद इस तरह एक स्थान पर आकर मिल जाते हैं। व्यापारियों को माल की खपत के लिए ऐसा बाजार चाहिए, जहां उनका माल बे-रोक टोक बिक सके, इसलिए कुछ देशों को अपने अधीन रखना उनके लिए अनिवार्य हो जाता है। उनका स्वार्थ इसी में होता है कि उस देश में वाणिज्य व्यवसाय की उन्नति न हो, अन्यथा उनके माल की बिक्री में बाधा होगी। यों कहना चाहिए कि वर्तमान शासन व्यापारियों के ही हाथ में है। सरकार उन्हीं के बल पर चलती है। उन्हीं की स्वार्थरक्षा के लिए बड़ी-बड़ी सेनाएं रखी जाती हैं, खून की नदियां बहाई जाती हैं। योरोप का महाभारत इसके सिवाय और क्या था? ओटावा-सम्मेलन इसके सिवा और क्या है? इस व्यावसायिक संस्कृति ने कल-प्रधान राष्ट्रों के लिए लाजिम कर दिया है कि उनके अधिकार में पराधीन राष्ट्रों की अधिक से अधिक संख्या हो।

इस संघर्ष का सबसे अच्छा उदाहरण वर्तमान पार्टी गवर्नमेंट है। राष्ट्र कई राजनैतिक दलों में विभाजित हो जाता है और जिस दल के प्रतिनिधि अधिक संख्या में होते हैं, उसी के हाथ में शासन आ जाता है। कभी-कभी तो ऐसा हो जाता है कि राष्ट्र की सारी शक्ति उस पार्टी के हाथ में आ जाती है, जिसमें उस राष्ट्र के एक तिहाई, चौथाई या इससे भी कम आदमी होते हैं। वहां की संघर्षमय मनोवृत्ति किसी ऐसी शासन विधि की कल्पना ही नहीं कर सकती, जिसमें सारा राष्ट्र-सम्मिलित हो। कहने को तो बहुमत का शासन होता, पर वह बहुमत वास्तव में अल्पमत होता है। अगर किसी राष्ट्र में आठ दल हैं और प्रत्येक दल के प्रतिनिधियों की संख्या पच्चीस ही तक रह जाय, तो जिस दल की संख्या छब्बीस होगी, वह अधिकारी होगा। शेष सातों दल उसका विरोध करके उसे उखाड़ फेंकने की चेष्टा करते रहेंगे। मजा यह है कि ये आठों दल अपने भिन्न-भिन्न सिद्धांतों के आधार पर खड़े होते हैं और अपने ही सिद्धान्तों को देश के कल्याण के लिए उपयोगी समझते हैं, सबके अपने-अपने देश सुधार के प्रोग्राम हैं। एक मरीज के आठ चिकित्सक हैं। चाहिए तो यह था कि आठों आपस में सलाह करके रोगी का इलाज करते, लेकिन वहां प्रत्येक वैद्य अपने इलाज से रोगी की चिकित्सा करता है। एक वैद्य भी उसे स्वीकार नहीं करता कि उसके सिवा रोगी की चिकित्सा कोई दूसरा कर सकता है। मरीज इस परीक्षा में मरे, या जीए, यह उसकी तकदीर है। एक दल कहता है—अवैध व्यापार से देश का कल्याण होगा। दूसरा कहता है—बिल्कुल गलत, इससे देश रसातल को चला जायगा। बाहर से आने वाली वस्तुओं पर कर लगाना चाहिए। जाहिर है कि दो मतों में एक अवश्य भ्रम मूलक है। दो परस्पर विरोधी चीजें समान फल नहीं पैदा कर सकतीं, लेकिन पार्टी-शासन में यह ताकत है कि वह विष को भी अमृत बना देता है। गौर करने की बात यह है कि जब राष्ट्र पर कोई संकट आ पड़ता है, तो सभी दलों की अक्ल गुम हो जाती है और थोड़े दिनों के लिए दलबन्दी स्थगित कर दी जाती है।

योरोपीय महाभारत के समय इंगलैंड में किसी एक दल का शासन न होकर संयुक्त राष्ट्र का शासन था। उसने लड़ाई जीत ली। आजकल भी किसी एक दल का शासन नहीं, राष्ट्र के सभी दलों का सम्मिलित शासन है। इस अवसर पर सम्मिलित शासन को वही सफलता होगी या नहीं, कोई नहीं कह सकता। पर, उन महानुभावों के ध्यान में यह बात कभी नहीं आती कि जब सम्मिलित शासन से संकटों पर विजय पाने में सफल हो जाते हैं, तो क्या साधारण अवस्थाओं में उससे विशेष उपकार न होगा, लेकिन जिन लोगों की प्रकृति ही झगड़ालू हो, संघर्ष जिनकी घुट्टी में पड़ गया हो, उन्हें सत्य को स्वीकार करने का साहस कहां से आवे!

[संपादकीय। 'जागरण', 12 सितम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

महान तप-1

कल यरवदा जेल में वह महान् तप आरम्भ होगा, जिसकी कल्पना से ही रोमांच हो जाता है। भारत की तपोभूमि में इससे पहले भी बड़ी-बड़ी कठिन तपस्याएं की गयी हैं, लेकिन यह तपस्या अभूतपूर्व है। भारत के इतिहास में ही नहीं, संसार के इतिहास में भी इसकी नजीर न मिल सकेगी। ज्ञान के लिए, मोक्ष के लिए, प्रभुता के लिए, औरों ने भी तप किए हैं, पर राष्ट्र के लिए प्राणों की आहुति देने का संकल्प महात्मा गांधी ही की कीर्ति है। वह सेवा-यज्ञ जो आज से चालीस वर्ष पहले दक्षिण अफ्रीका में हुआ था, उसकी यह पूर्णाहुति है। धन्य हो महात्मा! राष्ट्र की सेवा में तुम पहले ही अपना सर्वस्व अर्पण कर चुके थे। एक प्राण ही रह गया था। उसे भी राष्ट्र ही की भेंट करने जा रहे हो। एक समय दधीचि ने भी राष्ट्र की रक्षा के लिए प्राणों का बलिदान किया था। हम अपने अश्रद्धा के कारण उसे पौराणिक कथा समझे बैठे थे, पर आज तुमने उस प्राचीन मर्यादा को, उस प्राचीन आदर्श को, उस प्राचीन आत्मोत्सर्ग को, पुनर्जीवित कर दिया। इस छल-प्रपंच के युग में तुमने सतयुग की प्रतिष्ठा कर दी और दिखा दिया कि सतयुग और कलजुग केवल हमारे चित्त की वृत्तियां है। श्रीरंगा ऐयर ने केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा में इस संकल्प की आलोचना करते हुए सत्य ही कहा है कि कृष्ण भगवान् ने भारत का उद्धार करने के लिए तुम्हारा रूप धारण किया है। राष्ट्र पर इस समय जो संकट पड़ा हुआ है, उसका मोचन तुम्हारे सिवा और कौन कर सकता था। राष्ट्र की नौका साम्प्रदायिक भंवर में चक्कर खा रही थी। समस्त देश इन परिस्थितियों को देख-देख कर निराश और हताश हो रहा था। कहीं-कहीं साम्प्रदायिक द्वंद्व छिड़ गया था। राष्ट्र के मूल तत्व को हम भूल से गये थे। गोलमेज़ फिर कैसे हो, उसमें कौन जाय, आदि गौण बातों में पड़े हुए थे। उसी समय यरवदा जेल की ऊंची चारदीवारियों को भेदती, सरकार की गोपन नीति को चीरती हुई तुम्हारी इस भीषण प्रतिज्ञा की आवाज, आकाशवाणी-सी, हमारे कानों में आती है, और सारा देश सचेत हो जाता है, हमारी मुरझाई हुई आशा फिर लहलहा जाती है, हमारी निर्जीव देह में जान पड़ जाती है। हमारी आंखें खुल जाती हैं और हम देखते हैं कि जब राष्ट्र ही न रहा तो स्वराज्य कहां, जब संस्कृति ही न रही तो हमारा अस्तित्व ही कहां? भारतीय राष्ट्र का आदर्श मानव शरीर है जिसके मुंह, हाथ, उदर और पांव ये चार अंग हैं। इनमें से किसी एक अंग के विच्छेद हो जाने से देह अपंग या निर्जीव हो जायगी। हमारे शूद्र भाई इस देह रूपी राष्ट्र के पांव ही कट जायं, तो देह की क्या गति होगी? इस अंग विच्छेद

की थोड़ी-बहुत पीड़ा प्रत्येक व्यक्ति को हुई। लेकिन वह हृदय, जो सारे भारत की चेतना का केन्द्र है इस पीड़ा से विकल हो उठा। उसे मर्मांतक वेदना हुई और उसका चीत्कार, संयम और अहिंसा के बंधन को तोड़ता हुआ निकल आया। आज वह चीत्कार समस्त भारत के वायुमंडल में प्रतिध्वनित हो रहा है। वह नश्तर की भांति हमारे दिलों में चुभा जा रहा है। हम सिर थाम कर उस व्यथा का अनुभव करते हैं और अपनी परवशता पर रो उठते हैं। आज हम इतने बेकस और बेबस है, कि उस वेदना का अनुभव करके भी, हृदय से निकलने वाली आह सुनकर भी, छुरी को पांव से अलग नहीं कर सकते।

हम स्वीकार करते हैं, शूद्रों के साथ हमने अन्याय किया है। हमने उन्हें जी भर कर रौंदा, कुचला, दला। इस अन्याय ने जिस हृदय को सबसे ज्यादा दुखी किया है, वह उसी तपस्वी का हृदय है, जिसने अपना जीवन दलित भाइयों की सेवा में ही व्यतीत किया है। आज वह देखता है कि उसके जीवन की सारी तपस्या, सारी साधना धूल में मिली जा रही है। उसने जिस राष्ट्रीय एकता का भवन खड़ा करने के लिए एक-एक कंकड़ जमा किया था, वह सारी सामग्री उसकी आंखों के सामने बिखरी जा रही है मानो उसका जीवन ही निरर्थक हुआ जा रहा है। क्या हमारी ब्रिटिश सरकार उस वेदना का अनुभव कर सकती है ! उस अन्याय के प्रायश्चित्त-स्वरूप वह क्या कुछ न करता, वह यहां तक राजी है कि दलितों के लिए शिक्षा और जायदाद की कोई शर्त न रखो, उनके हरेक बालिग स्त्री-पुरुष को निर्वाचन अधिकार दे दो, शेष हिन्दू-समाज के लिए निर्वाचन की जितनी कड़ी शर्तें चाहे लगा दो, पर अछूतों को हिन्दुओं से अलग न करो, क्योंकि इससे केवल हिन्दू समाज की ही क्षति न होगी, अछूतों का अस्तित्व ही न रहेगा। हम कल्पना नहीं कर सकते कि इससे ज्यादा न्याय और क्या किया जा सकता है। ऐसा विचार उसी आत्मा से निकल सकता है, जो अछूतों की सेवा चिंतन करते करते स्वयं अछूत भावना से ओत-प्रोत हो गया है। हम किसी ऐसे दूसरे व्यक्ति का नाम नहीं जानते, जिसने इस एकाग्रता, इस प्रेम और इस उत्साह से दलित-समाज की सेवा की हो। महात्मा उन व्यक्तियों में से हैं, जो दलितों के उद्धार में ही हिन्दू जाति के उत्थान और उत्कर्ष का रहस्य छिपा हुआ देखते हैं, जो हिन्दू जाति के मुख से अन्याय के इस कलंक को मिटा देने के लिए अपने प्राणों को भी अर्पण कर देने को तैयार रहते है। जिस पौदे का उन्होंने तीस साल तक अपने रक्त से सींचा, उस पर कुठाराघात होते देखकर वह कैसे शान्त बैठ रहते ! यदि उन्हें अणु भर भी यह विश्वास होता कि इस विच्छेद से अछूतों के उपकार की संभावना है, तो सबसे पहले वह उसका स्वागत करते। सारा हिन्दू-समाज एक तरफ होता, पर वह अकेले, न्याय के बल पर, इस निर्णय को स्वीकार करते। राजनैतिक स्वार्थ का मार्ग यदि न्याय-मार्ग से पृथक् हो, तो महात्मा जी वह अन्तिम व्यक्ति हैं, जो उस मार्ग पर अग्रसर होंगे वह देखते हैं कि दलित समाज का जीवन हिन्दू जाति पर इतना अवलंबित है कि सरकार चाहे कुबेर का कोष लेकर भी आए तो उनकी रक्षा नहीं कर सकती।

दलितों के उद्धार का सबसे उत्तम साधन है—सम्मिलित निर्वाचन। यही उनके उत्थान का मूलमंत्र है। उनमें शिक्षा-प्रचार होते अभी बहुत दिन लगेंगे। उनमें कालगति से जो कुसंस्कार आ गए हैं उनका परिशोध भी समय लेगा। हिन्दू जाति में न्याय-भावना को व्यापक रूप से जगाने में भी बहुत दिन लगेंगे। शिक्षित-समाज में तो ऊंच-नीच का भाव बहुत दूर हो चुका है। हां, अभी उसने क्रियात्मक रूप नहीं धारण किया, लेकिन अनुदारों की संख्या अभी

बहुत ज्यादा है। ग्रामों में अभी इस उदारता का, इस जागृति का, प्रकाश नहीं फैलने पाया। ये सभी साधन छ: मासवाले रास्ते हैं। निकटतम मार्ग संयुक्त निर्वाचन ही है, जिसके सम्मुख यह भेद-भाव, यह भिन्नता, यह गर्व ठहर नहीं सकता। उस निर्वाचन में ऐसे अनुदार व्यक्तियों के लिए स्थान ही नहीं है, जिन पर दलित समाज को विश्वास न हो, जिनसे इसे भलाई की आश न हो, जिन्हें वह अपना सच्चा हितू न समझता हो। हमें विश्वास है कि अगर आज किसी गांव के चमार या पासी या मुसहर से जिज्ञासा की जाय, तो वह हिन्दू जाति से अलग होना कदापि स्वीकार न करेगा। वह हिन्दू-समाज में रहकर अपना उद्धार चाहता है, हिन्दू-समाज से निकल कर नहीं। हमारे देखते-देखते कितनी ही जातियां जो पहले नीच और दलित थीं, आज अपने संस्कारों को बदलकर जनेऊ पहन रही हैं, अपने आचरण सुधार रही है, आखाद्य पदार्थों का परित्याग कर रही हैं। उन्हें ज्ञात हुआ कि उनका यह पतन अज्ञान और आचरण-हीनता के हाथों हुआ। यह क्रिया बड़े जोरों के साथ जारी है। वे अब सन्ध्या करते हैं श्राद्ध करते हैं, धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं। वे अब अपने सेवा का गौरव समझने लगे हैं उनके देवता वही हैं जो सब हिन्दुओं के हैं आदर्श वही हैं, विश्वास वही हैं, दृष्टिकोण वही हैं। हिन्दुत्व उनके अणु-अणु में भरा हुआ है। उसे आप उनके अन्दर से निकाल नहीं सकते। एक समय था जब कुलीनता के मतवाले हिन्दुओं को दलितों की बिल्कुल परवाह न थी, वे ईसाई हो जायं, मुसलमान हो जायं, हिन्दुओं के कान पर जूं नहीं रेंगती थी, पर अब हिन्दू समाज इतना चेतना-शून्य नहीं है। दलितों के लिए अब मन्दिर खुलते जा रहे हैं, कुओं पर भी वह रोक-टोक नहीं रही। कट्टरता बड़ा कष्ट-साध्य रोग है, लेकिन लक्षण कह रहे हैं कि उसका आसन उखड़ गया है। पृथक् निर्वाचन से इस स्वाभाविक क्रिया के मार्ग में ऐसी बाधा आ खड़ी हुई है, जो रोग और रोगी दोनों ही का अन्त कर देगी। इसी बाधा को हरने के लिए महात्मा जी अपने प्राणों की भेंट चढ़ाने जा रहे हैं।

अब हमारा क्या कर्त्तव्य है? यों हो भाग्य को रोकर, अपने कुदिन को कोसकर बैठे रहेंगे? कदापि नहीं। महात्मा जी के इस वज्रनिर्घोष ने सारे देश में तहलका डाल दिया है। घर-भर में यही चरचा है। समस्त देश एक स्वर से कह रहा है—हम राष्ट्र की इस आशा को अपने जन्म-जन्मान्तरों के तप के इस वरदान को, अपने प्राणों के प्राण गांधी को, यों बलिवेदी पर न चढ़ने देंगे। हम अपने उन अछूत भाइयों को जो हमसे रूठ गए हैं, मनाएंगे, उनके चरणों पर गिरकर मनाएंगे। हमें विश्वास है डा॰ अम्बेडकर और मि श्रीनिवासन भी राष्ट्र की इस याचना को अस्वीकार न करेंगे। हमारी नौका को भंवर से निकालकर पार ले जाने वाला अकेला गांधी है। उसी में वह सामर्थ्य है, वह देवत्व है, वह ऐश्वर्य है। हमें विश्वास है यह ईश्वर के दरबार से हमारे उद्धार का बीड़ा लेकर आया है, हम उस दिन का इन्तजार कर रहे हैं, जब वह स्वाधीनता का वरदान लाकर जीर्ण और निराश माता की भेंट करेगा। क्या सामर्थ्यवान भी गांधी विधि की इस गति को टाल सकता है? नहीं, नहीं नहीं!!

[संपादकीय। 'जागरण', 19 सितम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

नवयुग-2

राष्ट्र केवल एक मानसिक प्रवृत्ति है। जब यह प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है, तो किसी प्रान्त या

देश के निवासियों में भ्रातृभाव जागरित हो जाता है। तब उनमें रूढ़ियों से पैदा होने वाले भेद, पुराने संस्कारों से उत्पन्न होने वाली विभिन्नताएं और ऐतिहासिक तथा धार्मिक विषमताएं, एक प्रकार से मिट जाती हैं। प्रान्त के निवासियों में एक नये जीवन का संचार हो जाता है। एक नगर में बाढ़ आ जाती है, तो सारे देश में हाहाकार मच जाता है और पीड़ितों की सहायता के लिए चारों ओर से धन और जन की वर्षा होने लगती है। एक स्त्री का अपमान हो जाता है, तो सारे देश को ताव आ जाता है। प्रतिकार के लिए भांति-भांति के साधन जमा किये जाने लगते हैं। प्राचीन काल का भारत केवल इसी अर्थ में एक था, कि उसकी संस्कृति एक थी। हिमालय से कन्याकुमारी तक एक ही संस्कृति का विस्तार था—वही धर्म, वही आहार-व्यवहार वही जीवन। छोटी-छोटी बातों में प्रान्तीयता मौजूद थी, कोई धोती-कुरता पहनता था, कोई कुरता-पाजामा, कोई बड़ी-सी चोटी रखता था, कोई बहुत छोटी-सी; मूल तत्वों में कोई अन्तर न था, परन्तु राजे सैकड़ों-हजारों थे, उनमें बराबर लड़ाइयां होती रहती थीं। उनके स्वार्थ अलग थे। वर्तमान राष्ट्र का विकास न हुआ था। संस्कृति तो आज भी योरोप और अमेरिका की एक ही है, लेकिन वहां बीसों ही राष्ट्र हैं, उनमें भी आपस में लड़ाइयां होती हैं, एक दूसरे को शंका और अविश्वास की आंखों से देखता है। एक-दूसरे को निगल जाने के लिए तैयार बैठा हुआ है। वर्तमान राष्ट्र योरोप की इजाद है और राष्ट्रवाद वर्तमान युग का शाप। पृथ्वी को भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में विभक्त करके उनमें कुछ ऐसी प्रतियोगिता, ऐसी स्पर्द्धा भर दी गई है, कि आज प्रत्येक राष्ट्र की यही कामना है, कि संसार की सारी विभूतियों पर उसी का अधिकार रहे, वही संसार में फलने-फूलने के योग्य है और किसी राष्ट्र को जीवित रहने का अधिकार नहीं है। एक-दूसरे से इतना सशंक है, कि जब तक अपने को फौलाद में मढ न ले, जब तक अपने को गोले-बारूद के अन्दर बन्द न कर लें, उसे सन्तोष नहीं। सब समझते हैं, कि सैनिक व्यय उन्हें मारे डालता है, सब चाहते हैं, कि शंकामय प्रवृत्ति का अन्त कर दिया जाय। बार-बार इसका उद्योग होता है, सम्मेलन होते हैं, लेकिन सभी चेष्टाएं निष्फल हो जाती हैं। जब दिलों में सफाई नहीं है, तो सम्मेलनों से क्या होता है। वहां भी हरेक इसी फिक्र में रहता है, कि नयी-नयी युक्तियों से दूसरे राष्ट्रों को निरस्त्र करा दे, पर आप अक्षुण्ण बना बैठा रहे। इसी राष्ट्रवाद ने साम्राज्यवाद, व्यवसायवाद आदि को जन्म देकर संसार में तहलका मचा रक्खा है। व्यापारिक प्रभुत्व के लिए महान युद्ध होते हैं, कपट-नीति चली जाती है, एक दूसरे की आंखों में धूल झोंकी जाती है। निर्बल राष्ट्र को उभरने नहीं दिया जाता। इसी राष्ट्रवाद का फल है, कि कनाड़ा और आस्ट्रेलिया जैसे विस्तृत भूखंडों में—जो भारतवर्ष के बराबर की आबादी को आश्रय देने की सामर्थ रखते हैं—थोड़े से आदमियों ने एक राष्ट्र बनाकर अपना एकाधिकार जमा लिया है और किसी एशिया-निवासी को उसके अन्दर नहीं जाने देते, हालांकि यदि अन्य निर्बल देश उसके साथ यही व्यवहार करें तो वे उससे लड़ने को तैयार हो जायंगे। अब यह प्रतियोगिता इतनी संक्रामक हो गई है, कि हरेक राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के माल को अपने मुल्क में आने से रोकने के लिए बड़े-बड़े कर लगाने का आयोजन कर रहा है। यह सारे अनर्थ इसीलिए हो रहे हैं, कि धन और भूमि की तृष्णा ने राष्ट्रों को चक्षुहीन-सा कर दिया है। पूर्व ऐतिहासिक काल में एक समय ही ऐसा था, जब मानव-जाति किसी एक ही स्थान पर रहती थी। वह साइबेरिया था, या तिब्बत या भारत, इसके विषय में अभी तक मतभेद हैं; पर राष्ट्रों की भाषा, नीति, रस्मोरिवाज, आदि में ऐसे कितने ही प्रमाण मिलते

हैं, जिनसे यह धारणा पुष्ट हो जाती है। ज्यों-ज्यों जनसंख्या बढ़ती गई, लोग भिन्न-भिन्न प्रान्तों की ओर फैलते गए। जिसे जहां जलवायु अनुकूल मिला, वहीं वह आबाद हो गया। फिर शनैः-शनैः उन संस्कारों और संस्थाओं की विकास हुआ, जो किसी न किसी रूप में आज तक विद्यमान हैं। जलवायु और प्राकृतिक प्रभावों के कारण भिन्न-भिन्न प्रांतों के निवासियों की भाषा, आकृति, परिधान, यहां तक कि स्वभाव में भी परिर्वतन होते गये। भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का विकास हुआ। संभव है, कुछ दिनों भिन्न-भिन्न प्रान्त वालों में मेल रहा हो; पर ज्यों-ज्यों उनके पारस्परिक स्वार्थों में संघर्ष हुआ, उनमें वैमनस्य और एक-दूसरे के आक्रमणों से बचने का प्रयत्न होने लगा। इस संघर्ष ने राष्ट्रों की सृष्टि की, अतएव वर्तमान राष्ट्र उसी युग के चिह्न हैं और अभी तक उनमें वही प्रवृत्तियां मौजूद हैं। प्राणी-मात्र को भाई समझने वाला ऊंचा और पवित्र आदर्श इस राष्ट्रवाद के हाथों ऐसा कुचला गया कि अब उसका कहीं चिह्न भी नहीं रहा और वह मानव-जाति का केवल अलभ्य आदर्श होकर रह गया है। इस युग में जीवित रहने के लिए राष्ट्रों का संगठित होना अनिवार्य-सा हो गया, अन्यथा असंगठित प्राणी-समूहों का इस राष्ट्रीयता के युग में कहीं पता भी न लगेगा। हां, हमें इस शाप को मंगल-रूप में लाना पड़ेगा, इस विष को रस बनाना पड़ेगा। इस संघर्ष का मूल आज का घोर अनात्मवाद है। ईश्वर का संसार से बहिष्कार कर दिया गया है। योरप के बाजे राष्ट्रों ने तो गिरजे और देवालय ढा दिए। नये युग के साथ अनात्मवाद और भी प्रचण्ड रूप में आ खड़ा हुआ है। रूस धर्म को अफीम का नशा कहता है। स्पेन का भी कुछ यही विचार है। दोनों ही ईसाई धर्म के केन्द्र थे, पर दोनों ही देशों में गिरजे तोड़े गए हैं। धर्म-संस्थाओं ने शासक-समुदाय से इस तरह अपने को मिला लिया था और लोकवाद का इतना विरोध किया था और कर रहे हैं कि जनता अब स्वाधीनता की नयी उमंग में धर्म-संस्थाओं को मिटाने को तुली हुई है। रूस और स्पेन दोनों देशों की यही दशा है। भारत में भी कुछ वही हवा चलती नजर आती है। नये राष्ट्र बन रहे हैं और राजनीतिक नये सिद्धांतों पर चल कर वे बलवान और संगठित भी हो जायंगे, लेकिन संसार में उनसे सुख और शांति की वृद्धि होगी, इसमें संदेश है। जहां शासन- संगठन के विरोध में जबान खोलना बड़े से बड़ा अपराध है, जिसकी सजा मौत है, वहां शांति कहां। विचारों को शक्ति से कुचल कर बहुत दिनों तक शान्ति की रक्षा नहीं की जा सकती। अनीश्वरता की वृद्धि ने संसार को इस दशा में पहुंचाया है और जब तक उसका प्रभुत्व रहेगा, राज-शास्त्र के नियमों के बदलने से विशेष कल्याण की आशा नहीं। कम से कम वह चिरस्थायी नहीं रह सकती। एक समय भारत में था, जब नृपति भी ऋषियों से कांपते थे। आज वह जमाना है, कि समस्त संसार में पशुबल की प्रधानता है। सुधार भी होते हैं, तो पशुबल से। मनुष्य में धर्म-बुद्धि जैसे रही ही नहीं।

लेकिन इस तिमिराच्छन्न आकाश में अब कहीं-कहीं रजत झालर नजर आने लगी है यह नवयुग की ऊषा का चिह्न है। दैवगति से वर्तमान संसार-संस्कृति का दीवाला निकल रहा है। साम्राज्यवाद और व्यवसायवाद की जड़ें तक हिलने लगी हैं। जिस संगठन पर यह संस्कृति ठहरी हुई थी, उस संगठन में कम्पन शुरू हो गया है। मनुष्य ने जिन कृत्रिम साधनों का आविष्कार करके मानवजीवन को कृत्रिम बना दिया था, उसकी कलई खुलने लगी है। स्वार्थ से भरी हुई यह गुटबन्दी जिसे आज राष्ट्र कहा जाता है, और जिसने संसार को नरक बना रखा है, अब टूटने लगी है। शासन की शक्ति अब कुबेर के उपासकों के कठोर और

निर्मम हाथों से निकल कर उन लोगों के हाथों में आ रही है, जिन्हें राजविस्तार की विशेष कामना न होगी, जो दुर्बलों के रक्त पर चैन करना अपने जीवन का उद्देश्य न समझेंगे, जो सन्तोषप्रद शांति के उपासक होंगे। न्याय और धर्म की आवाज कुछ-कुछ उठने लगी है। जापान ने पच्चीस साल पहले मंचूरिया को ले लिया होता, तो कोई मिनकता भी नहीं। आज जापान सारे संसार में बदनाम हो रहा है। प्राय: सभी राष्ट्रों में ऐसे विचारवान पुरुष निकल रहे हैं, जिन्हें वर्तमान संस्कृति में संसार की तबाही के लक्षण दिख रहे हैं और वे एक स्वर में इसके परिष्कार की, और जरूरत पड़े तो, शान्तिमय क्रान्ति की जरूरत समझ रहे हैं, और समझा रहे हैं। न्याय और धर्म की आवाज आत्मवाद के जागन के लक्षण हैं, और दुखी भारत की आशा आत्मवाद के विस्तार में ही है। जब भावना व्यापक रूप धारण करेगी, तब तक उस नवयुग के आवाहन के लिए हमें अविश्रान्त उद्योग करना है।

[संपादकीय। 'हंस', अक्टूबर-नवम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

आर्डिनेन्स-बिल का एसेम्बली में विरोध

एसेम्बली में नया आर्डिनेन्स-बिल पेश हो गया। उस पर गर्मागर्म बहस भी हुई, पर बहुमत ने उसे सेलेक्ट कमेटी में विचारार्थ भेजना स्वीकार कर लिया। अब इसमें संदेह करने का स्थान ही नहीं रहा, कि बिल पास हो जायगा। जहां तक आतंकवादियों का सम्बन्ध है, उन पर कड़े से कड़े कानून का भी कोई असर न होगा। उनकी अपनी दुनिया अलग है। न उन पर महात्मा गान्धी के अनुनय-विनय का कुछ असर होता है, न सरकार के कड़े कानूनों का। हां, उन पर अवश्य इसका असर पड़ेगा, जो खुलकर राष्ट्रीय आन्दोलन करते हैं। हमें भय है, कि आतंकवादियों की जो इच्छा है सरकार वही कर रही है। आतंकवादी इसके सिवा और क्या चाहते हैं, कि देश में अशांति हो, न किसी की जान सलामत रहे, न आबरू, न माल। छोटे बड़े सभी में असन्तोष की आग भड़क उठे। क्रांति की सफलता के लिए यही दशा आवश्यक है। अगर यह बिल आतंकवाद का अन्त कर दे, तो राष्ट्र बड़ी खुशी से इसे अंगीकार करेगा। संदेह यही है, कि आतंकवाद का अन्त करने के बदले यह राष्ट्रीय आन्दोलन का अन्त कर देगा, और अखबारों के लिए तो अब जिन्दा रहना ही मुश्किल हो गया है। उन्हें प्रेम की कविताएं और किस्से-कहानियां छाप कर ही अपने को सन्तुष्ट कर लेना चाहिए। सरकारी किसी नीति की आलोचना करना संकटापन्न है।

[संपादकीय 'जागरण', 5 अक्टूबर, 1932 में संकलित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

आयात और निर्यात के आंकड़े

बम्बई के आयात और निर्यात की अगस्त, 32 की जो रिपोर्ट निकली है, उससे विदित होता है कि 30 83 करोड़ का माल आया जो अगस्त, 31 से 19 लाख या 9 फीसदी, और अगस्त, 30 से 29 58 या 8 फीसदी ज्यादा था। वह बढ़ती सूती कपड़े (28 31 लाख), रेशमी कपड़े (11 43 लाख), ऊनी कपड़े (5 43 लाख) और नकली रेशम में (4 19 लाख) हुई। इसके विरुद्ध जाने वाले माल में कपास (16 3 लाख), लोहा (6 11 लाख),

रंग (5.08 लाख) और कल में (3 लाख)कमी हुई। सोने की रफ्तनी 3 49 करोड़ थी।

इस आर्थिक वर्ष के पहले पांच महीने में आंकड़ों से मालूम होता है कि इसी समय के गतवर्ष से 10 45 की आयात में बेशी हुई, लेकिन निर्यात में 9-39 करोड़ की या 48 फीसदी बेशी हुई।

[संपादकीय। 'जागरण', 5 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

इंग्लैंड के लिबरल मेम्बरों का पदत्याग

इंग्लैंड में लिबरल सरकार की कलई दिन-दिन खुलती जाती है। कहने को तो वह राष्ट्रीय सरकार है, अर्थात्—उसके मंत्रिमंडल में सभी राजनैतिक दलों के प्रमुख नेता शामिल हैं, लेकिन वास्तव में वह साम्राज्यवादियों की सरकार है, क्योंकि लिबरल और मजूर दल वालों की संख्या उसके मंत्रिमंडल में बहुत कम है। जो थोड़ी-बहुत थी भी वह ओटावा सम्मेलन पर मतभेद होने के कारण अलग हो गयी। कई प्रधान लिबरल नेताओं ने हाल में त्यागपत्र दे दिये। साम्राज्यवादियों, लिबरलों और मजूरों की नीति में इतना अन्तर है, कि उन्हें किसी एक नीति पर संगठित करना असंभव सा है। एक दल संरक्षण के पक्ष में है, तो दूसरा उसके विपक्ष में। कैसे संभव है, कि दोनों दल वाले संरक्षण में एक मत हो जायं। ओटावा सम्मेलन में उपनिवेशों के माल को जो संरक्षण दिया गया है, लिबरल दल वाले स्वीकार नहीं करना चाहते। अपने सिद्धांतों की रक्षा करते हुए जहां तक साम्राज्यवादी सरकार का साथ दे सकते थे, वहां तक दिया, लेकिन जब उन्होंने देखा कि यहां किसी तरह सिद्धांतों की रक्षा नहीं हो सकती तो, उन्हें विवश होकर इस्तीफा देना पड़ा। जो दस-पाच बच रहे हैं, वे भी दो-चार दिन में निकलने पर मजबूर होंगे, फिर गवर्नमेंट में केवल कंजरवेटिव दल रह जायगा और वह जो कुछ चाहेगा करेगा। उसका बहुमत इतना ज्यादा है कि कोई दूसरा दल उस पर असर नही डाल सकता। भारत के लिए सभी दलों में केवल नाग और सांप का अन्तर है, मगर जहां चर्चिल का प्रभुत्व है वहां नाग और काला नाग का अन्तर हो जाता है। हां एक बात है। कंजरवेटिव मुंह से जो कुछ कहते हैं, वही करते भी हैं। लिबरल और मजूर दल वाले मुह से तो मीठी-मीठी बातें कहेंगे, पर करेंगे वही जो कंजरवेटिव करते हैं। इसलिए हमें कंजरवेटिवों से इतनी शंका न होनी चाहिए, जितनी लिबरलों या मजूरों से।

[संपादकीय। 'जागरण', 5 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

काशी का कलंक

महात्मा गांधी के अनशन-व्रत से देश भर में अस्पृश्योद्धार का जो व्यापक आन्दोलन चल रहा है, उसमें देश के सभी सनातनधर्मी शमिल हैं। अगर यह कहा जाय कि इस नवीन जाग्रत आन्दोलन में जो शरीक हो रहे हैं या हुए हैं, वे सनातनधर्मी नहीं हैं, तो फिर यह मानना पड़ेगा कि सनातनधर्मी जनता इस देश में है ही नहीं, अथवा यदि है भी, तो उंगलियों पर गिन लेने योग्य, क्योंकि गांव-गांव और नगर-नगर में जो सभाएं हो रही हैं या हुई हैं, उनमें समस्त

स्थानीय जनता के एक स्वर से अछूतों को हृदय से अपनाने की घोषणा की है। यदि ऐसा करने वाले सबके सब आर्यसमाजी या कांग्रेसधर्मी हैं, तो निश्चय ही यह मानना पड़ेगा कि देश में अब सनातनधर्मी का हिमायती एक व्यक्ति भी नहीं है, किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है, सनातनधर्म आज भी जीवित है और आगे भी अनन्तकाल तक रहेगा। किसी के नष्ट करने से न तो यह नष्ट होगा, और न किसी के रक्षा करने से वह सुरक्षित रहेगा। ईश्वर ही उसकी रक्षा करता है, करेगा और कर सकता है। फिर भी काशी के कुछ मुट्ठी-भर पंडित यह चाहते हैं कि सनातनधर्म की रक्षा का काम ईश्वर से जबर्दस्ती छीन लिया जाय। बाहर की जनता समझती है कि काशी में कुछ बड़े धर्मनिष्ठ और शास्त्र-पारंगत तथा पुण्यात्मा पंडित मौजूद हैं, जो हिन्दू धर्म के तत्व और रहस्य को सूक्ष्म नीति से समझते हैं तथा संकट के समय उसकी रक्षा का उपाय करते हैं, किन्तु काशी की जनता खूब जानती है कि सनातनधर्मी और वर्णाश्रम धर्म के नाम पर होहल्ला मचाकर देश की सामाजिक जागृति और राजनीति की प्रगति में बाधा पहुंचाने और रोड़े अटकाने वाले काशीस्थ पंडित कितने पानी में है। काशी की जनता यह भी देखती है कि वे लोग शास्त्रों के बल पर कहां तक हिन्दू की जाति रक्षा कर रहे हैं— विधर्मियों के आक्रमणों से कहां तक हिन्दुओं को बचा रहे हैं और राजनीतिक संग्राम में हिन्दुओं के अधिकारों का किस प्रकार संरक्षण कर रहे हैं। हिन्दू-महासभा के विरोध में जो ब्राह्मण-सम्मेलन काशी में किया गया था, और जो अभी तक हिन्दू-महासभा तथा कांग्रेस की जड़ में कुल्हाड़ी मारने में ही तत्पर हो रहा है, वह भी काशी के एक पंडित के दिमाग की ही उपज है, और सारे भारत के हिन्दू, आंखें फाड़कर यह देख रहे हैं कि हिन्दू-महासभा द्वारा हिन्दुओं का अधिक हित हो रहा है, या ब्राह्मण- महासम्मेलन द्वारा। प्रस्तुत आन्दोलन द्वारा ही यह सिद्ध हो गया कि हिन्दू जाति की रक्षा करने में कौन अधिक समर्थ है—कांग्रेस दल या शास्त्र-व्यवसायी दल? सरकारी साम्प्रदायिक निर्णय-द्वारा करोड़ों अछूत भाई हिन्दू समाज से अलग हुए जा रहे थे—उन्हें वर्णाश्रम स्वराज्य संघ ने क्यों नहीं बचा लिया? और जब महात्मा जी अपने प्राणों का बलिदान करके उन्हें बचाने लगे, तो वर्णाश्रम और सनातनी कहे जाने वाले काशी के कुछ शास्त्रोपजीवी पंडितों ने महात्मा जी को सार्वजनिक सभा में अपशब्द कह डाले, किन्तु सूर्य पर थूकने वाले की दुर्दशा सबको मालूम है। जिस काशी में धर्म की ध्वजा गाड़कर शास्त्र की वेदी पर पंडित लोग बैठे हुए हैं, उसी काशी में उनकी बात सुनने वाला कोई नहीं है। उनके साथ कितनी जनता है और महात्मा जी के आन्दोलन में कितनी जनता है यह बिल्कुल स्पष्ट है। फिर भी न जाने दो-चार पंडितों को कैसी सनक सवार है कि आंधी में गुड्डी उड़ाने का उपहासास्पद दुस्साहस कर बैठते हैं। संयुक्त प्रान्त का दौरा करते समय महात्मा गांधी विगत वर्ष काशी में आये, तो केवल शास्त्राभिमानी पंडितों ने ही काले झंडे दिखाकर उनका स्वागत किया था। उस समय महात्मा गांधी के स्वागत और व्याख्यान में कितने काशी निवासी एकत्र थे, तथा काले झण्डों के साथ कितने थे, यह देखने से ही स्पष्ट हो गया कि काशी में ही इन धर्मप्राण पंडितों के सच्चे साथी कितने हैं। महात्मा जी समस्त भारत में घूम आये थे, कहीं भी किसी सनातनी ने उनका अपमान नहीं किया था, किन्तु काशी ने अपने सिर कलंक ले ही लिया। इससे यही सिद्ध हुआ कि भारत में और कहीं कोई सनातनी है ही नहीं, केवल काशी में ही मुट्ठी भर बच गये हैं। अगर काशी के सिवा अन्यत्र भी कहीं सनातनियों का नाम-निशान होता, तो अन्य स्थानों में भी महात्मा जी को काले झंडे दिखाये

जाते, अपशब्द कहे जाते, किन्तु दु:ख है कि सनातनधर्म के साथ-साथ काशी को भी कलंकित करने वाले थोड़े-से हठधर्मी बनारस में बच गये हैं, जो व्यर्थ ही दूसरे का शकुन बिगाड़ने के लिए अपनी नाक कटा रहे हैं। वे लोग 'दूलह की चाची' और 'अपने मुंह मियां मिट्ठू' बनना चाहते हैं, पर नहीं बन पाते, और कभी बन भी नहीं सकते। इस समय जब कि सारे देश में अछूतों को अपनाने और गले लगाने की धूम मच रही है, तब वे लोग मुश्किल से सिर्फ काशी में ही कुल सौ के करीब हैं, –बन्धु नक्कारखाने में तूती की आवाज सुनने का हौसला बांधे हुए हैं वे अछूतों को हिन्दू मानते हैं–बन्धुऔर वात्सल्यास्पद कहते हैं, मगर कोई सामाजिक अधिकार नहीं देना चाहते, सदा उन्हें दलित और पतित ही बनाये रखना चाहते हैं। तो, अब उपाय यह है कि जो हिन्दू महात्मा गांधी को हिन्दू-जाति का सच्चा रक्षक समझता है, वह तो इस बात की प्रतिज्ञा करे कि महात्मा जी के प्राण प्यारे अछूत जिस मन्दिर में न जाने पावेंगे, उसमें हम भी नहीं जायेंगे, और जो शास्त्राभिमानी पंडित या पुजारी या पंडा महात्मा जी को धर्म-द्रोही और अहिन्दू कहेगा, उसको किसी प्रकार का दान या पूजा-चढ़ावा नहीं देंगे। जो लोग अछूतों को हिन्दू बनाये रखते हैं और इसी में हिन्दू-जाति का सच्चा कल्याण समझते हैं, वे प्रतिज्ञापूर्वक अछूतों के लिए अलग मन्दिर बनावें और धर्मप्राण पंडे-पुजारियों को पैसे और दक्षिणा देकर अपमान खरीदने से बचे रहें। यदि विश्वनाथ जी का मन्दिर अछूतों के लिए नहीं खुलेगा, तो अछूत भाइयों के साथ मिलकर करोड़ों हिन्दू इसी काशी में दूसरे मंदिर का निर्माण करके उसी में विश्वनाथ का आवाहन-पूजन करेंगे, क्योंकि विश्वनाथ किसी एक जाति सम्प्रदाय के देवता नहीं हैं, वह तो प्राणी मात्र के पिता और नाथ हैं, उन पर सबका दखल-कब्जा बराबर-बराबर है। अब ऐसे ही आन्दोलन की जरूरत है और यह शीघ्र ही उठने वाला भी है। अब शास्त्री लोग अपना शास्त्र लेकर बैठे रहें और केवल उन्हीं से दान-दक्षिणा पाने की आशा रखें, जो उनकी बात मानें। बस। आगे की बात अगली बार फिर।

[संपादकीय। 'जागरण', 5 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

चांद लिमिटेड कम्पनी

'चांद' ने हिन्दी-संसार में जो ख्याति प्राप्त की है, वह किसी से छिपी नहीं है। इन आठ-दस सालों में उसने नयी मशीनों से सुसज्जित प्रेस ही नहीं खोल लिया है, बल्कि दो बंगले भी मोल ले लिये हैं, जिनमें प्रेस और कार्यालय चलता है। यह कारबार अब इतना बढ़ गया है कि 'चांद' के कुशल संस्थापक श्री रामरखसिंह सहगल ने उसे एक लिमिटेड कम्पनी-द्वारा संचालन और प्रवर्धन करना निश्चित किया है। उसके लिए एक कम्पनी बना ली गई है, जिसकी बाजाब्ता रजिस्ट्री हो चुकी है। तजवीज़ यह है कि कम्पनी की पूंजी आठ लाख हो और एक हिस्सा दस रुपये का रखा जाय। 'चांद' की सम्पत्ति इसमें शामिल कर ली गई है। प्रास्पेक्ट्स देखने से मालूम होता है कि कम्पनी के लम्बे इरादे हैं। कई हजार के हिस्से बिक भी गये हैं। हमें आशा है कि हिन्दी-प्रेमी जनता इस नये उद्योग में सहयोग देगी और दिखा देगी कि हिन्दी में भी बड़े पैमाने पर प्रकाशन का काम किया जा सकता है।

[संपादकीय टिप्पणी। 'जागरण', 5 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

मौलाना शौकतअली की गहरी सूझ

मौलाना शौकतअली ने हाल में एक बड़े मारके की बात कही है, जैसा वह अकसर कहा करते हैं। आप फरमाते हैं कि यदि हिन्दू जाति से जात-पांत का भेद-भाव मिट जाय और नौ अरब का राष्ट्र-ऋण चुका दिया जाय, तो वह पृथक् निर्वाचन से दस्तबरदार हो जायंगे। इन दोनों बातों का पृथक् निर्वाचन से क्या संबंध है, यह हमारी समझ में नहीं आता। यह तो ऐसा ही है कि यदि हिन्दू मूर्ति-पूजा छोड़ दें और रसूल पर ईमान लावें, तो वह पृथक् निर्वाचन छोड़ देंगे जात-पांत का भेद, तो खैर एक ऐसा प्रश्न है, जिसे हिन्दू जाति खुद तय कर सकती है, लेकिन यह नौ अरब का ऋण कौन चुकावे ! क्या यह भी हिन्दुओं ही को चुकाना चाहिए? ऋण सरकार ने लिया था, सरकार ने खर्च किया। सरकार उसे अदा करेगी। इसका अभी फैसला होना बाकी है कि इसका कौन-सा भाग भारत की भावी सरकार को स्वीकार करना पड़ेगा और कौन-सा भाग ब्रिटिश-सरकार को। लेकिन मौलाना साहब का फरमान है कि हिन्दू यह कर्जा चुका दें। इन दामों तो सम्मिलित निर्वाचन लेना शायद ही हिन्दू-जाति को मंजूर हो। पृथक् निर्वाचन को मुसलिम भाई चाहे अभी कई साल अपने लिए अक्सीर समझते रहें, लेकिन एक दिन आवेगा, जब वह देखेंगे कि इस पृथक्ता से उन्हें लाभ नहीं, बहुत हानि हो रही है। अल्पमत वाला समुदाय बहुमत में सम्मिलित रहकर सारे बहुमत को अपनी मुट्ठी में कर सकता है। वह अपना संगठित दबाव डालकर बहुमत को जिस तरफ चाहे घुमा सकता है, नचा सकता है, पृथक् हो जाने से उसके प्रभाव का क्षेत्र बहुत तंग हो जाता है। हिन्दुओं में जैसी फूट और प्रतिद्वंद्विता है, उससे मुसलिम जाति बहुत बड़ा फायदा उठा सकती थी। हिन्दू कभी इतने संगठित हो सकेंगे कि एकमत होकर मुसलमानों का बहिष्कार कर दें, यह असम्भव है। भिन्न-भिन्न राजनैतिक-दल रहेंगे ही। मुसलमान उनके अन्दर रहकर जो कुछ चाहते, लेते, जो कुछ चाहते.करा सकते। अलग जाकर उन्होंने यह सुनहरा अवसर खो दिया है और इसके लिए उन्हें पछताना पड़ेगा। अगर यह समझा जाता हो कि हिन्दू अपने स्वार्थ से पृथक् निर्वाचन को हटाना चाहते हैं, तो उन पर अन्याय है। हिन्दू जानते हैं कि मुसलमानों से मिलने में उनकी सरासर हानि है। फिर भी वह मिलना चाहते हैं किसलिए? केवल इसलिए कि वह भारत को संयुक्त राष्ट्र बनाना चाहते हैं और उस एकता के लिए अपने को मिटा देने पर भी तैयार हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', ९ अक्टूबर, १९३२ में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

हिन्दू-सभा की निष्क्रियता

हिन्दू-सभा का अधिवेशन दिल्ली में हुआ अवश्य, पर उसका होना न होना दोनों बराबर। अधिवेशन क्या हुआ, केवल रस्म निभाई गई। कार्यकर्ताओं ही में उत्साह न था, तो जनता में कहां से होता। कुछ इस तरह का तमाशा-सा हुआ जैसे कोई देहातियों के सामने अंग्रेजी में बात करे। जनता हिन्दू-सभा को केवल नाम से जानती है। उसका कोई काम उसने नहीं देखा। दो-एक बार सभा ने कुछ कर दिखाने का इरादा भी किया, पर सामने खतरा देखकर बैठ रही। ऐसी संस्था के लिए जो केवल काउंसिलों में जगहों के लिए झगड़ती रहे, जनता के हृदय में

कोई स्थान नहीं। अब यह किसी संस्था की दृढ़ता और सत्यता की परीक्षा उसके नेताओं के त्याग से करती है। जहां त्याग नहीं, वहां कुछ नहीं। ऐसी निर्जीव संस्थाओं से वह कोई आशा नहीं रखती और न उसमें सम्मिलित होती है। हां, थोड़ा-बहुत चंदा भले ही दे देगी। देश के सामने इस समय सबसे बड़ा प्रश्न समाज से ऊंच-नीच, छूत-अछूत के भेद को मिटाना है। आज आवेश में कुछ मंदिर खोल दिये गये, और दो एक जगह भेद-रहित भोज कर दिये गये, इससे यह कदापि न समझना चाहिए कि यह भाव हिन्दू समाज से निकल गया। अभी तो केवल बीज पड़ा है। फल-फूल लगने तक बड़े-बड़े साधन करने पड़ेंगे, गोड़ना, सींचना, जानवरों से बचाना यह सभी क्रियाएं पड़ी हुई हैं। जरा भी बेपरवाई या असावधानी हुई और पौधा सूखा। हिन्दू-सभा ने इस महत्वपूर्ण विषय में स्पर्श तक न किया। प्रस्तावों से काम चलता हो अब तक भारतवर्ष स्वर्ग बन चुका होता। प्रस्तावों का मूल्य तब है, जब उसके पीछे क्रिया शक्ति हो। हिन्दू- सभा ने इस शक्ति का कोई परिचय नहीं दिया। हिन्दू जाति के सामने उसने कोई आदेश, कोई प्रोग्राम असली सूरत में नहीं रखा। संभव है कि उसके नेताओं के मन में कुछ और हो पर वहां तो 'चुप, चुप' की पालिसी दुहाई फिर रही थी। वह जमाना गया, जब 'चुप-चुप' की नीति से जनता संतुष्ट हो जाती थी। अब तो वही संस्था जीवित रह सकती है, जो त्याग और बलिदान की भावना लिए क्षेत्र में आये। जिनमें यह भावना नहीं, उन्हें ख्वामखाह सभाएं करने की कोई जरूरत नहीं। 'शेर गुफतन चे जरूर?'

[सपादकीय। 'जागरण', ९ अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

किसानों की कर्जा कमेटी के प्रस्ताव

कौन नहीं जानता कि भारत के किसान बुरी तरह कर्ज के नीचे दबे हुए हैं। उनका प्राय: सभी काम कर्ज से ही चलता है। बीज वह सूद पर लेते हैं और एक का डेढ़ अदा करते हैं। कपड़ा या तो वह बजाज से उधार लेते हैं या पठानों से। बैल भी वह प्राय: फेरी वाले व्यापारियों से उधार ही लिया करते हैं। शादी-गमी, तीर्थ व्रत में तो अपनी सम्मान-रक्षा के लिए उन्हें कर्ज लेना ही पड़ता है। और इस कर्ज का सूद कम से कम पच्चीस रुपये सालाना है, ज्यादा की कोई सीमा नहीं, चालीस पचास रुपये फीसदी तक हो जाता है। और गरीब किसान एक बार कर्ज लेकर फिर उऋण नहीं हो सकता, सूद भी नहीं अदा कर पाता, मूल का तो कहना ही क्या। और यही कर्ज वह विरासत में अपने पुत्रों पर छोड़ जाता है। कितने जमींदार और साहूकार किसानों या किसान मजूरों को सौ पचास रुपये उधार देकर उनसे यावज्जीवन मजदूरी कराते रहते हैं। केवल उन्हें जिन्दा रहने लिए कुछ अनाज रोज दे दिया करते हैं। वेतन सूद में कटता रहता है। अक्सर तो यह होता है कि किसान की पैदावार खलिहान में ही साफ हो जाती है। जमींदार ने अपना लगान वसूल कर लिया, साहूकारों ने अपनी बाकी, किसान हाथ झाड़कर अपनी तकदीर को रोता हुआ घर जाता है और पहले ही दिन से कर्ज लेना शुरू करता है। यह हाल तो उस वक्त था, जब जिंस तेज थी और किसानों के हाथ में थोड़े-बहुत रुपये आ जाते थे। आजकल तो गरीब को रुपये के दर्शन ही नहीं होते। जमींदार और सरकार का भी दोष नहीं। जमींदार असामियों से लगान न वसूल करे, तो क्या खुद खाय और क्या सरकार को दे। साहूकार अपना बाकी न वसूल करे, तो तबाह ही हो जाय। अतएव कुछ दिन

हुए सरकार ने इस समस्या पर विचार करने के लिए सरकारी और गैर सरकारी सदस्यों की एक कमेटी नियुक्त की थी, जिसकी नामावली देखने से मालूम होता है कि उसमें सभी विचारों के महानुभाव थे–जमींदार, अर्थ विशेषज्ञ, राज कर्मचारी, काउंसिल के मेम्बर। कमेटी ने कई महीने के विचार के बाद अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की है, जिसमें कृषकों को साहूकारों से बचाने के लिए कई सिफारिशी प्रस्ताव दिये गये हैं उनमें से मुख्य ये हैं–

1 पंचायती बोर्ड कायम किये जायं। असामी और साहूकार दोनों मिलकर तीन या पांच या सात पंचों की एक पंचायत चुन लें। पांच सौ रुपयं तक के लेन-देन के मुआमले इसी पंचायत द्वारा तय कर दिये जाया करें। कोई अदालत इतनी रकम तक के मुआमले की सुनवाई न करे, जब तक पंचायत यह न कह दे कि वह इस मामले का निपटारा नहीं कर सकती। अगर दोनों फरीक चाहें तो एक ही पंच द्वारा मुआमले को तय कर सकते हैं।

2 सूद की हद बांध दी जाय। एक ऐसा एक्ट पास कर दिया जाय कि कृषक असामी अदालत से अपने हिसाब की नकल की दर्खास्त कर सके। अदालत यह हिसाब तैयार करते समय सूद की दर अधिक देखे, तो शुरू से उसकी तरमीम कर दे। जमानती कर्ज पर नौ फीसदी और गैर-जमानती कर्ज पर पन्द्रह फीसदी सूद लगा दे। परिस्थिति पर विचार करके सूद की दर बारह और अट्ठारह फीसदी तक बढ़ाई जा सकती है। मियाद पर किस्त न वसूल होने पर अदालत सब रुपये को एकबारगी चुकाये जाने का हुक्म दे सकती है।

3 हर एक महाजन को ठीक-ठीक हिसाब रखन के लिए मजबूर किया जाय। और इस हिसाब की नकल असामी को हर छठे महीने दे दी जाय। अगर महाजन इस शर्त को पूरा न करे, तो उसका पूरा सूद या उसका कोई भाग नाजायज करार दिया जाय। महाजन हरक वसूली की लिखी हुई रसीद दे वर्ना उसे सजा दी जाय। असल उतना ही दर्ज किया जाय, जितना वास्तव में दिया गया हो, नजराना, या खर्चा, या जुर्माना के नाम से असल में बेशी करना जुर्म करार दिया जाय।

4 खती की पैदावार या काश्त की जमीन पर अगर उसका लगान पाच सौ रुपये से अधिक न हो डिगरियों की तामील अदालतों द्वारा न होकर कलक्टर द्वारा करायी जाय। कोई डिगरी चार फसलों से ज्यादा पर न करायी जाय और यह जरूरी नहीं है कि चारों फसलें लगातार हों।

5 कोई कृषक असामी कर्ज की डिगरी के लिए गिरफ्तार न किया जाय इस एक्ट के पास हो जाने के बाद किसी ऋण का मूल जो एक महाजन किसी असामी से उसकी जायदाद या फसल कुर्क करके वसूल कर सकता है इस तरह होगा–

जमींदार से–	मालगुजारी का दस गुना
शरहमुअइयम या दखीलकार से–	लगान का दस गुना
गैर दखीलकार से–	लगान का पाच गुना
सिकमी से–	लगान का तिगुना

6 किसी असामी पर रुपये दिलवाने का दावा उसी जिले में होगा, जिसमें वह रहता है या जहां उसे रुपया दिया गया।

बेग बीस महीने के भीतर जब असामी चाहे सूद के साथ अदा कर सकता है।

7 गैर दखीलकार काश्तकारों को अपनी जमीन रेहन रखने का हक दे दिया जाय।

8 छोटी मिलकियतों का आकार नियुक्त कर दिया जाय और उन पर लगान या मालगुजारी न बढ़ाई जाय।

9 फेरी करने वाले महाजनों को किसी खास परगना या म्युनिसिपैलिटी में लेन-देन करने या कपड़ा बेचने के लिए लेसंस दिया जाय, जो पहले पचास रुपये फी आदमी होगा और दस रुपये फीस देकर हर साल बदला जा सकेगा।

[संपादकीय। 'जागरण' 12 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

ज़मींदारों की जायदाद की रक्षा

कृषकों की तरह कितने ही जमींदार भी कर्जदार हैं। छोटे-छोटे जमींदारों का तो कहना ही क्या, अकसर बड़े-बड़े जमींदार भी, जो लाखों रुपये मालगुजारी अदा करते हैं, कर्ज के बोझ से दबे हुए हैं। जमींदारों और काश्तकारों में अन्तर यही है कि काश्तकार मेहनत करके भी कर्जदार हैं, पर जमींदार केवल अपनी फिजूलखर्ची और विलासिता के कारण कर्जदार है। बड़े जमींदार का तो कहना ही क्या, पाइयों के जमींदार भी जमींदारी की शान में अपने हाथ से कोई काम करना पसंद नहीं करते। उनकी गुजर छीन-झपट से होती है। अब सरकार बुंदेलखंड और पंजाब की तरह इस प्रांत में भी जमींदारों की जायदाद की रक्षा के लिए कानून बनाने का विचार कर रही है। पुराने खानदानी जमींदारों के विषय में सरकार का ख्याल है कि उन्हें अपने असामियों से स्नेह होता है और वे जमींदारी के काम में निपुण होते हैं। पर उन्हीं जमींदारों में बहुत ऐसे हैं, जिनका अधिकांश जीवन नगरों की विलासिता में व्यतीत होता है। उन्हें अपनी प्रजा से केवल इतना सम्बन्ध है कि प्रजा उनकी सीधी, बेजबान, दुधार गाय है। उनका काम केवल गाय का दूध दुह लेना है। गाय को भूसा खली भी मिलता है या नहीं, इसकी उन्हें बिल्कुल चिन्ता नहीं होती। कितने ही तो अपने इलाके का दर्शन तक नहीं करते। मुख्तार उन्हें रुपये देता जाय, बस, और उनमें प्रजा के सुख-दुःख से प्रयोजन नहीं। ऐसे जमींदारों की रक्षा करके सरकार उनकी विलासी मनोवृत्ति को और भी प्रोत्साहित करेगी। अभी जो थोड़ी- बहुत फिक्र उन्हें है, वह भी जाती रहेगी, सरकारी नौकरियां क्या उन्हीं लोगों को दी जाती हैं, जो पुश्त-दर-पुश्त से सरकारी नौकरी करते चले आये हैं, जिनका यही खानदानी पेशा है? अगर ऐसा नहीं है, तो सरकार को अब किसी विशेष सम्प्रदाय की रक्षा करने की क्या जरूरत है? जो समय की प्रगति के अनुसार नहीं चल सकते, समय उनकी रक्षा नहीं कर सकता। फिर यह कानून बनाकर यहां की आबादी को 'कृषक' और 'अकृषक' दो भागों में बांटना पड़ेगा। मगर यहां घोर अन्याय हो जाने का भय है, क्योंकि साहूकार या दूसरे धनवानों की कोई विशेष जाति नहीं होती। कुरमी, काछी, ब्राह्मण, क्षत्री सभी लेन-देन करते हैं। कहीं ब्राह्मण महाजन है, कहीं असामी। मुसलमानों में जातें नहीं हैं, इसलिए सभी मुसलमानों को कृषक जाति में रखना पड़ेगा और इस तरह वह बात दूर न होगी, जो सरकार की इच्छा है। पुराना जमींदार प्रजा पर धाक जमा लेने के कारण उससे कहीं ज्यादा सख्ती करता है। जितनी वह नया जमींदार करेगा, जिसे प्रजा से मेल-जोल बढ़ाना है। अतएव हम ऐसे कानून की जरूरत नहीं समझते।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

डाक्टर एनी बेसेंट की छियासिवीं जयन्ती

डाक्टर एनी बेसेंट ने जन्म से आइरिश होकर भारत के लिए जो कुछ किया है, वह महात्मा गांधी के सिवा शायद ही किसी ने किया हो। भारत में होम रूल का बीज पहले-पहल उन्होंने बोया और उसके लिए असाधारण त्याग का परिचय दिया। उनके जीवन का सबसे बड़ा काम विश्व-बंधुत्व का वह भाव है, जिसको उन्होंने नया जीवन प्रदान किया है। उनके अदम्य परिश्रम को देखकर अच्छे-अच्छे दंग रह जाते हैं। कई-कई पत्रों का संपादन, पुस्तकों की रचना, देश-विदेश में प्रचारार्थ भ्रमण, ये सभी काम वह एक साथ करती थीं। योरोप में कई सामाजिक प्रश्नों के विषय में जो कुछ जागृति हुई है, उसमें डाक्टर एनी बेसेंट का भाग किसी से कम नहीं है। आज संसार में उनका जितना सम्मान है उतना किसी भी जीवित व्यक्ति का नहीं है। हिन्दू-संस्कृति और शास्त्रों को तो उनके हाथो जो प्रोत्साहन मिला है, वह चिरस्थायी रहेगा। भारत के कितने ही स्थानों में उनकी छियासिवीं जयन्ती मनायी गयी। हम भी इस अवसर पर अपनी श्रद्धांजलि उनकी सेवा में अर्पित करते हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

भारतीय क्रिकेट टीम की वापसी

भारतीय क्रिकेट टीम दिग्विजय करके लौट आयी। यद्यपि इसे उतनी शानदार कामयाबी नहीं हुई, जितनी भारतीय हॉकी टीम को हुई, फिर भी इसने इंग्लैण्ड को दिखा दिया कि भारत खेल के मैदान में भी नगण्य नहीं है। सच तो यह है कि अवसर मिलने पर भारत वाले दुनिया को मात दे सकते हैं, जीवन के हरेक क्षेत्र में । क्रिकेट में इंग्लैण्ड वालों को गर्व है। इस गर्व को अबकी बड़ा धक्का लगा होगा। हर्ष की बात है कि वाइसराय ने टीम को स्वागत का तार देकर सज्जनता का परिचय दिया।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 में संकलित।]

मां विजये !

आ रही हो? आओ, मां आओ ! हमारे अन्तस्तल की अधीर आकांक्षाओं के पुकार-पन्थ को अपने चरणों से पवित्र कर दो ! हमारी मंगल-आशाओं और मधुर-अभिलाषाओं के स्वप्न-लोक को अपनी निस्सीम करुणा के कोमल आलोक से अभिभूत कर दो ! हमारे ऊंघते हुए पौरुष और पराक्रम को ललकारो और हमारी आर्य्योचित कर्त्तव्य-भावना के भीतर अभिनव चेतना-शक्ति का संचार कर दो मां !

क्या कह रही हो मां? हम कायर हैं, कपूत हैं, डरपोक हैं, स्वार्थी हैं, विलासी हैं, आलसी हैं, अकर्मण्य हैं, अंधे हैं? सच है मां। इसमें झूठी बात तो एक भी नहीं, लेकिन लेकिन क्या यह सब-कुछ होते हुए भी हम तुम्हारी घृणा और उपेक्षा के पात्र हैं? नहीं, बेटे औरों के लिए बुरे हो सकते हैं; पर अपनी मां के आगे वे दमकते हुए हीरे की तरह

मूल्यवान और चमकते हुए तारों की तरह भासमान हैं। मां, हम चाहे और कुछ न हों, इस बात का गौरव तो है कि तुम हमारी मां हो। निखिल विश्व में और भी किसी ने ऐसी मां पायी है? कभी न मुरझाने वाले वरदान-पुष्पों की इतनी सुन्दर विजय-मालिका और भी कहीं किसी ने कभी पहनी है? हमारे लिए यही क्या कम अभिमान की बात है मां, कि हमारी वैभवहीन कुटिया को श्री-सम्पन्न करने के लिए, हमारे प्रांगण में उल्लास और उत्कर्ष का नूतन, आविर्भाव करने के लिए हमारी आत्मिक प्रेरणा-शक्ति को अनुप्राणित करने के लिए तुम आती हो, आती हो, बराबर आती है। क्यों आती हो मां? इसलिए न कि तुम्हारी अनुपस्थिति का अनुभव करके, हम अपने आपको जानें, पहचानें और समझें? इसीलिए न आती हो मां, कि हम आत्मानुभूति की गहराई में डूबकर अन्तर्ज्योति प्राप्त करें और अपने अन्धेपन को चारों ओर फैले हुए अपने इस अन्धकार को नष्ट कर दें। तुम्हारे बार-बार के इस आगमन का उद्देश्य तो सिर्फ यही है न कि हम अपने भीतर से कायरता और भीरुता को मार भगावें, अकर्मण्यता और आलस्य का गला घोट डालें, स्वार्थान्धता और विलासिता का अन्त कर दें। फिर यह ग्लानि-ज्वाला से भरी हुई भर्त्सना क्यों दे रही हो मां? हमारी बिलखती हुई आशा के कम्पित अधरों को करुणा के स्पर्श से पुलकित बनाकर हमें वरदान-विमण्डित कर दो, फिर देखो, हम तुम्हारी आंखों में जांचने लगते हैं कि नहीं?

आह! तुम तो रोने लगीं। क्या हमारे इस अन्धकार ने तुमें कोई आघात पहुंचाया मां? नहीं? फिर क्या हमारी नासमझ पर रो रही हो? तुमने समझने में गलती की? तुम जो कुछ कह रही हो, वह भर्त्सना नहीं है? क्या कहती हो, वह वात्सल्य-रस में डूबी हुई प्यार की प्रताड़ना मात्र है? अब समझे मां, अच्छी तरह समझ गये। मगर, यह भर्त्सना भी हो, तो बुरा क्या है? हमें तो यही चाहिए। प्यार से कब तक सहलाती रहोगी? अब हम बच्चे नहीं रहे, हमें कभी-कभी डांट-फटकार भी सुनाती रहे। सच कहते हैं मां, कभी-कभी मार भी दिया करो, नहीं तो अतिशय दुलार से हम दिनों-दिन बिगड़ते ही जायंगे। भला यह भी कोई दुलार है कि तुम आकर हमारे सिरहाने खड़ी रहो और हम तुम्हारे स्वागत-सत्कार की कुछ परवाह न करके, दासत्व की सुख-शय्या पर पड़े-पड़े तुम्हारे मुंह की ओर ताकते रहें? नहीं, अब हमसे यह दुलार छीन लो मां! हाथ पकड़कर हमें इस अपावन सुख-शय्या पर से उठा लो! अब हम सुख के भूखे नहीं, दु:ख के भूखे हैं। हमें दु:ख दो! दु:ख की तीव्र अनुभूति के बिना हम मनुष्यता का मर्म समझ ही नही सकते। हमें वही वेदना दो, मां जो तुमने अपने सबसे प्यारे पुत्र 'गान्धी' को दी है। वही तड़प दो मां, जिसने आज सारे संसार को हिला दिया है। वही संकट दो, वही सन्ताप दो, जिससे आज समस्त विश्व उद्वेलित और उद्दीप्त हो उठा है।

हंस रही हो? हमारे पागलपन पर? नहीं मां, यह प्रलाप नहीं है उत्पीड़ित हृदय की आकांक्षा की सच्ची अभिव्यक्ति है। हमें सुख बहुत है, चाहे वे सब-के-सब झूठे ही क्यों न हों, पर वास्तविक दु:ख की अनुभूति का हम में अभाव है। क्या कहती हो? दु:ख की अनुभूति लेकर क्या होगा? जो कुछ होगा, इसी से तो होगा मां! देखती नहीं हो, इसी एक वैभव को अपनाकर तुम्हारा वह 'साबरमती-आश्रम' वाला लंगोटधारी बेटा–वह डेढ़ मुट्ठी का 'अर्द्ध-नग्न फकीर'–आज सम्राटों का सम्राट् बना भू-मण्डल भर की आध्यात्मिक सत्ता पर शासन कर रहा है! अभी-अभी उसने इसी के बल पर जो अभूतपूर्व विजय प्राप्त की है, वह आज तक किसी ने कहीं भी की थी? उसे अगर यह निधि न मिल गयी होती, तो आज

तुम्हारा यह गौरव कैसे बढ़ता, तुम्हारे मुखड़े पर आह्लाद-ज्योति की धारा कैसे बरसती है? 'राम' को भी तो तुमने पहले दु:ख दान ही दिया था न? याद है, उसे पाकर उन्होंने अपनी कर्त्तव्य-चेष्टा का सौन्दर्य कितना अधिक बढ़ा लिया था! क्या भूल गयी कि दु:ख की ही साधना में लीन होकर उन्होंने तुम्हारे अक्षर वरदान की उपलब्धि की थी? 'ईसा' और 'बुद्ध' को भी तो तुमने यही विभूति प्रदान की थी मां! इसी से तो कहते हैं, हमें भी वही दो, जिसे अपनाकर हम अपने को तुम्हारे आशीर्वाद के योग्य बना सकें।

अरे, तुम तो फिर रो पड़ीं! क्या मेरी इस करुण-याचना के धक्के से तुम्हारा करुणार्द्र हृदय हिल उठा? क्या कहती हो, हम व्यंग्य कर रहे हैं? अपने चारों ओर दु:ख-ही-दु:ख देखकर तुम्हें ताने मार रहे हैं? नहीं मां, यह नहीं है। हमारे चारों ओर आधिभौतिक अभाव और अवितृप्ति के जो दु:ख-दल खड़े हैं, उनके लिए हम ताने किसे दें? वे तो हमारे ही बुलाये हुए हैं, हमारे पापों के परिणाम हैं, हमारे ही अपराधों के दण्ड हैं। उनकी शिकायत हम किस मुंह से करें?

हमारा हृदय स्वार्थ के अन्धकार से भर गया है। अपना स्नेह दान करके, तुम उसके भीतर वेदना-प्रदीप की उद्‌भासित ज्योति-शिखा का कम्पन फैला दो! तभी हम अच्छी तरह देख सकेंगे कि हमारी वास्तविक स्थिति कैसी है?

मां, आओ! लेकिन देखो, जैसे और-और दफे आकर चुपचाप चली जाया करती थी इस बार भी वैसा ही मत करना। इस बार तुम्हारी दी हुई पताका हमारे राष्ट्र के गौरव मन्दिर पर फहरायेगी—और फहरायेगी उसी शान के साथ, जिस शान के साथ आर्य्य पुत्रों की विजय-वैजयन्ती फहराया करती है। हम गर्व नहीं करते मां, सच कहते हैं, इस बार 'बापू' की तपस्या की विजय ने, उनकी विजय के उल्लास ने, हमारे भीतर वह अभिनव आशा भर दी है, वह अमर विश्वास जगा दिया है, जो अभूतपूर्व है। विश्व भर की पीड़ाओं को प्रश्रय देने वाले, उस तपोधन की वेदना के आलोक में आज हम अपने आपको देख रहे हैं, पहचान रहे हैं, समझ रहे हैं, इसीलिए, इस बार तुम्हारा स्वागत करते हुए हमारे हृदय में उल्लास की वेगवती धारा उमड़ रही है, हर्ष की हिलोरें उठ रही हैं।

शक्तिदायिनी मां! हमारी वेदना की अनुभूति में वह शक्ति भर दो, जिससे विश्व भर के पाशविक सुख-दानवों का संहार हो जाय! वर दो! हमें वह वर दो, जिसे पाकर हम केवल अपने ही राष्ट्र का नहीं, संसार के समस्त राष्ट्रों का अभिशाप मिटा सकें। सुख दो! हमें वह सुख दो, जिसे पाकर हम किसी ऐसे सुख की कामना न करें जो दु:खियों के दु:ख की उपेक्षा करने वाला है। अभये! हममें वह निर्भयता भर दो, जो असहाय और अपदस्थ प्राणियों के आगे घुटने टेकना सिखाती है, अत्याचारियों के आगे तनकर टूट जाना। विजये! हमारे अहंकार का क्षय करके वह विजय दो, जिसे पाकर हम अपने जीवन-संग्राम का गौरव बढ़ा सकें, अपनी स्नेहमयी जननी के सच्चे सपूत कहला सकें।

आओ, मां, आओ! हमें अपनी पूजा के पुष्प बना लो।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 अक्तूबर, 1932 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

आराज़ी की चकबन्दी

हमारे किसानों को जहां और कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, वहां उनके खेतों का दूर-दूर और गांव की भिन्न-भिन्न दिशाओं में होना भी एक बहुत बड़ी बाधा है। अधिकतर किसानों के पास दो-ढाई बीघे से ज्यादा नहीं होता, और उसमें भी पांच बिस्वे गांव के पूर्व हैं, तो दस बिस्वे गांव के पश्चिम, दस बिस्वे उत्तर, तो पांच बिस्वे दक्खिन। पांच बिस्वे को जोतकर उसे हल बैल लिये मील भर चलना पडता है, तब कहीं दूसरा खेत मिलता है। सिंचाई, निराई, बुआई सभी क्रियाओं में यही हाल होता है। इस तरह उसका बहुत-सा समय नष्ट हो जाता है। न वह कुंए बनवा सकता है, न बाड़े खींच सकता है, न फसल की रखवाली कर सकता है। इस सस्ती के समय इस बाधा को दूर करना अनिवार्य हो गया है। पंजाब में तो वहां की प्रान्तीय सरकार ने इस विषय में बहुत कुछ काम किया है। लेकिन हमारा प्रांत अभी मीठी नींद सो रहा है। मि० मेहता ने दो जिलों में चकबन्दी का आयोजन किया था, पर ऊपर से कोई ताकीद न होने के कारण उसमें कुछ ज्यादा सफलता न हुई, और उन दो-एक जिलों को छोड़कर और कहीं उसकी चर्चा तक न हुई। हर्ष की बात है कि रायसाहब बाबू आनन्दस्वरूप एम० एल० सी० ने लीडर में एक पत्र लिखकर जनता और सरकार का ध्यान इस ओर खींचने की चेष्टा की है। कृषि विषय के अन्य सुधारों के लिए रुपये और समय और शिक्षा की जरूरत है, लेकिन इस सुधार के लिए तो सरकार को एक पैसा भी न खर्च करना पड़ेगा। थोडी-सी तवज्जह से किसानों को बहुत बड़ा फायदा हो जायगा और हमें विश्वास है कि पैदावार भी बढ़ जायगी। जैसा उक्त रायसाहब ने कहा है, गांव की जमीन को मिट्टी के हिसाब से दो-तीन टुकड़ों में बांटना पड़ेगा, बलुआ, काली मिट्टी, कंकरीली आदि। इसके बाद गोइड़ (आबादी के निकट) और पाही (आबादी से दूर) का विचार करके हरक किसान को जमीन बांट दी जायगी। जमीन की पैदावार का भी लिहाज रखना पड़ेगा। सोलह आने पैदावार की जमीन के एक बीघे के बदले आठ आने पैदावार के दो बीघे मिल जायंगे। पैदावार का तख्मीना करते समय, तालाब, सड़क आदि के सामीप्य पर भी ध्यान रखना पड़ेगा, जिसमें किसी किसान की हकतलफी न हो। गांव वालों की पंचायत की सलाह से तख्मीने का अफसर बंटवारा कर देगा। किसानों को तो लाभ होगा ही, सरकार को भी लाभ होगा। पटवारियों का काम बहुत हलका हो जायगा, और वह जमीन, जो मेड़ों से घिरी हुई है और जिसके बारे में हमेशा किसानों के झगड़े होते रहते हैं, खेत में मिल जायगी। हमने इस विषय में कृषकों से जो बातचीत की है, उससे मालूम होता है कि वे इस सुधार का स्वागत करने को तैयार हैं, यदि इससे उनका नुकसान न हो। जब तक चकबन्दी न की जायगी, कृषि में कोई सुधार न होगा, न नयी जिन्सें पैदा की जा सकेंगी। कृषि की उन्नति की यह पहली सीढ़ी है और हमें आशा है, सरकार इसे हाथ में लेने में देर न करेगी।

[सपादकीय। 'जागरण', 19 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

गाजीपुर के को-आपरेटिव सम्मेलन में संतान-निग्रह

अब की सत्रह मार्च को गाजीपुर में प्रान्तीय को-आपरेटिव सम्मेलन हुआ था। उसकी रिपोर्ट

हाल में प्रकाशित हुई है। स्वीकृत प्रस्तावों में एक संतान-निग्रह के विषय में भी था। को-आपरेशन में ऐसे विषय भी शामिल हैं, यह एक नई बात है। शायद इस प्रस्ताव का मंशा यह हो कि देश की उन्नति के लिये ब्रह्मचर्य-पालन करना आवश्यक है, पर प्रस्तावक महोदय को शायद मालूम नहीं कि संतान-निग्रह और ब्रह्मचर्य-पालन दो भिन्न चीजें हैं। ब्रह्मचर्य शक्ति बढ़ाने वाली साधना है, पर संतान-निग्रह दुर्बल करने वाले कृत्रिम साधनों से संतानोत्पति को रोकना है। इस कृत्रिम संतान-निग्रह से केवल भोगलिप्सा ही की वृद्धि होती है। यूरोप में संतान निग्रह का खूब प्रचार हो रहा है, लेकिन उसका फल विलासिता की वृद्धि के सिवा और कुछ नहीं है। संतान वृद्धि और वह भी दरिद्र देश में, विडम्बना है, लेकिन उसके प्रतिबन्ध के लिए कृत्रिम साधनों का प्रसार और भी बड़ी विडम्बना है। उसका मंगलमय उपाय केवल ब्रह्मचर्य है।

[संपादकीय। 'जागरण', 19 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

दिल्ली के म्युनिसिपल चुनाव में अछूत मेम्बर

दिल्ली म्युनिसिपैलिटी में दो मेम्बरों का स्थान खाली हो गया था। उसके लिए उम्मेदवार खड़े हुए थे। नेशनलिस्ट दल ने दोनों जगहों के लिए दो अछूत भाइयों को खड़ा कर दिया। जनमत का ऐसा दबाव पड़ा कि सभी हिन्दू उम्मेदवार बैठ गये और अछूत उम्मेदवार बिना मुकाबले के चुन लिए गये। अगर अब भी किसी को संदेह हो कि हिन्दू अपने दलित भाइयों के साथ न्याय करना नहीं चाहते, तो यह उसका अन्याय है। महात्मा गांधी के अनशन ने जो जागृति पैदा की है उसने हिन्दू समाज में क्रांति पैदा कर दी है और हमें विश्वास है कि यह समस्त हिन्दू जाति का एकीकारण करके ही शांत होगी।

[संपादकीय। 'जागरण', 19 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

मुसलिम सर्व-दल सम्मेलन

जिस वक्त यह पंक्तियां लिखी जा रही हैं, लखनऊ में वह महत्वपूर्ण मुसलिम सर्व-दल सम्मेलन हो रहा है, जिसकी सफलता भारत के राष्ट्रीय जीवन में प्रेम की स्फूर्ति डाल देगी। राष्ट्र-विच्छेद की जो क्रिया गोलमेज सभा में शुरू हुई थी और जिसे प्रधानमंत्री मि॰ रैमजे मैकडोनल्ड के बंटवारे ने पूरा कर दिया था, वह भारत-प्राण गांधी के तप के वरदान से इस तरह छिन्न-भिन्न हो गयी, जैसे रवि-ज्योति से कुहरे के बादल फट जाते हैं। उसी पावन तप का यह वरदान है कि हिन्दू-समाज की नसों में समाया हुआ भेद-भाव और उसके प्राणों में घुसी हुई अस्पृश्यता अब अंध-विश्वास और मूर्खता का आश्रय खोजती फिरती है। यह सत्य है कि जन्म-जन्मान्तरों का कोढ़ एक बार गंगा-स्नान से नहीं मिट सकता लेकिन जिस वेग से परिष्कार की धारा चल रही है, वह बहुत ही आशा-जनक है। आज हम हिन्दूधर्म के आचार्यों को राष्ट्रीयता की अदम्य प्रवाह में बहते देख रहे हैं, वह अपने सामने सारी विघ्न-बाधाओं को बहाये लिये जाता है। यह उस तप का पहला वरदान था। उसका दूसरा वरदान जो पहले से कहीं व्यापक और युगांतर उत्पन्न करने वाला है, यही मुसलिम सम्मेलन है। वह

मौलाना शौकतअली, जो गत पांच-छह साल से हिन्दू जाति के सामने आस्तीनें चढ़ाये खड़े थे, आज उस वरदान के प्रताप से राष्ट्रीयता के उपासक बने नजर आते हैं। वह भी भारत का सर्वदल सम्मेलन ही था, जिससे असंतुष्ट होकर मौलाना विरोधियों के कैम्प में चले गये थे। वह सम्मेलन भी लखनऊ में ही हुआ था। इतने दिनों तक प्रतिकूल वातावरण के अनुभव के बाद हमारा वह मुसलिम नेता फिर हमारी ओर प्रेम से हाथ बढ़ा रहा है। कई साल पहले का वह मंगलमय दृश्य हमारे सामने आ रहा है, जब महात्मा गांधी और दोनों अली भाई एक ही प्लेट-फार्म पर खड़े नजर आते थे। आज स्वर्गीय मौलाना मुहम्मदअली की आत्मा स्वर्ग में बैठी हुई है बिछुड़े भाइयों के इस मिलन पर खुश हो रही होगी। वह अमर शब्द किसे भूल सकते हैं, जो गोलमेज़ सभा के अवसर पर उनके मुख से निकले थे–

"या तो मैं स्वराज्य लेकर जाऊंगा, या यहीं मेरी कब्र बनेगी।"

इन शब्दों में स्वदेश-प्रेम का कितना ऊंचा आदर्श था और यह प्रतिज्ञा कितनी सच्ची निकली। ऐसी वीर आत्माओं के लिए अधिकार-लोलुप मुसलिम सम्प्रदायवादियों में क्या आकर्षण हो सकता है। आश्चर्य यही है कि इतने दिनों मौलाना कैसे उनके बीच में रहे। यहां हमें भीष्म पितामह का वह कथन याद आता है, जो उन्होंने दुर्योधन के पक्ष में लड़ते समय अपनी सफाई देते हुए कहा था। वीर आत्माएं कुछ दिनों के लिए चाहे विचलित हो जाय लेकिन उनकी अ-ा प्रेरणा एक न एक दिन अवश्य उन पर काबू पा लेती है और उन्हें पुराने कार्य-क्षेत्र की ओर घसीट लाती है। जमैयतुलउलेम और मुसलिम राष्ट्रीय दल तो पहले ही एकता का हामी था, अब मौलाना शौकतअली के सहयोग से खिलाफत पार्टी का सहयोग भी मिल गया, जो इन दोनों दलों से ज्यादा प्रभावशाली है। अब केवल मुसलिम कान्फ्रेंस दल इस सम्मेलन से अलग है, जिसके नेता डा॰ सर इकबाल, डा॰ शफाअत अहमद खां आदि हैं। इस दल ने सम्मेलन में शरीक होने से इंकार कर दिया है। वह कहते हैं हिन्दुओं की ओर से शुरुआत होना चाहिए। इससे उनका क्या आशय है, यह तो वही जानें। हिन्दुओं ने तो केवल बचनों से ही नहीं, कर्म से सिद्ध कर दिया कि वह राष्ट्रीयता के हितार्थ हरेक समझौते के लिए तैयार हैं। क्या विश्व कवि डा॰ ठाकुर, पं॰ मदन मोहन मालवीय, डाक्टर सर तेजबहादुर सप्रू आदि ने बिना किसी आधार से ही बातचीत शुरू की थी? मगर उस दल के इंकार का रहस्य वाइसराय के उस तार में है, जो उन्होंने मौलाना शौकतअली के तार के जवाब में दिया था। या उस पैगाम में जो सर आगाखां ने मुसलिम कान्फ्रेंस के नेताओं के नाम फ्रांस से भेजा था। इस दल का विश्वास साम्प्रदायिक नीति है। राष्ट्रीयता को वह अभी तक सतर्क आंखों से देखता है और एकता के हरेक आयोजन की उपेक्षा करता है। मौलाना शौकतअली ने लखनऊ पहुंचने पर उस दल के नेताओं को जो खरी-खरी बातें सुनायी हैं, वह उनके स्वभावानुसार ही हैं। वह अपने मनोभाव नीतिज्ञों की भाषा में नहीं व्यक्त करते। उनकी भाषा और भाव दोनों ही उनके डील-डौल की तरह तेज और ललकार से भरे होते हैं–

"मुसलिम जनता शांति चाहती है। वह समझौता करने की इच्छुक है। वह कुछ कर दिखाना चाहती है। इस समय मुसलमानों में तीन दल हैं–एक वह जो, कांग्रेस और हिन्दुओं का मुंह देखता है, दूसरा वह, जो शिमला के इशारे पर नाचता है। इन दोनों के बीच में मुसलमानों की बहुत बड़ी संख्या उनकी है, जो सम्मान के साथ समझौता चाहते हैं। उनके लिए एकता बड़े महत्व की चीज है और इस सम्मेलन का यही उद्देश्य है। मैं न कांग्रेसी हूं,

न मुसलिम राष्ट्रीय दल का मेम्बर हूं। मैं तो केवल सेवक हूं। वे सज्जन भी, जिनका मुझसे मतभेद है, यह स्वीकार करेंगे कि मैंने और मेरे सहकारियों ने मुसलिम हितों के लिए मुसलिम कान्फ्रेन्स से कहीं अधिक सेवाएं की हैं। मुसलिम लीग का तो कहना ही क्या जो मर चुकी है, और सर मुहम्मद याकूब चाहे कितने ही शोबदे करें, उसमें जान नहीं डाल सकते। मैं मुसलमानों को कांग्रेस या शिमला का मुंह ताकते नहीं देख सकता। हम मुसलमानों में सच्चा नागरिक जीवन चाहते हैं, और यह भी चाहते हैं कि हम गवर्नमेंट और हिन्दू जाति, दोनों के साथ न्याय और आदर का व्यवहार करें।''

लेकिन वाइसराय ने कह दिया है कि जब तक मुसलमान एकमत होकर आपस में कुछ निश्चय न करेंगे, वह प्रधानमंत्री के निर्णय में कोई परिवर्तन नहीं कर सकते।

अब देखना यह है कि दस-पांच व्यक्तियों के न आने से ही कांफ्रेंस का महत्व कम हो जाता है, या उसमें हरेक प्रान्त और दल के मुसलिम प्रतिनिधि इतनी करसत से आते हैं कि थोड़े से व्यक्तियों के न आने से उसके महत्व में कोई कमी नहीं आती। शिया पार्टी संयुक्त निर्वाचन के पक्ष में अपना मत दे चुकी है। राष्ट्रवादी मुसलमान, जमैयतुलउलेमा, खिलाफत पार्टी, यदि यह सभी पार्टियां एक बात निश्चित कर दें, तो अवश्य ही जनमत दवाब इतना अधिक हो जायगा कि थोड़े से व्यक्तियों की उपेक्षा की जा सकेगी। फिर जिस मुसलिम कान्फ्रेन्स दल के प्रधान डा० सर इकबाल हैं, उसी के उपप्रधान मौलाना शौकतअली और राजा साहब सलेमपुर हैं, जो इस सम्मेलन के पक्ष में हैं। बात यह है कि मुसलिम-कांफ्रेंस दल में पंजाबी मुसलमानों का बहुमत है और पंजाबी मुसलमानों को इस बटवारे में जो बहुमत प्राप्त हो गया है, उसे वे लोग छोड़ना नहीं चाहते।

समझौते के लिए अब तक कई विधान उपस्थित किये गये हैं, पर हमारी समझ मे स्थायी विधान वही है, जिसका आधार प्रत्येक प्रान्त की संख्या पर हो। वेटेज अर्थात् संख्या से अधिक वोट का मिलना बिल्कुल बन्द कर दिया जाय और वोट का अधिकार हरेक बालिग मर्द-औरत को दे दिया जायं। इस तरह हरेक प्रान्त में संप्रदायों की वोट-संख्या उसकी आबादी के अनुसार ही होगी। इस तरह पंजाब के छप्पन फीसदी मुसलमानों को छप्पन फीसदी मेम्बरियां मिल जायंगी और चूंकि किसी प्रान्त में वेटेज का नियम न रहेगा, पंजाब के हिन्दू या सिक्ख, मुसलिम बहुमत को स्वीकार करेंगे। बंगाल और पंजाब में मुसलमानों की दो तिहाई संख्या रहती है। अन्य प्रान्तों में केवल एक तिहाई। जब वेटेज के परित्याग से दो तिहाई मुसलमानों का हित हो सकता है, तो केवल एक तिहाई के हित के लिए दो तिहाई के सिर वेटेज क्यों लाद दिया जाय? हमें आशा है, इन प्रश्नों पर यह सम्मेलन साफ-साफ निर्णय कर सकेगा। तभी वह कोई स्कीम सर्व-सम्मति से हिन्दुओं के सामने रख सकेगा। जब तक मुसलमान खुद किसी एक बात पर एकमत नहीं हैं, हिन्दुओं के सामने कोई प्रस्ताव रखना समय का अपव्यय ही है।

[संपादकीय। 'जागरण', 19 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

स्वदेशी की आड़ में लूट

स्वदेशी वस्तुओं का दिन दूना प्रचार देखकर जहां हमें हर्ष होता है, वहां यह देखकर खेद भी

होता है कि ग्राहक के त्याग के भाव का व्यापारी समाज कितना अनुचित लाभ उठा रहा है। कोई स्वदेशी चीज खरीदिये, वह उसी दाम की विदेशी चीज से या तो मंहगी होगी, या अगर एक दाम हुए, तो माल घटिया होगा। नये व्यवसायों के विषय में तो हमें कुछ कहना नहीं, लेकिन जो माल आज पचास साल से बनता आता है, वह क्यों विदेशी माल से घटिया या महंगा हो। अगर ग्राहक से त्याग की आशा की जाती है, तो मिल के करोड़पति मालिकों को क्यों कुछ त्याग करने की प्रेरणा नहीं होती। यह तो सरासर जबरदस्ती है कि गरीब ग्राहक तो एक की जगह सवा खर्च करें और धनवान मिल ओनर दोनों हाथों से अपना घर भरें। इस बेकारी के जमाने में आदमी को एक-एक पैसे की तंगी है। मजूरी भी सस्ती हो गयी है, कच्चा माल भी सस्ता हो गया है, पर कपड़े का दाम ज्यों का त्यों है। ग्राहक यदि एक का सवा देता है, तो यह निश्चित है कि वह अपना कोई दूसरा जरूरी खर्च कम कर देता है। दूसरा खर्च यहां पेट के सिवा और है ही क्या। हम पेट काट कर महंगा स्वदेशी माल खरीदते हैं। उधर मिल मालिक उसी तरह शान से जीवन के सुख भोग रहा है। उसके विलास में कोई कमी नहीं की जा सकती। वह तो यही चाहता है कि भारत में और कहीं का माल न आने पावे और वह अपनी चीज के मुंह मांगे दाम खड़े करे, लेकिन यह नीति बहुत दिन नहीं चल सकती, न जनता को हमेशा मुगालते में रक्खा जा सकता है। अगर मिल मालिकों की लोलुपता यों ही बढ़ती रही, तो जनमत की धारा पलट जायगी और फिर परिस्थिति को संभालना कठिन हो जायगा। 'स्वदेशी', राष्ट्र के प्रति व्रत है और इस व्रत का पालन दोनों ओर से होना चाहिए। मिल मालिकों का कर्त्तव्य है कि वे अपने माल को उसी त्याग-भाव से सस्ता बचने का उद्योग करें, जिस त्याग-भाव से ग्राहक उनका माल खरीदता है।

[संपादकीय। 'जागरण', 19 अक्टूबर 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

आस्ट्रेलिया से गेहूं की आमदनी

सन् 1930 में बाहर से आने वाले गेहूं पर दो रुपये फी हंडर आयात कर लगा दिया गया था। जिससे बाहर की जिंस यहां आकर मन्दी को और भी मन्दा न कर दे। इसका नतीजा यह हुआ कि बाहरी गेहूं की आमदनी कम हो गयी। लेकिन आजकल गेहूं का भाव भारत में तेज हो गया है। बाहर के व्यापारी इसी ताक में थे। उन्होंने हिसाब लगा लिया कि भाड़ा-खर्चा और आयात देकर भी कुछ नफा हो जायगा। बस आस्ट्रेलिया का गेहूं कलकत्ता में पहुंच गया। इसका नतीजा यह होगा कि गेहूं फिर मंदा हो जायगा और यद्यपि इस वक्त किसानों के पास गेहूं नहीं है, सबका सब साहूकारों की खत्ती में पहुंच गया है और कई प्रान्तों में किसानों को गल्ला मोल लेना पड़ रहा है, लेकिन बाहरी गेहूं के आने से आने वाली रबी की फसल में भी मंदी बनी रहेगी और फिर हमारे किसान तबाह होंगे।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

कराची से मद्रास तक हवाई डाक

अब कराची से बम्बई होते हुए मद्रास तक हवाई जहाज से डाक ले जाने का प्रबन्ध किया

गया है। मि० टाटा इस हवाई डाक के ठेकेदार हैं। इस डाक के लिए दो आना फी पैकेट अधिक महसूल देना पड़ेगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

कुछ विशेष

इस अंक से समाचार-संकलन स्तम्भ हमने निकाल दिया है। अनेक पाठकों के मत में यह स्तम्भ व्यर्थ था। समाचारों के बजाय अब एक कहानी और अधिक दी जाया करेगी। एक-आध लेख भी बढ़ेगा। इस प्रकार अब 'जागरण' की प्रत्येक सख्या स्थायी साहित्य से पूरित और पढ़कर रक्षा के साथ रखने की चीज होगी।

इस अंक से 'जागरण' में एक फार्म बढ़ा दिया गया है, 24 के बजाय अब 28 पृष्ठ हो गये हैं। आगे चित्र और पृष्ठ संख्या शीघ्र ही और भी बढ़ाई जायगी।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

पंजाब पुलीस विभाग की रिपोर्ट

पंजाब पुलीस विभाग की रिपोर्ट, अन्य इसी प्रकार की रिपोर्टों की भाँति पुलीस की कारगुजारियों की तारीफ से भरी हुई है, पर उसके अन्त में एक ऐसा रिमार्क दिया गया है, जिस पर विचार करने की जरूरत है। पुलीस के जनता के सहयोग प्राप्त करने के विषय में कहा गया है—

"इस प्रकार का सहयोग व्यक्तिगत आचरण से सम्बन्ध रखता है। कुछ अफसरों को जनता की सहायता और सहयोग प्राप्त करने में बिलकुल कठिनाई नहीं होती और निष्कर्ष यही है कि जहां पुलीस मुस्तैद, कुशल और विश्वसनीय है, वहां जनता उसकी सहायता करने में आना-कानी नहीं करती।"

जहां पुलीस जनता का सहयोग नहीं प्राप्त कर सकती, वहां जनता को उस पर विश्वास नहीं होता। अगर जनता के साथ पुलीस का व्यवहार अच्छा हो तो कोई वजह नहीं कि वह उनके साथ सहयोग न करे। जब पुलीस के कर्मचारी नवाब बन जाते हैं और जनता पर जा-बेजा सख्ती करने लगते हैं, तभी जनता उनसे विरक्त हो जाती है।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

बेगम आलम की ओजस्विनी अपील

पंजाब के प्रमुख नेता डा० मुहम्मद आलम की बेगम साहिबा ने अपने पति की बीमारी के विषय में जो भावपूर्ण वक्तव्य प्रकाशित कराया है, वह हमें स्वर्गीय बी अम्मां के उन शब्दों की याद दिलाता है, जो उन्होंने अपने पुत्रों के विषय में कहे थे। अफवाह थी कि अली भाइयों

ने सरकार से किसी प्रकार का समझौता कर लिया है। और इस समझौते के आधार पर दोनों भाई मुक्त कर दिये जायंगे। बी अम्मां ने यह अफवाह सुनकर कहा था–"यदि मेरे बेटों ने आत्म-सम्मान के विरुद्ध कोई फैसला किया है, तो खुदा मेरे इन कमजोर हाथों में इतना बल दे कि मैं उनका गला दबा दूं।" उतने ही जोशीले शब्द बेगम आलम के हैं। इधर जेल में डा० आलम की हालत नाजुक हो गयी है। सरकार ने बेगम आलम को अपने पति की सेवा-शुश्रूषा करने की सुविधा दे दी है। जनता में इस खबर से ऐसी हलचल पड़ गयी कि सरकार ने डा० आलम को छोड़ देने की अपील की जाने लगी। बेगम साहिबा ने इस आन्दोलन का इन शब्दों से विरोध किया है–

"आजकल मुझे अपने पति की सेवा करने की इजाजत दी गयी है और उनकी इस हालत की सारी बातें बताने को मैं तैयार नहीं हूं, क्योंकि यह नैतिक विश्वासघात समझा जा सकता है, पर मैं राष्ट्र से पूछती हूं, ऐसा मुतालबा क्यों करते हो, जिससे मुझे अपने नीमजान पति को वापस लेना पड़े और उन नतीजों की जिम्मेदारी उठानी पड़े, जो उनकी मौजूदा हालत से पैदा हो सकते हैं। क्या सरकार पर सारी जिम्मेदारी डाल देना इससे बेहतर न होगा? उनकी हालत नाजुक है या नहीं, इस विषय में मैं कुछ कहना नहीं चाहती। पर हमें चाहिए कि उन्हें वीरों की मौत मरने दें, अगर खुदा न खास्ता यही नौबत आये। राष्ट्र के हित के सामने व्यक्तियों का कुछ मूल्य नहीं। कौम की भलाई के लिए कितने ही ऐसे आलम कुर्बान किये जा सकते हैं। मैं आशा, प्रार्थना और विश्वास रखती हू कि मेरे पति का सेहत हो जायगी, पर अपमानित होकर जीवित रहने के बदले उनका इज्जत से मर जाना मै ज्यादा पसद करती हूं।"

[सपादकीय। 'जागरण', 26 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-2 में सकलित।]

मि० चर्चिल जनतंत्र के विरोध में

हमारे स्वराज्य की कुंजी है केन्द्रीय उत्तरदायित्व और हमारे विधाता वही हमें नहीं देना चाहते। मि० चर्चिल तो उसके विरोध में इतने गर्म हो गये कि जनसत्ता ही को कोसने लगे। आपने फरमाया–'जनसत्ता' संसार में असफल सिद्ध हो चुकी है, संसार एकाधिकार की ओर तेजी से दौड़ा जा रहा है, फिर भारत में जनसत्तात्मक शासन की क्या जरूरत? संसार के कई राष्ट्रों में एकाधिपत्य ने अवश्य आसन जमाया है, लेकिन ऐसा क्यों हुआ? इसीलिए कि देश में साम्राज्यवाद का जोर हुआ और थोड़े से पूंजीपतियों की हानि-लाभ के निमित्त बड़े-बड़े महाभारत होने लगे। प्रजा के प्रतिनिधि प्रजाहित की तरफ से आंखें बन्द करके पूंजीपतियों का पक्ष समर्थन करने लगे। बहुधा पूंजीपति ही प्रजा के प्रतिनिधि बन बैठे, क्योंकि धनी होने के कारण वे अपने चुनाव में बेदरेग रुपये खर्च करके मेम्बर बन बैठते थे। वहां एकाधिपत्य जनसत्ता की रक्षा के लिए आया है। भारत को तो अभी जनसत्ता की परीक्षा का अवसर ही नहीं मिला। अगर यहां भी जनसत्ता असफल हुई तो उसकी प्रतिक्रिया कोई न कोई रूप अवश्य धारण करेगी। अभी से उस विषय में परेशान होने की क्या जरूरत है फिर जनसत्तात्मक शासन इतना अनिष्टकर है तो मि० चर्चिल पहले इंग्लैंड में ही उसका अन्त करने की चेष्टा क्यों नहीं करते। तभी हम समझेंगे कि उनकी नीयत साफ है। अगर एक चीज बुरी है, तो पहले खुद उसका परित्याग करो। यह नहीं कि खुद तो उसका भोग किये जाओ

और दूसरों से कहो–खबरदार इसमें हाथ न लगाना।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

राष्ट्रीयता की विजय

लखनऊ के मुसलिम सम्मेलन ने एक मत से संयुक्त निर्वाचन स्वीकार कर लिया। बहुमत से नहीं, एकमत से। एकता की इच्छा सभी उपस्थिति नेताओं में इतनी प्रबल थी कि इसका निर्णय करने के लिए सम्मेलन का बाकायदा जलसा करने की जरुरत ही न पड़ी। गांधी के तप में कितनी महान् शक्ति है। प्रधानमंत्री के बंटवारे ने समस्त राष्ट्र में निराशा फैला दी थी ऐसा मालूम होने लगा था, कि अब दस-बारह बरस साम्प्रदायिकता का राज रहेगा। साम्प्रदायिकता अपने मोरचे से पीछे हटना तो दरकिनार, और आगे कदम बढ़ाती चली आती थी और अंत में उसने हिन्दू-समाज के उस किले पर छापा मारा, जो आज हजारों साल से आंधी और तूफान का सामना करता चला आता है। ऐसा जान पड़ता था, कि पुरानी फसलें इस नये युग के शस्त्रों के सामने खड़ी न रह सकेंगी। जब एक जगह दीवार टूट गयी तो फिर शत्रुओं के घुस आने में क्या देर लगती है। शत्रु ने लक्ष्य भी उसी स्थान पर किया था, जो सबसे कमजोर है, लेकिन गांधी की तपस्या ने पांसा पलट दिया और न-जाने कितने दैवी शक्ति लेकर सामने आ खड़ी हुई। देखते-देखते हवा बदल गयी और आज शत्रुओं से घिरी हुई राष्ट्रीयता अपने मोरचे से निकलकर साम्प्रदायिकता का संहार कर रही है। पूना में उसने पहली विजय पायी, मगर लखनऊ में उसने जो विजय प्राप्त की है, उसमें तो साम्प्रदायिकता के नीचे जैसे सुरंग लगाकर उसे उड़ा ही दिया। हिन्दुओं की ओर से मुसलमानों की जो शंका थी, उसे पूना के समझौते ने निर्मूल सिद्ध कर दिया। मुसलमानों ने देखा हिन्दू एकता के लिए कहां तक उत्सर्ग करने को तैयार हैं। उन्होंने देखा कि हिन्दू जाति राष्ट्रीयता की आड़ में अपना अधिकार और प्रभुत्व बढ़ाने की इच्छुक नहीं है, बल्कि सच्ची लगन और पवित्र संकल्प से उसका आवाहन कर रही है। पूना का समझौता उनकी नेकनीयती और न्यायपरता का ज्वलंत-प्रमाण था, जिसके सुदृढ़ आधार पर ही राष्ट्रीयता निर्माण की जा सकती है। इस प्रमाण ने अविश्वास और संदेह को दूर कर दिया, विश्वास उत्पन्न हुआ और आज हम देख रहे हैं कि मौलाना शौकतअली, डाक्टर जियाउद्दीन, हाफिज हिदायत हुसन, राजा सलेमपुर आदि नेता, जो भेद-भाव के स्तम्भ समझे जाते थे, आज राष्ट्रीयता का स्वागत करने के लिए खड़े हैं। अब हमें ज्ञात हुआ कि मुसलिम नेता केवल हलके स्वार्थवश, या व्यक्तिगत दुर्भाव के कारण हमसे पृथक् न थे, बल्कि उनमें भी राष्ट्रीयता की उतनी ही सच्ची लगन थी, उनकी नीयत भी उतनी साफ थी, केवल उन्हें हमारी नेकनीयती पर विश्वास न था, केवल वे राष्ट्रीयता को हिन्दुओं के अधिकार प्रेम का परदा समझते थे। अब वह परदा हट गया और दुनिया ने देख लिया कि भारत एक राष्ट्र है, अन्य राष्ट्रों की भाँति ही अनेक भेदों के होते हुए भी एक राष्ट्र है। धर्म और संस्कृति के अलग होने पर भी एक राष्ट्र है। मौलाना शौकतअली ने विजय के उल्लास में एक वक्तव्य में कहा है–'हम पन्द्रह दिनों में भारत को संयुक्त राष्ट्र देखेंगे।' और हमें विश्वास है, उनकी यह पेशगोई सच्ची निकलेगी।

अब तक साम्प्रदायिक मुसलिम पार्टी का यह दावा था कि राष्ट्रवादी मुसलमान संख्या

में बहुत थोड़े हैं, आम मुसलमान उनके साथ नहीं हैं। लखनऊ सम्मेलन ने उस दावे को बातिल सिद्ध कर दिया। ऐसी कोई मुसलिम संस्था नहीं है, जिसके प्रतिनिधि इस सम्मेलन में न शरीक हुए हों, यहां तक कि जिस मुसलिम कांफ्रेंस को मुसलमानों का सोलह आने प्रतिनिधि कहा जाता है, उनके तीन पिछले सभापति, वर्तमान उपसभापति और मंत्री तक आये थे। जमैयतुलउलेमा राष्ट्रीय मुसलिम दल और अहरार दल का तो कहना ही क्या। यह तो पहले से ही संयुक्त निर्वाचन के समर्थक हैं। इसलिए अब यह कहना कि मुसलिम बहुमत पृथक् निर्वाचन के पक्ष में है, सत्य की आंखों में धूल झोंकना है। फिर भी शिमला-पार्टी या इकबाल पार्टी ने गिने-गिनाये नेता अपनी खिसियाहट को मिटाने के लिए इस सम्मेलन के प्रतिनिधित्व को स्वीकार नहीं करते। इकबाल-पार्टी के एक प्रमुख नेता डा० शफाअत अहमद खां ने फरमाया है—इस सम्मेलन में अधिकांश मुसलिम संस्थाओं के प्रतिनिधि नहीं शरीक थे। डाक्टर ने उन संस्थाओं के नाम बताने की कृपा नहीं की, जिनके प्रतिनिधि इस सम्मेलन में न आये हों, वास्तव में ऐसी संस्थाओं का अस्तित्व उनके कल्पना-जगत से बाहर और कहीं नहीं है। हां, यह बहुत संभव है, अपनी लाज रखने के लिए इस अवसर पर ऐसी संस्थाएं खड़ी कर दी जायं। ऐसा पहले भी किया गया है। और अब भी किया जायगा, लेकिन इन चालों से भारत के राष्ट्रीय प्रवाह को नहीं रोका जा सकता। इकबाल-पार्टी को बहुत जल्द मालूम हो जायगा कि अब उसकी पुश्त पर कोई शक्ति नहीं है। उसकी कलई खुलते ही सरकार भी उससे मुंह फेर लेगी, यह निश्चित है। इस पार्टी को उस दिन के लिए तैयार रहना चाहिए। मुसलिम जनता को उन्होंने बहुत सब्ज बाग दिखाये हैं, पर वह जनता अब उनके चकमें में न आयेगी।

सम्मेलन ने स्व० मौलाना मुहम्मदअली के सिद्धांत को हिन्दुओं से समझौते का आधार माना है। इस सिद्धांत का तत्व यह है कि संयुक्त निर्वाचन में मुसलमानों की जगहें स्वरक्षित कर दी जायं और हरेक हिन्दू या मुसलमान उम्मेदवार के लिए दूसरे सम्प्रदाय के कुछ वोट अनिवार्य कर दिये जायं। ऐसी दशा में वही हिन्दू मेम्बर प्रतिनिधि चुना जा सकेगा, जिस पर मुसलमानों को भी विश्वास हो। इसकी तरह वही मुसलमान उम्मेदवार चुना जायगा, जो हिन्दुओं का विश्वासपात्र होगा। हिन्दू-द्रोही मुसलमान या मुसलिम द्रोही हिन्दुओं के लिए तब व्यवस्थापक सभाओं में एक दूसरे के विरुद्ध जहर उगलने का कोई प्रलोभन न रह जायगा और सच्चे राष्ट्रवादी हिन्दू और मुसलमान मेम्बर ही राष्ट्र के प्रतिनिधि हो सकेंगे। हमें आशा है, आने वाले हिन्दू-मुसलिम सम्मेलन में इस सिद्धांत को एक मत से स्वीकार कर लिया जायगा। आपस के अविश्वास को मिटाने के लिए इससे उत्तम दूसरा उपाय नहीं है। इसी व्यवस्था की सफलता पर अवैध संयुक्त निर्वाचन का दार-मदार है, जो राष्ट्रीयता का ध्येय है।

सम्मेलन ने मि० जिन्ना की चौदह शर्तों में पृथक् निर्वाचन के सिवा और तेरह शर्तों को भी हिन्दू-मुसलिम समझौते का आधार माना है। मि० जिन्ना की वह शर्तें केवल आपस में अविश्वास के कारण पेश की गयी थीं। ज्योंही यह अविश्वास दूर हो गया, उनकी कोई जरूरत न रह जायगी। सिंध को पृथक् सूबा बनाने की मांग का कारण केवल अविश्वास है। लेकिन जब सिंध की आमदनी ही इतनी नहीं है कि वह अपना खर्च संभाल सके, तो हमारे विचार में उसको पृथक् होने का कोई हक नहीं है। दूसरे प्रान्तों की सहायता के भरोसे अलग होना तो वैसा ही है, जैसे एक भाई अपने दूसरे भाइयों से अलग तो हो जाय, पर खाना खाते

समय, उन्हीं के साथ जा बैठे। नौकरियों के लिए भी जाति या संप्रदाय की कैद नीति के विरुद्ध है। यहां तो योग्यता ही को प्रधानता मिलनी चाहिए। सरहदी सूबे में मुसलिम बहुमत ने अभी हाल में योग्यता की शर्त को स्वीकार करके अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया है। कोई वजह नहीं है कि सम्पूर्ण राष्ट्र में यही नीति क्यों न स्वीकार कर ली जाय। फिर इस वक्त जो सरकारी नौकरियों पर लोग इतना टूट रहे हैं, इसका एकमात्र कारण है कि सरकारी पदों का वेतन बहुत बढ़ गया है। उसी लियाकत का आदमी कोई दूसरा काम करके इतने रुपये नहीं कमा सकता। जब देश में जिम्मेदार हुकूमत होगी, तो यह लूट न रहेगी, और लोग दूसरे काम करके उतना ही धन कमा सकेंगे, जितना सरकारी नौकरी में । तब पदों के लिए इतनी छीना-झपटी न होगी। हमें आशा है कि आने वाले हिन्दू-मुसलिम सम्मेलन में दोनों तरफ से सद्भावना और शुभकामना की स्पिरिट दिखायी जायगी किसी बात पर इतना न अड़ा जायगा कि आपस में रंजिश हो जाय।

ईश्वर से हमारी यही कामना है कि हिन्दू-मुसलिम सामझौता सफल हो और भारत एक राष्ट्र और एकात्मा होकर अपने अभ्युदय के पथ पर अग्रसर हो।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

स्वर्गीय मौलाना मुहम्मदअली का फारमूला

लखनऊ की कान्फ्रेन्स तथा वर्तमान हिन्दू-मुसलिम संधि चर्चा में स्व॰ मौलाना मुहम्मदअली के प्रस्ताव तथा मुसलिम कांफ्रेंस की तेरह शर्तों का जिक्र बार-बार हुआ है। मौलाना मुहम्मदअली के प्रस्तावों के अनुसार कौंसिलों या एसेम्बली के किसी उम्मेदवार के लिए दो आवश्यक शर्तें होंगी—

1 वह दूसरे सम्प्रदाय (मुसलमान के लिए हिन्दू जाति) के कम से कम दस फीसदी मत प्राप्त करें।

2 अपने सम्प्रदाय के कम से कम चालीस फीसदी मत प्राप्त करें।

3 यदि कोई उम्मीदवार सजातीय निर्वाचकों का चालीस फीसदी मत प्राप्त न कर सके, तो निर्णय बहुमत के अनुसार हो।

मि॰ जिन्ना की प्रस्तावित मुसलमानों की तरह मांगें निम्नलिखित हैं—

1 सरकार का भावी शासन फेडरल होना चाहिए।

2 अवशिष्ट अधिकार प्रान्तों को मिलने चाहिए।

3 बिलोचिस्तान में सुधारों को चालू किया जाय।

4 संधि का विच्छेद।

5 सीमा प्रान्त का समान अधिकार।

6 पंजाब और बंगाल में मुसलमानों का स्थिर बहुमत।

7 फेडरल एसेम्बली में मुसलमानों का एक तिहाई प्रतिनिधित्व।

8 मुसलिम अल्पसंख्यकों का आबादी के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व।

9 व्यवस्थापिका सभाओं में कोई एक सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाला ऐसा बिल पेश न हो और प्रस्ताव पास न किया जाय, जिसके विरोध में उस समुदाय के तीन चौथाई सदस्य हों।

10 धार्मिक और संस्कृति सम्बन्धी स्वतन्त्रता की रक्षा।

11 प्रान्तीय या संघ सरकार के मंत्रिमंडल में दो तिहाई मंत्री मुसलमान हों।

12 सरकारी नौकरियों में योग्यता को देखते हुए मुसलमानों को नौकरियों का कम से कम अनुपात नियत कर दिया जाय। और

13 शासन विधान में कोई भी परिवर्तन तब तक न किया जाय, जब तक फेडरेशन को बनाने वाले सब दलों की सहमति न हो।

इन्हीं शर्तों को जनवरी, 1929 में आगा खां की अध्यक्षता में आल इंडिया मुस्लिम कान्फ्रेंस ने पास किया था। इन्हीं शर्तों को लखनऊ कान्फ्रेंस ने स्वीकृत किया है।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 अक्तूबर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग भाग-2 में संकलित।]

हमारा कर्त्तव्य

समझौता हो गया। छूत-अछूत सभी नेताओं ने मिलकर बम्बई के गवर्नर के पास अपना लिखित समझौता पेश कर दिया था और ब्रिटिश और भारत सरकार के पास भी सूचना कर दी गई थी आज ता० 29-9-32 का तार है भारत मंत्री ने उसे मंजूर कर लिया।

उस महान् आत्मा के अनशन व्रत ने, उसकी तपस्या ने, केवल सात दिनों में यह दिखला दिया कि वास्तव में तपस्या कितनी बलवती होती है। उस महान् आत्मा की तपस्या ने, ब्रिटेन के महान् राजनीतिज्ञों के द्वारा तैयार की हुई उस सुदृढ़ दीवार को, जो हिन्दू अन्छूतों को अलग करने के लिए बड़े गहन कौटिल्य के सीमेंट में तैयार की गयी थी, विध्वस्त कर दिया ! छूत-अछूत का वह मसला, जो आगामी गृह-युद्ध का संकेत कर रहा था, और इसी के लिए ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने जिसकी नींव को दृढ़ किया था, हल हो गया है।

महात्मा जी की तपस्या ने हमारे एक महान् संकट को अवश्य ही टाल दिया है, किन्तु हमने अभी अपने कर्त्तव्य का पूरा निर्वाह नहीं किया। अभी हमारे सामने बहुत बड़ा कर्त्तव्य खड़ा हुआ है। हमारा कर्त्तव्य तभी पूरा होगा, जब हम देश के वर्तमान अछूतपन को जड़मूल से नष्ट कर देंगे। यदि हम उस पवित्रात्मा से, महान् आत्मा से सच्ची श्रद्धा रखते हैं, भक्ति रखते हैं, स्नेह करते हैं, तो हमारा प्रधान कर्त्तव्य है कि हम उसके हृदय की मांगों को पूरा करें। इन सात दिनों के समय में जो कुछ हुआ, वह अभूतपूर्व है। सारे संसार में यह सात दिन भुलाये नहीं जा सकते—ऐतिहासिक हो गये। विश्व का कोई भाग ऐसा नहीं, जहां इन सात दिनों के प्रतिपल में, प्रतिक्षण में आत्मा की सच्ची श्रद्धा, सच्ची सहानुभूति महात्मा जी को अर्पित की गयी हो।

पर, अभी कुछ ऐसे प्राणी भी इस संसार में हैं जिन्हें अपने स्वार्थ के आगे कुछ नहीं सूझता। महात्मा जी के प्राण भले ही चले जायं, उन्हें परवा नहीं। वे अपना ढकोसला नहीं छोड़ेंगे, वे अपना धर्म जरूर बचायेंगे और मन्दिरों में अछूतों को नहीं प्रवेश करने देंगे।

पर धर्म वस्तुत: बुद्धिग्राह्य नहीं, हृदयग्राही है। हमसे अलग कोई चीज नहीं है। वह एक ऐसी चीज है कि जो अपने हृदय में से ही विकसित होती है। वह सदा हमारे अन्तर में ही है।

यह युग, प्रकाश का युग है। इसमें अब अन्धकार नहीं रह सकता। वह दिन अब नहीं रहे, जब धर्म के नाम पर लोग काशीकरवत लिया करते थे। अब विवश होकर युग-धर्म के

अनुसार ही चलना पड़ेगा। अछूत इसीलिए तो अछूत हैं कि वे जन-समाज के स्वास्थ्य के लिए उनके घरों की सफाई करते हैं, उनकी सेवा करते हैं। उनमें और अछूतों में क्या अन्तर है? जैसे वे मनुष्य हैं, अछूत भी हैं। यदि अछूत उनके घर का मल-मूत्र साफ करते हैं, तो वे भी तो इस कार्य से वंचित नहीं हैं। वे भी रोज सुबह सबसे पहले यही काम करते हैं। बाल-बच्चों के घर में प्राय: सभी वर्ण की स्त्रियों को यह कर्म करना पड़ता है। रोग-काल में भी मल-मूत्र उठाने का काम प्राय: घर के ही लोग करते हैं। उस समय कोई मेहतर घर में से मैला उठाने नहीं आता। फिर क्यों इस दुर्विचार का पोषण किया जाता है, क्यों अपने ही हाथों अपने पैरों को काटने की कोशिश की जाती है? क्या कोई भी वर्णाश्रम अपने हृदय पर हाथ रखकर कह सकता है कि वास्तव में छुआछूत उन्हें धर्म की दृष्टि से उचित प्रतीत होती है? नहीं, कोइ भी यह नहीं कह सकता। एक स्वार्थ ही इसका कारण है। पर याद रहे, यह इस समय का स्वार्थ, वर्ष दो वर्ष चाहे उनकी छाती को ठंडा भले ही कर दे, पर आगे वह उनकी पुरानी से पुरानी, दृढ़ से दृढ़ बुनियाद को भी उखाड़ फेंकेगा। वे स्वार्थ के जिस सुन्दर खिलौने से बच्चों की तरह खिलवाड़ कर रहे हैं, वह असल में डायनामाइट है, जो उनकी सात पुश्तों को ध्वस्त कर डालेगा। इसे दूर फेंक देना चाहिए, वर्ना फिर पश्चाताप का भी समय न मिलेगा। स्वार्थ त्याग को हिन्दू-धर्म में एक यज्ञ कहा गया है।

ऐसे समय में देश के उदारचेता, बुद्धिमान युवक समाज को अधीर नहीं हो जाना चाहिए, क्रोध में नहीं भर जाना चाहिए। ऐसे समय महात्मा जी का सत्याग्रह मंत्र ही एक उपाय है। क्रोध में तो हिंसा और उसका परिणाम सर्वदा हानिकर है। ऐसे समय देख के प्रत्येक समझदार व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह पहले अपने आपके हृदय से ऊंच-नीच और छुआछूत के भावों को विनष्ट कर दे।

एक-एक व्यक्ति यदि सचमुच अपने हृदय से अछूतपन की थोथी भावना निकाल देगा तो वह सबके हृदय से धीरे-धीरे दूर हो जायगी—इसमें संदेह नहीं।

प्रत्येक युवक को महात्मा जी का यह वचन याद रखना चाहिए कि एक बार उन्होंने कहा था—

''अस्पृश्यता या छुआछूत अगर हिन्दू धर्म में हो तो मुझे कहना पड़ेगा कि उसमें शैतानियत भरी हुई है, धर्म नहीं। पर मेरा दृढ़ विश्वास है कि हिन्दू धर्म में यह सब कुछ नहीं है जब तक प्रत्येक हिन्दू अपने चमार, भंगी आदि भाइयों को भी अपने सगे भाई की तरह हिन्दू न समझेंगे, तब तक मैं उन्हें हिन्दू ही नहीं समझूंगा। मनुष्य तिरस्कार और दया इन दो चीजों के साथ नहीं रह सकता।''

देश के प्रत्येक समझदार व्यक्ति का कर्त्तव्य इस समय यही है कि महात्मा जी के इन वचनों पर ध्यान दे, विचार करे और उन्हें आचरण में लाकर देश और धर्म के कलंक को दूर करे।

उन्हें महात्मा जी की यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि जब तक हिन्दू-धर्म पर से यह कलंक दूर न करके उसी से चिपटे रहेंगे, तब तक वे कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकते।

इस समय देश के प्रत्येक सच्चे हिन्दू का ध्यान केवल इसी ओर होना चाहिए कि वह जी-जान से महात्मा जी की मनोकामना की पूर्ति में अपनी शक्ति लगा दें। ऐसा न हो कि उनकी उदासीनता से महात्मा जी को फिर अपने पर संकट उपस्थित करना पड़े।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

हवाई जहाज से गोलाबारी

वर्तमान युग की वैज्ञानिक लड़ाई समरक्षेत्र में ही आदमियों को मक्खी की तरह मारकर सन्तुष्ट नहीं होती। शत्रु-राष्ट्रों पर हवाई जहाज से गोले बरसाने में भी उसे संकोच नहीं है। कुछ परवा नहीं मासूम बच्चों और अबला स्त्रियों पर गोले गिरें। उस राष्ट्र का सफाया कर दो, जिसके योद्धा मैदान में आते हैं। जब राष्ट्र ही न रहेगा, तो सिपाही कहां से आवेंगे। कितनी पैशाचिक मनोवृत्ति है ! मजा यह है कि सभी देशों के युद्ध-नेता इसकी भयंकरता और अमानुषिकता को स्वीकार करते हैं, पर कोई इसे रोक नहीं सकता। मि० बाल्डविन ने निःशस्त्रीकरण पर भाषण करते हुए इस नीति की निन्दा की थी, लेकिन फिर भी उसका व्यवहार बराबर हो रहा है और अंग्रेज सेना इराक में ऐसे हत्याकांड कर रही है कि उसी फौज के एक पुराने अफसर ने उन विधानों पर प्रकाश डाला है, जो बादशाह फेसूल की सत्ता की रक्षा करने के लिए इराक में किये जा रहे हैं। और यह कृत्य गत दस साल से बराबर जारी है कितने गांवों का सत्यानाश हुआ, कितने जानवरों का वध हुआ, कितनी औरतों और बच्चों के प्राण गये और कितने अंग-भंग हो गये, इसका कौन अनुमान कर सकता है। मगर यह नयी सभ्यता का युग है। पराधीन राष्ट्रों के साथ किसी नीति का व्यवहार करने की जरूरत नहीं। अगर वे दुराग्रह करते हैं और साथ अपने प्रभुओं के तलवे नहीं सहलाते, तो उनको इसका मजा चखना पड़ेगा !

[सपादकीय। 'जागरण', 26 अक्टूबर, 1932 म प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

अदालतों में धोती

हमारी समझ म यह बात नही आती कि अदालतों में धोती का क्यों बहिष्कार किया जाता है? गाधी टोपी तो खैर राष्ट्रीयता का चिह्न है, लेकिन धोती तो सभी पहनते हैं, यहां तक कि मुसलमान भी घर पर अक्सर तहमद ही बांधते हैं, लेकिन फिर भी अदालत में धोती पहनना अदालतों का अपमान करना है। क्या धोती म दह नीचे का भाग नग्न रहता है? धोती तो अक्सर एड़ी तक लटकती रहती है। और अगर ऊंची भी रहे, तो क्या वह उस जांघिये से भी ऊंची होती है, जो लड़ाई के बाद से इतना प्रचलित हो गया है कि हुक्काम इजलास पर भी उसे पहनते हैं। उस जांघिये से तो आधी जांघ तक खुली रहती है, धोती को तो अगर कछनी के रूप में भी पहना जाय, तो वह घुटने से थोड़ी ही ऊपर रहती है। फिर धोती पहनना क्यों जुर्म समझा जाता है? कोई-कोई साहब बहादुर तो धोती देखते ही जामे से बाहर हो जाते हैं। वकील या डाक्टर या व्यापारी अंग्रेजों को तो धोतियों से चिढ़ नहीं है वहां लोग बेधड़क धोती पहने जाते हैं। धोती की मुमानियत केवल अदालतों के लिए है। बम्बई और मद्रास में तो अक्सर हिन्दू जज भी धोती पहनते हैं। फिर क्या धोती इसी प्रान्त में आकर अपमान की वस्तु हो जाती है? क्या इससे भी यहां स्वाधीनता की गन्ध आती है?

[सपादकीय। 'जागरण', 31 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

आर्डिनेन्स की अवधि

इलाहाबाद में प्रकाशित होने वाले अंग्रेजी पत्र 'पायोनियर' ने एक अपने अग्रलेख, में, भिन्न प्रान्तीय सरकारों के इस प्रयत्न की प्रशंसा की है कि आर्डिनेन्स कानूनों को स्थायी रूप देने के लिए भारतीय दंड-विधान में ही शामिल किया जा रहा है और शीघ्र ही आर्डिनेन्स अवधि दृढ़ रूप में कानून का रूप धारण कर लेंगे। पत्र की राय में आर्डिनेन्सों का तो अन्त हो जाना चाहिए, क्योंकि (आर्डिनेन्स-शासन अनुचित है, पर अमन और अमन की रक्षा के लिए) आर्डिनेन्स की धाराओं का रहना जरूरी है। आगे चलकर, पत्र यह भी लिखता है कि आर्डिनेन्स से देश में व्याप्त अराजकता कम नहीं हुई है। प्रत्येक व्यक्ति यदि ईमानदारी से अपनी राय जाहिर करे, तो वह जरूर ऐसे कानूनों का समर्थन करेगा, जिनसे अराजकता दूर हो।

अंग्रेज लेखकों और सम्पादकों के कलम से निकली चीज बड़ी महत्त्वपूर्ण समझी जाती है। सम्भव है, वे होती भी हों, पर इस लेख की तर्क प्रणाली देखकर, मनोविज्ञान तथा साधारण ज्ञान की बातों का भी इसमें अभाव पाकर हमें आश्चर्य होता है। दूसरी बार परिचालित आडिनेन्सों का जीवन-काल इसी दिसम्बर को समात हो जाता है। विगत जनवरी महीने की शुरू साल की जो पहली भेंट भारतीय स्वाधीनता तथा संरक्षा के हिमायतियों ने दी थी, वह बड़े दिन के हिम-पात में विलीन हो जावेगी। पार्लमेंट ने वाइसराय को जिस सीमा तक अधिकार दिया था, उनके उपयोग की इतिश्री हो चुकने के उपरान्त अब भारतीय कौंसिलों की शरण लेनी पड़ी है और इसलिए आर्डिनेन्सों के लिए नैतिक समर्थन तथा सच्ची नीयत से समर्थन की जरूरत महसूस हो रही है।

आर्डिनेन्सों का उद्देश्य क्या है? दमन! भारत में जो अराजकता बढ़ती पर समझी जाती है, उसकी चाल को रोक देना! आर्डिनेन्सों के इस युग में अपनी ओर से कुछ विशेष न कहकर, हम पायोनियर के ही शब्दों में कह देना चाहते हैं कि अभी तक आर्डिनेन्स इस अराजकता की बाढ़ को नहीं रोक सके हैं। जब वे अपने कार्य में शुरू बारह महीने में सफल नहीं हो सके, तो एक-दो या तीन साल के लिए उन्हें कानून का रूप देने से क्या लाभ होगा! यह किस तर्क या मनोविज्ञान से सिद्ध हो गया कि केवल कानून का रूप दे देने से—जो रूप चाहे कितना भी उग्र किया जावे, अपने पूर्ववर्ती के समान परिपक्व नहीं हो सकता—भारतीय अराजकता की प्रगति को रोक देगा! यदि कानून की एक ऐसी धारा है, जो अराजकता की कल्पना को भी डुबा सकती है, यदि ऐसा कोई उपाय है, जो नवयुवकों की क्रियाशक्ति को किसी अच्छे काम की ओर बहा ले जा सकती है, तो उसकी धारा कोई दूसरी ही है, उसका कोई दूसरा ही रूप है और पायोनियर-ऐसे पत्रों को असली सलाह देकर ही सरकार का कल्याण करना चाहिए, अन्यथा ऐसी ही सलाहों से सरकार को धोखे की टट्टी में खड़ा कराया जा रहा है और सरकार भी अपने सच्चे हितैषियों को नहीं पहचान रही है।

[संपादकीय। 'जागरण', 31 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

एकता-सम्मेलन-1

प्रयाग में एकता-सम्मेलन की तैयारियां हो रही हैं। मौलाना शौकतअली प्रयाग आकर

महामना मालवीय जी से कुछ आवश्यक बातचीत करके बम्बई गये हैं और वहां से सम्मेलन में शरीक होने के लिए जल्द लौटेंगे। नेताओं के पास बुलावे भेजे जा चुके हैं। कई नेता दूर प्रान्तों से सम्मेलन के लिए रवाना भी हो चुके हैं। ऐसे अवसर पर महात्मा जी का प्रयाग में मौजूद होना अनिवार्य था। एकता के सबसे बड़े मित्र महात्मा जी हैं। महात्मा जी ही वह व्यक्ति हैं, जिन पर हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख सभी जाति वालों का विश्वास है। इस सम्मेलन में महात्मा जी का होना महत्व की बात ही नहीं अनिवार्य है। यदि यह सम्मेलन महात्मा जी के सभापतित्व में होता, तो इसकी सफलता की सम्भावनाएं बहुत बढ़ जातीं। यही सोचकर मौलाना शौकतअली ने वाइसराय से महात्मा जी को छोड़ देने की प्रार्थना की थी, लेकिन वाइसराय ने उन्हें भी वही जवाब दिया, जो पहले सर शिव स्वामी ऐयर को दे चुके हैं। वह इसके सिवा और कुछ नहीं है, कि जब तक महात्मा गांधी आन्दोलन न बन्द कर देंगे, तब तक उन्हें नहीं छोड़ा जा सकता। अतएव हमें महात्मा जी की अनुपस्थिति में सम्मेलन के असफल होने का सन्देह हो रहा है और ऐसे समय पर जबकि देश एकता के लिए जोर मार रहा है, वाइसराय का यह जवाब बहुत ही निराशाजनक है। जिस समय लार्ड विलिंग्डन कैनाडा के गवर्नर जनरल थे, उन्होंने कैनेडियन क्लब में एक स्पीच देते हुए कहा था–

''यदि हम भारत को अपने मामलों को तय करने का अधिकार प्राप्त करने और भारत-वासियां को अपन घर का स्वामी होने में सहायता देने की सच्ची इच्छा प्रकट करें, तो भारत बहुत बरसों तक यह इच्छा करेगा, कि हम वहां रहें, लेकिन याद रखना चाहिए, कि पूर्व बड़े वेग से बदल रहा है और भारतने बराबरी का दरजा हासिल करने का निश्चय कर लिया है।''

जब हम लार्ड विलिंग्डन के श्रीमुख से निकले हुए इन शब्दों पर विचार करते हैं, तो इनके इस इंकार पर दुःख होता है।

लेकिन एक ओर तो एकता के सफल होने में यह बाधाएं खड़ी हैं, उधर साम्प्रदायिकता के पक्षपाती पत्रों का पेट फूल रहा है कि कहीं सचमुच दोनों जातियों में मेल न हो जाय। दोनों सम्प्रदायों के लड़ते रहने में ही उनका मान और प्रभाव है। सम्भव है वे सच्चे दिल से एकता में हानियां ही हानियां देख रहे हों। यह भी सम्भव है कि उनकी शंकाएं ठीक हों, लेकिन यह तो सभी को मानना पड़ेगा, कि मेल फूट से कहीं मंगलकारी है, और इस अवसर पर जब मेल के आयोजन किये जा रहे हैं, किसी की जबान या कलम से ऐसी कोई बात न निकलनी चाहिए, जो सद्भाव की जगह द्वेष और विश्वास की जगह अविश्वास उत्पन्न करे। यहां हम सहयोगी उर्दू 'कर्मवीर' के एक सम्पादकीय लेख का यह अंश नकल करके दिखायेंगे कि साम्प्रदायिक मनोवृत्ति को किस तरह उत्तेजित किया जा रहा है–

''यह क्या हो रहा है? हमारी आंखें बेकारी के जमाने में क्या देख रही हैं। क्या पुराना इतिहास अपने-आपको दोहरा तो नहीं रहा है। क्या पहले लखनऊ-पैक्ट ने हिन्दुस्तान की मिट्टी पलीद नहीं कर रक्खी, जो अब उस इतिहास को दोबारा दोहराने की जरूरत है। कहते हैं मौलाना शौकत अली ने हिन्दू लीडरों से कहा कि लड़-भिड़कर भी देख लिया, कुछ बनता नजर नहीं आता इसलिए हिन्दू-मुसलिम एकता ही करनी चाहिए। जमाने का करिश्मा देखो, जो चन्द माह पहले बम्बई-जैसे खूबसूरत नगर को अपने स्वदेशवासियों के रक्त से रंजित देखना चाहते थे, और लज्जित न थे, अब इतना उछल रहे हैं।''

सहयोगी यह दिखाने की असफल चेष्टा कर रहा है कि मालवीय जी, सर तेजबहादुर

सप्रू, महात्मा गांधी आदि पथ-भ्रष्ट हो गये हैं और केवल वही भारत को सच्चे रास्ते पर ले जा रहा है। दो भाई यदि आपस में लड़ने-भिड़ने और मुकदमेबाजी करने के बाद चेत जायं और आपस में समझौता करने का इरादा कर लें, तो क्या गड़े मुरदे उखाड़कर उनमें मेल न होने देना किसी ऊंची मनोवृत्ति का पता देता है? समझौता करते समय हमें पिछली बातों को भुला देना पड़ता है, गुस्से में हमारे मुंह से क्या-क्या अनाप-शनाप बातें निकल गयीं, हमने किस तरह एक दूसरे को नीचा दिखाने की चेष्टा की, यह सारी कटुताएं विस्मृत कर देनी पड़ती हैं। हम सदिच्छा के साथ, ईश्वर पर भरोसा करके प्रेम का हाथ फैलाते हैं। समझौते की यही एक सूरत है। यदि हम अविश्वास करते रहेंगे, तो दूसरा पक्ष भी हमारे ऊपर अविश्वास करता रहेगा। ऐसी दशा में मेल कहां से आयेगा।

सहयोगी आगे लिखता है—

''हमारे लिए तो पहले ही सम्प्रदायवादी और राष्ट्रवादी मुसलमानों में कोई अन्तर न था। केवल आंखों का धोखा था। अब यह धोखा खुलकर सामने आ गया लखनऊ सम्मेलन इसी मानी में तो कामयाब कहा जा सकता है कि राष्ट्रीयता का दम भरने वाले मुसलमान भी साम्प्रदायिकता की गंदी नाली में बह गये, लेकिन हिन्दुस्तानी दृष्टिकोण से लखनऊ-सम्मेलन असफल ही नहीं रहा, बल्कि उसने साम्प्रदायिकता की जड़ों को और मजबूत कर दिया है। निस्संदेह यह सम्मेलन राष्ट्रवादी मुसलिम दल की मौत थी। उसे लखनऊ ही में दफन कर दिया जाय, तो अच्छा है।''

जब कुछ हिन्दू समाचार-पत्र इस तरह जहर उगल रहे हैं तो एकता-सम्मेलन की सफलता के विषय में हमें सन्देह है।

[संपादकीय। 'जागरण', 31 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

जापान का आर्थिक संकट

जापान की संघर्ष प्रवृत्ति देखकर हमने अनुमान किया था, कि वहां जनता खुशहाल होगी लेकिन समाचार-पत्रों से ज्ञात होता है कि वहां की आर्थिक दशा बहुत ही नाजुक हो रही है। वह भी किसानों का देश है और वहां के किसान केवल भूखों ही नहीं मर रहे हैं, बल्कि लड़कियां तक बेच रहे हैं। वे घास की जड़ें खा-खाकर दिन काट रहे हैं और वहां भी लगान बंदी शुरू हो गयी। प्रजा का तो यह हाल है और अधिकारी वर्ग पड़ोसियों से लड़ाई ठान बैठे हैं। यह उन देशों का हाल है, जहां स्वराज्य है।

[संपादकीय। 'जागरण', 31 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

प्रयाग की स्वदेशी प्रदर्शिनी

बुधवार को प्रयाग में स्वदेशी प्रदर्शिनी खुल गयी। गत वर्ष आनन्द-भवन में प्रदर्शिनी हुई थी। इस वर्ष आनन्द-भवन पर पुलीस का कब्जा है। इसलिए असोथर की कोठी में प्रदर्शिनी हो रही है। अबकी करीब दो सौ दूकानें आयी हैं, जिनमें मुर्शीदाबाद, जैसोर, पंजाब आदि दूर-दूर की दूकानें हैं। दूकानों की रोशनी और सफाई सराहनीय है। हम श्रीयुत मोहनलाल जी

नेहरू और उनके सहकारियों को इस सफल उद्योग पर बधाई देते हैं। जिन्दगी में जिन चीजों की साधारणत: हर गृहस्थ को जरूरत पड़ती है, प्राय: सभी यहां मिल सकती हैं। अगर हम एक बार स्वदेशी का व्रत ले लें, तो हमें बहुत कम चीजों के लिए बाहर वालों का मुंह देखना पड़ेगा। खादी के लिए पृथक् प्रबन्ध किया गया है। हमें एक दूकान पर भिन्न-भिन्न प्रकार की खाद देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। आलू के लिए, ऊख के लिए, फूलों के लिए, अलग-अलग खादें तैयार की गयी हैं। किसानों की जरूरत की यह एक चीज हमें नजर पड़ी। इसके सिवा, सभी चीजें शिक्षित समाज की ही जरूरतों को पूरा करती हैं। किसी ने कृषि-विषयक कोई चीज नहीं भेजी। शायद असुविधा के कारण ऐसी चीजों का प्रबन्ध न किया जा सका हो। बुधवार को प्रयाग का कोई अभागा ही आदमी होगा, जो प्रदर्शिनी में न पहुंचा हो। स्वदेश-प्रेम की यह लहर देखकर किसका हृदय आनन्द और गर्व से न फूल उठेगा। लेकिन जहां जनता के हृदय में स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार और प्रचार में इतनी लगन है, वहां इन चीजों के व्यवसायियों में चीजों को सस्ती बेचने और उनको उत्तम बनाने की लगन नहीं है। कुछ थोड़ी-सी चीजों को छोड़कर और सब चीजों में जनता को त्याग करने की जरूरत है। किन्तु त्याग के आधार पर कोई व्यवसाय बहुत दिनों तक सफल नहीं हो सकता। उसे तो व्यापार के नियमों का पालन करने ही से स्थायित्व प्राप्त होगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 31 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

मि० लायड जार्ज जर्मनी के पक्ष में

जर्मनी का कहना है कि वरसेल्ज की संधि में इस समझौते पर उसको नि:शस्त्र किया गया है कि विजयी राष्ट्र भी अपनी-अपनी सैनिक और नाविक शक्ति घटा देंगे। लेकिन फ्रांस, इटली, इग्लैंड किसी राष्ट्र ने भी उस समझौते को पूरा नहीं किया। परास्त जर्मनी तो तब से नि:शस्त्र है, और विजयी राष्ट्र शस्त्र घटाने की बातें तो करते है पर उसे पूरा करने का साहस नहीं रखते। ऐसी दशा में जर्मनी भी अपने को सशस्त्र करने का दावा करता है, मगर फ्रांस उसे किसी तरह सशस्त्र होते नहीं देख सकता। जर्मनी का दावा न्यायसंगत है इससे कोई निष्पक्ष आदमी इंकार नहीं कर सकता और अब मि लायड जार्ज ने भी इसे स्वीकार किया है। इसका फ्रांस क्या जवाब देता है, यह देखना है।

[संपादकीय। 'जागरण' 31 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

रूस का भाग्य-विधाता

लेनिन की मृत्यु के पश्चात् उसके कितने ही साथियों ने, जिनमें ट्राटस्की, जिनोवीफ, कार्मेनीफ बुखारिन आदि जैसे प्रतिभाशाली और सुयोग्य व्यक्ति थे, रूस की बागडोर अपने हाथों में लेने की चेष्टा की, पर एक ऐसे अपरिचित व्यक्ति के कारण, जिसका नाम उस समय तक सुनने में भी नहीं आया था, उन सबको एक-एक करके निकाल बाहर किया और स्वयं इसका भाग्य-विधाता बन गया। इस व्यक्ति का नाम स्टेलिन है और इसके सम्बन्ध में विभिन्न देशों के पत्रों में तरह-तरह की बातें छपा करती हैं। कुछ दिन हुए उसके एक भूतपूर्व

सेक्रेटरी ने पेरिस से निकलने वाले एक बोलशेविक विरोध-पत्र में उसका वर्णनात्मक परिचय प्रकाशित कराया था। यद्यपि उसे पढ़ने से तुरन्त ही प्रतीत हो जाता है कि यह लेख किसी ऐसे व्यक्ति का लिखा है, जिसके स्वार्थ को स्टेलिन के कारण धक्का पहुंचा है, तो भी उससे स्टेलिन की ऐसी कितनी ही विशेषताओं का पता लगता है, जो लेखक की दृष्टि में यद्यपि असभ्यता और अशिक्षित होने की सूचक हैं, पर भारतवासियों की दृष्टि में वे एक सच्चे तपस्वी के गुण समझी जाती हैं। लेखक ने स्टेलिन और उसके साथियों को अधिकांश विषयों में अयोग्य बतलाया है। पर उसके प्रबन्ध से उसकी जो अनुपम उन्नति हो रही है, उसे देखते हुए उन बातों में कुछ सच्चाई नहीं जान पड़ती। नीचे हम उस लेख का कुछ अंश देते हैं जिससे पाठक स्वयं इस सम्बन्ध में निर्णय कर सकेंगे।

'स्टेलिन ऐसा व्यक्ति है, जिसने समस्त मानवीय आकांक्षाओं को हद दर्जे तक घटा दिया है। एकमात्र प्रधानता की असीम प्यास ने उसका पीछा नहीं छोड़ा है। वह एक त्यागी की भाँति क्रेमलिन के दो छोटे-छोटे कमरों में, जिनमें जार के समय महल के नौकर रहा करते थे, रहता है। यह प्रसिद्ध है कि वह शायद ही कभी किसी प्रकार का आमोद-प्रमोद करता है। कभी किसी प्रकार की फिजूलखर्ची नहीं करता, कभी सरकारी रकम से एक पैसा भी अपने लिए नहीं लेता। उसके लिए खेलों और दिलबहलाव का अस्तित्व ही नहीं है। अपनी स्त्री के सिवाय वह संसार की किसी स्त्री की तरफ आख नहीं उठाता।

'जब कोई व्यक्ति प्रथम बार उससे मिलता है, तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह सीधा सादा, अपने ऊपर कब्जा रखने वाला, मितभाषी और बहुत चतुर व्यक्ति है। पर जब उसका विशेष परिचय प्राप्त होता है, तो पता लगता है कि वह बिल्कुल संस्कृति-विहीन व्यक्ति है। जैसे-जैसे उससे आपकी घनिष्ठता बढ़ती जायेगी, आपका आश्चर्य बढ़ता जायगा। उसमें राजनीतिक समस्याओं को समझ सकने की बुद्धि नहीं है, उसे अर्थशास्त्र और आय व्यय का कुछ भी ज्ञान नहीं। विदेशी भाषाओं से तो वह अनजान है ही, रूसी-साहित्य का भी उसे ज्ञान नहीं। वह हंसी-मजाक करना नहीं जानता। अपने अधीनस्थ कर्मचारियों और कुटुम्ब वालों के साथ वह बड़ी निरंकुशता और उजड्डता का व्यवहार करता है। वह अपने भेद को बहुत छिपा कर रखता है और बड़ा चालाक तथा प्रतिहिंसा का भाव रखने वाला मनुष्य है। वह अपनी गुप्त योजनाओं को किसी पर प्रकट नहीं करता। दरअसल वह बिना आवश्यकता के बोलता ही नहीं और प्राय: मौन रहा करता है।'

[संपादकीय। 'जागरण', 31 अक्तूबर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

स्वदेशी पर मालवीय जी

गत 21 अगस्त को कलकत्ता में 'स्वदेशी कमर्शियल म्यूजियम' का उद्घाटन करते हुए पं० मदनमोहन मालवीय ने स्वदेशी के सम्बन्ध में निम्नलिखित महत्वपूर्ण उद्गार प्रकट किये थे–

'भारत के समस्त महान् नेता, जैसे तिलक, सी० आर० दास, महात्मा गांधी, स्वदेशी प्रचार पर बहुत अधिक जोर देते आये हैं। सर्वप्रथम बंग-भंग से इस आन्दोलन को विशेष रूप से उत्तेजना मिली। उसके बाद पच्चीस वर्ष से हम इसको अत्यधिक महत्व प्रदान करते रहे

हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अब यह आन्दोलन बहुत शक्तिशाली हो चुका है तो भी बड़ी लज्जा का विषय है कि अब भी इस सम्बन्ध में बहुत-सा कार्य करने को शेष है।

'जीवन निर्वाह के लिए कपड़ा एक बड़ा जरूरी वस्तु है। भारतीय मिलें और कर्घे अभी तक इस आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सके हैं। यह बड़े ही आश्चर्य का विषय है कि बाहर वाले भारत के बाजार से रुई खरीदकर, उसे जहाज पर लादकर, अपने देश में ले जाते हैं और वहां से उसका कपड़ा बनाकर फिर इस देश में भेजते हैं, फिर भी वह कपड़ा देश की मिलों के कपड़े से सस्ता पड़ता है। जापान की इस समय भारतीय बाजार में प्रधानता है और उसने इस विषय में लंकाशायर को भी मात कर दिया है, पर हमारे लिए जापान और लंकाशायर दोनों विदेशी हैं और इसलिए हमको उन दोनों के माल का उपयोग नहीं करना चाहिए। हमको एकमात्र यह विचार करना चाहिए कि हम भारत में बनी चीजों से किस प्रकार अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं?

'इंग्लैंड अब तक मुक्त-द्वार वाणिज्य की नीति पर गर्व किया करता था और वाणिज्य नीति का पोषक था। अब उसने मुक्त द्वार वाणिज्य नीति को धता बता दी है और समस्त ग्रेटब्रिटेन में 'अंग्रेजी माल खरीदो' का आन्दोलन बड़े जोर-शोर से हो रहा है। इससे भी सन्तुष्ट न होकर उसने ओटावा में साम्राज्यव्यापी स्वदेशी आन्दोलन को जन्म दिया है, जब इग्लैंड-जैसे देश को जो अब तक व्यावसायिक-जगत् में सर्वोच्च स्थान पर अधिष्ठित था, अपने देश की बनी चीजों का व्यवहार में लाने का आन्दोलन करना पड़ रहा है, तो भारतवर्ष के लिए स्वदेशी प्रचार के आन्दोलन में शक्ति लगाने की कितनी अधिक आवश्यकता है, यह समझना कठिन नहीं है।'

[संपादकीय 'जागरण', 31 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

इलाहाबाद युनिवर्सिटी के नए वाइस चांसलर

हमें विश्वास है, समस्त प्रान्त श्री पंडित इकबालनारायण गुर्टू के सर्व सम्मति से वाइस चांसलर चुने जाने पर हर्ष प्रकट करेगा। वोटरों ने वही किया जिसकी उनसे आशा की जाती थी। हम काशी वालों को पंडितजी की कार्यपटुता से उस नाजुक मौके पर वंचित होना पड़ रहा है, जब काशी म्युनिसिपैलिटी का जीवन ही संकट में है। आपने इन थोड़े ही दिनों में म्युनिसिपैलिटी पर अपने दृढ़ व्यक्तित्व की छाप लगा दी थी और आशा थी कि यदि आप साल-दो साल यहां रह जाते, तो म्युनिसिपैलिटी का बहुत कुछ सुधार हो जाता। हमें आपसे पृथक् होने का खेद है पर इसके साथ यह संतोष भी है कि आप उसी क्षेत्र में काम करने जा रहे हैं, जिस पर आपने अपना जीवन ही अर्पित कर दिया है, और जहा इस समय इसलाह की कुछ कम जरूरत नहीं है। अब तक हमारी युनिवर्सिटियों ने अपना जो कार्यक्रम रक्खा था, वह अब समय के अनुकूल नहीं रहा। युनिवर्सिटी केवल ग्रजुएट बनाने की मशीन नहीं है और न जनता का धन केवल मुमतहिनों के पुरस्कार और अध्यापकों के वेतन के लिये हैं। राष्ट्र अब युनिवर्सिटियों से ऊंचे आदर्श की आशा रखता है, जहां रटाई अपनी सीमा के अंदर रहे और छात्रों का चरित्र निर्माण उनका ध्येय बने।

[संपादकीय। 'हंस', नवम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

महिला-सभाओं में संतान-निग्रह का प्रस्ताव

'संतान-निग्रह' का अर्थ है कृत्रिम साधनों से संतान की उत्पत्ति को रोकना। इसके स्वाभाविक साधन भी हैं, पर यह शब्द उस अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया जाता। अभी साल-दो साल पहले यह केवल एक दार्शनिक प्रश्न था, पर इतने ही दिनों में इसने एक सार्वजनिक समस्या का रूप धारण कर लिया है। और चूंकि संतान का पालन-पोषण महिलाओं ही को करना पड़ता है और सन्तानोत्पत्ति की दुस्सह वेदनाएं महिलाओं ही के हिस्से पड़ती है इसलिए इसके प्रचार की अपील प्राय: हरेक महिला-सम्मेलन में उपस्थित होने लगी है। अगर हम भूल नहीं रहे हैं, तो हाल में होने वाले कराची और पंजाब महिला-सम्मेलनों में यह प्रस्ताव पेश होकर स्वीकृत हुआ है। इसके पहले सेकेंडरी अध्यापक सम्मेलनों में भी यह प्रस्ताव स्वीकृत हो चुका है। एक समय था, जब संतान को संसार की सबसे बड़ी विभूति समझा जाता था। संतान के लिये नाना साधनाएं की जाती थीं और आज संतान मानवीय जीवन की विपत्ति समझी जा रही है। इसका कारण है, वर्तमान आर्थिक संग्राम। जो परिवार कुछ दिन पहले पचास रुपये में सुख का अनुभव करता था, उसके लिये अब दो सौ रुपये की जरूरत है। अब हम यह दयनीय दृश्य नहीं देख सकते कि चाहे हम एक बच्चे का पालन-पोषण अच्छी तरह नहीं कर सकें, पर दूसरे के लिये देवी-देवताओं की मनौतियां करते रहें। स्त्री चाहे अपनी जान से मर रही हो, पर बच्चों से अपना रक्त चुसाती रहे। यह सब तो ठीक है। लेकिन इस निग्रह की आड़ में अगर निर्द्वन्द विषय-भोग की प्यास छिपी हुई है, तो समाज के लिये निग्रह उल्टे और हानिकारक हो जायगा। जहां संतान-निग्रह का बहुत प्रचार है, वहां तलाकों की भी भरमार है और समाज-शास्त्र के पंडितों का मत है कि दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है। अगर इस निग्रह का फल यह होता है कि हम अवैध रूप से विषय-भोग में पड़ जावें, तो यह समाज के लिये आशीर्वाद की जगह शाप सिद्ध होगा।

[संपादकीय। 'हंस', नवम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

मिस मेयो की आत्मा एक पारसी महिला के वेष में

मिस कार्नेलिया सोहराब जी बार-एंट-ला एक पारसी महिला हैं, जिनके विषय में कहा जाता है कि उन्होंने मिस मेयो की कलंकित रचना 'मदर इंडिया' के लिये सामग्री देकर भारतमाता की सेवा की थी। अब हमें यह कहते हुए शर्म आती है कि उन्हीं मिस सोहराब जी ने इंग्लैंड में भारतीय महिलाओं के विरुद्ध प्रोपेगेंडा शुरू कर दिया है। पिछले दिनों लंदन के एक आम जलसे में आपने भारतीय महिलाओं का इतने लज्जास्पद शब्दों में मजाक उड़ाया कदाचित् मिस मेयो को भी इतना साहस न होता। मिस सोहराब जी ऊंचे दरजे की शिक्षा-प्राप्त महिला हैं, हम यह मानते हैं, लेकिन शायद उन्हें भारतीय देवियों से मेल-जोल का कभी अवसर नहीं मिला और उनका ज्ञान सुनी-सुनाई बातों पर है। संभव है, उनके विदेशी रहन-सहन और आचार-विचार के कारण ही भारतीय घरों में उनका प्रवेश न हुआ हो। या हुआ भी हो, तो उन्हीं लोगों में, जो स्वयं भारत के लिये कलंक-स्वरूप हैं। लेकिन, अगर मान भी लिया जाय कि उनके कथानुसार भारत की स्त्रियों में बुराइयां भरी हुई हैं, तो उनका धर्म था कि वह भारत में आकर अपनी बहनों का सुधार करतीं, पर आपको जहर उगलने ही में मजा आता है। मगर

वहां, भी ऐसी सच्ची आत्माएं मौजूद थीं, जिनसे यह उपहास न सुना गया, और दो अंग्रेज महिलाओं ने वहीं खड़े होकर मिस सोहराब जी को ऐसी खरी-खरी बातें सुनाई कि शायद उन्हें अब किसी समाज की निन्दा करने का साहस न हो। बड़प्पन निन्दा करने में नहीं है। इससे न किसी का मान ही होता है, न आदर ही। जिनको प्रसन्न करने के लिये मिस सोहराब जी यह कीचड़ उछाल रही थीं, उन्हीं ने आपस में बैठकर उनके इस व्यवहार की आलोचना की होगी। भारत को पश्चिमी जीवन और सभ्यता का अब थोड़ा बहुत अनुभव हो गया है और अब वह किसी ऐसे स्त्री या पुरुष का नेतृत्व स्वीकार नहीं कर सकता जिसने पश्चिमी सभ्यता अख्तियार कर ली हो और समझता हो कि अब उसे सारे जमाने को नीचा समझने का अधिकार है।

[संपादकीय। 'हंस', नवम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

सर पी० सी० राय का युवकों को आदेश

सर पी० सी० राय ने लाहौर में विश्वविद्यालय के छात्रों को उपदेश देते हुए उनकी विलासपूर्ण मनोवृत्ति की कड़े शब्दों में आलोचना की और बताया कि वे अपने शौक की चीजों के गुलाम बनकर अपना और राष्ट्र का कितना अहित कर रहे हैं। उन छात्रों को यह उपदेश कड़ुआ तो लगा होगा, किन्तु वे विचार करेंगे तो उन्हें ज्ञात होगा कि वे जिस रास्ते पर जा रहे हैं, वह कल्याण का मार्ग नहीं है। वह जमाना लद गया, जब विद्यालय से निकलते ही अवसर उनका स्वागत किया करता था। अब तो यह हाल है कि शायद उस अवसर का आवाहन करने में उन्हें बरसों लग जायं, फिर भी उसके दर्शन न हों। अब तो उसी युवक की विजय होगी, जो अपनी जरूरतों को कम से कम रख सकता है। अभी तुम्हारे माता-पिता तुम्हारा दुलार कर रहे हैं, लेकिन वह समय भी आवेगा जब वे तुमसे कुछ सेवा की आशा रखेंगे, जब तुम्हारे ऊपर गृहस्थी का बोझ पड़ेगा। अगर तुम यों ही अपनी इंद्रियों के गुलाम बने रहे, तो उस वक्त तुम्हें कितना कष्ट होगा। हम मानते हैं यह तुम्हारे खाने-पहनने और खेलने के दिन हैं, लेकिन इसके साथ तुम्हें भी यह मानना पड़ेगा कि यही समय आने वाले संग्राम की तैयारियों का है। अगर तुमने किफायत की आदतें पैदा कर ली हैं, अगर तुम अपने हाथ से अपना काम करने में संकोच नहीं करते, अगर तुम सिगरेट और सुगन्ध और टाई-कालर और फ्लेक्स के गुलाम नहीं हो, तो मैदान तुम्हारे हाथ रहेगा। तुम थोड़े में भी सुखी रहोगे और अपनी उन्नति के लिये यत्न करते रहोगे, लेकिन अगर तुमने खर्चीली आदतें पैदा कर ली हैं, तो निस्संदेह तुम्हारा जीवन संकटमय हो जाएगा। तुम जीवन के सच्चे सुख का अनुभव न कर सकोगे। मुश्किल तो यह है कि हमारे विश्वविद्यालयों में छात्रों के सामने जो आदर्श होते हैं, उनसे किफायती आदतों को प्रोत्साहन नहीं मिलता। अध्यापकों ही पर छात्रों की दृष्टि रहती है। वे उन्हीं महानुभावों के आचार-विचार, रीति-व्यवहार की नकल करते हैं और हमारे अध्यापक महानुभाव एक से बढ़कर साहब बने रहते हैं। उनके सूट-बूट देखकर देखते ही रह जाइए। मानो उनमें होड़ लगी हुई है कि देखें फैशनेबुलपन में कौन बाजी ले जाता है। वे सोचते होंगे, हमने बड़ी-बड़ी उपाधियां किसलिए प्राप्त कीं? अगर मोटा-झोटा खाना-पहनना था, तो विलायत जाने और परिश्रम करने की क्या जरूरत थी। आखिर वह किसी से कुछ मांगने तो

नहीं जाते। अपना कमाते हैं और शान से रहते हैं। इसका उन्हें पूरा अधिकार है।

किसी को उनकी निजी बातों में दखल देने का कोई हक नहीं। उन्होंने बीज बोया, तो फल क्यों न खायं? बिल्कुल दुरुस्त। इसमें किसी काफिर को ही कलाम हो सकता है। युवकों के लिये और कहीं ठिकाना है ही नहीं। वे झक मारकर विद्यालय में आवेंगे, झक मारकर फीस देंगे और झक मारकर पढ़ेंगे। उनके हलवे-माडे में कोई रखना पड़ने की संभावना नहीं। फिर क्या है, मौज किए जाइये और लेक्चर दिए जाइये। छात्रों पर आपकी फैशन-परस्ती का क्या असर पड़ता है, इसकी चिन्ता किए बिना भी आप आनन्द से रह सकते हैं।

[संपादकीय। 'हंस', नवम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

अमेरिका की धमकी

कहा जाता है कि अमेरिका कि आर्थिक दशा बहुत चिन्ताजनक हो रही है। हजारों बैंक टूट गये, करोड़ों आदमी बेकार हैं। फिर भी राष्ट्र संघ में नि:शस्त्रीकरण की स्कीम गिर जाने के कारण अमेरिका के प्रेजिडेन्ट मि० टूबर ने जंगी जहाज बनवाने की धमकी दी है। उनका कहना है कि जब कोई राष्ट्र अपनी सैनिक शक्ति कम करने को तैयार नहीं है, तो अमेरिका ही क्यों चुप रहे। अमेरिका का व्यापार दुनिया भर से बढ़ा हुआ है। इसलिए उसके पास जंगी जहाज भी इतने चाहिए कि वह दुनिया भर का अकेला मुकाबला कर सके। यह धमकी सुनकर इंग्लैंड और फ्रांस और इटली का खून भी गर्म हो जायगा और उन्मादपूर्ण वेग से अस्त्र-शस्त्र एकत्र किये जाने लगेंगे। उधर बेकार प्रजा भूखों मर रही है। यह है उन देशों का हाल जहां स्वराज्य है।

[संपादकीय। 'जागरण', 7 नवम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

आशा का केन्द्र

प्रयाग का एकता-सम्मेलन इस समय राष्ट्रीय आशा का केन्द्र बना हुआ है। सम्पूर्ण भारत ही नहीं, सम्पूर्ण संसार उसकी तरफ आशा तथा भय की निगाहों से देख रहा है। उसके सामने बड़े महत्व के प्रश्न हैं—ऐसे प्रश्न, जिन्हें महात्मा गान्धी भी नहीं सुलझा सके, जिन्होंने कितने दिनों से भारत के भाग्य को संकट में डाल रखा है। भारत का भविष्य उन्हीं प्रश्नों के साहस-पूर्ण निर्णय पर मनुहसर है। अब देखना है कि हमारे नेता राजनैतिक बुद्धिमत्ता से काम लेकर उसे सुलझाने में सफल होते हैं या संकीर्णता और अविश्वास के अन्धकार में पड़कर पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं। जिस उद्देश्य के सामने महात्मा जी को भी हार मननी पड़ी, उसको प्राप्त करना आसान नहीं है। भारत इस परीक्षाग्नि से निकलकर ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। इतनी बड़ी जिम्मेदारी की कल्पना ही दिल को कमजोर कर देती है। आपस में अभी तक एक को दूसरे पर अविश्वास है, अभी तक दिलों में जो स्वार्थ घुसा हुआ है, अभी तक जो अभिमान समाया हुआ है, उसे देखकर हम कभी-कभी निराश हो जाते हैं। लेकिन यह सोचकर कि राष्ट्र के प्रति जिस जिम्मेदारी को हम जैसे अनाड़ी भी महसूस करते हैं, क्या उसे हमारे नेता उससे कहीं ज्यादा गहराई के साथ न महसूस करते होंगे, हमारी हिम्मत बंध जाती

है।

वास्तव में जो कुछ मतभेद है, वह केवल शिक्षित समुदाय के अधिकार और स्वार्थ का है। राष्ट्र के सामने जो समस्या है, उसका सम्बन्ध हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई सभी से है। बेकारी से सभी दुखी हैं। दरिद्रता सभी का गला दबाये हुए है। नित नयी-नयी बीमारियां पैदा होती जा रही हैं। उसका वार सभी सम्प्रदायों पर समान रूप से होता है। कर्ज की इल्लत में सभी गिरफ्तार हैं। ऐसी कोई सामाजिक, आर्थिक, या राजनैतिक दुरवस्था नहीं है, जिससे राष्ट्र के सभी अंग पीड़ित न हों। दरिद्रता, बीमारी, अशिक्षा, बेकारी, हिन्दू और मुसलमान का विचार नहीं करती। हमारे किसानों के सामने जो बाधाएं हैं, उनसे हिन्दू और मुसलमान दोनों ही पीड़ित हैं। राष्ट्र का उद्धार इन समस्याओं के हल करने से होगा। कितने मेम्बर हिन्दू हैं, कितने मुसलमान, कितने ईसाई, कितने सिक्ख—किस पद पर मुसलमान पहुंच गया है, किस पर हिन्दू, किस पर सिक्ख, यह तो बिल्कुल गौण बातें हैं। लेकिन इन्हीं गौण की बातों को प्रधान समझा जा रहा है। और थोड़े से व्यक्तियों के हित पर राष्ट्र का बलिदान किया जा रहा है। हमें अधिकार की इसलिए जरूरत नहीं है कि थोड़े से शिक्षित आदमियों को मोटी-मोटी असामियां मिलें और वह शान से जीवन व्यतीत करें, बल्कि इसलिए और केवल इसलिए कि हम राष्ट्र को सुखी और संतुष्ट कर सकें, शिक्षा का प्रचार कर सकें, कृषकों की हालत सुधार सकें, बेकारी की बला दूर कर सकें। देश में ऐसा वातावरण पैदा कर सकें कि छोटे से छोटे आदमी को भी रहने को झोंपड़े और भोजन के लिए रोटी की कमी न रहे, बड़े से बड़े आदमी छोटे से छोटे आदमी पर भी अत्याचार करके बेदाग न बच सकें, सूद के नाम से गरीबों को लूटा न जा सके, अदालतों में न्याय अधिक मंहगा और संदिग्ध न हो, पूंजीपति मजूरों का रक्त चूसकर मोटे न हो सकें, जमींदार अपने असामियों पर मनमानी न कर सकें, राज कर्मचारी रिश्वत का बाजार न गर्म कर सकें, तरह तरह के नये व्यवसाय खोले जायं। हम अधिकार चाहते हैं—राष्ट्र-सेवा के लिए। अगर हमारे सामने यह आदर्श है, तो आपस में समझौता होने में कोई रुकावट नहीं हो सकती। अधिकार जहां सेवा की जगह हुकूमत और भोग का रूप धारण कर लेता है वहीं अविश्वास और भ्रम उत्पन्न होता है।

हमें यह न भूलना चाहिए कि यह बीसवीं सदी है। साम्प्रदायिकता बहुत थोड़े दिनों की मेहमान है। भारत के सिवा कदाचित् संसार में और उसे कहीं शरण नहीं मिल सकती, इसलिए वह निराशाजनित शक्ति के साथ इस आधार को पकड़े हुए है। आने वाला युग आर्थिक संग्राम का युग होगा। हिन्दू कौन है, मुसलमान कौन है, इसे कोई पूछेगा भी नहीं। पूछ उन्हीं की होगी, जिनमें चरित्र है, साहस है, सेवाभाव है, अध्यवसाय है। इस धंसती हुई जीर्ण दीवार को हम थूनियों से नहीं बचा सकते। उसके दिन पूरे हो चुके। साम्प्रदायिक मनोवृत्ति को हमें इच्छा के बल से दबना पड़ेगा। धन्य हैं वह आत्माएं, जो समय के अनुकूल चलती हैं। पंडित मदनमोहन मालवीय के नाम से मुसलमान का बच्चा-बच्चा जलता था। मौ॰ शौकतअली हिन्दू-मात्र के जानी दुश्मन समझे जाते थे, लेकिन आज मालवीय जी हिन्दू-मुसलिम एकता के उपासक हैं और मौलाना साहब इत्तहाद के अलमबरदार। क्या हम हवा का रुख भी नहीं देख सकते? स्व॰ सर अली इमाम मुसलिम लीग के जन्मदाताओं में थे, जिसने पहले-पहल पृथकता का बीज बोया। उन्हीं सर अली इमाम ने राष्ट्रीय मुसलिम सम्मेलन की सदारत की और संयुक्त निर्वाचन का समर्थन किया। मालवीय जी हिन्दू-सभा

के जन्मदाता हैं। यही वह संस्था है, जिससे मुसलमान आतंकित हैं, पर आज वही मालवीय जी इस एकता-सम्मेलन की आत्मा हैं। केवल इसलिए कि इन महानुभावों ने समय की गति को पहचाना और अन्त में अपनी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति पर विजय पायी।

हमारा हमेशा से यह ख्याल रहा है कि एकता के विषय में पहले हिन्दुओं को हाथ बढ़ाना होगा। वह संख्या में, धन में, शिक्षा में मुसलमानों से बढ़े हुए हैं। मुसलमान अल्प-संख्यक हैं। उन्हें हिन्दुओं से आशंकित होने के लिए आधार हो सकते हैं। उन्हें यह सुबहा हो सकता है, कि हिन्दू संगठित होकर उनको हानि पहुंचा सकते हैं। हिन्दुओं के लिए ऐसी शंका करने का कोई कारण नहीं है। यदि इस दिशा में भी उन्हें मुसलमानों से दबाये जाने की शंका है, तो यह उनकी बहुत बड़ी दुर्बलता है। इस भय को दिल से निकाल डालना होगा। यह समझना अन्याय है, कि कर्त्तव्य, नीति और विचार पर हिन्दुओं ही का ठीका है। और जिन प्रान्तों में हिन्दू कम हैं, वहां मुसलमान उन पर जुल्म करेंगे। सीमा प्रान्त में मुसलमानों ने जिस राष्ट्रीय आदर्श का परिचय दिया है, वह ऐसी शंकाओं को शान्त करने के लिए काफी है। अभी हाल में सीमाप्रान्त की व्यवस्थापक सभा ने, जिसमें अधिकांश साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के मुसलमान ही हैं यह निश्चय किया है, कि राजपद के लिए योग्यता ही एक शर्त है, हिन्दू और मुसलमान की कोई कैद नहीं।

मुसलमान भाइयों से हमारा यही निवेदन है, कि आप तेरह-चौदह शर्तों के गुलाम न बनिये। सिंध प्रान्त को अलग करने की मांग न तो दूरदर्शिता है, न नीति-कुशलता। बेशक अलग हो जाने पर वहां आपका बहुमत हो जायगा, लेकिन इसके लिए आपको कितना भारी मूल्य देना पड़ेगा। केवल साम्प्रदायिक भावुकता को प्रसन्न करने के लिए आप प्रान्त पर डेढ़ करोड़ का बोझ लाद रहे हैं। आप उस प्रान्त में इतना धन केवल टैक्स लगाकर ही निकाल सकते हैं और टैक्स का भार अधिकतर मुसलमानों ही पर पड़ेगा, क्योंकि मुसलमानों की आबादी ज्यादा है। फिर नये प्रान्त में आपको वह अधिकार अभी न मिल सकेंगे जिन्हें बंबई प्रान्त के साथ रहकर आप भोग रहे हैं। धनाभाव के कारण शासन का खर्च भी पूरा न कर सकेंगे, तो उन विभागों के लिए धन कहां से आयेगा, जिन पर जनता की सुख-शान्ति का दारमदार है। शिक्षा, स्वास्थ्य, सहयोगिता, कृषि-सुधार आदि विभाग मर मिटेंगे। पंजाब और बंगाल की समस्या को हल करने का एक-मात्र यही उपाय है, कि अन्य प्रान्तों में आप Weightage दस्तबरदार हो जायें। यदि आप उन प्रान्तों में जहां आपकी संख्या कम है, Weightage लेंगे, तो आपको उसी नीति से पंजाब और बंगाल में अल्पसंख्यक जातियों को जायद निर्वाचनाधिकार देने पड़ेंगे। आप उससे किसी दलील से नहीं बच सकते। वेटेज को छोड़ने से आपकी किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती। अल्पमत थोड़ी संख्या से हो, या कुछ बड़ी संख्या से हो, अल्पमत ही रहता है। हां, उससे पंजाब और बंगाल की समस्या हल हो जायगी। वहां की अल्पसंख्यक जातियां फिर जायद निर्वाचन मांगने का साहस न कर सकेंगी।

हमारी ईश्वर से यही प्रार्थना है, कि वह हमें सन्मार्ग दिखायें और हम साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर हो सकें।

[संपादकीय। 'जागरण', 7 नवम्बर, 1032 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

कारनिवलों में जुआ

कारनिवलों का मुख्य उद्देश्य जनता के लिए स्वस्थ मनोविनोद की सामग्री पहुंचाना है, लेकिन हमें दु:ख से कहना पड़ता है कि काशी में आजकल जो कारनिवल आये हुए हैं, वहां जुए के सिवा और कुछ नहीं होता। दो-चार ऐंग्लो इडियन या ईसाई युवतियां युवकों को आकर्षित करने के लिए बैठा दी जाती हैं, और तरह-तरह के जुए खेलाये जाते हैं। कहीं चूड़ी हैं, कहीं तीर का निशाना है, कहीं कुछ। इससे कितनी कुरुचि फैलती है, और कुप्रवृत्तियों को कितनी उत्तेजना मिलती है, इसका अनुमान करना कठिन है। मामूली जुआ खेलने वालों पर पुलीस के धावे हुआ करते हैं, हालांकि वे गुप्त स्थान में गुप्त रूप से खेलते हैं, लेकिन यहां दिन-दहाड़े जुआ होता है, पर कोई नहीं बोलता। इसमें क्या रहस्य है, यह समझ में नहीं आता। क्या अधिकारियों को इस जुए की खबर नहीं होती? हमने तो कई बार पुलीस के कर्मचारियों को जुआ खेलते देखा है। उच्च पदाधिकारी भी अक्सर कारनिवलों की सैर करने जाते हैं, पर किसी ने कुछ आपत्ति की हो, ऐसा कभी सुनने में नहीं आया। हमारा अधिकारियों से अनुरोध है कि वह कारनिवलों पर कड़ी निगाह रखें, जिससे इन्हें जहर फैलाने का अवसर न मिले।

[संपादकीय। 'जागरण', 7 नवम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

देहली के जामेया मिल्लिया की रिपोर्ट

देहली के जामेया मिल्लिया उन मुसलिम संस्थाओं में हैं, जिसने राष्ट्र के सम्मुख सच्ची सेवा का आदर्श रक्खा है। पहले यह जामेया (विद्यापीठ) स्व. हकीम अजमलखां साहब के उद्योग से अलीगढ़ में स्थापित हुआ था, पर उन्नीस सौ बाईस के असहयोग आन्दोलन के बाद जनता के निरुत्साह से उसे धक्का पहुंचा और उसे अलीगढ़ से उठा कर देहली ले जाना पड़ा। वहां कुछ स्थानीय संस्थाओं और कुछ रियासतों और अधिकतर जनता की सहायता से वह अपना काम करता रहा, पर इस बार आन्दोलन शुरू होने के बाद रियासतों से मिलने वाली इमदाद बंद हो गई और उसे केवल जनता की सहायता और अपने कर्मचारियों के सहयोग और त्याग का आश्रय रह गया। इस परिस्थिति में भी अध्यापकगण ने कितनी ही लगन और उत्साह से काम किया, कि बहुत थोड़े से गुजारे पर रहकर भी बराबर सेवा-कार्य में लगे रहे। इनमें सभी इतने सुयोग्य हैं कि उनके लिये किसी संस्था में स्थान मिल सकता था, पर उन्होंने जामेया मिल्लिया का दामन न छोड़ा और हर तरह का कष्ट उठाते हुए भी प्रसन्न मुख और अदम्य उत्साह से अपने काम में लगे हुए हैं। इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी उसके पास अपनी कई इमारतें हैं, पुस्तकालय है और प्रकाशन विभाग है। अब जामेया ने देहली से सात मील पर ओखला में दो सौ पचास एकड़ जमीन भी प्राप्त कर ली है, जहां विद्यालय की निजी इमारत बनेंगी। यह है मिशनरी संलग्नता से काम करने की विभूति। मुसलमानों में सरकार का मुंह ताकने की जो एक प्रवृत्ति है, उसका यहां नाम भी नहीं। यह आत्म-विश्वास, स्वावलम्बन और राष्ट्र प्रेम की जीती-जगाती मिसाल है।

[संपादकीय। 'जागरण', 7 नवम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

पूना का ईसाई-सम्मेलन

इस सप्ताह में वर्तमान राजनैतिक परिस्थिति और साम्प्रदायिक बंटवारे पर विचार करने के लिए पूना में ईसाई-सम्मेलन हुआ। इसमें हरेक प्रान्त के गणमान्य ईसाई महानुभाव एकत्र हुए थे। हर्ष और सन्तोष की बात है कि उन्होंने बहुमत से सम्मिलित निर्वाचन का ही समर्थन किया। हां, ईसाइयों के लिए स्थान स्वरक्षित कराने पर जोर दिया। इस तरह अल्पमत वालों का जो एक संघ गोलमेंज परिषद् के अवसर पर बनाया गया था उसके चार पहियों में से एक पहिया और टूट गया। हरिजन तो पहले ही सलाम करके पृथक् हो गये थे। मुसलमानों ने भी संयुक्त निर्वाचन को स्वीकर कर लिया। ईसाई भी संघ से निकल गये। अब केवल एंग्लों-इंडियन रह गये हैं। उन्हें भी अब जनमत के आगे सिर झुकाने के सिवा कोई चारा नहीं।

[संपादकीय। 'जागरण', 7 नवम्बर 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

भारतीय चीनी के कारखानों का अन्याय

स्वदेशी चीजों को प्रोत्साहन देना हरेक हिन्दुस्तानी का धर्म है, लेकिन कारखानों के स्वामियों का भी जनता के प्रति कुछ कर्त्तव्य है, इसे वे भूल जाते हैं। एक ही दाम की देशी और विदेशी चीज लीजिए। देशी चीज आपको घटिया मिलेगी। चीनी का भी वही हाल है। विदेशी चीनी का जब से बहिष्कार हुआ है, यह व्यवसाय बड़ी उन्नति कर रहा है, मगर चीनी के कारखानों के मालिक अन्य स्वदेशी व्यापारियों की ही भाँति घटिया से घटिया माल ग्राहकों के हाथ बेचकर अपना उल्लू सीधा करना ही उचित समझते हैं। अभी हाल में चीनी के एक विशेषज्ञ ने भारतीय चीनी के व्यवसाय पर आलोचना करते हुए कहा था कि विदेशी चीनी में बरायनाम मैल रहता है, लेकिन भारत की चीनी में बहुत ज्यादा मैल रहता है। हमें आशा है, हमारे चीनी के कारखानेदार इस चेतावनी पर विशेष रूप से ध्यान देंगे। विदेशी चीनी पर सरकार ने कर लगाकर देशी चीनी की रक्षा की है, लेकिन यदि कारखानेदार इस रक्षा का दुरुपयोग करेंगे, तो वे जनता का सहयोग और सहानुभूति खो देंगे और उनकी अर्थ-लोलुपता के हाथों एक बढ़ते हुए व्यवसाय को धक्का पहुंचने की संभावना है। भारतीय कृषकों के हाथ में अब ले देकर यही ऊख की खेती रह गयी है। अगर कारखानेदार जनता को मैली चीनी खिलाकर अपनी जेब गर्म करते रहे, तो लोग विवश होकर विदेशी चीनी खाने लगेंगे और चीनी के कारखानों का दिवाला तो हो ही जायगा, बेचारे किसान खेत में मारे जायेंगे। मैली चीनी का स्वस्थ्य पर क्या असर पड़ता है, इसकी खोज तो कोई डाक्टर ही कर सकता है, पर इतना तो सभी जानते हैं कि मैल शरीर के अंदर पहुंचकर कोई लाभ नहीं पहुंचाता।

[संपादकीय। 'जागरण', 7 नवम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

मि० थामस बाटा

मि० थामस बाटा संसार में जूते के सबसे बड़े व्यापारी थे। उन्होंने करोड़ों की सम्पति छोड़ी है और अब उनकी जगह उनके भाई मि० जान बाटा उस कारखाने के अध्यक्ष हुए हैं। थामस बाटा ने यह विशाल सम्पति अपने ही उद्योग और परिश्रम से प्राप्त की थी और यद्यपि वह

व्यक्तिवाद के समर्थक थे, पर उनका व्यक्तिवाद समष्टि को पैरों से कुचल कर नहीं, उनके सहयोग पर आधारित था। वह अपने कारखाने के मजदूरों को भी नफा में भाग देकर उन्हें एक प्रकार से साझीदार बना लेते थे। यही कारण है, कि मजूर उनके कारखानों को अपना समझते थे और जी तोड़कर काम करते थे। मि॰ बाटा का जीवन आदर्श कहा जा सकता है। वह खुद अन्य मजूरों की भांति कारखाने से बहुत थोड़ा पारिश्रमिक ले लिया करते थे, हालांकि काम औरों से कई गुना ज्यादा करते थे। उनके घर का खर्च भी हजार पौंड सालाना से अधिक न था। अपनी विधवा स्त्री को भी उन्होंने केवल उतनी ही रकम तरके में दी है, जिससे उनकी गुजर हो जाय। लड़कों के लिए सम्पत्ति बनाना उनके जीवन का उद्देश्य न था। इन रकमों से कई गुनी रकम उन्होंने मजूरों के लिए व्यायामशाला और विनोदगृह बनाने के लिए छोड़ी है। कहते हैं कि जेकोस्लोवेकिया में, जहां उनका हेड आफिस था, उनका मजूरों और जनता पर इतना असर था कि म्युनिसिपैलिटी के बयालिस मेम्बरों में एक्तालिस केवल उनके भेजे हुए थे। अगर ऐसे पूंजीपति हों, तो कम्युनिज्म के लिए कहां स्थान रह जाता है। यह तो पूंजिपतियों की अन्धी स्वार्थपरता है, जो कम्युनिज्म का पोषण करती है।

[सपादकीय। 'जागरण', 7 नवम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग ३ में संकलित।]

संयुक्त प्रांत में फलों की काश्त

बीस पच्चीस साल पहले फल केवल मुंह का जायका बदलने के लिए खाये जाते थे। इनके पोषक गुणों से जनता में बडी अनभिज्ञता थी।। व्रत में भी इनका व्यवहार दूध खाए की चीजों के बाद केवल मन-बहलाव के लिए कर लिया जाता था। रईस लोग अपने बगीचों में फल पैदा करते थे, पर केवल शौक के लिए। फलों का कोई व्यावसायिक महत्व न था, इसीलिए कि जनता में इनकी मांग न थी। लखनऊ के खरबूज और आम, प्रयाग के अमरूद, काशी के लंगड़े जरूर मशहूर थे, पर इनका स्वाद रईस लोग ही उठाते थे। गांवों में हर किसान के पास दस-पांच पेड़ आम, महुआ, कटहल आदि होते थे और वह हर साल में दो चार दिन इन चीजों का स्वाद ले लिया करता था। इनसे उसके जीवन की कोई आवश्यकता न पूरी होती थी। ऐसा बिरला ही कोई फल है, जिसमें अवगुण न बताये जाते हों। अमरूद और बेर से खांसी आती थी, आम गरमी करता था, केले बुखार पैदा करते थे, शरीफे बलगम लाते थे। पर इस तरफ फलों का भोजन-मूल्य बहुत बढ़ गया है। इस प्रान्त में नागपुर से लाखों रुपये के संतरे, बिहार के आम, बम्बई और कलकत्ता के केले, पेशावर के अनार, काश्मीर के सेब आकर खप जाते हैं। फिर भी अभी तक फलों की काश्त की ओर न शिक्षित जनता का ध्यान है, न जमींदारों का। इस व्यवसाय के लिए बहुत बड़ी पूंजी की जरूरत नहीं। जिसके पास दो-चार एकड़ जमीन, थोड़ा-सा समय और दो चार सौ रुपये हैं, वह इसे मजे में कर सकता है। इन चीजों के लिए बाजार खोजने कहीं जाना नहीं है। बाजार बना-बनाया है। माल के आने की देर है। मन्दी-तेजी का असर भी इस पर बहुत कम पड़ता है। इस विषय का साहित्य भी कृषि-विभाग से आसानी से मिल सकता है। यदि कोई सज्जन इस विषय पर कुछ लिखना चाहें, तो हम धन्यवाद के साथ उसे प्रकाशित करेंगे। हम प्रयत्न कर रहे हैं कि इस विषय पर 'जागरण' में एक लेखमाला क्रम से प्रकाशित करें। जो महानुभाव हमें इस विषय की उपयोगी

पुस्तकों का नाम बताकर, या कुछ लिखकर सहायता देंगे, हम उनके अनुगृहीत होंगे।

[संपादकीय। 'जागरण', 7 नवम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

सर अली इमाम की स्वर्ग-यात्रा

सर अली इमाम के उठ जाने से बिहार का वह सपूत उठ गया, जिस पर बिहार को ही नहीं, भारत को गर्व था। संसार में जितनी विभूतियां हैं, वह सभी उनके हिस्से में प्रचुर मात्रा में पड़ी थीं। एक जमाने में वह मुसलिम लीग में थे, लेकिन इधर कई साल से वह पक्के राष्ट्रवादी हो गये थे और लखनऊ के मुसलिम सम्मेलन की सदारत की थी। आप गोलमेज़ में भी शरीक हुए थे, पर अस्वस्थ रहने के कारण उसमें प्रमुख भाग न ले सके। विडम्बना यही है कि अभी आपके पिता मौलवी इमदाद इमाम साहब जीवित हैं। इस अवसर पर, जबकि देश एकता के लिए मार्ग ढूंढ़ रहा है, सर अली इमाम की मौत देश के लिए वज्रघात से कम नहीं।

[संपादकीय। 'जागरण', 7 नवम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

असली और नकली स्वदेशी चीजें

कई दिन हुए प्रो॰ रामदास जी गौड़ ने 'आज' में एक पत्र लिखकर बतलाया था कि आजकल जिन फौंटेनपेनों को हम स्वदेशी कहते हैं, वे सर्वथा विदेशी हैं, उनमें कोई भाग स्वदेशी नहीं, सभी चीजें विदेश से मंगाकर यहां जोड़ ली गई हैं। यही कलमें धड़ल्ले से बाजार में स्वदेशी के नाम से बिक रही हैं और जनता को धोखा दिया जा रहा है। मगर इन कलमों के अतिरिक्त और भी कितनी विदेशी चीजें स्वदेशी के नाम से बिक रहे हैं और जनता को धोखा दिया जा रहा है। कितनी ही सुगंध, कितनी ही ऊनी और रेशमी चीजें, कितने ही शीशे और चीनी के सामान, कितने ही तरह के कागज यहां स्वदेशी के रूप में बिक रही है, हालांकि लेबेल के सिवा उनमें कुछ भी स्वदेशी नहीं है। ऐसे धोखेबाज व्यापारी इस स्वदेशी की हवा में जितना लूटना चाहें, लूट लें मगर एक दिन उनका परदाफाश हो जायगा और इस धोखेबाजी का फल उन्हें भोगना पड़ेगा। स्वदेशी मेले के व्यवस्थापकों से हमारा यही अनुरोध है कि वे बिना अच्छी तरह जांच-पड़ताल किये व्यापारियों को स्टाल न दिया करें। धोखेबाजों के घुस आने से यही नहीं होता कि विदेशी माल की खपत होती है, बल्कि सच्ची स्वदेशी वस्तुओं को उभरने का अवसर ही नहीं मिलता।

[संपादकीय। 'जागरण', 14 नवम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

एकता सम्मेलन-2

यद्यपि मौलाना शौकतअली और कई अन्य नेता प्रयाग से चले गये हैं, पर एकता-सम्मेलन बराबर जारी है। बंगाल, पंजाब और सिंध यह तीन समस्याएं लोहे के चने थीं। बंगाल की समस्या तो करीब-करीब हल हो चुकी है, केवल पंजाब और सिंध की समस्याओं का हल होना बाकी है। एक दिन पहले ऐसा भय होता था कि सिंध की चट्टान पर सम्मेलन की नाव

टकराकर टूट जायगी, पर सिंध के हिन्दुओं ने इस अवसर पर जिस दूरदर्शिता और राष्ट्र प्रेम का परिचय दिया है, वह प्रशंसातीत है। हिन्दू-नेताओं में सिन्ध का अलग होना स्वीकार कर लिया है, अगर सम्मिलित निर्वाचन मुसलमानों द्वारा स्वीकृत हो जाय और हिन्दुओं के लिए वही रिआयतें दे दी जायं, जो मुसलमानों को हिन्दू प्रधान सूबों में प्राप्त हैं। सिन्ध अपना खर्च आप नहीं निकाल सकता। इसका हल यों किया गया है, कि सरकार से सहायता लेकर इस कमी को पूरा किया जाय। सालाना कमी अस्सी लाख की होगी। सरकार पचास करोड़ के लगभग सेना पर खर्च करती है, तो उसे सिंध के लिए अस्सी लाख की सहायता देने में ऐसी कोई बड़ी अड़चन न पड़ेगी। अब केवल पंजाब का मामला शेष है। हम आशा करते हैं, इस विषय में भी इसी दूरदर्शिता से काम लिया जायगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 14 नवम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग भाग-2 में संकलित।]

कराची-महिला सम्मेलन : लेडी अब्दुल कादिर का भाषण

यह देखकर चित्त प्रसन्न हो जाता है, कि साम्प्रदायिकता की हवा ने हमारी महिलाओं पर बहुत कम असर किया है। प्रयागस्थ एकता-सम्मेलन में नेताओं को कई महिला-संस्थाओं ने साम्प्रदायिकता को मिटा देने का आदेश दिया था। उसी तरह के भाव कराची-महिला सम्मेलन में लेडी अब्दुल कादिर ने प्रकट भाव किये हैं। आप बुड्ढों से तो इतनी उदारता की आशा नहीं रखतीं, इनके लिए अब किसी नयी बात को सीखना उतना ही कठिन है, जितना किसी पुरानी बात को भुलाना, लेकिन आने वाली सन्तान को इस छूत से बचाना होगा, अतएव आपने अपनी बहनों को सलाह दी है, कि अपने बच्चों में राष्ट्रीय भावनाओं का ही संचार करें और किसी तरह के भेद भाव उनमें न पैदा होने दें। हमें आशा है, कि हमारी माताएं और बहनें इस आदेश को उसके सच्चे अर्थ में ग्रहण करेंगी और उनके द्वारा सच्चे भारतीय राष्ट्र का जन्म होगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 14 नवम्बर 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

नगरों में दुर्घटनाएं

यों तो जहां आमद रफ्त बहुत होती है वहां हमेशा ही दुर्घटनाएं होती हैं, लेकिन जब से बड़े बड़े नगरों में ट्राम और टैक्सियों की वृद्धि हुई है, ऐसी दुर्घटनाएं दिन-दिन बढ़ती जाती हैं। कहीं एक्के-तांगे मोटरों से टकरा जाते हैं, कहीं कोई ट्राम गाड़ियों की लपेट में आ जाता है। यह भी नयी सभ्यता के हजारों प्रसादों में से एक है। लन्दन, न्यूयार्क आदि महान् नगरों का तो कहना ही क्या, दिल्ली जैसे नगर में, जिसकी आबादी तीन लाख से अधिक नहीं, प्रति सप्ताह सात आदमी के हिसाब से इन तूफानी सवारियों की भेंट चढ़ जाते हैं। पैदल चलने वालों के लिए वहां सड़क के दोनों ओर पटरी बनी हुई है और अगर लोग उन पटरियों ही पर चलें, तो ऐसी दुर्घटनाओं की संभावना कम हो जाय। दिल्ली के पुलिस-अधिकारी ने दिल्ली म्युनिसिपैलिटी से इस विषय में लिखा-पढ़ी करते हुए लिखा है कि पटरियों पर जो खोंमचे वालों और दूकानदारों ने कब्जा कर लिया है, इससे पथिकों के लिए इसके सिवा कोई उपाय ही नहीं रह जाता कि वे सड़कों पर न चलें, अतएव म्युनिसिपैलिटी को चाहिए कि वह

पटरियों पर से दूकान उठवा लें, अथवा पुलिस कांस्टेबल का मार्ग में खड़ा होना बेकार हो जाता है। हमारी समझ में पुलिस-अधिकारी का आदेश सर्वथा न्याय संगत था और जनता की प्राण-रक्षा में नगर के पिताओं को पुलिस से सहयोग करना चाहिए था, लेकिन म्युनिसिपैलिटी ने इस आदेश को शायद पुलिस की मुदाखलत बेजा समझा और उसे विवाद का विषय बना लिया। निस्सन्देह पटरियों पर से दूकानें उठा देने में म्युनिसिपैलिटी की आमदनी में कुछ कमी होगी और दूकानदार भी इसे शायद न पसन्द करेंगे। और इसलिए इन मेम्बरों को दोबारा उन व्यापारियों से वोट मिलना कठिन हो जायगा, लेकिन जहां प्राण-रक्षा का प्रश्न आ जाता है, वहां रुपये का या स्वार्थ का स्थान गौण हो जाना चाहिए। म्युनिसिपैलिटी केवल इसलिए नहीं है कि अपनी जिम्मेदारियों को न समझने वाले महानुभावों की मीरास बनी रहे। उसका प्रधान कर्त्तव्य जनता की सेवा है और जो लोग इस जिम्मेदारी को नहीं समझते, उन्हें म्युनिसिपैलिटी में जाने की जरूरत नहीं।

[संपादकीय। 'जागरण', 14 नवम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 मे संकलित।]

प्रान्तीय कौंसिलों में दूसरा मेम्बर

इंग्लैंड की शासन-व्यवस्था में दो हाऊस हैं। एक साधारण, जिसे हाऊस आफ कामन्स कहते हैं और दूसर विशेष जिसे हाऊस आफ लार्डस कहते हैं। कामन्स में तो जनता-द्वारा चुने हुए मेम्बर बैठते हैं। लार्ड में खानदानी रईसों का स्थान है। चूंकि पहले राज्य का अधिकार सोलहों आना अमीरों के हाथ में था और ज्यों-ज्यों जनता में राजनैतिक ज्ञान की वृद्धि होती है, वह उन अधिकारों को रईसों के हाथ से छिनकर अपने हाथ में रखना चाहती है, इसलिए यह दोनों संस्थाएं बराबर एक दूसरे से लड़ती रहती हैं। वास्तव में इंग्लैंड का गत दस शताब्दियों का राजनैतिक इतिहास इस द्वन्द्व के सिवा और कुछ नहीं है। जनता के क्रमिक विकास में सबसे बड़ी यही बाधा अमीरों की संस्था रही है। कोई नया बिल उस वक्त तक कानून नहीं बनता, जब तक लार्ड उसे स्वीकार न कर लें, यद्यपि जनसत्तावाद ने उनके अधिकारों के पर काट दिये हैं, फिर भी यह जब अवसर पाते हैं रोडे अटकाते जाते हैं। अब इस प्रान्त म भी ऐसी ही अमीरों की संस्था कायम करने का प्रस्ताव किया जा रहा है। उसमें हमारे राजे ताल्लुकेदार और नवाब आदि होंगे अभी तक तो उनकी रक्षा सरकार करती थी। जनता परिश्रम करती थी, वे उनका फल खाते थे। आने वाली व्यवस्था में जनसत्ता की प्रधानता होने की संभावना है, इसलिए यह वर्ग इस दूसरी संस्था-द्वारा जनता के विकास में बाधा खड़ी करने की चेष्टा कर रहा है। जनता का विश्वास उस पर नहीं है। और जनता-द्वारा उनका चुना जाना असंभव-सा ही है। ऐसी अवस्था में वे अपनी रक्षा के लिए कोई मार्ग ढूंढ रहे हैं। अगर दूसरा मेम्बर स्थपित हो गया, तो उनकी कामना पूरी हो जायगी और वे ऐसे कानूनों का विरोध कर सकेंगे, जिनसे उनके स्वार्थ या अधिकार को धक्का लगता हो, अगर इस युग में अब भी स्वरक्षित स्थानों की गुंजाइश नहीं है। हमारे रईसों को समझ लेना चाहिए कि वे जनता के सेवक बनकर ही रह सकते हैं। स्वामी बनकर नहीं। हवा के साथ चलकर संभव है, उनकी नाव किनारे पर पहुंच जाय। हवा के विरुद्ध चलकर वह बीच ही में रह जायगी। अगर हमारे जमींदार और ताल्लुकेदार अपने भविष्य को संकट में नहीं डालना चाहते, तो उन्हें सेवा-भाव से जनता में

रहना होगा। जनता के दु:ख-सुख में शरीक होकर, उनकी कठिनाइयों को दूर करने में सहायक बनकर, उनकी सुविधाओं को बढ़ाकर वे अब भी उनके आदर और भक्ति के पात्र बने रह सकते हैं। उन्हें कुचलकर और अपने स्वार्थ का केवल यंत्र बनाकर अब वे सुख से नहीं सो सकते।

[संपादकीय। 'जागरण', 14 नवम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश का प्रश्न

एक बार फिर सरकार ने अपने व्यवहार से भारत को एहसान के नीचे दबा दिया है। पूना के समझौते को तत्काल स्वीकार करके उसने सहृदयता का परिचय दिया था और ठीक उस वक्त, जब उसने मौलाना शौकतअली को महात्मा गांधी से यरवदा में मिलने का अवसर न देकर समग्र भारत में असंतोष और निराशा का वातावरण उत्पन्न कर दिया था, हरिजनों के उद्धार के विषय में महात्मा जी को लिखा पढ़ी करने और मिलने-मिलाने की अनुमति देकर फिर देश को अनुगृहीत किया है। इतने महान और युगान्तकारी आन्दोलन को जेल के अन्दर से संचालित करना कठिन है, यह सभी समझ सकते हैं। और यदि सरकार ने इस अवसर पर महात्मा जी को मुक्त कर दिया होता, तो कहना ही क्या था, लेकिन सरकार ने जो कुछ भी किया है, उसके लिए हम उसके कृतज्ञ हैं।

महात्मा जी ने सबसे पहले हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश का प्रश्न लिया है। भारत धर्म-प्रधान राष्ट्र है और आज भी धर्म हमारे जीवन का सबसे महत्वपूर्ण भाग है। पढ़े-लिखे समाज में चाहे धर्म केवल ढोंग रह गया हो और मन्दिर प्रवेश को चाहे वे एक व्यर्थ-सी बात समझते हों, और वास्तव में समझते भी हैं, लेकिन जनता अभी तक अपने धर्म को और अपने देवताओं को प्राणों से चिपटाये हुए हैं। उत्तर भारत में तो कुछ देवता ऐसे भी हैं, जिनके पुरोहित हमारे हरिजन भाई ही हैं। जिस गांव में चले जाइये, चमारों या भरों के पावं में आपको किसी नीम के वृक्ष के नीचे दस बीस मिट्टी के बड़े बड़े हाथी, लाल रंगे हुए एक जगह रखे हुए मिलेंगे। वहीं एक त्रिशूल भी गड़ा होगा। एक लाल पताका भी पेड़ से बंधी होगी। यह देवी का स्थान है, इस चबूतरे का पुजारी कोई चमार, पासी या भर होगा। वर्ण वाले हिन्दू स्त्री-पुरुष बड़ी श्रद्धा से देवी के चबूतरे पर जाते हैं, वहां बताशे, धूप-दीप, फूल-माला आदि चढ़ाते हैं। जब वर्ण वाले हिन्दुओं को हरिजनों को हरिजनों के इन देवताओं की उपासना करने और हरिजनों को अपना पुरोहित बनाने में शर्म नहीं आती—घृणा का भाव तो वहां किसी तरह आ ही नहीं सकता—तो हम नहीं समझते कि हरिजनों के हिन्दू-मन्दिरों में आ जाने से कौन-सा अधर्म हो जायगा। डा॰ अम्बेडकर ने महात्मा जी से इस विषय में मतभेद प्रकट करते हुए कहा है कि अछूतों को मन्दिर-प्रवेश की उतनी जरूरत नहीं है, जितनी इस बात की कि साधारण हिन्दू उनसे सज्जनता का व्यवहार करें, और उन्हें अपने बराबर समझें, लेकिन इसका प्रमाण क्या होगा कि हिन्दू किसी अछूत से सज्जनता का व्यवहार कर रहा है। खाने-पीने की सम्मिलित प्रथा अभी तक हिन्दुओं में ही नहीं है, अछूतों के साथ कैसे हो सकती है। शहरों के दो-चार सौ आदमियों के अछूतों के साथ भोजन कर लेने से यह समस्या हल नहीं हो सकती। शादी-ब्याह इससे भी कठिन प्रश्न है। जब एक ही जाति की भिन्न-भिन्न शाखाओं

में परस्पर शादी नहीं होती, तो अछूतों के साथ यह सम्बन्ध कैसे हो सकता है। ये दोनों ही प्रश्न अभी बहुत दिनों में हल होंगे, अर्थात् उस समय जब हिन्दू-जाति भेद-भाव को मिटा देगी। इस तरह की कैदें ईसाइयों और मुसलमनों में भी हैं खानदानी मुसलमान कभी अपनी लड़की का विवाह किसी नीचे मुसलमान—धुने, जुलाहे, मेहतर—से करना पसन्द नहीं करेगा, चाहे वह कितना ही शिक्षित और धनी क्यों न हो। ईसाइयों में भी कुछ इसी तरह की पाबन्दियां हैं। हां, इन दोनों मतों के अनुयायी चाहे किसी श्रेणी या पेशे के हों, बिना किसी रोक-टोक के मसजिदों और गिरजाघरों जा सकते हैं। भाईचारे या बराबरी का यही एक व्यवहार है, जो अन्य धर्मों में प्रचलित है और इसी एक व्यवहार के हिन्दू धर्म में न होने से इस धर्म के माथे पर इतना बड़ा कलंक लगा हुआ है।

हिन्दू-समाज में इस विषमता के सबसे बड़े समर्थक हमारे शास्त्रोपजीवी लोग हैं। वे अभी तक यही पुरानी लकीर पीटते जाते हैं कि स्मृतियों में कहीं इस तरह की समानता का प्रमाण नहीं मिलता। लेकिन जब वेदान्त कहता है कि सम्पूर्ण ब्रह्मांड में केवल एक आत्मा व्याप्त है, उसमें इस तरह का भेद कहां से आ सकता है। यह ठीक है कि हरिजनों में अभी बहुत-सी गंदी आदतें हैं—वे शराब पीते हैं, गंदा काम करते हैं और मुरदार खाते हैं, लेकिन हिन्दू-समाज ज्योंही उन्हें अपने अन्दर स्थान देगा, ये सारी बुराइयां आप ही आप मिट जायेंगी। अभी तो हरिजन समझता है कि वह हिन्दुओं से पृथक् है, जो चाहे करे, जो चाहे खावे, इनका उसके ऊपर कोई असर नहीं पड़ता, लेकिन जब वह हिन्दुओं में आदर का स्थान पा जायगा, तो स्वभावत: उसकी रक्षा करेगा।

अतएव मन्दिर प्रवेश का प्रश्न इस समय सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न है और इसका हल जल्द न किया गया, तो भय है कि महात्मा जी फिर से अनशन शुरू न कर दें, क्योंकि महात्मा जी के लिए इस विश्वास को दिल से निकाल डालना असंभव है कि हिन्दू-शास्त्रों ने अस्पृश्यता का आरोपण किया है। अगर यही हिन्दू-धर्म है जिसका अब उन्हें परिचय मिल रहा है, तो जैसा उन्होंने स्वयं कहा है, उनके लिए जीवन में कोई आनन्द न रह जायगा। देखें हिन्दू-समाज इसका क्या जवाब देता है।

[संपादकीय। 'जागरण', 14 नवम्बर 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

अछूतों को मंदिरों में जाने देना पाप है

'वाइसराय की सेवा में डेपुटेशन जा रहा है'
वर्णाश्रम स्वराज्य-संघ का आन्दोलन

मंगल के दिन संध्या-समय काशी के गर्द-भरी सड़कों पर वह दृश्य देखने में आया, जो हिन्दू-जाति के लिए लज्जाजनक ही नहीं, हास्यास्पद भी था। दो ढाई सौ संस्कृत पाठशालाओं के छात्र हाथों में लाल झण्डे लिए, एक जुलूस के रूप में यह हांक लगाते चले आ रहे थे—

'अछूतों को मन्दिरों में जाने देना, पाप है।'

हांक का पहला अंश एक आदमी के मुख से निकलता था, और दूसरा अंश सैकड़ों कंठों से कोरस के रूप में निकल रहा था, लेकिन आवाजों में उत्साह न था, भक्ति न थी,

अनुराग न था। ऐसा जान पड़ता था जैसे कोई जीर्ण रोगी मृत्युशय्या पर पड़ा हुआ कराह रहा है। जुलूस के पीछे एक जोड़ी थी, जिस पर कई वाचस्पति और मार्तण्ड फूलों के हारों से लदे, विद्या के निर्जीव भार से दबे, गर्वोन्नत भाव से बैठे हुए थे। विद्या का अभिमान उन्हें धरती पर पांव न रखने देता था, जैसे कोई सेनापति अपने सैनिकों को पहली पंक्ति में खड़ा करके आप सबके पीछे निश्चिन्त बैठा हुआ हो। या यों कहिए कि यह महानुभाव उस बरात के दूल्हे थे, जिसे अपने पद की गरिमा जमीन पर पांव न रखने देती थी। इस नाजुक मौके पर भी जब उनके विचार में हिन्दू-धर्म पर चारों ओर से आक्रमण हो रहे हैं, वे अपनी महानता को नहीं भूल सकते। इधर महात्मा गांधी को देखिए। साबरमती से डांडी की तरफ प्रस्थान कर रहे हैं। आगे आप हैं, पीछे उनके सिपाही हैं। अपने उत्सर्ग से अपने सैनिकों के उत्सर्ग की शक्ति का संचार करते हुए चले जा रहे हैं। इन फीटन-आरोही मार्तण्डों में एक पुरी के श्री 108 शंकराचार्य भी थे। इस निवृत्ति की उस प्रवृत्ति से तुलना कीजिए। वह संसार की सबसे महान शक्ति के सामने, न्याय के बल और आत्मा के विश्वास के साथ, एक जाति के उद्धार के लिए अग्रसर हो रही है, और यह न्याय को पैरों से कुचलती, आत्मा की आंखों पर परदा डाले हुए, जाति के दलित और पीड़ित अंग को ठोकरें मार रही है। फिर क्यों न धर्म का संसार से ह्रास हो, क्यों न रूस वाले धर्म को अफीम का नशा समझें क्यों न गिरजे ढाये जायं, और धर्म को कलंकित करने वाले इन स्तम्भों का समाज से बहिष्कार कर दिया जाय। विद्या अगर आदमी को उदार बनाती है, उसमें सत्य और न्याय के ज्ञान को जगाती है, उसमें इन्सानियत पैदा करती है, तो वह विद्या है—अगर वह अभिमान बढ़ाती है, स्वार्थपरता की वृद्धि करती है तो वह अविद्या से भी बदतर है। ऐसी विद्या से मूर्खता हजार गुनी अच्छी। धर्म का मूल तत्व आत्मा की एकता है। जो आदमी इस तत्व को नहीं समझता, वह वेदों और शास्त्रों का पंडित होने पर भी मूर्ख है, जो दुखियों के दु:ख से दु:खी नहीं होता, जो अन्याय देखकर उत्तेजित नहीं होता, जो समाज में ऊंच-नीच, पवित्र-अपवित्र के भेद को बढ़ता है, वह पंडित होकर भी मूर्ख है।

हमारे पास अंग्रेजी में छपा हुआ वाइसराय के नाम एक मेमोरियल, वर्णाश्रम संघ का, आया है। उस पर बड़े-बड़े तर्क चूड़ामणियों और विद्यावाचस्पतियों के हस्ताक्षर है। वाइसराय से फरियाद की गयी है कि वह हिन्दू मंदिरों की अछूतों से रक्षा करें। वाह रे मार्तण्डो ! क्यों न हो, कितनी दूर की सूझी है। अब भी अगर वाइसराय की खुशनूदी का परवाना न मिले, तो आप लोगों का दुर्भाग्य है। आपकी सेवा में दूसरे व्यवस्था लेने आया करते थे। आपका फतवा बड़े-बड़े मसलों को हल कर दिया करता था और आज आप एक धर्म के विषय को लिये वाइसराय के पास, कुत्तों की तरह दुम हिलाते दौड़े हुए, चले जा रहे हैं। वह आपकी विद्या कहां गयी? आप हिन्दू-समाज को अपने तर्कों से, प्रमाणों से, अपने धर्म-ज्ञान से क्यों नहीं उस रास्ते पर लाने में सफल हो रहे हैं, जिसे आप सीधा रास्ता समझते हैं। क्यों आपको इसका विश्वास नहीं है, कि हिन्दू जनता आपका समर्थन करेगी? इसलिए कि आप में आत्म-विश्वास नहीं है, स्वार्थ-लिप्सा और अभिमान ने आपकी आत्मा को दुर्बल बना दिया है। यह वही हिन्दू जाति है, जो आपके चरणों की रज माथे पर लगाकर अपने को धन्य मानती है, जो आपकी बातों को ब्रह्म-वाक्य समझती है, मगर आज आपकी, उसी नजरों में, अणु-मात्र भी प्रतिष्ठा नहीं है। हो सकता है, थोड़े से अर्धशिक्षित धनवान मारवाड़ियों के दिल में आज भी

आपके प्रति श्रद्धा हो, पर जिसे शिक्षित समाज कहते हैं, उसकी नजरों में आपकी कोई प्रतिष्ठा नहीं है, और कोई सम्प्रदाय शिक्षितों की अवहेलना करके जीवित नहीं रह सकता। हिन्दू समाज की और राष्ट्र की जो वर्तमान अधोगति हो रही है, उसके जिम्मेदार आप ही जैसे लोग हैं, और हिन्दू जाति अब आपके पीछे आंखें बन्द करके चलने को तैयार नहीं। आपने आठ करोड़ हिन्दुओं को मुसलमान बना दिया। यह छः करोड़ अछूत भी आपके ही विद्यावाण के बेधे हुए हैं, क्या हिन्दू-धर्म संसार से मिटा कर ही दम लेंगे—आपको अपना हित भी नजर नहीं आता?

क्या मंदिरों के पुजारियों और मठों के महंतों से हिन्दू जाति बनी हुई है? पूजा करने वाले भी रहेंगे, या पूजा कराने वाले ही मंदिरों को स्थायी रखेंगे?

एक वह जातियां हैं, जो दूसरों को अपने में मिलाकर फूली नहीं समातीं। आज एक चमार मुसलमान हो जाय, सारा मुसलिम-समाज उसका स्वागत करेगा, लेकिन यह मेमोरियलबाज लोग, जो हिन्दू जाति के रक्षक होने का दावा करते हैं, यह भी नहीं सह सकते कि कोई बाहर का आदमी उनके देवताओं के दर्शन कर सके। अछूत के पैसे तो आप बेधड़क ले लेते हैं अछूत कोई मंदिर बनावे, आप दल-बल के साथ जायंगे, मंदिर में देवता की स्थापना करेंगे, और तर माल खायेंगे—हां अछूत ने छुआ न हो—दक्षिणा लेंगे, इसमें कोई पाप नहीं, न होना चाहिए, लेकिन अछूत मंदिर में नहीं जा सकता, इससे देवता अपवित्र हो जायंगे। अगर आपके देवता ऐसे निर्बल हैं कि दूसरों के स्पर्श से ही अपवित्र हो जाते हैं, तो उन्हें देवता कहना ही मिथ्या है। देवता वह है जिसके सम्मुख जाते ही चांडाल भी पवित्र हो जाय। हिन्दू उसी को अपना देवता समझ सकता है। पतितों का उद्धार करने वाले ठाकुर ही हमारे ठाकुर हैं, जो पतितों के दर्शन-मात्र से पतित हो जायं, ऐसे ठाकुर को हमारा दूर से ही नमस्कार है।

कहा जाता है कि अछूतों की आदतें गंदी हैं, न वे रोज स्नान नहीं करते, निषिद्ध कर्म करते हैं, आदि। क्या जितने सछूत हैं, वे रोज स्नान करते हैं, क्या कश्मीर और अल्मोड़ा के ब्राह्मण रोज नहाते हैं? हमने इसी काशी में ऐसे ब्राह्मणों को देखा है, जो जाड़ों में, महीने में एक बार स्नान करते हैं। फिर भी वे पवित्र हैं। यह इसी अन्याय का प्रायश्चित्त है कि संसार के अन्य देशों में हिन्दू-मात्र को अछूत समझा जाता है। फिर शराब क्या ब्राह्मण नहीं पीते। इसी काशी में हजारों मदसेवी ब्राह्मण—और वह भी तिलकधारी—निकल आयेंगे, फिर भी वे ब्राह्मण हैं। ब्राह्मणों के घरों में चमारियां हैं, फिर भी उनके ब्राह्मणत्व में बाधा नहीं आती, किन्तु अछूत नित्य स्नान करता हो, कितना ही आचारवान् हो, वह मंदिर नहीं जा सकता। क्या इसी नीति पर हिन्दू धर्म स्थिर रह सकता है? इस नीति के कुफल हम देख चुके, अब सावधान हो जाना चाहिए।

हमारी समझ में नहीं आता कि किस मुंह से यह दावा कर सकते हैं कि हम पवित्र और अमुक अपवित्र है। किसी ब्राह्मण महाजन के पास उसी का भाई ब्राह्मण असामी कर्ज मांगने जाता है, ब्राह्मण महाजन एक पाई भी नहीं देता, उस पर उसका विश्वास नहीं है। वह जानता है, इसे रुपये देकर इससे वसूल करना मुश्किल हो जायगा। उसी ब्राह्मण महाजन के पास एक अछूत असामी जाता है और बिना किसी लिखा-पढ़ी के रुपये ले आता है। ब्राह्मण को उस पर विश्वास है। वह जानता है कि यह बेईमानी नहीं करेगा। ऐसे सत्यवादी, सरल हृदय, भक्ति-परायण लोगों को हम अछूत के नाम से पुकारते हैं, उनसे घृणा करते हैं, मगर हमारा

विश्वास है, हिन्दू-समाज की धार्मिक चेतना जागृत हो गयी है, अब ऐसे अन्यायों को सहन न करेगा। राष्ट्रों के जीवन का रहस्य उसकी समझ में आ गया है, ऐसी नीति का साथ न देगा जो उसके जीवन की जड़ काट रही है।

[संपादकीय। 'जागरण', 21 नवम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

अमेरिका के कर्जदार

बहुत दिनों से ब्रिटेन तथा फ्रांस और इटली इस बात की कोशिश कर रहे हैं कि विगत महासमर के समय उन्होंने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका से जो कर्जा लिया है, वह फिलहाल कुछ समय के लिए वसूल करना मुल्तवी कर दिया जावे तथा आगे चलकर उसकी बहुत बड़ी रकम माफ कर दी जावे। संयुक्त राष्ट्र के राष्ट्रपति के निर्वाचन के बाद यह बात यकायक बहुत जोर-शोर से सामने आ गयी है। अमेरिका को इसी पन्द्रह दिसम्बर को ब्रिटेन से नौ सौ पचपन लाख तथा फ्रांस से एक सौ नबे लाख सिक्के पावने हैं। दोनों ही महादेश समझौते की तान छोड़कर इस मौके को टलवा देना चाहते हैं। इस विषय में दोनों देशों की ओर से सरकारी तौर पर प्रार्थना-पत्र वाशिंगटन भेजा जा चुका है। और वर्तमान अमेरिकन राष्ट्रपति हूवर तथा नव अर्ध-निर्वाचित् राष्ट्रपति रुजवेल्ट में शीघ्र ही इस विषय में परामर्श होने वाला है।

अमेरिका अब उतना धनी नहीं है, जितना हम उसको समझा करते थे। कम से कम सरकारी बजट में चार सौ अस्सी लाख रुपये की कमी पड़ती जा रही है। और बेकारों की तादाद दो करोड़ तक पहुंचा चाहती है। असफल बैंकों की संख्या लगभग एक सौ पचास तक, इधर दो वर्ष के भीतर पहुंच चुकी है। इसलिए अमेरिकन जनता योरोप से अपना पूरा लेना-पावना वसूल कर अपना घर संभाला चाहती है और अमेरिकन कांग्रेस, अमेरिकन राष्ट्रपति तथा मंत्रणा परिषद् ने एक स्वर में यह घोषाण कर दी है कि वह अपना कर्जा नहीं छोड़ सकते। उसे चुका ही देना चाहिए।

फिर भी अमेरिकन सरकार इतना टका सा जवाब नहीं देना चाहती थी। उसने एक ऐसा गोल-मटोल जवाब दिया है कि ब्रिटेन तथा फ्रेंच राजनीतिज्ञ भी चक्कर में हैं। हूवर का कथन है कि यदि ये राष्ट्र अपना पूर्णत: निरस्त्रीकरण कर देवें तो अमेरिका को भी जो समानुपातिक शस्त्रीकरण करना पड़ता है, उसका खर्चा घट जावेगा। इस प्रकार जो अपराक्ष लाभ होगा, उसका विचार कर अमेरिका इस प्रस्ताव पर किंचित् विचार कर सकता है।

हमारी सम्मति में ब्रिटेन तथा फ्रांस जब तक इस बात को स्वीकार नहीं करते, उन्हें कोई मुंह नहीं है कि वे अमेरिका से किसी प्रकार की उदारता की आशा करें। इसके अतिरिक्त स्वयं उन्होंने अपने कर्जदार जर्मनी के साथ जब तक उनका वश चला क्या कभी रियाअत दिखलायी है? जर्मनी ने तो कर्जा भी न लिया था, केवल उससे दण्ड के रूप में जबर्दस्ती रुपया वसूल किया जा रहा था और जमानत के रूप में जर्मनी की उर्वर घाटी रूर को अपने कब्जे में रखकर फ्रेन्च जाति ने बड़ा अन्याय किया था। जर्मनी की आत्मा तथा उसकी समृद्धि को कुचलने का ही अभिशाप फ्रेन्च सरकार के सिर पर नहीं है, उसने एक और गुरुतर पाप किया है, जिससे समूचा विश्व त्रस्त है। फ्रांस से जहां तक हो सका, उसने दुनिया का आधा सोना बटोर कर अपने खजाने में भर लिया। अब, हम देखते हैं कि दुनिया भर के रुपये के

बाजार की आंख आ गयी है, वस्तुओं की कीमत गिर गयी है तथा विनियम की गड़बड़ी से बड़ा हाहाकार मचा हुआ है। फ्रान्स इस समय कहीं अच्छी हालत में है और कर्ज न चुकाने के बहाने वह केवल अपनी सेना बढ़ाना चाहता है।

ब्रिटेन ने अपने कर्जदारों के साथ कैसा बर्ताव किया, यह जाने दीजिए। उसने अपने मातहत कर्जदारों के साथ क्या किया। गरीब भारत ने महासमर तथा नयी दिल्ली के निर्माण में ही विशेषत: ब्रिटेन से ही कर्ज लिया था। नयी दिल्ली का वैभव गरीब भारत के लिए व्यर्थ की चीज है तथा उससे ब्रिटिश वैभव की ही प्रतिष्ठा प्रस्थापित होती है। महासमर की विजय से गरीब भारत को क्या मिला? इसलिए यदि ब्रिटेन अपना संकट समझता है, तो वह दूसरों के संकट का भी ध्यान रखे। उसे चाहिए कि गरीब भारत की दुर्दशा का विचार करते हुए उससे जो कर्ज की अदायगी करानी है, माफ कर देवे। उदारता एक दैवी वस्तु है तथा उसका फल सुदूरवर्ती होता है। यदि ब्रिटेन भारत के प्रति उदार होगा, तो अमेरिका को भी ईश्वर सुबुद्धि देगा कि वह ब्रिटेन के प्रति उदार हो जावे, किन्तु इसके विपरीत हो रहा है कि ब्रिटेन ने भारतीय विनियम को असंयमित तथा बंधन मुक्त कर यहां के सोने को अपने यहां खींचना शुरू कर दिया है। यदि ब्रिटेन भारतीय कष्ट को न समझेगा, तो अमेरिका ब्रिटिश कष्ट को क्यों समझे?

[संपादकीय। 'जागरण', 21 नवम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

काशी म्युनिसिपल बोर्ड-1

संयुक्त प्रान्तीय कौंसिल में, एक प्रश्न के उत्तर में सरकार की ओर से कहा गया था कि काशी म्युनिसिपल बोर्ड की जांच के लिए नियुक्त समिति की सर्वसम्मत रिपोर्ट है कि बोर्ड को मुअत्तल कर दिया जावे तथा प्रबन्ध सरकार अपने हाथ में ले ले। काशी म्युनिसिपल बोर्ड के प्रबन्ध के विषय में हमें भी जबरदस्त शिकायत है तथा हम भी यह स्वीकार करते हैं कि बोर्ड का प्रबन्ध अनेक कारणों से बहुत ही असन्तोषजनक है। फिर भी, हमारी धारणा है कि इस बोर्ड में कई ऐसे कर्मचारी हैं, जो बहुत ही योग्य हैं, कई ऐसे मेम्बर हैं जो बड़े परिश्रमी तथा निस्पृह सेवक हैं, पर अभी तक अनेक कारणों से उनको पर्याप्त सेवा का अवसर नहीं मिला है। राजनीतिक कारणों से नगर के प्रथम श्रेणी के नागरिक बोर्ड की ओर से उदासीन रहे हैं, कुछ को जेल यातनाओं के कारण काम करने का मौका ही नहीं मिला है। बोर्ड के कार्यों में पूरी दिलचस्पी स्वयं उनके सदस्य या चेयरमैन भी नहीं लेते, इसके सबसे ताजे उदाहरण हमारे सामने कई हैं, पर यदि राजनीतिक परिस्थिति सुधरे तथा सरकार नगर निवासियों की निर्वाचक-योग्यता बढ़ा, पुन: निर्वाचन करा दे, तो कोई कारण नहीं है कि नगर का पूरा सुधार न हो जावे, तथा बोर्ड का काम ठीक रास्ते पर आ जावे। पर सरकारी प्रबन्ध में बोर्ड की हालत सुधरेगी, यह निश्चित नहीं है, जब तक बोर्ड सरकार के हाथ में थी, कोई विशेष उन्नति नहीं हुई। लाखों का कर्जा और सफाई की हीन-दशा दोनों ही छोड़कर सरकार ने गैर-सरकारियों के हाथ में बोर्ड का इंतजाम सौंपा था। अब किस प्रकार आशा की जावे कि सरकार अधिक सफल होगी ! काशी की जो कुछ उन्नति हुई है, वह गैर-सरकारी बोर्ड के ही कार्य-काल में, और हमारी सम्मति में गैर-सरकारी प्रबन्ध सदैव उत्तम होता है, कम से कम निरंकुश नहीं होता।

कौंसिल के पिछले अधिवेशन में श्रीयुत गजाधरप्रसाद का यह प्रस्ताव बड़ा उपयोगी था कि स्थानीय शासन-विभाग के मंत्री किसी बोर्ड के विषय में कार्रवाई करने के पहले कौंसिल से परामर्श कर लिया करें। यद्यपि यह प्रस्ताव गिर गया, पर क्या हम आशा करें कि काशी के विषय में कोई निश्चय करने के पहले कौंसिल से परामर्श कर लिया जावेगा !

[संपादकीय। 'जागरण', 21 नवम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

महात्माजी की स्वाधीनता

पिछले अंक में हमने पाठकों की ओर से ब्रिटिश सरकार को यह धन्यवाद दिया था कि उसने महात्माजी पर से इतनी बाधाएं उठा ली हैं कि वे अछूतोद्धार का कार्य कर सकते हैं, किन्तु इसके साथ ही, हमें यह देखकर खेद हो रहा है कि सरकार महात्माजी को एक अत्यन्त गम्भीर तथा गुरुतर कार्य करने की आज्ञा देती हुई उसी के समान महत्वपूर्ण अन्य कार्य भी नहीं करने देती। एसेम्बली की बैठक में, गत पन्द्रह नवम्बर को श्री गयाप्रसादसिंह ने होम मेम्बर मि हेग से इस विषय में जो प्रश्नोत्तर किये थे, उससे यही प्रतीत होता है कि सरकार इस प्रश्न को केवल टाल देना चाहती है। आखिर क्या कारण है कि अछूतों को हिन्दुओं से एक करना राजनीतिक कार्य नही समझा जाता पर मुसलमानों को हिन्दुओं से एक करना राजनीतिक कार्य समझा जाता है और सरकार महात्माजी को इस बात के लिए अवसर नहीं देना चाहती। मान लिया जावे कि उसे यह भय हो कि एकता के बहाने महात्माजी सत्याग्रह के समर्थकों से भी मिलकर कांग्रेस-कार्य कर सकते हैं, पर उन्हें सत्याग्रह के शत्रु मौलाना शौकतअली से भी न मिलने देना क्या अर्थ रखता है? इसी से लोगों को शुबहा होता है, कि सरकार मुसलमानो को अपना ही समझती है और इसलिए वह मुसलमानों को हिन्दुओं से नहीं मिलने देना चाहती, पर हिन्दू-मुसलिम ऐक्य को वह एक भयंकर राजनैतिक ऐक्य का प्रारम्भ समझकर उससे बेहद घबड़ाती है। जो भी हो, पर इस ऐक्य से इतना अधिक लाभ है, कि उसका महत्त्व वर्णन नहीं किया जा सकता और सरकार यह बड़े भारी परोपकार का कार्य करती यदि वह महात्माजी का ऐक्य प्रतिपादन में सहायक होने देती।

मि हेग ने इस विषय में सरकार की ओर से जितनी बातें कही हैं, उनमें से कोई भी ऐसी नहीं है, जिससे हमें उनके तर्क का तात्पर्य समझ में आ सके। मि॰ हेग का यह कहना कि अब तो सिंध का समझौता हो जाने के बाद मि॰ गांधी की कोई जरूरत ही नहीं है, एक प्रकार से प्रयाग के एकता-सम्मेलन की खिल्ली उड़ाना है। श्री नवलराय के यह पूछने पर कि क्या सरकार महात्माजी को हिन्दू मुसलिम समझौता हो जाने पर भी, उसमें भाग लेने न देगी, मि हेग ने कहा था कि "सम्मानित सदस्य को यह याद रखना चाहिए कि वे राजनैतिक-कैदी हैं।" इस उत्तर से यह स्पष्ट है कि सरकार राजनैतिक-कैदी की अपनी मनमानी व्याख्या भी करती है—महात्माजी ऐसे राजनैतिक कैदी हैं, जिन्हें कोई भी हक सरकार दे सकती है। ऐसी परिस्थिति में, हमें यह देखकर बड़ा खेद होता है कि जहां अपने एक कार्य से सरकार प्रजा की प्रशंसा की पात्र बन जाती है, वहीं वह किसी अनुचित कार्य-द्वारा उतनी ही निन्दा भी प्राप्त करती है।

[संपादकीय। 'जागरण', 21 नवम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

सिंध का समझौता

प्रयाग के एकता-सम्मेलन के विषय में आशा और निराशा

ाती तथा नष्ट होती रहती है। एक ओर सम्मेलन हो रहा है, महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय, मौलना अबुलकलाम आजाद, शेख अबदुलमजीद तथा श्री विजयराघवाचारियर रोज पन्द्रह-बीस घण्टे तक लगातर परिश्रम कर समझौते का मस्विदा तैयार करना चाहते हैं। दूसरी ओर कलकत्ते में मि० चैटर्जी तथा दिल्ली से एसेम्बली के सदस्य मि० वी० दास सम्मेलन सम्बन्धी अपनी असामयिक घोषणाओं से तथा सर मुहम्मद इकबाल और मि० गजनवी ऐसे 'साम्प्रदायिकता की दीवाल पर चढ़कर ऊंचे उठने वाले' राजनीतिज्ञों की प्रार्थनाओं से उसकी विफलता की भी गुंजाइश दीखती है, किन्तु भारत की राजनैतिक परिस्थिति इस समय इतनी डांवाडोल है, तथा उसके सामने समस्याओं की इतनी भरमार है, कि यदि वह इसी प्रकार सम्मेलन करता और असफल होता जावेगा, तो उसका सर्वनाश विशेष दूर नहीं है। एसेम्बली में मि० दास की सेवाओं की सराहना करते हुए भी हम अपने सामने सबसे ताजे पत्रों में, सम्मेलन के प्रति उनकी निन्दात्मक तथा इलाहाबाद के बाद पुन: दिल्ली एकता-सम्मेलन करने की सलाह की भर्त्सना किये बिना नहीं रह सकते। यह तो किसी बात का न होने देन का उपाय है। सम्मेलनों में प्रत्येक दल अपने स्वार्थ को उग्रतम रूप में पेश करता है। जितनी मांगें पेश की जाती हैं, उनका अर्थांश भी तो नहीं मिलता। फिर, माग पेश करते ही नाउम्मेद हो जाना, निरी जल्दबाजी है। एकता-सम्मेलन की जो थोड़ी बहुत रिपोर्टें प्रकाशित हुई हैं तथा हमें स्वयं इस विषय में जो निजी बातें ज्ञात हैं, उनमें यह स्पष्ट है, कि हिन्दुओं ने अपनी ओर से और मुसलमनों ने भी अपनी ओर से अधिक से अधिक खींचातानी करने में कोई कोर-कसर बाकी नहीं रखी, किन्तु इसके लिए किसी की निन्दा करना तब सभव था, जब किसी की जिद से समझौते की दीवाल चकनाचूर हो जाती, पर अभी तक के समाचारों से यह प्रकट है, कि उभय पक्ष ने अधिक से अधिक सहूलियत से काम लिया है और इसी प्रकार की प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप अन्त में सिन्ध के प्रश्न पर काम-चलाऊ समझौता हो ही गया इसलिए, समूचा राष्ट्र इस निस्पृह असीम साहस से परामर्श करने वाले सम्मेलन सदस्यों के प्रति कृतज्ञता से विनयावनत है, बधाई देता है।

सिंध का समझौता काम चलाऊ है, यह लिखते भी हमको संकोच नहीं होता। समझौता करने वालों ने ही इसे दस वर्ष के लिए प्रयोगात्मक बनाया है तथा आर्थिक कमी को पूरा करने के लिए, निर्वाचन आदि के विषय में विचार करने के लिए, इस माह के अन्त में सिंध में ही सम्मेलन कर, निर्णय करने का निश्चय किया गया है, किन्तु इस द्वितीय सम्मेलन में कोई ऐसा प्रश्न विचारार्थ नहीं रखा गया है, जिससे समझौते की मूल बातों पर आघात हो सके। किस प्रकार से खर्च की कमी पूरी की जाय, यह कार्यक्रम तथा योजना बनाने की बात है, पर यह तय कर लेना कि निर्वाचन संयुक्त होगा, निर्वाचकों की योग्यता दोनों धर्म वालों के लिए समान होगी, मंत्रि-मंडल में कम से कम एक हिन्दू रहेगा, धर्म, तथा समाज की एकता तथा समानता, पहले ही स्वीकार कर ली जावेगी, कौंसिल में सैंतीस प्रतिशत हिन्दू मेम्बर होंगे, एक तिहाई सरकारी नौकरियां हिन्दुओं के लिए सुरक्षित रहेंगी तथा साठ प्रतिशत

नौकरियों पर नियुक्त प्रतिस्पर्धा की परीक्षाओं द्वारा होगी, बहुत बड़ी बात है। यहां समूची योजना देने की जरूरत नहीं है। इतनी ही बातें बतला देने से पाठकों को यह स्पष्टतया मालूम हो जायेगा कि हिन्दू- हितों की रक्षा के लिए इतनी गुजाइशें काफी हैं। बहुत-सी बातें केवल कोरे कागज से ही, समझौता करने से तय नहीं हो सकतीं। यदि अविश्वास का भूत ही मंडराता रहा, तो हरेक को एक दूसरे के काम में खराबी और नीयत में शुबहा मालूम होगा, पर जब दो समुदाय एक साथ ही एक देश के सुख-दु:ख के जिम्मेदार होंगे, जब दोनों का हित उस प्रान्त की समृद्धि तथा प्रगति के साथ जुड़ा रहेगा, तब पारस्परिक विरोध उतना कभी नहीं रह सकता और इस समय सिंध के समझौते में जो अधूरापन मालूम होता है, वह क्रियात्मक रूप से शासन-विधान को काम में लाने से दूर हो जावेगा।

यह अच्छा होता—शायद सरल होता—यदि हमारे पारस्परिक समझौते को प्रशस्त बनाने के लिए सरकार यह ऐलान कर देती कि यह केन्द्रीय शासन में जिम्मेदारी देगी, या कहां तक देगी, हमें अधिकार कहां तक या किस सीमा तक मिलेगा—यह न मालूम रहने के कारण ही आज इतनी गड़बड़ मची हुई है। एक प्रकार से हम अन्धकार से ही पैंतरे बदल रहे हैं। इसीलिए, द्वितीय गोलमेज के अवसर पर महात्मा जी ने साफ कहा था कि यदि सरकार हमारा हित चाहती है, तो पहले बतला दे कि वह कहां तक हमें अधिकार देगी, सरकार की ओर से केवल बुझौवल बुझायी जा रही है। सिंध का मसला अभी तक एकता- सम्मेलन में इसीलिए नहीं तय हो रहा था कि सिन्धी हिन्दू चाहते थे—हमें तभी बम्बई से पृथक् किया जावे, जब केन्द्रीय सरकार में जिम्मेदार शासन मिल जावे। मुसलमान किसी प्रकार की शर्त नहीं चाहते थे।

किन्तु, ईश्वर की कृपा से यह बाधा दूर हो गयी और समझौता हो गया। अब, आशा है कि पंजाब तथा बंगाल का भी प्रश्न हल हो जावेगा। इसी के साथ ही, क्या सम्मेलन उडीसा की समस्या को भी निपटा देगा? यह प्राय: पूर्णत: न्यायसंगत है कि जब बम्बई से सिंध को अलग किया जा रहा है, तो बिहार से उडीसा को भी पृथक् कर एक प्रान्त बना दिया जावे तथा उसको भी अलग कौंसिल प्राप्त हो जावे। सिन्ध के शासन में खर्च की जितनी कमी है उतनी उडीसा के लिए नहीं। उडीसा की जनसंख्या बहुत समय से अपने पृथकत्व की चेष्टा कर रही है तथा अभी तक बिहार के साथ रहने से उसकी उन्नति में जो बाधा पहुंची है, वह इसी प्रकार दूर हो सकती है।

आशा है, हमारा अगला अंक प्रकाशित होने तक एकता-सम्मेलन पूर्णत: सफल होगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 21 नवम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

एकता

एकता बड़ा मधुर शब्द है। इसके प्रत्येक अक्षर में वह जादू है, जो कवि की कल्पना अथवा अन्वेषक की बुद्धि से परे है। एकता अथवा एकरूपता में कोई अन्तर नहीं है। यह समूची सृष्टि उस परमात्मा की इच्छा के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न हुई है। उसने कल्पना की कि वह अनेक हो जावे और उसी कल्पना के विकार से यह माया जाल बना, पर सृष्टि की प्रत्येक रचना में, परमात्मा के साथ साम्य तथा सद्रूपता के अन्तर्निहित आभास रहता है। प्राणी

विवेक की शरण लेकर अविवेक से निरन्तर युद्ध करता रहता है। सबके साथ अपनी सत्ता को मिलाने की चेष्टा उसी एक विश्वात्मा में सम्मिलित कर लिये जाने का प्रयास है, जिससे विलग हो जाने से यह भेद-भाव प्राप्त हुआ था।

पृथ्वी की धूल से उत्पन्न गर्द हवा से ऊपर उड़ जाती है, पर वह चेष्टा नीचे ही गिरने की करती है। बीज से उत्पन्न फल पुनः पृथ्वी पर गिरकर बीज रूप हो जाना चाहता है। समुद्र से प्राप्त वर्षा जल में प्रवाहित सरिता पुनः समुद्र के साथ साकार होना चाहती है। सिंह तथा सिंहनी की सन्तान भी, कुछ समय तक अपने भोज्य जीवों के साथ खेलकर उनके साथ अपने साम्य का सुख लूटकर उन्हें खा जाते हैं। पेट तो भरना ही होगा, चाहे वह अपने सम्बन्धी को ही खाकर क्यों न भरें।

तब मनुष्य एकता के प्रति अनुरक्ति के लिए क्या कहा जावे। आज जो लड़ रहा है, जो झगड़ रहा है, जो आपस में एक टुकड़े के लिए कपट-जाल कर दूसरे के सत्यानाश पर तुला हुआ है, वह भी अपनी इस तृप्ति से सुखी नहीं है। लड़ना किससे और क्यों, झगड़ा किससे और क्यों? जब सब एक हैं, जब सब एक दूसरे के सुख-दुख के जिम्मेदार हैं, जब एक के पैर में कांटा चुभने से दूसरे के जी में कसक पैदा हो जाती है, जब एक की वेदना दूसरे के सुख के स्वर को भंग कर सकती है, तब विरोध किसका? जो बाल-बच्चे वाला है, वह दूसरे के बच्चे के दुःख को कैसे नहीं समझेगा? जिसके घर-द्वार है वह दूसरे के घर को फूंक कर कब तक सुखी हो सकेगा? असल में जो दुःख है वह हमारी नियत में नहीं, हमारे अविवेक में है। हमको किसी ने बहका रखा है, कि दूसरे का अपहरण तुम्हारा सुख है, दूसरे का अभाव तुम्हारी विजय ! पर इस प्रकार उमंग के दास हो जाने से, कितने दिन, किस प्रकार हम अपना कल्याण कर सकते हैं? असल में हम शांति चाहते हैं, सुख चाहते हैं, प्रेम चाहते हैं, पर जब हमारे स्वार्थ को जरा भी ठेस लगती है, जब हमारे हित को जरा भी आंच लगती है हम व्याकुल हो उठते हैं और लड़ने लगते हैं, पर यह युग इस प्रकार लड़ने से हमें सर्व सुखी नहीं कर सकता। योरोप तथा अमेरिका वालों के पास अपना झगड़ा इतना नहीं है। एक प्रकार से वह परम सुखी हैं, पर भरे पेट में शरारत सूझती है और अन्न व पराये के झगड़े को अपना बनाकर रात-दिन का कलह पैदा कर लेते हैं, इसलिए एकता का प्रश्न एक दैवी प्रश्न है और जिसे सुख की चाह हो, जिसे वह सर्वस्व प्राप्त करके एकता प्राप्त करने की लालसा करेगा, तो वह उसे कभी प्राप्त न होगी। दैवी वस्तुओं में दैवी वृत्ति चाहिए। यदि हिन्दू मुसलमान एकता प्राप्त करना चाहता है, तो उसे यह स्मरण रखना चाहिए कि न तो वह मुसलमान से जो चाहता है वह पूरा पा सकता है और न मुसलमान जितने की आशा करता था, वह कभी पूरी होगी।

यदि हम भारतीय वास्तव में एकता के प्रेमी हैं, तो हमको इस महान् सत्य को ध्यान में रखना होगा। प्रयाग में एकता-सम्मेलन हो गया। मालवीय जी ने अपनी जीवन की बाजी लगाकर इसे सफल बना दिया। जिस प्रकार नेहरू-रिपोर्ट पंडित मोतीलाल नेहरू के जीवन का सबसे बड़ा कार्य था, उसी प्रकार प्रयाग का एकता-सम्मेलन मालवीय जी के जीवन की सबसे बड़ी विजय है। इस सम्मेलन में क्या बातें तय हो गयीं, उन्हें दुहराने की जरूरत नहीं है। जो हुआ, सो हुआ, जहां तक हो गया, इस समय की अवस्था को देखते हुए काफी और अच्छा है। शिकायत की गुंजाइशें हैं, और दोनों तरफ से हैं, पर यदि एकता करनी है, तो वह

'दे-ले' कर ही हो सकती है। वह बड़ी महंगी चीज है, तपस्या से प्राप्त होती है। तपस्या के लिए त्याग चाहिए। इसलिए प्रयाग की इस सफलता को त्याग की ही सफलता समझनी चाहिए। ऐसे अवसर पर हिन्दू तथा मुसलमानों की ओर से, स्वयं डा० मुंजे ऐसे बड़े नेताओं, द्वारा भी, प्रयाग के निर्णय के विरुद्ध प्रचार देखकर हमें बड़ा खेद और आश्चर्य होता है। यदि उन्हें एकता करनी नहीं है, तो और ही बात है। यदि करनी है, तो इसका क्या तात्पर्य कि एक महान् कार्य के महान् प्रसाद को चूर्ण-विचूर्ण किया जावे।

अभी गोलमेज़ का ताजा समाचार है कि मुसलिम प्रतिनिधियों ने यह निश्चय किया है कि वे हिज हाइनेस सर आगाखां की अधीनता में मिलकर, एक साथ और एक सम्मति से कार्य करेंगे। तीसरी गोलमेज़ में सरकार ने चुन-चुनकर एकता-विरोधी मुसलिम प्रतिनिधि बुलाये हैं। भारत से रवाना होने के पहले ये प्रतिनिधि खुले शब्दों में प्रयाग-सम्मेलन की दिल्लगी उड़ाकर गये हैं। अब जब वे यह देखेंगे कि यहां एकता सचमुच हो गई, तो उनकी आत्मा को कितनी ठेस लगेगी, पर जब वे यह देखेंगे कि उस एकता के समर्थक केवल वही हैं जो प्रयाग में उस समय मौजूद थे, तो उनको कितना आनन्द प्राप्त होगा? हिन्दू महासभा की बैठक के समय हमने देखा था कि उसके सभापति श्री केलकर डा० मुंजे के राग में राग मिलाकर अपने व्यक्तित्व को कुछ भी कष्ट न देते थे। वही मि० केलकर इस समय लन्दन में गोलमेजियों में हैं। यदि डा० मुंजे की आवाज उनके कानों तक पहुंच गयी और उन्होंने अपना मत प्रयाग के निर्णय के विरुद्ध दे दिया, तब एक ओर होंगे उनके खिलाफ श्री केलकर, दूसरी ओर होंगे सर मुहम्मद इकबाल। तब तो खूब प्रयाग निर्णय कार्यान्वित होगा।

यदि सरकार वास्तव में भारत का हित चाहती है, तो उसे तुरन्त प्रयाग के निर्णय को स्वीकार कर लेना चाहिए, जिस प्रकार उसने पूना पैक्ट को मान लिया था। उस समय पूना पैक्ट के विरोधी भी थे, पर उसने उनकी परवाह न की थी। इसी प्रकार इस समय भी उसकी नेकनीयती की परीक्षा है, यदि वह परीक्षा में पास हो गयी तो उसने आगामी पचास वर्षों के लिए भारतीय वैभव पर पुनः अधिकार दृढ़ करने का रास्ता साफ कर लिया।

हमें तो सबसे पहले अपने भाइयों से विनय करना है। उस समय प्रयाग में जो हो गया वही गनीमत है। एकता के मनोरम स्वरूप को देखने के लिए आइये हम लोग प्रयाग में प्राप्त देवी 'एकता' के चरणों में सिर झुकायें।

[सम्पादकीय। 'जागरण' 28 नवम्बर 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

एकता के विरुद्ध सम्प्रदायवादियों का शोर-गुल

यह तो मालूम ही था कि एकता सम्मेलन के निर्णय को भेद भाव के आश्रय में पलने वाले लोग पसन्द न करेंगे। उधर तो एकता सम्मेलन हो रहा था, इधर टोडियों में दौड़ धूप मची हुई थी कि किस तरह जल्द से जल्द उसका विरोध करके खुशनूदी का सेहरा सिर बांध लिया जाय। लेकिन इस सबसे ज्यादा खेदजनक पृथकतावादी मुसलमानों का वह षड्यंत्र है, जिसे हमारे राष्ट्रीय मुसलिम सहयोगी 'हकीकत' ने खोला है। सहयोगी लिखता है—

''मालूम हुआ है कि प्रयाग एकता सम्मेलन के बाद दलबन्द मुसलमानों में गहरी साजिश हो रही है कि सम्मेलन के फैसलों के विरुद्ध मुसलमानों में आंदोलन शुरू किया

जाय। इन्हीं महानुभावों की दौड़-धूप और प्रयास से मौलाना शौकतअली को महात्मा जी से यरवदा जेल में मिलने की अनुमति नहीं दी गयी थी। इस काम के लिए तीन-चार मुसलिम समाचार-पत्रों को मिला लिया गया है। मुसलमानों को इस साजिश से होशियार रहना चाहिए। ये लोग न मुल्क के दोस्त हैं, न अपनी कौम के। केवल स्वार्थ के बन्दे हैं, चाहे राष्ट्र सम्मान को कितना ही बड़ा आघात पहुंच जाय।"

इसके बाद की खबर है कि मुसलिम लीग और मुसलिम कान्फ्रेन्स तथा जमैयतुल उलमा कानपुर के पचास सभासदों ने दिल्ली में जमा होकर प्रयाग के निर्णय का विरोध किया और शेख अब्दुल मजीद तथा अन्य राष्ट्रीय मुसलमानों ने इस सभा में सम्मिलित होना उचित न समझा, क्योंकि यहां लोग पहले प्रयाग का विरोध करने का फैसला कर चुके थे। प्रयाग में हिन्दुओं की यह शिकायत है कि मुसलमानों के साथ तरफदारी की गयी, और वहां मुसलमानों का दूसरा दल कह रहा है कि उसकी मांगें पूरी ही नहीं हुई। देखें लखनऊ के मुसलिम सर्वदल सम्मेलन में क्या फैसला होता है। एकता के शत्रु तुले बैठे हुए हैं कि एकता का अन्त कर दिया जाय। देखना यह है कि मुसलिम जनता क्या कहती है। खेद यही है कि ऐसे नाजुक मौके पर मौलाना शौकतअली नहीं हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 28 नवम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

युक्तप्रान्तीय कौंसिल के सदस्यों से

प्रान्तीय कौंसिल की स्थगित बैठक चौबीस नवम्बर से पुन: प्रारम्भ हो गयी है। इसके सामने कई महत्वपूर्ण बातें विचारार्थ पेश होंगी। प्रान्त के लिए, अमन और अमान की रक्षा के लिए, मामूली कानूनों को जरूरत के मुताबिक न होने के कारण, सरकार एक नया काला कानून चलाना चाहती है। इसे कानून का रूप देने के लिए विचारार्थ कौंसिल में पेश किया गया था। अब यह कानून कमेटी से निकलकर, कौंसिल के सामने पेश होगा। इस कानून की जरूरत समझाते हुए होम मेम्बर ने कहा था, कि काला कानून सत्याग्रह आन्दोलन को एकदम न कुचल सका, इसीलिए अब इस कानून की जरूरत पड़ी। तर्क से यह बात समझ में नहीं आती कि वर्ग यदि यही नियम, अधिक कठोर रूप में, एक वर्ष में प्रयोग के बाद भी, अपनी उपयोगिता न सिद्ध कर सके तथा अपना उद्देश्य न पूरा कर सके, तो उन्हें कानून का रूप देने से क्या लाभ होगा? इस विषय में इतना काफी लिखा जा चुका है, कि हम उन्हीं बातों को दुहराना नहीं चाहते। प्रान्तीय कौंसिलरों से हमारा यही अनुरोध है, कि वे इस कानून को कानून का रूप न दें तथा सरकार को यह सलाह दें, कि अमन और अमान की सबसे बड़ी रक्षा प्रजा का विश्वास-भाजन बनना है। यह किस प्रकार हो सकता है, यह सरकार स्वयं जानती है।

दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न कौंसिल के सामने है—काशी-म्युनिसिपल बोर्ड के प्रबन्ध को सरकार के हाथ में जाने देना या नहीं। इस विषय में हमें जो कुछ कहना था, वह हम अपने पिछले अंक में लिख चुके हैं। यहां पर हम केवल कौंसिल के सदस्यों का ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहते हैं। हमें आशा है, कि वे इस बात का सतत उद्योग करेंगे, कि प्रान्त के इतने सम्मानित बोर्ड का प्रबन्ध गैर-सरकारी हाथों में चला जावे। अन्य स्थानों के बोर्डों की तुलना में काशी की म्युनिसिपैलिटी का प्रबन्ध कहीं अधिक उत्तम है। हमारे सामने बोर्ड की

सालाना रिपोर्ट की जो फाइल है, उससे यही पता चलता है, कि कुप्रबन्ध के सबसे कटु समय में प्रत्येक महकमे में आशातीत उन्नति होती गयी है। शिक्षा देना बोर्ड का प्रधान काम है और इस दिशा में हम काशी को अपने प्रान्त-भर में सबसे अग्रसर पाते हैं। सम्भव है, इसका श्रेय यहां के शिक्षाध्यक्ष की अत्यन्त उत्कट योग्यता को भी प्राप्त हो, पर बोर्ड का कार्य तो सामूहिक रूप से सराहनीय ही कहा जावेगा। गत पांच वर्षों में यहां के म्युनिसिपल स्कूलों के विद्यार्थियों तथा छात्राओं की संख्या तेरह सौ तैंतालिस से तीन हजार छयासठ सहायक स्कूलों में तथा चार हजार आठ सौ अट्ठाइस से आठ हजार पांच सौ चौंतीस निजी स्कूलों में बढ़ गयी है। सहायक स्कूलों की संख्या पच्चीस से सैंतालिस तथा निजी स्कूलों (बोर्ड के प्रत्यक्ष संचालन में) की सैंतीस से उनसठ हो गयी है। स्कूलों में छुआछूत का भेदभाव उठा दिया गया है। प्राय: सभी प्रकार के दस्तकारी के काम की शिक्षा दी जाती है। रोनियों-टाइपिंग का भी क्लास है। बोर्ड का अंग्रेजी मिडिल स्कूल अब हाईस्कूल होने वाला है। मिडिल स्कूल के परीक्षोत्तीर्णों का अनुपात प्रान्त भर के अनुपात से अधिक, यानी पंचानवे प्रतिशत है। यह सब उन्नति केवल पांच वर्ष के भीतर हुई है। इतनी उन्नति क्या सरकार द्वारा परिचालित किसी भी स्कूल में हो पायी है? बोर्ड का शिक्षा पर व्यय-पांच वर्ष पहले सत्तर हजार रुपये था। अब वह एक लाख पचास हजार रुपये व्यय करती है, इस रकम में सरकार केवल बारह हजार रुपये साल की ही सहायता देती है।

हमारी समझ में बोर्ड के सुकार्यों का यह एक उदाहरण है। खराबियां भी अनेक हैं पर यदि दफ्तर की खराबियों से बोर्ड मुअत्तल होने लगे, तो अब तक कितने ही सरकारी मुहकमों को गैर-सरकारी हाथों में कर देना चाहिए था।

हमने एक नोटिस देखी है, जिस पर अनेक सम्मानित नागरिकों के हस्ताक्षर हैं, इससे पता चलता है कि नागरिक, टाउनहाल में सभा करके, सरकारी हस्तक्षेप का विरोध कर रहे हैं। सुना है कि इस विषय में मीटिंग के सभापति दीवान गोकुलचन्द्र कपूर स्थानीय शासन विभाग के मंत्री से भी मिलने वाले हैं। हम, इस दिशा में जितने वैध प्रयत्न होंगे सबकी सराहना करेंगे तथा आशा है कौंसिल के सदस्य भी हमारी सहायता करेंगे।

[सम्पादकीय। 'जागरण', 28 नवम्बर 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

बर्मा में राष्ट्रीयता की विजय

भारत का इकबाल इस समय जोरों पर है। पूना और प्रयाग में उसने भेद-भाव और साम्प्रदायिकता को नीचा दिखाने के बाद बर्मा में भी उतने ही मारके की विजय प्राप्त की। बर्मा को भारत से पृथक् करने का एक प्रकार से निश्चय हो चुका था। प्रधानमंत्री ने इसकी घोषणा कर दी थी, लेकिन दैवयोग से अभी हाल में वहां आम चुनाव हुआ। चुनाव का आधार यही समस्या थी। पृथकतावादी और ऐक्यवादी दलों में मुकाबला हुआ और अंत में ऐक्यवादियों की विजय हुई। इसने इंग्लैंड में हलचल पैदा कर दी है। वहां तो दुनिया को यह दिखाया गया था कि बर्मा की जनता खुद भारत से पृथक् रहना चाहती है। पिछली दोनों गोलमेजों में बर्मा के जो प्रतिनिधि सरकार ने चुने थे, वह पृथकवादी दल के ही थे। संसार ने समझा होगा बर्मा को भारत वाले किसी स्वार्थवश जबरदस्ती अपनी ओर खींच रहे हैं,

हालांकि वे उससे मिलना नहीं चाहते। लेकिन चुनाव के इस निर्णय ने सिद्ध कर दिया कि बर्मा हिन्दुस्तान से मिलने को उत्सुक है, और उससे पृथक् होना स्वीकार न करेगा। अब इस निर्णय में तरह-तरह के अर्थ लगाये जा रहे हैं और दुनिया को दिखाया जा रहा है कि ऐक्यवादियों ने धोखे-धड़ी से काम लेकर फतह हासिल कर ली। देखा चाहिए, बर्मा के प्रतिनिधि अब गोलमेज़ में क्या कहते हैं।

संपादकीय। 'जागरण', 28 नवम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

सोवियत रूस की उन्नति

सोवियत रूस के पंचसाला कार्यक्रम का फल आशातीत हो रहा है। एक अंग्रेज पत्रकार ने वहां की वर्तमान दशा का पांच साल पहले की हालत से तुलना करते हुए लिखा है कि रूस में नये--नये नगरों और कस्बों की बाढ़-सी आ गयी है। कितने ही ऐसे गांव, जहां सौ दो सौ आदमी रहते थे वहां अब जनसंख्या पचास गुनी से ज्यादा बढ़ गयी है। झोंपड़ों के जरा-जरा से पुरवे विशाल नगर बन गये हैं। व्यावसायिक उन्नति की यह रफ्तार संसार के इतिहास में विस्मयजनक है। जहां जनता पर जनता के हित के लिए शासन किया जाता है, वहां ऐसी ही सफलता प्राप्त होती है। साम्राज्यवादी योरोप अभी तक यही नहीं तय कर पाया कि फौजी सामान घटाया जाय या नहीं। उधर रूस एकाग्र भाव से उन्नति के मार्ग पर बढ़ता चला जा रहा है। न वहां बेकारी है, न मन्दी।

[संपादकीय। 'जागरण', 28 नवम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

इंग्लैंड का नैतिक पतन

श्रीमती ग्विनथ फोडन ने 'मरहठा' में इंग्लैंड की जिस सामाजिक दशा का चित्र खींचा है उसे देखकर हम अवाक रह जाते हैं। अब तक हरेक बात में इंग्लैंड हमारा आदर्श था और अब भी है। हम अपनी रीति-नीति में उसी का अनुसरण कर रहे हैं। हमारी राजनीतिक और सामाजिक संस्थाएं इंग्लैंड की संस्थाओं के नमूने पर ही निर्माण की जा रही हैं। और बातों में चाहे हममें मतभेद हो लेकिन चरित्र के विषय में हम इंग्लैंड के पूरी तरह कायल हैं। लेकिन उक्त महिला ने जो चित्र खींचा है वह बड़ा ही रोमांचकारी है और हमें चेतावनी देता है कि पाश्चात्य की नकल करने में हमें बहुत विवेक से काम लेना होगा। आप लिखती हैं--

'आजकल होटलों और विश्राम गृहों में हद दरजे की बेईमानी और धोखेबाजी देखी जाती है। रोज ही ऐसी खबरें आती हैं कि आज फलां होटल के मैनेजर को चरका दिया गया, कल उस होटल के मालिक को। अकसर धोखेबाज होटलों में आते हैं, कई दिन ठहरते हैं और नकली चेक देकर भाग जाते हैं।'

वहां के दरिद्रों की दशा का वर्णन बड़ा ही करुणाजनक है। आप लिखती हैं--'लेकिन क्षुधा पीड़ितों की दशा। मैंने उन गरीबों का, जो फाका करते करते अधमरे हो गये थे प्रदर्शन देखा था, जो इंग्लैंड के हर एक भाग से सम्मिलित होने आये थे इन भुखमरों के जुलूस को देखने के लिए कितनी ही महिलाएं मोटरों पर बैठकर आई थीं। उन्हें उनकी दशा पर आश्चर्य

था, पर दया न थी। वे इसे तमाशा समझती थीं। वे इन दरिद्रों को अपना सम्पत्ति-वैभव दिखाकर उनकी आंखों में चकाचौंध डालने के लिए ही शायद अपनी भड़कीली मोटरों पर चढ़कर तितलियों की तरह इधर-उधर घूम रही थीं। ओह ! ये अमीर कहलाने वाले विलास-प्रिय लोग कितने क्रूर हो सकते हैं। मनुष्य का मनुष्य के प्रति यह व्यवहार, कल्पना में भी नहीं आ सकता।'

ऐसी दशा में अगर अमीरों के प्रति द्वेष की आग जले तो क्या आश्चर्य है।

[संपादकीय। 'हंस', दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

दक्षिण में हिन्दी प्रचार

मद्रास और आन्ध्र प्रान्त में हिन्दी प्रचार का काम जितने संगठित और सुचारु रूप से हो रहा है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है। वहां इस समय करीब तीन सौ हिन्दी प्रचारक भिन्न-भिन्न केंद्रों में स्थायी रूप से काम कर रहे हैं। प्रचारक-मण्डल से 'हिन्दी प्रचारक' नाम का एक उपयोगी मासिक पत्र निकलता है, प्रतिवर्ष उनका 'प्रचारक सम्मेलन' होता है और सम्मेलन द्वारा 'प्राथमिक', 'माध्यमा', और 'राष्ट्रभाषा' तीन परीक्षाएं होती हैं, जिनकी सर्वप्रियता का अनुमान परीक्षार्थियों की संख्या से किया जा सकता है। इस वर्ष प्राथमिक में दो हजार पांच सौ चार उम्मेदवार थे, जिनमें दो हजार एक सौ उनसठ परीक्षा में बैठे और एक हजार आठ सौ सोलह पास हुए। मध्यमा में एक हजार एक सौ उन्चास बैठे और सात सौ इकतालीस पास हुए। राष्ट्रभाषा परीक्षा में पांच सौ उन्यासी बैठे और तीन सौ बयालिस पास हुए। उम्मेदवारों की कुल संख्या चार हजार से ऊपर थी। परीक्षा-केंद्रों की संख्या दो सौ इक्यासी थी, जिनमें एक सौ पचहत्तर केवल आन्ध्र प्रान्त में थे, उन्नीस तामिलनाड में, बावन केरल में, चौंतीस कर्नाटक में और एक बम्बई में। प्रचार की प्रगति का अंदाजा इससे किया जा सकता है कि गत अक्टूबर के उम्मेदवारों की संख्या उसके एक साल पहले की संख्या से दुगुनी थी। और इस उद्योग में प्रान्त के प्रभावशाली, गणयमान्य सज्जन भी शरीक हैं। उनमें सर सी॰ पी॰ रामास्वामी, दीवान बहादुर वी॰ एस॰ सुब्रह्मण्य ऐयर, जस्टिस ए॰ वेंकटराव आदि हैं। 'हिन्दी-प्रेमी-मण्डल' के कार्यक्रम की जो व्यवस्था तैयार की गयी है, उसे देखने से मालूम होता है कि उसके उद्देश्य कितने ऊंचे और क्षेत्र कितना विस्तृत है–

1–सभाएं और जलसों का आयोजन।

2–हिन्दी कक्षाओं की शिक्षा।

3–प्रचार सभा की परीक्षाओं के लिए विद्यार्थी तैयार करना।

4–स्थानीय स्कूलों और कालेजों में हिन्दी का प्रचार करना।

5–हिन्दी ड्रामे खेलकर जनता में हिन्दी के प्रति प्रेम बढ़ाना।

हम मद्रास के हिन्दी-प्रेमियों को उनके उत्साह और लगन पर हृदय से बधाई देते हैं। भारत की राष्ट्रीयता एक राष्ट्रभाषा पर निर्भर है और दक्षिण के हिन्दी-प्रेमी राष्ट्रभाषा का प्रचार करके राष्ट्र का निर्माण कर रहे हैं। राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र का बोध हो ही नहीं सकता। जहां राष्ट्र है, वहां राष्ट्रभाषा का होना लाजिमी है। अगर सम्पूर्ण भारत को एक राष्ट्र बनाना है, तो उसे एक भाषा का आधार लेना पड़ेगा। अंग्रेजी भाषा का व्यवहार आपद्धर्म है; इसे हम

राष्ट्रभाषा का पद नहीं दे सकते। भाषा ही राष्ट्र, साहित्य और संस्कृति का निर्माण करती है, आदर्शों की सृष्टि करती है। संस्कृति में एकरूपता होते हुए भी, एक राष्ट्रभाषा का आधार न रहे, तो राष्ट्र स्थायी नहीं हो सकता।

[संपादकीय। 'हंस' दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

नए-नए सूबों की सनक

अंग्रेजों के आने के पहले भारत में बहुत-से छोटे-छोटे स्वाधीन राज्य थे, जो आपस में बराबर लड़ते रहते थे। ये राज्य भाषा या जाति की एकता के कारण नहीं प्रादुर्भूत हुए थे। जो बलवान था, उसने दूसरे राज्यों के इलाके दबाकर अपने राज्य में मिला लिए। जैसे योरप में नेपोलियन की महत्वाकांक्षा थी कि योरप के राष्ट्रों को परास्त करके एक बलवान केन्द्रीय शासन के अधीन कर दिया जाय, उसी भाँति भारत में केन्द्रीयता और प्रान्तीयता में हमेशा संघर्ष होता रहा। अशोक और चन्द्रगुप्त से पहले भी बड़े-बड़े महीपों ने चक्रवर्ती राज्य स्थापित करने की चेष्टा की। मुगल, मरहठे, सिक्ख सभी ने प्रांतीयता को दबाने का प्रयत्न किया। जब तक केन्द्रीय शासन के हाथों में शक्ति थी, प्रांतीयता दबी रही, लेकिन केन्द्र के शक्तिहीन होते ही प्रान्तों ने स्वाधीनता के झंडे उड़ाना शुरू किए और राष्ट्रीयता की भावना ही गायब हो गई। अंग्रजों के राज्य-विस्तार ने राष्ट्र-भावना की सृष्टि की और भारत को एक शक्तिशाली, सुव्यवस्थित राष्ट्र बनाने की आकांक्षा उत्पन्न हुई। किसी एक भारतीय झंडे के नीचे सम्पूर्ण देश को जमा करना असाध्य था। एक दूसरे से संशक था, उसी तरह, जैसे आज योरोपीय राष्ट्रों की दशा है। अंग्रेजों से उन्हें वंशगत या जातिगत द्वेष न था, उनसे पुराने अपमान के बदले न चुकाने थे, अतएव ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जिन्होंने अंग्रेजों का हृदय से स्वागत किया और अंग्रेजों की सफलता के अन्य कारणों में यह भी एक कारण हो सकता है। देश में जो विचारवान थे, वे आपस की ईर्ष्या और विद्वेष से तंग आ गए थे और शांति को किसी दाम पर भी लेने को तैयार थे। केन्द्रीय शक्ति के सिवा इन स्वाधीन राजों को काबू में रखने का और कोई साधन न था। बहुत दिनों के बाद भारत को केन्द्रीय शासन का अवसर मिला और उसका शुभ फल यह हुआ कि देश में राष्ट्र-भावना का विकास होने लगा और दिन-दिन उसका प्रसार होता जा रहा है।

लेकिन इधर कुछ दिनों से फिर प्रांतीयता का भाव जोर पकड़ने लगा है। कहीं प्रतिद्वन्द्विता के वशीभूत होकर, कहीं निकट स्वार्थ के कारण और कहीं ऐतिहासिक आधार लेकर नए-नए सूबे की मांग की जा रही है। बिहार और सीमाप्रांत को पृथक् हुए, अर्सा हुआ, अब सिंध और उड़ीसा पृथक् होने के लिए जोर मार रहे हैं। आंध्र प्रांत भी पृथक् होना चाहता है। दिल्ली से भी पृथक् प्रांत बनाए जाने का आन्दोलन शुरू हो गया है; पर इन नए उम्मीदवारों में एक भी एसा नहीं, जो नए प्रांत की आर्थिक जिम्मेदारियां उठा सके। नए-नए प्रांतों से नए-नए नगरों का विकास होता है, काउंसिलों में ज्यादा आदमियों के लिए जगहें निकल आती हैं, नये हाईकोर्ट में ज्यादा वकीलों की खपत हो सकती है। यह सब सही है, पर रुपये किसके घर से आवें? यह उम्मेदवार स्वयं इसे स्वीकार करते हैं कि वह नए कर अंगीकार करने को तैयार नहीं हैं। हर नए प्रांत के खर्च का तखमीना लगभग दो करोड़ सालाना

होता है। दिल्ली या उड़ीसा या सिंध निकट भविष्य में यह खर्च उठा सकेंगे इसकी कोई आशा नहीं है। नतीजा इसके सिवा और क्या होगा कि दूसरे सूबों से उनकी सहायता की जाय। फौज के या दूसरे राजकीय मदों में किसी तरह की कमी की गुंजाइश नहीं है। नए कर लगाए नहीं जा सकते, तो फिर यह सूबे कैसे बने?

खर्च को छोड़िए। प्रांतीयता की मनोवृत्ति राष्ट्रीय मनोवृत्ति की विरोधिनी है। वह हमारे मन में संकीर्णता का भाव उत्पन्न करती है और हमें किसी प्रश्न पर सामूहिक दृष्टि डालने के अयोग्य बना देती है। और इतिहास कह रहा है कि इसी संकीर्ण मनोवृत्ति ने भारत को पराधीन बनाया। दो सदियों की पराधीनता ने हम में ऐक्य का जो भाव जगाया है, वह इस बढ़ती हुई प्रांतीयता के सामने कै दिन ठहर सकेगा?

नए प्रान्तों की रचना का एक ही उज्र हो सकता है; अर्थात्—उनसे नए प्रान्तों के विकास और उन्नति की चाल तेज हो जाय, मगर इसकी कोई संभावना नहीं, क्योंकि ये नए उम्मेदवार केन्द्रीय सहायता के बल पर ही अपने किले बना रहे हैं। यह आशा करना कि केन्द्र से उन्हें प्रचुर सहायता मिल जायगी कि वे शिक्षा, व्यवसाय, कृषि आदि विभागों की कायापलट कर सकेंगे, दुराशा मात्र है। गवर्नरों और मिनिस्टरों के बढ़ जाने से ही तो कोई नई जाग्रति न उत्पन्न हो जायगी। ये संस्थाएं विवश होकर अपने को जीवित रखने के लिए, या तो प्रजा पर विशेष कर लगाएंगी या इन विभागों की ओर से उदासीन हो जाएंगी, नतीजा यही होगा कि प्रजा की दशा में तो कोई अन्तर न होगा--या वह और भी बदतर हो जायगी -केवल गर्दन में जुआ और भारी हो जायगा। किसी नए विधान को प्रजाहित की दृष्टि से देखना चाहिए। अगर यह अर्थ नहीं सिद्ध होता, तो उससे कोई लाभ नहीं। पहले प्रान्तों में मिनिस्टर न थे, कार्उसिलों का यह रूप न था। नए विधान ने यह सारा आडम्बर जनता के सिर पर लाद दिया, पर उससे जनता का क्या हित हुआ? हमारी आर्थिक दशा में क्या उन्नति हुई? प्रजा की दशा अब भी वही है, जो इन विधानो के पहले थी। केवल अधिकारियों की संख्या बढ़ गयी। तात्पर्य यह है कि हमें यथासाध्य प्रांतीयता को दबाना चाहिए जो अब भी हमारी एकता में बाधक हो रही है।

[सम्पादकीय। 'हंस', दिसम्बर 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

पुरानी उर्दू

इंशा की 'केतकी की कहानी' से तो हिन्दी-संसार परिचित ही है। इंशा अठारहवीं शताब्दी में हुए। उर्दू की बुनियाद उनसे बहुत पहले पड़ चुकी थी। सबसे पहली उर्दू रचना दक्खिन के कुतुबशाह के समय में हुई, जो सत्रहवीं सदी के आदिकाल में गोलकुंडा का बादशाह था। यह विचित्र बात है कि उर्दू का जन्म चाहे उत्तरी भारत में हुआ हो, लेकिन सबसे प्राचीन उर्दू रचना दक्खिन में हुई। उस समय की उर्दू का एक नमूना देखिए—

शहंशह मजालिस किए एक रात,
वज़ीरां के फरजंद ते सब संगात।
हरेक खूबसूरत हरेक खूश था,
सो हर एक दिलकश, हरेक दिलरुबा।

सुराही पियाले ले हातां मने,
नदीमां ते मशगूल बातां मने।
जो मुतरिब वो सहरा में इस धात गाय,
तो फिर उनको इस शौक ते हाल आय।
लगे मुत्रिबां गाने यों साज सों,
कि धरती हिले मस्त आवाज़ सों।
जो गावन वह शह को कमाते अथे,
सो रागां परांगा जमाते अथे।
शराब हौर सुराही, नुकल हौर जाम,
हुए मस्त मजलिस के लोगां तमाम।'

कुतुबशाह के पहले मुहम्मद कुली कुतुबशाह ने (1581-1611) में उर्दू में एक मसनवी लिखी थी। यह शायद पहला आदमी है, जिसने उर्दू में पद्य-रचना की। उसका भी एक नमूना देखिए—

ते—से, हातां मते—हाथ में, बतां मते—बात में,
घात—तरह, अथे-थे, हौर—और।
नन्हीं सांवली पर किया है नजर,
ख़बर सब गंवाकर हुआ बेख़बर।
तेरा कद सरो निकले जब छंद सों,
दिसन जोत मुंजकों दिसन ज्यों कमर।
छंद-चतुराई, सों-से, दिसन-दिखाई देना।
गजब नाक हों ज्यों अंगे दल हुए,
कलेजे पहाड़ां के फुट जल हुए।
एक एक जान एक कौह या बुर्ज़ ज्यों,
ले हातां में फितने मरे गुर्ज़ ज्यों।
किए कस्द लड़ने को वो धीर थे,
जमाना हुआ तल्ल उपर मीर थे।
हुआ गुल जिधर का उधर मार-मार,
कयामत ज़मीं पर हुआ आशकार।

भावार्थ—जब सेनाएं क्रोध में आयीं तो पहाड़ों के कलेजे फट कर पानी हो गये। एक एक पहलवान एक-एक पहाड़ के समान था, जो हाथों में घातक गदा लिए हुए था। जब वे वीर लड़ने चले, तो संसार पैरों के नीचे आ गया और सिर ऊपर थे।

जो दरिया लहू का उबलने लगा,
गगन उस पै किश्ती हो चलने लगा।

उस समय गगन भी उर्दू में प्रयुक्त था।

[संपादकीय। 'हंस', दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

प्रयाग-सम्मेलन

प्रयाग के एकता सम्मेलन में बंगाल के प्रश्न ने बड़ी रुकावट डाल दी है। सिन्ध, पंजाब और संयुक्त निर्वाचन आदि जटिल प्रश्न तो किसी तरह तय हुए, लेकिन बंगाल के हिन्दू अब ज्यादा दबना नहीं चाहते। बंगाल में मुसलमानों का बहुमत है। मुसलमान अपनी इक्यावन फीसदी जगहें सुरक्षित रखना चाहते हैं। बंगाल में अंग्रेजों और अर्धगोरों को उनकी जनसंख्या से कहीं ज्यादा वोट दे दिये गये हैं। हिन्दू-मुसलिम समझौते में अंग्रेजों की जगहें घटाकर मुसलमानों तथा हिन्दुओं की जगहें बढ़ा दी गयी थीं, पर अब ऐसा मालूम हुआ है कि अंग्रेज अपनी एक भी जगह नहीं छोड़ना चाहते। इसलिए मुसलमानों की इक्यावन फीसदी पूरी करने के लिए बंगाल के हिंदुओं को अपने हिस्से से दो जगहें देने का प्रश्न उठा है। बंगाली हिन्दू भी अड़े हुए हैं, पर हमें आशा है कि वह एक जरा-सी बात के लिए एकता सम्मेलन का जीवन संकट में न डालेंगे और सम्मेलन के शत्रुओं को बगलें बजाने का अवसर न देंगे। अल्पमत वालों के लिए चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, बहुमत पर विश्वास रखने और उनसे सहयोग करने के सिवा और कोई उपाय नहीं है। इस सहयोग की नीति से, वह बहुमत पर उससे कहीं ज्यादा प्रभाव डाल सकते हैं, जितना वह अपनी संख्या में दो एक जगहें बढ़ाकर कर सकते हैं।

[संपादकीय। 'हंस', दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

बालिकाओं का सुकार्य

गत ग्यारह दिसम्बर रविवार को स्थानीय दयानन्द हाईस्कूल में आर्य-कन्या व्यायाम मन्दिर, बड़ौदा की कन्याओं का गदा, लेझम, फिरकी, तलवार, छुरे, आसन तथा अन्य व्यायाम देखकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई। बालिकाएं सभी फुर्तीली, चपल, शिक्षित तथा दक्ष थीं। उनके चेहरे से पवित्रता, सच्चरित्रता तथा लगन प्रकट हो रहा था। उनका गरबा नाच, संस्कृत में कथनोपकथन, दो लड़कियों का व्याख्यान, उनकी शिक्षा को व्यक्त करता था। इससे यह साफ मालूम होता है कि उन्हें व्यायाम के साथ मानसिक शिक्षा भी काफी दी जाती है। छः वर्ष की उम्र की लड़की कालेज में भर्ती की जाती है और वह सोलह वर्ष की उम्र में विदुषी, स्वस्थ तथा आत्म-रक्षा के योग्य होकर कालेज से निकलती है। व्यय भी कुछ नहीं, केवल बारह रुपया मासिक पड़ता है। समाज का एक अंग बहुत ही दुर्बल होने के कारण ही हम इतनी हीन दशा में हैं। हमारे यहां की पुराने जमाने की क्षत्राणियां रणक्षेत्र में शत्रु का सामना करती थीं, पर आजकल की लड़कियां अपने स्वास्थ्य की रक्षा नहीं कर सकतीं, उनकी सन्तान भी कापुरुष और दुर्बल पैदा होती है। इस बहुत बड़ी कमी को यह विद्यालय पूरा कर रहा है। और इसी उद्देश्य के प्रचारार्थ कुछ लड़कियों को लेकर वे भारत भ्रमण के लिए निकले हैं। हम इस मण्डल के सदुद्योग में पूर्ण की कामना करते हैं।

[संपादकीय। 'हंस', दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

भारतीय महिलाओं में नवीन जागृति

भारतीय महिलाओं ने अपने कार्यक्रम से सिद्ध कर दिया है, कि वे समाज के क्षेत्र में पुरुषों से कितनी आगे निकल गई हैं। विशेष कर जिन बंधनों से पुरुषों ने उन्हें जकड़ रखा था और उन पर शासन करते थे, उन बेड़ियों को तोड़ फेंकने के लिए वह बहुत विकल हो रही हैं। शारदा-बिल से मुसलमानों की एक बड़ी संख्या को तो आपत्ति है ही, हिन्दुओं में भी कुछ ऐसे पुरुष हैं, जो उनका विरोध करते हैं, पर स्त्रियों ने जिनमें मुसलमान स्त्रियां भी शामिल हैं, एक स्वर से इस बिल का स्वागत किया है। तलाक का बिल अभी कानून का रूप नहीं धारण कर सकता और हिन्दू पुरुषों में अभी इस समस्या पर बहुत मतभेद है, पर हिन्दू महिलाएं उस पर हर एक महिला-सम्मेलन में जोर देती हैं। राजनीतिक क्षेत्र में भी महिलाओं ने अपने परिष्कृत सद्विचार का परिचय दिया है। वे सार्वजनिक निर्वाचनाधिकार चाहती हैं, जायदाद या शिक्षा की कोई कैद उन्हें पसंद नहीं, और राष्ट्रीय एकता का तो जितने जोरों से स्त्रियों ने हरेक अवसर पर समर्थन किया है, उस पर बहुमत से हिन्दू और मुसलमान पुरुषों को लज्जित होना पड़ेगा। जिन महानुभावों को हमारी देवियों की विचारशीलता पर संदेह था उन्हें अब अपने विचारों में तरमीम करनी पड़ेगी। भारतीय महिलाओं ने घर की चारदीवारी के अंदर जिस तरह अपनी दक्षता प्रमाणित की है, उसी तरह के राष्ट्र के विस्तृत क्षेत्र में वे पुरुषों से आगे रहेंगी।

[संपादकीय। 'हंस', दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

राष्ट्रसंघ पर डा० परांजपे का भाषण

लखनऊ विश्वविद्यालय के वाइस चान्सलर डा० आर० पी० परांजपे ने इलाहाबाद युनिवर्सिटी के पोलिटिकल क्लब में 'राष्ट्रसंघ' पर भाषण देते हुए उसके सामाजिक और वैज्ञानिक विभागों पर अच्छा प्रकाश डाला। लेकिन आश्चर्य है, कि संघ पर भारत के छ:-सात लाख रुपये तो खर्च होते हैं, पर संघ के स्थायी मंडल में उसका कोई स्थान नही है। उस स्थायी मंडल में इंग्लैंड, फ्रांस, इटली और जापान, ये पांच राष्ट्र हैं। इनमें केवल इंग्लैंड और फ्रांस का चंदा भारत से अधिक है। जर्मनी, इटली और जापान भारत के बराबर रुपये नहीं खर्च करते पर उन्हें स्थायी मंडल में स्थान मिला हुआ है। ऐसी दशा में हम नहीं समझते भारत से इतने रुपये क्यों लिए जाते हैं। क्या इसलिए कि इस विषय में भारत की कोई आवाज नहीं है?

इस भाषण से हमें ज्ञात होता है, कि चाहे राजनीतिक समस्याओं के हल करने में संघ को अभी मनोनीत सफलता न मिली हो, और मंचूरिया के विषय में उसका मौन धारण कर लेना उसके प्रभाव के लिए घातक है फिर भी उसने कई महत्त्वपूर्ण सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के हल कर , में अच्छी सफलता प्राप्त की है। गोरी स्त्रियों का वेश्यावृत्ति के लिए गुप्त रूप से जो व्यापार योरोप में जारी था; अफीम, कोकेन आदि जहरीली चीजों का जो धड़ल्ले से प्रचार हो रहा था, इन दोनों निषिद्ध व्यापारों को बंद कराने में संघ ने तत्परता दिखाई है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है। दर्शन, साहित्य और विज्ञान के क्षेत्र में संघ ने भिन्न-भिन्न राष्ट्रों को समीप लाने का उद्योग किया है और कर रही है। भविष्य में उसके द्वारा एक सार्वदेशिक

संस्कृति के समन्वय होने की आशा की जा सकती है।

[संपादकीय। 'हंस', दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

साहित्यिक सन्निपात

सहयोगी 'विशाल भारत' ने हिन्दी भाषा की जो आदरणीय सेवाएं की हैं, उनके हम प्रशंसक हैं। इधर कई महीनों से उसने साहित्यिक वैद्य का पद ले लिया है और साहित्यिक बीमारियों का निदान कर रहा है। हमने सुना है, यह बीमारी संक्रामक है, इसलिए हम सहयोगी को सलाह देते हैं कि वह सावधान रहे, ऐसा न हो कि वह खुद इस मरज में मुब्तिला हो जाय। उसे उदारता का टीका ले लेना चाहिए।

[संपादकीय। 'हंस', दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

स्कूलों में स्वास्थ्य-परीक्षा

हमारे स्कूलों में कई साल से लड़कों की डॉक्टरी परीक्षा होती है। महीने में एक दिन डॉक्टर साहब हवा के घोड़े पर सवार आते हैं, क्लास के लड़के मैदान में एक कतार में खड़े कर दिये जाते हैं और डॉक्टर पांच मिनट में सबका मुआइना कर डालते हैं। आध घंटे में स्कूल भर की परीक्षा समाप्त हो जाती है। डॉक्टर साहब किसी को दांतों की, किसी को आंखों की बीमारी बता कर अपनी राह लेते हैं। ऐसे मुआइनों से लड़कों को फायदा तो कुछ नहीं होता, हां, एक जाब्ते की खानापूरी हो जाती है। इधर कुछ दिनों से नई प्रथा निकली है, लड़कों के अभिभावकों को नेवता देकर बुलाया जाता है और डॉक्टर साहब उन्हें एक छोटा-सा व्याख्यान देकर बिदा करते हैं। इस सम्मेलन की रिपोर्ट दूसरे दिन दैनिक पत्रों में छप जाती है। मंशा पूरी हो जाती है। यह केवल प्रोपेगेंडा है। इसमें कोई तत्व नहीं। हमारी समझ में लड़कों के स्वास्थ्य की परीक्षा वही कर सकता है जिस पर लड़कों को विश्वास हो, जिससे वे अपनी बीमारियां निस्संकोच होकर कह सकें। ट्रेनिंग कॉलेजों में जहां और बहुत से विषय पढ़ाये जाते हैं, वहां शरीर विज्ञान भी एक प्रधान विषय होना चाहिए। प्रोग्रेस रिपोर्ट और सबकों के नोट यह सब केवल तमाशे हैं, जिनका कोई मूल्य नहीं। मुख्य चीज है लड़कों का स्वास्थ्य, मानसिक भी और शारीरिक भी। इसके लिए महीनों में एक सेकेंड की परीक्षा प्रहसन मात्र है। इस पर सचेत ध्यान रखना चाहिए और यह अध्यापक ही कर सकता है।

[संपादकीय। 'हंस', दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

हिन्दुस्तानी एकाडमी का सालाना जलसा

हिन्दुस्तानी एकाडमी प्रयाग का सालाना जलसा जनवरी के पहले सप्ताह में होना निश्चित हुआ है। इस अवसर पर प्रांत के सुलेखक और विद्वान एकत्र होकर साहित्य और संस्कृति के अनेक विषयों पर भाषण करेंगे और लेख पढ़ेंगे। एकाडमी ने अबकी उर्दू विभाग की सदारत के लिए दक्षिण के वयोवृद्ध, अनुभवी और कर्मयोगी मौलाना अब्दुलहक को निमंत्रित किया है।

हिन्दी विभाग के सभापति माननीय डॉ॰ गंगानाथ झा होंगे। बिहार के यशस्वी लेखक, राजनीति-विशारद और वक्ता श्री सच्चिदानन्द सिंह जलसे के सभापति चुने गये हैं। इस तरह एकाडमी ने अपनी अंतर-प्रांतीयता का परिचय दे दिया है। हमारे देश में साहित्य की प्रांतीय संस्थाएं तो अनेक हैं, पर अभी तक ऐसी कोई संस्था नहीं है, जो अंतर-प्रांतीय साहित्य-स्रष्टाओं को निमन्त्रित करके आदान-प्रदान का संबंध पैदा करे। हिन्दुस्तानी भाषा भारतवर्ष की आम भाषा है, और हम एकाडमी से सविनय अनुरोध करते हैं कि वह इस अवसर पर अन्य प्रांतों के साहित्य-सेवियों को भी निमन्त्रित किया करे। इससे यही नहीं कि एकाडमी का यह उत्सव ज्यादा आकर्षक हो जाएगा, बल्कि हिन्दुस्तानी भाषा और साहित्य को प्रगति मिलेगी, हिन्दुस्तानी भाषा का प्रभाव बढ़ेगा, हमारा साहित्यिक दृष्टिकोण फैलेगा और हमारी अनुभूतियों का भंडार सम्पन्न होगा। साहित्य के ऐसे कितने ही प्रश्न हैं, जिन पर अभी तक हमने केवल व्यक्तिगत रूप से विचार किया है। उन पर परस्पर के संभाषणों से प्रकाश पड़ेगा और हम अपनी भ्रान्तियों का सुधार और अपनी धारणाओं की पुष्टि कर सकेंगे।

[संपादकीय। 'हंस', 5 दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

काशी म्युनिसिपल बोर्ड-2

बोर्ड का भविष्य क्या होगा, इस विषय में हमें कोई निश्चित सूचना नहीं प्राप्त हो सकी। कौंसिल की बैठकों के सामने आर्डिनेंस बिल पेश था और बड़े खेद का विषय है कि प्रजातन्त्र के दुर्बल होने के कारण सरकार बराबर जीतती जा रही है। फिर भी, हमें आशा है कि बोर्ड के विषय में कोई न कोई बात मालूम हो ही जावेगी। यह सम्भव है कि सरकार ने हमारी टिप्पणियों की ओर कुछ ध्यान भी दिया है।

पंडित इकबाल नारायण गुर्टू के प्रयाग विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर हो जाने के कारण वहां के चेयरमैन का स्थान खाली हो जात है। यद्यपि यह पद बड़े लोभ का है तथा इसके लिए बड़े-बड़े वीर उम्मेदवार होंगे पर हमारी सलाह तो यह है कि इस पद के लिए चेयरमैन वही चुना जावे जो कुछ सार्वजनिक सेवा का अनुभव रखता हो, सरकार में भी जिसका कुछ प्रभाव हो, उत्साही हो, युवक हो, परिश्रमशील हो। नाम के आडम्बर या किसी की रियाअत का यदि इस विषय में ख्याल किया गया तो वह नगर के लिए तथ मेम्बरों के लिए लज्जास्पद होगा।

गत दो दिसम्बर को बोर्ड के एक अत्यन्त उत्साही तथा नवयुवक सदस्य दीवान रामचन्द्र कपूर एक वर्ष का कारावास भोगकर छूट आये हैं। बोर्ड को, चौकवाई को, एक वर्ष बाद पुन: एक साहसी तथा सत्यनिष्ठ कार्यकर्त्ता प्राप्त हो गया। इसके लिए हम बोर्ड को बधाई देते हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 5 दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

'जागरण' और प्रेस से एक-एक हज़ार की जमानत

जागरण के 26 अक्टूबर के अंक में एक कहानी 'उसका अंत' नामक प्रकाशित की गयी थी।

सरकार को उस कहानी में कुछ शब्द आपत्तिजनक मालूम हुए हैं। इसलिए उसने एक हजार रुपये की जमानत 'जागरण' से और एक हजार की प्रेस से मांगी है। 'हंस' की जमानत की समस्या से अभी सांस लेने की फुरसत न हुई थी कि यह दूसरा प्रहार हुआ। अब देखना चाहिए क्या होता है। आशा है पाठाकों की सेवा करने से हम वंचित न होंगे।

[संपादकीय। 'जागरण', 5 दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित, 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

बड़ोदा राज्य में हिन्दी

बड़ोदा हिन्दुस्तान की उन रियासतों में है जिसे बहुत ही उन्नत तथा सुशासित कहा जा सकता है। कुछ समय तो बड़ोदा देशी रियासतों का ही नहीं, किन्तु समूचे ब्रिटिश भारत का भी सामाजिक सुधारों में अगुआ रहा है। शिक्षा अनिवार्य कर देना, शिक्षा निःशुल्क कर देना तथा बाल विवाह निषेध उसके अनेक सुधारों में से हैं। बड़ोदा का सबसे नया सुधार था अपने राज्य भर के मन्दिरों में अछूतों का प्रवेश अनिवार्य कर देना। इस सुधार से कुछ सामाजिक-कीटाणु तो बेहद दुःखी हैं। इसका प्रभाव सुदूरवर्ती और हितकर है। अब इस रियासत का ताजा महान् कार्य है हिन्दी को राज्यभाषा स्वीकार कर लेना। ब्रिटिश प्रान्तों में सबसे पहले यह सुधार मध्य प्रान्त में हां हुआ था कि हिन्दी को ही अदालती भाषा स्वीकार किया गया था। इसके बाद शायद बड़ोदा ही पहला इतना बड़ा स्थान है जहां हिन्दी का अब साम्राज्य होगा। बड़ोदा एक मराठा राज्य है, जिमके अधिकांश निवासी गुजराती हैं। इसलिए इस राज्य के इस सुधार का और भी महत्व है। क्या हम आशा करें कि अलवर, बीकानेर, उदयपुर ऐसी गैर-मराठा रियासतें भी उर्दू के स्थान पर हिन्दी को सर्वोच्च आसन देंगी।

बड़ोदा सरकार ने इधर कई भूलें भी की हैं जिनमें सबसे बड़ी भूल बूढ़े अब्बास तैयब जी की पेंशन बन्द करना था। भारतीय सिविल सर्विस के रिटायर्ड पेंशन वाले कर्मचारी भारत के खिलाफ आन्दोलन में निर्भय होकर भाग ले सकते हैं, पर भारत की सेवा करने वाला एक भारतीय रियासत से पेन्शन न पावे, यह कहां की बुद्धिमानी है।

[संपादकीय। 'जागरण', 5 दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

बेईमानी भी राजनीति है

इंग्लैंड ने पिछली लड़ाई में अमेरिका से जो कर्ज लिया था उसे अदा करते हुए उसे बड़ा क्लेश हो रहा है। उसने खुद कई राष्ट्रों को उसी अवसर पर बड़ी-बड़ी रकमें उधार दी थीं। मन्दी के कारण उसकी वसूली नहीं हो रही है। इसलिए इंग्लैंड अब इस दलील से अपना गला छुड़ाना चाहता है कि हमारे देनदार जब हमारा कर्ज नहीं चुकाते तब हम अमेरिका को कहां से दें। मगर अमेरिका कोई बहाना सुनने पर तैयार नहीं है। पिछले साल प्रेसीडेंट ने एक साल की मोहलत दी थी। अब वह मोहलत नहीं देना चाहता। अगर एक व्यक्ति किसी से ऋण लेकर अदा करने से इन्कार कर दे तो वह बेईमान समझा जाता है। लेकिन राजनीति में इसे बेईमानी नहीं कहते।

[संपादकीय। 'जागरण', 5 दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित, 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

भारत की राष्ट्रभाषा

'अंग्रेजी बोलो' संघ में भाषण देते हुए भारत के भूतपूर्व वायसराय लार्ड रीडिंग ने इस बात पर बड़ा सन्तोष, हर्ष तथा गर्व प्रकट किया कि गोलमेज में आये हुए प्रतिनिधियों में कुछ तो बड़े ही काबिल हैं क्योंकि वे बड़ी अच्छी अंग्रेजी बोलते हैं। जब लार्ड महोदय भारत में थे, उन्हें यह देखकर बड़ा हर्ष हुआ कि यहां पर अंग्रेजी भाषा का बड़ा प्रचार हुआ। आप कहते हैं–''अंग्रेजी भारत की राष्ट्रभाषा है। अंग्रेजी भाषा शान्ति और व्यवस्था की भाषा है।'' भारतीय राष्ट्रभाषा क्या है, यह अभी तक बड़े दिग्गज भी नहीं तय कर पाये हैं। बहुत सोच-समझकर 'हिन्दुस्तानी' को ही यहां की राष्ट्रभाषा निर्धारित किया है। बहुत बड़े अंग्रेजीदा भी कभी अंग्रेजी को यहां की राष्ट्रभाषा नहीं मानते। हमारी समझ में लार्ड महोदय ने बड़ी जल्दी यहां की राष्ट्रभाषा तय कर दी। रह गया सदस्यों की योग्यता का सबूत। वह तो हरेक गुलाम देश अपने स्वामी की भाषा को अपनी भाषा बना ही लेता है। यदि बंगाली कोई तोता पालता है तो उसकी राष्ट्रभाषा बंगला होती है। उसी तोते की सन्तान किसी हिन्दी बोलने वाले के यहां पलकर हिन्दी को ही अपनी मादरी-ज़बान बना लेती है। बाज तोते तो अपनी असली भाषा यहां तक भूल जाते हैं कि 'टें-टें' भी कभी नहीं कहते। ठीक इसी प्रकार कुछ नये रंग के भारतीय हिन्दी इतनी भूल जाते हैं कि अपने मां-बाप को भी वे अंग्रेजी में ही खत लिखा करते हैं। विलायत से लौटकर 'तुम' की जगह 'टुम' कहना मामूली बात है। हम भारतीय भाषा के विचार में भी अंग्रेजी के इतने दास हो गये हैं कि अन्य अति धनी तथा सुन्दर भाषाओं का हमें कभी ध्यान नहीं आता। उदाहरणार्थ, यह तो सत्य ही है कि फ्रेंच अंग्रेजी से कहीं अधिक प्रिय, मधुर तथा व्यापक भाषा है। योरोप में ही नहीं दुनिया के अधिकांश भागों में इसका अधिक प्रचार है। इसका पता हमें तब लगता है जब हम इंग्लैंड छोड़कर और कहीं जाते हैं। और वहां अंग्रेजी जानने पर हमें बेवकूफ बनना पड़ता है। अंग्रेजी बड़ी धनी भाषा है पर जितना तथा जिस दृष्टि से हम इसे आदर देते हैं, वह हमारे लिए गर्व की बात नहीं है।

रह गयी 'शान्ति तथा व्यवस्था' की भाषा। इसका सबूत तो हमें आये दिन मिलता है। विलायती समाचार-पत्र डेली टेलीग्राफ या डेली मिरर या डेली न्यूज (तीनों ही लन्दन के हैं तथा अनुदार दल के प्रमुख पत्र हैं) जो अंग्रेजी में ही छपते हैं, पर इंग्लैंड की राजनीति के अधिकांश सूत्र प्राय: इन्हीं के हाथ में हैं और इनकी भाषा प्राय: सबसे अधिक कटु, दुष्ट, जहरीली और निन्द्य होती है।

[संपादकीय। 'जागरण', 5 दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

महात्मा जी का उपवास

गुरुवयूर की एक सार्वजनिक सभा में भाषण देते हुए श्री केलप्पन ने यह सूचित किया था, कि महात्मा जी का एक पत्र उनके नाम आया है, जिसमें उन्होंने लिखा है, कि आप दो जनवरी से उपवास करने के लिए तैयार हो जाओ। श्री केलप्पन ने जिस साहस से गुरुवयूर के मन्दिर को अछूतों के लिए खुलवा देने के लिए उपवास करने का निश्चय किया था, जिस साहस से वे कई दिन तक लगातार उपवास करते रहे, उसकी जितनी प्रसंशा की जावे, थोड़ी है। उस समय ज़मोरिन ने जिद्द कर मन्दिर न खोलने में जो अहम्मन्यता तथा जड़ता दिखलाई

थी, उसकी जितनी निन्दा की जावे, थोड़ी है। उस समय, महात्मा जी के मना करने से श्री केलप्पन ने अनशन तोड़ दिया था। महात्मा जी ने इतने समय तक इस बात की प्रतीक्षा की थी, कि किसी प्रकार ज़मोरिन को अक्ल आ जावेगी। महामना मालवीय जी, श्री राजगोपालाचारी और श्री राजेन्द्रप्रसाद तथा श्रीमती गांधी ने भी इस दशा में भरसक कोशिश की थी, कि ज़मोरिन अपनी जिद्द तोड़ दें, लेकिन ज़मोरिन ने कुछ भी न किया। जहां तक हम कानून जानते हैं किसी देवालय पर किसी का भी हक नहीं है। आखिर गुरुवयूर मन्दिर के ज़मोरिन होते ही कौन हैं ! फिर भी एक बार जब महात्मा जी ने केलप्पन को इसी काम के लिए मना किया था तो यह उसके लिए फर्ज हो जाता है, कि वे पुन: उपवास करने के समय श्री केलप्पन का साथ दें। महात्मा जी की इस दार्शनिकता को जरा हम कठिनाई से समझ सकते हैं, पर इस ओर ध्यान देना जरूरी है। अब, क्या हम भारतीय इतना गिर गये हैं कि विश्व की एक विभूति ज़मोरिन की जिद्द के कारण बलिदान हो जावे। ईश्वर हमारे अहिंसात्मक आग्रह में बल दें।

[संपादकीय। 'जागरण', 5 दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित, 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

समझौता या हार

प्रयाग के एकता-सम्मेलन में जो कुछ तय हुआ है उस पर हम में से बहुतों में मतभेद है। मुसलमानों में कुछ संस्थाएं उसे मुसलमानों की हार बतलाती हैं। उसी तरह हिन्दुओं में जो लोग साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के मनुष्य हैं वह इसे हिन्दुओं की शिकस्त कहते हैं, और दोनों ही अपनी-अपनी जगह पर ठीक ही कहते हैं। समझौता वास्तव में हार है, मगर वह हार जिसमें दोनों तरफ की हार होती है और दोनों तरफ की हार को दोनों तरफ की जीत कहें तो किसी का कोई नुकसान नहीं। हार सापेक्षिक है। जहां जीत का आनंद नहीं वहां हार का दुख कहां?

एकता सम्मेलन के प्रतिनिधि खूब समझते थे कि देश में ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जिन्हें उनका कार्यक्रम संतुष्ट न कर सकेगा। यह जानते हुए उन्होंने इस सम्मेलन का आयोजन किया था, लेकिन साम्प्रदायिकता पर विजय पाने का उनके पास समझौते के सिवा और क्या साधन था ? जो लोग इस समझौते से असंतुष्ट हैं, वे भी तो इस गुत्थी के सुलझने की दूसरी विधि नहीं बता सकते। सम्मेलन में ऐसे-ऐसे लोग शामिल थे जिन्होंने राष्ट्रीयता के नाम पर बड़े-बड़े बलिदान किये हैं, बड़े-बड़े कष्ट झेले हैं, बल्कि यों कहना चाहिए कि अपने आपको मिटा दिया है। उन पर आप चाहे जो इल्ज़ाम लगाएं, साम्प्रदायिकता या भेद-भाव का इलज़ाम नहीं लगा सकते। ऐसे लोग जब सम्मेलन में एक निश्चय कर चुके तो आराम कुरसी वाले राजनीतिज्ञों का उन पर आक्षेप करना जले पर नमक छिड़कना है।

भेदभाव राष्ट्र के लिए अहितकर है। यह हम भी उतना ही समझते हैं जितना ये आलोचक। अगर हम इस भेदभाव को जड़ से मिटा सकते तो कहना ही क्या था। लेकिन जब अपनी पूरी शक्ति लगाकर देख लिया कि इस दुश्मन को हम उखाड़ नहीं सकते तो हमारे पास इसके सिवा और क्या साधन था कि इससे समझौता किया जाय।

बहुत दिनों का जीर्ण रोगी बिस्तर पर पड़ा कराह रहा है। अगर वह आशा करे कि कोई धनवंतरी आकर छू मंतर से उसे एक क्षण या एक दिन में चंगा कर देगा और वह पूरी तरह

स्वस्थ हो जायगा तो यह समझ लेना चाहिए कि उस रोगी के जीवन की घड़ियां गिनी हुई हैं। अगर उसे स्वास्थ्य लाभ करना है तो उसे एक-एक खुराक दवा खानी पड़ेगी, पूरे पथ्य से रहना पड़ेगा। तब कहीं महीनों में जाकर वह इस काबिल होगा कि चल-फिर सके। एकता सम्मेलन का समझौता वही दवा है। वही आपदधर्म है। इसे किसी और रूप में देखना हमारा भ्रम है।

चिकित्सा के दो भेद हैं, एक इलाज बिल-मिस्ल, दूसरा इलाज बिलज़िद। गर्मी को गर्म दवाओं से जीतना पहली रीति है। गर्मी को ठंडी दवाओं से जीतना दूसरी रीति है। एकता सम्मेलन का समझौता वही इलाज बिल-मिस्ल है। प्रचंड साम्प्रदायिकता को उसने हलकी साम्प्रदायिकता से जीतने की चेष्टा की है। अब तक हमने इलाज बिल-ज़िद का व्यवहार किया था। उसमें सफलता नहीं हुई।

हम यह नहीं कहते कि इस उपचार से लाभ ही होगा। कोई धनवंतरी निश्चय के साथ नहीं कह सकता कि अमुक दवा से जरूर फायदा होगा। हमें इस औषधि के पथ्यापथ्य का विचार करके सेवन करना चाहिए। अगर इससे फायदा हुआ तो वाह-वाह नहीं दस या पांच साल के बाद हमें पूरा अधिकार होगा कि किसी दूसरी चिकित्सा की परीक्षा करें।

सम्मिलित निर्वाचन स्वयं एक चीज है जिससे बहुत कुछ मनोमालिन्य और गलत-फहमियां दूर हो जायेंगी। इस निर्वाचन में वही सज्जन उत्तीर्ण होंगे जो हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों ही के विश्वासपात्र होंगे। हिन्दू किसी ऐसे मुसलमान को वोट न देगा जिस पर उसे विश्वास न हो। इसी तरह संयुक्त राष्ट्र का निर्माण होगा। जब दोनों सम्प्रदायों के आदमी एक दूसरे पर विश्वास करना सीख जायेंगे तो संयुक्त निर्वाचन का व्यवहार होने लगेगा।

हम मानते हैं सिंध और सरहद के हिन्दू अल्पमत में हैं। तो क्या मद्रास और सी०पी० और संयुक्त प्रदेश के मुसलमान अल्प संख्या में नहीं हैं? आप मुसलमानों को जो संरक्षण हिन्दू प्रधान प्रान्तों में दे रहे हैं, यदि वही संरक्षण आपको मुसलिम प्रधान प्रान्तों में मिल रहा है तो हम नहीं समझते इसमें हाय-हाय करने की क्या बात है।

फिर, क्या साम्प्रदायिकता उसी को कहते हैं जो धर्म और आचार पर आधारित हो। वह भी तो साम्प्रदायिकता ही है जो राजनैतिक सिद्धांतों पर आधारित होती है। अगर हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे से लड़ते हैं तो क्या सोशलिस्ट और डिमाक्रेट एक-दूसरे की पूजा करते हैं। उनकी आपस की लड़ाइयां भी उतनी भयंकर, उतनी ही रक्तमय होती हैं। बल्कि उससे कुछ ज्यादा। यह विभिन्नता तो किसी न किसी रूप में उस समय तक रहेगी जब तक एक नये युग का उदय न होगा, जब सब एक दूसरे को भाई समझेंगे, स्वार्थ और भेद का अन्त हो जायगा। वह समय निकट भविष्य में आता नजर नहीं आता। अभी तो आपके सामने कढ़ाव से निकल कर चूल्हे में ही गिरने की संभावना है। वर्तमान साम्प्रदायिकता के बाद उस साम्प्रदायिकता का युग आने वाला है जो राजनीति प्रधान होगी, जब श्रम और पूजा का भीषण संग्राम छिड़ेगा। इस साम्प्रदायिकता में तो कुछ सहिष्णुता है। वह साम्प्रदायिकता तो सामूहिक स्वार्थ की उपज होगी और यह मानना पड़ेगा कि स्वार्थ धर्म से कम घातक नहीं है।

यह सारी लड़ाई मुट्ठी भर शिक्षित आदमियों की है जो ओहदे और मेम्बरियों के लिए एक दूसरे को नोच रहे हैं। इस समुदाय से अलग जो राष्ट्र हैं वहां न कोई हिन्दू है न मुसलमान।

वहां सब किसान हैं, या मजदूर जो एक-से दरिद्र, एक-से पिसे हुए एक-से दलित हैं। आरती और नमाज, हिन्दी और उर्दू की समस्याएं वहां हैं ही नहीं। अगर दो-चार हिन्दू या मुसलमान ओहदेदार कम या ज्यादा हो गये तो इससे राष्ट्र पर कोई असर नहीं पड़ता। कोई राजपद्धति साम्प्रदायिक हितों के सामने चल कर इस बीसवीं सदी में सफल नहीं हो सकती। यह शंका करना हिमाकत है कि जिन प्रान्तों में मुसलिम बहुमत होगा वहां बड़े जोर-शोर से गऊ हत्या होने लगेगी, या मन्दिर तोड़ दिये जायेंगे, या हिन्दुओं की चोटी रखने की मुमानियत कर दी जायगी, या उनके जनेऊ तोड़ डाले जायेंगे। या हिन्दू किसानों से ज्यादा लगान लिया जायगा, मुसलिम किसानों से कम, या हिन्दू मजूरों को कम मजूरी दी जायगी, मुसलिम मजूरों को ज्यादा, या हिन्दू के लिए शिक्षा का द्वार बन्द कर दिया जायगा। न यही होगा कि मुसलमानों को अस्पताल में दवा मिले, और हिन्दुओं को दुत्कार दिया जाय। आज भी हम देखते हैं कि हिन्दुओं के नौकर मुसलमान हैं, मुसलमानों के नौकर हिन्दू हैं। सिक्खों के राज में भी बड़े-बड़े ओहदों पर मुसलमान थे, मुसलमानों के राज में बड़े-बड़े ओहदों पर अक्सर हिन्दू। इसलिए तो सज्जन एकता सम्मेलन को हिन्दुओं की पूरी हार कहते हैं, इसे Abrect Surrender कह कर निन्दनीय बताते हैं, उनसे हमारा यही निवेदन है कि अगर आपके पास एकता सम्मेलन में स्वीकृत प्रस्तावों से कोई बेहतर प्रस्ताव हो तो उसे पेश कीजिए। और अगर नहीं है तो चुपके से बैठिए जो काम आपसे नहीं हो सकता उसे जब दूसरे अपने ढंग से करते हैं तो उन्हें बदनाम न कीजिए, व्यर्थ की फिलासोफी न बघारिये। इसे सब स्वीकार करते हैं कि साम्प्रदायिकता को मिटाना है। इसकी युक्ति सोचिए। अब तक राष्ट्र के सामने एकता के जितने प्रस्ताव आये, उनमें सबसे ज्यादा जनमत इसी समझौते को मिला है, और हम अपनी पूरी शक्ति से उसकी रक्षा करेंगे।

[संपादकीय। 'जागरण', ५ दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

हरिजन बालकों के लिए छात्रालय

नागपुर में हरिजन बालकों के लिए अलग एक छात्रालय बनाया गया है। इससे तो अछूतपन मिटेगा नहीं, और दृढ़ होगा। उन्हें तो साधारण छात्रालयों में बिना किसी विचार के स्थान मिलना चाहिए।

[संपादकीय। 'जागरण', ५ दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

आर्डिनेन्स बिल पास

एसेम्बली में आर्डिनेन्स बिल पास हो गया और धूम से पास हो गया। पक्ष में 56 रायें थीं, विपक्ष में केवल 31। हम सरकार को और उन 56 मेम्बरों को इस शानदार फतह पर बधाई देते हैं। अब कौन कह सकता है, कि देश इस बिल के पक्ष में नहीं है? और अगर किसी को यह कहने का दुस्साहस हो भी, तो कौन उसका विश्वास करेगा?

[संपादकीय। 'जागरण', 12 दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

कानपुर म्युनिसिपल चुनाव

कानपुर के म्युनिसिपल चुनाव पर जहां हम नागरिकों को इसलिए बधाई देते हैं, कि उन्होंने दोनों महिलाओं को बहुमत से अपना प्रतिनिधि चुना, वहां हमें उनसे यह शिकायत भी है, कि उन्होंने दोनों हरिजन भाइयों के साथ अन्याय किया। हरिजन उम्मीदवारों के मुकाबले में जो महाशय खड़े हुए थे, उन्हें देश की परिस्थिति का विचार करके खुद बैठ जाना चाहिए था। यदि वे इतना त्याग नहीं कर सकते थे, तो वोटरों को हरिजनों के पक्ष में वोट देना चाहिए था, पर कानपुर वालों ने अपनी अनुदारता का प्रमाण देना ही श्रेय की बात समझा। राष्ट्र को उनके इस व्यवहार से कितना बड़ा धक्का पहुंचा है, कदाचित् इसका वे अनुमान नहीं कर सकते। अभी पूना का समझौता हुए बहुत दिन नहीं बीते। जब अभी से हरिजनों की अपेक्षा की जाने लगी, तो इसका नतीजा यही होगा, कि वह स्थानीय बोर्डों में भी अपना बंटवारा कराने के लिए जोर देंगे और कौन कह सकता है, उनकी वह मांग न्यायसंगत न होगी।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

खूब फल खाओ

विलायत और अन्य पश्चिमी देशों में इन दिनों 'फल खाओ' आंदोलन चल रहा है। विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है, कि फलों में जितने पोषक पदार्थ और रोगनाशक द्रव्य हैं, उतने भोजन की और किसी सामग्री में नहीं हैं। मन्दाग्नि की दशा में तो फलहार आवश्यक हो ही जाता है, साधारण अवस्थाओं में भी हमारे स्वास्थ्य पर फलाहार का बहुत ही अच्छा असर होता है। हम ऐसे कई सज्जनों को जानते हैं, जो अन्न पचाने में असमर्थ हैं और केवल फलों के आहार पर रहकर कड़ी से कड़ी मानसिक और शारीरिक मेहनत कर सकते हैं। घी, मक्खन और मांस-मछली खाने वाले आदमियों में चर्बी अधिक हो जाती है, जो वास्तव में रोग है। ऐसे आदमी कोई कड़ा परिश्रम नहीं कर सकते। फलाहार से देह में फुरती, चुस्ती और मुस्तैदी बढ़ती है और विज्ञानवेत्ताओं के मतानुसार फलाहार से मनुष्य दीर्घजीवी भी हो जाता है। मुश्किल यही है कि फलाहार अन्न से मंहगा पड़ता है और साधारण आदमी उसका व्यवहार नहीं कर सकता, अगर हमारे जमींदार फलों की खेती पर ज्यादा ध्यान दें तो वे देश के साथ बड़ा उपकार करें। अनाज के लिए जितनी मेहनत की जरूरत होती है, उतनी फलों में नहीं होती, और कम उपजाऊ जमीन में भी जहां अनाज पैदा नहीं हो सकता, फल पैदा हो सकते हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

गोलमेज़ में क्या हो रहा है

जिन लोगों को गोलमेज़ में केन्द्रीय उत्तरदायित्व का दरिया लहरें मारता नजर आ रहा था, उन्हें लार्ड इर्विन की वक्तृता ने निराश कर दिया होगा, उन्हें अब मालूम हो गया होगा, कि जिसे वे ठण्डे-मीठे पानी का दरिया समझे बैठे थे, वह वास्तव में मृग-तृष्णा मात्र है। वाइसराय के

अधिकार ज्यों के त्यों रहेंगे। फौज और माल दोनों ही पर शासन का संरक्षण रहेगा। फौज का खर्च भी साबिक दस्तूर रहेगा। वाइसराय इसी तरह आर्डिनेन्स भी बनाते रहेंगे। यही वह स्वराज्य है, जिसकी तीन साल से धूम मची हुई है? उसकी तो कलई खुल गयी ! अब देखना चाहिए, प्रान्तीय स्वायत्त शासन क्या गति होती है। फिर अभी तो फेडरेशन तो बैठा ही हुआ है।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

'जागरण' से जमानत

'जागरण' के 26 अक्टूबर', 32 के अंक में श्री श्यामधारी प्रसाद जी की लिखी हुई कहानी 'उसका अन्त' नामक निकली थी। कहानी में दो चरित्र है, एक शांतिवादी राष्ट्र-भक्त, दूसरा उग्रदल का आतंकवादी। दोनों ही अपने-अपने पक्षों के प्रतिनिधि से हैं। दोनों ही अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते हैं। हमारे विचार में शांतिवादी पक्ष ही की विजय हुई है, और यही लेखक का उद्देश्य था, लेकिन हमारे अधिकारियों ने उस कहानी को आपत्तिजनक समझा और हमसे दो हजार की जमानत तलब की, एक हजार की 'सरस्वती-प्रेस' से जिसमें 'जागरण' छपता है दूसरी एक हजार की 'जागरण' से हम कांग्रेसमैन हैं। हमारा सिद्धांत है कि हमारे राष्ट्र का उद्धार शांतिमय उपायों से ही होगा। रक्तमय विधानों के हम विरोधी हैं। कहानी के नायक की ही भाँति हमारी भी यही धारणा है, कि स्वाधीनता जैसा पवित्र उद्देश्य रक्तमय विधानों से पूरा नहीं हो सकता। द्वेष को हम द्वेष से नहीं, सहिष्णुता, प्रेम और सेवा से ही जीत सकते हैं। क्रोध को क्षमा से , द्वेष को प्रेम स, संदेह को विश्वास से ही परास्त किया जा सकता है। मनुष्य के आंतरिक देवत्व पर हमारा पूर्ण विश्वास है। जिस तरह क्षमा और प्रेम सत्य है, उसी तरह क्रोध और हिंसा असत्य हैं। और सत्य ने संसार में असत्य पर सदैव विजय पाई है। इस चिरंतन नियम में कभी अपवाद नहीं हुआ। संभव है, कुछ दिनों के लिए असत्य ने सत्य को दबा लिया हो, उसी तरह जैसे कभी-कभी मटियाले मेघ सूर्य को छिपा लिया करते हैं, लेकिन सूर्य जो सत्य है, जल्द या देर में मेघों को छिन्न भिन्न करके फिर अपना प्रखर प्रताप दिखाता है। क्षमा और प्रेम में कुछ ऐसी अजेय और दैवी शक्ति है, जिसके सामने उग्रता अपंग हो जाती है। यों कहना चाहिए, कि जीवन का आधार ही सत्य है। हमारा कितना ही अध:पतन हो जाय, हम कितने ही जड़वादी हो जाएं, लेकिन आत्मा के अन्दर बैठे हुए सत्य की उपेक्षा नहीं कर सकते। सत्य को सामने देखकर हमारे अन्दर का सत्य जैसे प्रतिध्वनित हो उठता है, जैसे वह अपने किसी पुरानी परिचित मित्र को देखकर उसके गले लिपटने के लिए विकल हो जाता है। यही कारण है कि हम हिंसक नरपिशाचों को किसी सत्यवादी-महात्मा का संसर्ग होते ही सदमार्ग पर आये देखते हैं। हमारा भी विश्वास है कि हम अपने को परिष्कृत करके ही अपने विरोधियों का दिल बदल सकते हैं। इसका कोई दूसरा सारल उपाय नहीं है। इसका नतीजा देर में निकलेगा, इसमें संदेह नहीं, लेकिन निकलेगा अवश्य। अपनी आत्म-शुद्धि, अपना आत्म-संस्कार ही हमारा कल्याण कर सकता है। जो आतंकवाद से देश का उद्धार करने का स्वप्न देखते हैं, वे सत्य की अवेहलना करते हैं और अपने उदेश्य से दिन-दिन दूर होते जाते हैं।

अगर हमें शासनाधिकारियों से इसलिए असन्तोष है, कि वे जनहित की उपेक्षा करके

अपने स्वार्थ की रक्षा करते हैं, तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने व्यवहार से, अपने त्यागमय जीवनादर्श से, यह सिद्ध कर दें, कि हम जन-सेवा के लिए उनसे ज्यादा उपयुक्त हैं। अगर हम ऐसा नहीं कर सकते और हमारे व्यवहार तथा आचरण से यह भासित होता है कि हम केवल अधिकार चाहते हैं, जनता को अपने स्वार्थ का केवल एक यन्त्र समझते हैं, तो अधिकारी भी आसानी से अपना अधिकार न छोड़ेंगे। हम किसी धनी से एक सद्‌कार्य के लिए चन्दा मांगने जाते हैं। यदि उसे हमारी सेवा-तत्परता में विश्वास है, वह समझता है, कि हमारा इरादा नेक है, तो हमें चन्दा मिलने में ज्यादा कठिनाई न होगी, लेकिन यदि यह उसमें विश्वास न पैदा कर सकें; तो निश्चय है, कि हमें वहां से निराश लौटना पड़ेगा। यही साधारण नियम राजनैतिक विषयों में भी लागू है। यदि हम सच्चे राष्ट्रभक्त हैं, तो हमें अपने ही आचरण से दूसरों पर अपनी छाप डालनी पड़ेगी। हमें अपने स्वार्थत्याग से दूसरों की स्वार्थपरता को लज्जित करना पड़ेगा। यह हमारा सिद्धांत है।

मगर सरकार ने उस कहानी को आपत्तिजनक समझा और हमसे जमानतें मांगी। अभी 'हंस' की जमानत से हाल ही में गला छूटा है। पांच महीनों तक पत्र बन्द रहा था, इसलिए इतनी जल्दी दूसरी जमानत का हुक्म पाकर हम बहुत क्षुब्ध हुए और मन में ऐसा आया कि कि पत्र को बन्द करके शान्ति से बैठें, लेकिन इतना बड़ा कलंक माथे पर लगाए शान्ति से बैठ रहना असाध्य था। हमने दूसरे दिन अधिकारियों से इस विषय में लिखा-पढ़ी की, मिले और अन्त में जमानत मंसूख कराने में सफल हुए। हम अपने जिले के कलेक्टर श्री पन्नालाल जी आई॰ सी॰ एस॰ और गवर्नमेंट के चीफ सेक्रेटरी मि॰ बकफोर्ड के कृतज्ञ हैं, कि इन दोनों ही महानुभावों ने आशातीत उदारता और सहृदयता का परिचय दिया, जिससे आज हमको पाठकों की सेवा में हाजिर होने का शुभ अवसर मिला।

लेकिन यहां इतना कह देना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं, कि ऐसे वातावरण में जब कि हर एक सम्पादक के सिर पर तलवार लटक रही हो, राष्ट्र का सच्चा राजनैतिक विकास नहीं हो सकता। अधिकारियों के हाथ में इतना अख्तियार दे दिया गया है कि कोई सम्पादक अफसरों की आलोचना करके सुख नींद की नहीं सो सकता। समाचार-पत्रों को कर्मचारियों की आलोचना करने में कोई आनन्द नहीं आता। न यह सब उनके लिए विनोद की वस्तु है। राष्ट्र के वे भी उतने ही सच्चे हितचिंतक हैं, जितने अधिकारी वर्ग। वे जब सरकार की नीति या कार्यवाही पर टिप्पणियां करते हैं, तो उनका उद्देश्य जनता में असन्तोष फैलाना मात्र नहीं हो सकता। केवल यही चाहते हैं, कि किसी नीति पर जनता में जो भावनाएं उत्पन्न हों, उसे प्रकट कर दें। वे जनता ही के नहीं, शासन के भी हितैषी हैं। एक ओर तो वे जनमत की वकालत करते हैं, दूसरी ओर जनता में उस नागरिकता का प्रचार करते हैं, जिसे वे राष्ट्र के उत्थान के लिए आवश्यक समझते हैं। उनकी जिम्मेदारियां बहुत बड़ी हैं। अगर वे निर्भीकता से जनमत को प्रकट नहीं करते, तो उनकी आवश्यकता ही जाती रहती है और जनता उन्हें सरकारी पिट्ठू समझकर उनकी उपेक्षा करती है। यदि वे साफगोई से काम लेते हैं, तो सरकार के कोप भाजन बनते हैं, और यह अवस्था केवल इसलिए पैदा हो गई है, कि शासकों और शासितों के स्वार्थ में संघर्ष है। समाचार-पत्रों की हैसियत शासितों के वकील की है। उन्हें पग-पग पर कर्मचारियों की नीति की आलोचना करनी पड़ती है और अधिकारी अपनी आलोचना सुनना पसन्द नहीं करता। आज हर एक अखबार का जीवन अधिकारियों की मुट्ठी

में हैं। वे जिस समय चाहें उसका निकलना बन्द कर सकते हैं। अपील और फरियाद के लिए जो सुविधाएं दी गयी हैं, वह इन बेड़ियों को जरा भी ढीला नहीं करतीं। अब तक तो यह ढारस था, कि कानून आर्डिनेंसों का नियत समय के बाद अंत हो जाता था, पर अब तो आर्डिनेन्सों के कानूनी रूप में आ जाने से उन्हें स्थायित्व प्राप्त हो गया। इसने समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता का एक प्रकार से अन्त कर दिया। समाज पर घोर से घोर अनाचार करने वालों पर भी इतना कठोर नियन्त्रण नहीं रखा जाता, जितना सम्पादकों पर, मानों ये रीछ या मरखने सांड हैं, कि जरा भी छूटे और उपद्रव मचाना शुरू कर देंगे। हमें भय है, कि इन प्रतिकूल दशाओं में समाचार-पत्रों का बढ़ना और पनपना कठिन हो जाएगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

मुस्लिम जनता में एकता सम्मेलन का समर्थन

मुसलिम संप्रदायवादियों को एकता से विरोध होना चाहिए था और हो रहा है पर अब मुसलिम जनता उनके पीछे नहीं चलना चाहती। दिल्ली के कुछ सरकारी वजीरों और खान बहादुरों और खान बहादुरी के उम्मेदवारों ने आपस में मिलकर चुपके से इस आशय का एक प्रस्ताव पास कर दिया था कि उन्हें एकता सम्मेलन के फैसले अस्वीकार हैं पर उसी दिल्ली के उत्साही मुसलिम युवकों ने उस जलसे की कार्यवाही पर यह प्रस्ताव स्वीकार किया है–

"प्रयाग एकता सम्मेलन का फैसला मुसलमानों के लिए प्रधानमंत्री के नादिरशाही फैसले से कहीं बढ़कर है। नामनिहाद मुसलिम कांफ्रेंस, मुरदा लीग ने जिसके साथ कानपुरी जम्मेयत का दुमछल्ला लगा हुआ है, मुसलमानों के नाम पर एकता का जो विरोध किया है और अपने एक जलसे में जो प्रस्ताव स्वीकार किया है, वह किसी तरह भी मुसलमानों के लिए मान्य नहीं है। इन थोड़े से स्वार्थ सेवियों की यह नीति मुसल्मिम युवकों की दृष्टि में देश-द्रोह है।"

राष्ट्र की भावी आशा हमारे युवक ही हैं, और हमारे लिए परम संतोष की बात है, कि प्राय: हरेक अवसर पर मुसलिम युवकों ने सांप्रदायिकता की उपेक्षा करके राष्ट्रीयता का परिचय दिया है। इस सद्भावना की जितनी प्रशंसा की जाय कम है।

पटना में भी मौलाना शफी दाऊदी ने एक जलसे में एकता सम्मेलन के विरोध में मुसल्मिम जनता को संगठित करने की चेष्टा की, पर वहां भी उन्हें मुंह की खानी पड़ी और जलसे में बहुमत से सम्मेलन के समर्थन का प्रस्ताव मंजूर हो गया। हमें आशा है, अब एकता के विरोधियों को मालूम हो गया होगा, कि मुसलिम जनता उनके साथ नहीं है। मौलाना शौकतअली ही को वह अपना नेता समझती है और अब उसे इस रास्ते से नहीं हटाया जा सकता। उन्हें अब अपनी तकदीर ठोंक लेनी चाहिए और जिस लीडरी का अब तक वे स्वप्न देख रहे हैं, उसके नाम को रो लेना अब मुनासिब है।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

लंदन में क्या होगा?

जहां दो बर्तन रक्खे रहेंगे वहां कुछ शोर होगा ही। जरा-सी हवा की ठेस से दो बर्तनों का आपस में लड़ पड़ना उतना ही स्वाभाविक है जितना कि उनके खाली होने पर तीव्र झनझनाहट का पैदा हो जाना। यदि बर्तनों में इतना काफी सामान रख दिया जावे कि जरा-सी हवा उनको हिला-डुला न सके तो आवाज का होना उसी प्रकार रुक जावेगा जिस प्रकार उनका टकराना। ठीक यही दशा भारत में हिन्दू और मुसलमानों की भी है। विदेशी शासन के कारण पेट में चारा तो है ही नहीं, सौ में पचहत्तर फीसदी को दोनों वक्त भरपेट भोजन नहीं मिलता। इसीलिए, उनमें गंभीरता, सहिष्णुता-सन्तोष का अभाव हो गया है, लूट-खसोट, जुआ-चोरी या एक-दूसरे के टुकडे को छीन लेने की नीयत पैदा हो गई है, और वे आए दिन आपस में लड़ने पर उतारू हो जाते हैं। विरोध की जरा-सी हवा से बर्तन झनझना उठते हैं। उनके विरोध से उत्पन्न शोर इतना तीव्र मालूम होता है कि लन्दन तथा उसके मुहल्ले डाउनिंग स्ट्रीट में बैठे हमारे शासक यह समझते हैं, कि इन दो को एक स्थान पर रखा ही नहीं जा सकता। जरूरत यह है कि हर वक्त एक आदमी दोनों बर्तनों के बीच में खड़ा रहे।

किन्तु हमारे लड़ने से जो इतना ऊब गये हैं, जो हमारी लड़ाई को वाकई रोकना चाहते हैं, क्या कभी उन्होंने हमारे विरोध के कारणों की भी जांच की है? क्या उन्हें कभी यह भी मालूम हो गया है, कि हमारी लड़ाई की सतह में हमारी दरिद्रता का करुण-क्रन्दन, हमारे रोग-शोक-संताप का वीभत्स चीत्कार छिपा हुआ है। क्या कभी यह सोचा गया है, कि काश मुसलिम-व्यापार उन्नति पर होता, काश हिन्दू किसान खुशहाल होता और काश दोनों को अपनी मुसीबतों को अपने आप दूर कर देने का हक हासिल होता। आज मुसलमानों की नंगी गरीबी कौन नहीं जानता। घर में मिट्टी के बर्तनों और तन पर मखमल का कोट पहने हुए मुसलमान बड़ी आजादी से मारकाट पर उतारू हो जाता है अगर कोई उसका घर भी लूट ले, तो उसका क्या जावेगा, पर, जहां मुसलमान अमीर हैं, वहां बिरले ही झगड़ा होते सुना गया है। जबलपुर में ज्यादातर व्यापार मुसलमानों के हाथ में है। वहां दंगा हुआ भी तो पचास साल में एक बार!

इसलिए हम तो हिन्दू-मुसलिम विरोध को दो भिखारियों का एक रोटी के टुकड़े के लिए कलह मानते हैं। हमें तो इसमें कोई तथ्य ही नहीं दीखता, कि दोनों को हमेशा लड़ाई से बचाने को एक तीसरे की जरूरत है। जरूरत है, पर वह रोटी की और रोटी के लिए तभी उम्मेद की जा सकती है जब अपनी हुकूमत अपने हाथ में हो, अपना व्यापार अपने हाथ में हो, अपना पैसा अपने हाथ से खर्च हो और हम खुद अपने ऊपर सरगना हों। गोलमेज़ सम्मेलन की बैठकें लगातार फिर हो रही हैं। इस बार पिछली बार की तरह कोई धूमधाम नहीं है, कोई हलचल नहीं है, गांधीजी के समान कोई व्यक्तित्व नहीं है—पर इस बार सम्मेलन के सामने वह चीज है जो उसके सामने पिछली बार न थी। वह है हिन्दू और मुसलमानों का प्रयाग का समझौता। इस समझौते की, इससे बढ़कर विजय और क्या हो सकती है, जब मौलाना शौकतअली ने लन्दन पहुंचते ही कह दिया कि अब हिन्दू और मुसलमानों में एका हो गया। अब जरूरत है इस बात की कि प्रयाग के समझौते को तुरंत मान लिया जावे। यहां भारत में भी श्री राजगोपालाचारी, तथा श्री राजेंद्रप्रसाद ऐसे माननीय कांग्रेसी नेताओं ने, मौलाना

अब्दुल मजीद, मौलाना अब्बुल कलाम आजाद ऐसे नर्म-गर्म दोनों-पक्ष के मुसलिम नेताओं ने मुसलमानों से और हिन्दुओं से अपील की है, कि वे तुरंत इस समझौते को अपना लेवें। हमें हर्ष है कि डा० मुन्जे ऐसे हिन्दू नेताओं ने, जो इसके पक्ष में नहीं हैं, हमारा विरोध कर प्रगति रुकने में बाधा नहीं पहुंचाई है। फिर इस समझौते का विरोधी कौन है--नहीं, जिनके विषय में मौलाना शौकतअली ने अभी लन्दन में कहा हैं कि 'वे भारत के नकली नेता हैं।'

इतना होते हुए भी फ्री प्रेस के संवाददाता का लन्दन से तार है कि इस बार समझौता हो जाना विशेष कठिन नहीं है, पर हिन्दू- मुसलिम समस्या को बहुत बढ़ाकर कहा जा रहा है। रायटर का ही भेजा हुआ तार है कि "एक भारतीय गोलमेज़ी सदस्य का वचन है कि हिन्दू-मुसलिम समस्या को बहुत ही तूल दिया जा रहा है।" तूल देने की जो बात थी वह हम ऊपर लिख चुके हैं। यदि हमारी गरीबी को तूल देकर बतलाया जाता तो हम भी कृतज्ञ होते। हमारे विरोध का यदि वाकई में असली कारण बतलाया जाता तो हम भी कृतज्ञ होते अगर वह झूठी बातों का तूल दे रहे हैं, चाहे हिन्दू या मुसलिम या योरोपीय नेता हो क्यों ना हों–तो हम तो यही कहेंगे कि जिस प्रकार प्रयाग के समझौते के विषय में मौलाना शौकतअली भारत में 'नकली' नेताओं से डर रहे हैं, उसी प्रकार हमें भी लन्दन में गये हुए भारत के नकली नेताओं से डर है। यदि इन लोगों ने हमारे ऐक्य को डंकों की चोट वहां ऐलान न कर, हमारे विरोध के असली कारण को दू न करा दिया तो हम यही कहेंगे कि आगे एक आने वाली पीढ़ी इनकी इस प्रत्यक्ष नोचना को स्मरण रखेगी, हमारी गरीबी में सूखता हुआ खून उनके पाप के खाते में दर्ज होगा और हमारी तरक्की की कफन में जो कीलें ठुक जावेंगी, उसकी सारी जिम्मेदारी इन लोगों पर होगी।

भारत तो इस वक्त कानून के शिकजे में कसा हुआ कराह रहा है। चाहे गोलमेज के प्रतिनिधियों की देश सेवा के प्रति उसके हृदय में कितना ही शुबहा क्यों न हो वह तो लन्दन की ओर टकटकी लगाए बैठा है और यह उसे उम्मीद है कि यदि गोलमेज विफल भी हो तो कम से कम हिन्दू मुसलिम समझौते के नाम रो तो न हो। यदि फिर से और इसी कारण हम विफल हुए तो जिम्मेदारी हमारी भी है और एसे मेंबरों को बिना हमसे पूछे भेजने वाली सरकार की भी।

[सम्पादकीय। 'जागरण' 12 दिसम्बर 1932 में प्रकाशित। 'त्रिविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

हमारे युवकों का कर्त्तव्य

महात्मा गांधी ने काशी विश्वविद्यालय के अध्यापक श्री सी० एन० मेनन के एक पत्र का जवाब देते हुए लिखा है–

"प्रियवर, मै कह सकता हूं कि अगर छात्रों की ओर से जमोरिन के नाम एक पत्र भेजा जाय, जिस पर उन सभी छात्रों के हस्ताक्षर हों जिनका हरिजनों के उद्धार में विश्वास है, तो यह इस बात का उज्ज्वल प्रमाण होगा कि भावी राष्ट्र इस काले दाग को मिटाने के लिए कितना तुला हुआ है। क्या ही अच्छी बात हो कि हिन्दू विश्वविद्यालय की तरह सभी विद्यालयों के छात्र ऐसा ही करें।"

हमें पूर्ण विश्वास है, कि हमारे छात्र इस आदेश को शिरोधार्य करेंगे। हमें यह भी

विश्वास है कि अधिष्ठाताओं की ओर से अगर इस शुभ कार्य में प्रोत्साहन न मिलेगा, तो कम से कम कोई बाधा न खड़ी की जायगी।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

ईरान का तेल

इस कहावत में सत्यता का बहुत कुछ अंश है कि तेल ही इस समय दुनिया में हुकूमत कर रहा है। तेल न हो तो कल-कारखाने, जहाज, हवाई जहाज, मोटर, ट्रेन, तोप, टैंक सबका काम रुक जावे। लाख बिजली की ईजाद हो, जल प्रपात और सूर्य की रश्मियों से काम लिया जाये पर तेल का राज्य नहीं उठ सकता। यदि आज महासमर हो जावे तो जो राष्ट्र तेल के सोतों पर अधिकार रख सकेगा वही विजयी होगा। इसी वास्ते फ्रांस और जर्मनी की समस्या नहीं सुलझ पाती। फ्रांस चाहता है कि जर्मनी के तेल के सोतों पर मेरी हुकूमत रहे। ब्रिटेन चाहता है कि बर्मा और ईरान का तेल उसी के हाथ में रहे। अमेरिका अपने स्टैंडर्ड आयल कम्पनी के लिए दक्षिण अमेरिका के प्रत्येक स्वतन्त्र कहे जाने वाले गणतन्त्र का गला घोंटने के लिए तैयार रहता है। निकारागुआ का सत्यानाश इसी कारण हुआ। बाकू के तेल के सोतों के पीछे लाखों की जानें जा चुकी हैं।

इसलिए तेल का इतना महत्वपूर्ण स्थान होने पर भी यदि कोई स्वतन्त्र राज्य, कम से कम उस तेल पर जो उसके देश में निकल रहा है, अधिकार रखना चाहता है तो इसमें क्या बुराई है? भारत यदि बर्मा के तेल पर अपना अधिकार व्यक्त करता है और ईरान अपने तेल पर, तो दोनों दशाओं में ब्रिटेन को न्याय की बात मानकर, अपना हक वापस ले लेना चाहिए। ईरान के ब्रिटिश भक्त शाह ने 1901 में एक ब्रिटिश कम्पनी को 1961 तक देश भर के तेल के सोतों से तेल निकालने की आज्ञा दे दी थी। यह आज्ञा उन्होंने दी थी या स्वयं ब्रिटिश आज्ञा का पालन किया था, यह संदेह की बात है। इस विषय में हम इतना ही कह सकते हैं कि यदि रूस यह कह सकता है कि जार ने रूस की प्रजा की इच्छा के विरुद्ध इसके लिए विदेशी राज्य से कर्जा लिया था। और उसे चुकाने के लिए रूस की तैयार नहीं है, तथा यही बात तुर्किस्तान की ओर से भी विगत लासन कांफ्रेंस में उठाई जा सकती थी, तो ईरान भी इसी बुनियाद पर यदि प्रजाहित के विरुद्ध प्रजा की इच्छा के विरुद्ध किये गए एक अत्यन्त दूषित कार्य के सुधार का निश्चय कर ले तो ब्रिटेन को उसे धमकाना नहीं चाहिए। ईरान ने साफ कह दिया है कि ईरानी स्वयं अपना तेल निकालेंगे और हमारी समझ में उन्हें यह कहने का हक है।

[संपादकीय। 'जागरण' 19, दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

काशी म्युनिसिपल बोर्ड का निर्वाचन-1

पंडित इकबाल नारायण गुर्टू के वाइस चांसलर हो जाने के कारण स्थानीय नगर बोर्ड के लिए एक सुयोग्य चेयरमैन का चुनाव निकट है। इस विषय में हम अपना मत प्रकट कर चुके हैं। हम लिख चुके हैं कि व्यर्थ के आडम्बर का ख्याल न कर, किसी के धन का निरर्थक बड़प्पन का विचार कर, इस पद पर किसी को नहीं चुनना चाहिए। बोर्ड की जैसी दशा है, उसे देखते

हुए हमें एक निर्भीक, नवयुवक, नगर-सेवा का इच्छुक तथा कुछ अनुभव रखने वाला, साहसी तथा मेंबरों पर हावी चेयरमैन चुनना चाहिए और हमें पूरी आशा है कि बोर्ड के सदस्य अपनी जिम्मेदारी का दुरुपयोग न करेंगे।

[संपादकीय। 'जागरण', 19 दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

बंगाल में आतंकवाद

बंगाल कौंसिल में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए होम मेम्बर ने क्रांतिकारियों के अपराधों की जो लम्बी सूची दी, वह बहुत ही निराशाजनक है। इस एक वर्ष में केवल बंगाल में ऐसे 146 कांड हुए। इनमें ढाका और मैमनसिंह जिलों में आतंकवादियों ने विशेष रूप से अपना जोर दिखाया। इसका नतीजा इसके सिवा और क्या हो सकता था कि सरकार की दमन नीति और कठोर हो गयी। आतंकवादियों की समझ में कब यह बात आएगी कि इन अपराधों से वे केवल राष्ट्र की उन्नति में बाधक हो रहे हैं। अगर उनमें देश और राष्ट्र के प्रति प्रेम है तो उनके लिए सेवा का मैदान खुला हुआ है। देश में सेवकों का अभाव है और ऐसे कितने ही तरीके हैं जिनसे वे देश का आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक उपकार कर सकते हैं। इन हत्याकारी अपराधों से वे केवल अपना सर्वनाश नहीं करते, देश की उन्नति में भी बाधक होते हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 19 दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

बीमा कम्पनियों की अधिकता

लाहौर में प्रकाशित होने वाली एक अंग्रेज़ी पत्रिका ने जो केवल बीमा-कम्पनी के व्यवसाय तक ही अपने ध्यान और स्वार्थ को केन्द्रित रखती है, एक बड़े महत्त्वपूर्ण प्रश्न की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। बीमा कम्पनियों पर सरकार की जो सबसे ताज़ा रिपोर्ट प्रकाशित हुई है, उससे कई महत्त्वपूर्ण उद्धरण लेकर, इस पत्रिका ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि बीमा कम्पनी नियम की सरलता तथा सरकार का पर्याप्त प्रभाव न होने के कारण बहुत सी बीमा कम्पनियां भारत में खुल गई हैं, पर उनका व्यवसाय बहुत ही मन्दा है। लाभ शून्य सा होता जा रहा है और यदि शीघ्र ही कई कम्पनियों ने अपना कारोबार एक साथ ही नहीं मिला दिया तो कई कम्पनियां टूट जावेंगी और इससे बीमा-कम्पनियों के प्रति बढ़ती हुई श्रद्धा तथा विश्वास को गहरा धक्का पहुंचेगा। बीमा चाहे वह कम्पनी का हो या अन्य चीजों का, आजकल के ज़माने में एक नितान्त आवश्यक चीज़ है और हम हरेक शिक्षित या अशिक्षित नागरिक को बीमा का लाभ उठाने की सलाह देते हैं। पर साथ ही सरकारी रिपोर्ट ने कुछ कम्पनियों के कारोबार के विषय में शंका प्रकट की है तथा जिसकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है, वह भी बड़ी जरूरी बात है और तुरन्त कानून बनाकर इस प्रकार के नाश से स्वत: कम्पनियों की, तथा उससे उत्पन्न होने वाली बुराइयों से हमारी रक्षा करनी चाहिए।

[संपादकीय। 'जागरण', 19 दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

हतभागे किसान

भारत के अस्सी फीसदी आदमी खेती करते हैं। कई फीसदी वह हैं जो अपनी जीविका के लिए किसानों के मुहताज हैं, जैसे गांव के बढ़ई, लुहार आदि। राष्ट्र के हाथ में जो कुछ विभूति है, वह इन्हीं किसानों और मजदूरों की मेहनत का सदका है। हमारे स्कूल और विद्यालय, हमारी पुलिस और फौज, हमारी अदालतें और कचहरियां, सब उन्हीं की कमाई के बल पर चलती हैं, लेकिन वही जो राष्ट्र के अन्न और वस्त्रदाता हैं, भर पेट अन्न को तरसते हैं, जाड़े-पाले में ठिठुरते हैं और मक्खियों की तरह मरते हैं। कोई जमाना था जब गांव के लोग अपने डील-डोल, बल-पौरुष के लिए मशहूर थे। जब गांवों में दूध-घी की इफरात थी। जब गांव के लोग दीर्घजीवी होते थे। जब देहात की जलवायु स्वास्थ्यकर और पोषक थी, लेकिन आज आप किसी गांव में निकल जाइए, आपको खोजने से भी हृष्ट-पुष्ट आदमी न मिलेगा, न किसी की देह पर मांस है न कपड़ा। मानो चलते-फिरते कंकाल हों। और तो और, उन्हें रहने को स्थान नहीं है। उनके द्वारों पर खड़े होने तक की जगह नहीं, नीची दीवारों पर रक्खी हुई फूस की झोंपड़ियों के अन्दर वह, उसका परिवार, भूसा, लकड़ी, गाय, बैल सबके सब पड़े हुए जीवन के दिन काट रहे हैं। कोई समय था जब भारत के धन का संसार में शोहरा था। यहां के सोने और जवाहरात की चमक से दूर-दूर के कवियों की आंखों में चकाचौंध हो जाती थीं, विजेताओं के मुंह में पानी भर आता था, मगर आज वह कपोलकथा मात्र है। आज भारत दरिद्रता और अज्ञान के ऐसे गहरे गढ़े में गिरा पड़ा है कि उसकी थाह भी नहीं मिलती। लार्ड कर्जन ने 1901 में यहां की व्यक्तिगत आय का अनुमान तीस रुपये साल किया था। 1915 में एक दूसरे हिसाबदां ने इस अनुमान को पचास रुपये तक पहुंचाया, और 1915 में वह समय था जब योरोपीय महाभारत ने चीजों का मूल्य बहुत बढ़ा दिया था। 1930 में वही हालत फिर हो गई जो 1901 में थी और हिसाब लगाया जाय तो आज हमारी व्यक्तिगत आय शायद पच्चीस रुपये से अधिक न हो, पर आज तक किसी ने किसानों की दशा की ओर ध्यान नहीं दिया और उनकी दशा आज भी वैसी है जो पहले थी। उनके खेती के औजार साधन, कृषि-विधि, कर्ज, दरिद्रता सब कुछ पूर्ववत् है।

नहीं यह कहना गलती होगी कि उनकी दशा की तरफ किसी ने ध्यान नहीं दिया, सरकार ने समय-समय पर उनकी रक्षा करने के लिए कानून बनाए हैं, और शायद इस तरह के कानून अब तक और ज्यादा बन गए होते, यदि जमींदारों की ओर से उनका विरोध न हुआ होता। अब की बार ही छूट के विषय में जमींदारों ने कम रुकावटें नहीं डालीं, लेकिन अनुभव से मालूम हो रहा है कि इस नीति से किसानों का विशेष उपकार नहीं हुआ। इन कानूनों के बगैर सम्भव था, उनकी हालत इससे भी खराब होती। इनमें इतना फायदा तो जरूर हुआ कि उनकी पतनोन्मुखी प्रगति रुक गयी लेकिन उन्नति के लिए दशाएं अनुकूल न हो सकीं। हम तो उन्नति के लिए ऐसे विधानों की जरूरत है जो समाज में विप्लव किए बिना ही काम में लाए जा सकें। हम श्रेणियों में संग्राम नहीं चाहते। हां, इतना अवश्य चाहते हैं कि सरकार और जमींदार दोनों ही इस बात को न भूल जायं कि किसान भी मनुष्य हैं, उसे भी रोटी और कपड़ा चाहिए, रहने को घर चाहिए, उसके घर में शादी-गमी के अवसर आते हैं, उसे भी अपनी बिरादरी में अपने कुल मर्यादा की रक्षा करनी पड़ती है। बीमारी-आरामी औरों की तरह उस

पर भी व्याप्त होती है। इसलिए लगान बांधते समय इस बात का खयाल रखें कि किसानो को कम से कम खेती में इतनी मजूरी तो मिल जाय कि वह अपने बाल-बच्चों का पालन कर सकें। हमारे प्रांत में अधिकतर किसान ऐसे हैं जिनके पास तीन, चार एकड़ से ज्यादा भूमि नहीं है। बहुत बड़ा हिस्सा तो ऐसों का है जिनके पास इसकी आधी जमीन भी नहीं है। और जमार्बोदयां जितनी ही छोटी होती हैं, उन पर खेती का खर्च उतना ज्यादा बैठता है। इसलिए जमीन के लगान के दर में नए सिरे से तरमीम होनी आवश्यक है। बेशक उससे जमींदारों की आमदनी कम हो जायगी, और सरकार को अपने बजट बनाने में बड़ी कठिनाई पड़ेगी, लेकिन किसान के जीवन का अन्य सभी हितों से कहीं ज्यादा मूल्य है।

किन्तु परिस्थितियों को देखते लगान में निकट भविष्य में विशेष कमी नहीं की जा सकती। वास्तव में हालत तो यह है कि छोटे-छोटे किसानों का खेती पर जो खर्च पड़ रहा है वह भी वसूल नहीं होता, लगान तो दूर की बात है। और मान लिया किसी तरह एक या दो साल डंडे के जोर से लगान वसूल कर लिया गया भी तो क्या। जब किसान भूखों मर रहा है तो वह दुर्बल और रुग्ण होगा, खेती में ज्यादा मेहनत न कर सकेगा और इसलिए उसकी पैदावार भी अच्छी न होगी। हमें तो परिस्थिति में कुछ ऐसा परिवर्तन करने की जरूरत है कि किसान सुखी और स्वस्थ रहे। जमींदार, महाजन और सरकार सबकी आर्थिक समृद्धि किसान की आर्थिक दशा के अधीन है। अगर उसकी आर्थिक दशा हीन हुई तो दूसरों की भी अच्छी नहीं हो सकती। किसी देश के सुशासन की पहचान साधारण जनता की दशा है। थोड़े से जमींदार और महाजन या राजपदाधिकारियों की सुदशा से राष्ट्र की सुदशा नहीं समझी जा सकती।

किसानों के लिए दूसरी जरूरत ऐसे घरेलू धंधों की है जिससे वह अपनी फुरसत के वक्त कुछ कमा सकें। यह काम असंगठित रूप से सफल नहीं हो सकता। इसे या तो सहकारी सोसाइटियों के हाथ में दिया जाना चाहिए या सरकार को खुद अपने हाथ में रखकर व्यापार और उद्योग विभाग के द्वारा इसका संचालन कराना चाहिए। एक प्रान्त में बाज़ ऐसी चीजें हैं जिनकी खपत नहीं है, मगर दूसरे प्रान्तों में उनकी अच्छी खपत है ऐसे उद्योगों का प्रचार किया जाना चाहिए।

खेती की पैदावार बढ़ाने की ओर भी अभी तक काफी ध्यान नहीं दिया गया। सरकार ने अभी तक केवल प्रदर्शन और प्रचार के सीमा के अन्दर रहना ही उपयुक्त समझा है। अच्छे औजारों, अच्छे बीजों, अच्छी खादों का केवल दिखा देना ही काफी नहीं है। सौ में दो किसान इस प्रदर्शन से फायदा उठा सकते हैं। जिनको भोजन का ठिकाना नहीं है, जो नाक तक ऋण के नीचे दब हुआ है उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह नयी तरह के बीज या औजार या खाद खरीदेगा। उसे तो पुरानी लीक से जौ भर हटना भी दुस्साहस मालूम होता है। उसमें कोई परीक्षा करने की, किसी नई परीक्षा का जोखिम उठाने की सामर्थ्य नहीं हैं। उसे तो लागत के दामों यह चीजें किस्तवार अदायगी की शर्त पर दी जानी चाहिए। सरकार के पास इन कामों के लिए हमेशा धन का अभाव रहता है। हमारे विचार में इससे ज्यादा जरूरी सरकार के लिए कोई काम ही नहीं है।

दूसरी जरूरत जमीन की चकबन्दी है। जमीन का बंटवारा इतनी कसरत से हुआ है और हो रहा है कि जिसकी कोई हद नहीं। दक्षिण में सन् 1771 ई० में औसत जमाबन्दी

चालीस एकड़ की थी। 1915 ई० में वह केवल सात एकड़ रह गई। बंगाल में तीन एकड़ है और संयुक्त प्रान्त में केवल डेढ़ एकड़। यह डेढ़ एकड़ भी गांव के चारों दिशाओं में स्थित होता है, इसलिए उसमें बहुत परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। चकबन्दी हो जाने से इतना फायदा होगा कि किसान अपने चक को बाड़ों से घेर सकेगा, उसमें कुएं बनवा सकेगा, खेतों की निगरानी कर सकेगा। इससे उसकी उपज में कुछ बढ़ती होने की आशा हो सकती है।

कीड़ों से भी अक्सर फसल का बहुत नुकसान होता है। पिछले साल चूहों ने कितने खेतों का सफाया कर दिया। कभी लाही आती है, कभी माही, कभी गेरुई, कभी पतिंगे। कभी दीमकों का जोर होता है, कभी कीड़ों का। किसानों के पास इन भौतिक बाधाओं की कोई दवा नहीं है। कृषि विभाग ने इस विषय में बहुत कुछ खोज लिया है और जरूरत है कि उसकी परीक्षित अनुभूतियां किसानों के कानों तक पहुंचाई जाएं। केवल इतना ही नहीं, उनके द्वारों तक पहुंचाई जाएं, पर यहां तो जो कुछ होता है, दफ्तरी ढंग से, जो इतना पेचीदा और विलम्बकारी है कि उससे किसानों को फायदा नहीं होता यहां दफ्तरी ढंग की नहीं, मिशनरी उद्योग की जरूरत है। अब तक सरकार ने किसानों के साथ सौतेले लड़के का-सा व्यवहार किया है। अब उसे किसानों को अपनी जेठा पुत्र समझकर उसके अनुसार अपनी नीति का निर्माण करना पड़ेगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 19 दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

खेद प्रकाश

जागरण में 'उसका अंत' नाम कहानी छापने के कारण यू० पी० गवर्नमेंट ने हमसे जो जमानत मांगी थी वह कृपाकर उसने मंसूख कर दी है। हम हाकिम जिला मि० पन्नालाल आई० सी० एस० और यू० पी० गवर्नमेंट को इस कृपा के लिए धन्यवाद देते हैं। हमें खेद है कि कहानी का भाव समझने में हमसे भूल हुई। हम आतंकवाद के कभी समर्थक नहीं रहे और हमारा सिद्धांत है कि आतंकवाद से देश की बहुत बड़ी हानि हो रही है। हम गवर्नमेंट को विश्वास दिलाते हैं कि भविष्य में ऐसी कोई चीज न प्रकाशित करेंगे जिसका आतंकवाद से सम्बन्ध हो क्योंकि अहिंसा में हमारा पूर्ण विश्वास है।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

पावन तिथि

18 दिसम्बर भारत के इतिहास में बहुत दिनों तक याद रखा जाएगा। यह उस पावन पर्व का दिन था, जब हिन्दू-समाज ने व्यावहारिक रूप में उस तत्व को स्वीकार कर लिया, जो सभी धर्मों का मूल तत्व है, और वह है—मनुष्य-मात्र की समता। बौद्ध और ईसाई, इसलाम और सिख, सभी मजहबों में, जहां तक उनका समाज से सम्बन्ध है (Universal Brotherhood) को ही आधार माना गया है। बल्कि यों कहा जा सकता है कि धर्मों की सृष्टि का यही उद्देश्य था। इसी एक व्यवस्था में सारे आध्यात्मिक और नैतिक, दैहिक और मानसिक सिद्धांत समाविष्ट हो जाते हैं। जब मानव-समाज में छोटे-बड़े, ऊंच-नीच का भेद बढ़ा, एक नए

धर्म का उदय हुआ। संसार में जितने धर्म हैं, उनमें यही एक तत्व है, जो सबमें पाया जाता है। उनमें तरह-तरह के भेद हैं, भांति-भांति की व्यवस्थाएं हैं—कहीं मांस वर्जित है, कहीं मदिरा वर्जित है, कहीं इनमें से एक भी वर्जित नहीं, कहीं एक ही ब्याह की व्यवस्था है कहीं चार की, कहीं अनेक की, लेकिन इस भाईचारे के विषय में सभी एकमत हैं। इसका कारण यही है, कि इस तत्व की उपेक्षा करक, समाज में शान्ति नहीं रह सकती। या तो किसी नए धर्म की सृष्टि होगी, या कोई भयंकर विप्लव हो जाएगा। फ्रेंच-क्रांति इसी विषमता की फरियाद थी, रूस की क्रान्ति भी इसी भेद-भाव का रुदन था। मनुष्य-मात्र में जो एक आत्मा व्याप्त है, वह इस विषमता को सहन नहीं कर सकती।

दैवी सम्पदा

हमारे जितने पर्व हैं, वे सभी किसी आध्यात्मिक विजय की यादगार हैं। १४ दिसम्बर को भारत के एक कोने से दूसरे कोने में जो पावन पर्व मनाया गया, वह हिन्दू जाति के पुनरुत्थान का यज्ञ था। एक समय आयेगा, जब होली और दीपावली, विजयादशमी और रक्षा-बन्धन की भांति सारे भारतवर्ष में घर-घर यह उत्सव मनाया जायगा। रक्षा-बन्धन ब्राह्मणों का पर्व है, विजयादशमी क्षत्रियों का, दीपावली वैश्यों का, होली शूद्रों का लेकिन यह 'हरिजन-दिवस' समस्त हिन्दू जाति का पर्व होगा। यह वर्ण भेद को मिटाकर एकता के भावों को जगाने और पालने वाला होगा। क्या आध्यात्मिक और क्या सामाजिक दृष्टि से कोई भी पर्व इसकी बराबरी कर सकता है? यह चिरकाल तक उस विजय की याद दिलाता रहेगा, जो दैवी शक्तियों ने आसुरी मनोवृत्तियों पर पाई। पृथकता और विच्छेद आसुरी मनोवृत्ति है। एकता और प्रेम दैवी सम्पद हैं। ऊंच कुल के विद्वान प्रतिष्ठित प्रभावशाली सज्जनों को झाड़ू और टोकरी लेकर हरिजनों के घर और मुहल्लों की सफाई करते देखकर राष्ट्र की आत्मा फूली न समाई होगी।

हरिजन बालकों के साथ सजातीय बालकों को हिल-मिलकर खेलते देखकर ईश्वरों ने भी आशीर्वाद दिया होगा। बुद्ध और शंकर, रामानुज और चैतन्य, दयानन्द और गोविन्दसिंह की आत्माओं ने स्वर्गधाम से जो शुभेच्छाएं की होंगी, जिन आदर्शों के लिए उन्होंने अपने जीवन का उत्सर्ग कर दिया उन्हें फलते फूलते देखकर उन्हें जो आनन्द हुआ होगा, उसकी कल्पना हमारे राष्ट्र जीवन में कितनी शक्ति और स्फूर्ति का संचार होगा, इसे कौन कह सकता है।

हिन्दू जाति ने इस चिरकालीन कलंक को धो डालने के लिए जितने उत्साह और विचार से काम लिया है, वह साबित करता है, कि उसकी जीवनधारा चाहे अवरुद्ध हो गई हो पर सूखी नहीं है। लेकिन जिन हरिजनों को हमने सदा अस्पृश्य समझा, जिनके साथ हमने सदा अमानुषीय व्यवहार किया, यदि उनके प्रति इतने प्रदर्शन मात्र से हम सन्तुष्ट हो जाएं तो इससे उनमें वह आत्मिक जागृति कदापि न उत्पन्न होगी जो उनके अधःपतन की प्रगति को रोक सके। हमको दिल से यह भाव सम्पूर्णतः निकाल डालना होगा कि हम उनसे ऊंचे हैं। हमने केवल पशुबल से उनके अधिकारों का अपहरण कर लिया है। हम उनसे बलवान हो सकते हैं, पर ऊंचे कदापि नहीं। बल नैतिक दृष्टि से उच्चता का बोधक नहीं है। उच्चता परोपकार, सेवा नीयत की सफाई और त्याग में है इस कसौटी पर कसा जाय तो हिन्दू जाति

को मालूम हो जाएगा कि उसका बड़प्पन का दावा कितना भ्रममूलक है। वह समय आ रहा है जब हम समझेंगे कि संसार का सुख भोगना ही बड़प्पन की दलील नहीं है, बल्कि सेवा ही वास्तविक बड़प्पन है।

धर्म भेद नहीं सिखाता

समस्त देश ज़मोरिन से गुरुवयूर का मंदिर खोलने की प्रार्थना कर रहा है, प्रस्ताव पर प्रस्वाव पास हो रहे हैं. डेपुटेशन पर डेपुटेशन और तार पर तार भेजे जा रहे हैं, पर ज़मोरिन पर अभी तक कोई असर होता नजर नहीं आता। अभी तक वहां जितनी सम्मतियों की गणना की गई है, उससे यही मालूम होता है कि बहुमत हरिजनों के प्रवेशाधिकर के पक्ष में है। किसी-किसी फिकरे में तो नब्बे फीसदी पक्ष में है। विपक्ष में सबसे बड़ी संख्या छब्बीस फीसदी है। फिर भी ज़मोरिन अड़े हुए हैं। महात्मा गांधी और श्री केलप्पन के उपवास की संभावना दिन-दिन बढ़ती जाती है, पर ज़मोरिन टस से मस नहीं हो रहा है। उधर वर्णाश्रम संघ भी जोर बांधे हुए है, और वाइसराय से फरियाद कर रहा है कि विधर्मियों से हिन्दू धर्म की रक्षा कीजिए, किन्तु हिन्दू जाति का रुख किधर है यह खुली हुई बात है। थोड़े से शास्त्रोपजीवी लोगों को छोड़कर सारा हिन्दू-समाज हरिजनों के मन्दिर प्रवेश के पक्ष में है, इस विषय में हिन्दू-समाज से इतनी उदारता की आशा न की जाती थी, लेकिन यह तो हमारी समझ में आता है कि हरिजनों में अधिकांश अखाद्य वस्तुओं का व्यवहार करते हैं, गंदे रहते हैं और हम अपने संस्कारों के कारण इच्छा रहते हुए भी उनसे मिल नहीं सकते। मगर जब इस भेदभाव को धर्म-शास्त्रों से सिद्ध किया जाता है, तब हम अधीर हो जाते हैं और धर्म शास्त्रों से हमारी श्रद्धा उठ जाती है। महात्मा गांधी कहते हैं–

''अस्पृश्यता को बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती। वह सत्य का, अहिंसा का विरोधी धर्म है, इसलिए धर्म ही नहीं। हम ऊंचे और दूसरे नीचे हैं, यह विचार ही नीच है। जिस ब्राह्मण में शूद्र का–सेवा का–गुण नहीं, वह ब्राह्मण नहीं। ब्राह्मण तो वही है, जिसमें क्षत्रिय के, वैश्य के और शूद्र के, सब गुण हों और उनके अतिरिक्त ज्ञान हो। शूद्र ज्ञान से सर्वथा रहित अथवा विमुख नहीं होते। उनमें सेवा प्रधान है। वर्णाश्रम में तो भंगी, चांडाल आदि तर गए हैं। जो धर्म संसार-मात्र को विष्णु समान जानता है वही अंत्यज को विष्णु रहित कब मान सकता है।''

जो धर्मशास्त्र, अहंकार, दंभ और ऊंच नीच का भेद सिखाते हैं, वह मान्य नहीं हो सकते। यह भेद ही ईश्वर-विमुख है और हमें विश्वास नहीं आता कि धर्मशास्त्र कोई ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं, जो सर्वथा अन्याय-संगत और सर्वात्मा की व्यापकता का विरोधी हो। अवश्य ही ऐसी बातें हिन्दू धर्म द्रोहियों ने पीछे से बढ़ा दी हैं। या तो वह क्षेपक हैं, अथवा उनका अर्थ ठीक नहीं किया जा रहा है। फिर महात्मा जी ही के शब्दों में–

''जैसे-जैसे समय गुजरता जाता है, अस्पृश्यता का भी नाश होता जाता है। रेलों, सरकारी स्कूलों, तीर्थ-स्थानों और अदालतों में इसके लिए स्थान नहीं है, और मिलों तथा दूसरे बड़े कारखानों में अंत्यजों से कोई परहेज नहीं रखा जाता। गीता में भी यही कहा गया है। समदर्शी के लिए ब्राह्मण, श्वान अंत्यज सब एक से हैं।''

अब वह समय नहीं रहा कि शास्त्र में जो कुछ मिले, उसे ब्रह्मवाक्य समझ लें। सम्भव

है, जिस समय उन स्मृतियों की रचना हुई हो उस समय ऐसे विचारों की जरूरत रही हो, लेकिन शास्त्र भी उसी दशा में मान्य हैं, जब वे सत्य की कसौटी पर पूरे उतरें। कोई समय था जब हिन्दू धर्म में गोमेध ही नहीं नरमेध भी जायज था, पर आज हम धर्म के नाम पर भी नरमेध करना घृणित समझते हैं। हम यह मानते हैं—जहां बुद्धि का प्रवेश नहीं, वहां विश्वास ही हमारा आश्रय है, लेकिन जिन बातों के सत्यासत्य को हम बुद्धि से पहचान सकते हैं, जो मानवता, न्याय, अहिंसा और सत्य के प्रतिकूल हैं, उन्हें हम शास्त्रोक्त मानकर व्यवहार में नहीं लाना चाहते। अपने को ऊंचा और किसी दूसरे को नीचा समझना, ऐसी निष्कृट स्वार्थपरता है, जिसका जरूरत पड़ने पर चाहे हम व्यवहार करें, पर उसे शास्त्रोक्त कहकर उसका समर्थन नहीं कर सकते। यों तो जरूरत पड़ने पर हम चोरी भी करते हैं, झूठ भी बोलते हैं। आपदकाल में चोरी करना या झूठ बोलना भी अधर्म नहीं माना जाता। लेकिन हम चोरी या झूठ की प्रशंसा नहीं कर सकते।

भद्रता का मुख्य लक्षण है—विनम्रता। हम किसी सभा में जाते हैं, तो अधिकारी होने पर भी सबसे ऊंचा आसन ग्रहण नहीं करते, घर के स्वामी होने पर भी सबसे पहले और सबसे स्वादिष्ट भोजन नहीं करते। पुरानी स्मृतियों में ब्राह्मण को प्राणदण्ड देना शास्त्र-विरुद्ध था। ईसाइयों में जब पोप की प्रधानता थी, तो पादरियों को प्राणदण्ड नहीं दिया जाता था। पादरियों के मुकदमों के उनकी अपनी अदालत में फैसले होते थे, लेकिन उस धर्मान्धता के दिन विदा हो गए। अब तो धर्म, न्याय और नीति की कसौटी पर कसा जाता है। अगर वह बुद्धि-संगत है तो मान्य है, अन्यथा हम उसकी परवाह नहीं करते। इसी बुद्धि-संगतता को संतुष्ट करने के लिए हमारे धर्माचार्यों ने कितनी ही धर्म व्यवस्थाओं को, धर्म-कथाओं और धर्म प्रथाओं के नए अर्थ निकल रहे हैं।

मंदिर प्रवेश ही इस समस्या को हल करेगा

हरिजनों की समस्या केवल मंदिर प्रवेश से हल होने वाली नहीं है। उस समस्या की आर्थिक बाधाएं धार्मिक बाधाओं से कहीं कठोर हैं। आज शिक्षित हिन्दू समाज में ज्यादा से ज्यादा पांच फीसदी रोजाना मंदिर में पूजा करने जाते होंगे। पांच फीसदी न कहकर अगर पांच फी हजार कहा जाय तो उचित होगा। शिक्षित हरिजन भी मन्दिर प्रवेश का कोई महत्त्व नहीं देते। हरिजनों के अपने देवता अलग हैं। मन्दिर प्रवेश का अधिकार पाते ही वे अपने देवताओं को उठाकर दरिया में न फेंक देंगे। हिन्दू जाति उन्हें यह अधिकार देकर केवल अपना कलंक दूर करेगी, उसी तरह जैसे मृतक-श्राद्ध करके हम केवल अपनी आत्मा को शान्त करते हैं, मृत आत्मा को उससे लाभ होता है, इसके निश्चय करने का हमारे पास कोई साधन है न इच्छा। असल में समस्या तो आर्थिक है। यदि हम अपने हरिजन भाइयों को उठाना चाहते हैं तो हमें ऐसे साधन पैदा करने होंगे जो उन्हें उठने में मदद दें। विद्यालयों मे उनके लिए वजीफे करने चाहिए, नौकरियां देने में उनके साथ थोड़ी सी रियायत करनी चाहिए। हमारे जमींदारों के हाथ में उनकी दशा सुधारने के बड़े-बड़े उपादान हैं। उन्हें घर बनाने के लिए काफी जमीन देकर उनसे बेगार लेना बन्द करके, उनसे सज्जनता और भलमनसी का बरताव करके वे हरिजनों की बहुत कुछ कठिनाइयां दूर कर सकते हैं। समय तो इस समस्या को आप ही हल करेगा, पर हिन्दू जाति अपने कर्त्तव्य से मुंह नहीं मोड़ सकती।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

हिन्दी द्वारा उच्च शिक्षा

महामना पंडित मदनमोहन मालवीय ने काशी विश्वविद्यालय में उपाधि वितरण के शुभ अवसर पर हिन्दी माध्यम द्वारा शिक्षा का समर्थन किया और कहा कि शीघ्र ही विद्यालय में इंटरमीडिएट कक्षा तक हिन्दी द्वारा शिक्षा दी जाएगी। हिन्दू विश्वविद्यालय को इस विषय में अग्रसर होना चाहिए था और हमें हर्ष है कि उससे जो आशा की जाती थी वह पूरी हुई। अंग्रेजी द्वारा शिक्षा लेकर हमारे विद्यालयों में छात्रों का कितना समय नष्ट होता है, इसका थोड़ा बहुत अनुभव सभी को है। छात्रों को मजबूर होकर इतिहास और भूगोल तक रटना पड़ता है और उनकी सारी शक्ति भाषा तक ही रह जाती है, विषय की ओर ध्यान देने का उन्हें अवसर ही नहीं मिलता। हिन्दी माध्यम से यह दोष मिट जाएगा। संभव है, इस सुधार से छात्रों का अंग्रेजी पर उतना अधिकार न रह सके, वे इतनी अच्छी अंग्रेजी लिख या बोल न सकें। हमारे रईसों में कितने ही तो अंग्रेजी के इतने बड़े भक्त हैं कि वे अपने लड़कों को अंग्रेजों के स्कूलों में पढ़ाते हैं। इन लोगों को शायद यह सुधार अच्छा न लगे, लेकिन जब यह सिद्ध होता जा रहा है कि अब शिक्षा का आर्थिक महत्व बहुत कम रह गया है, तो केवल भाषा के पीछे क्यों छात्रों की जिंदगी बरबाद की जाय। फिर जरमनी, फ्रांस, जापान आदि देशों में राष्ट्रभाषा में ही शिक्षा दी जाती है। तो क्या वहां अंग्रेजी बोलने और समझने वाले लोग नहीं मिलते?

[संपादकीय। 'जागरण' 26 दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

हिन्दू-विश्वविद्यालय में हिन्दी वाद-विवाद

गत रविवार को काशी विश्वविद्यालय में हिन्दी वाद विवाद हुआ। स्थानीय विद्यालयों के अतिरिक्त कई छात्र जबलपुर, पटना, गुरुकुल, कांगड़ी आदि से भी आये थे। विषय था? हिन्दी भाषा ही राष्ट्र निर्माण का एकमात्र साधन है। प्रान्तीय कौंसिल के सभापति सर सीताराम मुख्य विचारक थे। स्थानीय कालेजों की चार छात्राएं भी सम्मिलित हुई थीं। उपस्थिति अच्छी थी। लगभग पच्चीस छात्रों ने भाग लिया। अधिकांश छात्रों के कथन से यही सिद्ध होता था कि वे केवल अपनी कोई रचना सुना रहे हैं। उत्तर और प्रत्युत्तर में जिस व्यंग्य, विनोद और आलोचना की आवश्यकता है और जिसके कारण ही वाद विवाद में आकर्षण होता है, उधर गिने गिनाए छात्रों ही ने ध्यान दिया। राष्ट्रीयता के उपादानों में जाति, धर्म और राजनैतिक तथा भौगोलिक परिस्थिति, संस्कृति और भाषा, इन पांचों ही अंगों का होना आवश्यक है, लेकिन हमारे विचार में एक भाषा का होना मुख्य है। राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र का बोध हो ही नहीं सकता। जहां राष्ट्र है, वहां राष्ट्रभाषा का होना लाजिमी है। अगर सम्पूर्ण भारत को एक राष्ट्र बनाना है तो उसे एक भाषा का आधार लेना पड़ेगा। अंग्रेजी भाषा का प्रचार आपद्धर्म है। उसे हम राष्ट्रभाषा का पद नहीं दे सकते। भाषा ही राष्ट्र का, साहित्य और संस्कृति का निर्माण करती है, आदर्शों की सृष्टि करती है। नदियों और पहाड़ों से राष्ट्रीयता के विकास में जो बाधा पड़ती थी, उसे रेल और हवाई जहाजों ने मिटाना शुरू कर दिया है। अगर एक संस्कृति रहते हुए भी एक राष्ट्रभाषा का आधार न रहे तो ऐसा राष्ट्र स्थायी नहीं हो सकता। एक भाषा बोलने वालों में कभी कभी विरोध उत्पन्न हो जाते हैं और उनके पृथक्

राष्ट्र बन जाते हैं। संयुक्त अमेरिका इसका उदाहरण है किन्तु इसकी केवल एक मिसाल है। इसके प्रतिकूल एक नस्ल, एक संस्कृति और एक धर्म के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के अनेक उदाहरण हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि राष्ट्र-निर्माण में भाषा का स्थान सबसे महत्व का है। जर्मन फिलासोफर फिशे ने भी भाषा ही को मुख्य स्थान दिया है। इस विवाद में गुरुकुल कांगड़ी के दोनों छात्रों के कथन सबसे अच्छे रहे और ट्राफी उन्हें प्रदान की गई। हम उन छात्रों और छात्राओं को जिन्हें पदक मिले उनकी सफलता पर बधाई देते हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 दिसम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

तृतीय दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचारक सम्मेलन

राष्ट्रीय एकता के लिए राष्ट्रभाषा चाहे सबसे महत्वपूर्ण अंग न हो, पर महत्वपूर्ण अवश्य है, और यह भी निश्चित है कि हिन्दी के सिवा और कोई प्रांतीय भाषा भारत की राष्ट्रभाषा बनने का दावा नहीं कर सकती। अतएव, दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार का काम राष्ट्र-संगठन के लिहाज से बहुत बड़ा काम है। हिन्दी प्रचार सभा का अपना विद्यालय है, अपनी पत्रिका है, वह हिन्दी की कई परीक्षाओं की योजना करती है और पास होने वाले विद्यार्थियों को उपाधि देती है। उसका वार्षिक सम्मेलन भी होता है और अबकी उसका तृतीय सम्मेलन था, जिसके सभापति थे -श्री देवदास गांधी। आपने इस अवसर पर जो भाषण दिया वह बहुत ही विचारणीय, उत्साह वर्द्धक और मार्गगर्भित है। आपने सभा के काम का सिंहावलोकन करते हुए कहा-

'इन चौदह वर्षों में आपको जो सफलता मिली है, उसके लिए मैं आपको बधाई दिए बिना नहीं रह सकता। इस प्रान्त में आप पचपन लाख लोगों के पास पहुंच सके हैं, जिनमें से चार लाख आदमियों ने हिन्दी का काम चलाऊ ज्ञान प्राप्त कर लिया है और तेईस हजार आदमी आपकी परीक्षाओं में बैठे हैं। दूसरी बड़े मार्के की बात यह देख रहा हूं कि आपका काम शहरों तक ही सीमित नहीं है बल्कि देहातों में भी फैला हुआ है। [illegible] अक्टूबर की परीक्षाओं के दो सौ पचासी केन्द्रों में दो सौ से अधिक ग्राम हैं।'

देवदास जी का यह प्रस्ताव सर्वथा समर्थनीय है कि दक्षिण भारत के हिन्दी प्रेमी स्त्री-पुरुष, उत्तर भारत का दौरा किया करें। इस प्रान्त में दो तीन मास रह जाने से केवल आपस में प्रेम और घनिष्ठता ही नहीं बढ़ेगी, बल्कि हिन्दी भाषा का वह अभ्यास हो जायगा, जो बरसों हिन्दी पुस्तकें पढ़ने से नहीं प्राप्त हो सकता। युक्त प्रान्त के मजूर साल-छः महीने कलकत्ते में रहकर फर-फर बंगला बोलने लगते हैं। अंग्रजी बोलने का जैसा अभ्यास इंग्लैंड में हो जाता है, वैसा भारत में नहीं हो सकता। हम तो चाहते हैं कि दक्षिण की हिन्दी-प्रचार सभा के इस काम में प्रयाग का साहित्य सम्मेलन, या नागरी-प्रचारिणी सभा भी हाथ बटाएं और हर साल अपने खर्च से दस-बीस हिन्दी-सेवियों को दक्षिण भेजे।

हुकूमत से हिन्दी प्रचार के विषय में किसी प्रकार की आशा रखना उस पर जरूरत से ज्यादा भरोसा करना है, लेकिन खेद है कि प्रांतीय विद्वान और नेताओं ने अब तक इस विषय में उदासीनता से काम लिया है। हम यह दावा नहीं करते कि हिन्दी भाषा समुन्नत है। इसका प्राचीन साहित्य तो किसी भी प्राचीन प्रान्तीय साहित्य से बराबरी का दावा कर सकता है,

लेकिन नवीन साहित्य में अभी हिन्दी कई प्रान्तीय भाषाओं से पीछे है। लेकिन, हिंदी का दावा उसके साहित्य के बल पर नहीं, उसकी व्यापकता और सुबोधता के बल पर है। और इस बात में कोई भी प्रांतीय भाषा उसका सामना नहीं कर सकती। अगर अन्य प्रांतों में भी उसे वही प्रोत्साहन मिला होता, जो दक्षिण भारत में मिला है, तो अब तक हिन्दी का बहुत ज्यादा व्यवहार हो गया होता। यदि अन्य प्रान्तों में हिन्दी का प्रचार स्कूलों में अनिवार्य रूप से होने लगे, तो राष्ट्रभाषा की समस्या आसानी से हल हो जाए।

हिन्दी भाषा का भविष्य कितना उज्ज्वल है और उसके प्रचार से राष्ट्र-भावना कितनी बलवान हो जाएगी, इसकी चर्चा आपने इन बहुमूल्य शब्दों में किया—

'हिन्दी से भारतवर्ष के हर प्रकार के शत्रु को सच्चा भय है। जिसको संदेह हो वह दक्षिण भारत के किसी हिन्दी कार्य का निरीक्षण करके अपना संदेह मिटा सकता है। जहां जहां हिन्दी की छत्रछाया है, वहां-वहां ब्राह्मण, अब्राह्मण, शिक्षित, अशिक्षित, नागरिक, ग्रामीण, छोटे-बड़े के भेद टूट पड़े हैं। भाषा के प्रचार के साथ ही साथ एकदम सच्चा ऐक्य स्थापित होने लगा है। आश्चर्य तो यह है कि एक भाषा का आंदोलन इतनी देर लगाकर क्यों शुरू किया गया। किन्तु श्रद्धावान् भूतकाल पर अफसोस नहीं करता। उसका तो वर्तमान से ही सम्बन्ध है। आप विश्वास रखें, भविष्य उज्ज्वल है।'

[संपादकीय। 'हंस', जनवरी, १९३३ में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग ३ में संकलित।]

श्रीयुत सहगल का पद-त्याग

हमें इस समाचार से बड़ा खेद हुआ कि ग्यारह वर्ष तक 'चांद' द्वारा समाज की सेवा करने के बाद मि. सहगल 'चांद' को चांद से सम्बन्ध तोड़ना पड़ा। मि. सहगल में, इसे दोष समझिए या गुण, कि दबने की आदत नहीं है। अपने आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए वह बड़े से बड़े नुकसान की भी परवाह नहीं करते। अगर वह अपनी आत्मा को कुछ लचकदार बना सकते तो उनके मार्ग में कोई बाधा न खड़ी होती। लेकिन इस नीति को उन्होंने हमेशा हेय समझा और उसका प्रायश्चित आज उन्हें इस रूप में करना पड़ रहा है। इन दस बरसों में मि. सहगल ने दिखा दिया कि सच्ची लगन और एकाग्रता से काम किया जाय तो पत्रकार भी सफल हो सकते हैं। भारतवर्ष में कदाचित् 'चांद' ही ऐसा मासिक पत्र है, जिसकी ग्राहक संख्या सोलह हज़ार तक पहुंची। मि. सहगल ने भारतीय महिलाओं की जागृति का लक्ष्य अपने सामने रखा था और उन्हें अपने उद्देश्य में कितनी सफलता मिली है, उतनी बहुत कम किसी को नसीब होती है। उन्हें यह देखकर कितना आनन्द हो रहा होगा कि बोर्डों और कौंसिलों में महिलाओं का निर्वाचन होने लगा, विद्यालयों में उनकी संख्या बढ़ती जाती है, परदा अब आखिरी सांस ले रहा है और भारतीय महिला-सम्मेलन ने विवाह-विच्छेद और संतान-निग्रह का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया है। उनके पद-त्याग से चाहे 'चांद' व्यापारिक रूप से सफल हो जाय, लेकिन मि. सहगल के व्यक्तित्व की जो छाप 'चांद' के एक एक पृष्ठ पर रहती थी और जिसने ही उसे यह सर्वप्रियता प्रदान कर रखी थी, रह सकेगी या नहीं, कहा नहीं जा सकता। अब 'चांद' ठोस व्यापारिक नीति पर चलेगा पर हमें इस नीति की सफलता में संदेह है। हम यहां और ज्यादा न लिखकर मि. सहगल के उस वक्तव्य का एक अंश देते हैं जो उन्होंने इस

सम्बन्ध में प्रकाशित किया है—

'मैंने इस संस्था को व्यापारिक दृष्टि से जन्म नहीं दिया था। मेरा एकमात्र लक्ष्य देश तथा समाज की सेवा करना था और मुझे इस बात का संतोष है कि पिछले लगभग ग्यारह वर्षों में मैंने अपने इस व्रत का ईमानदारी से पालन किया है पर इस समय मैं संस्था का एकमात्र स्वामी था। मेरी नीति में हस्तक्षेप करने का किसी को अधिकार नहीं था। मैंने जो चाहा किया और अपने साहस के कारण लाखों रुपया स्वाहा भी कर दिये, पर गत वर्ष मैं, भविष्य में और भी ठोस एवं व्यापक सेवा करने की भावनाओं से प्रेरित होकर, मैंने संस्था को एक लिमिटेड कम्पनी का रूप दिया। मेरा अनुमान था कि देश में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है, जो निस्वार्थ भाव से कम्पनी के हिस्से खरीदकर इस पुनीत कार्य में संस्था की सहायता करेंगे, पर मुझे पिछले एक वर्ष के अनुभव ने यह बतला दिया है कि यह मेरा भ्रम था। पूंजीपतियों की मनोवृत्ति आज भी वैसी ही ठोस एवं अवांछनीय है, जैसी आज से सौ वर्ष पूर्व थी। कोई जोखिम उठाने को तैयार नहीं है। कम्पनी के डाइरेक्टर्स भविष्य में जिस व्यापारिक नीति से संस्था का संचालन करना चाहते हैं, उससे मेरा घोर मतभेद है। इस प्रकार के मामलों में समझौता हो भी नहीं सकता। आत्मा की पुकार के सामने अपना सर्वस्व बलिदान कर देना ही एक ऐसी वसीयत है, जो मुझे बाप दादा से मिली है और मैं भी अन्त तक उसकी रक्षा करने का पक्षपाती रहा हूं।'

आखिर में यही निश्चय हुआ कि डाइरेक्टरान वर्तमान परिस्थिति में तभी मुकाबला कर सकते हैं, जब कि मि. सहगल संस्था से अलग हो जायं और उस बहुत के सामने उन्हें सिर झुकाना पड़ा।

[सम्पादकीय। 'हंस' जनवरी 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

कायस्थ कान्फरेंस

अबकी प्रयाग में कायस्थ कान्फरेंस हुई। कुछ लोग इधर उधर से आ गए, कुछ व्याख्यान हुए, कुछ प्रस्ताव पास किए गए और कान्फरेंस का काम समाप्त हो गया। कायस्थों को इस तरह जलसे करते लगभग चालीस साल हो गया लेकिन कायस्थ समाज आज भी वहीं है जहां चालीस साल पहले था, बल्कि उसकी दशा और भी खराब हो गई है। दहेज या करारदाद की बुराई सब करते हैं, मगर वही सज्जन जो सभा में सबसे ज्यादा चिल्लाते हैं, सबसे ज्यादा करारदाद करते हैं और सबसे लम्बी रकमें डकारते हैं। ऐसे आदर्शहीन, कर्त्तव्यहीन मुखियाओं का समाज पर कोई असर नहीं पड़ सकता। अगर आपको इस साल अपनी लड़की की शादी करनी है तो आप सभा में शरीक होकर करारदाद का रोना रोयेंगे, लेकिन कल जब आपके बेटे के विवाह का अवसर आएगा तो आप शाइलाक के अवतार बन जायेंगे। ऐसा हृदय-हीन समाज जिसके कर्म और वचन में कोई मेल नहीं, जो स्वार्थ पर अपनी आत्मा बेच डालना भी पाप नहीं समझता, कभी नहीं उठ सकता। उसका दिन दिन अध:पतन होता जाएगा और एक दिन कोई उसका नाम भी न लेगा। करारदाद को रोकने के लिए जो विधान सोचे गए, जैसे बहिष्कार, पिकेटिंग या लड़कों की ओर से विवाह से इंकार, इनमें से एक भी सफल न होगा। अगर युवकों में इतना आत्म-सम्मान होता तो रोना काहे का था। यहां तो वर अपने बाप से भी

दो कदम आगे है। मोटर का तकाजा वही करता है, इंग्लैण्ड जाने के लिए खर्च की मांग वर ही करता है। जिस समाज में ऐसे निर्लज्ज, पुरुषार्थहीन युवक हों वह बहुत दिन तक जीवित नहीं रह सकता। हमें तो आज कायस्थ समाज में एक भी उदाहरण नहीं मिला जहां लेन-देन का घृणित व्यापार न हुआ हो। कहीं राह-खर्च के रूप में, कहीं शिक्षा के खर्च के रूप में, कहीं मर्यादा-रक्षा के बहाने से रुपये ऐंठे जाते हैं। बेचारा वर का पिता अपने संबंधियों के दबाव से मजबूर हो जाता है। उसकी बिल्कुल खता नहीं! वह तो खुद करारदाद से नफरत करता है, लेकिन मजबूर है! उसके बहनोई और फूफा और मामा नहीं मानते! आखिर वह ऐसे निकट वालों की उपेक्षा कैसे करे! जिस समाज में ऐसे-ऐसे धूर्त हैं उसका रसातल के सिवा और कहीं ठिकाना नहीं है और वह बड़े वेग से उस ओर जा रहा है। पहले चार-पांच सौ रुपये औसत दरजे का दहेज था। अब वह चार-पांच हजार तक पहुंचा है। जिस घर में दो-तीन कन्याएं आ गई हैं, बस समझ लो उसका सर्वनाश हो गया। माता-पिता के लिए अब इसके सिवा और कोई त्राण नहीं है कि वे अपना पेट काटें, तन काटें, धोखाधड़ी से रुपये लावें। उनका सारा जीवन नारकीय हो जाता है। मगर समाज के मुखिया रकमें डकारते जाते हैं और कभी-कभी सभा में आकर रोते-गाते हैं। अब तो इस अनीति की कोई दवा है तो यही कि बालिकाएं स्वयं अपना भाग्य अपने हाथ में ले लें और विवाह के बंधन में उस वक्त तक न पड़ें जब तक कोई ऐसा वर न मिले जो प्रेम-भाव से उनके सामने माथा न टेके। जब बालिकाओं में यह आत्म-सम्मान उदय होगा तभी इस जाति का उद्धार होगा। लड़कों और लड़कों के बापों को हमने बहुत देखा और उनसे आशा करना छोड़ दिया।

[संपादकीय। 'जागरण', 2 जनवरी 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

काले कानूनों का व्यवहार

एसेम्बली में काले कानून के पास होते देर नहीं लगी कि उनका अमलदरामद शुरू हो गया। सबसे पहले बिहार प्रांतीय सरकार ने कदम उठाया है। और एक विज्ञप्ति द्वारा उसे बिहार में लागू कर दिया है। बम्बई सरकार भी पीछे नहीं रही। उसने बम्बई, कराची, अहमदाबाद खानदेश, रत्नागिरी आदि स्थानों में उसे जारी कर दिया। सीमा-प्रांत में भी पेशावर में उसका व्यवहार शुरू हो गया। यह आने वाले स्वराज्य का शुभ संदेश है।

[संपादकीय। 'जागरण', 2 जनवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

क्या कटौतियों को बहाल किया जाएगा?

इधर देश से सोने का जो समुद्र बहकर विलायत चला गया, तो भारत सरकार के करों में विशेष वृद्धि हो गई। इस वृद्धि का यह अर्थ लगाया जा रहा है कि भारत की आर्थिक दशा सुधर रही है, तो फिर 10 फीसदी कमी क्यों न बहाल कर दी जाय? हम भी चाहते हैं कि इस कमी को सरकार जल्द से जल्द पूरा कर दे। आमदनी का बढ़ाना तो सरकार के हाथ में है। हम उसे ऐसे उपाय बता सकते हैं जिससे उसकी आमदनी बहुत आसानी से एक चौथाई बढ़ सकती है। जब इतनी आसानी से कर बढ़ाए जा सकते है तो यह घोर अन्याय है कि सरकारी

ओहदेदारों की, विशेषकर ऊंचे वेतन वालों की आमदनी में कमी की जाय ! आखिर बेचारों के बैंक एकाउंट में कुछ क्षति हो रही है या नहीं !

[संपादकीय। 'जागरण', 2 जनवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

गोरखपुर में शिक्षा सम्मेलन

गोरखपुर में नानगेजेटेड अध्यापक सभा के अधिवेशन में मि० डी० एन० मुकरजी ने सभापति के आसन से बहुत विचारपूर्ण भाषण दिया। आपने वर्तमान परीक्षा प्रणाली की आलोचना करते हुए बताया कि इंग्लैंड में इस सम्बन्ध की एक शिक्षा कमेटी ने सिफारिश की है, कि परीक्षाएं जहां तक हो सकें कम ली जाया करें और प्राइमरी कोर्स में केवल अंग्रेजी और हिसाब की परीक्षा ली जाया करे। कमेटी की राय में इन दो विषयों की परीक्षा से लड़कों की मानसिक उन्नति का पता लग जाएगा। अभी तो यह हाल है, कि लड़कों की सारी मेहनत परीक्षाओं की ओर लगी रहती है। स्काउटिंग, कसरत, खेलकूद, वाद-विवाद, क्ले माडलिंग आदि विषय जिनसे लड़कों का दैहिक और मानसिक विकास विशेष रूप से होता है, इम्तहान की वेदी पर चढ़ा दिए जाते हैं। लड़कों का मुख्य उद्देश्य इम्तहान पास करना है और अध्यापक का परम कर्तव्य इम्तहान पास कराना है। और सब कुछ गौण है। यह परीक्षा-मनोवृत्ति शिक्षा का सर्वनाश कर रही है और इस कथन में जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है, कि शिक्षित समाज की शारीरिक दुर्बलताओं का यही मुख्य कारण है। हमारे शिक्षक पुरानी लकीर पीटते चले जा रहे हैं। छात्रों पर उनकी इस अदूरदर्शिता का क्या असर हो रहा है, उनकी बीनाई कितनी कमजोर हो रही है, उनमें रक्तहीनता का कितना प्रकोप है, यह सब आंखों से देखकर भी वे नहीं देखते। लड़कों के मनोरंजन और विनोद के लिए जो विषय चुने जाते हैं उनकी परीक्षा भी ली जाती है और इस तरह परीक्षाओं की संख्या बढ़ती जाती है। एक तो अंग्रेजी भाषा उस पर परीक्षाओं का यह आतंक। इन दोनों चक्की के पाटों के बीच में छात्रों का सर्वनाश हुआ जा रहा। हर्ष की बात है कि अब शिक्षक समुदाय का ध्यान इन बुराइयों की ओर आकर्षित हुआ है और संभव है, कि शिक्षा प्रणाली में कुछ सुधार कर सकें मगर हमारे शिक्षक स्वयं इतने कूप मण्डूक हैं, कि वह ऐसे विषय में अग्रसर होंगे, इसकी आशा नहीं होती। अंग्रेजी का भूत उनके सिर पर भी सवार है। यही भाषण अंग्रेजी में दिया गया। प्रो डी एन मुकरजी बंगाली हैं, लेकिन उनके श्रोता सब बंगाली न थे। वह हिन्दी में अपना भाषण दे सकते थे और यदि हमारे शिक्षकों में इतनी योग्यता नहीं है, कि वे जनता की भाषा में अपने विचार प्रकट कर सकें, तो उनको शिक्षक बनने का नैतिक अधिकार नहीं है।

[संपादकीय। 'जागरण', 2 जनवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

पश्चिमी व्यायाम का पागलपन

आल इण्डिया मेडिकल कान्फ्रेंस में सभापति मेजर एम० जी० नायडू ने डॉक्टरों के सामने सेवा और रोग-निवारण का जो कार्यक्रम उपस्थित किया, यदि डॉक्टर समुदाय उस पर अमल करें तो देश में रोग का बढ़ता हुआ आतंक बहुत कुछ शान्त हो जाय। मगर यहां तो ऐसे डॉक्टर हैं,

जो फीस पहले लेते हैं, मरीज से बात पीछे करते हैं। उनके पड़ोस में एक गरीब मरीज पड़ा कराह रहा है, उसकी उन्हें परवाह नहीं होती। डॉक्टरों में जब तक त्याग की भावना न हो, उनकी जात से गरीबों का क्या उपकार हो सकता है। मेजर नायडू ने बहुत सत्य कहा कि भारत शहरों में नहीं गांवों में है, जहां कोई डॉक्टर नहीं पहुंचता। अगर हमारे यशस्वी डॉक्टर देहातों की ओर भी कुछ कृपा करने लगें तो क्या कहना। आपने व्यायाम की चर्चा करते हुए कहा—

'पश्चिमी व्यायाम का खब्त दिन-दिन बढ़ता जा रहा है। भारतीय व्यायाम से लोग उदासीन होते जाते हैं, जो तात्विक दृष्टि से अगर ज्यादा नहीं तो उतने कल्याणकारी अवश्य हैं जितने पश्चिमी व्यायाम। मुझे विश्वास है कि अगर किसी युवक को प्राचीन व्यायाम का अभ्यास, प्राचीन नियमों और आदेशों के अनुसार, कराया जाय तो उससे कम लाभ न होगा, जितना पश्चिमी व्यायाम से होता है। भारतीय प्रणाली यहां के प्राणियों के लिए अधिक अनुकूल है, इसके साथ ही कितना कम खर्च। देशीय खेल कहीं भी खेले जा सकते हैं, बिना किसी अड़चन के और बहुत कम खर्च में। जिमनास्टिक के औजार अगर यहीं के बने हों, तो भी सौ रुपये और दो सौ रुपये के बीच खर्च हो जाएंगे। क्रिकेट का एक बैट बीस रुपये में आता है और टेनिस का एक रैकेट तीस रुपये में। फिर क्रिकेट, हाकी, फुटबाल और अन्य खेल हैं जिनके लिए अच्छे मैदान, अच्छे सामान और खास तरह के जूतों की जरूरत है। इनका मुकाबला हिन्दुस्तानी खेलों से कीजिए, जो आजकल के बालकों के लिए केवल कहानी-मात्र रह गए हैं। यहां तक कि कुश्ती का रिवाज भी दिन-दिन कम होता जाता है और इसकी जगह घूंसेबाजी का रिवाज बढ़ता जाता है। देशीय खेलों और कसरत को लुप्त न होने देना चाहिए। हां, जिनके पास साधन हैं वे पश्चिमी खेल भी खेल सकते हैं।

हमारे स्कूल में कबड्डी, गुल्ली-डंडा, लखनी आदि खेलों का बड़ी आसानी से प्रचार किया जा सकता है, लेकिन किसी का इधर ध्यान नहीं है। यहां तो स्कूल वाले लड़कों से तीन रुपये सालाना चन्दा लेकर चरंदम-खुरंदम कर डालते हैं, बहुत किया तो दस-बीस लड़कों को अभ्यास करके मैचों में भेज दिया। न इतने मैदान हैं न इतने सामान कि हरेक लड़के को खेल में शरीक किया जा सके। यह भी मानसिक दासता का एक रूप है। अपनी कोई चीज अच्छी नहीं। बाहर की सभी चीजें अच्छी। हां, आज पश्चिम वाले भारतीय खेलों का व्यवहार करने लगें तो यहां के लोगों की आंखें खुलें।

[संपादकीय। 'जागरण', 2 जनवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

आवश्यक कर्त्तव्य

भारत सेवक-समिति के उपाध्यक्ष पं० हृदयनाथ जी कुंजरू आजकल अपना समूचा समय हरिजनों की सेवा में लगा रहे हैं। वे बिड़ला द्वारा स्थापित अखिल भारतीय अछूतोद्धार-समिति की युक्तप्रान्तीय शाखा के सभापति हैं। इस समिति का यह कार्यक्रम है कि वह प्रत्येक नगर में हरिजन-सेवक-शाखा स्थापित करे। इसलिए कुंजरूजी प्रत्येक नगर में दौरा कर शाखा-स्थापित करना चाहते हैं। उनका दौरा शुरू भी हो गया है। कानपुर में प्रयत्न कर रहे हैं। अन्यत्र हम इस विषय में एक अपील भी प्रकाशित कर रहे हैं। यह कार्य इतना उपयोगी

है, कि इस दिशा में किसी भी नगर को पीछे नहीं हटना चाहिए। कुंजरू जी के बिना दौरा किये ही यदि प्रान्त के प्रमुख नगर अपने यहां स्वावलम्बी शाखा स्थापित कर लें तो यह अत्यन्त ही उचित हो। क्या हमारे प्रान्तवासी ध्यान देंगे?

[संपादकीय। 'जागरण', 9 जनवरी, 1933 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

उन्नीस सौ बत्तीस

जगत की यह समूची माया आशा की भित्ति पर टिकी हुई है। दरिद्रता की घोर यातना सहता हुआ जीव जीता है, इस आशा पर कि कभी तो उसकी हालत सुधरेगी, और इसी प्रकार आशा करता हुआ वह जगत के उस पार तक चला जाता है। धन के मद में प्रमत्त, मान की सरिता में बहता हुआ अपने धन मान से अघा कर, पशु की तरह जीवन बिताता रहता है, इस आशा में कि शान्ति की कोई भी मात्रा उसे कभी मिल जावेगी। हम हिन्दुओं ने 'आशा' को 'कर्म भोग' का ऐसा रूप दे दिया है कि, वैधव्य की यातना सहती हुई विधवा भी अपने अगले जीवन के सुख की कल्पना कर प्रसन्न होने की चेष्टा करती है।

जब आशा हमारे स्वभाव का एक अंग है, तब सदैव आगे की ओर टकटकी लगाए रहना बड़ा सुखद होता है। ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है, बीते हुए काल का दुःख आने वाले समय की अच्छाई की आशा में भूल जाता है। वर्ष पर वर्ष बीता जा रहा है। युग पर युग बीत गये, अतीत की कहानी इतिहास के पन्नों में सड़ रही है, वर्तमान की कथा तो हमारे हाड़-मांस में चिपटी हुई, हमें अक्षर-अक्षर याद है। धीरे-धीरे करके ईसाई-सन् के 1931 वर्ष बीत गये। एक हजार नौ सौ बत्तीस वर्ष पहले की बात है, जब दीनता के दास, सत्याग्रह की मूर्ति, अहिंसा के अवतार ईसा मनुष्यों की सेवा में अपना प्राण अर्पण कर दिया था। उसी महापुरुष को अमर बनाने के लिए ईसवी सन् चला था। पता नहीं इससे वह महापुरुष कहां तक अमर हो सका। कम से कम, उसके नाम के साल ज्यों ज्यों बढ़ते जाते हैं उसके नाम का जादू दूर होता-सा नजर आता है। जो ईसा के जितने ही पक्के हिमायती हैं वे उतने ही लोलुप, उतने ही अनाचारी और पराये वैभव के शत्रु हैं। अब दूसरे का सत्यानाश उनके लिए कौतुक है और एक के बाद दूसरा वर्ष इसी सत्यानाशी कौतुक का चलचित्र है।

1932, वह चला गया। जब 1931 गया था, हमने, जगत-भर ने, यह आशा प्रकट की थी, कि मुसीबतों का, आर्थिक संकटों का वह वर्ष समाप्त हो गया। आशा की गयी थी कि 1932 में सभ्यता का जी हल्का हो सकेगा। दुनिया की आर्थिक दुरवस्था सुधरेगी। पैसे की बाजार में जो आंख आ गयी है, वह आर्थिक सम्मेलनों की दवा सुधर कर अच्छी हो जावेगी, पर 1931 में हम जितने सुखी थे, आज उससे और भी दूर हैं। हर साल सुख की आशा करते बीत जाता है।

इस साल दुनिया का अर्थ संकट ज्यों का त्यों रहा। जर्मनी की हालत और भी गिर गई। उसके विरोधी फ्रांस ने उसके बाजार को पंगु कर रखा है, इसलिए कि वह धनी होकर फिर लड़ाई न करे, उल्टा फल यह हुआ कि जर्मनी ने अपनी दरिदता की दुहाई देकर लड़ाई के बाद लाए गए अन्याय-युक्त हरजाने में एक पाई भी देना कबूल न किया। फ्रांस और ब्रिटेन

इत्यादि यही रुपया लेकर अमेरिका का कर्जा चुकाते हैं। 1931 में सबकी प्रार्थना पर अमेरिकन राष्ट्रपति हूवर ने एक वर्ष की मुहलत दी थी। 1932 में फ्रांस, ब्रिटेन आदि ने फिर अमेरिका से मुहलत मांगी, किन्तु अमेरिका का व्यापार भी एकदम चौपट हो गया है। सोने की लालच से फ्रांस तथा अमेरिका ने दुनिया का तीन-चौथाई सोना अपने यहां खींच लिया है। राज्यों का लेन-देन सोने में होता है। सोने की कमी से व्यापार का पलड़ा उलट गया। अमेरिका सोना लेकर चाटता रह गया। उसके व्यापार में यकायक रुपया आता है—जाता है। कुछ महीने में ही पचासों बैंक उलट गये, 315 करोड़पतियों से घटकर 75 ही रह गये। उसमें दम कहां कि कर्जे की रकम छोड़े। उसने प्रार्थना नामंजूर कर दी। ब्रिटेन, फ्रांस ने अपना अर्थ सम्हालने के लिए अपने आधीनों पर हाथ साफ करना शुरू कर दिया। भारत से एक अरब का सोना ब्रिटेन खिंच गया। जहां सोना पैदा होता है, यानी दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने भी बाहर सोना भेजना बंद कर दिया, पर भारत का सोना ब्रिटेन की बाजार में चला गया। ब्रिटेन का सोना वहां तालों में बंद है। फ्रांस में भी, इसी अर्थ के कारण दो मंत्रिमंडल बन-बिगड़ चुके हैं।

गणतंत्र शासन जर्मनी पर लादा गया था—समर के बाद। जर्मनी उसके लिए उत्सुक भी होता तो भी हार के बाद मिली चीज से घृणा होती है। इसीलिए जर्मनी में बड़े उथल-पुथल होते हैं। दुखी राष्ट्र हरेक नेता को अपना असली रक्षक समझ कर उसी के भुलावे में पड़ जाता है। पहले डा. ब्रूनिंग बड़े प्रिय थे, पर हरजाना-समस्या न सुलझा सकने के कारण वे विस्मृति के गर्भ में गए। हिटलर ने उनका स्थान लेना चाहा, पर इस साल जर्मनी ने जून के महीने में हिटलर को वहां बहुत ऊंचा स्थान दिया, वहीं नवम्बर के चुनाव में हिटलर को गिरा दिया। हिन्डेनबर्ग राष्ट्रपति बने रहे। यह जर्मन स्वभाव की दृढ़ता तथा प्रचीनता का प्रेम फल है, पर वान पापेन की सरकार बनी और बिगड़ी, जर्मन-अव्यवस्था ज्यों की ज्यों है। 1931 में 32 की तुलना में कहीं दृढ़ सरकार थी।

चीन बेचारा इस वर्ष भी पहले वर्ष की अपेक्षा अधिक पिसा। जापान ने जापानी माल के बहिष्कार के कारण क्रुद्ध होकर चीन के शघाई नामक उन्नत स्थान पर तटस्थ भाग में सेना सजाई, शंघाई में भीषण नर-संहार किया। पर जाग्रत चीन के थप्पड़ों से हार कर सुलह भी कर ली। एक और की हार की कसर भी निकल ली। वर्षों का षड्यंत्र सफल हुआ। मंचूरिया उसने हड़प लिया।

राष्ट्र-परिषद् ताकती रह गई। सभी राष्ट्र चिल्लाते रह गये। जापान निगल गया—और इस वर्ष इस नीचता के विरोध में चीनी आये दिन जान दे रहे हैं। राष्ट्र-परिषद् के जांच कमीशन की रिपोर्ट पड़ी सड़ रही है। राष्ट्र-परिषद् ने तो जेनेवा में निरस्त्रीकरण के लिए, इसी साल दो सम्मेलन कराए, पर जर्मनी की इस जायज मांग पर कि उसे सबके बराबर सेना रखने का हक दिया जावे या उसके बराबर सेना घटाएं, सबकी नीयत का पर्दाफाश हो गया। जेनेवा में इस वर्ष ज्यादा महत्वपूर्ण कार्य होने वाला था, पर गत वर्षों से अधिक कलह ही हुआ।

अफगानिस्तान में सरकारी अत्याचार ज्यों का त्यों है। तुर्किस्तान हर महीने उन्नति कर रहा है। ईराक ने अपना स्वत्व यहां तक पहचाना है कि उसके तेल के स्रोतों पर ब्रिटेन वाले जोर जबर्दस्ती अधिकार किये बैठे थे, वह छीन लिया गया। फिलीपाइन को दस वर्ष बाद आजादी मिलने का वादा अमेरिका ने किया है। सीलोन में इस माल से ऐसा शासन-विधान ब्रिटेन ने चलाया है जिसे वहां कोई नहीं चाहता।

अभागे भारत की बात क्या कहिए। ज्यों-ज्यों समय ढलता है, हमारे वैभव की सन्ध्या निकट आती जाती है। विदेशी सभ्यता के प्रहार से पुरुषों का पुरुषत्व अपने ही दलितों-पतितों के साथ अत्याचार करने में व्यय हो रहा है; दरिद्रता में सूखकर नब्बे प्रतिशत भारतीय कंकाल हो रहे हैं; स्त्रियां बच्चा पैदा करती हैं और उन्हें भी अकाल मार कर मर जाती हैं। विदेशी शासन से भारत का क्या भला होगा, जब जहां के लिए यह स्वदेशी शासन है, वहीं की प्रजा विपत्ति से कराह रही है। 31 दिसंबर 1931 को गांधीजी ने वाइसराय लार्ड विलिंगडन से मिलने की अनुमति मांगी थी ताकि वे सत्याग्रह की उमड़ती आंधी को रोक सकें। वाइसराय ने अर्जी नामंजूर ही नहीं कि, अर्जीदां को गिरफ्तार भी कर लिया। बस, उसी समय से, कुछ तो कांग्रेस की जल्दबाजी, दूसरे नौकरशाही की जड़ता से सत्याग्रह का वेग, ब्रिटिश वस्तु का बहिष्कार तथा दमन का जो भयंकर प्रवाह चला है,उस पर कुछ लिखना दोनों ओर से बुरा बनना है। कांग्रेस ने भी यदि चाहा होता तो लड़ाई थम सकती थी, सरकार भी यदि चाहती तो लड़ाई न होती, या होती भी तो कभी की सुलह हो गयी होती। सरकार शायद स्वयं सुलह नहीं चाहती, क्योंकि उसने सर तेजबहादुर सप्रू तथा जयकर ऐसे सुलह के हिमायतियों को भी गांधी जी से बातचीत करने की मनाही कर दी। वह ऐसी आत्मा से पूर्ण पराजय की कामना करती है, जो अपने को, अपनी आत्मा को अजेय समझता है। सर सेमुएल होर ने कहा है कि ''कांग्रेस से किसी प्रकार के समझौते की बातचीत तो हो ही नहीं सकती।'' अगर कांग्रेस भी वही कहेगी तो क्या होगा?

अस्तु, सरकारी दमन के विरोध में गोलमेज के लिए नियुक्त मशविरा देने वाली कमेटी से सर तेज और श्रीजयकर ने त्यागपत्र देकर उसे निर्जीव बना डाला। लोथियन कमेटी मताधिकार की जांच के लिए आई और बिना सार्वजनिक सहानुभूति, सहायता या समर्थन पाये–अपने काम का तमाशा कर चली गई। प्रधानमंत्री ने अपना 'सांप्रदायिक निर्णय' सुनाया, जिससे कोई भी प्रसन्न न हो सका। भीख मांग कर पद के लोभी मुसलमान और भी मांगने लगे। हिन्दू समुदाय को जो तमाशा-सा हक भी मिला वह हरिजनों को उनसे अलग कर और भी भद्दा कर दिया गया। इसी के फलस्वरूप महात्मा जी का इतिहास-प्रसिद्ध अनशन शुरू हुआ। इसने देश भर में ही नहीं दुनिया में आग लगा दी। कुछ दिन बड़ी दुविधा में बीते। पूना पैक्ट ने गांधीजी को जीवन प्रदान किया, हिन्दू समाज का ऐक्य तथा हरिजनों के प्रति देश में अनूठा आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। जड़ तथा मूर्ख सनातनी चाहे जितना रोकें, यह आन्दोलन मर नहीं सकता। हां 1932 में गुरुवयूर मंदिर की समस्या हल न हो सकी। यही भेंट, जिसके पीछे महात्माजी पुनः अपने प्राणों की बाजी लगा रहे हैं, 1933 में मिलती है। इसी वर्ष दो बार अपना ताण्डव नृत्य कर काले कानून अब अस्थायी पिशाच के रूप में कानून बन कर हमें ग्रसने के लिए तत्पर हैं।

लन्दन में तीसरी गोलमेज का तमाशा हुआ, जिसमें के, ऐसे ही सदस्य बुलाये गये जो शरीफ बच्चे समझे गये। तीसरी गोलमेज का अभिनय खतम भी हो गया। शरीफ बच्चे भी उससे प्रसन्न हो न हुए। सर तेजबहादुर सप्रू, जयकर, सर चिमनलाल सीतलवाद और श्री माननीय शास्त्री भी उसकी विफलता की घोषणा कर रहे हैं।

एक से एक बढ़कर विभूतियां भी काल की भेंट चढ़ाई गयीं। सर सी॰ पी॰ स्काटा, मि॰ लिटन स्ट्रैची, महारानी सुनीतिदेवी (कूच-बिहार), सर बी॰ एन॰ शर्मा, मि॰ के॰ वी॰

रंगास्वामी ऐयंगार, सर दोराबताता, सर अली इमाम, श्री विपिनचन्द्र पाल, पं० पद्मसिंह शर्मा, श्री जगन्नाथदास रत्नाकर ऐसे रत्न लुट गये। शायद भारत ने ही इस दिशा में भी सबसे अधिक हानि उठायी।

अस्तु, यह वर्ष असफलताओं का वर्ष रहा। जिसने जो किया असफल रहा, चाहे वह कांग्रेस का आंदोलन, सरकार का दमन, निरस्त्रीकरण-सम्मेलन या गोलमेज़ सम्मेलन ही क्यों न हो। 1932 में अपनी संपूर्ण असफलता और अशान्ति इस नए वर्ष के जिम्मे छोड़ गया है। आओ 1933, तुम अपनी समस्याओं से संघर्ष करो।

[संपादकीय। 'जागरण', 9 जनवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

एक उपयोगी प्रस्ताव

पढ़ी-लिखी जातियों में अग्रगण्य होती हुई भी कायस्थ जाति बहुत ही पिछड़ी हुई है। इस जाति के लगभग नब्बे प्रतिशत लोग नौकरी-पेशा और कलम की सेवा करके पेट पालते हैं। इसी कारण जातिमात्र दरिद्र और औरों के नौकरी के उम्मीदवारों के द्वेष का कारण बनी हुई हैं। ऐसी हालत में शायद ही किसी जाति को औद्योगिक शिक्षा तथा उद्योगजीवी होने की इतनी जरूरत हो जितनी कायस्थों को। पुश्त दर पुश्त नौकरी पेशा होने के कारण इनकी नसों में गुलामी जम गई है, इसलिये आज बेकारी के जमाने में भी नौकरी के लिए मारे-मारे फिरते हैं। इस पर भी, तुर्रा यह कि जो लोग व्यापारी हैं, जो कायस्थ व्यापार की ओर लग गये हैं, उन्हें नीची निगाह से देखा जाता है।

कायस्थों के संगठन की एक ही रचनात्मक संस्था है—कायस्थ पाठशाला। वह भी केवल नौकरी के उम्मीदवार ग्रेजुएट ही तैयार करती जाती है। यद्यपि, इधर तीन वर्ष से मुंशी हरनन्दनप्रसाद इसके चेयरमैन हुए हैं, औद्योगिक-शिक्षा का बहुत प्रबंध हुआ है, पाठशाला ने काफी उन्नति की है, फिर भी, प्रयत्न निरी बाल-अवस्था में है। इस स्थिति में हमें एक 'मेमोरेण्डम' प्राप्त हुआ है। इसके लेखक हैं बिलासपुर (मध्य प्रान्त) के सम्मानित नागरिक तथा व्यापारिक मुंशी रामचन्द्रलाल वर्मा। उनका प्रस्ताव है, कि यदि भारत के दो सौ पचहत्तर लाख कायस्थ केवल एक रुपया एक बार चन्दा भी दें तो दो सौ पचहत्तर लाख रुपया हो जाय और इस रुपये से इतने अधिक कारखाने खोले जा सकते हैं, कि दो सौ पचहत्तर लाख कायस्थ कुल नौकरियां छोड़कर अपना पेट भर सकते हैं। वे स्वावलम्बी ही नहीं, किन्तु बहुत ही उन्नत हो जावेंगे। इस प्रयत्न को प्रारम्भ करने के लिए वे अपनी जेब से ढाई हजार रुपया देने के लिए तैयार हैं। प्रस्ताव बड़ा उपयोगी है तथा विचार करने योग्य है। आशा है लोग इसको अपनावेंगे और प्रस्तावक को सहायता देंगे।

[संपादकीय। 'जागरण', 9 जनवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

काशी म्युनिसिपल बोर्ड का निर्वाचन-2

काशी म्युनिसिपल बोर्ड के चेयरमैन पं० इकबाल नारायण गुर्टू के अपने पद से त्यागपत्र दिए एक महीने से ऊपर हो गए। वे 26 नवम्बर को ही इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वाइस

चांसलर चुन लिए गये थे और चार्ज ले लेने के बाद, इसमें कोई संदेह नहीं कि वे बोर्ड के चेयरमैन नहीं रह गये। हमें मालूम हुआ है कि उन्होंने तुरन्त अपना त्यागपत्र दे दिया था। चेयरमैनी की दौड़-धूप शुरू हो गयी, पर सरकारी गजट में त्यागपत्र न छपा। बहुत इंतजार के बाद 17 सितंबर के गज़ट में त्यागपत्र छापा गया। फिर भी नए चुनाव की कोई तारीख़ नहीं तय की गयी थी, आशा थी कि एक सप्ताह बाद जो गज़ट प्रकाशित होगा उसमें तारीख़ तय कर दी जावेगी, पर लगातार दो गज़ट निकल चुके और कोई भी तारीख़ नहीं तय की गयी।

बहुत सोचने पर भी हम इसका कारण न समझ सके। क्या स्थानीय शासन विभाग इस समय बहुत ही मुसीबत में है, बड़ी झंझटों में है, बड़े काम में है? आखिर बात क्या है। एक चेयरमैन के इस्तीफा देने के बाद क्या एक महीने तक बिना चुनाव कराए यह पद खाली रह सकता है? यद्यपि, आजकल बोर्ड के सीनियर वाइस चेयरमैन मौलवी अब्दुल मजीद स्थानापन्न चेयरमैन हैं, वे योग्य तथा अनुभवी है, पर हमें जहां तक मालूम है, बोर्ड के ऐक्ट के अनुसार सीनियर वाइस चेयरमैन कोई मीटिंग भी नहीं बुला सकता। साथ ही, क्या सरकार को यह कानूनन हक हासिल है कि वह पन्द्रह दिन तक भी चुनाव रोक सके?

बोर्ड के पिछले कार्यों की जांच के लिए जो कमेटी बैठी थी उसके विषय में हम लिख चुके हैं। उस कमेटी के कारण और भी हलचल है। कहीं कुछ अफवाह उड़ती है, कहीं कुछ अफ़वाह है कि सरकार इस बोर्ड से पिछली बोर्ड के दोषों के लिए जवाब तलब करने वाली है। इसीलिए चेयरमैन के चुनाव की तारीख मुकर्रर हो रही है। बहुत सोचने पर भी हमारी समझ में बात नहीं आती कि चेयरमैन के चुनाव से और हमसे क्या मतलब। यदि जवाब तलब भी किया गया तो बिना चेयरमैन के, बिना मीटिंग के जवाब कैसे दिया जा सकता है। चुना हुआ चेयरमैन और होता है और सीनियर वाइस चेयरमैन और होता है—चाहे अंत में दोनों व्यक्ति एक ही क्यों न हों। हमें तो इस कार्य में सरासर सरकारी भूल दीख पड़ती है। एक अजीब अनिश्चितता छाई हुई है। बोर्ड के हरेक कर्मचारी से लेकर प्रत्येक नागरिक तक आशंका का वायुमण्डल फैला हुआ है। अन्त में क्या होगा, हम क्या कल्पना करें। पर, सरकार काशी के साथ घोर अन्याय कर रही है।

[सम्पादकीय। 'जागरण' 9 जनवरी 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

अस्पृश्यों की महत्वाकांक्षा

हमारे पास कलंत-आश्रम अफराबाद के हरिजन-सेवक श्री हरिजन दास कलंत का एक पत्र आया है जिसमें वे यह लिखते हैं कि, "आज मैं वर्षों से हरिजनों की सेवा में ही अपना प्राण लगा रहा हूं। मेरा यह अनुभव है कि हरिजन मंदिर-प्रवेश के लिए इतने उत्सुक नहीं जितना अपनी आर्थिक दशा को सुधारने के लिए। वे चाहते हैं कि अपने गृह-उद्योग द्वारा वे स्वतंत्र हो जावें। उनकी माली हालत सुधरे। इसलिए हम चाहते हैं कि मशीनरी की उत्पत्ति पर कर लगा दिया जाये। गृह-उद्योग तभी पनपेगा और हम तभी सुखी हो सकेंगे।

'आज' में प्रकाशित श्री परिपूर्णानन्द के 'हरिजनों की सेवा' के कार्यक्रम का समर्थन करते हुए भी, वे लिखते हैं कि हरिजन यही सबसे बड़ी सेवा समझते हैं। कलंत जी ने हमारे पास महात्मा जी के नाम एक अपील भी भेजी है। यह अपील हरिजनों की ओर से ही है।

जिसमें लिखा गया है कि जौनपुर (प्रयाग) में गत रविवार को हरिजनों ने अपनी महती सभा में श्री भगवान सूर्य के सभापतित्व में यह निश्चय किया कि वे उच्च वर्णों के मन्दिरों में नहीं जाना चाहते। इससे विरोध बढ़ता है और विरोध ही मानवी आजादी को नष्ट करता है। 'हम इस समय सबसे बड़ी बात जो चाहते हैं वह यह है कि आप (महात्मा जी) हमारी जरा सी चिन्ता न कर अपना स्वास्थ्य ठीक रखें। 'भगवान सूर्य हमारे दाता हैं।' इस अपील में गृह-उद्योग को महत्ता प्रदान की गई है।

हरिजनों के इन उदार विचारों के लिए हम उन्हें बधाई देते हैं। फिर भी, वे चाहें या न चाहें। हम उन्हें मंदिर प्रवेश का अधिकार देना ही चाहते हैं। रह गई गृह-उद्योग की बात। इस विषय में उनके विचारों का हम समर्थन करते हैं। जब उनके पास पैसा होगा तो भोजन– यह ब्राह्मण और भिक्षु–विप्र भी उनको उन्नत मानने लगेंगे।

[संपादकीय। 'जागरण', 23 जनवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

गोलमेज़ का मर्सिया

गोलमेज़ सभा ने अपने तीनों पन भोगकर जीवन-लीला समाप्त कर दी। भारत को उससे पहले भी कोई आशा न थी, इसलिए उसे उससे अधिक निराशा भी नहीं हुई। निराशा तो तब होती कि हमने उससे बड़ी-बड़ी आशाएं बांधी होतीं। लेकिन वह इस हद तक बंध्या होगी, उसका हमें खयाल न था। हम समझ रहे थे कि पहाड़ खोदा जा रहा है तो कम से कम चुहिया तो निकलेगी ही। कितना तुम-तराक किया गया। सर साइमन आये। महीनों उसकी हलचल रही। फिर गोलमेज़ों का तांता बंधा। राजे-महाराजे, मैं-तू, ऐरा-गैरा नत्थू-खैरा सब जमा हुए और तीन साल की खुदाई के बाद निकला क्या कुछ नहीं। चुहिया भी निकल आती तो कुछ तमाशा तो होता, देखते कैसे दौड़ती है, कैसे उछलती है। लेकिन कुछ भी न हुआ। फेडरेशन का हाथी जहां था, वहीं खड़ा झूम रहा है। बल्कि कई कदम पीछे हट गया। वाइसराय के अख्तियार ज्यों के त्यों, फौज का मामला ज्यों का त्यों, माल का विषय ज्यों का त्यों। हां पहाड़ खोदने से खंदक अवश्य निकल आई। और उस साम्प्रदायिकता के खंदक में सारा देश डूब गया। पंथवाद जो समस्त संसार के लिए अभिशाप सिद्ध हो चुका है और जिसे सदियों के संघर्ष के बाद संसार ने दफना पाया है, उसे खोदकर हिन्दुस्तान में ला खड़ा किया गया। देश राष्ट्र बनना चाहता था। उसे पंथवाद में ढकेल दिया गया। नई-नई समस्याएं उठ खड़ी हुईं। जहां केवल हिन्दू-मुसलमान थे, वहां हिन्दू, मुसलमान, अछूत, सिख, ईसाई, अधगोरे, इतने जंतु निकाल खड़े किए गए और इन सबों ने अपने तेज दांतों और पैने नाखूनों से शिशु राष्ट्र को धर दबोचा। यह सर्वदल-सम्मेलन, एकता सम्मेलन और हरिजन- आंदोलन सब उसी पंथवाद के जन्तुओं को मार भगाने के उपाय हैं, लेकिन कोई उपाय सफल नहीं होता।

बेशक जो लोग गोलमेज में शरीक हुए हैं उनमें से कुछ महानुभाव खुश हैं। सर लियाकत हयात-खां खुश हैं, मि॰ गजनवी खुश हैं। उसी टुकड़ी के और लोग भी खुश होंगे। सर इकबाल को खुश ही होना चाहिए। मगर इन महानुभावों की खुशी ही यह बतला रही है कि तमाशा फीका है। थियेटरों में कुछ ऐसे लोग भी होते हैं, जिनका काम है, वाह-वाह करना। ऐक्टर स्टेज पर आया और उन्होंने तालियां पीटनी शुरू कीं। क्या इन्हीं महानुभावों को

खुश करने के लिए गोलमेज़ की गई थी? वह नाखुश कब हुए थे? सर तेजबहादुर सप्रू और मि० जयकर के सम्मिलित वक्तव्य में भी कुछ आशा है, पर उसमें 'यदि' और 'किन्तु' इतने लगे हुए हैं कि शीघ्र ही उस आशा की कलई खुल जाती है। आप फरमाते हैं–

'Despite many moments of grave anxiety during the progress of our discussions in London and the fact that there are still loose nooses to tie up, the general atmosphere, as our work developed became one of increasing friendliness and mutual understanding. Even where an agreement was not reached, there was an obvious to appreciate each other's view.

यहां तक तो ठीक है लेकिन आप आगे कहते हैं–

"For this and other reasons it is, we argue all the more necessary that Indian opinion should direct itself closely to concrete elements of the entire problem and our resources should be consolidated in order to enable that opinion to effectively assert itself at all subsequent stages. We do not disguise form overselves the probability of strong oppsition form certain reactionary circles in England and India but we are confident that if our countrymen or organise the full forces of public opinion or a constructive plan for the achievement of a satisfactory and workable constitution the sucess will be within our grasp.

मतलब यह है कि हम अमर हो सकते हैं, अवश्य अमर हो सकते हैं, केवल सुधा मिलना चाहिए। सब कुछ जनमत के संगठित होने और उसके प्रबल रूप से व्यक्त होने पर मुनहसर है। यह तो कोई नयी बात नहीं हुई। यह तो हम बहुत दिन से जानते हैं और बराबर कहते आए हैं कि सब कुछ जनमत के संगठित होने पर मुनहसर है। इतना समझने के लिए गोलमेजी रिपोर्टों और कमेटियों की जरूरत न थी। अगर दो वर्ष के बाद गोलमेज का यही नतीजा निकला है, तो हम इस गोलमेज के मर्सिये के सिवा और कुछ नहीं कह सकते। जनमत का संगठित होना वर्तमान परिस्थिति में कहां तक संभव है, इसे सर सप्रू हमसे ज्यादा जानते हैं। भारत के चुने हुए बोलने वाले और विचारक गोलमेज में शरीक हुए। जनमत के संगठित होने का और कौन सा रूप है? अगर भारत में कोई इस विषय का आन्दोलन किया जाय, तो उसमें रुकावटें और बाधाएं हैं। उधर साम्प्रदायिक मतभेद रोज ही नई नई समस्याएं खड़ी करता रहता है। इन परिस्थितियों में जनमत का संगठित होना और निश्चयात्मक रूप में प्रकट होना आसान नहीं है। स्पष्ट शब्दों में हम इस गोलमेज को मर्सिया समझते हैं। हम जहां से चले थे, वहीं आज भी खड़े हैं। तब हमारे सामने थोड़ा सा मैदान था, दो चार कदम आगे चल सकते थे। अब हमारे सामने साम्प्रदायिकता की दीवार खड़ी है, हम एक कदम भी नहीं उठा सकते। सर सैमुएल होर की मीठी बातों ने इन महानुभावों में कैसे आश्वासन पैदा कर दिया, हमें तो यही आश्चर्य है। एक ओर तो सर सैमुएल ने केन्द्रीय जिम्मेदारी की आशा दिलाई लेकिन दूसरी ओर उन्होंने एकता सम्मेलन में तय हुए समझौते में उन शर्तों को जिनसे मुसलमान खुश होंगे, कितनी तत्परता से स्वीकार किया है कि ऐसा जान पड़ता है कि इसकी राह देख रहे थे।

सिन्ध को अलग करने के विषय में जो आर्थिक बाधाएं थीं, उनकी बिल्कुल परवाह नहीं कि गई। एकता सम्मेलन के केन्द्रीय सभा में मुसलमानों को 32 जगहें देने का निश्चय हुआ था, जिसे मुसलमान-प्रतिनिधियों ने स्वीकार कर लिया था। लेकिन सर सैमुएल ने 32 को बड़ी उदारता से 33/1/2 कर दिया। हालांकि मि॰ रामजे मैकडोनल्ड ने अपने साम्प्रदायिक निर्णय में स्पष्ट कहा था कि वही तब्दीलियां स्वीकृत होंगी जिन्हें भारत वाले आपस में तय कर लेंगे, लेकिन जब भारत आपस में 32 जगहें मुसलमानों को देना तय किया, तो सेक्रेटरी साहब ने 33/1/2 क्यों दे दिया? इन प्रमाणों से उनकी मनोवृत्ति का साफ पता चलता है। सांप्रदायिकता सरकार का सबसे बड़ा अस्त्र है और वह आखिर दम तक इसे हाथ से न छोड़ेगी। इस विषय में मि॰ ब्रेल्सफोर्ड ने बहुत ही सफाई के साथ कहा है--

"सर तेजबहादुर सप्रू और मि॰ जयकर के उस विरोध-सूचक नोट का जो उन्होंने गोलमेज़ सभा के सम्मुख रखा है, यह आशय है कि कोई स्वाभिमानी भारतीय इस व्यवस्था को उसके वर्तमान रूप में स्वीकार करने का साहस न करेगा। भारतीय जिम्मेदारी अभी तक केवल एक शब्द जाल है। भ्रम को दिल से निकल डालना ही अच्छा है। अगर हम भारत के नेताओं को कैद करना बंद कर दें, तब भी भारत इस स्वांग को स्वीकार न करेगा।"

सर लियाकत हयात खां ने अपने बयान में कहा है कि साम्प्रदायिक निर्णय में कोई कमी-बेशी हो' की संभावना नहीं है। इसका अर्थ इसके सिवा और क्या है कि अवसर पड़ने पर जिस परिवर्तन से अपनी नीति सफल होती जान पड़ेगी, उसे स्वीकार कर लिया जाएगा, लेकिन अपनी नीति के विरुद्ध कोई परिवर्तन स्वीकृत न होगा। और वह नीति क्या है? इसे सारा भारत समझता है।

[संपादकीय। 'जागरण', 23 जनवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

भारत अपना निर्णय खुद करेगा

श्री बर्नार्ड शा संसार के प्रसिद्ध विचारक और साहित्यकार हैं। शायद उनसे ज्यादा सर्वप्रसिद्ध पुरुष इस समय संसार में नहीं है। चार्ली चपलिन भी मशहूर, लेकिन उसकी गणना विचारकों में नहीं है। श्री बर्नार्ड शा भ्रमण के इरादे से भारत आये हैं, लेकिन दो-एक दिन बम्बई में जहाज पर ही रहकर उनका विचार कोलम्बो चले जाने का है। ऐसे प्रतिभाशाली पुरुष के विचार भारत के विषय में क्या हैं यह हम सभी जानना चाहते हैं। आपकी स्पष्टवादिता संसार प्रसिद्ध है। आप बेलाग बात कहते हैं कड़वे से कड़वे सत्य को प्रकट करने में भी नहीं हिचकते, लेकिन उनकी वाणी और व्यक्तित्व में ऐसा जादू है कि उनके मुंह से कड़वी बातें सुनकर भी लोग आनंदित होते हैं, उनके घूंसे और थप्पड़ खाकर भी हंसते हैं। अपने फ्रीप्रेस के प्रतिनिधि से भारत के विषय में जो कुछ कहा वह हममें से बहुतों की आंखें खोल देगा। भारत की समस्या पर आपने फरमाया--

"भारत के मामले भारतीयों द्वारा ही तय होंगे, विदेशियों द्वारा नहीं। भारत किसी दूसरे के प्रयत्नों से विजयी न होगा यदि आपकी ब्रिटिश सरकार के साथ में लड़ाई हो रही है तो आपको यह आशा न रखनी चाहिए कि मानव-प्रेम के उमंग में आकर फ्रांस, जर्मनी, स्कैंडिनेविया या अमेरिका दौड़ पड़ेगा और आपकी मदद करेगा। आपकी मदद के लिए कोई

उंगली तक न उठावेगा। आपको किसी के पीछे दौड़ने की जरूरत नहीं।''

इस विषय में भारत को कभी भ्रम नहीं हुआ। हां आफत का मारा आदमी कभी-कभी जान-बूझकर ऐसों से आशा करने लगता है। जिनसे उसे आशा की दूरतम संभावना भी नहीं होती, लेकिन जापान-चीन समस्या पर प्रमुख राष्ट्रों की उदासीनता देखकर भारत को जो भ्रम हो रहा था वह पूरी तरह मिट चुका है।

इंग्लैंड और भारत के भावी संबंध के बारे में श्री बर्नार्ड शा ने कहा–

''इंग्लैंड ब्रिटिश साम्राज्य का बहुत ही छोटा अंग है। और समय आवेगा जब इंग्लैंड स्वयं भारत से पृथक् होना चाहेगा। जब आपका अपना राज हो जाएगा तब आपको सार्वजनिक भाषण करना जुर्म करार देना चाहिए, जिसकी सजा फांसी हो आपको याद रखना चाहिए कि जब आप अपने राज्य का संगठन कर लेते हैं तब बातें करने के लिए समय नहीं होना चाहिए।''

इससे तो भारत के वाक्य-धुरंधरों को बड़ी निराशा होगी। संसार में इस सार्वजनिक भाषण ने जितना उपद्रव किया है उतना शायद और किसी बात ने न किया होगा। यह इसी सार्वजनिक भाषण का नतीजा है कि आज केवल वाक् चातुरी पर अधिकार और नेतृत्व का आधार है। जो वाणी-कुशल है वह चाहे कितना ही स्वार्थी, दंभी हो, पर राष्ट्र का नेता बन जाता है। संसार ने स्वीकार कर लिया है कि जो बातों का शेर है वह कर्मों का भी शेर है, हालांकि इन दोनों का संयोग बहुत कम होता है।

हमें यह जानकर बड़ा हर्ष हुआ कि महामना मालवीय जी ने श्री बर्नार्ड शा को काशी आने का निमंत्रण दिया है।

[सपादकीय। 'जागरण' 23 जनवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग भाग 2 में संकलित।]

सनातन धर्म का प्रचार

शुद्ध सनातन धर्म क्या है, यह विषय विवादास्पद है। जो अपने को सनातन धर्म का प्राण भी कहते हैं वे स्वयं इस विषय में चिंतित हैं कि वेद और शास्त्र द्वारा स्वतः धर्म की व्याख्या अनेकानेक प्रकार से की गयी है और इसी कारण विदुर ने महाभारत में साफ लिख दिया है कि–

'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः सपन्था।'

जब महाजनों द्वारा प्रदर्शित पथ ही माननीय है तो 'महाजन' कौन है, किसे समझना चाहिए, यह शंका होती है। केवल पोथी-पत्रे के पंडित को ही महाजन नहीं कहा जा सकता। स्मृतिवाक्य तो इस विषय में स्पष्ट ही है कि–

अग्रेभ्यः ग्रान्थिनः श्रेष्ठाः, ग्रन्थिभ्यो धारिणोवराः।
धरिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठाः ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः।।

अर्थात् सबसे श्रेष्ठ 'व्यवसायी' है, अपने ज्ञान को व्यवसाय रूप में कार्यान्वित करने वाला ही वास्तविक पंडित है, महाजन है, ज्ञाता है, आचार्य है। यदि पंडित-समुदाय यह कहते हैं, कि हर दशा में ब्राह्मणों को ही श्रेष्ठ माना गया है, ब्राह्मण ही श्रेष्ठ समझे गए तथा वे मनुस्मृति का यह श्लोक रट डालते हैं कि–

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः, प्राणिनाम् बुद्धिजीवनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः, नरेषु ब्राह्मणा स्मृतः।। मनु 1, 97।

तो उन्हें यह भी याद रखना चाहिए कि—इसी के आगे मनु भगवान् ने लिखा है—

ब्राह्मणेषु च विद्वांसो, विद्वत्सु कृत बुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्त्तातः, कर्त्तृयु ब्रह्मवादिनः।

ब्रह्मवादी सबसे श्रेष्ठ हैं। फलतः जो व्यवसायी है, और ब्रह्मवादी है, वही सबसे श्रेष्ठ है, केवल त्रिपुंड फटकारे, दूसरे का दिया हुआ खाकर पेट फुलाए, अशिष्ट, वेद का पंडित नहीं। इन कसौटियों में कसने पर तो भारत में एक भी ऐसा पंडित नहीं दीख पड़ता जो महात्मा गांधी की तरह 'महाजन' हो, माननीय हो। हमारी सम्मति में महात्मा जी जिस प्रकार देश भर के लिए सबसे बड़े महाजन हैं, इसी प्रकार काशी के लिए सबसे बढ़े महाजन डा॰ भगवानदास हैं, और सनातन धर्म के अनुसार यही सर्वथा उचित है, कि काशीवासी पोपडम के पुजारी, पाखण्ड के समर्थकों की किंचित् भी परवाह न कर, इन्हीं के बतलाए पथ पर चलें और केवल मन्दिर इत्यादि ही हरिजनों के लिए न खोल दें, किन्तु अपने हृदय का मंदिर भी हरिजनों के लिए खोल दें।

हमें हर्ष है कि यह बात हमें काशी की जनता को बतलाने की जरूरत नहीं है। ४ तारीख को वाइसराय से यह प्रार्थना करने के लिए कि वे हरिजनों के मन्दिर प्रवेश के अधिकार सम्बन्धी बिल को एसेम्बली तथा कौंसिल में पेश करने दें। काशी टाउनहाल में डा भगवानदास के सभापतित्व में जो महती सभा हुई थी, उसमें जनता का, पन्द्रह हजार की भीड़ का, हरिजनों के प्रति अनुराग स्तुत्य तथा सराहनीय था। उस सभा में काशी के क्षेत्रों में मुफ्त भोजन कर, कतिपय उच्छृंखल संस्कृति के विद्यार्थियों ने गड़बड़ करने की कोशिश की थी। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' को मानने वाले इन अशिष्टों ने पहला विरोध ढेला बरसा कर किया। फलतः दो-चार के मस्तक से खून बह निकला। जब जनता उत्तेजित होकर इन्हें भर्ता कर डालना चाहती थी, इनकी बात सुनना तो दूर रहा, डा॰ भगवानदास ने जनता को शान्त कर, तीन अस्पृश्यता-निवारण विरोधियों का व्याख्यान कराया। ये व्याख्याता स्वयं अपने समर्थकों के उजड्डपन से घबड़ा रहे थे। जनता ने बार-बार भड़काए जाने पर भी सभापति की आज्ञा का पालन किया। अन्त में, जब प्रस्ताव घोर 'हर्ष ध्वनि' के साथ पास हुआ तो वास्तविक विधर्मियों ने पुनः कोलाहल मचाया।

अस्तु, चाहिए तो यह था, कि 'अधिकांश की मूर्खता' पर दुःख प्रकट करके, सनातनी समय की प्रतीक्षा करते जब वे अपनी बात का प्रभाव पैदा कर सकें, किन्तु ढेले या डंडे का प्रश्रय इधर धर्म के प्रचार के लिए वे ले रहे हैं, यह कहां की धार्मिकता है? किस शास्त्र का वचन है? काशी के अधिकांश संस्कृत-छात्र 'परद्रव्येषु लोष्टवत्' समझकर मुफ्त का भोजन-आगम तो किया करते ही हैं, क्या वे पराए प्राण को 'लोष्टवत्' समझते हैं? सहिष्णुता तथा गम्भीरता तथा शास्त्र से उठ गई? यही नहीं, वे व्यर्थ के झूठे आक्षेपों को चिल्लाकार, झूठी नोटिसों बांटकार क्या हमें यह भी रास्ता बतला रहे हैं, कि कलियुग में सनातन धर्म का प्रचार झूठ बोलकर करना चाहिए? क्या वे वेद तथा धर्म को साक्षी देकर कह सकते हैं, कि वे अपनी पराजय को जो कारण बतलाते हैं, सत्य है? जिन्हें इस बात पर सचमुच यकीन हो, कि अस्पृश्यता हमारे समाज का एक गुण है, वे "यत्ने कृते यदि न सिद्धति कोत्रदोषः"—यत्न

करें। व्यर्थ झूठ या दगेबाजी की बातें क्यों करते हैं कम से कम, यह तो हम जानते हैं, कि इस उपयोगी प्रस्ताव के नब्बे प्रतिशत विरोधी इतने अबोध हैं, कि वे जानते ही नहीं कि अस्पृश्ता की समस्या क्या है।

[संपादकीय। 'जागरण', 23 जनवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

काशी म्युनिसिपल बोर्ड-3

अंत में बोर्ड के विषय में जो शंका तथा संदेह का वातावरण छाया हुआ था, वह एक रास्ते पर आ रहा है। प्रांतीय सरकार ने बोर्ड के कुशासन के विष में जवाब-तलब किया है। हमारी समझ में दो ही बातें नहीं आयीं। किस बात का जवाब दिया जाएगा? नयी बोर्ड पिछले बोर्ड के पापों का (?) या अपराधों (?) का किस प्रकार जवाब देगी? दोष किसी ने किया, जवाब कौन देगा? क्या इसमें घोर कानूनी भूल नहीं है? दूसरी बात यह है कि जवाब कौन देगा? बोर्ड! बोर्ड का चेयरमैन कौन है? बिना चेयरमैन के कहीं बोर्ड भी पूरी होती है, खासकर ऐसे मौके पर तो यह अत्यावश्यक है कि बोर्ड का एक चेयरमैन हो? आज दो महीने से बोर्ड—काशी इतने बड़े नगर की बोर्ड बिना चेयरमैन के है। क्या सरकार चेयरमैन का चुनाव न कराकर काशी के साथ घोर अन्याय नहीं कर रही है और जांच के अपने कार्य को ही हास्याम्पद-सा बना रही है! हमें आशा है, कि प्रांतीय सरकार तुरंत ध्यान देगी!

[संपादकीय। 'जागरण', 30 जनवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग 2 में संकलित।]

मंदिर प्रवेश और सरकार

हमें तो यह समाचार पढ़कर विश्वास ही नहीं हुआ कि वाइसराय महोदय ने मद्रास कौंसिल में श्रीयुत सुब्बरायन को 'मन्दिर-प्रवेशाधिकार' सम्बन्धी बिल पेश करने का अधिकार नहीं दिया। श्रीयुत सुब्बरायन ने कौंसिल में इस आशय का प्रस्ताव भेजा था कि जितने सावर्जनिक मंदिर हैं, वे सबमें सभी जाति के हिन्दुओं के प्रवेश का अधिकार दिया जावे। भारत-सरकार के अस्सी (अ) धारा के अनुसार मद्रास सरकार ने वाइसराय के पास इस बात की स्वीकृति के लिए यह कानून पेश करने की इजाजत दी जावे या नहीं, इसे भेजा था और 23 जनवरी का सम्वाद है कि वाइसराय ने स्वीकृति नहीं दी। श्रीयुत रंगअय्यर ने एक प्रस्ताव एसेम्बली में पेश करने के लिए भेजा था, जिसके अनुसार "भारत से जाति-पाँति की बाधाएं एकदम उठा दी जानी चाहिए।" इस प्रस्ताव को पेश करने की इजाजत मिल गई है। तथा एक महीने की नॉटिस की बाधा के अनुसार 23 फरवरी तक यह प्रस्ताव एसेम्बली में विचारार्थ पेश हो जावेगा। मि० एय्यर के प्रस्ताव के समान्तर कई प्रस्ताव मि० एस० सी० मित्रा, श्री गयाप्रसाद सिंह, श्रीदास आदि के नाम से भी बड़ी कौंसिल में पेश होने वाले हैं।

वाइसराय ने मद्रास कौंसिल में जिस प्रस्ताव को पेश न होने की आज्ञा दी है, उसका कारण यह है कि वह विषय प्रान्तीय दृष्टि से विचार करने योग्य नहीं है। मद्रास में बहुत से ऐसे मंदिर हैं, जहां बाहर से यात्री दर्शन करने जाते हैं। अत: उन मंदिरों के साथ भारत भर का सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त अभी इस विषय में जनमत बिना जाने सरकार कुछ नहीं करना

चाहती। बड़ी कौंसिल में जिस बिल का पेश हाने की इजाजत दी गई है वह अधिक व्यापक है तथा उसमें प्रान्तीय संकुचितता नहीं है। इसके अतिरिक्त बड़ी कौंसिल में भी, सरकार इस बात की पूरी चेष्टा करेगी, की काफी समय तक इस पर विचार करने के बाद हिन्दूमत संगठित हो सके। इसके आलावा, वाइसराय की यह भी घोषणा है कि एक प्रस्ताव पेश होने देने की इजाजत देकर और एक को न देकर सरकार ने अपने किसी पक्ष या विपक्ष को नहीं व्यक्त करना चाहती। वही किया जा रहा है, जो उचित था।

इस विषय, में प्रथम इसके कि हम अपनी राय जाहिर करें, 'लीडर' पत्र के दिल्ली-स्थिति विशेष संवाददाता का इस 'वाइसरायी-फरमान' पर विचार दे देना उचित होगा। उस निर्भक संवाददाता के मतानुसार सरकार अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन को कांग्रेस की एक राजनैतिक चालबाजी समझती है। तथा उसके विचार में अस्पृश्यता निवारण का शोर मचाकर कांग्रेस अछूतों को अपने पंजे में कर, कौंसिलों में उनको अपने साथ रहने की चाल खेल रही है। वाइसराय के मंदिर-प्रवेश बिल की नामंजूरी का यही रहस्य है। रंगा ऐयर के बिल को अधिक निर्दोष समझा गया है क्योंकि उसमें केवल 'जाति-प्रथा' के विरुद्ध नियम बनाया गया है। वाइसराय जानते हैं कि यदि वे मद्रास के बिल को नामंजूर करेंगे तो उनको दुनिया भर बुरा कहेगा, यदि स्वीकार कर लेंगे तो कांग्रेस की चाल सफल हो जावेगी इसलिए रंगाएय्यर के निर्दोष बिल को इजाजत दी गयी है कि बदनामी बची रहे, पर सरकार जानती है कि बड़ी कौंसिल में उनकी जितनी शक्ति है, उससें कमेटी आदि में बिल को भेजकर एक वर्ष वा छ: महीने तक डाले रहेंगे। इसका फल यह होगा कि इतना समय बीत जाने पर कांग्रेस की राजनैतिक चाल असफल हो जावेगी। आगे जो उचित समझा जावेगा, किया जावेगा।

इस भीतरी बात के उद्घाटन के बाद हम अपनी ओर से और क्या मिलावें। इस आर्डिनेन्स के युग में स्पष्ट वक्ता होना भी पाप है। पर हम इतना तो कह हो सकते हैं कि यदि लीडर के संवाददाता का अनुमान सत्य है तो उसके साथ ही यह भी कल्पना की जा सकती है कि सरकार यह देख रही है कि मंदिर-प्रवेश के सम्बन्ध में मूढ़ सनातनियों का एक भाग गांधी जी के तथा कांग्रेस के विरुद्ध होकर सूर्य पर थूकने का प्रयास कर रहा है। कांग्रेस हिन्दुओं की ही संस्था सी रह गयी है। अतएव सरकार सोचती है कि मंदिर प्रवेश की समस्या में जड़वादियों का साथ देने से वह मूढ़ सनातनियों का सहयोग प्राप्त कर लेगी तथा इस प्रकार कांग्रेस में भी गहरी फूट पैदा हो जावेगी किन्तु, यह सरकार का भ्रम है। हम बार बार लिख चुके हैं कि दो एक ऐसे नगरों को छोड़कर जहां मुफ्त में भोजन मिलता है और कहीं ऐसे सनातनी नहीं है जो हरिजनों को मंदिर प्रवेश न करने देना चाहते हों, गांधी जी के विरुद्ध हों। वाइसराय की अस्वीकृति से जनता को ही नहीं, संसार को यह प्रकट हो गया कि कांग्रेस हो या जनता हो, वह हरिजनों की अधिक हितचिन्तक है, सरकार ही प्रगति में बाधा डाल रही है। वाइसराय के पास जहां करोड़ों हिन्दुओं की यह प्रार्थना भेजी जा चुकी है कि मंदिर प्रवेश सम्बन्धी कानून विचारार्थ पेश होने दें, वहीं कुछ मुट्ठी भर सनातनियों की विरोधी आवाज को यह महत्व देकर, यह कहना कि अभी लोकमत नहीं मालूम हुआ है, सरकार पहले पूरी जांच करना चाहती है, अपने को तथा अपनी आत्मा को धोखा देना है तथा वाइसराय ऐसे उच्च पदाधिकारियों को शोभा नहीं देता।

वाइसराय जिस बात को 'नहीं' कहते हैं, उसे वे 'हां' नहीं कहते। अत: मद्रास का

बिल.पास तो हो गया। अब देखना है कि बड़ी कौंसिल में क्या बाधा पेश की जाती है। इस गलत नीति से सरकार के प्रति बहुमत का असन्तोष तो बढ़ेगा ही, इसके साथ ही मूढ़ सनातनियों के हर्ष से जनता और भी क्षुब्ध हो उठेगी। परद्रव्यजीवी चाहे जितना भी धर्म-ध्वजी, सनातनधर्म की जान बने, जनता इनके रहस्य को जानती है। और बिल हो या न हो, वह महात्मा जी के कथानुसार हरिजनों की सेवा का पूरा कार्य करेगी, और सरकार भी सहयोग न दे तो क्या, सुधारक तो अपना काम पूरा करेंगे ही।

[संपादकीय। 'जागरण', 30 जनवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

मिर्जापुर का दंगा

आज के दो वर्ष पहले, मिर्जापुर जिले के रैया नामक ग्राम में हिन्दू-मुसलिम दंगा होने के समाचार मिले थे। कहा गया था कि मुसलमान जमींदार के एक बछवा मार देने के कारण बात बढ़ी थी और दंगा हो गया था। जो हो, पुलिस ने लगभग एक सौ आदमियों की चालान कर दी थी और दो वर्ष तक बनारस जिला जेल में वे सड़ते रहे। दौरा जज मि॰ मेडले की इजलास में मुकदमा होता रहा और एक अपराधी जेल के भीतर ही मर गया। बहुत से छोड़ दिये गये और सात को फांसी तथा तेइस को काले पानी की सजा दी गयी। इन अभागों ने इलाहाबाद हाईकोर्ट के सामने जो अपील की थी, उसका फैसला 23 जनवरी को सुना दिया गया। यह फैसला कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है कि निस्संकोच यह कहना पड़ता है कि इलाहाबाद हाईकोर्ट के इतिहास के बहुत ही महत्वपूर्ण फैसलों में इसकी गणना होगी। विद्वान तथा आदरणीय न्यायाधीशों ने सभी अभियुक्तों को निपराध कहकर छोड़ दिया और न्याय की जरा सी भूल से जो व्यक्ति मृत्यु के द्वार पर पहुच चुके थे, वे बच गये। हाईकोर्ट के इस फैसले से हमको उसकी निष्पक्षता के प्रति श्रद्धा हो गयी है।

फैसले में कई बातें विचारणीय हैं। आदरणीय न्यायाधीशों ने इस विषय में तीन मुख्य बातों का पता लगाया है—1 सरकारी गवाहों ने शपथ लेकर झूठी गवाही दी है, अत: वे दरोगहल्फी के अपराधी हैं। 2 पुलिस मुकदमा बनाने की ही चेष्टा की, सत्य की तह में पैठने, तथ्यातथ्य के जांच की नहीं। 3 जिस न्यायाधीश ने सजा दी उसको उदारतापूर्वक मामले की जांच करनी चाहिए थी क्योंकि दंगों के मामले में बहुत से निरपराध तथा निर्दोष भी अक्सर फंस जाया करते हैं। इन बातों के अतिरिक्त मुकदमे में कई रोचक बातों की विचित्रता की ओर आदरणीय न्यायाधीशों ने ध्यान आकृष्ट किया है। एक तो यह कि पुलिस ने जिन लोगों की चालान की तथा जिनके पास लाठिया-हथियार पाये गये, उनके मालिकों का, हथियार के असली मालिकों का पता नहीं लगाया। घटना के प्रत्यक्षदर्शियों ने जितने लोगों की शिनाख्त की तथा उनको दंगे में भाग लेते देखा था उनकी संख्या नबे तक है। एक आदमी का नबे आदमियों को पहचाना—बलवे के समय—असंभव है। इसके आवाला यह फेहरिस्त घटना के दो दिन बाद गवाह ने दी थी।

तीसरी बात यह कि बलवे का जो नेता बतलाया जाता है कि 'शुकुल' अभागा सत्तर वर्ष का एक ऐसा बूढ़ा है, जिसके विषय में सिविल सर्जन की रिपोर्ट बड़ी करुण है। अस्तु इस विषय में अपनी कोई सम्मति न देकर न्यायाधीश महोदयों द्वारा बतलायी गयी उन तीनों

बातों की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं, जिनको यदि हम कभी अपने आप कहते तो कानूनी-अड़चन में पड़ जाते, पर अब उनका महत्व बहुत अधिक हो गया है और हमारा प्रान्तीय सरकार से तथा वाइसराय महोदय से और उनकी सरकार से अनुरोध है कि इस पर विशेष ध्यान दिया जावे तथा शीघ्र ही उसी के आधार पर काम हो। न्यायाधीश महोदयों की सलाह है—

1 पुलिस वालों को चाहिए कि सिर्फ अपना मुकदमा बनाने के लिए ही प्रमाण इकट्ठा न किया करें, बल्कि सत्यासत्य की पूरी छानबीन किया करें।

2 सरकारी वकील को चाहिए कि उनके पास जितने प्रमाण हों, चाहे वे कथित अपराधी के हित के ही क्यों न हों, अदालत के सामने रखें, चाहे उनके रखने से अपराधी छूट भी जावे।

3 मुकदमा करने वाले मजिस्ट्रेट को अपराधियों के लिए भी चिन्ताशील होना चाहिए। इत्यादि।

आशा है जिनके लिए यह सलाह दी गयी है वे उसका आदर करेंगे और इस बात को न भूलेंगे कि पुलिस का काम किसी पक्ष को लेकर लड़ना नहीं है। पर उसे निष्पक्ष होकर तथ्यातथ्य का निर्णय करना चाहिए। सरकारी वकील भी शायद अपने को एक पक्ष का आदमी समझते हैं, और उनको चिन्ता होनी है कि यदि अपराधी छूट जावेगा तो उनकी बदनामी होगी, नौकरी पर आ बनेगी। मुकदमा करने वाले मजिस्ट्रेट के लिए हम कुछ नहीं लिखना चाहते। पर यह अवश्य है कि हाईकार्ट के न्यायाधीश से अपना कर्तव्य जानकर अब वे और दृढ़ता के साथ अपने कर्तव्य का पालन करेंगे।

आदरणीय न्यायाधीशों ने एक और विशेष बात बतलायी है। उनका कहना है कि भारतीयों की 'शपथ' के प्रति श्रद्धा उठती जा रही है और वे अदालत में झूठी शपथ लेते हैं और यहां तक तो कह ही देते हैं, कि "अरे सच बोलो, क्या अदालत में हो।" अदालत इस विषय में अत्यधिक कार्य के कारण दरोग हल्फी के पर्याप्त मुकदमे भी नहीं चला पाती। इस समस्या का न्यायाधीश महोदय कोई ठीक निदान नहीं बतला सकते हैं, पर हम यह जानना चाहते हैं, कि इस प्रकार शपथ को भ्रष्ट करने का दोष क्या किसी तीसरे का नहीं है? यदि दंगे के मामले में बहुत से सरकारी गवाह इसके अपराधी थे तो पुलिस की इसमें कुछ जिम्मेदारी है या नहीं? अदालत को छोड़ यदि इस मुहकमे के अधिकारी इस ओर ध्यान दें तो कुछ विशेष लाभ हो।

[संपादकीय। 'जागरण', 30 जनवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

श्री देवदास गांधी का उपदेश

त्रिवेंद्रम् में हरिजन-सेवा का उपदेश देते हुए श्री देवदास गांधी ने विद्यार्थियों को यह चेतावनी दी थी कि एक अवसर वैसा भी आ सकता है जब महात्मा गांधी यह कहें कि पढ़ाई छोड़कर, स्कूल और कालिज से निकल आओ और हरिजनों की सेवा करो। अभी हाल में 'लीडर' में श्री ईश्वरशरण का एक पत्र छपा था। जिसमें उन्होंने विद्यार्थियों से अपील की थी कि वे अपने वाद-विवाद में हरिजनों की समस्या को विचारार्थ रखा करें तथा विचार-विनिमय कर इस

विषय में लोक-रुचि तथा लोक-अज्ञान क्रमशः बढ़ावें और घटावें। विद्यार्थियों से हरिजनों की सेवा का कार्य बड़ी तत्परता से हो सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं है। पर, हम यह नहीं चाहते कि वे इसके लिए पढ़ाई छोड़ दें। अपने अवकाश के समय ही, आनेवाली गर्मियों को छुट्टियों में ही, यदि उन्होंने इसी कार्य को किया तो इसमें कोई संदेह नहीं कि महात्माजी का काम पूरा हो जाएगा। वाइसराय के बिल की अस्वीकृति के कारण अब हरेक हरिजन हितैषी को बड़ी तत्परता से, बिना कानून की सहायता के, हरिजानों समृची बाधाएं हटवा देनी होंगी और विद्यार्थियों की सहायता की बड़ी जरूरत है।

[संपादकीय। 'जागरण', 30 जनवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 मे संकलित।]

हड़ताल

कांग्रेस का क्रियाशील तथा व्यावहारिक आन्दोलन ठंडा-सा पड़ गया है। इसे चाहे फूस के गट्ठर के नीचे चिनगारी सुलगना समझिए या सरकार की जीत समझिए। पर हमें केवल एक बात की ओर, कांग्रेस के जो भी पदाधिकारी हों, उनका ध्यान दिलाना है। कांग्रेस के पास विशेष साधन न होने के कारण वह सरकार का क्रियात्मक विरोध नहीं कर सकती। अत: वह निषेधात्मक विरोध कर रही है। फलत: उसे हड़ताल ऐसी चीजों को बार-बार आवाहन करना पड़ता है। लाचार अथवा दुर्बल के लिए हड़ताल करने से उसका महत्व जाता रहता है और एक दिन को हड़ताल का प्रभाव गरीबों पर बहुत ही बुरा पड़ता है। रोज कुआं खोदने और रोज पानी पीने वालों की तो मरन हो जाती है। अतएव क्या इस प्रकार के कार्यों की मनाही कर दी जावेगी? अब इनका विशेष महत्व भी नहीं है। हड़ताल के दिन शोक मनाने या प्रार्थना करने के स्थान पर लोग मौज करते हैं, तमाशे देखते हैं, और कोई विशेष लाभ नहीं होता।

[संपादकीय। 'जागरण', 30 जनवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-2 में संकलित।]

जापान में पत्रों का प्रचार

जापान की जनसंख्या लगभग साढ़े छ: करोड़ है। वहां ग्यारह सौ सैंतीस दैनिक और दो सौ पच्चीस साप्ताहिक और मासिक पत्र निकलते हैं। आज दैनिकों की ग्राहक-संख्या दस से बीस लाख तक है। इन पत्रों की आर्थिक दशा का अनुमान इससे हो सकता है कि 'ओसाका मैनीची' पत्र के कार्यालय के बनवाने में तेंतीस लाख रुपये लगे थे। 'टोकियो नीची' का भवन भी करीब-करीब ऐसा ही है। 'असाही' कम्पनी ने भी टोकियों में बत्तीस लाख की लागत से एक विशाल भवन बनवाया है। एक-एक कार्यालय में दो-तीन हजार आदमी काम करते हैं। केवल सम्पादकीय-विभाग में चार-पांच सौ आदमी होते हैं। जापान और भारत की व्यक्तिगत आय में इतना बड़ा अन्तर नहीं है। उसकी आबादी भी यहां की आबादी का एक-पांच से अधिक नहीं हैं। फिर भी वहां के पत्र कितनी उन्नत दशा में हैं। भारत में तो ऐसा शायद ही कोई पत्र हो जिसका प्रचार पचास हजार से अधिक हो। इसका कारण तो यह हो सकता है कि यहां हरेक प्रान्त की अलग भाषा है। लेकिन हिन्दी-भाषी प्रान्तों की जनसंख्या तो लगभग जापान की जनसंख्या की ड्यौढी है, पर कोई भी हिन्दी दैनिक, जहां तक हमरा

अनुमान है, बीस हजार से अधिक नहीं छपता। अधिकांश तो चार-पांच हजार के अन्दर ही रह जाते हैं। ऐसी दशा में पत्रों की उन्नति क्योंकर हो सकती है।

[संपादकीय। 'हंस', फरवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

प्रयाग महिला-विद्यापीठ की साहित्यिक प्रगति

प्रयाग महिला-विद्यापीठ ने अपने जीवन के इन थोड़े दिनों में जो उन्नति की है, उसे हम बहुत संतोषजनक कह सकते हैं। अब उसने अपनी ज़मीन खरीद ली है, अपना भवन बनवाना शुरू का दिया है और कुछ बनवा भी लिया है। उसका सालाना खर्च बत्तीस हज़ार के ऊपर है और संस्थापक महोदय की किफायतदारी की बदौलत इस खर्च का बड़ा भाग केवल छात्राओं की फीस से ही पूरा हो जाता है, म्युनिसिपैलिटी या गवर्नमेंट के सामने हाथ फैलाने की जरूरत नहीं पड़ती। जो कुछ कमी पड़ती है, वह चन्दे से पूरी जाती है। और जब हम देखते हैं कि छात्राओं से केवल आठ रुपया माहवार लिया जाता है और उसी में उनके खाने-पीने रहने-सहने का इंतजाम हो जाता है, बल्कि कुछ ऐसी बालिकाओं की परवरिश भी हो जाती है, जो फीस देने में असमर्थ हैं, तो हमें महाशय संगमलाल जी की प्रबन्ध-कला का कायल होना पड़ता है। विद्यापीठ ने कम से कम खर्च में अच्छी से अच्छी शिक्षा देने का आदर्श अपने सामने रखा है। वह बालिकाओं को केवल तीन साल में वर्नाक्यूलर फाइनल की परीक्षा के लिए तैयार कर देता है। इनके साथ ही पाक-कला, संगीत व्यायाम का भी प्रबन्ध कर दिया गया है। हमें यह देखकर हर्ष हुआ कि यहां आसाम, मद्रास आदि प्रान्तों की कई बालिकाएं भी शिक्षा पा रही हैं। इससे ज्यादा खुशी इस बात से हुई कि यहां की विदुषियां तितलियां बनकर नहीं, गृहदेवियां बनकर निकलते हैं, जो जीवन के किसी क्षेत्र में अपने गृह-विज्ञान कौशल से अपने लिए स्थान बना सकती हैं, दूसरों पर भार न होकर उनका उबार कर सकती है। जब से श्रीमती महादेवी वर्मा ने इस संस्था का संचालन भार ले लिया है, उसकी प्रगति और भी तेज हो गयी है और विद्यालय की मसरूफियतों में साहित्य का प्रवेश भी होने लगा है। हिन्दी में पहला महिला-गल्प सम्मेलन 26 जनवरी को विद्यापीठ में ही हुआ। श्रीमती शिवारानीदेवी उसकी सभानेत्री थीं। पत्र-पत्रिकाओं में महिलाओं की कहानियां अक्सर निकलती रहती हैं, यहां भी महिलाओं ने कई अच्छी-अच्छी कहानियां पढ़ीं जिनमें श्रीमती कमला चौधरी और कमलादेवी शर्मा की कहानियां बहुत सुन्दर थीं। चौधरानी की शैली गम्भीर है। कमला शर्मा की रचना आत्मकथात्मक थी और उसके एक-एक शब्द बालोचित विनोद में डूबा हुआ था। ऐसे सम्मेलनों में बहुत गम्भीर साहित्यिक कहानियां पसन्द नहीं की जातीं। यहां तो भाषा और भाव और शैली ऐसी होनी चाहिए, जिसमें कुछ चुहल हो, कुछ प्रफुल्लता हो और उसके साथ ही पढ़ने का ढंग भी आकर्षक होना चाहिए, यानी उसमें संभाषण का-सा प्रवाह और भाव भंगी होना जरूरी है। सभानेत्री जी के भाषण पर हम अगले अंक में विचार करेंगे।

[संपादकीय। 'हंस', फरवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

संपादकों के पुरस्कार

सुनते हैं अन्य देशों में संपादकों को बड़ी-बड़ी पदवियां मिलती हैं, उन्हें तरह-तरह से सम्मानित किया जाता है। भारत में उन्हें जो पुरस्कार मिलता है, उसका एक नमूना हम नीचे प्रकाशित करते हैं। यह पत्र एक युवक ने हमारे पास भेजा है और हम केवल इसीलिए उसे प्रकाशित करते हैं कि बेकारी ने युवक समाज में जो असंतोष और कटुता उत्पन्न कर दी है, उसका यह एक मनोवैज्ञानिक उदाहरण है–

प्रेमचंदजी

नमस्ते।

शायद दो हफ्ते से ज्यादा हो गये होंगे, मैंने आपके पास एक प्रार्थना-पत्र भेजा था, यह आशा कर कि आप एक दु:खी हृदय के सच्चे उद्‌गार पर सच्ची सहानुभूति प्रदर्शित करके दो-चार बूंद आँसुओं की बहायेंगे। मगर सब व्यर्थ। मुझे बाल्यवस्था का भ्रम था। जिला हमीरपुर में आप गालिबन 1916 में आये थे और मुझे इनाम में एक किताब दी थी। तब आप ऐसे दयालु और सहृदय थे, तब उन दिनों तो आप केवल धनपतराय सब डिप्टी इंस्पेक्टर थे और दरिद्रता के दलदल से कुछ ही दिन पहले निकल कर आये थे। आपके दिमाग में उस समय कि थपेड़–पिता का स्वर्गवास आदि–ताजे होंगे। मगर अब जमीन आसमान का फर्क है। कहां एक मामूली कर्मचारी कहां उपन्याम सम्राट ! एक ही आदमी की दो सूरतें, राजा भोज और भोजवा तेली। एक बात यादकर मुझे जरूर थोड़ा-सा खेद होता है, कि क्या हिन्दी-साहित्य की उन्नति इमी प्रकार होगी? यदि कोई दुखिया उपन्यास-सम्राट से विनती करे तो उन्हें चूतड़ घुमा लेना चाहिए कि उस गन्दी चीज़ (प्रार्थी) पर नज़र न पड़ 'रंगभूमि', 'कायाकल्प' आदि की मेहरबानी से लाखों रुपये संढ़ कर धर लिये। अब गुलछर्रा उड़ाते हैं और देशभक्त होने का दावा करते हैं। मैं आपको स्वार्थी पाषाण-हृदय और नास्तिक क्यों कहूं? मैं आपको नास्तिक इसलिए कहता हूं कि आप ईश्वरवाद और आस्तिकता के नियमों का पालन नहीं करते। यदि ऐसा हाता और आप ईश्वर के प्रकोप से डरते तो, आप उसके निस्सहाय बच्चे को देखकर मुंह टेढ़ा न करते। आप जैसे हजारों प्रमचंद धूल में मिल गये और मिल जायेंगे। आप ता उसकी सृष्टि के एक कण की मीमांसा नहीं–फिर आपको इतना अहंकार कैसे?

मेरे युवक-मित्र को गलतफहमी हुई है। मैं न लखपती हूं, न हजारपती, न सौपती। मैं केवल एक मजदूर हूं, उसी तरह जैसा पहले कभी था। जब धन ही नहीं तो अभिमान कहां से हो। अभिमान के लिए कोई आधार तो हो मुझे अपने मित्र से सच्ची सहानुभूति है और मेरे हाथ में कोई अख्तियार होता तो मैं सबसे पहले उन्हें किसी हर पद आरूढ़ कर देता। लेकिन पीर खुद मांदे, इलाज किसका करें?

[सपादकीय। 'हंस', फरवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग भाग-3 में संकलित।]

सोवियत रूस में प्रकाशन

सोवियत रूस में जिस तरह का प्रचार बढ़ रहा है उसी तरह पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं का

प्रकाशन भी बड़े वेग से बढ़ रहा है। पांच साल पहले की बात है–1927 की–सोवियत स्टेट एडिटोरियल आफिस ने चार हजार भिन्न-भिन्न विषयों पर सात करोड़ चालीस लाख किताबें प्रकाशित की थीं, जिन पर कुल लागत तीन करोड़ चालीस लाख रूबल थी। केवल मैक्सिम गोर्की की बीस लाख प्रतियां निकली थीं। रूस की जनसंख्या बारह करोड़ के लगभग है। इस जनसंख्या के लिए लगभग आठ करोड़ पुस्तकें प्रकाशित हुईं। और यह है पांच साल पहले की संख्या। सन् बत्तीस के आंकड़े मिल सकें तो अवश्य ही इससे अधिक होंगे। इधर भारत का यह हाल है कि ऐसी बिरली ही कोई किताब होगी जिसकी हजार दो हजार प्रतियां साल भर में बिक सकें। पत्र निकलते हैं, पर दो-चार महीने या दो-चार साल में अरुचि और शिथिलता से परास्त होकर विसर्जित हो जाते हैं। अर्थाभाव इसका कारण हो सकता है, लेकिन वह गौण है। मुख्य कारण है जीवन के प्रति एक प्रकार की उदासीनता जिसके लिए संसार से कोई दिलचस्पी नहीं। नगर या देश में क्या हो रहा है, इसकी उसे कुछ खबर नहीं और न कुछ परवाह ही है। कोई काम भी तो हम उत्साह से नहीं करते। व्यापार किया तो दुकान खोलकर राम भरोसे बैठे रहे। नौकर है तो बस यही फिक्र है कि किसी तरह महीना पूरा हो और हमारा वेतन मिल जाय। विद्यार्थी हैं तो केवल परीक्षा पास करने की फिक्र है। वह उत्साह, वह जागरूकता जो जीवन को आनन्द की वस्तु बना देती हैं, हममें उनका अभाव है। कुछ अजीब पस्तहिम्मती छायी हुई है। वकील है, पांच सौ की माहवार आमदनी है, मगर पूछो साल भर में आपके साहित्यिक मनोरंजन का क्या बजट है तो मालूम होगा सिफर। अगर कभी कुछ पढ़ने का शौक हुआ तो किसी से पुस्तक मांग ली। हमने तो ऐसे सज्जनों को पुस्तकों की भीख मांगते देखा है जिनकी आमदनी दो हजार से कम न थी। और बातों के साथ हममें आत्म-सम्मान भी नहीं रहा। अभाव है यह हम मानते हैं। भारत से ज्यादा दरिद्र देश संसार में नहीं है, लेकिन मुश्किल तो यह है कि यहां साहित्य से थोड़ा बहुत जो प्रेम है वह उन्हीं को है जो अभाव मे पीड़ित हैं। जो सम्पन्न हैं, अभाव का भूत जिनके सिर पर सवार नहीं है, उनका जीवन तो और भी जड़वत् है। इसस अभाव के सिर तो हम इस उदासीनता को नहीं मढ़ सकते। उसका कारण इसके सिवा और कुछ नहीं है कि हम जीना नहीं जानते। मगर यह तो पुराना दुखड़ा है। अगर हममें विरक्ति की यह भावना न होती तो आये दिन हमारे आंदोलनों का बासी कढ़ी के उबाल का-सा हाल न होता। सोवियत रूस के प्रकाशन-कार्य की चर्चा तो हम कर चुके। अब लगे हाथ भारत से उसकी तुलना कर लीजिए। यहां 1930 में अंग्रेजी में दो हजार तीन सौ बत्तीस पुस्तकें और हिन्दुस्तानी भाषाओं में चौदह हजार आठ सौ पन्द्रह पुस्तकें निकलीं। कहां आठ करोड़ और कहां पन्द्रह हजार। भारत गरीब है लेकिन रूस और भारत की आर्थिक स्थिति में एक और दो, एक और चार, एक और पचास का अंतर हो सकता है, एक और हजार का अंतर नहीं हो सकता।

[संपादकीय। 'हंस', फरवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

काशी म्युनिसिपेलिटी

क्या, कभी भी,किसी भी नगर के म्युनिसिपल बोर्ड के शासन में किसी भी सरकार ने इतना खिलवाड़-सा मचा रखा है, जितना युक्त प्रान्तीय सरकार ने काशी के साथ ! बोर्ड का कोई

चेयरमैन नहीं है। एक जांच-कमेटी बैठी थी जिसके विषय में बोर्ड की सरकारी तौर पर कोई सूचना नहीं है। केवल अफवाह सुनकर मेंबर और अफसर घबड़ाये हुए हैं। फल क्या होगा कोई नहीं जानता। यदि सरकार स्वयं कोई निश्चय नहीं कर सकी है तो क्या हम अपनी ओर से यह सलाह दें कि बोर्ड का नया निर्वाचन करा डाले। नया बोर्ड भी यदि उसके मन की न हो तब कोई कार्रवाई की जावे। यदि यह डर हो कि बोर्ड कांग्रेस की हो जावेगा तो हम स्वयं इसे बिल्कुल ही भ्रम समझते हैं। काशी के लिए दल विशेष मेंबरों की नहीं—पर सच्चे सेवकों की आवश्यकता है। काशी की जनता को इस समय जो हानि होती है, उसका जिम्मेदार कौन है?

[संपादकीय। 'जागरण', 6 फरवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

तीसरी गोलमेज़ की रिपोर्ट

तीसरी गोलमेज़ की रिपोर्ट प्रकाशित हो गई है। इस 'जेबी कमेटी' की कार्रवाई के ऊपर हम कई बार लिख चुके हैं। हमीं नहीं, सारा भारत एक स्वर से इसकी निर्जीवता, निरर्थकता तथा निश्चेष्टता पर अपना मर्सिया पढ़ चुका है, अत: कमेटी की रिपोर्ट पर कुछ लिखना केवल पुरानी बातों को दुहराना होगा। फिर भी, इसकी 'कतिपय आवश्यक' साथ ही हास्यास्पद बातों की ओर पाठकों का ध्यान दिलाना उचित होगा।

घने अक्षरों में 204 पृष्ठों में छपी इस रिपोर्ट में 24 दिसम्बर की आखीरवीं बैठक की पूरी कार्रवाई के साथ अन्य दिनों की संक्षिप्त कार्रवाई दी गई है और साथ में 22 याददाश्तें भी हैं। रिपोर्ट ने पहला विचारणीय विषय लोथियन कमेटी की मताधिकार रिपोर्ट रखा है और इस रिपोर्ट को स्वीकार भी कर लिया है। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय कौंसिलों का चुनाव प्रत्यक्ष तथा राज्यपरिषद् का चुनाव अप्रत्यक्ष होगा। केन्द्रीय कौंसिल में सदस्य-संख्या 300 हो या 400 हो—यह अभी विचाराधीन ही रखा गया है। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों का प्रबन्ध के सम्बन्ध में क्या नियम होगा, यह स्पष्टत: निश्चित नहीं है। पर, इतना निश्चित है कि केन्द्रीय सरकार केवल शान्ति और व्यवस्था संबंधी विषयों में हस्तक्षेप कर सकती है।

लोथियन कमेटी रिपोर्ट से बहुतों को बेहद असन्तोष है। इस कमेटी ने भारतीयों को नागरिकता के ज्ञान से इतना शून्य समझा है, उसने हमारे यहां की निर्वाचक-सूची को, मताधिकार के अधिकार को, वोट देने वाली संख्या को इतना संकुचित, इतनी छोटी और ऐसी अप्रतिनिधि-पूर्ण कर दिया है कि हमें यह कहते हुए लज्जा-सी आती है कि यदि भारत की भावी कौंसिलों का चुनाव पैंतीस करोड़ की आबादी में से केवल चार करोड़ ही लोग कर पावेंगे तो वे कौंसिलें हमारी नागरिकता की जीती-जागती बेइज्जती की पुतलियां बनी रहेंगी। 'जेबी कमेटी' ने हरेक बालिग भारतीय को मताधिकार क्या नहीं दिया, यह समझ में नहीं आता। अगर ये कौंसिलें हरेक बालिग के वोट से बनकर तैयार होतीं तो किसका लाभ हो विशेष होता? कौंसिलों को एकदम निर्जीव कर देने की काफी गुंजायश कर दी गयी है।

दूसरा प्रश्न है प्रांतीय प्रबंध में केन्द्रीय हस्तक्षेप का। हम इसे सर्वदा वैध समझते हैं कि हरेक केन्द्रीय सरकार प्रांतीय शासन में दस्तन्दाजी कर सकती है, किन्तु इस बात का निर्णय कौन करेगा कि अमुक प्रान्तीय कार्य शान्ति और व्यवस्था के प्रतिकूल है? 'शान्ति और

व्यवस्था' के नाम पर भारत की केन्द्रीय सरकार ऐसा काम करती आई है, जिससे हमें इन शब्दों की शब्द कोश में ही नई परिभाषा देखनी पड़ती है, अतएव, यदि गवर्नर जनरल को स्वच्छन्द अधिकार इतने अधिक मिलने वाले हैं, तो वैसी परिस्थिति में इस प्रकार का 'गोल' अधिकार हरेक प्रांत की उन्नति में बड़ा बाधक हो सकता है। यदि इसी के साथ, यह भी नियम होता है कि ''गवर्नर जेनरल हरेक प्रांत के उन्हीं मामलों में हस्तेक्षेप कर सकेंगे, जिनको उनका मंत्रिमंडल बहुमत से शान्ति तथा व्यवस्था को भंग करने वाला समझेगा।'' –तो हमें संतोष होता। राजपरिषद् का रखना भी तय हो गया है और चूंकि हम नए शासन-विधान में कौंसिलों को एकदम निर्जीव समझते हैं अतएव राजपरिषद् रहे या न रहे, दोनों ही दशा बराबर हैं।

सब कुछ निर्भर करता है गवर्नर जेनरल के अधिकार तथा मंत्रियों की शक्ति पर। अब यहां पर वह जानना रोचक होगा कि मंत्रिगण क्या कर सकते हैं। रिपोर्ट के अनुसार गवर्नर जेनरल का रक्षित विभाग में सेना, विदेशी विषय तथा धर्म के मामलों में सलाह देने का अधिकार होगा अब जरा गवर्नर जेनरल की जिम्मेदारियां देखिए–1 भारत या उसके किसी भाग को शान्ति भंग की नाजुक अवस्था आने पर उसे रोकना। 2 अल्पसंख्यकों की रक्षा। 3 सरकारी नौकरों के हक व अधिकारों की रक्षा। 4 शासन-संबंधी रक्षित विषय।
5 रियासतों के अधिकरों की रक्षा। 6 व्यापार संबंधी भेदभाव की रुकावट।

मंत्रिमंडल की राय के बिना ही वह निम्नलिखित कार्य कर सकते हैं–

1 व्यवस्थापक मंडल को भंग करना, बुलाना या उसका कार्यक्रम तय करना।

2 कानून की स्वीकृति देना या न देना या कानून के विषय में ब्रिटिश सरकार को सूचित करने के लिए स्वीकृति को रोक रखना।

3 खाद्य बिलों को पेश करने की मंजूरी देना।

4 आवश्यकता होने पर साधारण समय में बड़ी कौंसिलों का संयुक्त अधिवेशन करना।

5 नाजुक हालत में कौंसिल के विरुद्ध मत देने पर भी कार्रवाई करना।

6 केन्द्रीय कौंसिलों के विरुद्ध मत देने पर भी कार्रवाई करना।

7 इन्हीं के लिए नियम भी बनाना।

8 कौंसिलों की बैठक न होने के समय, मंत्रियों की सलाह से आर्डिनेंस बनाना।

अस्तु, दो लाख रुपया खर्च कर, जिस 'जेबी गोलमेज़' की बैठक हुई थी उसकी रिपोर्ट का यही सारांश है। इस पर विशेष टीका करना व्यर्थ है। गवर्नर जेनरल के अधिकार इतने व्यापक हैं कि हम यह जानना चाहते हैं कि आखिर कौंसिल और मंत्रियों का मर्ज ही क्यों पाला जा रहा है। 'व्यापारिक भेदभाव' ऐसे अधिकारों से गवर्नर जेनरल स्वदेशी कारोबार की भी, अगर वे चाहें तो वृद्धि तक को रोक ही सकते हैं। कोई भी ऐसा काम नहीं है जिस पर गवर्नर जेनरल का नियंत्रण न हो और यदि इतने नियंत्रणों से हमको 'प्रजातंत्र' या 'स्वराज्य' मिल रहा है तो यह कहना होगा कि इन 'विशेषाधिकारों' में दोनों का दम घुट जावेगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 6 फरवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

बर्मा-संबंधी निर्णय

बर्मा में कौंसिल के नवीन निर्वाचन से यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया है कि लगातार 10 वर्ष की गवर्नरी में वहां के गवर्नर सर चार्ल्स इनेस जो परिस्थिति पैदा करना चाहते थे, वह न हो सकी—यानी बर्मा की जनता आज एक स्वर से भारत से पृथक् होने के लिए तैयार नहीं है। जहां तक पढ़े-लिखे लोगों के बीच फुटमत कराने में तथा बहुत से ऐसे लोगों को खड़ा करा देने का संबध था जो लन्दन में जाकर बर्मा को भारत से अलग करा देने का राग अलापें, सर चार्ल्स साधारण रूप से सफल रहे। पर बर्मा के भारत से अलग हो जाने से धनी तथा समृद्धिशाली और आरामकुर्सी वाले भारतीयों की विशेष हानि नहीं है। हानि उनकी है जो तेल के स्रोतों पर, खानों पर, चाय के खेतों में, चावल की काश्तकारी में काम करते हैं—और जिनके ये अमूल्य साधन सदा के लिए विदेशियों के हाथ में और विदेशियों के लिए सुलभ रखने का षड्यंत्र विदेशी व्यापारी कर रहे हैं। अतएव, जिस प्रकार कुछ समय के लिए अद्भुत गति से चार्ल्स की कृपा से बर्मा और लन्दन में भारत विरोधी आंदोलन उबल पड़ा था, ठीक उसी प्रकार से बर्मा लोकमत भी अद्भुत रीत्याजागृत होकर बर्मा के पृथक्करण का विरोध कर रहा है। बर्मा कौंसिल का चुनाव उसी प्रकार संकुचित दायरे में होता है तथा लोकमत को इतना कम स्थान मिलता है कि उसको भी निर्जीवता का वही सार्टिफिकेट प्राप्त है जो अभागिनी भारतीय कौंसिलों को। फिर भी उसने सरकारी सदस्यों के कौंसिली चालों की उपेक्षा कर, आज वह अद्भुत कार्य किया है जो बर्मा ऐसे ही प्रांत के लिए सम्भव था—और वह यह है कि कौंसिल ने बहुमत से भारत से पृथक्करण का प्रस्ताव पास किया। दूसरे प्रस्ताव में भारत से अलग होने का हक-अधिकार स्वय बर्मा वालों के निश्चय की वस्तु घोषित किया गया।

बर्मा को निश्चय का घातक घाव सर चार्ल्स इनेस को लन्दन में लगा होगा। उनकी गवर्नरी का कार्यकाल ही जिस उद्देश्य से बढ़ाया गया था, वह भ्रष्ट हो गया। पर, सरकार भी अपनी बात को रंगना खूब जानती है। उसने तुरत बर्मा कौंसल के प्रस्तावों को दो-रुखा बतलाना शुरू किया है और लंदन के तथा भारत के नीम-सरकारी पत्र एक स्वर में शोर कर रहे हैं कि प्रस्ताव का उद्देश्य यह ही है कि लोकमत केवल अपनी इच्छा को व्यक्त करना चाहता है, अन्यथा भारत के साथ रहने की उसकी जरा भी इच्छा नहीं है। यदि बर्मा का भावी शासन-विधान शीघ्र घोषित कर दिया जावे और बर्मा जनता को संतोष हो जावे कि उसे भारत से अलग रहने पर भी, कोई दु:ख न झेलना होगा तो वह भारत की ममता त्याग दे। इसीलिए, अनुमानत: शीघ्र ही ब्रिटिश सरकार अधिकारी तौर पर यह घोषणा करने वाली है, कि भारत से बर्मा पृथक् किया जावेगा और उसका भावी शासन-विधान अमुक भित्ति पर दृढ़ होगा।

दिल्ली में व्यवस्थापक महासभा का अधिवेशन इसी अवसर पर प्रारम्भ हो रहा है और समाचार है कि सरकार की इस घोषणा की आशंका से जेब गोलमेज़ के मेंबर भारत में अरब का सपना देखने वाले मि० गजनबी या सर मुहम्मद याकूब तक घबड़ाए हुए हैं। उन्हें भारत सरकार इस भयंकर हानि तथा सरकार की भीषण नादानी, लोकमत की उपेक्षा, प्रजासत्ता के अनादर के प्रति बड़ा खेद और संदेह तथा क्रोध-सा हो रहा है। क्रोध का कोई कारण नहीं। प्रजा के मत की सरकार कितनी चिन्ता करती है, यह लिखने की बात नहीं है। एसेंबली तथा

कौंसिल के मेंबर भी जरा-जरा से स्वार्थ के लिए, काठ के खिलौनों की तरह, सरकार के हाथ की पुतलियां बन जाया करते हैं। ओटावा बिल, आर्डिनेन्स-बिल के पास होने में सरकार को जो अद्‌भुत सफलता मिली थी, उसे यह कहकर नहीं भूल जाना चाहिए कि कौंसिल निर्जीव है, लोक-मत क्या करे, किन्तु साफ बात तो यह है कि सरकार चाहे अपनी ही क्यों न हो। सदैव अपनी नीति को सफल करने के लिए हर प्रकार की राजनीति चलेगी। यह कोई पाप नहीं है, पर हमारे प्रतिनिधि कहे जाने वाले क्यों उन बिलों के समय तटस्थ—विरोधी—अनुपस्थित थे। सच पूछो तो इन कौंसिल एसेंबली में प्रजा के मित्र नहीं, शत्रु ही अनेक हैं, सभी स्वार्थी-नीति बरतना चाहते हैं। ऐसी दशा में इन दुर्बल सदस्यों से बर्मा के प्रश्न पर भी प्रबल विरोध की हमें आशा नहीं। यदि विरोध होगा भी तो उसका कोई नैतिक महत्व न होगा। बर्मा भारत से अलग हो जावेगा। भारत के हितैषी भारत का एक हाथ ही तोड़ देंगे।

इस विषय में कांग्रेसी तथा लिबरल नेता मौन रहकर ही काम चलाना चाहते हैं, यह कह कर चुप रह जाना कि हम तो बर्मा को अपने साथ रखना चाहते हैं। पर इसका निर्णय बर्मा स्वयं कर ले, एक घातक मूर्खता-सी है। बर्मी यदि न चाहते हों तो हमें चाहिए कि हम उनको इसके लाभ बतलावें, अपने साथ रहने के फायदे बतलावें, आश्वासन दें तथा उन्हें समानाधिकार देने की प्रतिज्ञा करें। सरकार जब अपनी ओर से इस प्रश्न को तटस्थ होकर नहीं देखती तो हम क्यों चुप रहें। बर्मा हमारा है, भारत का है, हम बर्मा के हैं, भारत के हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 6 फरवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

विदेशी राजनीति

विदेशी राजनीति में इस समय तीन अति महत्वपूर्ण घटनाएं हो गई हैं। एक है डी वेलरा की विजय, दूसरी है जर्मन की वॉनस्लेसर सरकार का पतन, तीसरी है फ्रांस में दलादियर का प्रधानमंत्री हो जाना तथा हेयरिट-मंत्रिमंडल का असामयिक अवसान।

डी वलेरा को नए निर्वाचन में एक सौ छियासठ मेंबरों में से अस्सी स्थान अपने लिए मिलने की संभावना थी। पर, उनका अनुमान गलत निकला—एक प्रकार से सही भी था—केवल सतहत्तर स्थान मिले। जब डी वेलरा ने अस्सी की आशा खुले शब्दों में प्रकट की थी तो नब्बे की आशा उन्हें जरूर ही रही होगी। इस प्रकार कासग्रेव दल की 'अद्‌भुत सफलता' की मुनादी भी की जा रही थी और ऐसी मुनादी में भाग ले रहा था रायटर। रायटर ने इस चुनाव के विषय में जो तार भेजे हैं, जो डराने वाली अफवाहें उड़ाई हैं, इसी से यह साबित हो जाता है कि साम्राज्यवादी डेल तथा साम्राज्यवादी जगत डी वेलरा के पराजय का कितना उत्सुक था। अस्तु, छिहत्तर सदस्य अन्य दलों के हैं जिनमें अड़तालीस कासग्रेव दल के हैं। यह संख्या, विरोध करने के लिए प्रभाव-शून्य नहीं है और डी वेलरा को आशा के बराबर समर्थन न मिलना इस बात का प्रमाण है कि अभी तक आयरलैंड की जनता इस द्विविधा में पड़ी हुई है कि किसकी नीति को अधिक उचित समझे। डी वेलरा की नीति से व्यापार को धक्का पहुंचा है। बेकारी बढ़ी है। किसानों की लगान कम नहीं हुई है। पर, दूसरी ओर स्वाधीनता, समानता तथा ऐंठ की भी वृद्धि हुई है। एक ओर पेट, दूसरी ओर देश की प्रतिष्ठा। फलतः यही असमंजस इस चुनाव में प्रधान प्रश्न था। इसमें कोई संदेह नहीं कि

आयरलैंड का हित इसी नें है कि ब्रिटेन के साथ उसका व्यापारिक संबंध रहे। इस संबंध के लिए आयरलैंड लालायित भी है, पर किसी भी अवस्था में वह इस बात के लिए तैयार नहीं है कि अपनी जमीन की लगान 'लैंड एनज्यूमिटी' के रूप में ब्रिटेन को चुकावे। डी वेलरा ने यद्यपि लगान ब्रिटेन को नहीं चुकाया है, पर उन्होंने किसानों से उसे वसूल कर सरकारी खजाने में रख लिया है। इसलिए किसान जहां के तहां हैं और इसी बात का आज यह फल है कि मजदूर दल के उम्मीदवार भी अच्छी-खासी संख्या में चुने जा सके हैं। डी वेलरा के अध्यक्ष हो जाने पर उनके दल से छिहत्तर सदस्य हो जावेंगे। यदि 'पार्लमेंट' डेल हरेन में इन्हीं दल का सभापति चुना गया तो 'कास्टिंग वोट' जरूर इस दल को मिल सकता है। ऐसी दशा में भी बिना मजदूर दल को साथ लिए डी वेलरा दल का काम नहीं चल सकता। पर मजदूर दल के साथ का अर्थ है मजदूरों की, किसानों की समस्या को हल करना। यह समस्या ब्रिटिश व्यापारिक-संबंध पर बहुत कुछ निर्भर करती है। अतएव डी वेलरा अपनी समस्या को निपटा सकेंगे अथवा वे फिर से नया निर्वाचन कराकर अधिक बहुमत की आशा करेंगे, यह अभी तक ठीक अनुमान नहीं किया जा सकता, पर डी वेलरा की चिंता तथा उनकी नीति के लिए दृढ़ एकता की आशा नहीं है और इसी आशा में ब्रिटेन को भरोसा हो सकता है।

जर्मन राइखस्टग की रचना इस समय ऐसी है कि यह बात स्पष्ट है कि कोई भी दल विशेष समय तक शासन नहीं कर सकता। ऐसी दशा में हर हिटलर का चांसलर हो जाना और अपनी 'स्टील हेलमेट' नामक नाजायज सेना पर जर्मनी का शासन कर सकना विशेष संभव नहीं दीखता। मजदूर दल–साम्यवादी–पापेल का दल–स्लेस्तर दल सभी उनका विरोध करेंगे और हिटलर यद्यपि कुछ समय तक 'गैर-कानूनी' पार्टी के सहारे शान्ति स्थापित करने की चेष्टा भी करें, पर उसका पतन अवश्य ही शीघ्र होगा और एक बार पतन होने पर, असफल होने पर, हिटलर के नाम का जादू हवा हो जावेगा और राइखस्टेग का जो नवीन निर्वाचन होगा उसमें हिटलर की संख्या और भी घटेगी, यह अवश्यम्भावी है। हमारी समझ में जर्मनी को शान्ति तभी मिलेगी जब पुन: एक का ही बिना अनेक के समर्थन के शासन संभव हो सकेगा।

फ्रांस में हेरियट ऐसे राजनीतिज्ञ तथा विख्यात कूटनीतिज्ञ के स्थान पर दलादियर ऐसे द्वितीय श्रेणी के प्रधानमंत्री का अधिक समय तक प्रजा का विश्वास भाजन बने रहना संभव प्रतीत नहीं होता। हमें शीघ्र ही फ्रेंच राजनीति में भी नवीन-निर्वाचन तथा नए प्रधानमंत्री का आगमन संवाद सुनेंगे और इसी में अमेरिका पर होनी वाली ऋण-परिषद् की सफलता निर्भर करेगी।

[सपादकीय। 'जागरण', 6 फरवरी, 1933 मे प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 मे संकलित।]

जूरी-ट्रायल

खून या फौजदारी के मुकदमों में जूरी की या–पंच की–सलाह लेना, एक प्राचीन प्रथा है, पर आजकल भारत की अदालतों में इस प्रथा को जो रूप दिया गया है, वह भारत के लिए नया है। जहां तक हमें मालूम है, यहां के न्यायालयों में जूरी का उतना आदर नहीं होता। उसके लिए कई ऐसी असुविधाएं हैं, जिससे प्रतिदिन नागरिक इस पद पर निमन्त्रित किए जाने से,

बहानेबाजी कर, काम नहीं करना चाहते। जूरी को जितना भत्ता मिलता है, वह उसकी हानि को देखते हुए इतना कम होता है, कि अधिकांश लोग जूरी में बुलाए जाने के नाम से ही कांप उठते हैं। यही कारण है, कि भारत में जूरी प्रथा विशेष सफल नहीं हो रही है।

फिर भी, यह कहना कि यहां के जूरी निष्पक्ष नहीं होते, उनकी नीयत खराब होती है, उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता... इत्यादि, यहां के देशवासियों के चरित्र पर ही दोष लगाना है, और हमें बड़ा दु:ख है कि पटना-हाईकोर्ट के सम्मानित जजों ने केवल एक मुकदमे की गति देखकर इतनी कड़वी तथा जिम्मेदार बात कह डाली। बिहार के एक गांव में एक ग्वाला आम रास्ते से अपना बैल लिये जा रहा था। गांव के कुछ जमींदारों या धनी काश्तकारों ने उसे खुला बैल ले जाने से मना किया, क्योंकि इससे फसल चर लिये जाने का भय था। ग्वाले ने अपने अधिकार को छोड़ना अस्वीकार किया। बात बढ़ गई और वह मारा गया। मामला चौरा जज के इजलास पर आया। नौ में से सात जूरियों ने अभियुक्तों को निरपराध पाया। चौरा जज ने मामला पटना-हाईकोर्ट में भेज दिया। वहां कई को फांसी या काले पानी की सजा मिली।

मुकदमा बिहार का है, अत: पूरी रिपोर्ट हमारे पास नहीं है। पर, अदालती बारीकियों पर कुछ लिखना भी व्यर्थ है। अभी इलाहाबाद-हाईकोर्ट ने मिर्जापुर के दंगे के विषय में जो फैसला सुनाया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जरा-सी भूल से कानून बड़ी हानि कर सकता है अतएव चौरा जज की ही राय पृष्ठ 3—ठीक है, या पटना हाईकोर्ट का निर्णय ठीक है, यह कानूनदां जानें, हमारे हृदय में दोनों के लिए समान आदर है। पर, इस विषय में जूरी की राय को 'पक्षपातपूर्ण' मान लेना, उन्हें बेइमान-सा समझ लेना तथा इस उदाहरण से यह सलाह दे बैठना कि भारत में जूरी प्रथा गलत साबित हो रही है, बड़ी कड़वी बात है। शायद जरूरत से ज्यादा है और हमारी सम्मति में हाईकोर्ट के आदरणीय जजों ने समूचे भारत के लिए एक भीषण लांछन लगाया है।

भारतीयों की अयोग्यता प्रमाणित करते रहना, हर तरह से उनको गलत रास्ते पर चलनेवाला, नैतिक दृष्टि में भ्रष्ट सिद्ध करना यह 'स्टेट्समैन' ऐसे पत्रों के लिए बड़ा ही रुचिकर कार्य है और हमें यह देखकर आश्चर्य नहीं हुआ कि अपने छ: फरवरी के अंक में 'स्टेट्समैन' ने इसी पर एक अग्रलेख तक लिखा है और लिखने के जोश में हाइकोर्ट द्वारा सिद्ध अपराधियों को 'लुच्चा' लिखा है। 'लुच्चा' (रफियन्स) का प्रयोग शायद हाईकोर्ट के निर्णय की महत्ता दिखलाने और जूरियों के चरित्र बल की हीनता दिखलाने के लिए किया गया है। इंग्लैंड ऐसे आदर्श देशों में भी जूरी-द्वारा मुकदमें कराने के विषय में विवाद उठ चुका है। हमें यह भी ज्ञात है कि वहां अभी तक भारत ऐसी घटनाएं होती हैं। क्या 'स्टेट्समैन' वही बातें इंग्लैंड के लिए भी लिखने को तैयार है। भारत तो पतित, मूर्ख, चरित्रहीन है ही, पर यदि उससे कहीं भीषण आरोप हम अपने शासकों की जाति पर करते, तो यह हमारी नीचता या कानून के लिहाज के पास समझा जाता। पर, हमें मालूम है कि यदि ब्रिटिश चरित्र के दूषण हैं तो भूषण भी। उसी तरह भारतीय चरित्र के भी—और दूषण की अपेक्षा भूषण अधिक हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 13 फरवरी, 1933 में प्रकाशित। तथा 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 में तथा 'विविध प्रसंग' भाग-3 में शीर्षक 'न्याय का प्रश्न' से संकलित।]

महात्मा जी का पत्र

बड़े लाट के नाम महात्मा जी ने जो पत्र भेजा है, उनकी पूरी नकल नहीं मिल सकी है; पर पत्र में गांधी जी ने जो कुछ लिखा होगा वह बहुत ही सोच-समझकर, इसमें संदेह नहीं। पत्र का जो सरांश प्रकाशित हुआ है, उससे प्रत्येक भारतीय सहमत है। यदि वाइसराय यरवदा-समझौते के हस्ताक्षर करने वालों को भारतीय लोकमत का प्रतिनिधि मानकर, उस समझौते को स्वीकार कर सकते थे, तो मन्दिर-प्रवेश के विषय में उन्हीं की राय को क्यों नहीं मानते? उस समय सनातनी यरवदा-पैक्ट के हिमायती नहीं थे, पर अब स्थिति क्यों तथा कैसे बदल गई है, यह हम नहीं समझ सकते। क्या वाइसराय पर गांधी जी के पत्र का असर पड़ेगा?

[संपादकीय। 'जागरण', 13 फरवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

मार्च का बजट

मार्च बहुत ही निकट है। भारत-सरकार का आर्थिक वर्ष समाप्त होने वाला है। सरकारी सूचनाओं के बल पर जहां तक अनुमान किया जा सकता है, यह वर्ष सरकार के लिए 1931 की अपेक्षा कहीं सफल रहा। अपने आय-व्यय को बराबर करने के लिए सरकार ने हर तरह के उपाय किये। आय-कर बहुत अधिक बढ़ा दिया गया। मध्यम श्रेणी के लोग ही हरेक आर्थिक संकट में सबसे अधिक हानि उठाते हैं और इन्हीं अभागों की इस साल भी उसी प्रकार दुर्दशा रही। फी रुपये में तीन पाई का आय-कर कितना अधिक होता है, यह लिखना व्यर्थ है। इस पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। आय-कर के महकमे से लोगों को इधर कितना कष्ट हो रहा है तथा इस महकमें को प्रजा के प्रतिबन्ध से कितना दूर रखा गया है। यह सभी को अच्छी तरह मालूम है और इस बात को हमसे अधिक स्वयं सरकार जानती है। अस्तु इस वर्ष सरकार ने आय-कर की आमदनी बहुत बढ़ा ली है। तीन बार नया कर्ज लिया है, जिसकी सफलता का कारण व्यापार का अभाव और रुपये का बेकार पड़ा रहना है। सरकार ने आर्थिक कष्ट के नाम पर वस्त्र-व्यवसाय की रक्षा तथा अन्य उपयोगी कार्यो में बाहर से आने वाले माल पर या अन्य प्रकार से 'संरक्षण' की नीति अस्वीकार-सी कर दी। भारत के बाहर सोना भेजना नहीं रोका गया और इस अभागे देश का अरबों का सोना बाहर बह गया। सरकार को अपने 'कस्टम्स' की आमदनी का विशेष ध्यान रहा। न कि भारत की दरिद्रता का। रेलवे तथा अन्य महकमों से लाखों आदमी निकाल दिये गये। 'कमी' के नाम पर लाखों बेगुनाह गरीब वर्ष भर से भूखों मरने के लिए छोड़ दिये गये, पर मोटा वेतन पाने वालों के वेतन में नाम मात्र की कमी की गयी। कांग्रेस तथा अन्य गैर-कानूनी करार दी गयी संस्थाओं का रुपया जब्त करने से सरकार ने अच्छा द्रव्य संचय किया था और 'जुर्माने' के रूप में भी लाखों रुपया वसूल किया गया।

इस प्रकार सरकार का बजट सम्हला मालूम होता है और सर जार्ज शुस्टर अपने आखीरवें बजट को 'सफल' ब्यौरे के रूप में पेश करना चाहते हैं। यदि वे नवम्बर में भारत से चले गये—हालांकि उन्हें रोकने के लिए अभी से विज्ञापन शुरू हो गया है—तो वे अपने यश को कलंकित करके नहीं जाना चाहते, अर्थात् सरकारी नौकरों की तनख्वाह में 1933 के

मार्च के बाद से पिछली 10 प्रतिशत कमी घटाकर 5 प्रतिशत कर दी जायगी। मद्रास-सरकार की सूचना है कि 31 मार्च, 1933 के बाद पूरी कमी बहाल कर दी जाएगी।

हम सरकारी नौकरों को पराया नहीं समझते। वे भी हमारे भाई हैं। उनकी वृद्धि हमारी वृद्धि है। पर, हम जानना चाहते हैं कि क्या 10 को भूखा मार कर एक का पेट पालना ठीक है। सरकार के बजट का लाभ कितने गरीबों की दरिद्रता के बल पर हुआ है। कितने गरीब बिना पेट भर खाए कराह रहे हैं? कितने अनाथ बच्चे दो घूंट दूध को तरस रहे हैं? कितनी अभागिनी माताएं सूखी पत्तियां भी नहीं चबा पातीं, तो उनके स्तनों से दूध कैसे निचुड़े? दूध की जगह रक्त निचुड़ आता है। पैसे के लोभ से लोग अपने शरीर का एक-एक तिनका सोना बीनकर बेचते हैं। अब कितनों के पास पीतल का लोटा-थाली भी नहीं है। ये अभागे क्या करेंगे? सरकार का बजट तो सम्हला है, पर देश के एक भी अभागे की हालत सुधरी है? सरकार की समृद्धि प्रजा की समृद्धि है। उसका वैभव, प्रजा का वैभव है। उसकी श्री हरेक नागरिक और किसान के मुख पर बिखरी हुई दिखनी चाहिए। पर वहां चारों ओर कंकाल हैं। व्यापार है नहीं, विलायती माल करोड़ों रुपये का बढ़ रहा है। लोग देशी रोजगार पनपा नहीं पाते। सरकार को अपनी जकात का, अपनी चुंगी का, अपने बजट का ध्यान है।

मान लिया जाय, कि वह अपने ही कर्मचारियों को विश्वास-पात्र करने के लिए उनके वेतन को ज्यों का त्यों करना चाहती है। ठीक है, पर सरकारी कर्मचारी ही प्रजा नहीं है। देश की आबादी उन्हीं में नहीं है। ईश्वर कृपा से हरेक सरकारी कर्मचारी को खाने का आधार है। यदि 5 प्रतिशत कमी न भी रहे, या रहे भी तो कुछ विशेष नहीं बनता-बिगड़ता, पर सरकार ने 1921-25 के मंहगी के जमाने में सभी तनख्वाहों को काफी बढ़ा दिया। आज वेतन वही है, मंहगी नहीं है, पर सरकार को उनकी ओर देखना चाहिए, जो दाने-दाने को तरस रहे हैं, जिनके आधार मध्यम श्रेणी के लोग थे, पर आय-कर तथा अन्य बाधाओं की चपेट से जो कंगाल हो रहे हैं। सरकार के पास कुछ बचत है, तो उचित तो यह कि वह भारतीय-वस्त्र व्यवसाय को और संरक्षण दे, इससे देशी व्यापार पनपे। खद्दर को प्रोत्साहन दे, इससे यह उद्योग फैले। अतिरिक्त आय-कर उठा ले, जिससे मध्यम श्रेणी वाले सांस ले सकें। सहोद्योगिक-संस्थाओं को, देशी-व्यवसाय को वह उन्नत कर करोड़ों प्राणियों की जान बचा सकती है। थोड़े से प्रयास से, यदि वह चाहे तो लगान में और भी छूट की जा सकती है। एक कर्मचारी का वेतन पूरा करने से कहीं अच्छा है, एक किसान के लगान में छूट करना। जो वेतन पाता है, उसे विश्वासपात्र तथा अधिक भक्त बनाने में कहीं भला है जो वेतन नहीं पाता उसे शान्त रखने में। हम भारतीय जनता को सत्याग्रह या आन्दोलन की सलाह नहीं दे रहे हैं। हम सरकार से अनुरोध करते हैं कि वह स्वयं जरा ध्यान-पूर्वक अपना कर्त्तव्य सोचे। इस विषय में कलकत्ता तथा बम्बई के वाणिज्य-मंडल ने सरकार के पास महत्वपूर्ण तार भेजे हैं। हरेक देश-हितैषी को इस दिशा में जमकर आन्दोलन करना चाहिए। क्या सरकार लोकमत का आदर एकदम न करेगी?

[संपादकीय। 'जागरण', 13 फरवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

राजनैतिक नेताओं की रिहाई

एसेम्बली में राजनैतिक नेताओं की रिहाई के सम्बन्ध में जो प्रश्न पूछे गए हैं तथा उनका जो उत्तर दिया गया है, उनसे यह स्पष्ट है कि सरकार एक ओर सुधार का कार्यक्रम पूरा करना चाहती है, दूसरी ओर दमन को भी कम नहीं करना चाहती। वायसराय ने एसेम्बली की कार्यवाही शुरू करते समय जो भाषण दिया था, उससे यह स्पष्ट हो गया था कि उनको यह आशा है कि धीरे-धीरे जनता सरकारी-दमन-नीति की जरूरत को स्वीकार कर लेगी तथा वैध कार्यक्रम की आंधी कांग्रेस वाले बहकर, वैध कार्यकर्ता हो जावेंगे। ईश्वर करे कांग्रेस वाले रचनात्मक कार्य की ओर झुकें। ईश्वर करे, जैसा भी, जो कुछ भी शासन-सुधार हो, उसी को अपनाकर उसे ही सफल बना दिया जावे। कांग्रेस यदि सत्याग्रह समाप्त कर स्वयं कुछ विश्राम ले, या देश को विश्राम दे, तो भी हम प्रसन्न होंगे। पर, इसका उपाय जिद नहीं है, झगड़ा नहीं है, दमन नहीं है तथा कांग्रेस को नगण्य नहीं समझते रहना नही है। लार्ड विलिंग्डन या उनकी सरकार जब तक कांग्रेस को हेय या तुच्छ या उपेक्षित समझेगी तब तक उसे अपने आत्म-सम्मान के लिए ही सही, अपनी सत्ता को प्रमाणित करने के लिए संघर्ष करना ही होगा। यदि सरकार कांग्रेस से अधिक शक्तिशालिनी है, उसे उदारता ही शक्तिशाली सबसे घातक अस्त्र होता है। यह एक बार सभी राजनैतिक बंदियों को छोड़ क्यों नहीं देती? दमन की शक्ति उसके हाथ में है। वह जब चाहे तब उन्हें बन्द कर सकती है जहां तक हमें मालूम है, भारतीय सरकार की राय तथा लन्दन में इस विषय में गहरा मतभेद है। जरूर बातचीत हो रही है, पर भारत सरकार किसी प्रकार का समझौता नहीं करना चाहती। कांग्रेस भी तो सरकारी उदारता के सहारे अपने कार्यकर्ताओं को छुडाना अनुचित समझती है। उसकी राय क्या है? यह केवल अनुमान से ही जाना जा सकता है, पर सरकार भी दमन से थक गई है, यह आये दिन की गिरफ्तारियां तथा छूट से मालूम हो जाता है। कांग्रेस भी साधन-रहित-सी होकर केवल केन्द्रीय प्रदर्शन कर अपनी आत्मा को संतुष्ट कर लिया करती है। अपव्यय दोनों ओर से हो रहा है, चाहे वह शक्ति का हो या धन का, पर समस्या सुलझाना सरकार के हाथ है। अत: दोष उसी का अधिक है इसमें सन्देह नही।

[सपादकीय। 'जागरण', 13 फरवरी 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग 2 में सकलित।]

वाटर-वर्क्स अफसर की लापरवाही

वाटर-वर्क्स के सुपरिण्टेंडेण्ट मि॰ दस्तूर की कई शिकायतें हमारे पास आई हैं। कई सड़कों की मरम्मत हो रही है। इससे उन सडकों का भी अत्यधिक प्रयोग होने लगा है, जिन पर भूलकर भी कभी पानी नहीं छिड़का जाता। हमें आशा थी कि मि॰ दस्तूर खुद ध्यान देंगे, और उन्हें ख़याल होगा, पर काशीपुरा, जालपादेवी आदि सड़कों पर भूलकर भी शायद मुहकमे का ध्यान नहीं जाता। क्या हम आशा करें कि वे ध्यान देंगे?

[सपादकीय। 'जागरण', 13 फरवरी, 1933 में प्रकाशित। 'प्रेमचद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में सकलित।]

सर तेज का मत

सर तेज बहादुर बड़े ही नर्म विचार के नेता हैं। उन्हें सरकारी कर्मचारियों की उच्छृंखलता पर कम क्रोध आता है–देर में आता है। पर, पुण्यात्मा स्वर्गीय पंडित मोतीलाल नेहरू का 6 तारीख को बरसी मनाने के लिए प्रयाग में जो सर्वदल की महती सभा होने वाली थी, उस पर दफा 144 लगाकर, वहां के कर्मचारियों ने उस पवित्रात्मा के प्रति बड़ा कटु अनादर-भाव प्रकट किया है। इस विषय में सर तेज ने जो यह कहा है कि–'आखिर लोकमत को त्रस्त करने की कोई सीमा होती है'–इससे अधिक हम कुछ नहीं कहना चाहते !

[संपादकीय। 'जागरण', 13 फरवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

काशी म्युनिसिपल बोर्ड-4

अन्त में जिस बात की हमें आशंका थी वही होकर रही। शुरू से ही हम बार-बार प्रान्तीय सरकार से अनुरोध करते आ रहे हैं कि वह काशी म्युनिसिपल बोर्ड के विषय में इतनी ढिलाई की नीति बर्तना छोड़ दे, क्योंकि अपनी ढिलाई को पूरा करने के लिए उसकी यकायक की जल्दबाजी बड़ी घातक फल लावेगी। वही हो भी गया। युक्त प्रान्तीय कौंसिल से काशी म्युनिसिपल बोर्ड के कथित कुप्रबंध की जांच के लिए एक कमेटी नियुक्त करने का प्रस्ताव पास होने के ठीक सात महीने बाद प्रान्तीय सरकार ने कमेटी नियुक्त की। कमेटी में प्रजा-पक्ष इतना दुर्बल था कि नियुक्ति के साथ ही नागरिक उससे नाउम्मेद हो गये। खैर, कमेटी को वे कानूनी अधिकार भी नहीं प्राप्त थे जो अन्य कमेटियों को होते हैं। इसके सामने गवाही देने कई प्रकार के लोग गये, कुछ नगर के बोर्ड के सच्चे हितैषी थे, कुछ अपने दलवालों के समर्थक थे और कुछ ऐसे लोग भी थे जो म्युनिसिपैलिटी के हारे उम्मीदवार थे नगर के अधिकांश प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने कमेटी की कार्यवाही में कोई भाग न लिया। वह कमेटी के लोकप्रिय न होने और लोकप्रिय न बन सकने का एक नमूना है, जिस पर टीका करना ही व्यर्थ है।

कमेटी ने ज्यादा काम दफ्तर ही में किया। एक वर्ष में रिपोर्ट का एक लम्बा चौड़ा पुलिन्दा तैयार हुआ। कहते हैं कि चार सौ पन्ने की है। जो हो, सरकार ने रिपोर्ट बुरी तरह जनता से छिपा रखा है। यदि रिपोर्ट में इतना भयानक भंडाफोड़ है तो म्युनिसिपैलिटी के मेंबरों को चुनने वाली जनता को उनकी नालायकी बतला देनी चाहिए। यह भी हो सकता है कि जनता द्वारा रिपोर्ट की बुरी धज्जियां उड़ने के डर से उसे भयभीत मेंबरों के हाथों में ही रखा गया है। जनता के विचार में अनेक दोष होते हुए भी बोर्ड के कई विभागों का काम बहुत ही अच्छा है, जैसे–सफाई और शिक्षा का। यह भी संदेह नहीं कि शिक्षा-विभाग अपने शिक्षाध्यक्ष के कारण पूर्णत: राष्ट्रीय ढंग से संचालित होता है। वह राष्ट्रीयता प्रत्येक नीम-सरकारी को भी खटक सकती है। कहीं रिपोर्ट से इस प्रकार की बातों की ध्वनि तो नहीं निकलती? क्या इन्हीं ध्वनियों के कारण रिपोर्ट छिपाई तो नहीं जा रही है–या तो हो सकता है कि रिपोर्ट में डॉक्टर भगवानदास तक के समय की बोर्ड के 'स्वर्ण-शासन, राष्ट्रीय-शासन' की कुछ भर्त्सना हो और जरूर जनता का यह सब जानना, रिपोर्ट के प्रति उसके हृदय में घृणा पैदा कर देता हो, इसलिए उसे वह अमूल्य पोथा नहीं दिया जा रहा है।

जो हो, रिपोर्ट सरकार के पास कई महीने पहले पहुंची। वहां इस पर क्या विचार होता रहा, यह कौन जाने, पर हमें तो पता अभी उस दिन चला जब यह कहा गया कि बोर्ड से पन्द्रह दिन के भीतर जवाब तलब किया गया है। यह एक बड़े नगर के साथ अन्याय की पराकाष्ठा है, चरम सीमा है। चार सौ पन्ने की रिपोर्ट का कम से कम भी यदि उत्तर दिया जावे–तो दो सौ पन्ने से कम क्या होगा। केवल आम बातों का जवाब देने के लिए ही इतने पन्ने चाहिए और बोर्ड में जवाब तैयार कराकर इतने पन्नों का मसविदा लिख लेने के लिए भी कम से कम दो माह तो चाहिए ही। इस पन्द्रह दिन में क्या हो सकता है? यदि व्यर्थ का जवाब मंगाकर बोर्ड को ही जलील कराने की प्रान्तीय सरकार की इच्छा नहीं है, यदि उसे केवल एक आडम्बर ही नहीं रचना है, तो उसे चाहिए कि उत्तर देने का समय बढ़ा दे अन्यथा बिना जवाब मांगे ही बोर्ड को रद्द कर दे। जो काम सरकार ने ढाई बरस में किया,वही बोर्ड पन्द्रह दिन में कर लेगी, यह तो समझ ही में न आने वाली बात है। हमें इस प्रकार की जल्दबाजी के भीतर क्या रहस्य है, यही समझ में नहीं आता। दोषारोपी से सफाई देने वाले का काम कहीं अधिक कठिन होता है।

अस्तु, यदि बोर्ड की हालत खराब ही है तो सरकार क्या उसे मुअत्तल कर नगर का भला करती है? सरकार द्वारा संचालित बोर्ड की क्या दशा है, इसी की तुलना से सब स्पष्ट हो जायगा। बोर्ड का प्रबंध जब सरकार के हाथ में था, तब से और अब यदि तुलना की जाय तो जमीन-आसमान का फर्क मिलेगा। इस समय नगर में बिजली है, रोशनी है, कोलतार की सड़कें हैं, औद्योगिक-शिक्षा का प्रबन्ध है, अंग्रेजी स्कूल हैं, तीन मिडिल स्कूल हैं, विद्यार्थियों की संख्या बहुत बढ़ गई है। तब कितना कर्जा था, अब पचहत्तर हजार रु० साल की खर्च में या बजट में कमी है, जो समाचार है कि पूरी कर दी गयी है।, उतने ही रुपये की अधिक आय इस साल होगी और शायद एक पाई भी कर्ज नहीं है। यह जरूर है कि सरकारी प्रबंध में देर से, कठिनाई से, प्रजा का दुःख-दर्द कोई सुनता है, पर बोर्ड के प्रबंध मे हमीं प्रबंध-कर्ता हैं, सरलता से सब काम हो जाता है इसीलिए उसकी शिकायत करनेवाले भी बहुत से होते हैं, जैसे–किसी सरकारी अस्पताल में अंग्रेज सिविलसर्जन के स्थान पर भारतीय होने पर, उसकी बड़ी शिकायतें होती रहती हैं। यह सब कुछ मनुष्य-स्वभाव है कि जहां शिकायत करने से अधिक शीघ्र सुनवाई होती है वहां वह बहुत कुछ शिकायत करता है।

अगर बोर्ड का बजट घाटे पर है तो यह विशेष चिन्ता की बात नहीं है। घाटे पर बजट होना आजकल की दुनिया में उतना बडा पाप नहीं समझा जाता। पाप तो यह है कि बजट में घाटा होने पर प्रजा पर बहुत अधिक कर का भार लाद देना, पाप तो यह है कि अर्थनीति का दिवाला निकल जाने पर देशी व्यापार को विलायती माल की चुंगी आमदनी के बहाने कोई तरक्की न देना, पाप तो यह है कि नये कर्ज लेकर बजट का घाटा पूरा कर देना। काशी की बोर्ड इसमें किसी बात की भी दोषी नहीं है। यह सत्य है, उसकी सड़कें उतनी अच्छी नहीं हैं, जितनी इलाहाबाद या लखनऊ की, पर इलाहाबाद सरकारी राजधानी रह चुका है और लखनऊ सरकारी राजधानी है। इसलिए उनको सजाने मे सरकार ने अपनी थैलियां खोल दीं, पर बहुत मांगने पर भी काशी को एक इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट न मिला। काशी की बोर्ड को जनता से कर्ज लेने में भी बड़ी रुकावटें हैं और सरकारी सहायता के आभाव से ही केवल एक बोर्ड में आने वाली प्रारंभिक शिक्षा जारी की जा सकती है। सफाई की शिकायत है, पर नगर की

गलियों-नालियों को बिना नगरवालों के सहयोग और धन के व्यय से साफ रखना वास्तव में असंभव है और बोर्ड की सहायता जितना सरकार नहीं करती उसकी दुगनी उपेक्षा जनता की ओर से है, जिसकी सफाई का अर्थ होता है कूड़ा गली में बिखेर देना और पढ़ाई का अर्थ होता है, मैले-कुचैले वेश में लड़का स्कूल में ठेल देना। फिर भी बोर्ड में कुप्रबंध है—बहुत अधिक है, पर इसके दोषी वे कांग्रेस वाले हैं जिन्होंने डा० भगवानदास, श्री सम्पूर्णानन्द, श्री श्रीप्रकाश, श्री शिवप्रसादजी गुप्त की बोर्ड के बाद ही, उसके प्रबंध को नहीं अपनाया और एक सरकारी नामजद मेंबर, राय बहादुर महाशय को चेयरमैन बन जाने दिया—और विशेष कर जिनके शासन काल की जांच के लिए यह कमेटी बैठी थी।

इसलिए यह मानते हुए कि कुप्रबंध के समय हस्तक्षेप करने का सरकार को हक है, अधिकर है, कर्त्तव्य है, चाहिए भी—यह स्वीकार करते हुए कि सरकार को बनारस से कोई बैर नहीं है—पर साथ ही इस समस्या को सुलझाने में सरकारी विधि को बिल्कुल अनुपयुक्त समझते हुए हम केवल एक ही रास्ता देखते हैं जिससे नगर का कल्याण हो सकता है—और वह रास्ता यही है कि तुरंत जल्दबाजी में उत्तर न मांगकर सरकार बोर्ड से कम से कम दो महीने में जवाब तलब करे। इसके बाद यदि उसका विश्वास हो कि जवाब संतोष जनक नहीं है तो उसे तुरंत बोर्ड को मुअत्तल कर देना चाहिए और नया चुनाव करना चाहिए। यदि नए चुनाव में जनता नब्बे प्रतिशत पुराने मेंबर चुनती है तो उसे बोर्ड को कार्य करने का मौका दे। रिपोर्ट तुरंत प्रकाशित कर दी जाय ताकि जनता को भी मालूम हो जाय कि गड़बड़ी क्या है, और तब वह जनता से पूछकर उन अफसर या मेम्बरों पर मुकदमा चलावे, जिस पर अपराध सचमुच साबित हो गया हो और न्याय की बात तो यह है कि यदि रिपोर्ट ने किसी बात का उलटा ही अर्थ लगाया है तो उसे यह हक होना चाहिए कि वह अदालत की शरण ले सके।

बोर्ड का मुअत्तल हो जाना काशी का कितना भयंकर अपमान है,-इस स्वराज्य के युग में नागरिकता की कैसी छीछालेदर है और बोर्ड की ही कितनी अधिक बेइज्जती है,यह अभी काशीवासी नहीं समझ रहे हैं, और काशी के सम्मानित कांग्रेसी नेता, काशी के प्रतिष्ठित नागरिक, काशी के जिम्मेदार 'पत्र' भी उदासीन हो रहे हैं, यह बड़ी लज्जा की बात है अभी कल ही, जब अपना प्रबंध जाता रहेगा लोग चिल्ला पड़ेंगे। कांग्रेस वाले यदि इस ओर ध्यान देंगे तो वे नगर के स्वराज्य की रक्षा करेंगे जो उनके हाथ से छिना चाहता है। प्रतिष्ठित नागरिक केवल कौंसिल या एसेंबली या राजपरिषद् की न सोचकर यदि एक बार इधर, नगर की मेंबरी करना शुरू करेंगे तो विशेष कल्याण होगा दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई की खबरों से इस समय काशी की खबर ज्यादा जरूरी है। नगरवासी पिछली बोर्ड से चिढ़े हुए हैं, इसलिए दूर की सोच नहीं पाते हैं, कुछ लोग बार-बार मेंबरी के उम्मीदवार रह कर हारे और खिजलाये हुए हैं, इसलिए वे दूसरों को मेम्बर नहीं रहने देना चाहते होंगे। (ईश्वर करे यह बात कल्पना ही हो) कुछ लोग केवल मेंबर बनना ही सार्वजनिक सेवा समझते हैं—पर जो नगर के हितैषी हैं, वे त्राहि-त्राहि कर रहे हैं। उनकी इस समय 'जाग मछेन्दर गोरख आया'—के भ्रष्ट भाषा-वाक्य के स्थान पर यही ज्यादा सूझ रहा है कि 'जाग नगरिया यम है आया' और—नगर के हाथ से बोर्ड का छिनना हम उतनी ही भयंकर घटना समझते हैं।

नगरनिवासी चेतो, वरना पछताओगे। सब मिलकर एक साथ सरकार से प्रार्थना करो।

एक संगठन ही बनाकर मुअत्तली के शाप से नगर की, अपनी रक्षा करो।

[संपादकीय। 'जागरण', 20 फरवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

मोटर व्यवसाय

एक विशेष कमेटी ने इस बात की जांच की है कि सरकारी रेलवे-विभाग को मोटर-ट्रैफिक द्वारा कितनी हानि उठानी पड़ती है। इस कमेटी की रिपोर्ट के बाद अब सरकार ने बड़ी कौंसिल में यह प्रस्ताव पास करा लिया है कि रेलवे की ओर से मोटरें भी दौड़ाई जावें, जिससे उनका घाटा बराबर हो जाय। यद्यपि हमारी सम्मति में राज्य द्वारा जितने व्यवसाय अपने हाथ में लिए जा सकें अच्छा है, पर रेलवे-विभाग सरकारी विभाग पूरी तरह से नहीं है। दूसरे, रेलवे-विभाग में सारे नौकरों को इतनी ज्यादा मोटी तनख्वाहें मिलती हैं कि उनको घाटा होना ही चाहिए और वही घाटा गरीब जनता पर किराया बढ़ाकर पूरा किया जाता है। इसके अलावा सरकार द्वारा पालित रेलवे की 'किराया-महसूल-माल भेजने का भाड़ा' ऐसी नीति से बनाया गया है कि देश का भीतरी व्यापार ही बहुत कुछ उनके कारण चौपट है, और अब, उन्हें मोटर चलाने का अधिकार देने का मतलब है। रेलवे कम्पनियों की विलायती खरीद को और भी उत्साह देना। अब वे मोटरें भी लन्दन से मंगावेंगी, यहां के कुछ मोटर व्यवसायी भूखों मरेंगे, विलायती व्यापारी को माल बेचने का नया मौका मिलेगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 20 फरवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

वाटर-वर्क्स की लापरवाही

काशी के वाटर वर्क्स विभाग की शिकायत लिखे हमें सात दिन हो गये, पर जो मोटी तनख्वाह और सरकारी सम्मान पाकर मौज से बड़े बड़े बंगलों में रहते हैं, उन्हें क्या पता कि सड़क पर पानी न छिड़कने की लापरवाही के कारण कितने अभागों के फेफड़े को क्षय चाटे जा रहा है। एक बार जरा बेनिया गादोलिया की सड़क पर जाइए—मुंह में धूल बैठ जाएगी, आंख तक लाल हो जावेंगी। एक बार काशीपुरा की सड़क पर आइये, मारे गर्द के सर दुःखने लगेगा। एक बार बेनिया के बीच से होकर निकल जाइए, न जाने यह सड़क किसके सुपुर्द है। शुद्ध वायु की जगह धूल फांक आइए और फिर भी कुछ पंडित काशी के वाटर वर्क्स की शिकायत को जांच के परे समझते हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 20 फरवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

ह्वाईट पेपर का मसविदा

9 फरवरी को बम्बई में सभी राजनीतिक दल वालों की एक विराट् सभा हुई थी, जिसमें सर चिमनलाल सीतलवाद सभापति थे। उन्होंने आरंभ में ही गोलमेज सभा द्वारा निर्धारित नवीन शासन विधान संबंधी प्रस्तवों की कड़ी आलोचना करते हुए कहा था कि यद्यपि ये प्रस्ताव मौजूदा परिस्थिति से बहुत आगे ले जाते हैं फिर भी नर्म से नर्म विचार वाले सज्जनों ने जो

आशा की थी, उससे भी थोड़े हैं संघ शासन तय है पर देशी राज्यों के संघ शासन में शरीक होने की शर्तें लचर हैं।

सर चिमनलाल का यह भी मत था कि गवर्नर जेनरल के विशेष अधिकारों में भारतीय रियासतों तथा व्यापार की रक्षा भी है। जो काम मंत्री के हाथ में रहेंगे उनके विरुद्ध भी वह निर्णय करेगा। वह आर्डिनेन्स जारी करेगा, उन्हें स्थायी कानून का रूप स्वयं दे सकेगा। सबसे बड़ी शिकायत तो यह है कि गवर्नर जेनरल ब्रिटिश पार्लमेंट भारत-सचिव और पार्लमेंट की इच्छानुसार शासन करेंगे, उनकी नियुक्ति तक में भारतीय लोकमत की कोई पूछ न होगी। संरक्षणों की इतनी भरमार है कि शासन की जिम्मेदारियां कुछ नहीं के बराबर हैं।

सर चिमनलाल के भाषण के अनंतर बम्बई के भूतपूर्व अर्थ-मंत्री सर गोविन्द प्रधान ने अपने भाषण में स्पष्ट कह दिया कि आर्थिक संरक्षणों से देश की उन्नति का रास्ता ही रुक गया। गोलमेज़ के भूतपूर्व मेम्बर मि॰ एच॰ पी॰ मोदी का कहना था कि भारतीय सरकारी खर्च घटाना चाहिए और अर्थ का नियंत्रण करना चाहिए। पर, नवीन शासन-विधान में इसकी कोई उपयोगी गुंजाइश नहीं है। कई वक्ताओं की यहां तक राय थी कि नए शासन-विधान में एक नौकर को भी अपने मन से हटा देना किसी मंत्री के लिए संभव न होगा।

अंत में सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव पास हुआ कि यह सभा शासन-विधान संबंधी गोलमेज़ी प्रस्तावों के प्रति असंतोष प्रकट करती है और उसकी राय में वे भारतीय मांगों से बहुत कम हैं। यदि उनमें आवश्यक और संतोषपूर्ण परिवर्तन नहीं किया जाता तो इससे नए शासन-विधान को जारी करने में दिक्कत पैदा हो जावेगी। और देश में इससे असन्तोष पैदा हो जावेगा।

इसी प्रस्तावित शासन-विधान के विषय में बम्बई के लिबरल नेताओं तथा अन्य नर्म नेताओं की ओर से एक विज्ञप्ति प्रकाशित हुई थी, जिसे इसी 12 फरवरी को, श्रीमान् सी॰ वाई॰ चिन्तामणि की अध्यक्षता में होने वाली युक्तप्रान्तीय लिबरल-सभा ने भी स्वीकार किया है और इस 'बयान' में साफ तौर पर लिखा हुआ है कि सर सैमुएल होर की अधिकारपूर्ण घोषणा तथा तीसरी गोलमेज से लौटे भारतीय सदस्यों से भावी शासन विधान का बाहरी खाका मालूम हो गया है और यदि भारत का भावी शासन-विधान भारतीयों के लिए सन्तोषजनक बनाना है तो उसे केन्द्रीय शासन में जिम्मेदारी अवश्य देनी चाहिए, केन्द्रीय व्यवस्थापक महासभा को यह अधिकार होना चाहिए कि व्यापार, विनिमय, उद्योग आदि के विषय में अपनी इच्छानुसार नियम बनावे। संरक्षण हों, पर बहुत थोड़े हों और भारत के हित के ही हों। पर इस विषय में अभी तक जो कुछ मालूम हो सका है, वह नर्म से नर्म भारतीय नेता की आशा से कहीं कम है।

उस लम्बी विज्ञप्ति का इतना ही सारांश हमारे लिए पर्याप्त है। अपनी ओर से कुछ जोड़ने की भी जरूरत नहीं है। सरकार स्वयं यह जानती है कि उसका प्रस्तावित शासन विधान, जो पार्लमेंट में पेश किए जाने के लिए 'ह्वाइट पेपर' के रूप में प्रकाशित होगा वह लोगों को पसंद आएगा। कई प्रमुख लिबरल तो यहां तक कह चुके हैं कि फिर से 'जार सत्ता' के रूप में 'वाइसराय-सत्ता' आने वाली है पंडित नानकचन्द ने डी॰ ए॰ वी॰ कॉलेज में भावी शासन विधान पर भाषण देते हुए कहा था कि प्रस्तावित प्रांतीय स्वराज्य से भारत में राष्ट्रीयता स्थापित न हो सकेगी। पंजाब के हिन्दुओं के लिए तो उन्होंने यहां तक कहा कि

चुपचाप बैठे रहने पर वे सदा के लिए दब जाएंगे।

आगे चलकर पंडित जी ने कहा था कि आप महात्मा गांधी को दोष दें वा सर तेजबहादुर सप्रू को, नया शासन-विधान तो आ ही रहा है, और वह जारी भी हो ही जाएगा। वह कुछ को पहले और कुछ को बाद में पीस डालेगा। पंजाब के हिन्दू पहले पीसे जाएंगे। जिन्होंने साम्प्रदायिक निर्वाचन का समर्थन किया था, वे सबसे पहले चिल्लाएंगे। मैं ऐसी शासन प्रणाली की बिल्कुल ही सहायता नहीं करूंगा जो हिन्दुओं को मुसलमानों का और मुसलमानों को सिखों का विरोधी बनाती है।

पंडित नानकचन्द गोलमेजी हैं। उनके लन्दन जाते समय हम उसी प्रकार उनके विरोधी थे जितना श्री केलकर के। हमें हर्ष है कि अब उनकी भी आंख खुली है और वे गोलमेज़ का आडम्बर समझ गये हैं। बुराई से भी भलाई होती है। अच्छा हो, यह शासन-विधान ही बुरा हो। इससे हिन्दू और मुसलमान एक होकर आत्मनिर्णय तो सीख जाएं और भीख तो न मांगा करें। हम पंडित नानकचन्द की इस राय से सहमत हैं कि—राजनीति में कोई बात तय नहीं होती। प्रत्येक दशा में परिवर्तन हो सकता है। बंग-भंग की नीति का, सर जान साइमन की सिफ़ारिश तक में भी परिवर्तन तो करना ही पड़ा था। पर अंत में प्रश्न यह है कि भावी शासन-विधान से हम अपनी रक्षा किस प्रकार करें।

सुना जाता है कि कलकत्ते में कांग्रेस का 'जायज' अधिवेशन होने वाला है। सरकार बार बार कांग्रेस की ओर से इशारे का संकेत चाहती है, पर वह कभी कांग्रेस को एकत्रित होकर निश्चय करने का अवसर नहीं देती। इस समय यदि सरकार ह्वाइट पेपर को प्रकाशित कर कांग्रेस को भी उस पर विचार करने का मौका देती तो न जाने इस समय कैसा निर्णय हो जाता। हो सकता था, कि थकी कांग्रेस वैध योजना बनाती पर सरकार ने अपने दमन से उसके लिए युद्ध की अनिवार्य दशा उत्पन्न कर रखी है। क्या वह अब भी शासन-विधान का गहरा घाव लगाने के पहले, जनता के हित के लिए इतना भी करेगी?

[संपादकीय। 'जागरण' 20 फरवरी 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

सर सेम्युएल का उत्तर

हाउस ऑफ कॉमन्स में मि. टामस विलियम्स के एक प्रश्न के उत्तर में सर सैम्युएल होर ने कहा है तब तक भारतीय राजनीतिक बन्दियों या महात्मा गांधी की रिहाई का प्रश्न ही नहीं हो सकता जब तक सरकार को यह उम्मेद न हो जाय कि उनकी रिहाई सत्याग्रह के पुन: प्रारम्भ होने की आशंका नहीं है। इस उत्तर से हमारी आशंका सच निकली। लन्दन की सरकार रिहाई के लिए तैयार है, पर भारत की सरकार ने भावी विपत्ति का एक थोथा आडम्बर रच रखा है, इसी कारण लन्दन को दिल्ली के आगे सर झुकाना पडा है। भारत-सरकार यदि समझती है कि कांग्रेस-नेता खुद छूटना चाहते हैं तो वह गलती करती है। कांग्रेसी स्वयं नहीं छूटना चाहते, वे फिर जेल जाना चाहते हैं। उनको छुड़ाने के लिए हम उत्सुक हैं। जो देश में शांति तथा व्यवस्था के साथ ही, वैध और परिश्रमी कार्यक्रम देखना चाहते हैं। कांग्रेस के नेताओं को न छोड़कर सरकार जनता को और भी असन्तुष्ट कर रही है। सत्याग्रह जनता करती है, और वही कांग्रेसी नेताओं को छुड़ाना चाहती है। सरकार से

अधिक शायद लिबरल सत्याग्रह के विरोधी हैं। सरकार इस कारण सत्याग्रह से डरती है कि उससे अराजकता की सम्भावना रहती है, और लिबरल सत्याग्रह से इस कारण डरते हैं, कि उनकी लोकप्रियता को सत्याग्रही चाट गये और वे जनता की निन्दा के पात्र बनाये जाते हैं, पर लिबरलों का भी यह विश्वास है कि राजनीतिक बन्दियों के छूटने से देश में अधिक शांति तथा सुख का वायुमण्डल बन जाएगा। 13 फरवरी को युक्त-प्रांतीय लिबरल-संघ ने इस आशय का महत्वपूर्ण प्रस्ताव भी पास किया है, पर हमारी समझ में हमारा यह सब लिखना नक्कारखाने में तूती की आवाज ही होकर रह जाएगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 20 फरवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

अलवर

अलवर नरेश ने इधर मेव उपद्रव के विषय में जो भाषण दिया है और उसके बाद ही अलवर में राजभक्त मेवों और उपद्रवी मेवों में जो संघर्ष हो गया है, उससे यह स्पष्ट हो गया है कि अलवर के दंगे का कारण केवल उपद्रवियों का गढ़ा हुआ षड्यंत्र था, न कि राज्य की कोई लापरवाही या महाराज की भूल। इस विषय में जो कुछ शंकाएं समाचार-पत्रों में फैलाई गई हैं, उनका समुचित उत्तर देकर महाराज ने बड़ा अच्छा किया। सरकारी हस्तक्षेप के विषय में भी महाराज की दृढ़ता की हम सराहना करते हैं। हमारी सम्मति में, इस विषय में महाराज अलवर को पूरी स्वाधीनता होनी चाहिए कि जिस तरह, जैसे भी, उपद्रव का दबाव तथा किसी प्रकार से भी ऐसा काम न करें जिससे पुन: उपद्रव होने की आशंका हो। उन्होंने लगान में छूट और प्राय: सभी अपराधियों को क्षमा-प्रदान करने की जो सूचना निकाली है वह आवश्यकता से अधिक कृपा नहीं है, और आशा है, इसी से उपद्रवी शान्त होने में ही अपना कल्याण समझेंगे।

[संपादकीय। 'जागरण', 27 फरवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

अशान्ति

विश्व में इस समय चारों ओर घोर अशान्ति का वातावरण फैला हुआ है। जिधर देखिए, जिसे देखिए वह उद्विग्न है, पीड़ित है, दु:खी है। वैभव और सुख के मद में डूबता इतराता धनी भी जब अपने सुख से अघा जाता है तो एक अजीब चीज उसके जी को कचोटने लगती है, एक अजीब हवा उसके भीतर पैठकर उसे जला डालती है और वह कराहता है—न जाने उसे क्या चाहिए? दरिद्र के पास कुछ नहीं है, केवल उसकी चिन्ता ही उसे डंसा करती है फिर भी उसके हृदय में न जाने क्यों एक ओर सुख का स्रोत बहता है, दु:ख की गम्भीर धारा तो प्रशान्त महासागर की तरह निश्चल—पर निरंतर प्रवाहित होती रहती है।

घरेलू जीवन में भी कोई सुखी नहीं है। किसी को सन्तान चाहिए, किसी को रूप किसी को घर, किसी को वर। जिसको जितना ही मिलता जाता है, उसे उतना ही अधिक आवश्यकता का अनुभव होता है। सभी को सभी कुछ चाहिए !

पर, ऐसा हो नहीं सकता, पर जो नहीं हो सकता, वह दुनिया में दिखलाई भी नहीं

पड़ सकता। इसका वास्तविक अर्थ जो है वह केवल यह कि प्रत्येक प्राणी उस विश्वात्मा का एक अंश है। विश्वात्मा की सत्ता के इतर इस लोक में और कुछ भी नहीं है, अतएव जो कुछ है वह विश्वात्मा ही का है। उसी विश्वात्मा का अंश प्राणी है, जीव निरंतर भगवान की ओर बढ़ना चाहता है, अपने लुप्त ऐश्वर्य को अपनाना चाहता है। वह स्वयं सृष्टि का स्वामी है, यह ज्ञान उसकी अंतरतम आत्मा में छिपा हुआ है, उसे इसी ज्ञान का सहारा है–और इसीलिए वह अपनी सत्ता में अपना ही सब कुछ देख सकता है, देखना चाहता है।

वह सोचता है कि सुख उसी की वस्तु है, उसे मिलनी चाहिए। दु:ख उसी की प्रसादि है, उसमें दु:ख लय हो जाना चाहिए। राज्य उसका, धन उसका, दुनिया उसकी। इसीलिए सब कोई सब कुछ चाहता है। परमात्मा का अंश परमात्मा का प्रभुत्व–अपना प्रभुत्व चाहता है और यही वस्तु जगत की समूची चेष्टा, समूची शक्ति, समूची क्रिया के भीतर छिपी बैठी है।

यदि यहीं तक बात रहे तो सचमुच बड़ा सुन्दर हो। दु:ख सुख को अपने में लय कर जावे सुखी हो जाय, या दु:खी न रह जावे। पर जगत मिथ्या है। माया की अनोखी शान है। उसको 'सब कुछ अपनाने' की इच्छा 'अहंकार' और 'अभिमान' का रूप धारण कर लेती है। उसमें 'मेरा' और 'मैं' का गर्व पैदा हो जाता है। उसकी शक्तियां उच्छृंखल हो जाती हैं। वह यह भूल जाता है कि यदि दुनिया का सब कुछ उसी का है तो हरेक जीव भी उसी का है– पृथ्वी में वह है, जान है–दोनों एक ही सत्ता के अंश हैं। एक ही शरीर के अंग हैं एक ही पिंड के अणु हैं इसीलिए किसी दूसरे का अपहरण अपना अपहरण है। किसी दूसरे का अनादर अपना अपमान है। किसी दूसरे की पीड़ा अपनी पीड़ा है। जो सनातनी यवनों से द्वेष करते हैं, पर यह भी कहते हैं कि वेद में संसार के सभी धर्म वर्तमान हैं, उसके सिद्धांत पाए जाते हैं वे यह भूल जाते हैं कि यह कहते ही उन्हें कोई अधिकार नहीं रह जाता कि मुसलमानी या ईसाई धर्म को बुरा भला कहें। हमारा ही अंग बुरा नहीं हो सकता। हमारा ही धर्म खोटा नहीं कह सकता। बस, हमारे अहंकार ने ही हमें चौपट कर रखा है, हमारे अज्ञान ने हमें चूस लिया है।

विश्व की अशान्ति की केवल एक दवा है। आज से पच्चीस सौ वर्ष पहले की बात है। चीन में भय भर मारकाट, रक्तपात और संहार मचा हुआ था। हरेक जागीरदार डाकू था, हरेक राजा डकैत था। हरेक बच्चा बचपन से केवल लड़ना या मारा जाना सीखता था। उस समय चीन के कोने में एक ज्योति टिमटिमा रही थी। उसने चीन की दुर्दशा देखकर उसका निदान सोचा, उपाय सोचा, ढंग सोचा। हिंसा में कोई लाभ नहीं। जोर-जबरदस्ती से लोग नहीं मानेंगे। हिंसा का उत्तर हिंसा से दिया जाता था। जोर का जवाब जोर से। क्रोध बुरी वस्तु है क्रोधी को क्रोध पहले खाता है। आवेश और असन्तोष भी बुरा है। अपनी दुर्दशा पर रोना नहीं चाहिए। ईश्वर जो करता है भले के लिए करता है। इसलिए चीन की दुर्दशा का सुधार केवल एक बात से हो सकता था। 'प्रेम' पूर्ण भाई चारे से, आत्म संयम से दूसरे के दु:ख-दर्द में शरीक होने से। कनफ्यूसियस के यही महोपदेश थे। वह बड़ा विनम्र महात्मा था। प्रत्येक महान आत्मा का आदर करना चाहिए। इसमें मानापमान का विचार नहीं करना चाहिए। कनफ्यूसियस सुदूर लाओ-त्सी नामक महात्मा से सादर मिलने भी गया।

उसके उपदेश के प्रचार से चीन के गर्म दिमाग वाले ठंडे हो गए। जिनको अपना गर्व

था, वे शान्त हो गए। जो जीवन को लूट-खसोट की एक योजना मानते थे, वे धीरे- धीरे प्रेम का महत्व सीखने लगे। और कनफ्यूसियस के मरते-मरते चीन में शान्ति आ गई।

आज समूचा विश्व चीन हो रहा है। मनुष्यों के स्थान पर राजा हैं। जागीरदारों के स्थान पर राज्यों के राजनीतिक नेता हैं और लुटेरों के स्थान पर शासकों का उच्छृंखल दल है छोटा-सा राज्य माण्टीकार्लो भी चाहता होगा कि लन्दन की गद्दी उसे मिले और ब्रिटेन समूचे विश्व को अपना उपनिवेश, समूचा बाजार, अपना दास और समूचे राज्यों को अपना चेला बनाना चाहता है। फ्रांस वाले एक दूसरे के रक्त के प्यासे हैं। स्पेन में एक प्रजातंत्र है, हिटलर तंत्र है, हिडनवर्ग-तंत्र है—और कुछ नहीं, केवल एक भीषण मारकाट की लंबी तैयारी है। जापान मन्चूरिया ही नहीं, चीन को ही हड़प लेना चाहता है। चीन जरूर सोचता होगा कि मौका मिलने पर टोकियो में चीन का प्रधान अड्डा जमाया जावे।

जो अपनी उन्नति चाहता है, वह दूसरे के संहार के बल पर। जो बढ़ना चाहता है, वह दूसरे को गिराकर। एक साथ चलना दूषण समझा जाता है। एक साथ काम करना अपनी 'नीति' पराजित करना समझा जाता है, एक साथ मिलकर रहना राष्ट्रीय अपमान होता है। सभी वह चाहते हैं कि जिसे सब चाहते हैं, इसीलिए किसी को कुछ नहीं मिलता। एक ओर ब्रिटेन अपना उपनिवेश बढ़ाता है, दूसरी ओर महासमर में उसके देश के नवयुवकों की माला स्वाहा हो जाती है। एक ओर जापान कोरिया छीनता है, दूसरी ओर भूडोल उसकी राजधानी नष्ट कर डालता है। घाटा पूरा करना होगा, लेन-देन बराबर होगा। दुनिया में कोई किसी से बड़ा या छोटा नहीं है। हमने एक हाथ से अपने दूसरे हाथ का छीन लिया, दूसरा फिर छीन लेगा। हाथ लड़ रहा है आंख बन्द है।

बस चीन-जापान के भावी संघर्ष, जर्मनी की घरेलू अशान्ति, आयरलैंड की हलचल स्पेन के उपद्रव का एकमात्र केवल एक ही उपाय है, एक ही तरीका है, एक ही विधि है और वह है किसी कनफ्यूसियस आत्मा की आवाज का सुनाई पड़ना और हमारा सुन लेना। एक कनफ्यूसियस पैदा हो गया है, और वह यरवदा मंदिर के भीतर बैठा हुआ है। वह कह रहा है "आपस में प्रेम करो। बस, प्रेम करो।" केवल प्रेम ! जिस किसी को प्रेम न करते हो, करने लगो। ब्रिटेन से, जापान से, सबसे। और कुछ कर भी तो नहीं सकते। केवल प्रेम करने में क्या हानि है। सच्चे दिल से, सबसे प्रेम करो। सम्भव है हमारे तुम्हारे प्रेम की ध्वनि जापान के जी को कचोट ले, चीन के जी को चुभ जावे और सब एक मन, एक वाणी और एक कार्य से प्रेम करने लग जावें। प्रेमी को ही प्रेमी मिलते हैं। आज हम अपना पराया भुलाकर, अपना-उनका, भूलकर सबके साथ प्रेम करने लगें, हिन्दू-मुसलमान के साथ सनातनी-अछूतों के साथ, अंग्रेज-हिन्दू के साथ प्रेम करने लगें—सभी समस्याएं अभी हल हो जाएंगी। सबकी चाहे व्यक्ति हो या राज्य, राजा हो या प्रजा, सबके मन में शान्ति की लहरें हिलोरें लेने लगेंगी। प्रेम का, स्नेह का, ममता का वातावरण छा जावेगा। हम प्रेमी हैं, प्रेम करते हैं—समूचे विश्व से, हमने विश्व-शान्ति का डंका पीट दिया है। देखो, कैसे विश्व शान्ति नहीं होती। पर प्रेम सच्चा हो, डंके में चोट हो !

[संपादकीय। 'जागरण', 27 फरवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

कलकत्ता कांग्रेस

कलकत्ते में कांग्रेस का अधिवेशन होना निश्चित हो चुका है। अभी तक यही तय न था कि कांग्रेस वहां पर होगी। अब स्थानापन्न राष्ट्रपति अणे ने इस विषय में विज्ञप्ति प्रकाशित कर सबका संदेह दूर कर दिया है। भारत-सरकार सदा से कहती आ रही है कि राष्ट्रीय कांग्रेस नाजायज नहीं है। इसलिए अणे महोदय भी कांग्रेस के इस अधिवेशन को पूरे जायज ढंग से करना चाहते हैं। सरकार को स्थान इत्यादि की पूरी सूचना दे दी गयी है। यद्यपि इस कांग्रेस के प्रतिनिधियों के संबंध में आपत्तिजनक शंकाएं हो सकती हैं, पर यह तो निश्चित है कि कांग्रेस ने इस बार पूरी वैध रीति से काम करना शुरू किया है। इस समय देश की जैसी स्थिति है, उसे देखते हुए क्या सत्याग्रह जारी रखना चाहिए या कोई दूसरा कार्यक्रम तैयार करना चाहिए—यही विचारणीय प्रश्न है। संभव है, कांग्रेस कोई दूसरा निर्णय करे। सरकार कांग्रेस से यही चाहती है कि वह सत्याग्रह समाप्त करे। यह तो वह भी स्वीकार करती है कि कांग्रेस कुचली नहीं जा सकती। क्या वह इस बार कांग्रेस को विचार करने का अवसर देगी?

[संपादकीय। 'जागरण', 27 फरवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

काशी म्युनिसिपल बोर्ड-5

इधर स्थानीय सहयोगी 'आज' में श्री परिपूर्णानन्द वर्मा लिखित एक बड़ी उपयोगी लेख-माला प्रकाशित हो रही है। लेखक ने बड़े अध्ययन के बाद काशी म्युनिसिपल बोर्ड के गत सोलह वर्षों के कार्यों की, जब से यहां बोर्ड गैर-सरकारी हाथों में आयी है, विशद समीक्षा की है। समीक्षा बड़ी रोचक है और उससे यह साफ प्रकट होता है कि स्थानीय बोर्ड की दुरवस्था की जिम्मेदारी बोर्ड में कतिपय अयोग्य मेंबरों पर नहीं, पर सरकार पर है और सरकारी रुख को देखकर बहुत ही जिम्मेदार लोग बोर्ड के शासन में भाग नहीं लेना चाहते। सरकार के कई अपराध तो बहुत ही गुरुतर हैं, जैसे बोर्ड को छत्तीस लाख रुपया कर्ज देकर उसके लिए सतावन लाख वसूल कर लेना, और बीस वर्ष तक और भी वसूल करते रहने का निश्चय न बदलना। हम शुरू से कहते आ रहे हैं और अब भी कह रहे हैं कि इस विषय में जनता अज्ञानवश मेंबरों को दोषी ठहरा रही है। उसे हरेक बात की तह तक पहुंचकर इस बात का निश्चय करना चाहिए कि असली दोष किसका है, किसको क्या दण्ड मिलना चाहिए।

इसी सिलसिले में हमें यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि बोर्ड ने अपना आय-व्यय सब बराबर कर लिया, बिना किसी जरूरी काम को हानि पहुंचाये ही पचहत्तर हजार रुपये की बचत भी हो गयी, कई जरूरी सुधार कर दिये गये। हमें यह भी जानकर बड़ा हर्ष हुआ कि बोर्ड ने सरकार को जवाब देने के लिए तीन सदस्यों की एक कमेटी बना दी है, और एक कमेटी बनायी गयी है इस बात की जांच के लिए कि जांच कमेटी की जांच कहां तक सत्य है। और उसके अनुसार क्या कार्य होना चाहिए।

यह दोनों ही कमेटियां बड़ी उपयोगी हैं। हमें आशा है कि श्रीमन् राजा मोतीचन्द साहब शीघ्र ही गवर्नर महोदय से मिलकर बोर्ड को उत्तर देने के लिए अधिक मुहलत मांगने में

सफल होंगे और, इसके साथ ही, हम कौंसिल के मेंम्बरों से भी अनुरोध करते हैं कि वे इस विषय में सरकार को चैन न लेने दें। सरकार से प्रश्नों द्वारा पूरी पूछताछ कर तुरन्त उसकी मंशा जान लेनी चाहिए।

[संपादकीय। 'जागरण', 27 फरवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

सपादक-सम्मलन

गत 26, 27, 28 फरवरी से इन्दौर में बड़े समारोह के साथ सम्पादक-सम्मेलन का अधिवेशन, सम्पादन-कला के अनुभवी, त्यागी श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति की अध्यक्षता में मनाया जावेगा। अभी तक इस दिशा में जो कुछ कार्य हुआ है, वह निरर्थक सा ही प्रमाणित होता रहा है। केवल सम्मेलन हुआ, भाषण हुआ और कुछ नहीं। पर, फल कुछ न निकला। आज हिन्दी के सम्पादकों, बेकार सम्पादकों, लेखकों, पत्रकारों की जो दुर्दशा है, वह वर्णनातीत है। प्रकाशकों या पत्र-मालिकों के लिए तो सम्पादक किराए का टट्टू है। जिसे जब जी में आया, कान पकड़कर निकाला जा सकता है। एक सम्पादक स्वयं दूसरे सम्पादक की कद्र नहीं करता। एक लेखक दूसरे लेखक का अपमान करना अपना गौरव समझता है। पुरस्कार के नाम पर अपमानित मात्रा में कुछ रुपये पाकर लेख लिखने वाले, या हाथ साथ एक कर, बड़े घाटे से पत्र चलाने वाले सम्पादक संचालक दोनों की दशा दयनीय है। इससे अधिक अच्छा अवसर नहीं हो सकता जब कि सम्पादक सम्मेलन इन समस्याओं पर विचारकरें।

[संपादकीय। 'जागरण', 27 फरवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

आने वाला श्वेत पत्र

यद्यपि यह सभी जानते हैं कि आनेवाले श्वेत पत्र में क्या है, लेकिन फिर भी समस्त देश में उसको देखने की उत्सुकता है। मि. चर्चिल, सर सैमुएल होर, वाइसराय आदि की वक्तृताओं में और अंग्रेजी समाचार-पत्रों के अनुमानों में हम श्वेत पत्र की व्यवस्थाएं कुछ विशेष आशाजनक मालूम होती हैं, मगर हम उसे देखने के इसलिए इच्छुक हो रहे हैं कि अभी जो कुछ केवल अनुमान है, उसे देख लेने पर वह यथार्थ हो जाएगा। अनुमान में एक तरह की अनिश्चितता रहती है। अनुमान के आधार पर हम न कुछ कह सकते हैं न अपने कार्यक्रम का कोई रूप निर्माण कर सकते हैं। यथार्थ ज्ञान हो जाने पर यह तो निश्चित रूप से ज्ञात हो जाएगा कि हमें क्या मिला और अब हमें क्या करना है?

अभी तक अनुमानों से हम आने वाली व्यवस्था का जो रूप खड़ा कर सके हैं, वह यही है कि प्रांतों को एक ऐसा स्वायत्त शासन प्रदान किया जाएगा कि जिसमें प्रजा के प्रतिनिधियों को सरकारी कर्मचारियों के विषय में कोई अधिकार न रहेगा। कर्मचारियों के अधिकार ज्यों के त्यों बने रहेंगे। केन्द्र में सेना, अर्थ विभाग और फॉरेन विभाग पर वाइसराय का अधिकार रहेगा। वाइसराय आवश्यकता पड़ने पर आर्डिनेन्स जारी कर सकेंगा और

व्यवस्थापक सभा के फैसलों को रद्द कर सकेगा। भारत की सबसे बड़ी शिकायत यह है कि सेना-विभाग में यहां के बाशिन्दों को बहुत कम स्थान दिया जाता है, हालांकि देश की आय का बहुत बड़ा भाग सेना पर खर्च हो जाता है। यह शिकायत बदस्तूर रहती है। अर्थ विभाग से हमें यह शिकायत है कि भारत की अर्थनीति भारत के लाभ की दृष्टि से नहीं, वरन् इंग्लैंड के लाभ की दृष्टि से स्थिर की जाती है। वह शिकायत भी ज्यों की त्यों रहती है। हमारी सरकार से केवल राजनीतिक अधिकारों की लड़ाई है। हम ऐसे अधिकार चाहते हैं कि हम उस स्थिति में आ जाएं कि देश की आमदनी को प्रजाहित के कामों में खर्च कर सकें, देश को सुखी और संतुष्ट बना सकें। अगर ये अधिकार नहीं मिल रहे हैं तो केवल कौंसिलों में जगहों के लिए आपस में झगड़े करने की हमें क्या जरूरत है। हमारा उद्देश्य केवल इतना ही नहीं है कि हमारे दस पांच भाई मिनिस्टर हो जाएं, हमारे प्रतिनिधियों की संख्या दुगनी हो जाय। हमारा उद्देश्य केवल देश को स्वस्थ और सुखी बनाना है। अगर हमारे पास धन खर्च करने का अधिकार नहीं है तो हमारे ये उद्देश्य कैसे पूरे हो सकते हैं? और ये उद्देश्य न पूरे हुए तो जनता के लिए यह व्यवस्था क्या उपकार करेगी।

लेकिन इंग्लैंड में मि. चर्चिल और उनके अनुयायियों का बलवान दल इस व्यवस्था को भी स्वीकार नहीं करता है। वह सिरे से इसे मानता ही नहीं कि भारत में किसी सुधार की जरूरत है। वह डंडे के जोर से राज्य करने के पक्ष में है और अंत तक भारत को पैरों के नीचे दबाकर रखना चाहता है। मि. चर्चिल ने यहां तक धमकी दे रखी है कि वह अपने कट्टर दल को संगठित करके श्वेत पत्र का पार्लमेंट में विरोध करेंगे और उसे रद्द करा देंगे। मि. चर्चिल को लार्ड इर्विन और अन्य समझदार लोग चाहे कितना ही भला बुरा कहें पर यह उन्हें खूब मालूम है कि इंग्लैंड में आज मि. चर्चिल का जितना जोर है उतना किसी भी व्यक्ति का नहीं है। यह गैर मुमकिन है कि उन धमकियों का भारत सचिव पर कोई असर न पड़े। सर होर शायद एक दिन इंग्लैंड के प्रधानमंत्री बनने की कल्पना कर रहे होंगे। कंजर्वेटिव दल को अप्रसन्न करके वह अपने भविष्य को संदेह में नहीं डालना चाहते। इधर भारत में भी मुसलमान [illegible] राजा में [illegible] मतभेद [illegible] रहा है। फलस्वरूप आने वाली व्यवस्था [illegible] आ गया। अगर [illegible] में [illegible] तो व्यवस्था का मूल्य ही क्या रह जाता है।

सारांश यह परिस्थिति बहुत निराशाजनक है, हमें अब भी कुछ आशा है, वह संसार की विचार क्रांति से। वर्तमान सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था से दुनिया निराश हो गयी है। निःशस्त्रीकरण, जर्मनी में राजनीतिक संग्राम, रूस और इटली की राज्य व्यवस्था--यह सभी कह रही हैं कि संसार सुख और शांति का कोई साधन खोज रहा है पर जहां उसे खोजना चाहिए वहां न खोजकर इधर उधर भटकता है। कभी इस गढ़े में गिरता है कभी उसमें। मगर लक्षणों से प्रकट हो रहा है कि जनता पर अब साम्राज्यवाद का जादू नहीं रहा। साम्राज्यवाद में एक स्वाभाविक गौरव का अंकुर है, इसमें संदेह नहीं। एक पददलित हिन्दू भी हिन्दू राजाओं को अपनी मुसलमान प्रजा पर अत्याचार करते देखकर चुप साध जाता है। वह यह नहीं चाहता कि उस हिन्दू राजा की प्रजा जरा भी सिर उठाये। इसी तरह मुसलिम जनता भी निजाम और भोपाल के ऊपर गर्व करती है। लेकिन पश्चिम में इस साम्राज्यवाद

की मनोवृत्ति से लोग इतने तंग आ गये हैं कि अभी हाल में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में छात्र संघ में, अपने एक मुबाहिसे में यह प्रस्ताव बहुमत से स्वीकार किया कि यह सभा किसी दशा में भी राजा और देश के लिए अपना रक्त न बहाएगी। दूसरे मुबाहिसे में इस प्रस्ताव को निकाल डालने के लिए दूसरा प्रस्ताव पेश हुआ। इस नए प्रस्ताव के पक्ष में केवल 153 वोट आये और विपक्ष में 750। इससे यह साफ पता चल रहा है कि हवा किधर चल रही है। हमें अपने देश में यही विचार क्रांति पैदा करनी है।

[संपादकीय। 'जागरण', 20 मार्च, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

एसेम्बली की अवधि

वाइसराय महोदय की घोषणा के अनुसार एसेंबली का कार्यकाल अनिश्चित काल के लिए बढ़ा दिया गया। इसका कारण यह है कि नए शासन विधान के अनुसार एसेंबली का निर्वाचन अब नई योजना के अनुसार कराया जावेगा। सूचना से कुछ लोगों को इसलिए प्रसन्नता हो गयी है कि शीघ्र ही नयी शासन-योजना कार्यान्वित होगी। कुछ लोगों की यह धारणा है कि सरकार अभी तक शासन-योजना को कार्यरूप में परिणत करने की अवधि पर निश्चय नहीं कर सकती है और इसीलिए उसने एसेंबली की अवधि बढ़ाकर, उसे अधिक जीवन प्रदान कर, प्रसन्न कर कर, इस प्रश्न को टाल दिया। एसेम्बली के वे सदस्य, जिन्होंने केवल जनता के प्रतिनिधित्व के बल पर अपना विज्ञापन किया है, अपने कुचालों से जनता को, अपने निर्वाचन-क्षेत्रों को और अपने देश को कलंकित किया है और जिन्हें यह आशा नहीं कि वे फिर दूसरे निर्वाचन में चुने जावेंगे वे अपने देशद्रोही कार्यों के लिए अधिक अवसर पाने से प्रसन्न हैं और होंगे, किन्तु जनता को सरकारी-सूचना से कई प्रकार की चिन्ता हो गयी है। एक तो यह कि कांग्रेस की उदासीनता के कारण एसेंबली तथा कौंसिलों के द्वितीय श्रेणी में राजनीतिज्ञ और तृतीय श्रेणी के विचारक एकत्रित हो गये हैं। इनके हाथ से जन-हित को हमेशा धोखा उठाना पड़ा है। जब कभी सार्वजनिक-महत्त्व का प्रश्न आता है, ये सरकारी सम्मान के लोभ में फंसकर जनता के हित का सर्वनाश कर देते हैं। औरों की बात तो जाने दीजिए, एसेंबली के वर्तमान सभापति श्रीषणमुखम् चेट्टी ने भी, अपने विरोधी दल के मुखियापन का बाना त्याग कर ओटावा में शरीक होकर भारत की औद्योगिक उन्नति को कफन में कील ठोंक दी थी। सरकार बार-बार अपने प्रस्तावों में इसलिए जीतती जाती है कि एसेंबली में राष्ट्रीय दल और स्वतंत्र दल के लिए इस समय सबसे जरूरी काम आपस में लड़ना है। श्री गयाप्रसाद सिंह की चेष्टा या श्री बी॰ शर्मा के प्रयास का कोई फल नहीं निकल रहा है और एसेंबली के सदस्य आपस में लड़कर ही अपनी शक्ति का व्यय कर डालते हैं।

प्रान्तीय कौंसिलों की भी यही दशा है। युक्त प्रान्तीय कौंसिलों को ही लीजिए। जब मि॰ चिन्तामणि का 'एक्साइज बिल' पर संशोधन रद्द हो सकता है, मि॰ जे॰ पी॰ श्रीवास्तव ऐसे आदमी को मंत्री-पद से, नवाब मुहम्मद यूसुफ को मंत्री-पद के लिए परम्परागत अधिकार से नहीं हटाया जा सकता, सरकार खुलेआम एक महत्वपूर्ण नगर के नागरिक

जीवन को ही समाप्त करने की कल्पना कर सकती है और गलत या सही जो कुछ भी सरकार चाहती है करा लेती है—तो फिर ऐसी एसेंबली और कौंसिलों का कार्यकाल बढ़ाना केवल एक उपहासास्पद और अनुचित संस्था का आडम्बर बढ़ाए रखना है। नवीन शासन-योजना में ये कौंसिल विशेष उपयोगी ही हो जावेंगी, यह हमारा तात्पर्य नहीं है। संभव है, इनका प्रभाव और भी कम हो जावे। पर उपयोगी एक वस्तु अवश्य होगी, वह होगा, प्रजा-पक्ष का बहुमत से सरकार को लोक-निन्दा का ज्ञान कराते रहना। इसीलिए सरकार इस समय एसेंबली का—साथ ही कौंसिलों का भी अंत निकट आ रहा है—निर्वाचन करा देती है तो उसे पता चल जाता है कि जनता का इस आडम्बरमय सभा पर कितना अविश्वास है। कांग्रेस पर दमन होने के बाद एसेंबली और कौंसिल ही ऐसी संस्थाएं रह गयी हैं जिसके द्वारा जनता के विरोध की, जनता की दुर्बल विरोध की आवाज उठायी जा सकती है और उस संस्था के द्वारा अपने असली विचार प्रकट करने का अवसर न देना नितान्त अनुचित है।

यह हम जानते हैं कि जिस प्रकार दुर्ग की दीवाल से टकराकर लहरें लौट आती हैं, उसी प्रकार सरकार के द्वार से यह विरोध भी वापस आवेगा, पर हम अपने कर्तव्य का पालन नहीं करेंगे, यदि इस बात को स्पष्ट किए बिना ही सरकारी सूचना का मौन विरोध करेंगे।

[सपादकीय। 'जागरण', 20 मार्च, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

काशी म्युनिसिपल बोर्ड-6

प्रान्तीय सरकार ने काशी म्युनिसिपल बोर्ड की जांच-कमेटी के आरोपों का उत्तर देने के लिए चौदह दिन का समय और देकर सराहनीय कार्य किया है। अब बाइस मार्च तक बोर्ड का उत्तर चला ही जावेगा। आशा है, बोर्ड अपने उत्तर में सरकार जनता के मत का साहस और सच्चाई के साथ ज्ञान करा देगी। जनता यह कभी नहीं स्वीकार कर सकती कि बोर्ड का प्रबंध गैर सरकारी हाथों से छिनकर सरकारी हाथों में जावे। बोर्ड के कुप्रबंध में सरकार की कितनी जिम्मेदारी है, यह भी जनता को भली प्रकार से ज्ञात है। अभी हाल में ही 'लीडर' में एक रोचक लेख प्रकाशित हुआ था जिसमें यह साफ ज्ञात होता है कि बोर्ड की खराबी के लिए यदि किसी को दण्ड देना चाहिए तो पहले सरकार स्वयं अपने उन प्रबंधकों को दण्ड दे जिन्होंने बोर्ड के रोयें-रोयें में कर्जा भर दिया।

पर साथ ही, हमने यह कई बार लिखा है और उसे फिर दुहराना चाहते हैं कि बोर्ड में इस समय प्रथम श्रेणी के मेंबर नहीं हैं। इसलिए यदि सरकार बोर्ड का सुधार चाहती है तो तुरन्त बोर्ड को 'डिजोल्व' कर नया चुनाव भी करा दे। जिन कर्मचारियों के प्रति कोई शिकायत हो, उसकी जांच सम्मानित नागरिकों की एक स्वतंत्र कमेटी करे। बोर्ड के मेंबरों से इस प्रकार की कोई जांच कराना अनुचित है। सभी अपनी जिम्मेदारी दूसरों पर टालना चाहेंगे। मेम्बर अफसर को अयोग्य कहेगा और अफसर मेंबर को। इस प्रकार की जांच से जनता को न तो आश्वासन होगा और न विश्वास। केवल कुछ की विचार-दुर्बलता के साथ मानसिक-जड़ता भी प्रकट होगी।

हमने जिस विभाग, जिस पदाधिकारी या जिस कार्यकर्ता को सुयोग्य समझा है और

लिखा है, उसके लिए हमारे यदि पास इतने अधिक प्रमाण हैं कि हम अपने विश्वास पर दृढ़ हैं। यदि कोई हमारे मत का विरोध करता है तो उसे सप्रमाण और खुलकर कोई बात करने का साहस होना चाहिए। अन्यथा, पक्षपाती प्रलापों को अनसुनी करना ही उचित है। इस प्रकार से प्रलापी ही अपमानित होता है।

[संपादकीय। 'जागरण', 20 मार्च, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

जर्मनी का भविष्य

जर्मनी में नाजीदल का अद्भुत विजय के बाद यह प्रश्न उठता है कि क्या वास्तव में जर्मनी फासिस्ट हो जावेगा और वहां नाजी-शासन कम से कम पांच वर्ष तक दृढ़ रहेगा? यदि एक बार नाजी शासन को जमकर काम करने का मौका मिला तो वह जर्मन के प्रजातंत्रीय जीवन को, उसकी प्रजातंत्रीय कामना को अपनी सेना और शक्ति के बल पर इस तरह चूस लेगा कि फिर पच्चीस वर्ष तक जर्मनी में नाजी दल का कोई विरोधी नहीं रह जावेगा। संभव है तब तक राजसत्ता भी स्थापित हो जावे। कैसर जर्मनी आने की अनुमति मांग रहे हैं। कैसर के पुराने सेवक हिण्डेनबर्ग राष्ट्रपति हैं। नाजीदल का उपाध्यक्ष कैसर का पुत्र है। राजभवनों पर सम्राट का पुराना झण्डा फहराया जा रहा है। ऐसी दशा में फ्रांस और यूरोप की अन्य शक्तियों के लिए जर्मनी बड़ी चिंता का विषय हो रहा है। वार्सेल्स सन्धि के अनुसार जर्मनी सम्राट् का झण्डा भी नहीं फहरा सकता। कैसर को देश निकाला भी सभी राष्ट्रों की सम्मति से हुआ है, पर नाजी नेता हिटलर को इन बातों की चिंता नहीं। शासन अपने हाथ में आते ही वह फ्रांस से सैनिक प्रतिबन्ध के प्रश्न पर झगड़ बैठा है। जिस कारण लन्दन के पत्र ने 'निरस्त्रीकरण' सम्मेलन को निर्जीव संस्था घोषित कर दिया है। कर्ज़ के विषय में हिटलर एकदम चुप है— मानो वह उसको कोई महत्त्व ही नहीं प्रदान करता। इसलिए आशंका यह है कि बात बढ़ ही जावे। जर्मनी में नाजी दल की नाजायज़ सेना का तीव्र दमन और सभी विरोधी शक्तियों को चुनाव के पूर्व कुचल डालना ही नाजी विजय का कारण है। यह कहां का न्याय था कि वर्ग वादियों को जेल भेजकर, विरोधियों को पिटवाकर, मुसोलिनी की तरह विरोधी पत्रों तक को बन्द करवाकर चुनाव कराया जावे और उसकी विजय को राष्ट्र मत की विजय कहा जावे। हिटलर मुसोलिनी का अनुकरण कर रहा है, पर मुसोलिनी के सामने वार्सेल्स की सन्धि और राजसत्ता के साथ षड्यंत्र का कार्यक्रम नहीं था। अतएव हिटलर को सावधान रहने की आवश्यकता है। भीतरी और बाहरी विरोध दोनों उसका पतन चाहते हैं। देखें क्या होता है?

[संपादकीय। 'जागरण', 20 मार्च, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

स्वदेशी बीमा-कम्पनी

स्वदेशी बीमा-कम्पनियों की वार्षिक रिपोर्ट को देखकर हमें इस बात से बड़ी खुशी हुई कि इतने थोड़े समय में ही कम्पनी ने अपना विशेष स्थान बना लिया है। कम्पनी के तीन विभाग हैं—साधारण, औद्योगिक और आकस्मिक। इन तीनों विभागों में लगभग 20 लाख के बीमे

स्वीकार हुए। प्रस्तावों की कुल संख्या 2000 के करीब है। साल में एक-एक हजार के दो भुगतान करने में बड़ी देर होती है और तरह-तरह की कानूनी उलझनें पैदा की जाती हैं। स्वदेशी बीमा-कम्पनी की यह विशेषता है कि वह बड़ी तत्परता से भुगतान कर देती है। एक विशेषता इसकी यह भी है कि इसका सारा हिसाब-किताब हिन्दी में ही किया जाता है और इस दृष्टि से यह कम्पनी वास्तव में स्वदेशी कम्पनी है। इस मशीनरी के युग में जब कि दुर्घनाओं की शंका बहुत बढ़ गई है जीवन-बीमा बहुत आवश्यक हो गया है और यह प्राणिमात्र का धर्म हो गया है कि वह किसी विश्वसनीय कम्पनी में अपना बीमा करा ले। स्वदेशी बीमा-कम्पनी ऐसी ही संस्था है। हमें इसे इसलिए और भी अपनाना चाहिए कि इसके सूत्रधार राष्ट्र के वह सेवक हैं जिन्होंने राष्ट्र-संग्राम में अपने त्याग और अनुराग का परिचय दिया है।

[संपादकीय। 'जागरण', 20 मार्च, 1933 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

तस्वीर के दो रुख

हमें बेचारे महाशय दामोदरलाल के साथ बड़ी सहानुभूति है। हम तो यहां के रईसों और अमीरों का सदाचार देखकर समझ रहे थे कि वह मनचलापन जिससे काव्य और महाकाव्य बनते थे, भारत से विदा हो गया, अब केवल घिस्सू और पिस्सू आदमी रह गये हैं और अब हमें किसी महाकाव्य के प्रादुर्भाव से निराश हो जाना पड़ेगा, क्यों आखिर पुराने जमाने के दुष्यन्त, अर्जुन और विक्रम की कथाएं कहां तक चलेंगी और फिर पुराने जमाने की बातें आप कितनी ही नई भाषा में और रहस्यवाद की कविता में लिखिए उसमें आप नयापन तो नहीं ला सकते। लेकिन महाशय दामोदरलाल जी का खुदा भला करे। उन्होंने एक अच्छे महाकाव्य की सामग्री जुटा दी और साहित्य समाज को उनका कृतज्ञ होना चाहिए। उनके साथ ही श्रीमती रत्नाप्रभादेवी का भी धन्यवाद देना चाहिए कि उन्होंने दामोदरलाल जी के हृदय में ऐसे क्लासिकल प्रेम की सृष्टि की। मुमताज ने वही पार्ट अदा किया मगर कितनी छीछालेदार के साथ। हंसा ने वही पार्ट अदा किया, मगर कितनी खूबसूरती के साथ। हम तो समझते हैं, दामोदरलाल जी ने जिस नैतिक साहस का इस अवसर पर परिचय दिया है और प्रेम के लिए जितना महान् बलिदान किया है वह हुस्न और इश्क के स्टेज पर भी रोज रोज नहीं नजर आता। अन्त के बारे में हम चिन्ता नहीं। जो विवाह वेद और शास्त्रों और बाजे-गाजे के साथ होते हैं उन्हीं का अन्त क्या सदैव शुभ ही होता है? अगर हंसा चतुर है और उसके चतुर होने में किसी काफिर को ही शक हो सकता है, क्योंकि उसने तजरबे की पाठशाला में यह शिक्षा प्राप्त की है तो कोई वजह नहीं कि उसका अन्त सुखमय न हो। दामोदरलाल ने गद्दी छोड़ दी सही। मगर अठारह लाख सालाना की गद्दी का वारिस हारे दरजे भी लाख दो लाख फटकार ही सकता है और क्या वह गांठ के पूरे भक्तजन जो नाथ-द्वारे के महन्त को साल में अठारह लाख देते हैं उसी महन्त के बेटे के प्रति अश्रद्धा दिखाएंगे। असम्भव ! फिर हंसा ने कुछ कम त्याग नहीं किया। वह विवाह के पहले वैष्णव-सम्प्रदाय

की दीक्षा नाथ द्वारे के महन्त से ले चुकी थी और महन्त जी की सेवा में पांच हजार की थैली भेंट कर चुकी थी। वह कच्ची गोलियां नहीं खेलती है। हां, दामोदरलाल जी के विषय में हमें कुछ सन्देह है, लेकिन हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि जिस तरह आज हम उनकी सराहना कर रहे हैं, अगर खुदा न खास्ता कोई अवसर आया तो इतनी ही तत्परता से उनके साथ सहानुभूति भी प्रकट करेंगे।

[संपादकीय। 'जागरण', 27 मार्च, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

बरार का मुआमला

मुद्दतों के बाद और लाखों खर्च करने पर हिज एक्जाल्टेड हाइनेस निजाम की अभिलाषा पूरी हो गई और बरार को उनकी भेंट करने पर सरकार ने रजामंदी दिखाई। मगर अब खबर है कि निजाम ने बरार को वापस लेने से इंकार कर दिया है। फायदे की तो कोई बात थी नहीं, केवल मन को समझाने की बात थी। हम खुश हैं कि ऐन वक्त पर हुजूर निजाम को सूझ-बूझ काम कर गयी और वह ऐसे सूबे को लेने को उत्सुक नहीं हैं जिस पर उनका नाम मात्र का अधिकार रहेगा। बाहर वाले इस तबादले से खुश न थे। अब वे भी निजाम के यश गाएंगे।

[संपादकीय। 'जागरण', 27 मार्च, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

मसौलिनी शांति व्यवस्थापक के रूप में

बरसों शस्त्र घटाने के असफल प्रयत्न के बाद अब मि. रामजे मेकडोनल्ड और सर जान साइमन इटली पहुंचे हैं और मसौलिनी ने उनके धूमधाम से स्वागत किया है। साइमन साहब भी खुश हैं और मैकडोनेल्ड साहब भी खुश हैं, मगर मुसोलिनी ने जर्मनी के विषय में जो बात कह डाली और 'वर्सेल संधि' की तरमीम की जो चर्चा कर दी, बस समझ लो कि अंग्रेज नीतिज्ञों की यह चाल भी उल्टी पड़ी। फ्रांस न राजी होगा न शस्त्र घटेंगे। फ्रांस वाले पहले ही से मसौलिनी पर अविश्वास करते हैं। अब तो उसे जर्मनी का हिमायती ही कहेंगे। शस्त्र किसी तरह नहीं घट सकते चाहे सारी दुनिया जोर लगाकर देख ले।

[संपादकीय। 'जागरण', 27 मार्च, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

महाराजा अलवर का मेमोरियल

सहयोगी 'रियासत दिल्ली' को खबर मिली है कि महाराजा अलवर हिज मैजेस्टी के पास एक बड़ा लम्बा-चौड़ा मेमोरियल भेज रहे हैं। 40 साल तक राज-संचालन के बाद अभी आपने इतना भी अनुभव न किया कि उनके खुदा पोलिटिकल एजेंट हैं और मि. इबेटसन हैं। हिज मैजेस्टी अपने कर्मचारियों पर विश्वास रखते हैं और महाराजा की खातिर से वह आज अपनी नीति न बदलेंगे।

[संपादकीय। 'जागरण', 27 मार्च, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

शक्कर मिलों की धूम

आजकल शक्कर मिलों की धूम है। जिन इलाकों में ऊख पैदा होती है वहां आए दिन नई मिलें खुलती जा रही हैं। सुनते हैं, जावा चीनी पर आयात कर लग जाने के कारण यहां के कारखानों को खूब नफा हो रहा है। किसी-किसी मिल को तो साढ़े तीन रुपये मन का नफा हो रहा है। भला ऐसा नफा देखकर व्यापारी समाज की लार क्यों न टपक पड़े। लेकिन व्यापारी-समाज को इन मिलों से फायदा हो जाय, किसानों को सरासर नुकसान ही नुकसान है। मिल के मुकाबले में वह शक्कर तैयार नहीं कर सकते और गुड़ की, शक्कर के मुकाबले में खपत नहीं। उनके लिए इसके सिवा और कोई रास्ता नहीं रह जाता कि ऊख लाकर मिल में पटक दें और जो कुछ हाथ लगे उसे भागते भूत की लंगोटी समझकर अपनी तकदीर ठोंकते हुए घर की राह लें। अभी तो वह अगहन से ही ऊख के पेराई में लगा रहता है और फागुन तक यह क्रम जारी रहता है। इतने दिनों उस रोज थोड़ा बहुत रस पीने को मिल जाता था, कुछ गुड या खांड साल भर खाने को रख लेता था और ऊख के अगोले और जूठन उसके जानवर खाते थे। उसके बदौलत गांव के गरीबों को भी थोड़ा बहुत रस पीने को मिल जाता था। और यह अगहन, पूस, माघ, फागुन चार महीने जो किसानों के लिए बड़े टाले के दिन होते हैं, रस, गुड और थोड़े से अनाज के सहारे कट जाते थे। खांड, राब या गुड़ का खर्च उसके यहां साल भर रहता है। यही उसका नाश्ता है, यही उसके मेहमानों की खातिरदारी का मान है। गुड़ के बगैर उसका निबाह नहीं हो सकता, लेकिन मिल का यह भूत उसका रक्त चूस लेता है, उसी तरह जैसे लंकाशायर के मिलों ने उसके जुलाहों और कोरियों का खून चूस लिया। मिल वाले गिनती में थोड़े हैं। वह जब चाहें आपस में संगठन करके ऊख की दर मद्दी कर सकते हैं और वास्तव में ऐसा हो भी रहा है। किसान आपस में संगठित नहीं हो सकते लाखों करोड़ों का संगठित होना असंभव सा ही है। इसलिए वे मिल वालों की दया पर पड़ने के लिए मजबूर हैं। बेचारे अपनी या भाड़े की गाड़ी पर ऊख लाद कर लाते हैं, जाड़े पाले में कई-कई दिन मिल के हाते में किसी पेड के नीचे पड़े रहते हैं और मिल के दलालों को खासी रिश्वत देकर तब अपनी ऊख तुलवा पाते हैं। अ· मिलें दनादन खुल रही हैं। और देश में उन्नति हो रही है। जो धन लाखों करोड़ों के हाथ में जाता था, वह अब थोड़े से व्यवसायियों के हाथों में जमा हो रहा है, मगर इसकी दवा किसी के पास नहीं। भारत वाले मिल न खोलेंगे तो अंग्रेज आकर खोलेंगे। किसानों के लिए कहीं शरण नहीं है। उनमें अधिकतर तो मिल वालों से पेशगी रुपये लेकर अपनी गुलामी का पट्टा लिखा लेते हैं। इसका इलाज कुछ नहीं। व्यवसाय का यह युग है और हम चाहें या न चाहें उसके चक्कर से बच नहीं सकते।

[संपादकीय। 'जागरण', 27 मार्च, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

सर हरिसिंह गौड़ का तलाक-बिल

अभी बहुत दिन नहीं हुए कि तलाक का नाम सुनकर हिन्दू समाज के कान खड़े हो जाते थे और उसे योरोप की नकल समझकर तिरस्कृत कर दिया जाता था। पर इन कई वर्षों में

बहुत बड़ा सामाजिक परिवतन हो गया है और समाज की न्याय-चेतना बहुत कुछ जागृत हो गई है। अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि स्त्री और पुरुष दोनों के अधिकार समान होने चाहिए। अभी तो यह हाल है कि पुरुष में चाहे कितने ही दोष हों, चाहे वह कितना ही लम्पट हो, उसके साथ कितना ही अत्याचार करे, औरत के लिए कहीं त्राण नहीं। वह उसकी खबर लेना छोड़ दे, अपनी दूसरी शादी कर ले, किन्तु स्त्री पर उसका अधिकार ज्यों का त्यों बना रहता है। स्त्री में रूप न हो, वह फूहड़ हो, उसके संतान न होती हो, या किसी कारण-वश उससे असंतुष्ट हो, तो उसके लिए रास्ता साफ है। लेकिन पुरुष में कितनी ही बुराइयां हो, स्त्री के लिए कहीं शरण नहीं। यह एकतरफी नीति बहुत दिन चली, लेकिन अब नहीं चल सकती। अब तो न्याय का तकाजा है कि स्त्री को भी वही अधिकार प्राप्त हों। सर हरिसिंह ने तलाक के लिए तीन कारणों का निर्देश किया है–

1 जबकि पुरुष अव्यवस्थित चित्त हो।

2 जबकि पुरुष को कोढ़ की बीमारी हो।

3 जबकि वह नपुंसक हो।

स्त्री पुरुष में मनोमालिन्य के और बहुत से कारण हो सकते हैं। उनका इस बिल में कोई जिक्र नहीं है। हम नहीं समझते, वर्तमान रूप में किसी को उससे क्या आपत्ति हो सकती है। हिन्दू-विवाह का आदर्श बहुत ऊंचा है। हिन्दू विवाह और तलाक दो परस्पर विरुद्ध बातें है, लेकिन इस आदर्श का मूल्य बहुत कम हो जाता है, जब उसके पालन का भार केवल स्त्रियों पर रख दिया जाता है। विशेषकर जब हिन्दू देवियां खुद इस बिल की मांग पेश कर रही हैं तो पुरुषों को उसे स्वीकार करने के सिवा और कोई मार्ग नहीं रह जाता। जब तक देवियां चुपचाप, बिना किसी तरह का असन्तोष प्रकट किए, अपने कष्टों को सहन करती जाती थीं, पुरुषों के पास अपने को धोखा देने का एक बहाना था। वह कह सकते थे–हमारी देवियां पतिव्रत पर इतनी जान देने वाली हैं कि चाहे पुरुष कितना ही जुल्म करे उनके मन में कोई दुर्भावना आ ही नहीं सकती। अब भी हमारी अधिकांश बहनों की यही मनोवृत्ति है, लेकिन ज्यों ज्यों उनमें शिक्षा का प्रचार हो रहा है उनमें अपनी वर्तमान अधोगति से विद्रोह उत्पन्न हो रहा और तलाक की मांग उसी विद्रोह का सूचक है। पुरुषों को अब उनसे समझौता करना होगा। उनकी शिकायतों की अवहेलना करके अब वे अपने पुरुषत्व को कलंक से नहीं बचा सकते। यह सत्य है कि तलाक प्रथा का दुरुपयोग किया जा सकता है। पश्चिमीय देशों में उसकी जो छीछालेदर हो रही है, वह हम नित्य अखबारों में देखते हैं। भारत में भी तलाक के मुकदमे अधिकांश ईसाई और एंग्लोइंडियन दम्पतियों की ओर से ही दायर किए जाते हैं, लेकिन वर्तमान हिन्दू विवाह में तो ऐसी बुराइयां आ गई हैं, नहीं तलाक बिल की जरूरत ही क्या थी।

हां, इस बिल के साथ बात का भी विचार करना आवश्यक है कि पुरुष की जायदाद में स्त्रियों का कुछ अधिकार रहे। अन्यथा ऐसा हो सकता है कि नित नए फूलों का रस लेने वाली मनोवृत्तियां तलाक को एक बहाना बना लें।

कुछ लोगों का यह कहना है कि पढ़े लिखे समाज का एक अल्प भाग ही इस बिल के पक्ष में है। इसलिए वर्तमान प्रथा में अगर सौ में दो चार शादियां दुःखमय होती हैं, तो

उन दो-चार के लिए सारे समाज को क्यों भ्रष्ट करने की चेष्टा करते हो। उन्हें हमारा यही उत्तर है कि यह बिल उन्हीं दुखमय दम्पत्तियों के लिए बनाया जा रहा है। सुखी दम्पतियों के लिए उस बिल का होना न होना दोनों बराबर है। विधवा-विवाह का बिल पास हो जाने से सभी विधवाएं विवाह तो नहीं करने लगीं। शारदा कानून ने भी तो बाल विवाह नहीं बन्द कर दिया, हां उसमें कुछ रुकावट अवश्य डाल दी। सबसे बड़ा कानून जन-मत है। लेकिन फिर भी ऐसे कानूनों का हमें स्वागत करना चाहिए जिन का उद्देश्य सामाजिक अत्याचारों को दूर करना हो।

[संपादकीय। 'जागरण', 27 मार्च, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

सादा और सफेद

जिस बात की आशंका थी, वह सामने आ गयी। सफेद-पत्र 17 मार्च को प्रकाशित हो गया। इसके विषय में हम अपनी शंकाएं प्रकट कर चुके हैं। अब हम देखते हैं कि यह प्रस्ताव शंका से अधिक भीषण है। लीडर के शब्दों में–"यह चाहे जो कुछ हो–केवल स्वराज्य नहीं है।" उसी पत्र की राय में "भारतीय सुधारक इस योजना को कभी नहीं स्वीकार कर सकते।" कलकत्ते के 'एडवान्स' के शब्दों में–"अंग्रेज सरकार ने मि० चर्चिल और उनके दल वालों को यह पर्चा बतौर इनाम दिया है। इससे पता चलता है कि भारत पर गोरे चमड़े का कितना बोझा होगा।" इसी पत्र का साथी 'लिबर्टी' लिखता है कि–"राष्ट्रीय विचार वालों को ब्रिटिश बुद्धिमत्ता के विषय में जितना संदेह था, उसको सफेद पत्र ने प्रमाणित किया है।" दिल्ली के 'नेशनल काल' की राय में–"इस पत्र के द्वारा वाइसराय को 100 हिटलर और मुसोलिनी के अधिकार मिल जावेंगे।" बम्बई का 'बाम्बे क्रानिकल" लिखता है कि–"इस पर्चे का उद्देश्य भारत के साथ किये गये वादे को पूरा करना नहीं है, पर उस गोरे आदमी का पंजा मजबूती से जकड़े रहना है।" राष्ट्रीय मुसलिम-पत्र कलकत्ते का अंग्रेजी दैनिक 'मुसलमान' भी लिखता है कि–"भारत को उस समय अधिक सुख मिलता यदि 110 पेज का यह दस्तावेज न प्रकाशित होता। हमारी राय में उदार सरकार ने विशेषकर बंगाल के मुसलमानों को उनकी 'राजभक्ति' का इनाम दिया है।"

'अमृत बाजार पत्रिका' का कथन है कि ऐसी भी बात इस सफेद पर्चे में नहीं है जिससे यह कहा जावे कि भारतीय मत का कुछ भी आदर नहीं किया गया है।

सर चिमनलाल सीतलवाद, मौलाना शौकत अली, सर पी० गिनवाला, मि० चागला, पं० हृदयनाथ कुंजरू, मि० केलकर ऐसे उदार विचार के लोग भी इस पर्चे से अति दुखी हैं। 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के एक व्यंग चित्र में इस सफेद पर्चे को 'सादा' पर्चा दिखलाया गया है। 'नेशनल काल' के अनुसार तीन गोलमेज रूपी पहाड़ खोदने पर, करोड़ रुपया खर्च करने पर, सफेद-पर्चा रूपी यह चुहिया निकली है।

देश का लोकमत भारत के भावी शासन-विधान की इस योजना से अति क्षुब्ध हो उठा है। विस्तारपूर्वक इसका विचार करना भी व्यर्थ है। इसकी ओर तो ध्यान देना उचित नहीं। यदि ब्रिटेन के सहयोग और साथ का यही हमें पुरस्कार मिल रहा है तो हम ब्रिटिश

बुद्धिमत्ता से एकबार फिर विचार करने का आग्रह करेंगे।

जरा भावी-शासन-विधान विषय में सोचिए तो ! भारत की सरकार फेडरल या संघ-सरकार होगी। उसके अध्यक्ष होंगे सम्राट् के प्रतिनिधि गवर्नर जेनरल। शासन-कार्य में इनकी सहायता के लिए एक मंत्रिमंडल होगा जिसमें ब्रिटिश भारत और रियासतों के प्रतिनिधि होंगे। गवर्नर जेनरल ही देश की रक्षा, विदेश तथा अर्थ की नीति का मुख्यता निरंकुश शासक होगा। अन्य महकमों के लिए वह मन्त्रिमंडल की सलाह से आमतौर पर काम करेगा, पर आवश्यकता पड़ने पर वह उनकी सलाह की भी उपेक्षा कर सकता है। यह मंडल भारतीय संघ महासभा के प्रति जिम्मेदार होगा। बड़े लाट अपने राज-काज के लिए तीन कौंसिलर भी रख लेंगे। समय पड़ने पर वे 'आर्डिनेंस' के बल पर शासन करेंगे। व्यापार-संबंध में, भेदभाव की नीति में वे तुरंत हस्तक्षेप करेंगे। महासभा दो होंगी। एक अपर-जिसमें 250 मेंबर होंगे जिसमें रियासतों के राजाओं के नामजद 100 प्रतिनिधि होंगे। लोअर में 375 में 125 मेंबर रियासतों के होंगे। बजट छोटी सभा से पहले निकलेगा पर यदि बड़ी सभा उसे पास न करे तो बड़े लाट दोनों सभाओं का सम्मिलित अधिवेशन बुलायेंगे। ऐसी दशा में उसकी छीछालेदर निश्चित है। देशी रियासतों की कुल जन-संख्या के आधी रियासतों के संघ शामिल होने पर, तभी संघ-राज्य की रचना होगी। इसके बाद रिजर्व-बैंक की स्थापना का होना जरूरी है। इसमें विलम्ब होने पर प्रांतीय स्वाधीनता के नाम पर आडम्बर शुरू हो जावेगा जिनमें गवर्नरों को भी वही निरंकुश अधिकार हैं। तीन प्रांतों में अपर-चैम्बर भी होगा। जैसे अभागे युक्त प्रांत में। यहां ऊपर चैम्बर के 34 मेंबरों में 17 मुसलमान और शेष हिन्दू, ईसाई, सिख, ऐंग्लोइण्डियन और यूरोपियन होंगे। प्रांतों में भी मन्त्रिमण्डल होगा जो अपने कार्यों के प्रांतीय सभा-जिसे 'लेजिस्लेटिव एसेंबली' कहा जावेगा-के प्रति जिम्मेदार होगा।

इण्डियन सिविल सर्विस, पुलिस-सर्विस आदि की नियुक्ति आज-कल की तरह भारत-सचिव ही करेंगे। अंग्रेजों की संख्या भी उतनी ही रहेगी जितनी अब है। पांच साल बाद इस प्रश्न पर विचार किया जावेगा। बर्मा का प्रश्न अछूता रह गया।

मताधिकार लोथियन कमेटी के अनुसार होगा। ब्रिटिश प्रजा केवल 14 प्रतिशत वोट दे सकेगा। यह है वह स्वराज्य जो हमें तीन साल की लगातार दिमाग रेजी के बाद मिला है।

[संपादकीय। 'जागरण', 27 मार्च, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

अभिनन्दन

श्रद्धेय के प्रति श्रद्धा का प्रदर्शन करना एक बहुत बड़ा सामाजिक कर्त्तव्य है। जो समाज जितनी ही तत्परता और सचाई के साथ इस कर्त्तव्य का पालन करता है, वह उतना ही सजीव और समृद्धिशाली बना रहता है। जहां इस भाव का अभाव है वहीं विद्वेष, विग्रह और विनाश भी बसता है। जहां इसका प्रसार है वहीं स्नेह और सौजन्य की सृष्टि हुआ करती है और मंगल-सुधा की वृष्टि भी। प्रसाद वहीं बंटता है जहां पूजा होती है, बड़े लोगों की संख्या वहीं बढ़ती है जहां बड़प्पन के सच्चे पारखी रहते हैं। इसीलिए वीरपूजा की प्रथा को हम संसार की समस्त मांगलिक प्रथाओं से बढ़कर मानते हैं। यही प्रथा हमारे अवतारवाद की भित्ति है। धर्म, साहित्य, राजनीति चाहे जिसे ले लीजिए, इनमें से प्रत्येक के कार्य क्षेत्र में

इसी प्रथा के द्वारा प्रेरणा शक्ति का प्रादुर्भाव और प्रसार किया जाता है। बुद्ध, ईसा और मुहम्मद की पूजा करके हम अपने आपको उपकृत करते हैं, महात्मा गान्धी, लेनिन और मुसोलिनी का आदर करके हम स्वयं समादृत होते हैं, तुलसी, रवीन्द्र, शेक्सपियर, रोमेरोलां और शां की लोक-विधायिनी सत्ता को स्वीकार करके हम अपने आपको बड़ा बनाते हैं। जो हमसे बड़े हैं, जिन्होंने हमको बनाया है, उनके चरणों पर श्रद्धांजलि चढ़ाकर ही हम वह वरदान प्राप्त कर सकते हैं जो हमारी जीवन-ज्योति को सदैव जगाए रहे। अतएव अपने परम पूजनीय आचार्य द्विवेदी जी की इन सत्तरवीं वर्ष गांठ के अवसर पर आज हिन्दी जगत का उल्लास देखकर हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है। यह उल्लास हमारे भविष्य की उज्ज्वलता का द्योतक है। आधुनिक हिन्दी की श्री-वृद्धि करने वाले इस तपस्वी आचार्य की यह अभ्यर्थना इस बात की सूचना दे रही है कि हम हिन्दी वाले भी अब अपने आपको पहचान सकने की क्षमता के निकट आ पहुंचे हैं। हममें सब बातें हैं, पहले ही से चली आ रही हैं, अभाव केवल इसी बात का है कि हम अपन घर के लोगों का सच्चा आदर करना नहीं जानते या जान-बूझकर नहीं करते। उदासीनता और उपेक्षा का यह रोग बड़ा ही विघातक है। यह न होता तो अभी तक हिन्दी में अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के अनेक लेखक और कवि पैदा हो चुके होते। व्यक्तित्व ब ाया नाता है, स्वयं नहीं बनता है। लोकाकांक्षा ही व्यक्तित्व की महिमा प्रतिष्ठित करती है। हमारे आचार्य द्विवेदी जी इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अपनी नि:स्वार्थ साहित्यिक साधना से उन्होंने जिस वातावरण की सृष्टि की उसके भीतर से इसी लोकाकांक्षा का प्रादुर्भाव हुआ और यही आज के हमारे इतने बड़े आह्लाद का कारण बनी। इस प्रकार की आकांक्षाओं का हमारे बीच जितना ही अधिक प्रसार होगा, हम उतने ही जल्दी अपने आपको समुन्नत बना सकेंगे। आत्म-कल्याण का सबसे बढ़कर सरल और सुन्दर उपाय है–आत्मार्पण। आज सारा हिन्दी जगत् अपने आपको आचार्य द्विवेदी जी के चरणों पर अर्पित कर देने के लिए उल्लसित हो उठा है, यह उसके सौभाग्य का सबसे बड़ा चिह है। हम हिन्दी वाले आज उनके चरणों पर पूजा पुष्प की तरह पड़े रह ा चाहते हैं, हम" आज हम जो कुछ भी हैं, उन्हीं के बनाए हुए हैं। यदि पं महावीरप्रसाद द्विवेदी न होते तो अभी बेचारी हिन्दी कोसों पीछे होती–समुन्नति की इस सीमा तक आने का उसे अवसर ही नहीं मिलता। उन्होंने हमारे लिए पथ भी बनाया और पथ प्रदर्शक का भी काम किया। हमारे ऊपर उनका भारी ऋण है और उनके चरणों पर झुक कर ही हम उसे स्वीकार कर सकते हैं–किसी अन्य प्राकर से नहीं।

इस पुनीत अवसर का भिन्न-भिन्न रूपों से उपयोग किया जा रहा है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा आचार्य के कर कमलों पर अभिनंदन 'ग्रंथ' रख रही है, प्रयाग में कुछ लोग द्विवेदी मेला का आयोजन कर रहे हैं। हमारे हृदय में भी श्रद्धा है, पर हम साधनहीन हैं। अतएव हमारे पास जो कुछ भी है, इसी को सब कुछ मान क॰ ्म अपने इस छोटे से मासिक पत्र 'हंस' का 'अभिनंदनांक' निकाल कर ही अपने आपको परितुष्ट कर लेना चाहते हैं।

पर इस 'अभिनंदनांक' के संपादक के नाते हम क्या कहें, समझ में नहीं आता। हमारा हृदय तो कृतज्ञता के भावों से इतना भरा हुआ है कि उसके भीतर वाणी-विधान के लिए कोई स्थान ही नहीं दिखाई देता। हम हिन्दी वालो पर आचार्य द्विवेदी जी के उपकारों का

बोझ लदा हुआ है—हम कुछ बोलें तो बोलें कैसे? हमारे लिए उन्होंने वह तपस्या की है जो हिन्दी साहित्य की दुनिया में बेजोड़ ही कही जाएगी। किसी ने हमारे लिए इतना किया जितना उन्होंने। वे हिन्दी के सरल सुन्दर रूप के विधायक बने, हिन्दी साहित्य में विश्व साहित्य के उत्तमोत्तम उपकरणों का उन्होंने समावेश किया, दर्जनों कवि, लेखक और संपादक बनाए। जिसमें कुछ प्रतिभा देखी उसी को अपना लिया और उसके द्वारा मातृभाषा की सच्ची सेवा कराई। हिन्दी के लिए उन्होंने अपना तन, मन, धन सब कुछ अर्पण कर दिया। हमारी उपस्थित उपलब्धि उन्हीं के त्याग का परिणाम है।

द्विवेदी जी का व्यक्तित्व बड़ा ही प्रभावशाली है। मुखमंडल पर दृष्टि डालते ही यह बात स्पष्ट मालूम हो जाती है कि उनमें रचनात्मक शक्ति कूट-कूट कर भरी हुई है, वे सच्चे युग प्रवर्तक हैं, उनमें क्रांति ले आने की विलक्षण क्षमता है। उन्नत ललाट, घनी भौंहें, रोबदार मूछें, रसभरी गंभीर आंखें और जल्द-गंभीर वाणी उनकी विशिष्टता ज्ञापित करती है और देखने से ऐसा मालूम पड़ता है मानो किसी ऐसे व्यक्ति के पास हैं जो हमारे लिए हमारे बीच भेजा गया है—जो सब तरह से हमारा ही है।

स्वभाव से अत्यन्त दृढ़-प्रतिज्ञ और हृदय से परम कोमल, वे हमारे अपने हैं, इस बात को हिन्दी जगत उसी दिन मान गया था, जब वे 'सरस्वती' में थे। उन दिनों वे हम सबको पिता की तरह शासित किया करते थे और माता की तरह प्यार। वे हमें हमारी गलतियों पर फटकारते थे, उन्हें प्रेमपूर्वक सुधार देते थे और हमारी सफलता पर हमें प्रेम के मोदक भी खिलाते थे। उन्होंने ठोंक-ठोंक कर हमें सुधारा, पुचकार-पुचकार कर ठीक रास्ते पर चढ़ाया और उत्साह दे-देकर आगे बढ़ाया। इन सबके बदले आज हम उनका जितना भी सत्कार करें थोड़ा है। यदि आज वे बंगाली होते, तो बंगाल के विश्वविद्यालय उन्हें डी लिट आदि सम्मानित पदवियों से विभूषित करके अपना गौरव समझते। पर हमारे प्रांत के और और विश्वविद्यालय की तो बात ही क्या, हमारा अपना हिन्दू विश्वविद्यालय जिसके प्राण स्वयं महामना मालवीय जी हैं—कभी इस प्रकार का गौरव अनुभव करेगा या नहीं, कह नहीं सकते। इतना ही कहने की इच्छा होती है कि इसे ऐसा करना चाहिए।

'हंस' का यह अभिनंदनांक कैसा हो पाया है, इसके संबंध में हम कुछ कहने का अधिकार नहीं, इतना ही निवेदन कर दिया चाहते हैं कि यह श्रद्धेय द्विवेदी जी के प्रति हमारी आंतरिक श्रद्धा का विनम्र निवेदन मात्र है। और हमसे इतना भी नहीं बन पड़ता, यदि हमारे कृपालु लेखक और कवि हमारी सहायता न करते। अपनी साहित्यिक संस्कृति की रक्षा के लिए हम समय-समय पर इस प्रकार के अभिनंदनात्मक साहित्य की महत्ता स्वीकार करते हुए आचार्य द्विवेदी जी की दीर्घायु के लिए परमात्मा से प्रार्थना करते हैं और इस बात की कामना करते हैं द्विवेदी जी की लगाई हुई यह बेल चिरकाल तक फूलती-फलती रहे।

[संपादकीय। 'हंस', अप्रैल, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' खण्ड 2 में संकलित।]

क्या कविता नारियों का ही क्षेत्र है?

अगर श्रीमती सरोजनी नायडू बुलबुले-हिन्द हैं, तो श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान को हिन्दी की बुलबुल मानने में किसको कलाम हो सकता है। हाल में प्रयाग में कवयित्रियों का

सम्मेलन हुआ था। श्रीमती सुभद्राकुमारी उसकी प्रधान थीं। उस अवसर पर उन्होंने एक बड़े मार्के की वक्तृता दी, जिसमें उन्होंने यह दावा पेश किया कि कविता भाव की वस्तु है और नारियां भाव-प्रधान होने के कारण जितनी सुन्दर रचना कर सकती हैं, पुरुष नहीं कर सकते, क्योंकि उनकी प्रकृति में कठोरता है। माना, लेकिन फिर कवयित्रियों की संख्या इतनी कम क्या है? प्राचीन काल में औरतों में शिक्षा का अभाव न था, फिर भी स्त्री कवियों के नाम बहुत कम आते हैं। हिन्दी में तो एक मीराबाई ही मिलती है। वाल्मीकि, तुलसी और होमर क्या पुरुष न थे?

[सम्पादकीय। 'हंस', अप्रैल, 1933 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

श्री प्राणनाथ विद्यालंकार की अद्‌भुत खोज

श्री प्राणनाथ जी उन मनुष्यों में हैं, जो कठिनाइयों और बाधाओं से भयभीत नहीं होते। आपने मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में पाए गए शिलालेखों और लिपियों से यह बात सिद्ध की है कि आर्यों ने मिस्र की चित्र-लिपि से अपनी वर्णमाला नहीं निकाली जैसा साधारणत: भ्रम है, और जैसा पश्चिम के विद्वान कहते हैं। आज के पांच-छ: हजार वर्ष पहले शैव उपासना प्रधान था और मोहनजोदड़ो में जो लिपि प्राप्त हुई है, वह उसी उपासना की क्रियाओं और भावों से निकली है और यही लिपि पश्चिम में पाई जाने वाली प्राचीन लिपि से बहुत कुछ मिलती जुलती है, साइप्रस और क्रीट आदि द्वीपों में उसी तरह के लेख पाये गये हैं। इससे प्राणनाथ जी इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि पश्चिमी लिपि भी उन्हीं शैव उपासना वाले चिह्नों से निकली है, और आज के पांच-छ: हजार वर्षों पूर्व उन पश्चिमी स्थानों में भी शैव उपासना ही प्रधान थी। उस समय चंद्र-उपासना भी होती थी और सिन्ध, सिनाई, साइप्रस आदि नाम इस बात के प्रमाण हैं कि 'सिन' या चंद्रोपासना से इनका घनिष्ठ संबंध है। हमें विश्वास है जब यह खोज पूरी हो जाएगी तो उससे इतिहास के एक महत्वपूर्ण विषय में बहुत कुछ परिशोध करना पड़ेगा।

[सम्पादकीय। 'हंस', अप्रैल 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

अमेरिका फिर गीला हो गया

अगर कोई हमसे पूछे कि ईसाई धर्म की सबसे प्रमुख विशेषता क्या है, तो हम कहेंगे शराब का इस्तेमाल। इसलाम की विशेषता प्याज हो या न हो, लेकिन ईसाई धर्म के विषय में तो कोई संदेह नहीं। हमारे यहां जितने भाई ईसाई हो गये हैं, उनमें अगर कोई परिवर्तन देखते हैं तो यही कि अब वह शराब पीने लगे हैं। हिन्दू धर्म ने शराब का निषेध किया, इस्लाम ने भी शराब का निषेध किया, मगर हजरत ईसा ने खुद शराब पी और पिलाई और उन्हें आज यह देखकर अवश्य ही आनन्द आता होगा कि उनके उपासक और कोई उपदेश मानें या न मानें शराब धड़ल्ले से पीते हैं, जो उनके धर्म का एक अंग है। रूस ने ईसाई धर्म को छोड़ दिया, तो वहां शराब कैसे रहती। वहां न धर्म है न शराब। अमेरिका ने ईसाई रहते हुए भी शराब छोड़ी थी, लेकिन आखिर ईसाई धर्म की विजय हुई और अमेरिका को भी गीला बनना

पड़ा। नए प्रैसिडेंट मि० रूजवेल्ट को अवश्य ही ईसाई शहीदों में स्थान मिलेगा। एक बड़े ऊंचे पादरी साहब ने मदिरा-निषेध के विरुद्ध भाषण करते हुए कहा है–

1919 में निषेध के पहले संयुक्त अमेरिका के कृषकों की आमदनी साढ़े पंद्रह अरब डालर थी। 1931 में उस आमदनी में साढ़े आठ अरब की कमी हो गई। 1919 में किसानों को जहां एक डालर कर देना पड़ता था, वहां 1931 में अढ़ाई डालर देना पड़ा। इस तरह निषेध के इन दस वर्षों में वहां के कृषकों को कुल पचपन अरब की हानि उठानी पड़ी। वहां की सरकार की भी लगभग पांच अरब डालर कर में कमी आ गयी।

अब देखिये निषेध के कारण बेकारी कितनी बढ़ी–1916 में केवल शराब खींचने के लिए दस करोड़ बुशेल गल्ला खर्च होता था। निषेध के इन सोलह सालों में पौने दो अरब बुशेल अनाज कम पैदा करना पड़ा, क्योंकि शराब बन्द था। अब यदि एक किसान एक साल भर में एक हजार बुशेल अनाज पैदा करे, तो इस निषेध के कारण कोई सत्रह लाख आदमी बेकार हो गए। और इस निषेध को व्यवहार में लाने के लिए सरकार को पचास डालर सालाना खर्च करना पड़ता था।

जिस निषेध से इतनी हानि हो रही थी, उसे क्यों न उठा दिया जाय?

खुशी की बात है कि हमारे योग्य मिनिस्टरों ने शराब की ब्रिक्री बढ़ाकर अपनी धार्मिक उदारता का परिचय दिया है। हमें आशा है कि वह भी आंकड़ों से दिखा सकेंगे कि शराब की बिक्री से जनता का कितना भला होगा और सरकार की आमदनी में कितनी वृद्धि होगी और सबसे बड़ी बात यह है कि बेकारों की संख्या कितनी कम हो जायेगी ! उचित समझें तो अमेरिका से ऐसे उपदेशक बुला लें और जनता में शराब का प्रोपेगेंडा शुरू कर दें ! हम समझते हैं, वर्णाश्रम संघ में भी ऐसे सौ दो सौ महोपदेशक आसानी से मिल जायेंगे। आमदनी की इस मद में वृद्धि की जितनी गुंजाइश है, उतनी और किसी मद में नहीं। नमक और आमदनी और डाक आदि पर कर बढ़ाकर आय में करों में थोड़ी ही वृद्धि होती है, और हाय-हाय बहुत मचती है। शराब की बिक्री थोड़े से प्रोपेगेंडा से कई गुनी बढ़ सकती है और क्या मजाल की कोई चूं भी करे !

[संपादकीय। 'जागरण' 3 अप्रैल, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' 2 भाग में संकलित।]

टेहरी और बद्रीनाथ का मन्दिर

27 मार्च को रायबहादुर विक्रमाजीतसिंह के प्रश्न के उत्तर में सरकार ने एक सूची बनाई है जिससे यह प्रकट होता है कि इस समय देश की अधिकांश जिम्मेदार संस्थाएं यह चाहती हैं कि बद्रीनाथ जी का मन्दिर टेहरी रियासत के हाथ में चला जावे। हमारे सहयोगी 'भारत' में इस विषय में कई सुन्दर लेख प्रकाशित हो चुके हैं। युक्त प्रान्तीय कौंसिल के भूतपूर्व उपाध्यक्ष श्रीयुत मुकुन्दीलाल ने अपने सूचनापूर्ण लेख में यह दिखाया था कि हिन्दुओं के इतने पवित्र तीर्थ को एक महंत के हाथ में रहने देना नितांत अनुचित है। गढ़वाल के पंडित ज्योतिशरण रटौरी के लेख से यह प्रकट हुआ था कि टेहरी राज्य ही वर्षों से इस मन्दिर का पालन कर रहा है, राज्य के अधिकार परंपरागत हैं तथा राज्य का मन्दिर के प्रबंध में

अधिकार न होने पर भी, उसी के दान से मन्दिर का पोषण होता है। इसीलिए श्रीभारत धर्म महामंडल, काशी; अम्बाला सनातनी सभा; अम्बाला; बंगाल धर्म महामंडल; कलकत्ता; देवप्रयाग के पंचपण्डा; बद्रीनाथ; पंजाब प्रान्तीय महावीर दल सम्मेलन; लायलपुर, सनातनधर्म सभा; चुरिवालां; दिल्ली; सनातन धर्म प्रतिनिधि सभा; अहमदाबाद इत्यादि संस्थाओं ने एक स्वर से इसका समर्थन किया है कि मन्दिर राज्य को मिल जावे। इसके विरोधियों की संख्या कम है और इतनी महत्वपूर्ण नहीं है। सरकार ने इस विषय को जुलाई की कौंसिल की बैठक के बाद तय करने का निश्चय किया है।

हम यह नहीं चाहते कि हमारा कोई भी मन्दिर या संस्थाएं जनता की रक्षा या देख-रेख से निकल जावें, पर किसी एक महंत या 'रावल' के हाथ में हिन्दूजगत् के सर्वोच्च तीर्थों में से एक स्थान रहने देना नितांत अनुचित प्रतीत होता है। मन्दिर टेहरी राज्य का है, यह निश्चित सा है। अतएव आशा है, सरकार इस विषय की पूरी जांच कराकर उचित निर्णय करेगी। यह मन्दिर समूचे भारत के लिए महत्व का है।

[संपादकीय। 'जागरण', 3 अप्रैल, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

सहयोग या संघर्ष

जीवन के लिए संघर्ष का उतना ही महत्व है, जितना सहयोग का। कितने ही ऐसे काम हैं, जिनमें सहयोग से कहीं बढ़ाकर संघर्ष काम देता है, लेकिन देखना यह है कि कौन-सी नीति मानवता के अनुकूल है और कौन उसके प्रतिकूल। लड़के को पढ़ाने-लिखाने में प्यार और मार दोनों ही अपनी-अपनी जगह कल्याणकारी हैं, लेकिन प्यार हर समय के लिए है, मार केवल विशेष अवसरों के लिए। हम प्रात:काल बच्चे का चुम्बन लेकर प्रसन्न होते हैं, लेकिन ऐसा तो शायद बहुत कम होता है कि सवेरे उठते-उठते लड़के को दो-चार चांटे लगाकर हम अपनी दिनचर्या शुरू करें। हम बच्चे को मारते भी हैं तो इसलिए कि उसे ज्यादा प्यार कर सकें। डाक्टर हमें नश्तर लगाता है तो इसीलिए कि फिर उसे नश्तर लगाने की जरूरत न पड़े। हम बच्चे को मारने के लिए नहीं मारते और न सरजन नश्तर लगाने के लिए नश्तर लगाता है। सहयोग प्राप्त करने का एक साधन संघर्ष हो सकता है और होता है, लेकिन संघर्ष पर जीवन और समाज की बुनियाद डाली जाय और संघर्ष को ही विकास का मूल तत्व समझा जाय, यह तो कभी हितकर नहीं हो सकता। डार्विन साहब ने संघर्ष-सिद्धांत का आविष्कार करके मानव-जाति में उस पशुता को एक सहारा दे दिया और उस प्रगति को रोक दिया, जिधर उसका स्वाभाविक विकास उसे लिए जाता था। संघर्ष पशुता का लक्षण है, सहयोग मानवता का। हमें उत्तरोत्तर पशुता से मानवता की ओर जाना चाहिए था, लेकिन संग्राम के इस सिद्धांत ने उस पशुता को एक नई शक्ति प्रदान कर दी और उसी का यह फल है कि आज भूमंडल पर संघर्ष की दुहाई सुन रहे हैं। इसने हमें कुछ ऐसा सम्मोहित कर दिया है कि इच्छा न रहते हुए भी हम उसी ओर खिंच जा रहे हैं। आज Exploitation का जो बजार गर्म है, वह संघर्ष-सिद्धांत का सबसे विनाशकारी अंग है। हमने अपने स्वार्थ की बाग छोड़ दी है, और इसकी कुछ परवाह नहीं करते कि वह कितने बोये हुए खेतों को

रौंदता, कितने जीवों को कुचलता चला जा रहा है। योरोप से हमने अगर कुछ सीखा, तो वही सीखा, जो उसकी संस्कृति का सबसे निकृष्ट पहलू था। अभी बहुत दिनों की बात नहीं है कि हमें पश्चिम की सभी चीजें अपनी सभी चीजों से बढ़िया लगती थी। उनका रहन सहन, उनके रीति-रिवाज, उनके खान-पान सब में हमारे लिए एक न रुकने वाला आकर्षण था। योरोप वाले देर में सोकर उठते हैं, इसलिए हमें भी देर में सोकर उठना चाहिए ! योरोप वाले हरदम कपड़े पहने रहते हैं, इसलिए हमें भी कभी नंगे बदन न रहना चाहिए ! योरोप वाले खूब शराब पीते हैं, इसलिए शराब पीना भी संसार पर विजय पाने का एक मंत्र है ! वही एकांत प्रेम, वही अपने से नीचे दरजे के आदमियों से पृथक् रहने की आदत, वही मुंह में सिगार दबा कर चलना, गरज हमने बन्दरों की तरह पच्छिम वालों की नकल शुरू की और अभी तक करते जा रहे हैं। हमारे नेता और अगुआ जब उस प्रवाह में न संभल सके तो छोटे-छोटे साधारण आदमी क्या संभलते? धीरे-धीरे समय ने हमको बताया कि योरोप में सब कुछ सोना ही सोना नहीं है, उसमें कांसा-पीतल भी है। हम अपने खोए हुए आत्मसम्मान को फिर अपनाने लगे, हमारी नजरों से वह सम्मोहन हटा और हमें कुछ विचार करने की शक्ति आई। महात्मा गांधी ने आकर मानो उन बिखरी हुई आकारहीन भावनाओं को मूर्तिमान कर दिया और योरोप की बुराइयां भी हमें नजर आने लगीं। लेकिन संघर्ष का जो विष संसार की वायु में घुल गया है, उससे हम बचना चाह कर भी नहीं बच सकते। हमारे शासन विधान में, हमारी व्यापारिक संस्थाओं में, हमारे निजी व्यवहार में, संघर्ष अपना नग्न नृत्य कर रहा है। शक्तिवान् और शक्तिवान्, धनवान् और धनवान् होना चाहता है और वह निर्बलों को कुचलता हुआ आगे बढ़ेगा। वह पड़ोसी के बराबर नहीं रह सकता, उससे बढ़कर रहेगा, उसे उखाड़ फेंकेगा। उसे अधिकार चाहिए। सोते, जागते वह अधिकार का स्वप्न देखता है और अधिकार के आगे ही सिर झुकाना जानता है। सच्चाई का बल, दीनता का बल उसके सामने कोई महत्त्व नहीं रखता है, इसे वह दुर्बलता समझता है। उसके सामने केवल पशुबल का महत्त्व है। उसी से भयभीत होता है। उसी की पूजा करता है। उसका बढ़ा हुआ अहंकार उसकी आंखों के सामने भूत की तरह खड़ा है। ब्रह्मांड में व्याप्त एक चेतना है, इसे वह स्वीकार नहीं करता। प्राणी प्राणी में एक दूसरे को खा जाने के सिवा और कोई भावना है, इसे वह नहीं मानता। ममता का एक पतला परदा जो उसे व्यापक सत्य से पृथक् किए हुए है, उसे उसने एक किला बना लिया है, जहां बैठा हुआ वह दूसरों पर हमले करता है और खुद हमलों से बचा रहता है।

हमारे सामने जो श्वेत पत्र रखा गया है, उसके एक-एक शब्द में यही संघर्ष की भावना भरी हुई है। भारत दुर्बल है, असंगठित है, इसलिए उसे क्यों उभरने दिया जाय? संघर्ष का अविश्वास से प्रेम है ही। इस विधान के एक-एक शब्द से भारतीयों के प्रति अविश्वास टपक रहा है। चूंकि भारत दबाया जा सकता है, उसे दबाए रखना चाहिए। भारत पर विश्वास करके, उसके उद्धार में सहयोग देकर संसार में नवयुग लाया जा सकता है, संघर्षी इंग्लैंड में इतनी कल्पना नहीं है। भारत तबाह हो जाय, उसके साथ चाहे इंग्लैंड खुद तबाह हो जाय, पर भारत पर अपनी गिरफ्त ढीली नहीं की जा सकती। इंग्लैंड की बिल्कुल उस शक्की आदमी की-सी दशा है, जो अपनी स्त्री पर अविश्वास करके उसे कोठरी में बंद रखता है,

कहीं जाता है, तो कोठरी के द्वार पर ताला डाल देता है। ऐसी स्त्री सुखी नहीं रह सकती, लेकिन क्या ऐसी स्त्री का पुरुष सुखी रह सकता है?

[संपादकीय। 'जागरण', 3 अप्रैल, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

हमारी संस्थाओं में व्यक्तिगत द्वेष

भारत में ऐसी बिरली ही कोई संस्था होगी जिसके प्रमुख संचालकों में द्वेष न हो। मतभेद होना बुरी बात नहीं, लेकिन जब यह मतभेद द्वेष का रूप ले लेता है, तो औचित्य का उसे ध्यान नहीं रहता। तब वह व्यक्तिगत आक्षेप करने लगता है और अपने प्रतिद्वंद्वी को जनता की निगाहों में गिराने या उसे तबाह कर देने के लिए झूठे आक्षेप करने में भी वह नहीं झिझकता। अगर उसका प्रतिद्वन्द्वी उससे मिल कर जनता को उल्टे छुरे से मूड़ता तो उसकी आत्मा को जरा भी चोट न लगती। यह तो उसकी आन्तरिक इच्छा ही थी, लेकिन प्रतिद्वन्द्वी उसको अलग हटा कर खुद खा रहा है और वह कैसे सब्र कर जाय। तब वह धर्मात्मा बन जाता है, लम्बा सा तिलक लगाता है, अनाचार का त्याग करता है और पब्लिक को धोखा देकर अपने दुश्मन को मार भगाने में सफल हो जाता है लेकिन शक्ति हाथ में आते ही वह खुद, वही सब कुछ, बल्कि उससे भी कुछ अधिक, करने लगता है, जो उसके शत्रु ने किया था। इसलिए जब किसी बोर्ड या सभा लीग में हम किसी महानुभाव को वर्तमान कार्यकर्ताओं के विरुद्ध जहर उगलते देखें तो हमें उससे सतर्क रहना चाहिए।

[संपादकीय। 'जागरण', 3 अप्रैल, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

हिन्दी ज्ञान यात्री मण्डल की हिन्दी भाषियों से अपील

हम इस अपील को बड़े हर्ष से प्रकाशित करते हैं और हिन्दी प्रेमियों से अनुरोध करते हैं कि वे हिन्दी ज्ञान यात्री मंडल को प्रोत्साहन दें-

"लगभग पन्द्रह वर्ष हुए, दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार-आन्दोलन का श्री गणेश हुआ था। इस समय कोई चार सौ हिन्दी केन्द्र हैं जिनमें अब तक छः लाख से भी अधिक स्त्री-पुरुष हिन्दी का अध्ययन कर चुके हैं इस आन्दोलन की सफलता का सारा श्रेय पूज्य महात्मा जी को है। संभव है, यह कार्य प्रारंभिक प्रचार की दृष्टि से संतोषजनक प्रतीत हो, परन्तु राष्ट्रभाषा को यथार्थ में राष्ट्र जीवन का प्राण समझने वाले हिन्दी प्रेमीगण शायद ही इससे तृप्त होंगे। कहा जाता है, कि हिन्दी प्रचार-आंदोलन के प्रधान दो पहलू हैं—राष्ट्रीय और साहित्यिक। दक्षिण में इस समय जो हिन्दी प्रचार हो रहा है, वह राष्ट्रीय दृष्टि से गणनीय है। साहित्यिक पहलू पर अब तक कोई ध्यान नहीं दिया गया है। यही कारण है इस पद्रह वर्ष की लंबी अवधि में दक्षिण-भारतीयों की हिन्दी ओज-पूर्ण, प्रवाहमय या मुहावरेदार नहीं बन सकी। साहित्यिक पहलू पर ध्यान देने के लिए यहां तदनुकुल संस्था या व्यक्तियों का नितांत अभाव है। इस समय दक्षिण भारत में हिन्दी की सेवा करने वाले तीन सौ प्रचारकों में उत्तर भारतीयों की संख्या दस-बारह से अधिक नहीं और शेष प्रचारकों में हिन्दी को उच्च

योग्यता रखने वालों की संख्या भी अंगुलियों पर गिनने योग्य है। सबसे बड़े खेद की बात यह है कि, न उत्तर भारत के शिक्षित एवं उत्साही नवयुवकों ने इस ओर ध्यान दिया और न ज्ञानवयोवृद्ध साहित्य-सेवियों ने ही दक्षिणियों पर कृपा दृष्टि रक्खी। हिन्दी भाषियों को राष्ट्र-भाषा के प्रचार की अभिलाषा से ही नहीं, अपितु अपनी 'मातृ-भाषा' की मौलिकता को अक्षुण बनाये रखने के विचार से भी दक्षिणियों का साथ देना आवश्यक है। 'क्रान्ति' के इस युग में उन्हें तटस्थ रहकर अपनी मातृभाषा की सम्भाव्य भविष्यत् की गतिविधि पर क्रियात्मक विचार न करना देश के लिए बड़ा हानिकारक है।

'अल्पारम्भ: क्षेत्रकर:'–इस आर्योक्ति के अनुसार न्यूनता को यथाशक्ति दूर करने की दृढ़ प्रतिज्ञा से यहां 1931 ई० को 'हिन्दी-ज्ञान-यात्री-मण्डल' नामक ज्ञानार्थियों की एक संस्था स्थापति की गयी। हिन्दी प्रचारक विद्यालय, मद्रास के प्रिन्सिपल पं० हृषीकेश शर्मा जी महोदय इस संस्था के अध्यक्ष चुने गये, जो अद्यापि उस स्थान की शोभा बढ़ा रहे हैं। आप दक्षिण में हिन्दी साहित्य के बड़े पक्षपाती हैं और आपके कृपा पूर्ण प्रोत्साहन से ही प्रति वर्ष कुछ हिन्दी-प्रेमी हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाएं दे रहे हैं। आपके द्वारा मण्डल को बहुत से हिन्दी-साहित्य-सेवियों की प्रशंसनीय उदारता का परिचय मिला है। पूज्य आचार्य द्विवेदी जी महाराज ने हमारी इस आयोजना को बड़ा ही श्लाघनीय एवं समयोचित बतलाने की कृपा की है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग तथा एकाध अन्य हिन्दी संस्थाएं भी हमें यथोचित सहायता देनेवाली हैं। काशी की नगरी प्रचारिणी सभा ने अपने आधीन कुछ दक्षिणीय विद्यार्थियों को विशेष रूप से पढ़ाने का विचार किया है। इसके अतिरिक्त सर्व श्री बाबू श्यामसुन्दरदास जी, बाबू प्रेमचंद जी, श्री नाथसिंह जी, पण्डित हरिभाऊ उपाध्याय जी, पण्डित रामनरेश त्रिपाठी जी, प्रोफेसर रामदास जी गौड़, पण्डित हरिशंकर जी शर्मा, प्रोफेसर इन्द्र जी, श्री मोहनलाल 'महतो वियोग', पं० माखनलाल जी चतुर्वेदी आदि महानुभावों ने मंडल के उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक बनने का वचन दिया है। विशेष हर्ष की बात यह है कि बाबू मंगमलाल जी अग्रवाल, एम. ए. बी. एल. की कृपा से 'प्रयाग महिला-विद्यापीठ' में दक्षिण भारत की देवियों के लिए कुछ विशेष छात्रवृत्तियां प्राप्त हुई हैं। हम उक्त महानुभावों तथा संस्थाओं के संचालकों को उनकी समयोचित उदारता के लिए अपना हार्दिक धन्यवाद अर्पण करते हैं। हमें प्रतिवर्ष कम से कम दो मद्रासी युवकों को नि:शुल्क शिक्षण, भोजन तथा निवास के रूप में आश्रय देने वाले हिन्दी भक्तों तथा हिन्दी संस्थाओं की अत्यधिक आवश्यकता है। क्योंकि इस समय यहां सैकड़ों होनहार किन्तु निर्धन हिन्दी-प्रेमी हैं, जो बहुत दिनों से उत्तर भारत में ही रहकर हिन्दी की उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं। हिन्दी प्रचार-आन्दोलन का भविष्य बड़ा उज्ज्वल है और उसकी सफलता के लिए दिलो-जान से काम करने वालों की संख्या भी काफी है, परन्तु इन सच्चे राष्ट्र-सेवकों को ज्ञान दान देने वालों की संख्या अभी सन्तोषजनक नहीं है। अत: शिक्षित हिन्दी भाषियों से हमारा अनुरोध है कि आप लोग दक्षिण में हिन्दी-भाषा के 'साहित्यिक प्रचार' को आगे बढ़ाने वाले इस आन्दोलन की सहायता करें।

[संपादकीय। 'जागरण', 3 अप्रैल, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

जर्मनी में यहूदियों पर अत्याचार

योरोपियन संस्कृति की तारीफें सुनते-सुनते हमारे कान पक गए। उनको अपनी सभ्यता पर गर्व है। हम एशिया वाले तो मूर्ख हैं, बर्बर हैं, असभ्य हैं, लेकिन जब हम उन सभ्य देशों की पशुता देखते हैं तो जी में आता है कि यह उपाधियां सूद के साथ क्यों न उन्हें लौटा दी जाएं। उनकी बानरीय मनोवृत्ति ने अभी तक उनका पिंड नहीं छोड़ा। यहूदी मालदार हैं और आजकल धन ही राष्ट्रों की नीति का संचालन करता है, माना । रूस में कम्युनिज्म के फैलाने में यहूदियों का हाथ था, यह भी माना। यहूदियों ने ईसाइयों से पुरानी अदावतों का बदला लेने और ईसाई-सभ्यता को विध्वंस करने का बीड़ा उठा लिया है। यह भी हम माने लेते हैं, लेकिन इसके क्या मानी कि एक राष्ट्र का सबसे बड़ा अंग यहूदियों को मिटा देने पर ही तुल जाय। जर्मनी में नाजी दल ने आते ही आते यहूदियों पर धावा बोल दिया है। यहूदियों की दुकानें लूटी जा रही हैं, यहूदियों की जायदादें जब्त की जा रही हैं, यहूदी विद्वानों और पदाधिकारियों का अपमान किया जा रहा है। मारपीट, खून खच्चर भी होना शुरू हो गया है, और यहूदियों को जर्मनी से भागने भी नहीं दिया जाता। चारों ओर नाकाबन्दी हो गई है। वह अपने प्राणों की रक्षा नहीं कर सकते। यहूदियों ने वहां सकूनत अख्तियार कर ली है। कई पीढियों से वहां रहते आए हैं। जर्मनी की जो कुछ उन्नति है उसमें उन्होंने कुछ कम भाग नहीं लिया है, लेकिन अब जर्मनी में उनके लिए स्थान नहीं है। इतना तक न किया गया कि उनसे कह दिया जाता कि तुम लोग देश से निकल जाओ, उनका सफाया कर देना ही ठान लिया गया है। अधिकार का दुरुपयोग इसी को कहते हैं। प्रोफेसर आईन्स्टाइन जैसे विद्वानों को केवल यहूदी होने के कारण देश से बहिष्कृत कर दिया गया और उनकी संपत्ति छीन ली गई। वर्ग संग्राम का इससे भीषण रूप और क्या हो सकता है। इसके मुकाबले में भारत को देखिए। यहां हिन्दू, मुसलमान, पारसी, सब सदियों से रहते चले आते हैं। इधर कुछ दिनों से हिन्दू मुसलमान के एक दल में वैमनस्य हो गया है पर इसके लिए भी वही लोग जिम्मेदार हैं, जिन्होंने पश्चिम से प्रकाश पाया है और अपरोक्ष रूप से यहां भी वही पश्चिमीय सभ्यता अपना करिश्मा दिखा रही है। संघर्ष उस सभ्यता का तत्व है, उसमें समझौते के लिए गुंजाइश नहीं। वहां बलवान होने का अर्थ है निर्बलों को, अरक्षितों को, पीसकर पी जाना। फ्रांस ने जर्मनी पर विजय पाई और उसका तावान जर्मनी आज तक दे रहा है। उदारता और हृदय की विशलता तो जैसे उन जातियों ने सीखी ही नहीं। जिसके पास मोटा सोटा देखा उसी की जूतियां सीधी करने लगे। जिसे कमजोर पाया उसके सामने शेर हो गये। यह और चाहे जो कुछ हो, मनुष्यता नहीं है। यहां लोग साम्प्रदायिकता का अंत कर राजनीति के आधार पर पार्टियों संगठित करने के विचार कर रहे हैं। लेकिन क्या इस सांप्रदायिक संघर्ष से वह राजनैतिक संघर्ष कम भीषण है?

[सपादकीय। 'जागरण', 10 अप्रैल, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

'जागरण' का दाम पांच पैसे

'जागरण' को निकलते छः महीने हो गए। हमने हिन्दी में कोई अच्छा साहित्यिक साप्ताहिक-पत्र न देखकर ही इसका प्रकाशन स्वीकार किया था और हमें यह देखकर हर्ष होता है कि हिन्दी पाठकों ने हमारे साथ सहयोग किया। आज 'जागरण' उसका प्रेमपात्र बना हुआ है, लेकिन इसके प्रकाशन में हम अब तक दो हजार का नुकसान उठा चुके हैं। हमने बराबर बीस-पच्चीस पृष्ठ ठोस पठन-सामग्री दी है, जो इस दाम में या इससे अधिक में बिकने वाला कोई पत्र नहीं दे सकता। पृष्ठ संख्या तो उनकी बत्तीस तक होगी, या इससे भी अधिक, किन्तु उसमें पंद्रह पृष्ठ से कम विज्ञापन के न होंगे। इतना पढ़ने का मसाला केवल 'जागरण' में होता है। अगर हम लखपती होते, तो समझते, चलो जहां और सपाटे में हजारों खर्च हो जाते हैं, वहां इस शौक में भी सौ-दो सौ का नुकसान सही। लेकिन चिड़िया की जान तो लड़कों के खेलवाड़ भर ही की होती है। हम समझते हैं कि इतना बल खोने के बाद हमने इतना अधिकार प्राप्त कर लिया है कि पाठकों से कुछ सहायता मांग सकें। और वह सहायता केवल इतनी है कि जागरण के लिए आप चार पैसे की जगह पांच पैसे खर्च करें। अगर जागरण से आपको प्रेम है, तो आप एक पैसे की परवाह न करेंगे। अगर अगर प्रेम नहीं है तो आप मन में भी न पूछेंगे। एक पैसा दाम बढ़ा देने से पूरा नुकसान तो पूरा नहीं पड़ सकता, लेकिन उसमें कुछ न कुछ कमी अवश्य हो जाएगी। फिर यह बात भी अच्छी नहीं लगती कि वार्षिक ग्राहकों को तो जागरण साढ़े तीन रुपये में मिले और फुटकर खरीददारों को तीन रुपये में। बहुत से पाठक समझते हैं, कि जागरण चार पैसे में मिल जाता है तो साल भर के लिए ग्राहक कौन बने। क्यों आठ आना पैसे का घाटा उठाएं। जागरण को चार पैसे देना स्थायी ग्राहकों के साथ अन्याय है। जो सज्जन पांच पैसे देना पसन्द न करें उनके लिए दूसरा रास्ता साफ है। साढ़े तीन रुपये भेजकर साल भर के लिए ग्राहक बन जाएं, या हमें वी० पी० भेजने का आदेश भेजें। हमें विश्वास है कि पाठक हिंदी साहित्य प्रेम के नाते सप्ताह में एक पैसा अधिक खर्च करने में कंजूसी न करेंगे। हम अपना समय देते हैं, अच्छी से अच्छी सामग्री जुटाने के लिए पत्र व्यवहार करते हैं, क्या इसके साथ ही पाठक यह भी चाहते हैं कि हम सौ दो सौ महीने का तावान भी देते जाएं? अगर हममें इतनी भुगतने की शक्ति होती, तो हम वह भी कर दिखाते, लेकिन हम इतने सामर्थ्यवान नहीं हैं। मगर यह न समझिए कि हम एक पैसा आपसे लेकर अपनी जेब में रख लेंगे। हमने 'जागरण' में दो-एक फोटो और कार्टून भी देने का प्रबन्ध किया है, उसका मुख पृष्ठ भी मोटे कागज पर छपेगा और इस तरह आपका पैसा हमारी जेब में न जाकर किसी रूप में आपके पास पहुंच जायगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 10 अप्रैल, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

जापान के हौसले

जबरदस्त का ठेंगा सिर पर, यह पुरानी कहावत, जापान पर ठीक उतरती है। उसने कोरिया लिया, मंचूरिया लिया, अब चीन पर दांत लगाए हुए हैं। वर्तमान युग में जनसंख्या का कोई

मूल्य नहीं। एक हवाई जहाज दस लाख की आबादी वाले नगर का सर्वनाश कर सकता है। चीन में जनसंख्या बेशक जापान की आठ गुनी है, लेकिन वह लड़ाई के समान कहां से लाए जो जापान के पास हैं। सारी दुनिया टुकुर-टुकुर ताक रही है और किसी की मजाल नहीं है, कि जापान के सामने चूं कर सके। लीग आफ नेशंस ने पहले कुछ बंदर घुड़की जमाई, लिटन-कमीशन आया, उन्नीस मेंबरों की कमेटी आई, जापान को समझाने-बुझाने की कोशिश भी की गई, मगर मनोविज्ञान का जानकार, पक्का खेलाड़ी, खूब जानता था, कि लीग कितने पानी में है। उसने लीग को धता बताया और अब चीन में निर्द्वंद्व होकर अपना सिक्का जमा रहा है। इंग्लैण्ड ने देखा जापान से लोहा लेना मुश्किल है, तो सर जान साइमन ने जापान को कठिनाइयों और परिस्थितियों से हमदर्दी दिखा दी। इटली और जापान में तनातनी है। उनमें से कोई बोल नहीं सकता। रह गया अमेरिका। वह भी डरता है, कि जापान के सामने आए और फिलिपाइंस हाथ से गया। रूस की पालिसी जनता में जाग्रति पैदा करना है और अब इसी एक पालिसी पर सब राष्ट्र आस लागाये बैठे हैं। जापान की जनता को एसा भरा जाय कि वह अपने अधिकारियों के साम्राज्यवाद में सहयोग देना छोड़ दे। अगर जापान चीन में पिट जाता तब जनता में सनसनी पैदा होती, लेकिन जब जापान की साम्राज्यवादी नीति सफल हो रही है तो जनता क्यों विद्रोह करने लगी। जनता में इतना दम होता तो इंग्लैण्ड और फ्रांस और इटली कैसे संसार पर अपना प्रभुत्व जमा लेते। हां, जापान में भी स्पेन की-सी हालत पैदा हो जाय तो अलबत्ता उसकी कोर दब सकती है, लेकिन जापान की जनता अभी अपने शासकों से इतनी बेजार नहीं है। पच्छिम वालों को चीन के मिटने का तो गम नहीं, लेकिन यह भय अवश्य है, कि कहीं चीन पर जापान का अधिकार हो गया, तो फिर एशिया में योरोप वालों के लिए कोई भविष्य न रह जाएगा। बल्कि यों कहो कि योरोप के प्रभुत्व का अन्त हो जायगा। मगर याद रहे कि चाहे चीन पर जापान का अधिकार हो या न हो, योरोप के प्रभुत्व का आधार है, उसका बाजार दिन-दिन उसके हाथ से निकलता जा रहा है। अभी तक तो भारत और चीन दो उल्लू उसके हाथ में थे। मगर चीन निकल गया तो अकेला भारत रह जायगा और भारत सारे योरोप का पेट नहीं भर सकता। लंकाशायर की आधी मिलें अभी से बन्द हैं। जो शेष हैं, वह भी दस-पांच साल में बन्द हो जाएंगी और वही हल और करघा रह जायगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 10 अप्रैल, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

माउंट एवरेस्ट की चढ़ाई

महीनों की तैयारी के बाद आखिर अंग्रेजी हवाबाजों ने एवरेस्ट की चोटी के दर्शन कर ही लिये। मंडली तीन जहाजों में बैठी और पैंतीस हजार फीट की ऊंचाई पर चढ़कर उसने एवरेस्ट की चोटी के चक्कर लगाए। वहां कितनी ठण्ड थी इसका अनुमान इसी से किया जा सकता है, कि शून्य बिंदु से चालीस दरजे नीचे तापमान था। मगर हवाई जहाज पर बैठकर एवरेस्ट की चढ़ाई का क्या महत्व। आप वहां उतर तो सके नहीं, केवल बर्फ से ढंका एक मैदान देखा होगा। यह तो वही बात हुई कि कुश्ती का फैसला गोलियों से हो जाए। यह तो कोई कुश्ती न हुई। कुश्ती में हम दांव-पेंच देखना चाहते हैं, पहलवानों का दम देखना

चाहते हैं, उनकी चुस्ती और फूर्ती देखना चाहते हैं। यह क्या कि फिट से एक गोली चला दी और मामला खतम। इस तरह तो सींकिया पहलवान भी रुस्तमे हिन्द को जमीन पर सुला सकता है। जब चढ़नेवालों की मण्डली रास्ते की कठिनाइयों पर विजय पाती, एवरेस्ट पर पहुंचती, तब हम उसकी तारीफ करते। लेकिन हम तो यही कहेंगे कि अभी तक धवलागिरि वैसा ही अजेय है और गर्दन उठाए इन तुच्छ मनुष्यों के दुस्साहस पर हंस रहा है।

[संपादकीय। 'जागरण', 10 अप्रैल, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

लखनऊ की वेश्याओं में नई जागृति

आखिर फिल्म एक्ट्रेसों की दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती देखकर वेश्याओं की आंखें भी खुल ही गईं। ये बेचारी दस-दस साल तक रियाज करें, फिर भी समाज में इनका कहीं स्थान नहीं। ये बेचारी शहरों से निकाली जाती हैं। कोई भला आदमी बिना अपनी इज्जत में बट्टा लगाए उनसे बोल नहीं सकता। लोग उनके साए से भी बचते हैं। कुछ जमींदार, ताल्लुकेदार जरूर उनके कदरदानों में थे और अक्सर सेठ-साहूकारों की महफिलों में मंगलामुखियों का आदर होता था, पर इस मन्दी ने दोनों ही का काफिया तंग कर दिया है। अब इन गरीबों का भार कौन संभाले। सरकारी नौकरों में तो इतनी जान ही नहीं रहती। हां, थानेदार और डिप्टी मैजिस्ट्रेट जरूर उन्हें सरफराज किया करते हैं, मगर ये लोग सबसे बेगार में काम लेते हैं। वेश्याओं को उनसे क्या फैज पहुंच सकता है।

उधर फिल्म की एक्ट्रेस हैं कि गाने में थोड़ा शुद-बुद आ गया, बस स्टार बन बैठीं। पत्रिकाओं में उनके चित्र निकलने लगे। पोस्टरों में उनके चित्रों पर लोगों की आंखें जमने लगेंगी। अच्छे-अच्छे समाचार-पत्रों में उनकी एक्टिंग की तारीफों के पुल बांधे जाने लगे। यों समझो कि अछूत मानो ईसाई हो गया। अब उसे कौन अछूत कह सकता है। अब वह साहब है और लोग उसे साहब कहते हैं। तो अब मंगलामुखियों ने सिनेमा पर धावा बोल देने का निश्चय किया है। और रसिकों के शहर लखनऊ की वेश्याओं ने एक संस्था की सृष्टि भी कर डाली है जिसका काम होगा कि वह वेश्याओं को सिनेमा क्षेत्र में लाए। जब सभी जातियों में जागृति फैल रही है तो वेश्याओं में क्यों न फैलती? और लखनऊ की वेश्याओं में, जो वर्तमान युग में वेश्याओं का कैपिटल है। एक बार वह सिनेमा में घुस जाएं फिर वही लोग जो उनके कोठों की ओर ताकना एब समझते हैं, तब उन्हें निमंत्रित कर अपने को धन्य समझेंगे। उनकी तस्वीरें दीवानखानों की शोभा बढ़ाएंगी। जहां थोड़े से रसिकों तक ही उनकी कीर्ति सीमित रहती थी, वहां एक ही वक्त लाखों आदमी उनके कला कौशल पर मुग्ध होंगे।

[संपादकीय। 'जागरण', 10 अप्रैल, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

श्री देवरुखकर की हार

श्री देवरुखकर हरिजन हैं और हरिजनों की ओर से बंबई कारपोरेशन के चुनाव के लिए खड़े

थे। लेकिन उनका मुकाबला एक हिन्दू सज्जन से हो गया और वह इस बुरी तरह हारे कि उनके जमानत के रुपये भी जब्त हो गए। बंबई में इस हार से हरिजन समाज में बड़ी हलचल मची हुई है। महात्मा गांधी से प्रार्थना की गई है कि वह इस प्रश्न को अपने हाथ में ले और जीते हुए हिन्दू सज्जनों को इस्तीफा देने के लिए मजबूर करें। ऐसी घटनाएं और भी कई जगह हो चुकी हैं। देहली और कानपुर में भी हरिजन मेंबरों की हिन्दुओं के मुकाबले में हार हुई थी। लेकिन बार को जनमत के दबाव से हिन्दू मेंबरों को इस्तीफा देना पड़ा। वैसा ही दबाव इस अवसर पर भी पड़ सकता है। लेकिन इस तरह जब एक आदमी चुनाव की सारी परेशानी और जेरबारी झेलकर जीते तो अलग कर देना अन्याय है। क्या ऐसा नहीं किया जा सकता कि पहले से कुछ निश्चय कर लिया जाय कि पीछे से हटने-हटाने का झंझट ही मिट जाय। अभी बोर्ड या म्युनिस्पैल्टिी में हरिजनों की संख्या नहीं के बराबर है। कोई हिन्दू उनके मुकाबले में खड़ा ही क्यों हो। उनकी निश्चित संख्या आ चुकने के बाद तब मुकाबला किया जा सकता है। अगर सजातीय हिन्दू इस तरह हरिजन उम्मीदवारों को हतोत्साह करते रहेंगे तो आपस में वैमनस्य और असंतोष बढ़ेगा और पूना के समझौते का जो उद्देश्य था वह गायब हो जाएगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 10 अप्रैल, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

सफेद कागज पर अभी और सफेदी चढ़ेगी

समस्त देश में सफेद कागज पर हाय हाय मची हुई है, यहां तक कि कानपुर की जमैयतुल-उलेमा और मुसलिम लीग भी उससे असंतुष्ट है। लेकिन इंग्लैण्ड में परिस्थिति जो रंग पकड़ रही है उससे मालूम होता है कि सफेदी कागज में तरमीम करनी पड़ेगी। मि. चर्चिल और उनकी पार्टी को कामंस में मुंह की खानी पड़ी है अवश्य, मगर कामंस के मेंबरों ने केवल संयुक्त शासन की स्कीम बनाए रखने के लिए चर्चिल के विरुद्ध वोट दिया। वास्तव में कंजर्वेटिव दल चर्चिल के साथ है और वह श्वेत पत्र का जनाजा निकालकर छोड़ेगा। जो लोग मेंबरियों और मिनिस्टरियों पर दांत लगाए बैठे हैं, उनको आजकल नींद हराम हो रही होगी। शायद दाना-पानी भी छूट गया हो। मगर मेरे हार उनके कितने ही शुभेच्छु हों, मि. चर्चिल से बैर नहीं मोल ले सकते। हम कहते हैं एसेंबली और कौंसिलों में चुनाव का झगड़ा ही क्यों रखो? क्यों न वाइसराय और गवर्नरों को अपनी मर्जी के मुताबिक मेंबर चुन लेने का अधिकार दे दो। बस, सारा झगड़ा मिटा जाता है, गवर्नर और वाइसराय को इतना अधिकार देकर फिर आप माल और पुलिस और रेल सभी कुछ में उत्तरदायित्व दे सकते हैं। ऐसे-ऐसे राजनीतिक धुरंधर जमा हैं, पर यह मोटी-सी बात किसी की समझ में नहीं आती। वाइसराय को इस काम में सर फजले हुसेन से काफी मदद मिलेगी। और सर हेली नवाब छतारी की सम्मति ले सकते हैं। हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि भारत आपके हाथ से जाने की रत्ती भर भी शंका नहीं है। यह जो चारों तरफ सफेद कागज पर हाय-हाय हो रही है इसकी मंशा तो आप समझते ही हैं। खुदा के फजल से आप राजनीति में कुशल हैं ही। जो आज गला फाड़-फाड़ कर चिल्ला रहे हैं कि सफेद-पत्र कोरा कागज

है, पीछे ले जाने वाला है, अविश्वासपूर्ण है, अपमानजनक है, वही अवसर पड़ने पर मेंबरी और मिनिस्टरी के लिए दौड़ेंगे और आपके बूट चाटेंगे। शक्तिशाली जमींदार पार्टी मुंह में चाहे जो कुछ कहे, दिल से आपके साथ है, फिर, लिबरल हैं, वह भी आपका साथ नहीं छोड़ सकते। चिंता की कोई बात नहीं। मि॰ चर्चिल से विरोध करते अपने भविष्य को संकट में डालना बुद्धिमानी की बात नहीं। लार्ड इर्विन ने तो अपने व्याख्यान में मि॰ चर्चिल को बहुत समझाया था, उनकी सारी शंकाओं का समाधान करने की चेष्टा की थी, मगर चर्चिल भी जनाब एक ही घाघ हैं। वह कब गंवारा कर सकता है कि सर होर भारत हिन्दुस्तानियों को सुपुर्द करके मीठी नींद सोवें। किसी ने शंका की थी कि आयरलैण्ड में भी तो ब्रिटिश सरकार ने ऐसा ही विधान दिया था, उसका क्या नतीजा हुआ। आयरलैण्ड में कंधा झाड़ कर अलग हो गया। फिर भारत में भी क्या वही बात नहीं हो सकती। लार्ड इर्विन ने इस शंका का कितना सुन्दर जवाब दिया कि वाह ! आपने फरमाया—

"आइरिश संधि के अनुसार हमने पदाधिकारियों को हटा लिया। भारत में वह गलती कर नहीं रहे हैं। हमने निश्चय कर दिया है, कि आजकल की तरह योरोपियनों को भारत में जगहें मिलती रहेंगी और इन अधिकारियों की रक्षा पार्लमेंट के कानून से होती रहेगी। आइरिश संधि के अनुसार हमने ब्रिटिश फौज हटा ली थी। हम भारत में ऐसा नहीं करने जा रहे हैं और इसका कारण हरेक आदमी समझता है। एक तीसरा करण यह था, कि आयरलैण्ड में वाइसराय को वह पक्के, ठोस अख्तियार नहीं थे, जो वाइसराय को भारत में प्राप्त हैं और आनेवाले विधान में भी बने रहेंगे।"

फिर भी यह चर्चिल दल वाले न जाने क्यों सर होर के पीछे पड़े हुए हैं, मगर जब वह किसी तरह नहीं मानते, तो आपको उनकी बात माननी ही पड़ेगी। आप भी मजबूर हैं इसलिए जैसा हमने निवेदन किया है, आप वाइसराय और गवर्नरों को, मंबरों को चुन लेने का अधिकर दे दीजिए। जनता द्वारा चुनाव की झंझट ही क्यों रहे और जनतंत्रवादियों को कौन पूछता है। लायड जार्ज साहब ने अपनी एक स्पीच में जनतन्त्र के विषय में जो कुछ कहा ठीक ही कहा—

"समस्त संसार में जन तंत्र का विश्वास उठ गया। आए दिन हम देख रहे हैं कि स्वाधीनता पैरों तले कुचली जा रही है मानो वह व्यर्थ की वस्तु है और एकाधिपति आ गया है जो पहले से कहीं व्यापक, कहीं निर्दय, कहीं निश्शंक है।"

[संपादकीय। 'जागरण', 10 अप्रैल, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

अविश्वास

अधिकांश भारतीय स्वराज्य इसलिए नहीं चाहते कि अपने देश के शासन में उनकी आवाज ही पहले सुनी जावे, पर स्वराज्य का अर्थ उनके लिए आर्थिक स्वराज्य होता है। अपने प्राकृतिक साधनों पर अपना अधिकार, अपनी प्राकृतिक उपजों पर अपना नियंत्रण, अपनी वस्तुओं का स्वच्छंद उपभोग और अपनी पैदावार पर अपनी इच्छानुसार मूल्य लेने का स्वत्व—यही उनकी सबसे बड़ी, सबसे पहली, सबसे उत्कृष्ट मांग है। यह मांग स्वराज्य का अंग नहीं, स्वराज्य इसी मांग का अंग है।

आज भारत में यदि स्वराज्य के लिए इतना आंदोलन हो रहा है, तो केवल इसलिए कि भारतीय यह समझने लगे हैं कि जब तक विदेशी-सत्ता है, उन्हें अपने देश की उपज का सुख लूटने का अवसर न मिलेगा, रोजगार और व्यापार चौपट हो रहेगा। अधिकांश सरकारी आय का सैंतालिस करोड़ रुपया सेना पर खर्च हो जावेगा, उधर अधिकांश भारतीय बच्चे दाने-दाने के लिए मोहताज होकर सड़क और गलियों में भूखों मरे दिखलाई देते रहेंगे। हिन्दुस्तान में इतना अनाज पैदा होता है फिर भी आधे से अधिक हिन्दुतानी दोनों वक्त भर-पेट भोजन नहीं कर सकते। इतना कपड़ा बुना जा रहा है, फिर भी कितने बच्चे ऐसे हैं जिनके तन पर इतना भी वस्त्र नहीं कि वे जाड़े में सर्दी से बच जावें ! कितनी ऐसी स्त्रियां और कन्याएं हैं जिनके पास अपना तन तक ढंकने के लिए भी वस्त्र नहीं है !

हम यह नहीं कहते कि इस लाचारी और दुर्दशा का कारण भारत में अंग्रेजी सरकार है। अंग्रेजी सरकार से भारत को अनेक लाभ भी हुए हैं, जिनका सदैव कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करना होगा, पर इस दुर्भाग्य के लिए कोई क्या कहे कि भारत की आर्थिक दुर्दशा अंग्रेजी-राज्य के समय में ही हुई और यही नहीं, इसकी बहुत बड़ी जिम्मेदारी अंग्रेजी सरकार के सिर है। और भारतीयों का ऐसा विश्वास हो गया है कि अपना शासन अपने हाथ में आने पर वे अपनी दरिद्रता में अधिक योग्यता के साथ लड़कर उसका निराकरण कर सकेंगे। भारतीय अर्थशास्त्र [illegible] बतलाता है कि अंग्रेजी सरकार अपने देश के स्वार्थ की बलि कर भारत का कल्याण नहीं कर सकती। वह उसी अंश तक भारत का कल्याण करेगी, जिस अंश तक उसके देश का स्वार्थ नहीं टकराता।

इस प्रकार स्वराज्य की मीमांसा कीजिए—स्वराज्य का अर्थ केवल आर्थिक स्वराज्य है। आज भारत का उद्योग-धन्धा पनप उठे, आज भारत के घर-घर में खाने के लिए दो मुट्ठी अन्न, पहनने के लिए दो गज कपड़ा हो जावे, आज घर-घर में केवल स्वदेशी वस्तु हो, अथक परिश्रम के स्थान पर थोड़ा विश्राम हो, जीवन में कुछ कविता, कुछ स्फूर्ति, कुछ सुख मालूम पड़े--तो कौन कल इस बात की चिंता करेगा कि भारत की पार्लमेण्ट में अंग्रेज हैं या हिन्दुस्तानी। जो भी कोई शासक हो, शासन का [illegible] चाहिए। आम [illegible] ाने से काम है पेड़ गिनने से नहीं।

हमारा यह तात्पर्य नहीं कि हमारी भी यही राय है। हम यह जानते हैं कि हमारे एक अंग की यह भी मनोवृत्ति है कि सुराज्य हो या न हो, स्वराज्य चाहिए, पर आम जनता स्वराज्य का जो अर्थ समझती है, वही हमने ऊपर दिखलाया है। जनता का विचार गलत हो सकता है, पर प्रत्येक देश की जनता की एक ही मनोवृत्ति है। इसलिए कभी साम्यवाद, कभी वर्गवाद और कभी पूंजीवाद पनप उठता है। कभी कोई नेता समूचा शासन हड़प लेता है, कभी कोई। जिस किसी ने अपनी लचर से लचर योजना का विज्ञापन कर यह सिद्ध कर दिया कि उसी को अपनाने से आर्थिक दशा जादू की तरह सुधर जावेगी, वही दल शासनाधिकार पा जावेगा।

अतएव, ब्रिटिश सरकार के लिए इस समय एकमात्र उपाय, एकमात्र पथ, जिससे वह भारतीय लोकमत को अपने पक्ष में कर सकती है, जिससे वह भारत को अपने हाथ से खोने से बचा सकती है, यही है कि भारत को आर्थिक स्वराज्य दे दे। एक बार वह बिटेन का

स्वार्थ भूलकर भारत का स्वार्थ सोच ले। एक बार वह भारतीय सेना के सैंतालिस करोड़ खर्चे को केवल पन्द्रह करोड़ वार्षिक कर दे। एक बार वह सभी विदेशी माल पर, एक सिरे से दूसरे सिरे तक, कड़ी चुंगी लगाकर भारतीय व्यापार को पनपा दे और फिर देखिए भारतीय संतुष्ट होकर क्या मांगते हैं।

संभव है, ब्रिटिश सरकार सेना चाहती हो, पर हमारे पास ऐसा कोई सुबूत नहीं है, जिससे हम यह कह सकें कि वह सचमुच ऐसा चाहती है। उसकी अभी तक की जो आर्थिक नीति रही है, वह इतनी घातक और इतनी दु:खद रही है कि इस समय हम अत्यन्त दुखी हो रहे हैं। पंजाब वाणिज्य-मंडल के अध्यक्ष मि॰ रौबर्सन टेलर ने, 10 अप्रैल को मंडल की वार्षिक बैठक में एक सूचनापूर्ण व्याख्यान दिया था। उस व्याख्यान में उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण बातें बतलाई थीं। वे कहते हैं–

'मौजूदा परिस्थिति के कारण घोर मानसिक-मंदी छा रही है। विश्वास का पुन: स्थापित हो जाना अनिवार्य है। इधर हमारे कुछ बहुत ही मंदी के वर्ष बीते हैं। देश की अधिकांश जनसंख्या किसान है और लगातार मूल्य के गिरने के कारण वह कंगाल हो गई है। फसल के बोने के व्यय की भी वसूली नहीं हो पाती। सर्वव्यापी आर्थिक मंदी से उद्योग और वाणिज्य कुंठित हो रहे हैं। देश की आमदनी भी कम हो गई है और इसलिए, बजट को संतुलित करने के लिए अर्थ-सदस्य को अप्रत्यक्ष रूप से कर लगाना पड़ रहा है जिससे उद्योग-व्यवसाय की टांग टूट गई है। इससे स्वभावत: देश में उदासीनता और शोक छा गया है। इसलिए मैं कहता हूं कि पुन: निर्माण करने के लिए विश्वास का पुन: स्थापित करना आवश्यक है। आजकल की राजनैतिक दशा भी आर्थिक दशा के साथ जुड़ी हुई और कभी-कभी हमें उसके कारण भय मालूम पड़ता है, पर यहां पर भी भिन्न-भिन्न वर्गों में जो पारस्परिक अविश्वास छाया हुआ है तथा जिसके कारण देश की प्रगति रुक रही है, देश संघ-सरकार स्वीकार नहीं कर रहा है, यदि वही अविश्वास हटकर विश्वास का भाव उत्पन्न हो जावे तो बहुत बड़ा कल्याण हो। इसके लिए मानवी चेष्टा, दृढ़ शक्ति और अपने लक्ष्य की प्राप्ति का दृढ़ व्रत चाहिए। संसार में सब प्रकार की अनुकूल परिस्थिति होने पर भी विश्वास के अभाव में कुछ नहीं हो सकता।

''देश की प्रगति के लिए दूसरी बाधा कर का अत्यधिक भार है। उद्योग धन्धा गिरा हुआ है। बेकारी चारों ओर फैली हुई है। रुपया सस्ता है, बहुतायत से मिल सकता है पर उसके उपयोग के लिए कहीं कोई साधन नहीं है। अभी तक उद्योग या वाणिज्य के कार्यों में उसका उपयोग नहीं हो रहा है। मुझे भय है कि जब तक सरकार स्वयं पथ दिखलाकर विश्वास उत्पन्न करने का उपाय नहीं दिखलावेगी, तब तक कुछ भी न हो सकेगा। अब समय आ गया है, जब सरकार गंभीरतापूर्वक यह विचार करे कि कौन-सा सार्वजनिक खर्चा देश की नई आर्थिक, द्रव्य-सम्बन्धी दशा को देखते हुए, समाज हित के लिए होगा।''

मि॰ टेलर के व्याख्यान की इस टुकड़ी की ओर हम सरकार का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। हमने ऊपर यह बतलाने की चेष्टा की है कि अब समय आ गया है, जब सरकार आर्थिक स्वराज्य को रोक नहीं सकती। हम राजनैतिक बात तो एक ओर छोड़ देते हैं, देश की आर्थिक दुर्दशा अकथनीय है और उसका कारण है सरकार की आर्थिक नीति के प्रति

जनता का घोर अविश्वास। यह अविश्वास तीव्रतम होता जा रहा है। इसको दूर करना ही चाहिए। और बिना सरकार के चेते यह अविश्वास दूर न होगा। यह दुर्दशा समाप्त न होगी। अविश्वास दूर करने का कार्य सरकार की ओर से प्रारंभ हो सकता है। वही जो चाहे कर सकती है। अब उसे इसी अविश्वास को दूर करना चाहिए।

[सपादकीय। 'जागरण', 17 अप्रैल, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

एक दुखी बाप

एक सज्जन जिनका नाम बताना हम मुनासिब नहीं समझते, हमारे पास एक पत्र लिखा है, जिससे विदित होता है कि आजकल अपनी कन्याओं का विवाह करने में पिताओं को कितनी मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। उक्त सज्जन ने हमसे उस मुसीबत का इलाज पूछा है। हम इस विषय में उतने ही निस्सहाय हैं जितने स्वयं वह हैं। हमें तो इसका एक ही इलाज नजर आता है और वह यह है, कि लड़कियों को अच्छी शिक्षा दी जाय और उन्हें संसार में अपना रास्ता आप बनाने के लिए छोड़ दिया जाय, उसी तरह जैसे हम अपने लड़कों को छोड़ देते हैं। उनको विवाहित देखने का मोह हमें छोड़ देना चाहिए और जैसे युवकों के विषय में हम उनके ऩ्ग भ्रष्ट हो जाने की परवाह नहीं करते, उसी प्रकार हमें लड़कियों पर भी विश्वास करना चाहिए। तब यदि वह गृहिणी-जीवन बसर करना चाहेंगी, तो अपनी इच्छानुसार अपना विवाह कर लेंगी, अन्यथा अविवाहित रहेंगी। और सच पूछो तो यही मुनासिब भी है। हमें कोई अधिकार नहीं है, कि लड़कियों की इच्छा के विरुद्ध केवल रूढ़ियों के गुलाम बनकर, केवल इस भय से कि खानदान की नाक न कट जावे, लड़कियों को किसी न किसी के गले मढ़ दें। हमें विश्वास रखना चाहिए, कि लड़के अपनी रक्षा कर सकते हैं, तो लड़कियां भी अपनी रक्षा कर लेंगी।

उस पत्र का एक अंश हम देते हैं और यद्यपि हमें विश्वास नहीं, कि उसे पढ़कर किसी का कुछ असर होगा लेकिन कम से कम वह संतोष तो हो जाएगा, जो अपना दुख दूसरों को सुनाकर होता है–

"मैं आजकल एक फिकर में मुब्तिला हूं मेरा खयाल है कि इलाज आपके द्वारा हो सकता है। मुझे अपनी सुयोग्य कन्या की शादी की फ्रिक है। जहां कहीं भी बातचीत करता हूं, वहीं मैं रुपयों की बड़ी तादाद की मांग होती है। आपके शहर में ही एक प्रसिद्ध रईस बाबू-रिटायर्ड डिप्टी कलेक्टर हैं, उन्होंने मुझसे पांच हजार नकद, अलावा सामान-दहेज के मांगे। आप विचार करें, कि नकद पांच हजार के ऊपर लगभग चार हजार का सामान और इतना ही ऊपर चाहिए। अगर किसी घर में तीन लड़कियां हुई तो आधे लाख रुपये उनके विवाह के लिए रख लेना जरूरी है। आप विचार कीजिए, कि कायस्थों के पास जो नौकरी करके गुजर करते हैं, इतने रुपये कहां से आ सकते हैं और फिर ईमानदारी के साथ काम करके कोई भी नौकरी करके इतने रुपये पैदा नहीं कर सकता। मैं करारदाद के सख्त खिलाफ हूं। मैंने अपने लड़के की शादी में करारदाद मुतलक नहीं किया जिसे हर शख्स जानता है। अगर करारदाद करता तो मुझे भी काफी रुपये मिल सकते थे, लेकिन लड़की

की शादी में करारदाद करने को तैयार हूं, क्योंकि मजबूरी है। इसलिए मेहरबानी करके कोई ऐसा लड़का जो तालीमयाफता तन्दुरुस्त हो और जिसके मां-बाप के विचार अच्छे हों मुझे बताइए।''

यह लाला साहब रिटायर्ड डिप्टी कलेक्टर के पास गये ही क्यों ? इसलिए कि वह भी ओहदा और दौलत देखते हैं। ऐसों के पास तो भूलकर भी न जाइए। ऐसे लड़कों को लीजिए जिनके मां-बाप सिधार चुके हैं। उनको सहायता देकर आगे बढ़ाइए और दो चार हजार जो आप दे सकें कन्या के नाम से बैंक में जमा करके लड़की को पास बुक दे दीजिए। इन जायदाद वालों के दरवाजे पर थूकने भी न जाइये। छोड़ दीजिए कन्या को सम्पन्न और सम्मानित कुल में विवाहने के मोह को। ऐसे कुलों में लड़कियां कभी सुखी नहीं रहती। विद्यालयों में बहुत से ऐसे युवक मिलेंगे जो चरित्रवान् हैं, विचारशील हैं, महत्वाकांक्षी हैं पर कोई उनकी सहायता करने वाला नहीं है। ऐसे युवकों में छांट लीजिए और उसके साथ कन्या का पाणि-ग्रहण कर दीजिए।

[संपादकीय। 'जागरण', 17 अप्रैल, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित]

काशी का म्युनिसिपल बोर्ड

आज के दो मास पूर्व जब हमने यह लिखना शुरू किया था और सरकार से यह निवेदन करना प्रारंभ किया था, कि वह बनारस म्युनिसिपल बोर्ड में उदारता तथा न्याय निष्ठा का व्यवहार करे और बोर्ड की कठिनाइयों पर विचार हुए, उसे मुअत्तल करने की कल्पना भी न कर, उसी कठिनाइयों को दूर कर, नगर तथा नगर निवासियों के स्वत्व और अधिकार के प्रति उचित आदर प्रदर्शित करे, उसी समय हम अपनी सफलता पर, अपनी आवाज के उन कानों तक पहुंच जाने पर जहां पहुंचने के लिए नौकरशाही की गगन चुम्बी दीवाल को लांघने की आवश्यकता होती है—संदेह था। हम यह जानते थे कि काशी म्युनिसिपल बोर्ड के कुछ दोष उसके अयोग्य मेम्बरों का भी है। हम जानते थे कि बोर्ड के आंतरिक शासन में कुछ दलबंदी भी हो गई है। हम यह भी जानते थे कि काशी की सड़कों का, गलियों की गलियों का, जल-कल की और चुंगी की दशा सन्तोषजनक नहीं है पर उसके साथ ही हमें यह भी मालूम था कि बोर्ड यदि चाहती भी तो नगर का सुधार, अपने प्रबंध का सुधार नहीं कर सकती थी। वह यदि चाहती भी तो अपने नगर की सड़कों को ठीक दशा में नहीं ला सकती थी। यदि वह चाहती तो जल-कल को ठीक नहीं कर सकती थी, क्योंकि बीस वर्ष से युक्त प्रान्तीय सरकार ने इस अभागे बोर्ड की, नगर की, काशी की कुछ भी स्मरणीय सहायता नहीं की है। सहायता देना अस्वीकार कर उसने उस नगर की बोर्ड को दरिद्र, इस नगर की सजावट को गंदी, इस नगर की तरक्की को अपमानजनक बना रखा है। उसने जहां तक हो सका लखनऊ को, इलाहाबाद को और कानपुर को सजा दिया। आज लखनऊ कलकत्ते के बाद उत्तर भारत का सबसे सुन्दर नगर है। आज काशी उत्तर भारत के सब बड़े नगरों में सबसे गंदा है। हमें यह भी मालूम था, कि प्रांतीय सरकार ने बीच बीच में नगर के कमिश्नर द्वारा बोर्ड को तम्बीह की, पर उसको अपना प्रबन्ध ठीक करने

के लिए कोई रचनात्मक कार्यक्रम नहीं बतलाया। हमें यह भी मालूम था कि जब कभी सरकार से यह आग्रह किया गया कि वह नगर पर भी कुछ कृपा करे, उसने खाली थैली दिखला दी।

इसके साथ ही, बोर्ड के कुप्रबन्ध की कहानी भी उतनी ठीक नहीं है, जितनी समझी जाती है। उतनी ही है जितनी प्राय. सभी सरकारी दफ्तरों में भी पाई जा सकती है, इसीलिए हमने सरकार से प्रार्थना की थी, कि वह बोर्ड के प्रश्न पर उदारता की शरण ले।

यदि समाचार पत्रों में प्रकाशित समाचार सत्य हैं, तो सरकार ने काशी की म्युनिसिपैलिटी को जब्त कर लिया। एक भारतीय के गवर्नर होते ही, नागरिकता पर यदि इतना भीषण कुठाराघात हुआ है तो बड़े खेद का विषय है। काशी का जो अनादर होना था, वह तो हो गया। आज वह, उसके नगरवासी समूचे भारत में अयोग्य सिद्ध हो गए, अपमानित हो गए। यहां के कांग्रेसी नेता इस मामले में तटस्थ हो गए, अपनी प्रतिष्ठा समझकर कांग्रेसी निर्देश समझकर चुप बैठे रहे। अन्य सम्मानित नागरिक तटस्थ बनकर नाटक देखते रहे। बोर्ड की चेयरमैनी या मेंबरी के पराजित उम्मीदवार या अन्य कारणों से असफल-निराश कुछ व्यक्ति एक ओर अपनी खिचड़ी पका रहे थे, एक ओर कुछ पथ-भ्रष्ट नए रंगरूट नागरिक अपनी ढपली पर राग अलाप रहे थे, एक ओर कुछ ऐसे मेंबरों का एक दल जिसने इन दो वर्षों में अपने वार्ड का भी कुछ काम नहीं के बराबर किया था—अपना पाप बेचारे अफसरों के सर लादने की चेष्टा कर रहा था—और हमारे नगर के एक सहयोगी पत्र ने, अपनी अस्त-व्यस्त नीति से पाठकों को अंधकार में रख छोड़ा था। उधर बोर्ड मुअत्तल हो गई, नगर की शान लुट गई।

अब क्या होगा ! असफल और निराश लोगों की बात जाने दीजिए। जिन बेचारे नवयुवकों ने नगर की मान मर्यादा की रक्षा के लिए इधर अपना तन-मन-धन लगा दिया था उनको, उनके बतलाए पथ को, न अपनाने का फल अभी कुछ समय बाद मिल सकता है। पर यदि सरकार ने हमारे हित के लिए बोर्ड को मुअत्तल किया है तो हम उससे अब यही प्रार्थना करेंगे कि कम से कम खर्च पर अब इस शासन को सम्हाले। बोर्ड को सरकारी संस्थाओं के समान जनता के लिए आतंक की सामग्री न बनाए। पुराने कर्मचारियों—अफसरों को अपनी योग्यता प्रमाणित करने या अयोग्यता सिद्ध करने का अवसर दें। हम नगर निवासियों से भी यही प्रार्थना करेंगे कि वह सरकार को कार्य में अपने भरसक पूरी सहायता दें। जो होना था, वह हो गया। जिनके पाप, जिनके अपराध और जिनकी करतूतों से यह सब हुआ, उन्हें क्षमा कर दें, और अब अपने नगर की सुव्यवस्था में सरकारी योजना की परीक्षा करें।

[सम्पादकीय। 'जागरण', 17 अप्रैल 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

गंगा सम्मेलन

हरद्वार ऐसे पवित्र तीर्थ में नालियों का, परनालों का—सबका एकत्रित मल गंगाजी में गिरता है। पुण्य-सलिला को इस प्रकार दूषित होने से बचाने के लिए बहुत दिनों से चेष्टा की जा

रही है। श्री विजयराघवाचारियर ने इसकी एक बड़ी सुन्दर योजना बनाई है, जिस पर विचार करने के लिए हरद्वार में गंगा-सम्मेलन हो रहा है, जिसमें सरकारी प्रतिनिधि भी सम्मिलित होंगे।

हरद्वार के बाद काशी ही ऐसा सर्वोच्च पवित्र नगर है, जहां नगर-भर का मल गंगा जी में गिरता है। यहां की बोर्ड ने कई बार चेष्टा कर गंगा जी को शुद्ध करना चाहा पर सरकार ने कोई सहायता न दी। हम हिन्दुओं के तीर्थ को भ्रष्ट करने में उसका भी दोष है। क्या वह काशी की ओर भी ध्यान देने की कृपा करेगी?

[संपादकीय। 'जागरण', 17 अप्रैल, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

बर्मा का पृथक्करण

गत सप्ताह गुरुवार और शुक्रवार को सैगैंग में बर्मी जनता का एक उत्साहपूर्ण सम्मेलन हुआ था। उसमें सर्व-सम्मति से निम्नलिखित प्रस्ताव पास हुए थे :

1 सम्मेलन प्रधानमंत्री की शासन-विधान की योजना को अस्वीकार करता है।

2 सम्मेलन बर्मा के भारत से पृथक्करण का पूर्ण विरोधी है।

3 बर्मा को पूर्ण जिम्मेदारी युक्त शासन-विधान चाहिए।

4 बर्मा किसी भी दशा में ह्वाइट-पेपर के आधार पर निर्मित शासन-विधान नहीं स्वीकार करेगा।

इस अवसर पर डॉ॰ बा मा का व्याख्यान बड़ा प्रभावशाली था और उसने यह स्पष्ट कर दिया कि बर्मी कभी भी भारत से पृथक् होना नहीं चाहते थे। सरकार ने इस विषय में केवल एक आंदोलन खड़ा कर रखा था। कौंसिल भी पृथक्करण का विरोध कर चुकी है। अब सरकार को चाहिए कि तुरंत बर्मा को भारतीय संघ में शामिल करे।

[संपादकीय। 'जागरण', 17 अप्रैल, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

सरकारी प्रबंध की बात

मौलवी शेख मुहम्मद शफी के प्रश्न के उत्तर में, बिहार कौंसिल में, सरकार की ओर से मि॰ जी॰ ई॰ ओवन ने यह बतलाया था कि 19 जुलाई, 1932 से, सरकारी प्रस्ताव के अनुसार मुंगेर की म्युनिसिपैल्टिी मुअत्तल कर दी गई थी। सरकारी प्रबन्ध में आते ही, उसमें पच्चीस नए अफसर रखे गए; हैड क्लर्क और अकाउंटेंट का ओहदा अलग कर दिया गया। और कोई अनुभवी अकाउंटेंट नहीं रखा गया। एक बी॰ एस॰ सी॰ पास उस स्थान पर काम कर रहा है। टैक्स वसूली के विषय में सात सौ, नौ दरखास्तें दी गईं, जिनमें से एक दिन की देर के कारण पांच सौ बीस रद्द कर दी गईं। अधिक पानी लेने का जल-कर चार आना फी हजार गैलन से बढ़ाकर दस आना फी हजार गैलन कर दिया गया है। एक 'कानूनगो' जिनको सरकार के ही शब्दों में म्युनिसिपैल्टी के काम का कोई अनुभव नहीं है, एक्जीक्यूटिव अफसर बना दिया गया है।

यह मुअत्तल होने के बाद मुंगेर की म्युनिसिपल बोर्ड की दशा है। पाठक अपना

अनुमान स्वयं निकाल लें।

[संपादकीय। 'जागरण', 17 अप्रैल, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

आर्थिक स्वराज्य

यदि भारत को आर्थिक स्वराज्य नहीं मिल रहा है, तो केवल इसी कारण कि ब्रिटेन कभी भी, अपने भरसक, भारत के हित के सामने अपने हित का हवन नहीं कर सकता। इसीलिए भारत को राजनैतिक स्वराज्य भी नहीं दिया जा रहा है, कि संभव है कि आर्थिक शक्ति भी प्राप्त हो जाय और यह दुधारू गाय ब्रिटेन के हाथ से निकल जाय।

फिर भी भारतीय अपनी मांग पर मांग पेश करते ही जाते हैं, चाहे उसे कोई सुनने वाला हो अथवा नहीं। अभी दिल्ली में 'फेडरेशन आफ आल-इंडियन चेम्बर्स आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज़' (अखिल भारतीय व्यवसाय वाणिज्य-मंडल) की बैठक में आर्थिक स्वराज्य की सर्वसम्मति मांग पेश हो गई है। इसमें कई उपयोगी प्रस्ताव पास हुए हैं। सभापति श्री बालचन्द हीराचन्द ने एक प्रस्ताव सरकार से यह प्रार्थना की थी कि स्वर्ण मुद्रा की अपनी नीति में तुरंत परिवर्तन कर दे। रुपये और पौंड का सबंध तोड दिया जाय। आपने कहा कि जब संयुक्त राज्य अमेरिका ऐसे देश भी जरूरत समझते हैं कि अपने देश का सोना बाहर जाने से रोकें, भारत सरकार को इस बात पर गर्व करना कि भारत से बाहर सोना चला गया, गौरव की बात नहीं है। श्री आर. के. सिध्वा ने कहा कि जब तक वह संबंध तोड़ नहीं दिया जायगा, तब तक बहुमत कोई भी शासन स्वीकार नहीं कर सकता। प्रस्ताव तो पास हो ही गया, पर यदि श्री के. सन्तानम का यह संशोधन पास हो जाता है कि यदि व्यापारी ही अपने पास से सोना बाहर न जाने दें तो सोना बाहर न जावे, तो और भी उपयुक्त बात होगी।

सर पुरुषोत्तमदास ने कर्मचारियों के वेतन की पांच फीसदी काट-छांट के पूरा किये जाने का विरोध करते हुए यह उचित ही कहा था कि—"जब तक सोना की बागडोर ब्रिटिश सरकार के हाथ में रहेगी, भारत दुहा ही जाता रहेगा। काट-छांट पूरा करके भारत के करदाता तथा अन्य कर देने वालों पर बहुत कड़ा बोझ लादा जा रहा है।" प्रस्ताव पास हो गया—पर क्या संभव है कि सरकार इनमें से कोई भी बात स्वीकार करेगी।

[संपादकीय। 'जागरण', 24 अप्रैल, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

काशी में पोस्टमैनों की कांफ्रेंस

काशी में पोस्टमैनों की सभा हो गई। उसने जो प्रस्ताव स्वीकृत किये उनमें सरकार से अनुरोध किया गया है कि इस विभाग में चालीस रुपये से कम वेतन पाने वालों के वेतन में किफायती कटौती न की जाय, और पोस्टमैनों की संख्या कम न की जाय। सरकार के जितने भी विभाग हैं उनमें जनता का उपकार सबसे अधिक इसी विभाग से होता है; पर जहां पुलिस विभाग में कम वेतन पाने वावालों के साथ सरकार ने उदारता का व्यवहार किया है, पोस्टमैनों के साथ किसी तरह की रिआयत नहीं की गई। उनकी जगहें बराबर तोड़ी जा रही हैं जिससे बचे हुए आदमियों पर काम का भार पहले से कहीं अधिक हो गया है। काम

बढ़ जाने पर भी उनका वेतन काटा जा रहा है। सरकार का कहना है कि इस विभाग में आमदनी कम हो गई है इसलिए आदमियों का वेतन घटाकर और उनको जगहें तोड़कर यह कमी पूरी की जायगी। लेकिन हम इस विभाग को कमाने वाला विभाग नहीं समझते, न यह उचित है कि उसे भी सरकारी व्यवसाय का एक अंग समझ लिया जाय, इस विभाग को प्रजाहित का ही अंग समझना चाहिए, उसी तरह जैसे चिकित्सा या शिक्षा-विभाग है। उसमें इतनी कमी कर देना कि जनता को कष्ट होने लगे, किसी तरह न्याय नहीं कहा जा सकता। सभा ने डाक का दर घटाने का भी अनुरोध किया। हमारा भी विचार है कि यदि पत्र, मनीआर्डर, रजिस्ट्री आदि का दर पूर्ववत् कर दिया जाय तो आमदनी बढ़ सकती है। आजकल तो पत्र लिखना बड़ी खर्चीली क्रिया है और कितने ही लोगों ने तो पत्रों की संख्या घटाते-घटाते शून्य तक पहुंचा दी है। जब यह नीति सफल नहीं हो सकी तो सरकार क्या उसमें परिवर्तन नहीं करती, इसका कारण कौन जान सकता है।

[संपादकीय। 24 अप्रैल 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

भारत के कोढ़ी

दिन प्रतिदिन विदेशों में कोढ़ का रोग घटता जा रहा है और उचित नियत्रंण से यह भीषण संक्रामक रोग फैलने नहीं पा रहा है। पर, अभागे भारत में यह बीमारी बड़ी तेजी से बढ़ रही है। कोढ़ी होकर शरीर का गल-गलकर गिर जाना, बड़ी यातना और पीड़ा के साथ जाड़ा, धूप का कष्ट सहना—यह सब एक अकथ कहानी है जिसे लिखने से रोमांच हो आवेगा। हर्ष का विषय है कि इस दिशा में भी कुछ काम शुरू हो गया है। अभी, 13 अप्रैल को कलकत्ते में, ब्रिटिश साम्राज्य कोढ़-निवारक-संघ की भारतीय कौंसिल की बैठक हुई थी। राष्ट्र-परिषद् के कोढ़-कमीशन की आज्ञा के अनुसार यह समिति भी भारत में विस्तृत कार्य प्रारंभ करने की योजना बना रही है। समिति प्रांतीय शाखाएं स्थापित करना चाहती है जिसमें सभी मान्य सार्वजनिक संस्थाओं के प्रतिनिधि होंगे। कोढ़ियों के लिए स्थान स्थान पर अस्पताल खुलेंगे। कोढ़ियों की दशा की जांच के लिए कमीशन नियुक्त होगा। कोढ़ियों के बच्चों की देख-रख का भी प्रबंध होगा।

आशा है, यह सब कार्य जनता के सहयोग से होगा और जनता भी उदारतापूर्वक सहायता करेगी। इससे बढ़कर और कोई उदार कार्य नहीं हो सकता।

[संपादकीय। 'जागरण', 24 अप्रैल, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

भारत के विरुद्ध प्रचार

अभी हाल में भारत के हितैषियों ने जेनेवा में बड़ी धूम-धाम के साथ 'भारत दिवस' मनाया था। इस अवसर पर विद्वान् वक्ताओं ने बड़े सूचना-पूर्ण व्याख्यान देकर भारत के विषय में जो चारों ओर गलतफहमी फैलाई जा रही है, उसका मुंहतोड़ जवाब दिया था। सबसे अच्छा भाषण महात्मा जी की जीवनी लिखने वाले रोमे रोलां नामक फ्रेंच पंडित की बहन मदाम

रोलां'का था। योरोप के कोने-कोने से प्रतिनिधि यहां पर एकत्रित हुए थे इस प्रयत्न का, इसके संयोजकों को, हम हार्दिक बधाई देते हैं, धन्यावाद देते है।

इस समय भारत ज्यों-ज्यां स्वाधीनता की ओर अग्रसर होता जा रहा है, उसे बदनाम करने की, हर प्रकार से उसके राष्ट्रीय दुर्गुणों को बढा-चढाकर दिखलाने की चेष्टा हमारे शत्रु कर रहे हैं। इसलिए, भारत के हितैषियों को यह आवश्यकता महसूस हुई कि वे एक दिन 'जेनेवा-दिवस' मनाकर भारत का परिचय कराए। इसीलिए लंदन में श्रीयुत पटेल ने इस बात की सलाह दी थी कि भारत के विरुद्ध विदेशी-प्रचार का उत्तर देने का प्रबंध किया जाय। इसीलिए, आज से कई वर्ष पूर्व ही अखिल भारतीय कांग्रेस के मेंबर श्री सम्पूर्णानन्द ने एक आवेदन-पत्र ही इस आशय का तैयार किया था। पं. जवाहरलाल नेहरू ने भी इस पर जोर दिया था, पर इस दिशा में विशेष प्रयत्न न हो सके और हमारे विषय में हर प्रकार के भ्रष्ट समाचारों का कोई खंडन नहीं होने पाता है।

अब कवीन्द्र रवीन्द्र ने इस प्रश्न को अपने हाथ में लिया है और यदि ईश्वर ने चाहा तो वे अपने प्रयत्न में सफल होंगे। हम अपने पाठकों से इस दिशा में पूरी सहायता की आशा करते हैं और कवीन्द्र के उन शब्दों से पूरी सम्मति प्रकट करते हैं कि—आवश्यकता इस बात की है कि देश की वर्तमान परिस्थिति का सच्चा चित्र हम विदेशों में बहुत शांति व गम्भीरता और संयम के साथ किंतु दूसरों के मुकाबले जवाब के लिए सब आंकड़ों और नजीरों के उपस्थित करें।

[सम्पादकीय। 'जागरण' 24 अप्रैल 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

सर रास मसूद

गत 18 अप्रैल को लाहौर में अखिल भारतीय मुस्लिम शिक्षा सम्मेलन का 45वां महाधिवेशन हुआ था। अध्यक्ष थे भूपाल रियासत के शिक्षामन्त्री लेफ्टिनेण्ट कर्नल मकबूल हुसेन कुरैशी।

सबसे प्रभावशाली व्याख्यान अलीगढ़ विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर सर रास मसूद का था। आपने जोरदार शब्दों में कहा था कि सरकारी सहायता का मुंह न ताककर मुसलमान स्वयं अपनी अशिक्षा दूर करें।

[सम्पादकीय। 'जागरण' 24 अप्रैल 1933 में प्रकाशित। 'प्रेमचन्द का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 में संकलित।]

हमारी गुलामी बढ़ेगी

बंगाल के भूतपूर्व लाट और भारत के कुछ समय तक स्थानापन्न बड़े लाट——लार्ड लिटन ने लार्ड्स सभा में 'ह्वाइट पेपर' पर अपना विचार प्रकट करते हुए कहा था कि 'एक पार्लमेण्ट की रचना कर उसे कोई अधिकार न देना—यह जानबूझ कर झगड़ा पैदा करना है।' लार्ड लोथियन ने इसी श्वेत-पत्र पर अपना मतव्य प्रकट करते हुए यह कहा था कि यह कल्पना

से परे की बात है कि ब्रिटेन का दमन या निरंकुशता के बल पर भारत पर शासन कर सकता है। अतएव उसे समुचित अधिकार न देना विपत्ति मोल लेना होगा। यह अधिकार किस प्रकार का होगा और कैसे दिया जा रहा है, इस विषय में लन्दन की प्रसिद्ध पत्रिका 'नाइन्टीन्थ सेन्चुरी' में मि० जी० टी० गैरट ने स्पष्टत: लिख दिया है। आपने लिखा है कि "हरेक रियासत के पीछे एक लंबी लगाम लगा दी गई है, जिसकी छोर ब्रिटिश सरकार के हाथ में है।" आपकी राय में–"वाइसराय तथा प्रांतीय गवर्नरों को जो 'अतिरिक्त और विशेषाधिकर' दिये गये हैं, वे तुरंत हमें 'लंबी डोर' की याद दिला देते हैं। सेना को सुरक्षित विषय बना लेन से राष्ट्रीय सेना की रचना का प्रश्न अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया जाता है। आर्थिक संरक्षणों से बड़ा गहरा सन्देह पैदा हो जाता है ।"

सरकारी श्वेत-पत्र के द्वारा जो अधिकार मिलने वाले हैं, उनकी यही कहानी है, यही रहस्य है, पर बात यहीं समाप्त नहीं होती। कुमारी विलकिंसन ने जेनेवा में अपने एक प्रभावशाली व्याख्यान में अभी हाल ही में कहा है कि "श्वेत-पत्र की ९०वीं धारा के अनुसार भारतीय कौंसिल, गवर्नर या वाइसराय-द्वारा स्वीकृत भी किसी कानून को बारह महीने के भीतर सम्राट की सरकार रद्द कर सकती है।" ऐसी दशा में, कुमारी जी के शब्दों में, "असली अधिकार तो ब्रिटिश पार्लमेंट को मिले हैं, भारत को कहीं कुछ भी कोई भी अधिकार नहीं मिला है।"

'इण्डियन क्रिश्चियन मेसेंजर' नामक पत्र ने, जिसे सरकार भी उग्रमत का नहीं कह सकती, इसी श्वेत-पत्र पर इस प्रकार विचार प्रकट किया है–"बहुत समय से जिस दस्तावेज की प्रतीक्षा थी, उसी श्वेत-पत्र के पन्नों को पढ़ने के बाद, उस पर लोगों की राय भी खूब समझ लेने के बाद, हम इस बात को साफ तौर पर स्वीकार कर लें कि इससे किसी प्रकार का कोई उत्साह नहीं पैदा होता है। संघ शासन प्रणाली न जाने कब तक के लिए टाल दी गयी है और वह भविष्य के गर्भ में पड़ी रहेगी। प्रांतों के गवर्नर और गवर्नर-जेनरल का एकदम निरंकुश शासन बना दिया गया है। प्रांतीय स्वाधीनता की छाया मात्र रह जाएगी, संघ व्यवस्थापक महासभा में रियासतों के नुमाइंदे भर जावेंगे, ऊंची नौकरियों की भर्ती भारत सचिव के हाथ में रहेगी, अनेक संरक्षण होंगे। और वे केवल भारत के हित के लिए नहीं होंगे। सेना और विदेशी संबंध पर ब्रिटिश गवर्नर-जनरल का एकाधिकार रहेगा। हम अपनी राय फिर जाहिर कर दें कि हमारी समझ में भारत के दु:खों के प्रति सहानुभूतिपूर्वक विचार नहीं किया गया है। हमें रोटी के स्थान पर पत्थर ही खाने को दिया जा रहा है। अभी भारत का युद्ध बहुत समय तक चलेगा।"

यदि यही बातें कांग्रेस कहती तो उसे छापना या पढ़ना भी गैर कानूनी हो जाता। यदि यही बातें हम अपनी ओर से कहते तो यह अपराध होता, पर ये विचार उनके हैं जो ब्रिटेन और भारत के समान रूप से मित्र हैं, जो दोनों की एकता में, मित्रता में, समान रूप से दोनों का हित देखते हैं। माननीय श्रीनिवास शास्त्री को कोई भी अराजक नहीं कह सकता। पर, 16 अप्रैल को कलकत्ता में लिबरल महासभा के अवसर पर, ह्वाइट पेपर पर प्रस्ताव पेश करते समय उन्होंने कहा था–"अंग्रेज यह भूल सकते हैं कि लार्ड अरविन ने भारतीयों से क्या वादा किया था, पर भारतीयों को चाहिए कि वे अंग्रेजों को उनके वादे की याद दिलाते जावें। . मैंने सत्याग्रह आंदोलन में भाग नहीं लिया था, पर मैं यह कहूंगा कि सत्याग्रह के

समान कोई आंदोलन कभी एकदम नहीं दबाया जा सकता। यदि ठिकाने से, बुद्धिमानी से उसे सुलझाया न जावे, तो एक दिन ऐसा आवेगा जब वह फिर से प्रकट हो जाएगा और तब उसे किसी तरह दबना संभव नहीं। मैं एक आत्म-शासन के अधिकार से युक्त 'कामनवेल्थ' का निवासी बनने के लिए तैयार हूं, पर वृद्ध कामनवेल्थ ग्रेट ब्रिटेन, कनाडा, दक्षिण अफ्रीका आदि के साथ समान दर्जे पर होना चाहिए। इससे कम कोई भी दशा, कभी किसी हालत में स्वीकार न होगी और इससे विरोध का बीज और भी पनपेगा।'' अंत में शास्त्री जी ने कहा–''आज जो भी राजनैतिक परिस्थिति है वह वर्तमान आंदोलन के ही कारण है। क्या हम इस आंदोलन के सैनिकों के अद्‌भुत त्याग और बलिदानों को भूल सकते हैं? क्या हम यह भूल सकते हैं कि हरेक नगर और ग्राम में पुलिस ने उनके साथ कैसा व्यवहार किया है? क्या इन सब पीड़ाओं का कोई फल न निकलेगा? सर सैमुएल होर देश की मौजूदा दशा से प्रसन्न हैं, पर वे क्या कहना चाहते हैं? क्या पुन: ऐसी परिस्थिति पैदा करना चाहते हैं जिससे यह आंदोलन उठा था?

शास्त्रीजी के अतिरिक्त मि॰ जोशी , मि जे॰ एन॰ बसु, पं हृदयनाथ जी कुंजरु–सबने एक स्वर में, एक मन होकर श्वेत-पत्र की भर्त्सना की थी। सेना के ही विषय में पंडित कुंजरु ने कहा था ''हम चाहते हैं कि हमारी सेना में सब भारतीय सिपाही और भारतीय अफसर हों।'' पर यह तो दिवा-स्वप्न है। श्रीयुत चिन्तामणि ने इस शासन विधान को, इसी अवसर 'अवैध-शासन-विधान' का नाम दिया था और इसी श्वेत-पत्र के विषय में दिल्ली में होनेवाली अखिल भारतीय वाणिज्य मंडल की राय है कि–''शासन विधान अत्यधिक दकियानूसी, पीछे ले जाने वाला और अमान्य है।'' अधिवेशन अध्यक्ष श्री बालचन्द हीराचन्द ने कहा था–''इस श्वेत-पत्र की योजना जब माडरेटों को ही स्वीकार नहीं है तो और किसे स्वीकार हो सकती है?''

यह है श्वेत-पत्र पर इस समय प्राय: सभी प्रकार के विचार वालों की सम्मति। इस सप्ताह भारत की दो प्रसिद्ध तथा जिम्मेदार संस्थाओं ने भी इसकी भर्त्सना कर दी। कांग्रेस इसकी ओर आंख उठाकर देखना भी नहीं चाहती और फिर भी हमारे अभागे देश में कुछ ऐसे भारतीय हैं, जो आशा करते हैं कि 'संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी' में इस योजना को इस प्रकार गढ लिया जाएगा कि वह भारतीयों की महत्वाकांक्षा को पूरी कर सकेगी और इसी आशा से केवल सलाहकार की हैसियत से वे लंदन जाना चाहते हैं। यदि उनकी नीयत केवल लन्दन घूमने की नहीं है, यदि वे प्रजा के पैसे से सैर नहीं करना चाहते, तो उन्हें 'इंडियन एक्सप्रेस' पत्र की इस राय से यह समझ लेना चाहिए कि संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी क्या करेगी। पत्र लिखता है–

''यदि संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी के सदस्यों के नाम की मीमांसा की जाय तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि अधिकांशत: वही इसके सदस्य हैं जिन्होंने श्वेत-पत्र के निर्माण में सहायता की है। यह कल्पना में भी बात नहीं आती कि वे इस पत्र में कोई नए विचार पैदा करेंगे, या रद्दो-बदल करेंगे।''

श्वेत-पत्र से कोई भी प्रसन्न नहीं है। इसके परिवर्तन की कोई आशा नहीं है। अतएव हमें घोर दासता के लिए तैयार रहना चाहिए।

[संपादकीय। 'जागरण', 24 अप्रैल, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

औरतों का क्रय-विक्रय

सहयोगी 'नेशनल कॉल' को उसके कानपुर के संवाददाता ने एक ऐसे दल के पकड़े जाने की खबर दी है जो औरतों का व्यापार करता है। इस दल में कई औरतें भी मिलीं। यह लोग आस-पास के जिलों से औरतों को बहकाकर या उठाकर लाते हैं और मुरादाबाद, शाहजहांपुर आदि जिलों में बेच देते हैं। इस दल में सभी नीचे दर्जे के आदमी हैं लेकिन न जाने कब से यह घृणित व्यापार इतनी होशियारी से करते चले आते हैं कि किसी को खबर न हुई। यह सब हमारे चरित्र-पतन के लक्षण हैं। हम इतने गिर गए हैं कि धनोपार्जन के लज्जास्पद तरीके निकालते रहते हैं, यहां तक कि अपनी बहनों और बेटियों के बेचने में भी संकोच नहीं करते। इस तरह की बुराइयों का मुख्य कारण आर्थिक कष्ट ही है। बेकारी दिन-दिन बढ़ती जाती है। मजूरों को मजूरी नहीं लगती, किसान तबाह हुए जा रहे हैं, पढ़े लिखे आदमी भूखों मर रहे हैं, व्यापारियों का दिवाला निकला जा रहा है। फिर ऐसी वारदातें क्यों न हों और क्यों न चकले आबाद हों। घर वालों का दुर्व्यवहार भी बहुधा स्त्रियों के पतन का कारण हुआ करता है, बल्कि अकसर तो औरतों का सर्वनाश करने वाले उनके घर के प्राणी होते हैं जो पहले तो उनको व्यभिचार का साधन बनाते हैं और पीछे से बदनामी के भय से उनको घर से निकाल देते हैं और वह अबलाएं इन्हीं दुष्टों के हाथों पड़ जाती हैं। दरिद्रता और मूर्खता की बलिहारी है।

[संपादकीय। 'जागरण', १ मई, १९३३ में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग ३ में संकलित।]

ऋण के लिए कैद की सजा

कानून में जहां और सैकड़ों अनीति भरी हुई हैं वहां एक यह भी है कि आज कोई महाजन किसी असामी को कर्ज की इल्लत में जेल भेज सकता है। कुछ रुकावटें पैदा की गई हैं जरूर पर अभी यह धारा मौजूद है। सरकार ने इस प्रश्न पर विचार करने के लिए एक कमेटी कायम की थी जिसने अपनी रिपोर्ट पेश कर दी है। देखना चाहिए उसका क्या फैसला होता है।

[संपादकीय। 'जागरण', १ मई, १९३३ में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग ३ में संकलित।]

जनसत्ता का पतन

जनसत्ता का बड़े वेग से दुनिया बहिष्कार कर रही है। रूस और पोलैण्ड, इटली और स्पेन पहले ही कर चुके हैं, अब जर्मनी भी उसे डंडे मार-मार कर निकाले देता है। कारण क्या है? हमारा विचार है कि यह डिक्टेटरशिप उस जनसत्ता से कहीं बढ़कर जनसत्तात्मक है। उस जनसत्ता में धनसत्ता का मेल हो गया था। मेल ही क्या, वह यथार्थ में धनसत्ता ही हो गई थी। जिसके पास काफी दौलत हो वह जनता के वोटरों पर किसी न किसी तरह का दबाव डाल कर घुस जाता है। धीरे-धीरे पूंजीपतियों ने उस पर प्रभुत्व जमा लिया। यही कारण है कि एक सदी तक जनसत्ता का राज होने पर भी संसार में संघर्ष-मनोवृत्ति दिन-दिन बढ़ती गई। कहने को वह जनसत्ता थी, पर यथार्थ में वह जनता को पीसने वाली चक्की थी। जनता का उस पर उतना ही अधिकार था, जितना बादलों या नक्षत्रों पर। जनता भूखों मर रही है

और उसके कर्मचारी लाखों रुपए साल वेतन उड़ा रहे हैं, और वह सारा धन जो जनता के भरण-पोषण और शिक्षण में खर्च होना चाहिए था फौजों और नौकाओं के संगठन और निर्माण में लुट जाता था। अगर आज एकतंत्र जनता के हित की रक्षा कर सकता है, तो वह जनसत्ता लाख दर्जे अच्छा है।

[संपादकीय। 'जागरण', 1 मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

जापान के माल का बहिष्कार

बंबई के मिल मालिकों ने जापानी कपड़े का बहिष्कार-बिल पास कराके अपना रास्ता साफ कर लिया। अब उन्हें अख्तियार है, जितने मंहगे कपड़े चाहें बेचें और जितना चाहें लाभ उठावें। उनकी बला खर्च में किफायत करे। भारत की जनता नंगी तो रहेगी नहीं, लेकिन जापान ने भारत की रुई बन्द कर दी तो यहां के मिल-मालिक उस रुई के खरीदने का जिम्मा लेते हैं? और किसान माल न बिका तो वह कपड़ा कैसे खरीदेगा? बंबई वाले कहते हैं—जापान का भारत की सस्ती रुई के बगैर काम ही नहीं चल सकता वह झक मार कर खरीदेगा, लेकिन यह तो सोचिए कि वह रुई खरीदकर करेगा क्या? क्या अपने लिए कफन बनाएगा? [illegible] बंद करने पड़ेंगे और भारत की रुई टके सेर में भी कोई नहीं पूछेगा। इन राजनैतिक चालों के चक्कर में गरीब जनता का कचूमर निकला जा रहा है, पर यह तो डेमाक्रेसी है, यहां जनता के हानि लाभ का जिक्र। यहां तो मिल-मालिकों का प्राधान्य है, रिआया जाय जहन्नुम में। जापान दोनों ओर का भाड़ा देकर भी, 50 फीसदी चुंगी देकर भी अपना माल भारत के माल से सस्ता बेच सकता है और यहां के मिल वाले अपना माल सस्ता बेचने की फिक्र नहीं करते। उनके हवल-भांडे में कमी नहीं हो सकती। उन्हें अच्छा मुनाफा अवश्य चाहिए, चाहे वह जनता के रक्त से ही क्यों न मिले।

[संपादकीय। 'जागरण', 1 मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

फलों की खेती कैसे बढ़ाई जाय

हर्ष की बात है कि नौकरशाही का ध्यान फलों की खेती की ओर गया है और लखनऊ में राजा साहब जहांगीराबाद के सभापतित्व में एक बोर्ड की स्थापना हुई है जो फल पैदा करने वालों को सलाह और सहायता देगा। उधर बंबई के गवर्नर ने खुद जहाज पर आकर फलों का पैकिंग देखा और बड़ी दिलचस्पी दिखाई। मगर हमें भय है, कहीं यह उद्योग भी टांय टांय फिस होकर न रह जाय।

[संपादकीय। 'जागरण', 1 मई 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

बी॰ एन॰ डब्ल्यू॰ रेलवे

हमारे पास कई संवाददाताओं के पत्र आए हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि युक्त प्रांत के अत्यंत उर्वर भाग में दौड़ने वाली इस रेलवे कंपनी की ट्रेनें बहुत गंदी रहती हैं। गर्मी के दिनों में

डिब्बों में मक्खी का भिन-भिनाना, शौचालय का गंदा रहना, किसी डिब्बे में कूड़े का ढेर लगा है तो किसी में फलों के छिलाकों के, यह सब साधारण बातें हैं। यद्यपि इसमें हम भारतीयों का भी बहुत कुछ दोष है। हम जिस स्थान पर बैठतें हैं, उसी को गंदा करने में अपनी सफाई समझते हैं, पर स्वास्थ्य के विचार से रेलवे कंपनी को इन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। इस कंपनी के स्टेशन भी ई॰ आई॰ आर॰ के समान साफ नहीं रहते। कंपनी को काफी आय है और उसे चाहिए कि वह अपने यहां एक विशेष स्वास्थ्य-विभाग खोले। उसे सैनिटरी इंसपेक्टर 'रख कर' यात्रियों की इस शिकायत को दूर कर देना चाहिए।

[संपादकीय। 'जागरण', 1 मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

रिजर्व-बैंक

भारत-सचिव तथा श्वेत-पत्र की सूचना के अनुसार भारत में केंद्रीय शासन में उसी समय जिम्मेदारी दी जा सकेगी, जब कि यहां एक 'रिजर्व बैंक' की स्थापना हो जाएगी। यही बैंक भारत का असली केंद्रीय बैंक होगा। इस समय भारत सरकार की ओर से जो कुछ सुविधा और सहूलियत इंपीरियल बैंक को है, वही इस रिजर्व बैंक को प्राप्त होगी, इसके अलावा उसे अनेक अधिकार होंगे, जिनमें से एक अधिकार मुद्रा चलन पर नियंत्रण और नोट चलन पर पूरा अधिकार भी हो सकता है। कई दृष्टियों से इस प्रकार के बैंक की स्थापना भारत के उद्योग धंधे की वृद्धि के लिए, भारत की मुद्रा नीति को नियंत्रित करने के लिए भारत के सभी बैंकों को एक प्रभाव में, एक शासन में रखने के लिए और सभी प्रांतों की अर्थ-नीति को एक केंद्रीय विभाग में निर्धारित करने के लिए रिजर्व बैंक का होना जरूरी है। यदि भारत सरकार ने भारतीयों के हित का वास्तव में ध्यान रखा होता, तो अब तक कई वर्ष पहले यह बैंक स्थापित हो गया होता, भारत का अरबों का सोना बाहर न बह गया होता, भारत का सोना लंदन के बैंक में उस तरह न जमा कर दिया जाता कि यदि आज जरूरत पड़े तो भारत का आर्थिक दिवाला तक निकल सकता है और लंदन में सोना पड़ा रह जा सकता है। भारत में रिजर्व बैंक न होने का ही यह फल है कि आज हमारी कागजी मुद्रा 1[illegible] करोड़ की है पर उसके पास सरकारी कोष में केवल 26 करोड़ का सोना है आज भारत में केवल इतना सोना है कि सरकार का एक वर्ष का ही काम चल सकता है। फिर भी सोना बाहर चला जा रहा है विनिमय की दर घातक बनी हुई है, लगभग दो अरब का सोना बाहर चला गया। अमरिका ऐसे धनी देश भी अपना सोना बाहर जाने से रोक रहे हैं, पर भारत के अर्थ मंत्री को इस बात का गर्व है कि वे भारत से काफी सोना भेजकर भारत का देना-पावना चुका रहे हैं। यह सब इसलिए हो रहा है कि भारत की कोई शुद्ध अर्थ-नीति नहीं है कोई निश्चित योजना नहीं है। कोई भी केंद्रीय बैंक नहीं है।

बिना केंद्रीय बैंक के कोई सभ्य-सरकार अपना काम ठिकाने से चला ही नहीं सकती। इस सभ्य दुनिया के बत्तीस देशों में केंद्रीय बैंक हैं जिनमें 17 देशों के केन्द्रीय बैंक शेयरवालों के हाथ में हैं, सात केवल राज्य के हाथ में हैं और आठ तो मिले जुले हैं।

भारत में रिजर्व बैंक के लिए—'बैंकों के बैंक' के लिए 1927 में बहुत जोर दिया गया था। उस समय सर बैसिल ब्लेकेट अर्थ-सदस्य थे। वे इस विचार को पसंद करते थे,

पर वह बैंक हिस्सेदारों का हो या राज्य के हाथ में हो—इसी पर मतैक्य न हो सकने के कारण बात ठंडी पड़ गई। बैंकिंग जांच कमेटी ने इस विषय को आगे बढ़ाया। संघयोजना के साथ वह विषय फिर सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने लगा। इसके दो प्रकार के समर्थक हैं। एक का कहना है कि यदि इसे हिस्सेदारों का बैंक बना दिया जाएगा तो विदेशी पूंजीपति काफी हिस्सा देकर इसे अपनी मुट्ठी में कर लेंगे, पर, एक मत यह भी कहता है कि एक हिस्सेदार को, चाहे वह कितना ही हिस्सा खरीदे, एक ही वोट देने का अधिकार देना चाहिए। इस प्रकार से यदि हिस्सेदारों का ही बैंक रहेगा, तभी कल्याण होगा। दूसरा पक्ष यह कहता है कि वास्तविक कल्याण तभी होगा जब कि यह बैंक राज्य के हाथ में होगा। राज्य के हाथ में भी रहने के अनेक फायदे हैं, पर भारत सरकार ने एक निराली ही नीति निकाली है। वह इस बैंक को दो में से एक किसी के भी हाथ में नहीं रखना चाहती। वह एक बोर्ड की रचना करना चाहती है जो स्वतंत्र होगा।

जो हो, यहां पर हम इस प्रश्न के दोनों पहलुओं की मीमांसा नहीं करना चाहते। प्रश्न बड़ा महत्वपूर्ण है और इस पर तुरंत विचार होना चाहिए। चाहिए तो यह था कि सरकार पहले केंद्रीय शासन की स्थापना कर तब केंद्रीय बैंक स्थापित करती, पर वह घोड़े के आगे गाड़ी रख रही है। वह चाहती है कि बैंक की स्थापना हो जाय, तब केंद्रीय शासन स्थापित किया जाय। इस बैंक की स्थापना के विषय में परामर्श करने के लिए लन्दन में एक समिति भी बैठेगी, जिसमें भारत की ओर से भी अनेक प्रतिनिधि भेजे जाएंगे। सर जार्ज शुस्टर ने एसेंबली में यह घोषणा की है कि इस विषय पर निर्णय तथा निश्चय के लिए लन्दन में एक सम्मेलन होगा। भारत सरकार भारत सचिव की सलाह से, इसमें शरीक होने के लिए भारतीय प्रतिनिधियों की संख्या तथा उनका नाम निश्चित कर प्रकाशित करेगी। यह सूची एक सप्ताह के भीतर ही प्रकाशित हो जाएगी। इस सूची पर बहुत कुछ निर्भर करता है। यदि सरकार ने वास्तव में विशेषज्ञ अर्थ शास्त्री या प्रजा के असली प्रतिनिधि चुने तो ठीक ही है, अन्यथा यह निश्चित है कि 'भर्ती' के सदस्य भारत के असली हित की हत्या करेंगे और रिजर्व बैंक जो अपनी रचना के बाद केवल एक बोर्ड के हाथ में रहेगा भारत का कुछ भी कल्याण न कर सकेगा और हम तथा हमारा देश उसी प्रकार दरिद्रता तथा अनुचित अर्थ नीति का शिकार बना रहेगा।

क्या हम सरकार से इतनी आशा करें कि वह, इस विषय में प्रजा के हित का, भारतीयों के स्वार्थ का, तथा भारतीय किसानों के लाभ का, विचार कर उदारतापूर्वक भारतीय-रिजर्व बैंक सम्मेलन में सब प्रश्नों पर विचार करने का अवसर देगी तथा उसके सदस्यों की जो सूची प्रकाशित होनेवाली है, वह हमारे मन से सम्मेलन के प्रति विश्वास पैदा कर सकेगी?

[सम्पादकीय। 'जागरण', 1 मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

विदेशी कपड़े पर कांग्रेस की मुहर

तीन साल पहले कांग्रेस ने बजाजों के विलायती कपड़े की गांठों पर मुहर लगाई थी। तब छ: महीने की बात थी। पर वह मुहर आज तक नहीं खुली, क्योंकि अभी तक स्वराज्य उतनी ही दूर है जितना आज के तीन साल पहले था। तो फिर क्या इन गांठों की मुहर कभी खुलेगी

नहीं? गांठे यों ही बंधी-बंधी सड़ जाएंगी। नतीजा क्या हो रहा है? बजाज बंधी हुई गांठें मुसलमान दूकानदारों के हाथ औने-पौने बेचकर अपना माल खपा रहे हैं। यह तो नहीं देखा जाता कि माल बंधा-बंधा सड़ जाए। फिर जब कपड़े का व्यापारी देखता है कि निकट भविष्य में भी गांठों के खुलने की आशा नहीं, तो वह अधीर हो जाता है। जब चोरी छिपे माल की खपत हो रही है, तो हमारी समझ में नहीं आता, गांठें क्यों नहीं खोल दी जातीं। ऐसे कितने ही कांग्रेसमैन हैं, जो इस नीति को अनीति समझते हैं; और गांठों की मुहर बंदी से कोई फायदा नहीं समझते लेकिन डिसिप्लिन कायम रखने के भय से कुछ नहीं कह सकते। हमें आशा है, कांग्रेस के नेता इस समस्या पर विचार करेंगे और जिस बंधन से अब हानि के सिवा किसी लाभ की आशा नहीं, उसे उठा लेने में सद्-साहस से काम लेंगे।

[संपादकीय। 'जागरण', १ मई, १९३३ में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग ३ में संकलित।]

सरकारी बोर्ड

अंत में काशी का नागरिक जीवन समाप्त हो गया। अब उसके नगर शासन का अंत तीन वर्ष के लिए हो गया। यह हमारे नगर के लिए लज्जा की बात है। संभवतः हम इसी के अधिकारी थे। अनुचित लोगों के ऊपर विश्वास करने का, अनुचित लोगों को नेता मान लेने का अनुचित लोगों की बातों को सुनकर राह लेने का दंड मिल गया और पहली मई से काशी म्युनिसिपल बोर्ड सरकारी म्युनिसिपल बोर्ड हो गया।

फिर भी, हमें संतोष है कि मि लिंच विशेष अफसर नियुक्त हुए हैं। वे स्वतंत्र विचार हैं, सुयोग्य शासक हैं हमें आशा है कि इस अभागे शासन में वे उदारता से काम लेंगे। मेंबरों का पाप तो मेंबरों के सर गया अब वे हरेक सुयोग्य कर्मचारी को काम करने का अवसर देंगे तथा नगर के हित में आवश्यक प्रायः सभी बातों का उदारता से पालन करेंगे और नगर के कुछ सम्मानित तथा दंभी व्यक्तियों से सावधान रहकर अपना कर्तव्य पूरा करेंगे।

[संपादकीय। 'जागरण', १ मई, १९३३ में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग ३ में संकलित।]

साबुन की देख-रेख

आजकल सैकड़ों तरह के साबुन बाजार में आ गए हैं। जनता के पास सुगंध के सिवा साबुन के गुण-दोष जांचने का कोई साधन नहीं है। खराब साबुन से बहुत से रोग पैदा हो सकते हैं। इसलिए हमें यह जानकर हर्ष हुआ कि सरकार साबुन की जांच करने के लिए शीघ्र ही कोई कदम उठाने वाली है।

[संपादकीय। 'जागरण', १ मई, १९३३ में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग ३ में संकलित।]

जापान और चीन

राष्ट्रसंघ चीं-चीं करता ही रह गया और जापान ने चीन के उत्तरीय भाग पर अपना सिक्का बिठा दिया। वह यह तो कहे जाता है कि मैं चीन के किसी अंश पर अधिकार करना नहीं

चाहता, फिर भी उसकी विजयी सेनाएं दिन-दिन आगे बढ़ रही हैं और नए-नए नाम से नए-नए राज्यों की सृष्टि हो रही है। इसकी मंशा क्या यह तो नहीं है कि चीन को कई स्वतंत्र भागों में विभाजित करके जापान उन पर सरपंच बन कर राज्य करे? चीन कई स्वतन्त्र टुकड़ों में हो जाने पर संयुक्त होकर जापान के सामने न आ सकेगा और जापान उनको उसी तरह नचायेगा जैसे अंग्रेजी सरकार हमारे राजाओं को नचाती रहती है। उधर चीनी तुर्कीस्तान में क्रांति हो गई है और ऐसा मालूम होता है कि वहां जनता ने सोवियत शासन स्थापित कर लिया है। इंग्लैण्ड और अमेरिका का ऐसे अवसर पर चुप साध जाना एक रहस्य है। यह तो हम नहीं मान सकते कि आर्थिक संकट और अन्य संकटों के कारण कोई राष्ट्र इस दशा में नहीं है कि जापान से कुछ कह सके। इंग्लैण्ड और अमेरिका के स्वार्थ पर अगर प्रत्यक्ष रूप से कोई आघात होता तो उन्हें आर्थिक संकट की बिल्कुल चिंता न होती। जनता को चाहे जितना कष्ट हो रहा हो, शासन कर्ताओं पर इसका कोई असर नहीं। नये-नये जहाज बन रहे हैं, खर्च ज्यों का त्यों है। बात यह है कि चीन में बोलसेविज़्म का असर बढ़ता जाता था और संभव था कि दस-बीस वर्ष में चीन और रूस दोनों ही एक संयुक्त सोवियत शासन स्थापित कर लेते। अलग-अलग रहने पर भी एक ही आदर्श के अनुयायी होने के कारण उनमें विशेष आत्मीयता रहती ही। चीन जैसे आबाद और धनवान देश का सोवियत में आ जाना संसार में उथल-पुथल मचा देता। इंग्लैण्ड, फ्रांस और जर्मनी के बूते की बात न थी कि वे उस प्रवाह को रोक लेते। जापान ने चीन पर आक्रमण करके इस समस्या को कम से कम पचास साल के लिए पीछे ढकेल दिया है और यही कारण है कि योरोप का कोई राष्ट्र चूं नहीं कर रहा है, सबके सब दिल में जापान को दुआएं दे रहे हैं कि उसने आगे आकर उन सबों की लाज रख ली। रहा रूस, उसे साम्राज्यवाद से तो कोई संबंध है नहीं, न वह चीन को अपने राज्य में मिलाने ही का इच्छुक है, वह तो यही चाहता है कि चीन पर चीन की जनता का अधिकार हो। जापान के साम्राज्यवाद ने पूर्व के चीन पर धावा किया है तो पच्छिम में तुर्किस्तान की क्रांति ने भी हमला कर दिया है। इन दोनों शक्तियों के बीच में चीन की क्या दशा होगी यही देखना है।

[संपादकीय। 'हंस', मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

'द्विज' जी को बधाई

'द्विज' जी ने अबकी हिन्दू विश्वविद्यालय से हिन्दी में बड़े गौरव के साथ एम॰ ए॰ की डिग्री ली। आप प्रथम श्रेणी में उतीर्ण हुए। अंग्रेजी में आप पहले ही एम॰ ए॰ हो चुके थे। भावुकता के सागर में डुबकियां लगाने वाला कवि और कल्पना के आकाश में उड़ने वाला गल्पकार और चरित्र लेखक परीक्षा भवन में बैठकर ऐसी असाधारण सफलता प्राप्त कर ले यह साधारण बात नहीं है। परीक्षाएं तो रट्टुओं के लिए हैं और इस क्षेत्र में हमने प्रतिभा वालों को रट्टुओं से नीचा देखते पाया है। कवि को परीक्षा से क्या प्रयोजन। कल्पना वालों को भाषा-विज्ञान और भाषा के प्राचीन इतिहास से क्या प्रयोजन, लेकिन 'द्विज' ने यह पाला जीतकर साबित कर दिया कि वह अगर आज शाक-भाजी की दुकान खोलकर बैठ जायं, तो वहां भी सफल हो सकते हैं। हम इस सफलता पर आपको हृदय से बधाई देते हैं।

[संपादकीय। 'हंस', मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

पत्रों के ग्राहकों का आपत्तिजनक व्यवहार

भारतवर्ष के पत्र-पत्रिकाओं की जो दशा है, वह किसी से छिपी नहीं हैं। हिन्दी में तो दो एक को छोड़कर और सभी घाटे पर चल रही हैं। प्रश्न होगा—जब सभी को घाटा हो रहा है, तो वे बन्द क्यों नहीं कर जातीं? जिस चीज़ के ग्राहक नहीं उसे तैयार करने से फायदा? लेकिन क्या हमारे स्कूल और कालेज या विद्यालय नफे पर चल रहे हैं? उनका काम शिक्षा का प्रचार करना है, आना काम कर रहे हैं। इस पवित्र उद्देश्य के लिए नुकसान उठाना बुरी बात नहीं। पत्र-पत्रिकाओं का भी यही काम है। वे विचारों का प्रचार करती हैं और कुछ नुकसान उठाने को तैयार रहती हैं, लेकिन जिस तरह स्कूल या कालेज के छात्र माहवार फीस देना बन्द कर दें, तो विद्यालय नुकसान उठाने के लिए तैयार होने पर भी न चल सकेगा, उसी भाँति प्रत्येक पत्र को ग्राहकों को भी कुछ तकिया करना पड़ता है। वह इस प्रचार के काम में एक तरह के अपने पाठकों को भी सहयोगी बना लेता है। पाठक चार रुपये या छह रुपये देकर केवल पत्रिका के ग्राहक ही नहीं होते, उस संस्था द्वारा होने वाले प्रचार के श्रेय के भागी होते हैं। यहां केवल ग्राहक और दूकानदार का नाता नहीं है। ऐसी दशा में जब हम देखते हैं कि पाठक पत्रिकाओं के साथ अपने कर्तव्य और जिम्मेदारी का बिल्कुल विचार नहीं करते, तो बड़ा दु:ख होता है। आप किसी पत्र के ग्राहक रहे या न रहें, यह आपकी खुशी। पत्रों के व्यवस्थापक यह तो चाहते हैं कि उनके ग्राहक जितने ही ज्यादा होंगे, उतना ही उन पर आर्थिक भार कम पड़ेगा। इसीलिए वे पाठकों की खुशामद करते रहते हैं लेकिन पाठक को इस बात का पूरा अधिकार है कि अपना चन्दा पूरा हो जाने के बाद वह नये वर्ष के लिए ग्राहक बने या न बने, लेकिन कितना अच्छा हो कि वे वी. पी. की सूचना पहुंचते ही एक कार्ड डालकर अपने इनकार की सूचना दे दें, लेकिन अनुभव यह है कि तीन तीन महीने पहले से सूचना देने और बार बार निवेदन करने पर भी की 'यदि आपको अगले साल पत्र ग्राहक बनना स्वीकार न हो, तो आप एक कार्ड द्वारा इत्तला दे दीजिए' कोई सूचना नहीं आती। मगर जब इस मौन को प्राचीन शिष्टाचार के अनुसार अनुमति का लक्षण समझकर पत्र वी. पी. से भेज दिया जाता है तो ग्राहक उसे तुरन्त लौटा देते हैं। जरा भी नहीं सोचते कि वी. पी. के भेजने में कितना खर्च पड़ा होगा, उनके नाम की पत्रिका छापने में भी कुछ न कुछ खर्च पड़ा ही होगा और दफ्तर का जो लिखा पढ़ी करनी पड़ती है, वह अलग। और खेद तो यह है कि ऐसे कृपालु पाठकों में अच्छे अच्छे पढ़े लिखे सज्जन होते हैं। अपने तीन पैसे न खर्च करके पत्रों से आठ आने खर्च करा देना कौन सी भलमनसी या शिष्टता है? इसके सिवा और क्या कहा जाय कि यह भी हमारे चरित्र के पतन का एक चिह्न है जो देश को गुलाम बनाये हुए है। जिस देश के शिक्षित समाज में शिष्टता का इतना लज्जाजनक अभाव हो, जहां स्वार्थ की मात्रा इतनी बढ़ गयी हो, उस देश का ईश्वर ही मालिक है।

[संपादकीय। 'हंस' मई 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

महात्मा जी का सफल तप

जब तक हंस पाठकों के हाथ में पहुंचेगा, महात्मा जी की तपस्या कुशलपूर्वक पूरी हो चुकी होगी और समस्त देश में उनके आनन्दोत्सव मनाए जाते होंगे। जब महात्माजी ने इस तपस्या की इच्छा प्रकट की, तो भारत कांप उठा। इस अवस्था में और ऐसा स्वास्थ्य रहने पर भी आप 21 दिन का उपवास व्रत करने जा रहे हैं, चारों ओर से आपके पास पत्र और तार आने लगे—आप यह व्रत करके अपने प्राणों को संकट में न डालिए। भारत की एकमात्र आशा आप हैं। आपको वह नहीं खो सकता। अपने-पराए सभी मना करते रहे, पर महात्मा जी के संकल्प अचल होते हैं। आप महीनों के आत्मचिंतन के बाद जब इरादा कर लेते हैं, तो वह पक्का होता है। आपका व्रत आरंभ हुआ और आज 17 दिन पूरे हो चुके हैं। आप स्वस्थ हैं, प्रसन्न हैं और पूरी आशा है कि आपकी तपस्या सकुशल समाप्त होगी आप Man of Destiny हैं और आपकी आत्मा में वह असीम संचित शक्ति है, जिसकी साधारण प्राणियों को खबर नहीं। इस तपस्या का प्रत्यक्ष फल क्या होगा, इसका अनुमान समाचार-पत्रों के संवादों से नहीं किया जा सकता। शिक्षित समाज की मनोवृत्ति में धीरे-धीरे पर दृढ़ रूप से क्रांति हो रही है, और राष्ट्र चेतना अब बहुत दिनों यह अमानुषीय अन्याय नहीं सह सकती।

[सम्पादकीय। 'हंस', मई 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

महाराजा अलवर का संन्यास

जिस वक्त भारत धर्म महामंडल ने महाराजा अलवर को 'राजर्षि' की उपाधि प्रदान की थी उसे इसकी क्या खबर होगी कि एक दिन ऐसा आएगा जब महाराजा साहब को जबरन संन्यास लेना पड़ेगा। अलवर के राज्य में वर्षों से कुप्रबन्ध चला आता था। राजर्षि के खर्च का पारावार न था और राज्य की आमदनी उसके लिए पूरी न पड़ती थी। अंधाधुंध कर्ज लेकर, तरह तरह के कर लगाकर कर्मचारियों के वेतन रोककर किसी तरह काम चल रहा था, प्रजा के सुख दुख की परवा किसे थी। उसका जीवन तो केवल राजकामनाओं की पूर्ति के लिए बना हुआ था। आखिर पैमाना लबरेज हो गया और महाराजा साहब को संन्यास लेना पड़ा। महाराजा साहब काश्मीर के विषय में हमने सुना कि जिन दिनों काश्मीर राज्य में दंगे हो रहे थे और मुसलिम प्रजा अपने हिन्दू भाइयों के जान माल को तबाह कर रही थी, उस समय महाराज साहब अपनी नृत्यशाला में बैठे वेश्याओं का नाच देख रहे थे। इतिहास में ऐसी मिसालें पहले भी आ चुकी हैं 'नीरो' की कथा प्रसिद्ध है। नृत्यकला की ऐसी जबरदस्त उपासना हमारे देशी रजवाड़े ही कर सकते हैं। महाराजा अलवर के विषय में तो ऐसी कोई बात नहीं सुनने में आई लेकिन यह तो सभी जानते हैं जिन दिनों अलवर में पुलिस गोलियां चला रही थी, महाराजा साहब काशी और प्रयाग में लीडरी के मजे लूट रहे थे, और अच्छे-अच्छे व्याख्यान दे रहे थे। यह वह वक्त था, जब राजा साहब को अलवर और मेवों के बीच में होना चाहिए था। अब वह जमाना नहीं रहा (कम से कम देशी रजवाड़ों के लिए। अंग्रेजी सरकार की बात छोड़िए) कि राजा साहब चाहे प्रजा पर कितना जुल्म करें, चाहे उनके कर्मचारी प्रजा का गला कितना ही रेतें, प्रजा उसे ईश्वर की इच्छा और दीनबंधु की आज्ञा समझकर चुपचाप सहती चली जाय। जब प्रजा राजा के लिए अपनी जान देती है तो राजा

भी प्रजा के लिए जान देता है। जो राजा अपनी प्रजा को केवल भेड़-बकरी समझता हो, उसकी प्रजा भी राजा को गीदड़ या भेड़िया यही समझती है, मगर राज का पद ही कुछ ऐसा अनर्थकारी है कि आदमी को सामने की चीज नहीं सूझती। अपनी आंखों देख रहे हैं कि जर्मनी का कैसर अभी तक डेनमार्क में निर्वासित पड़ा हुआ है, जार का क्या हाल हुआ, स्पेन के राजा की क्या गत हुई, पुर्तगाल के राजा कहां भागे, लेकिन फिर भी आंखें नहीं खुलतीं। अगर हमारे महाराजों की यही नीति रही तो वह दिन दूर नहीं है जब इन सबों का निशान दुनिया से मिट जाएगा और दुनिया को इसका बिल्कुल खेद न होगा।

[संपादकीय। 'हंस', मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

मिसेज़ सुब्बारोयां का वक्तव्य

मिसेज सुब्बारोयां उन दो महिलाओं में एक हैं, जो दूसरी गोलमेज में भारतीय स्त्रियों की प्रतिनिधि थीं। आपने हाल में समाचार-पत्रों में एक वक्तव्य प्रकाशित किया है, जिसमें आपने दिखाया है कि नई व्यवस्था में भारतीय स्त्रियों के लिए वोटिंग की जो शिक्षा-संबंधी शर्त रखी गई है, उससे स्त्रियों को उतने वोट न मिल सकेंगे, जिसका इस व्यवस्था में अनुमान किया गया है, आर्थात्—पुरुषों के अनुपात में 1 : 7। आपको भय है कि स्त्रियां इतनी वोटिंग शक्ति न प्राप्त कर सकेंगी। वक्तव्य के अंत में अपने महिलाओं की स्वरक्षित जगहों के लिए सांप्रदायिक आधार का विरोध करते हुए लिखा है—

''मुझे खेद है कि सरकार ने हमारी प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया है कि स्त्रियों को इन स्वरक्षित जगहों के लिए पंथगत विचारों से अलग होकर खड़ा होने दिया जाय। महिलाओं को सांप्रदायिकता से विशेष प्रेम नहीं है और उन्होंने एक स्वर में इसका विरोध किया है। सरकार का कथन है कि अगर सभी पंथों के लोग आपस में मिलकर समझौता कर लें तो वह इस निश्चय को बदल सकती है, लेकिन अब तक बहुत उद्योग करने पर भी समझौते की कोई आशा नहीं दीखती। भविष्य के विषय में तो इस समय कुछ नहीं कहा जा सकता, लेकिन मुझे सच्चा विश्वास है कि भारत की देवियां चाहे किसी द्वार से राजनैतिक जीवन में प्रवेश करें, वे अपने दल में पंथगत भेद भाव को न आने देंगी। अब तक हमारी देवियां ने जो कुछ किया है, पूर्ण सद्भाव और सहयोग से किया है, भेदों को बीच में नहीं आने दिया है। और देश के लिए उनकी यह नीति सर्वथा प्रशंसनीय है और मुझे आशा है कि राजनैतिक क्षेत्र में भी वह सहयोगिता का परिचय देंगी।''

हमारी भी यही शुभकामना है।

[संपादकीय। 'हंस', मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

रूसी साहित्य और हिन्दी

उपन्यास और गल्प के क्षेत्र में, जो गद्य-साहित्य के मुख्य अंग हैं, समस्त संसार ने रूस का लोहा मान लिया है, और फ्रांस के सिवा और कोई ऐसा राष्ट्र नहीं है, जो इस विषय में रूस का मुकाबला कर सके। फ्रांस में बालजाक, अनातोले फ्रांस, रोमां रोलां, मोपासां आदि

संसार-प्रसिद्ध नाम हैं, तो रूस में टॉल्स्टॉय, मैक्सिम गोर्की, तुर्गनेव, चेखोव, दास्तावस्की आदि भी उतने ही प्रसिद्ध हैं, और संसार के किसी भी साहित्य मे इतने उज्ज्वल नक्षत्रों का समूह मुश्किल से मिलेगा। एक समय था कि हिन्दी में रेनाल्ड के उपन्यासों की धूम थी। हिन्दी और उर्दू दोनों ही रेनाल्ड की पुस्तकों का अनुवाद करके अपने को धन्य समझ रहे थे। डिकेंस, थैकरे, लैम्ब, रास्किन आदि को किसी ने पूछा तक नहीं। पर अब जनता की रुचि बदल गई है, और यद्यपि अब भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो चोरी, जिना और डाके आदि के वृत्तान्तों में आनन्द पाते हैं लेकिन साहित्य की रुचि में कुछ परिष्कार अवश्य हुआ है और रूसी साहित्य से लोगों को कुछ रुचि हो गई है। आज चेखोव की कहानियां पत्रों में बड़े आदर से स्थान पाती हैं और कई बड़े-बड़े रूसी उपन्यासों का अनुवाद हो चुका है। टॉल्स्टॉय का तो शायद कोई बड़ा उपन्यास ऐसा नहीं रहा, जिसका अनुवाद न हो गया हो। गोर्की की कम-से-कम दो पुस्तकों का अनुवाद निकल चुका है। तुर्गनेव का 'फादर एण्ड सन' का 'पिता और पुत्र' के नाम से अभी हाल में दिल्ली से अनुवाद प्रकाशित हुआ है। टॉल्स्टॉय की 'अन्ना' का अनुवाद काशी से प्रकाशित हुआ है। दास्तावस्की की एक पुस्तक का अनुवाद निकल चुका है। इस बीच में अंग्रेजी या फ्रेंच साहित्य की कदाचित् एक भी पुस्तक का अनुवाद नहीं हुआ। जिन लेखकों ने रूस को उस मार्ग पर लगाया, जिस पर चल कर आज वह दु:खी संसार के लिए आदर्श बना हुआ है, उनकी रचनाएं क्यों न आदर पायें?

[सम्पादकीय। 'हंस', मई, 1933 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रथम संस्करण) में संकलित परन्तु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया। प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 में संकलित।]

श्री राहुल सांकृत्यायन जी

राहुल जी कदाचित् वह पहले भारतीय बौद्ध संन्यासी हैं, जिन्होंने तीन वर्ष तिब्बत में रहकर पाली का ज्ञान प्राप्त किया और वहां से बौद्ध साहित्य की लगभग दस हजार प्राचीन पुस्तकें लेकर भारत लौटे। आपने वह सब पुस्तकें पटना म्युज़ियम को भेंट कर दीं। ऐसा साहस, ऐसी प्रतिभा, ऐसा अध्यवसाय बहुत कम किसी ने पाया होगा। आजमगढ़ के एक ग्राम में एक साधारण ब्राह्मण कुल में आपका जन्म हुआ। आपने हिन्दी मिडिल पास किया और कुछ दिन नौकरी की तलाश में रहे। इसी बीच में आपको बौद्ध धर्म से प्रेम हो गया और आपने उसकी दीक्षा ले ली। आपकी बुद्धि इतनी प्रखर है कि थोड़े ही दिनों में आपने संस्कृत, पाली, अंग्रेजी, बंगला, फ्रेंच आदि भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया और पुरातत्व के प्रकाण्ड पण्डित हो गए। फिर तो स्वर्गीय श्री धर्मपाल जी से आपका परिचय हो गया और आपकी प्रतिभा और विद्वत्ता के कारण सभी आपका सम्मान करने लगे। धर्मपाल जी ही की प्रेरणा से आपने तिब्बत की भीषण यात्रा की। तिब्बत में बाहर वालों का कितना बहिष्कार किया जाता है, यह सभी जानते हैं, पर राहुल जी ने तिब्बती भाषा पर ऐसा अधिकार कर लिया कि आप तिब्बत के ही समझे जाने लगे और फिर तो आपकी हरेक संग्रहालय, हरेक बिहार में रसाई हो गई। आपने वहां बौद्ध धर्म का खूब अध्ययन किया और हजारों पुस्तकें संग्रह कीं। वह सारा साहित्य आपने यहां आकर पटना म्युजियम को भेंट कर दिया, जैसा हम पहले

कह चुके हैं। आपने इसके बाद कैलाश की यात्रा की। फिर बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए इंग्लैण्ड और योरोप के अन्य देशों की यात्रा की। थोड़े दिन हुए आपने 'बुद्धचर्या' नामक पुस्तक लिखी है जो भगवान बुद्ध का प्रामाणिक जीवन-चरित्र है। हर्ष की बात है कि इस वर्ष नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने आपको उस पुस्तक की रचना के लिए पारितोषिक देकर आपका सम्मान किया है। कई महीने हुए आपने भागलपुर से निकलने वाली हिन्दी पत्रिका 'गंगा' के पुरातत्वांक का संपादन किया था और उसमें आपके कई पांडित्या पूर्ण लेख प्रकाशित हुए थे। आपके ही परिश्रम से पुरातत्वांक इतना सफल हुआ। अब आप तिब्बत की दूसरी यात्रा करने का विचार कर रहे हैं और आप उधर से लद्दाख, काशगर आदि स्थानों में बौद्ध धर्म की ऐतिहासिक खोज करने जाएंगे। आप ऊंचे डील के, बलिष्ठ, तेजस्वी, सौम्य पुरुष हैं, बड़े ही मिलनसार और विनोदशील। योरोप के किसी व्यक्ति ने यह तिब्बत-यात्रा की होती, तो सारी दुनिया में उसका प्रोपेगेण्डा होता, पर भारत में आज भी ऐसे धर्मवीर पड़े हुए हैं जो यज्ञार्थ बुद्धि से बड़े काम करके भी उसका विज्ञापन नहीं करते। हमारी हार्दिक कामना है कि आपकी यह नई यात्रा सफल हो और आप अपना यात्रा वृत्तांत लिखकर हमारे युवकों के सामने साहसिकता और लगन का आदर्श रखें।

[संपादकीय। 'हंस', मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

संयुक्त प्रान्त में शिक्षा का प्रचार

1931 ई. में जो गणना हुई थी, उसकी रिपोर्ट में शिक्षा-संबंधी जो आंकड़े दिए गए हैं, उनसे पता चलता है कि सन् 1911 में साक्षर मनुष्यों का औसत चौंतिस प्रति वर्ग मील था, 1921 से सैंतिस प्रति वर्ग मील और 1931 में सैंतालिस प्रति वर्ग मील। संख्या लीजिए तो सन् 1911 में साक्षर मनुष्य सोलह लाख बीस हजार, सन् 1921 में सोलह लाख अठासी हजार और सन् 1931 में बाइस लाख साठ हजार। अर्थात् पांच आदमी की सैकड़ा पढ़े हुए हैं।

अब लिंग-भेद के हिसाब से देखिए तो–

1911 में साक्षर पुरुष 1505945 या 61 प्रति वर्ग मील थे।

1911 में साक्षर स्त्रियां 112520 या 5 प्रति वर्ग मील थीं।

1921 में साक्षर पुरुष 1556626 या 65 प्रति वर्ग मील थे।

1921 में साक्षर स्त्रियां 132246 या 6 प्रति वर्ग मील थीं।

1931 में साक्षर पुरुष 2043410 या 80 प्रति वर्ग मील थे।

1931 में साक्षर स्त्रियां 216228 या 10 प्रति वर्ग मील थीं।

यद्यपि गत शताब्दी में उन्नति अच्छी हुई है, फिर भी अन्य राष्ट्रों की तुलना में बहुत कम है।

भिन्न प्रान्तों का साक्षर संख्या औसत प्रति वर्ग मील यह है–

बनारस	192	नैनीताल	159	कानपुर	139
देहरादून	190	जालौन	145	झांसी	137
गढ़वाल	173	आगरा	143	फतहपुर	118
अलमोड़ा	167	मथुरा	140	अलीगढ़	115

लखनऊ	123	प्रयाग	118	मेरठ	109
बलिया	124।				

स्त्री-शिक्षा की दृष्टि से दृहरादून का प्रथम स्थान है, अर्थात्-54।

इसके बाद क्रमशः लखनऊ, आगरा, बनारस, नैनीताल, इलाहाबाद, मेरठ, मथुरा, फर्रुखाबाद, झांसी, बिजनौर हैं।

इन आंकड़ों से पता चलता है कि साक्षर पुरुषों का औसत काशी में सबसे ऊंचा है और साक्षर स्त्रियों का देहरादून में।

अब मतों की दृष्टि से देखिये-

	पुरुष		स्त्री	
धर्म	1921	1931	1921	1931
आर्य	293	337	93	84
हिन्दू (सनातन)	74	94	7	14
जैन	568	590	77	128
सिक्ख	327	375	56	37
मुसलिम	74	97	8	16
ईसाई	318	327	209	314

सबसे साक्षर जैन मत वाले हैं, उसके बाद आर्य और तब ईसाई हैं। हिन्दू और मुसलमान सबसे पीछे हैं। स्त्रियों में ईसाई सबसे साक्षर है और आर्य इनके बाद। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही नगण्य हैं।

[संपादकीय। 'हंस', मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

संसार की दो रुखी प्रगति

दो तीन साल पहले इंग्लैण्ड में मजूर पार्टी का अधिकार रूस और चीन आदि में सोवियत की सफलता और अन्य देशों में जनपक्ष की प्रधानता देखकर यह अनुमान किया जाने लगा था कि संसार से साम्राज्यवाद और व्यवसायवाद का प्रभुत्व उठने वाला है, या बहुत थोड़े दिनों का मेहमान है, लेकिन यकायक नक्शा जो पलटा तो इंग्लैण्ड में साम्राज्यवादियों का फिर जोर हो गया। जर्मनी और इटली में पूंजीवाद ने एक नए रूप में अपना चमत्कार दिखाया, चीन पर जापानी समाजवाद ने धावा बोल दिया और ऐसा जान पड़ता है कि कई सालों तक संसार की यह दोरुखी चाल जारी रहेगी। एक ओर पूंजीवाद का जोर दूसरी ओर समष्टिवाद का दौर-दौरा। रूस में जार शाही के विनाश का कारण जनपक्ष का संगठन ही नहीं था, परिस्थितियां भी अनुकूल थीं। वहां शासन शक्ति बहुत कुछ जार के ही हाथों में थी। जार ने जनमत के दबाव से जो संस्थाएं बना रक्खी थीं, उन्होंने शक्ति का संचय न कर पाया था और न ऐसी परम्पराएं बना पाई थीं, जिनसे जनता को अपने पक्ष के सफल होने का भ्रम हो सकता। वहां जो कुछ था। जार और उसके नौकर थे और उसकी सेना थी। इंग्लैंड और जर्मनी और इटली में राजसत्ता जनता द्वारा चुनी हुई सभाओं के हाथ में है। उसे किसी क्रांति से उखाड़ फेंकना असम्भव है। वहां इन संस्थाओं ने जो परंपरा बना ली है उसी के अनुसार

सबको चलना पड़ेगा, चाहे वह हिटलर हो या मुसौलिनी। इन संस्थाओं के विरोधी भी अवश्य हैं पर इनके पक्षपाती भी कम नहीं हैं, और किसी जनता की प्रतिनिधि संस्था को उखाड़ देना राष्ट्र में गृहयुद्ध की घोषणा करना है।

[संपादकीय। 'हंस', मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

आर्थिक संघर्ष

इस व्यवसाय और व्यापार के युग में राष्ट्रों में लड़ाइयों का मुख्य कारण आर्थिक हुआ करता है। हरेक राष्ट्र चाहता है कि वह अधिक से अधिक नफे में रहे। इसलिए वह तरह तरह से अन्य देशों के माल को अपने देश में आने से रोकता है। इसका नतीजा यह होता है कि आपस में वैमनस्य बढ़ता है और एक दिन बारूद में आग लग जाती है। जापान का माल भारत में रोक दिया गया है। अब जापान सोच रहा है कि किस तरह इसका बदला ले। उसने मंचूकुओ राज्य में अंग्रेजी माल के विरुद्ध कोई प्रतिबंध लगाने का विचार किया है। इससे इंग्लैंड में बड़ी खलबली मच गई है। उधर इंग्लैण्ड ने रूस के माल को इंग्लैण्ड में आने से रोक दिया है। रूस की सोवियत सरकार ने दो अंग्रेजों को सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र रचने के अभियोग में सजा दे दी और इंग्लैण्ड का मिजाज गर्म हो गया। यहां भारत के कई व्यापारी तुर्किस्तान में मार डाले गए और उनकी सम्पत्ति लूट ली गई। सरकार को खबर तक न हुई पर अंग्रेजों की जान तो उतनी सस्ती नहीं। फिर दोनों अंग्रेजों का कई साल कारावास दे दिया गया। फिर भी इंग्लैण्ड इसे न सह सका। उसने रूस से व्यापारिक सम्बन्ध तोड़ देने की धमकी दी और जब रूस ने इन धमकियों की परवाह न की, तो वह धमकी कार्यरूप में लाई गई। इस बहिष्कार से रूस की बड़ी हानि होगी। लेकिन क्या इंग्लैण्ड आशा रखता है कि रूस अंग्रेजी मशीनें खरीदता जायगा? इंग्लैण्ड में कितने ही व्यापारी अभी से रूसी माल के बहिष्कार को नापसन्द करने लगे हैं। कुछ अजीब दिल्लगी है कि राष्ट्र को सरकार तो निःशस्त्रीकरण की दुहाई देती है और उसी राष्ट्र के शस्त्र व्यापारी लड़ाइयों का उत्तेजना करते हैं। कितनी ही लड़ाइयां तो इन्हीं शस्त्र व्यापारियों द्वारा ही खड़ी की जाती हैं। वे इस बात का प्रोपगंडा करते रहते हैं कि किसी तरह दो राष्ट्रों में लड़ाई छिड़े जिसमें उनके माल की खूब खपत हो। बल्कि निःशस्त्रीकरण की विफलता का एक कारण यह भी है। खैर इस तरह की आर्थिक खींच तान एक न एक दिन रंग लाएगी। जब से आटावा सम्मेलन हुआ है, यह संघर्ष और भी प्रचंड हो गया है। इंग्लैण्ड ने सोचा होगा—हमीं ने अपनी मां का दूध पिया है। और राष्ट्रों में तो बुद्धू ही बसते हैं। अब अमेरिका ने सोने का बंधन उठा दिया तो चारों ओर हाय हाय मची हुई है। और मिस्टर रामजे मैकडानल्ड दौड़े हुए अमेरिका गए हैं। आर्थिक सम्मेलन की तैयारियां हो रही हैं। कान्फ्रेन्स किए जाओ, जनता का धन फूंके जाओ, अवसर मिले तो दस बीस लाख गरीबों को तोप का शिकार बना दो, लेकिन जब तक कृत्रिम साधनों से व्यापार को संभालने की चेष्टा होती रहेगी और जब तक बड़े बड़े मिल-मालिकों और पूंजीपति बने रहेंगे, शांति न होगी।

[संपादकीय। 'जागरण', 8 मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

जबर्दस्ती

भारतीय किसानों की इस समय जैसी दयनीय दशा है, उसे कोई शब्दों में अंकित नहीं कर सकता। उनकी दुर्दशा को वे स्वयं जानते हैं—या उनका भगवान जानता है। जमींदार को समय पर मालगुजारी चाहिए, सरकार को समय पर लगान चाहिए, खाने के लिए दो मुट्ठी अन्न चाहिए, पहनने के लिए एक चीथड़ा चाहिए, चाहिए सब कुछ, पर एक ओर तुषार तथा अति-वृष्टि फसल को चौपट कर रही है, एक ओर आंधी उनके रहे-सहे खेत को भी भ्रष्ट कर रही है—दूसरी ओर रोग, प्लेग, हैजा, शीतलता उनके नौजवानों को हरी-भरी तथा लहलहाती जवानी में उसी तरह दुनिया से उठाए लिए चली जा रही है, जिस तरह लहलहाता खेत अभी छ: दिन पूर्व के पत्थर—पाले में जल गया। गल्ला पैदा हो रहा है, पर भाव इतना मंदा है कि कोई दो वक्त भोजन भी नहीं कर सकता। स्त्री के तन पर जो दो-चार गहने थे, वे साहूकार के पेट से बचकर सरकार को मालगुजारी के पेट में चले गए। नन्हें बच्चे, जो चीथड़ा ओढ़कर जाड़ा काटते थे, वही अब उनका पिता पहन कर अपने तन की लाज ढंक रहा है। माता के पास केवल इतना वस्त्र है, जितने मे वह घूंघट तक काढ़ सके—धोती चाहे ठेहूने तक ही क्यों न खसक आए।

एक ओर यह दुर्दशा है, दूसरी ओर हमारे शासक शिमला, नैनीताल और उससे भी काम न चला तो लन्दन को हवा खा रहे हैं। हमारे प्रतिनिधि और मेम्बर जब तक बड़ी या छोटी कौंसिल की मेम्बरी नहीं करते, कड़कड़ाती धूप में भी पैदल सडकों पर भटकते हैं—पर कौंसिल के मेम्बर होते ही तुरंत पहाड़ पर चल देते हैं और वहां पर दस रुपया रोज का भत्ता पीट लेते हैं। आप चलकर किसानों से पूछिए तो सही, कितने किसानों ने इधर इकट्ठा दस रुपया भी देखा है? पर नहीं—यह कलियुग है। कर्मयुग है भाग्य का खेल है। किसान आया है, दुनिया की मुसीबतों में सड़कर मर जाने के लिए!

एक ओर बड़े-बड़े जमींदार अपने हित की रक्षा को सोच रहे हैं, एक ओर सरकार श्वेत-पत्र पर श्वेत खड़िया से कुछ लिख रही है, दूसरी ओर किसानों को केवल इतना ही मालूम होता है कि उसकी विपत्ति बढ़ती जा रही है। सरकार उसके लिए बहुत कुछ करने का दम भरती है। पर उसने अभी तक क्या किया। बैंक-जांच समिति ने, किसानों को दुर्दशा से बचाने के लिए यह सलाह दी थी कि तुरंत 'लैंड मारगेज बैंक' खुल जावें, जिससे किसानों को साहूकार से बचकर अपनी कृषि की उन्नति के लिए, आसानी से रुपया मिल सके और उसका हाथ-पैर फैले। सरकार ने एक नया कानून बनाया है जिसका उद्देश्य बहुत अधिक सूद लेने वालों से गरीबों को बचाना है। एक निश्चित रकम से अधिक सूद लेने वाला अपने आसामी को गिरफ्तार नहीं करा सकेगा। वह अदालत में दावा दायर कर सकता है। इससे भी किसान का कुछ लाभ होगा, पर कुछ से काम नहीं चल सकता। इस समय तो चारों तरफ हाहाकार ही मच रहा है। यदि किसान की रक्षा की गयी तो बड़ा भयंकर अनर्थ हो सकता है।

राव कृष्णपालसिंह युक्त प्रान्तीय कौंसिल के मेम्बर हैं। दुर्भाग्यवश, तालुकेदारों तथा जमींदारों के कारण यह कौंसिल जड़ तथा निस्सार लोगों की संस्था हो रही है, जिसमें किसानों का हित उतना ही कम सोचा जाता है, जितना देश हित। इस कौंसिल

में, कुछ दलित जाति के भी सदस्य भेजे गए हैं। इनके एक नेता भी बतलाए जाते हैं। पर हमने स्वयं केवल यही देखा है कि ये सदस्य सदैव सरकार का—सरकारी प्रस्ताव का साथ देते हैं। इस प्रकार कौंसिल में किसान अभागा किसी के ध्यान में भी नहीं आता। यदि कुछ थोड़े से सदस्य हृदय से तथा मन से किसानों की सेवा करना चाहते, तो उनकी संख्या बहुत कम है। सी॰ वाई॰ चिन्तामणि, कुंवर जगभानसिंह, मुंशी गदाधरप्रसाद इन्हीं इने-गिने लोगों में से हैं—और इनसे भी ऊपर यदि किसी का नाम लिया जा सकता है, तो वह हैं अवागढ़-नरेश के भाई राव कृष्णपालसिंह।

राव साहब ने 'लीडर' में हाल ही में किसानों की दुर्दशा पर एक बड़ा मर्मस्पर्शी लेख प्रकाशित कराया है। लेख की प्रत्येक पंक्ति में जीवन है। आप लिखते हैं कि युक्त प्रांतीय सरकार की किसान-सम्बन्धी नीति केवल 'जबर्दस्ती की अर्थ-नीति' है। चाहे जैसे हो, मारपीट कर लगान वसूल कर लो—बस, यही एक मात्र ध्येय है। आपके शब्दों में—

"भारतीय किसानों पर बोझ लदा हुआ है, उसका यदि ठीक नहीं, तो आंशिक अनुमान लगया जा सकता है। भूमि कर की अत्यधिकता, जमींदारों की माल गुजारी (खुदकाश्त आदि की) साहूकार द्वारा शोषण और अफसरों द्वारा जबर्दस्ती की वसूली किसान को घोर दरिद्रता में छोड़ देती है और यही दरिद्रता ही उसका भाग्य है। इसीलिए इसका निपटारा सूझ नहीं पड़ता। चाहे क्रांतिकारी राजनीतिज्ञ हो या विकासवादी, उसे चाहिए कि पहले वह नींव स्थापित करने के लिए घोर परिश्रम कर ले, तब अर्थशास्त्री उस पर कोई नई इमारत खड़ी कर सकता है।"

अब राजनीतिज्ञ क्या करें—इस विषय में राव साहब की सलाह बहुत ही उपयुक्त है और उसी की ओर अपने देश के नेताओं का ध्यान खींचना हमारा उद्देश्य है। इस छोटी-सी टिप्पणी में इस विभिन्न तथा कष्टदायक समस्या पर विशेष प्रकाश नहीं डाला जा सकता। हम स्वयं यह सोचकर कि आखिर क्या उपाय है—चुप रह जाते हैं। उपाय जो कुछ है वह सरकार के साथ है, या प्रांतीय कौंसिल सरकार से बहुत कुछ करा सकती है। पर प्रांतीय कौंसिल के धनीमानी दलबन्दी वाले सदस्य कोई उपाय बतलाने पर भी उनका अनुकरण करेंगे इसमें हमें संदेह है। और इसीलिए संदिग्ध होते हुए भी हम राव साहब की पांच बातों की ओर ध्यान देने की प्रार्थना करते हैं।

1 उचित मात्रा में लगान घटा दिया जावे। लगान माफी या किश्त बन्दी का तरीका चलाया जावे। भूमि कर जमींदार की वास्तविक वसूली के हिसाब से लगाया जावे न कि उसकी वसूली की संभावना पर।

2 नहर का रेट इतना घटा दिया जावे कि सबके लिए आबपाशी सस्ती पड़े। आज की की तरह केवल अमीरों के काम लायक ही न हो।

3 जमींदारों को उनकी जिम्मेदारी सिखलानी चाहिए तथा जायज वसूली से अधिक वसूली करने की आज्ञा उन्हें नहीं देनी चाहिए।

4 किसानों का मौजूदा कर्जा जहां तक हो काट दिया जावे और कानून बनाकर सूद की दर तय कर दी जावे। साहूकारों को बहीखाता रखने के लिए बाध्य किया जावे, तथा उन्हें केवल किसान को खरीद लेने के लिए रुपया देने से रोका जावे।

5–सरकारी अफसरों को किसानों से नाजायज वसूली से रोका जावे। बड़े सरकारी कमचारियों के वेतन में कमी की जावे, और उससे रुपया बचाकर बहुत ही कम वेतन पाने वाले सरकारी कर्मचारियों का वेतन बढ़ा दिया जावे।

नैनीताल के कौंसिल के अधिवेशन में यह प्रश्न विचारार्थ पेश होगा, अथवा नहीं– इसमें संदेह है। किसानों की सुधि लेने की किसे फुर्सत है–किसे अवकाश है। फिर भी, इतना हम कह देना चाहते हैं कि यदि राव साहब की योजना को सरकार ने नहीं स्वीकार किया, तो सिद्ध हो जायगा कि वह किसानों के हित का विशेष ध्यान नहीं रखती।

[संपादकीय। 'जागरण', 8 मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

पंजाब के हिन्दू मुसलमानों में समझौता

हमें समाचार में यह खबर पढ़कर बड़ा हर्ष हुआ कि पंजाब के हिन्दू-मुसलमानों में अब समझौते की सूरतें पैदा हो गई हैं और संयुक्त निर्वाचन के आधार पर समझौते की शर्तें तय हो गई हैं। हां, अभी हरेक जाति की जगहें उसकी जनसंख्या के अनुसार स्वरक्षित रहेंगे हम तो जगहों का धार्मिक आधार स्वरक्षित किया जाना ठीक नहीं समझते। लेकिन जब हम देखते हैं कि अन्य राष्ट्रों में धर्म का विरोध न होने पर भी राजनैतिक दलबंदियों में किसी तरह की कमी नहीं हुई और आपस में दंगे होते रहते हैं, तो हम समझते हैं कि धर्म के आधार पर जगहों का स्वरक्षित हो जाना भी क्यों न स्वीकार कर लिया जाय। संतोष की बात है कि इस समझौते में सर फजले हुसेन का मुख्य हाथ है, इसलिए उसे मुसलमान बड़ी खुशी से मंजूर कर लेंगे। हम तो संयुक्त निर्वाचन का मंजूर हो जाना ही शुभ समझते हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', ८ मई १९३३ में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

महात्मा जी का व्रत

महात्मा गान्धी ने ४ मई से इक्कीस दिन का व्रत रखने का निश्चय किया है और उनके निश्चय कितने अटल होते हैं, यह हम सभी जानते हैं। हरिजनों के उद्धार के विषय में जब उन्होंने अनशन किया था, उस समय उन्होंने कहा था–यदि आवश्यकता हुई, तो वह फिर व्रत रखेंगे। पर वह आवश्यकता इतनी जल्द आ जाएगी, यह हमारा अनुमान न था। इसके पहले दोनों व्रतों का विशेष उद्देश्य था। उस उद्देश्य के पूरे होते ही उन व्रतों का अंत हो गया। उन अवसरों पर जनता को अधिक कार्यशील होने की उत्तेजना मिली थी। वह जानती थी, उसे क्या करना है। अगर हिन्दू-मुसलिम एकता की समस्या थी तो उस समस्या को हल करने में अपनी तत्परता दिखाकर, यदि हरिजनों के मताधिकार का प्रश्न था तो वह अधिकार स्वीकार करके, वह व्रत का अंत कर सकती थी। उसे अपना लक्ष्य सामने नजर आता था, पर वह व्रत के काबू से बाहर है। यह अपनी पूरी अवधि भर चलेगा, तत्परता या संगठन या सच्चाई का प्रमाण इसे नहीं तुड़वा सकता।

जहां तक हमें ज्ञान है, इस बीच में दृश्य रूप से ऐसी कोई बात नहीं, जो इस व्रत का कारण कही जा सके। हरिजनों के उद्धार का काम समस्त देश में हो रहा है। उन्हें गंदे मकानों से निकालकर स्वच्छ मकानों में रखने की, उनसे मेल-जोल बढ़ाने की कोशिश बराबर हो रही है। शिक्षित समाज अपनी पुरानी गलतियों को सुधारने में लगा हुआ है। उच्च कुल के व्यक्ति पंजे और झाड़ू लिये गलियों और पाखानों की सफाई कर रहे हैं, कांग्रेस का प्रोग्राम एक प्रकार से स्थगित हो गया है। और उसकी अधिकांश शक्ति अछूतोद्धार के काम में रत है। यद्यपि यह यथार्थ है कि अभी जो कुछ हो रहा है, उसमें दिखाने का भाव ही प्रधान है, और दिलों की सफाई का महात्मा जी के शब्दों में, आत्म-शुद्धि, अभी बहुत दूर की बात है, पर इसमें संदेह नहीं है कि मकान की नींव पड़ा गई है और इस प्रश्न ने जनमत को अपनी ओर खींच लिया है। सनातन-धर्म के अनुयायियों में भी ऐसे बहुत थोड़े सज्जन रह गए हैं, जो हरिजनों के उत्थान का महत्व न समझते हों; राजनैतिक महत्व नहीं, धार्मिक और आध्यात्मिक महत्व। नगरों में सनातनी भाइयों के जुलूस निकलते हैं, पर जनता उनकी उपेक्षा करती है, उन पर तालियां बजाती है। हिन्दुत्व अब कहीं नजर आता है, तो गुंडों में, जो कभी-कभी हरिजन-समाजों में विघ्न डालने की चेष्टा करते हैं, पर मुंह की खाते हैं। फिर हम जैसे सांसारिक बुद्धि के प्राणी इस व्रत का मर्म क्या समझ सकते हैं। हां, महात्मा जी के इन शब्दों से, जो उन्होंने एक प्रेस-प्रतिनिधि के एक प्रश्न के जवाब में कहे, हम इस विषय में कुछ कयास अवश्य दौड़ा सकते हैं–

'मेरे इस निश्चय का दायित्व किसी एक व्यक्ति पर नहीं, पर निस्संदेह यह बहुत दिनों से होने वाली घटनाओं का परिणाम है। यह बात नहीं है कि मैं पहले अंधा था। वे मूक और अज्ञात भाव से मेरे मन को प्रभावित करती चली जाती थीं।'

तो क्या इस व्रत का कारण बंगाल के हिन्दुओं के पूने के समझौते से विरोध है? या यह उन पत्रों का असर है, जो महात्मा जी के पास पहुंचते रहे हैं और जिनमें यह आक्षेप किया जाता रहा है कि यह महात्मा जी की राजनैतिक चाल है। महात्मा जी कहते हैं–

'जब राष्ट्र में सुधार का कोई वृहद् आंदोलन होने लगता है, तो उसे अधिक गतिवान् और पवित्र बनाने के विचार से लोग उपवास करते हैं।'

आगे आपने यह भी कहा है–

'किसी धार्मिक आंदोलन की सफलता उसके अनुयायियों की बौद्धिक क्षमता पर नहीं, वरन् पूर्ण रूप से आध्यात्मिक साधनों पर अवलंबित होती है। व्रत उन साधनों का सबसे बड़ा सहायक है।'

इन वाक्यों की गंभीरता सर्वमान्य है। महात्मा जी ने हमेशा अपनी भूलें स्वीकार की हैं। उनका बड़प्पन बहुत कुछ उनके इस सत्य-प्रेम ही के कारण है। वह अब भी अपनी भूल स्वीकार करने को तैयार हैं, यदि कोई उन्हें यह विश्वास दिला दे कि वे भूल कर रहे हैं। पर हमें तो ऐसा आदमी नजर नहीं आता, जो महात्मा जी को उनकी भूल का विश्वास कराए। हमें तो अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ रहना चाहिए। महात्मा जी को

इस कठिन परीक्षा में हम जो सहायता दे सकते हैं, वह यही है कि स्वयं आत्म-शुद्धि का यत्न करें। महात्मा जी शब्दों में कहें या न कहें, पर यह स्पष्ट ही है कि वह उद्धार की वर्तमान प्रगति से असंतुष्ट हैं, और उसे अधिक सजीव बनाने का साधन उनके पास केवल यही है कि राष्ट्र की आत्मा और शुद्धि का संचार करें, और इसका साधन अपनी आत्म-शुद्धि के सिवा और क्या हो सकता है। महात्मा जी उन लोगों में नहीं हैं, जो दूसरों पर जिम्मेदारी रखकर संतुष्ट हो जायं। वह आत्मा की व्यापकता का अनुभव कर चुके हैं और उसी शक्ति से हम निर्जीव अकर्मण्यता पर विजय पा सकते हैं हमारी ईश्वर से यही प्रार्थना है वह सद्बुद्धि और प्रकाश दें।

[संपादकीय। 'जागरण', 8 मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

कानपुर-दंगा रिपोर्ट

डा० भगवानदास आजकल वानप्रस्थ-जीवन बिता रहे हैं। उन्होंने अपना समूचा जीवन प्राचीन भारतीय संस्कृति के अध्ययन, वास्तविक भारतीयता के विकास तथा प्राचीन भारतीय पांडित्य का ज्ञान कराने में बिताया है। वे बड़े नर्म विचार के साधु हैं, किंतु भारतीय नौकरशाही की उच्छृंखलता के कारण वे कांग्रेस में शामिल हो गये और युक्तप्रांतीय कांग्रेस कमेटी के सभापति भी रह चुके हैं। उन्होंने जेल-यात्रा भी की है। इसी प्रकार पं० सुन्दरलाल उन ब्रह्मचारी तथा दृढ़व्रती पुरुषों में से हैं, जो केवल अध्ययन को अपना सर्वस्व मानते हैं, जो अध्ययन करना ही अपने जीवन का उद्देश्य समझते हैं, किन्तु जिन्होंने यह भी देख लिया कि दासता की दशा में अध्ययन भी स्वतंत्रतापूर्वक नहीं हो सकता। अतएव वे कांग्रेस के झंडे के नीचे केवल दासता से 'बचने' के लिए चले आये।

डा० भगवानदास कानपुर-दंगा-समिति के सभापति तथा पं० सुन्दरलाल मंत्री थे। इस समिति के विषय में समाचार-पत्रों में काफी लिखा जा चुका है। इसका उद्देश्य भी हमें मालूम है। और यह भी मालूम है कि इसकी छः सौ पन्ने की मोटी रिपोर्ट को युक्त प्रांतीय सरकार ने 'अनधिकारपूर्ण-समाचार पत्र' कहकर जब्त कर लिया है। रिपोर्ट में वास्तव में क्या खुराफात' है, यह हम नहीं कह सकते। हमने रिपोर्ट का कुछ अंश कानपुर के 'प्रताप' तथा 'वर्तमान' में छपा देखा था जिस समिति के अध्यक्ष तथा मंत्री उपर्युक्त व्यक्ति हों, उस समिति की रिपोर्ट वास्तव में बहुत ही सूचनापूर्ण और 'ठंडे मस्तिष्क' की उपज होगी, इसमें हमें सन्देह नहीं था, पर रिपोर्ट का प्रकाशित अंश देखकर हमारा यह दृढ़ विश्वास हो गया कि वास्तव में यह बड़ी सुंदर चीज है, सरस है, सूचनापूर्ण है, उपदेशप्रद है।

पर, ऐसी अच्छी वस्तु को हम देख भी न सके और सरकार ने एक अजीब कानून का पुछल्ला लगाकर रिपोर्ट दबा दी। इस विषय में डा० भगवानदास की जो अपील हमारे प्रांत के भारतीय गवर्नर तथा होम मेंबर के नाम प्रकाशित हुई है, उसमें हम भी अपने को शामिल करते हैं और ब्रिटिश राज्य, भारत और हिन्दू-मुसलिम हित के नाते ही उनसे

प्रार्थना करते हैं कि तुरंत रिपोर्ट पर से बंधन हटा लें, अन्यथा 'नौकरशाही की जड़ता' और भी प्रकट हो जाएगी तथा यह प्रकट हो जाएगा कि सरकार क्या चाहती है?

[संपादकीय। 'जागरण', 15 मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

पाकिस्तान की नयी उपज

डा० सर मुहम्मद इकबाल पच्छिम में मुसलिम राज्य का स्वप्न देख रहे हैं। अब उनके भी एक उस्ताद निकल आए हैं। वह 'पाकिस्तान' के नाम से एक मुसलिम साम्राज्य का स्वप्न देख रहे हैं। इस पाकिस्तान में कश्मीर, पंजाब, बलोचिस्तान, सीमाप्रांत और अफगानिस्तान आदि सम्मिलित होंगे और वह भारतवर्ष से बिल्कुल पृथक् होगा। आविष्कारक महोदय का कथन है, कि इन प्रांतों में तीन करोड़ मुसलमान आबाद हैं, जो हालैण्ड, स्पेन, बेलजियम आदि देशों से अधिक हैं। उधर ईरान तुर्किस्तान, शाम, इराक, मिस्त्र, तुर्की मुसलिम रियासतें पहले ही से हैं। यह पाकिस्तान सूबा उनके साथ मिल गया, तो एक महान मुसलिम साम्राज्य का उदय हो जाएगा ! और इसलाम के इतिहास में जो बात पहले कभी नहीं हुई थी, वह हो जाएगी ! बात तो बहुत अच्छी है; पर कुछ कारण ही तो हैं कि अभी तक तुर्की और ईरान में मेल नहीं हो सका। मेल का जिक्र ही क्या, अभी थोड़े दिन पहले वैमनस्य हो गया था। फिर अफगानिस्तान क्यों नहीं तुर्की से जा मिलता ! और तुर्कीस्तान को अफगानिस्तान से मिलने में कौन बाधक हो रहा है ! अगर धर्म ही राष्ट्रों को मिला दिया करता तो जर्मनी और फ्रांस और इटली आदि राष्ट्र कब के मिल चुके होते। भारत के पत्रों में इस बात पर बड़ी हलचल मच गई है। हम समझते हैं कि जब तक पाकिस्तान का जन्म होगा, दुनिया का रुख और हो चुका होगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 15 मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

बेकारी का स्वास्थ्य पर प्रभाव

योरोप और अमेरिका में बेकारी की संख्या निश्चित की जा सकती है। बेकारों को गुजारे के लिए राष्ट्र की ओर से वृत्ति मिलती है जिसमें कम से कम भोजन मिल जाता है। फिर भी वहां इस बेकारी का स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ रहा है। अमेरिका में कितने ही परिवार केवल आलू खाकर दिन काट रहे हैं। एक नगर में भूख से दुर्बल बालकों की संख्या बढ़कर साठ प्रति सैकड़े हो गई है। एक दूसरे मदरसे में सौ में निन्यानबे छात्रों का वजन औसत से कम था। फलस्वरूप क्षय रोग का जोर बढ़ रहा है। राष्ट्र-संघ ने इस समस्या पर विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि राष्ट्रों ने किफायत की धुन में अगर बेकारों की वृत्ति में कमी की या स्वास्थ्य-विभाग में कांट-छांट की गई, तो इसका बड़ा भयंकर परिणाम होगा। इस बेकारी का शरीर पर ही बुरा असर नहीं पड़ रहा है। ब्रिटिश, जर्मन और अमेरिकन जातियों में इसका मनोवैज्ञानिक असर और भी बुरा पड़ा है। आवश्यकताओं के पूरा न होने से जो ग्लानि उत्पन्न होती है, वह राजनैतिक परिस्थिति

को दूषित कर रही है और ऐसी संस्थाएं बढ़ती जाती हैं, जिनका उद्देश्य क्रांति का है। योरोप में जब यह हाल है, तो भारत का अनुमान कीजिए, जहां सौ में पचास आदमी अवश्य ही बेकार हैं और उन्हें वृत्ति के नाम पर मुट्ठी-भर चना भी मयस्सर नहीं।

[संपादकीय। 'जागरण', 15 मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

महात्मा जी की अपील पर सरकार का जवाब

महात्मा जी ने अपने वक्तव्य में सरकार से बंदियों को छोड़ने की जो अपील की थी, उसका सरकार ने बहुत ही निराशाजनक जवाब दिया। जब कांग्रेस ने सत्याग्रह को एक महीने के लिए स्थगित कर दिया, तो क्या गवर्नमेंट को कम से कम अपने वचन का पालन करने के लिए ही बंदियों को मुक्त न करना चाहिए था, एक महीने के लिए सही? जब सत्याग्रह फिर शुरू हो जाता, तो उन्हें सारे बंदियों को गिरफ्तार कर लेने का अख्तियार था। पर सरकार ने परिस्थिति का, राष्ट्र की शान्ति का और महात्मा जी के सम्मान का, जरा भी विचार न किया और अपने कम्युनिक में साफ लिखा दिया—जब तक कांग्रेस कमेटी सत्याग्रह को उठा न देगी, वह कैदियों के साथ किसी तरह की रियायत न करेगी। इससे अगर कुछ नतीजा निकाला जा सकता है, तो वह यह है कि सरकार कांग्रेस से इतनी भयभीत है कि एक महीने के लिए भी कैदियों पर विश्वास नहीं कर सकती, उसी तरह जैसे कोई शेर को पिंजरे में फंसाकर उसे खोलते डरता हो, कि न जाने बाहर निकलकर क्या गजब ढाए। सरकार बार-बार कह चुकी है कि कांग्रेस-आंदोलन निर्जीव हो गया है। निर्जीव चाहे न हुआ हो, पर यह सभी मानते हैं, कि जनता में निराशा इतनी गहरी हो गई है कि अब उन्हें अपनी तकदीर को रोने के सिवाय और कोई सहारा ही नहीं रहा। वह अपंग की भांति आंखों से देखते हैं, दिल में कुढ़ते हैं, पर कुछ नहीं कर सकते। ऐसी दशा में कांग्रेस के नेता छूटकर भी क्या कर लेते। फिर कितने कांग्रेसी ऐसे भी हैं, जो राजनीति की ओर से निराश हो गए हैं और देश के उद्धार के लिए किसी योरोपीय संघर्ष की राह देखते रहे हैं, और अब अपना जीवन जन-सेवा में लगाना चाहते हैं। उन्हें जेल में रखकर सरकार उन्हें जबरदस्ती राजनीति में फंसाये हुए है। जो कुछ हो सरकार का यह व्यवहार मुगलों या अफगानों के जमाने का-सा है, आजकल के शिष्ट शासन का-सा नहीं।

[संपादकीय। 'जागरण', 15 मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-2 में सकलित।]

महान तप-2

तपस्वी गान्धी ने सोमवार आठ मई से, अपना महान् व्रत आरम्भ कर दिया। हमारे ये इक्कीस दिन इक्कीस युग की भांति कटेंगे। समस्त भारत की आंखें उसी ओर लगी रहेंगी। सोते-जागते, हमें वही ध्यान रहेगा। प्रातःकाल हम बड़े उतावलेपन से समाचार-पत्र खोलेंगे और धड़कते हुए हृदय से महात्मा जी के तप के समाचार देखेंगे और अन्त में

जब इक्कीसवें दिन की प्रभात आएगा, उस दिन राष्ट्र का हृदय कितनी तेजी से धड़केगा और व्रत को सकुशल समाप्त होने पर कितने वेग से उछलेगा, कितने उन्माद से नाचेगा! यह वह व्रत है, जो त्यागमूर्ति पं० जवाहरलाल जी के शब्दों में, विफल हो ही नहीं सकता। यह वह संग्राम है, कि इधर तलवार हाथ में ली और विजय हाथ बांधे आकर सामने खड़ी हो। महात्मा ईसा ने सलीब पर चढ़कर ही संसार को विजय किया, सुकरात ने जहर का प्याला पीकर ही मिथ्या पर विजय पाई। दस कदम आगे बढ़ने को विजय और दस कदम पीछे हटने को पराजय कहना भौतिक जगत् की बात है। अब अध्यात्म-जगत् में साधना ही विजय है। साधना से रक्त की नदी नहीं बहती, जीवन का स्रोत निकलता है और संपूर्ण जगत् को स्फूर्ति से भर देता है।

यह व्रत हमें महात्मा ईसा के उस चालीस दिन के व्रत की याद दिलाता है, जो उन्होंने आत्म-शुद्धि के लिए अपने धर्म के प्रचार के पहले किया था। चालीसवें दिन जब व्रत समाप्त हुआ, उनकी आत्मा ईश्वरता को प्राप्त हो चुकी थी। शैतान आकर उसे तरह-तरह के प्रलोभन देता है, तरह-तरह से परीक्षा में डालता है, पर वह आत्मा अविचलित है, उस पर न लोभ का जादू चलता है, न धमकियों का। वह आत्म-शुद्धि की वह शक्ति थी जिसने असंख्य निराशों को आशा और पीड़ितों को औषधि प्रदान की, जिसने कई सदियों तक ऊंच-नीच के, छोटे-बड़े का भेद मिटा दिया, जिसने पतितों का उद्धार किया। यह तपस्या भी उतनी ही महत्वपूर्ण है।

क्या अब ही हम अपने बड़प्पन का, अपनी कुलीनता का ढिंढोरा पीटते फिरेंगे। यह ऊंच-नीच, छोटे-बड़े का भेद हिन्दू-जीवन के रोम-रोम में व्याप्त हो गया है। हम यह किसी तरह नहीं भूल सकते, कि हम शर्मा हैं, या वर्मा, सिन्हा हैं, या चौधरी, दूबे हैं या तिवारी, चौबे हैं या पांडे, दीक्षित हैं या उपाध्याय। हम आदमी पीछे हैं, चौबे या तिवारी पहले। और यह प्रथा कुछ इतनी भ्रष्ट हो गई है, कि आज जो निरक्षर भट्टाचार्य हैं, वह भी अपने को चतुर्वेदी या द्विवेदी लिखते जरा भी संकोच नहीं करता। वह अपने पुरखाओं की साधना के बल पर आज भी चतुर्वेदी बना हुआ है, पर जिसने वेदों का अध्ययन किया है, उसे यह अधिकार नहीं कि वह अपने को चतुर्वेदी कह सके। कोई आदमी कुरान कण्ठ करके हाफिज हो सकता है, लेकिन यहां जो वेदों के ज्ञाता हैं, वे चतुर्वेदी नहीं कहे जा सकते। चतुर्वेदी तो वे हैं, जिन्होंने वेदों के दर्शन भी नहीं किए। यह और कुछ नहीं, अपनी कुलीनता का ढिंढोरा पीटना है, अपने अहंकार का बिगुल बजाना है। हम अपने को त्रिवेदी लिख कर मानो गला फाड़कर चिल्लाते हैं, कि "हम और सब प्राणियों से ऊंचे हैं, हमें दंडवत् करो, हमारा चरण-रज माथे पर लगाओ।" हम इतने लज्जा-शून्य हो गए हैं!

होना तो यह चाहिए कि यदि हममें बड़प्पन की कोई बात हो तो भी, उसे छिपावें। बड़प्पन तभी बड़प्पन है, जब उसमें नम्रता हो। जिस बड़प्पन में अहंकार भरा हुआ हो, वह बड़प्पन नहीं कुछ और है। त्रिवेदी जी ने वेदों के दर्शन भी नहीं किए लेकिन गलती से आप उन्हें त्रिवेदी न कहें, तो फिर देखिए आपकी क्या गति होती है। त्रिवेदी जी हाथ-पांव के मजबूत हैं, तो आपको शीघ्र ही अपनी गलती का मजा मिल जायगा, नहीं तो

उनका कोप कहीं नहीं गया है। कुलीनता के इस अहंकार को हमें अपने अंदर से निकाल डालना होगा। तभी तो हम सम-भाव से एक-दूसरे को देख सकेंगे। ऐसे अल्लों से हमारे भेद-भाव को उत्तेजना मिलती है। त्रिवेदी-त्रिवेदी एक हो जाते हैं, चौबे-चौबे एक, कपूर-कपूर एक, कायस्थ-कायस्थ एक। इस भेद-भाव से ऊंच-नीच की श्रेणियां बनी हुई हैं। कोई पहले डंडे पर, कोई सबसे ऊपर, पर हैं सब उसी एक अहंकार-सूत्र में बंधे हुए। समाज संगठन ही इसी भेद रचना से हुआ है। हम नहीं समझते, अपने नाम के साथ कुलीनता की पदवियां न लगाने से समाज की क्या हानि होगी। हम ब्रह्मनाथ हैं। इसमें क्या कि हम त्रिवेदी हैं या कपूर, या माथुर या चन्देल। अगर किसी को घमंड हो कि हम चंदेल वंश के हैं, हमारे बाप-दादे बड़े वीर थे, तो फिर दूसरों को यह घमंड क्यों न हो कि हम त्रिवेदी हैं और हमारे लकड़दादा ने वेद पढ़े थे। लकड़दादो का कमाया हुआ यश बहुत दिन भोग चुके, अब उसका त्याग करना पड़ेगा। जब हम अपने को मिश्र या कपूर, या टंडन, या माथुर कहते हैं, तो मानो अपने को समाज से अलग कर लेते हैं, ये सारे अल्ल उस पृथकता का पालन करते हैं। अगर हम भूल जायें कि हम पांडे या तिवारी हैं, तो हम संभवत: दूसरों के सामने नम्र हो जाएंगे। तिवारी का कवच पहन कर तो मानो हम संपूर्ण समाज से लड़ने को तैयार हो जाते हैं।

हमारे अभिवादन की प्रथा भी उसी भेद-भाव में जकड़ी हुई है। तिवारी जी की अभी जुम्मा-जुम्मा आठ दिन की पैदाइश है, दूध के दांत भी नहीं टूटे, लेकिन वह किसी के सामने सिर नहीं झुका सकते। अब्राह्मण चाहे अस्सी साल का बूढ़ा क्यों न हो, उसका धर्म है कि तिवारी जी को दंडवत् करे, उनके चरण छुए, नहीं तिवारी जी अपना अपमान समझेंगे। यह दंडवत् की समस्या भी आयु के आधार पर, या अन्य किसी आधार पर हल करनी होगी उसका साप्रदायिक आधार नष्ट करना होगा। जब पूज्य गान्धी जी इस भेद-भाव को मिटाने के लिए अपने प्राणों का बलिदान कर रहे हैं, तो क्या हमारा धर्म नहीं है कि हम भी इस अहंकारमय मनोवृत्ति का परित्याग करें? अगर कोई बूढ़ा हरिजन है, तो उसे हमारे सम्मान का पात्र होना चाहिए। अबे तबे करके किसी को पुकारना उसका अपमान करना है। मूर्खों से तो नहीं पर जो पढ़-लिखे हैं उनसे यह आशा की जाती है कि हरिजनों के साथ शिष्टता का व्यवहार करें। बड़प्पन दूसरों को नीच समझने में नहीं, सज्जनता और शिष्टता में है। हमें इन छोटे-छोटे भेद-पोषक साधनों का संस्कार करना होगा, उन्हें उस अग्नि कुण्ड में डालना होगा, जो महात्मा गान्धी ने अपने तेज से प्रज्ज्वलित किया है। एक दिन झाड़ू हाथ में लेकर सड़कों पर तमाशा कर देने से यह अहंकार न मिटेगा, जो हरिजनों के अछूतपन का मुख्य कारण है। इसकी गहरी जड़ों को खोदकर समाज से निकालना होगा हमारी ईश्वर से यही दान प्रार्थना है कि भारत के प्राण गान्धी के इस तप को सफल कीजिए और हमें सामर्थ्य दीजिए कि हम सच्चे मन से उनके इस तप को सफल बनाने और उनके द्वारा अपने को अहंकार की बेड़ियों से मुक्त करने में कृतकार्य हों।

[संपादकीय। 'जागरण', 15 मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

विज्ञापन-कला

भारत में अभी पत्रकार-कला का विकास ही साधारण हुआ है, तो विज्ञापन-कला के विषय में क्या कहा जाय? हमारे समाचार-पत्रों में अधिकांश विज्ञापन बड़े भद्दे ढंग के, कुरुचिपूर्ण तथा नीरस होते हैं। यदि विज्ञापन की चीज नहीं बिकती, तो वह समाचार-पत्र को दोष देता है। अपना दोष उसे क्या मालूम? हर्ष है कि इन बातों की ओर हमारे देशवासियों का भी ध्यान आकृष्ट हो रहा है। लखनऊ में, लाटूश रोड पर एक उत्साही सज्जन ने 'एफेक्टिव एडवरटाइजिंग एजेंसी' नाम से एक कंपनी खोली है, जो केवल दूसरों का विज्ञापन ही बनाएगी। इस संस्था के बनाए कुछ विज्ञापन हमने समाचार-पत्रों में छपे देखे हैं, इसके संचालक मि० सेठ का एक लेख दैनिक 'वर्तमान' में भी पढ़ा था। इन बातों से यह सिद्ध होता है कि उन्हें अपनी कला का वास्तविक ज्ञान है। आशा है, यह संस्था उन्नति करेगी विज्ञापक लोग इस संस्था से लाभ उठावेंगे।

[संपादकीय। 'जागरण', 15 मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

श्री रामेश्वर सहाय सिन्हा

हमने युक्तप्रांत के सभी म्युनिसिपल तथा जिला बोर्डों के शिक्षा-विभाग की रिपोर्ट देखी है। व्यय, छात्र-संख्या, कार्य तथा योग्यता के नक्शे देखे हैं और यह सब जानने के बाद हमारा यह दृढ़ विश्वास हो गया है, कि काशी म्युनिसिपल बोर्ड का शिक्षा-विभाग हमारे प्रांत के सब शिक्षा-विभागों से अच्छा है, सुसंचालित है, सुव्यवस्थित है और इसकी पढ़ाई-लिखाई– औद्योगिक शिक्षा में वह जड़ता नहीं है, जो सरकारी, नौकरशाही संचालित स्कूलों में पाई जाती है। यही नहीं, शिक्षा के साथ, बालक के कोमल मस्तिष्क का देश की दुर्दशा, राजनीतिक हीनता का ज्ञान कराने का, उन्हें भारत के भावी सुधारक बनाने की तथा अध्यापकों को सच्चे मास्टर बनाने का जितना प्रयत्न इस नगर की म्युनिसिपैल्टिी ने किया है, उतना किसी ने नहीं।

और, हमें खेद है, खेद ही नहीं–लिखते लज्जा आती है, कि उस नगर के नागरिकों का सम्मान तो बोर्ड के सरकारी होते ही लुट चुका था, अब उसके बच्चों की पढ़ाई पर भी सरकारी बोर्ड ने कुठाराघात किया है और श्री रामेश्वर सहाय सिन्हा ने जिनकी योग्यता के कारण शिक्षा-विभाग इतना सजीव हुआ था–31 मई से बोर्ड की सेवाओं से पृथक् कर दिए जाएंगे, क्योंकि सरकारी जांच-समिति के सरकारी मेंबर उन्हें कांग्रेसी समझते हैं, राजनीति में भाग लेने वाला समझते हैं। यही उनकी अयोग्यता का सर्टीफिकेट है–जिस अयोग्यता के लिए श्री रामेश्वर सहाय को गर्व होना चाहिए।

[संपादकीय। 'जागरण', 15 मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

सिविल सर्विस

भारतीय सिविल सर्विस ही भारतीय-स्वायत्त-शासन के विकास की सबसे बड़ी बाधा है,

और यही सिविल सर्विस भावी शासन-विधान में भी भारत का शासन करेगी, यही श्वेत-पत्र का सबसे प्रबल विरोध है। भारत-सचिव ने सिविल सर्विस की नई भरती अपने हाथ में रखी है और जो इस समय सिविल सर्विस में हैं, उनकी रक्षा का भार अपने ऊपर लिया है। चूंकि लन्दन ही दिल्ली पर हुकूमत करेगा इसलिए यह आसानी से कहा जा सकता है कि प्रत्येक प्रांत में गवर्नर के ऊपर भी सिविल सर्विस की हुकूमत चलेगी, जो सीधे लन्दन तक अपनी शिकायत पहुंचा सकता है और लन्दन को बाध्य कर सकता है कि वह दिल्ली के द्वारा भी प्रांत के शासन में दस्तंदाजी करे। इस प्रकार यह तय है कि भावी शासन-विधान सिविल-सर्विस का शासन होगा।

जो लोग इस बात को अच्छी तरह से नहीं समझते थे, वे भी समझने लगे हैं। स्वयं सिविल सर्विस के पुराने घाघ भी यही कबूल करते हैं। लार्ड चेम्सफोर्ड की कौंसिल में होममेंबर तथा रौलट बिल के पेश करने वाले, भारतीय सिविल सर्विस के एक पुराने मेंबर पर विलियम विंसेंट ने, जिन्होंने लार्ड रीडिंग के शासन-काल में, पहला सत्याग्रह आन्दोलन दबाने के लिए सब कुछ किया था, हाल ही में अपना एक लेख प्रकाशित किया है, जिसमें आपने इस बात पर संतोष प्रकट किया है कि भावी शासन-विधान में 'भारतीय सिविल सर्विस' वालों को काफी संरक्षण मिला है। आपकी सम्मति में–'यदि भारत में वास्तव में सच्चा तथा न्यायपूर्ण शासन चलाना है, तो सिविल सर्विस का रहना जरूरी है।' पर इसके साथ ही चूंकि उन्हें नए ढंग का और अधिक काम करना पड़ेगा तथा इसके लिए अधिक योग्य लोगों की जरूरत होगी, इसलिए उनको अधिक वेतन इत्यादि देना चाहिए। आपकी यह भी राय है कि बड़े लाट को जो विशेष नियुक्तियां करनी हैं तथा अपना ही एक मंत्री चुनना है, वह भी सिविल सर्विस का ही एक आदमी होना चाहिए।

संक्षेप में, भारत में जो कुछ हो, वह सिविल सर्विस का ही होना चाहिए। भारत को असल स्वराज्य नहीं मिल रहा है। स्वराज्य मिल रहा है सिविल सर्विस को। यही होगी हमारी भावी स्वाधीनता।।

[संपादकीय। 'जागरण', 15 मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग _ में संकलित।]

तपस्वी और महात्मा

हम भारतीयों की प्राचीन परंपरा के अनुसार तप के बिना कोई महात्मा नहीं होता और महात्मा हुए बिना कोई तपस्वी नहीं होता। एक प्रकार से ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। इसीलिए जब महात्मा गान्धी को भारतीयों ने 'महात्मा' की उपाधि दी थी, उस समय तैंतीस करोड़ भारतीयों ने उनकी महत्ता का अनुमान लगा लिया था। अतएव गान्धी जी का अद्‌भुत साहस के साथ इतना बड़ा उपवास निभा ले जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इन पंक्तियों के छपने तक उनके उपवास के ग्यारह दिन सकुशल पूरे हो जाएंगे। ईश्वर की कृपा से शेष दिन सकुशल बीत जावेंगे। और तब, नवीन भारत की नव-आशा गान्धी के सम्मुख देश की सबसे पहली समस्या होगी–देश की राजनैतिक-प्रतिष्ठा तथा

कांग्रेस की महत्ता को प्रतिपादित करना। ईश्वर करे गान्धी जी इस दिशा में अपने उपवास की तरह ही सफल होवें।

इसी अवसर पर हम मौलाना शौकत अली को उनके ऐक्य-स्थापन के प्रयास तथा मालवीय जी इत्यादि कांग्रेसी नेताओं से परामर्श कर सरकार से सुलह कराने के प्रयास के लिए बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि मौलाना सफल होंगे और एक दिन ऐसा भी आवेगा जब वे बड़ी सफलतापूर्वक यह कह सकेंगे कि 'यदि मैंने घोर सांप्रदायिक बनकर जनता का आदर खो दिया था, तो उसे फिर से प्राप्त भी कर लिया था।'

[संपादकीय। 'जागरण', 22 मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

नया कर्ज़ा

काशी की 'म्युनिसिपैलिटी' अब 'म्युनिसिपैलिटी' नहीं रही। अब वह सरकार की, कमिश्नर की, तथा मि० लिंच की एक संस्था है, जिसको किसी दूसरे नाम से पुकारना चाहिए। हमारी समझ में तो जब तक सरकारी शासन है इसे 'सरकारी सफाई खाना' कहना उचित होगा। नाम जो भी कुछ हो, लेकिन इस संस्था ने जिस ढंग से काम शुरू किया है, म्युनिसिपैलिटी में जिस ढंग की पहरा-चौकी हो गई है, उसे देखकर यह आशंका होती है कि आजकल वह स्थान, जहां कांग्रेस का झंडा फहराया करता था अब कलेक्टरी कचहरी का एक टुकड़ा बन गया है।

जो हो, हमें आशा है कि हमारी धारणा गलत होगी और 'सुधार' का अर्थ यह नहीं लगाया जायगा कि साठ वर्ष के ऊपर बूढ़ों को मोटा वेतन दिया जाय, पुलिस या ऐसे ही महकमों के रिटायर्ड लोगों के हाथ में जनता की हानि करने या लाभ करने का अधिकार रहे। यह तो अनुमान किया जा सकता है कि जो अफसर हटाए गए हैं, उनके स्थान पर 'दूध के धोए' 'सरकारी आदमी' बुलाए जायंगे। अफवाह यहां तक है कि म्युनिसिपैलिटी खद्दर का बहिष्कार करेगी। और सबसे बड़ी बात यह है कि, सुना जाता है कि लिंच हुकूमत सरकार से बहुत बड़ी रकम कर्ज के रूप में लेने वाली है। हम काशी-नगरवासियों की ओर से इस बात की चेतावनी दे देना चाहते हैं कि एक बार का बत्तीस लाख का कर्जा अभी तक नहीं पटा है और पचास लाख चुका देने के बाद भी अभागी बोर्ड कर्ज़दार बनी है। वह कर्जा भी सरकारी बोर्ड की देन थी और यह कर्जा भी वही होगा यानी—आगामी सौ वर्ष तक हमारे नगर की बोर्ड नाक तक कर्ज़ में डूबी रहेगी और जो भी कोई गैर-सरकारी बोर्ड आवेगी, वह आयोग्य' सिद्ध हो जायगी। इस विषय में हम 'सरकारी सफाई खाने'—तथा काशी की जनता—दोनों को सावधान कर देना चाहते हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 22 मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

भावी महासमर

मि॰ लायड जार्ज के शब्दों में, दिन प्रति दिन, महासमर के विरोध में जितनी बातें की जाती हैं, उतनी ही अधिक तैयारी आगामी महासमर के लिए की जा रही है। यह महायुद्ध कहां से शुरू होगा, यह कोई नहीं कह सकता। इसका कारण प्रत्येक देश का अपने पड़ोसी के प्रति इतना घोर अविश्वास है, कि किसी के अविश्वास अथवा विरोध की तुलना समता नहीं की जा सकती। जापान का रूस के प्रति दुर्भाव, अमेरिका से वैर तथा चीन के प्रति 'घृणा' का जितना हमें ज्ञान है, उतना ही हम ब्रिटिश-जापान-प्रतिद्वंद्विता, ब्रिटिश-अमेरिकन नौ-सैनिक तथा आर्थिक होड़ और जर्मन फ्रेंच वैर, इटालियन-आस्ट्रियन विरोध या मध्य योरोप की छोटी तथा बड़ी शक्तियों का मनमुटाव भी जानते हैं। किसका विरोध किस समय कितना तीव्र हो जायगा, यह नहीं कहा जा सकता, पर यह निर्विवाद है, कि योरोप या एशिया जहां भी कहीं समर की आग फूटेगी, वह इतनी भयंकर होगी, कि अपनी लपटों में सबको समेट लेगी।

लड़ाई के लिए ईंधन तैयार है। प्रत्येक राष्ट्र की प्रजा घोर दारिद्र्य तथा हाहाकार की लहरों में, भविष्य की बिना कल्पना किए, लक्ष्य का बिना विचार किए, बहती चली जा रही है। यदि इस लहर में सभ्यता के, भौतिक विकास के बोझ से लदी कोई नौका भी है, तो स्वयं डूबती जा रही है। कोई सहारा न देखकर, हरेक राज्य चुंगी की दीवाल से, दूसरे के अपहरण से, अपनी रक्षा कर, दूसरे का संहार करना चाहता है। संसार न चाहता हुआ भी राज्य, अनायास दूसरे का संहार करता ही है। बिना पराए का व्यापार चौपट किए अपना व्यापार कैसे पनपेगा? बिना पराए का सोना छीने अपने यहां सोने का ढेर कैसे लगेगा? इस प्रकार, एक ऐसी सभ्यता में, जिसमें मांग तथा इच्छा को ढील दिया गया है, 'क्या चाहिए'' की भावना शून्य होकर 'जो मिले वही चाहिए' का विचार इतना बंधन मुक्त हो गया है, कि हमारी प्रजा विवेक बुद्धि पर केवल इच्छा का ही राज्य है। हम इच्छा करते हैं, केवल इच्छा के लिए। प्रयत्न करते हैं—केवल इच्छा के लिए।

इसलिए, इच्छापूरक सभी अस्त्र शस्त्रों का संचय हो रहा है, क्योंकि भौतिको इच्छा इतनी सीमित वस्तु है कि यदि सभी इच्छा करें तो सबकी इच्छा की वस्तु एक ही हो जायगी और फलत: अपनी इच्छा पूरी करने के लिए दूसरे की इच्छा कुचल देनी पड़ेगी। इसे कुचलने के लिए हथियारों की जरूरत है और अपनी जान प्यारी होते हुए भी, अपने विकास के लिए यह जरूरी है, कि इन साधनों को अपनाया जाय। अस्तु। साम्राज्य लिप्सा इस समय हमारी इच्छा का केंद्र है। साम्राज्य-विरोधी रूस भी चाहता है, कि जमाना 'सोवियेट' हो जाय। उसे ''विचार का साम्राज्य' चाहिए। अतएव इच्छासंघर्ष दारिद्र्य तथा भौतिकता के कारण लड़ाई की सामग्री पृथ्वी की थाल पर परसी हुई है।

तब लड़ाई क्यों नहीं होती? इसीलिए कि हरेक एक दूसरे से इतने सशंकित हैं, कि अपने मित्र पर भी संकट के समय भरोसा नहीं कर सकते। जापान रूस से लड़ना चाहता है, पर उसे अमेरिका का भय है। ब्रिटेन नहीं चाहता कि अमेरिका जापान को दबा दे, अतएव अमेरिका चीन के मामले में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। फ्रांस जर्मनी को कुचलना चाहता है, पर उसे अब इंग्लैण्ड की मित्रता का भरोसा नहीं। इत्यादि। एक दूसरे

के स्वार्थ आपस में ऐसे संबद्ध हैं, एक दूसरे का हित ऐसा गुथा हुआ है, कि कोई न तो किसी को अपना मित्र कह सकता है न शत्रु, फिर भी, अविश्वास के इस युग में पारस्परिक अविश्वास ही युद्ध को रोक सकता है वरना, यदि दो राष्ट्र भी अपने ऐक्य को पूरी तरह से समझ लें तो आज वे ताल ठोंककर मैदान में कूद पड़ने के लिए तैयार हो जायेंगे।

अस्तु ! लड़ाई की भीषण तैयारी हो रही है। मि० सी० ई० एम० जोड ने हाल ही में अपने एक व्याख्यान में कहा था, कि पिछले वर्ष, महासमर की तैयारी में, सभ्य राष्ट्रों का कुल मिलाकर अठानबे करोड़ पौंड (एक पौंड 15 रुपये का ही जोड़िएगा) खर्च हुआ ! यानी, जब से ईसाई संवत् चला है। (ईसा की मृत्यु के बाद से) प्रति मिनट के पीछे एक सोने का पौंड सोलह रुपये–आजकल तेरह छः आने लड़ाई के सामान पर एक वर्ष में खर्च हो गया। यह संख्या उस समय की है जब दुनिया के बेकरों की संख्या जेनेवा के "मजदूर-दफ्तर" के अनुसार अठारह करोड़ है।

एक ओर यह व्यय है, दूसरी ओर हमारे राजनीतिज्ञ जेनेवा में बैठकर "निश्शस्त्रीकरण" सम्मेलन कर रहे हैं, किंतु यदि भौतिक सभ्यता की प्रगति यही रही तो समर होगा, अवश्य होगा, और मनोविज्ञान के प्रकाण्ड-पंडित, मि० टैंसले के मतानुसार–"कुछ थोड़े से राजनीतिज्ञ एक मेज के चारों ओर बैठकर, एक ऐसी क्रियाशील योजना कभी नहीं बना सकते, जो लड़ाई को समाप्त कर, राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा को ठंडा कर, एक वास्तविक सजीत्व विश्व यंत्र की रचना कर देगा।" (न्यू साइकालोजी 2। 243) महासमर का निदान है–विश्व प्रेम। एक बार विश्व प्रेम खोकर, विश्व वैर की संपूर्णता के बाद ही वह वस्तु पुनः जन्म लेगी।

[संपादकीय। 'जागरण', 22 मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

सच्ची-राजनीति

ब्रिटिश राजनीति की कुछ ऐसी चालें होती हैं जो साधारण आदमी की समझ में ही नहीं आ सकतीं। समय पर बात पलट जाना, हरेक बात को, स्थिति की दशा तथा अवसर को रबड़ की तरह खींचकर उसको अपने मन के अनुकूल अर्थ लगा लेना, और घोर अन्याय और अत्याचार को भी न्याय तथा दयालुता की दुहाई में रंग देना, यह ब्रिटिश राजनीति की ही विभूति, प्रसाद, तत्परता तथा महत्ता है।

हमारे सामने ब्रिटिश राजनीति का सबसे सुन्दर 'प्रहसन' बर्मा के पृथक्करण का प्रश्न है। आज के चार वर्ष पहले, सर चार्ल्स इनेस की गवर्नरी शुरू होने के कुछ ही समय बाद, जिसे देखिए वही-जिस बर्मी नेता की ओर आंख उठाइए वही इस बात का समर्थक मालूम होता था कि बर्मा का हित इसी में है कि वह भारत से अलग कर दिया जावे, वह भारत से अलग एक संघ बना दिया जावे। लार्ड पील ऐसे भूतपूर्व भारत-सचिव तथा माईकेल ओडायर ऐसे भूतपूर्व भारतीय गवर्नर यह चीत्कार करते फिरते थे कि समूचे बर्मा में एक भी ऐसा जिम्मेदार नेता नहीं है जो, भारत से अलग होना न

चाहता हो।

यही नहीं, गवर्नर सर चार्ल्स इनेस अपने सरकारी पक्ष की निष्पक्षता छोड़कर इधर-उधर भटकते फिरते थे, चेष्टा करते फिरते थे कि पृथक्करण के समर्थक बढ़ते जावें। पहली गोलमेज़ सम्मेलन के अवसर पर बर्मी प्रतिनिधि भेजने के समय यह ध्यान रखा गया कि सभी भारत-विरोधी हों। इतने पर भी सर चार्ल्स का विश्वास नहीं हुआ और वे छुट्टी लेकर लन्दन पहुंचे। उस समय, प्रधानमंत्री—भारत के मित्र कहे जाने वाले मि॰ रैमजे मैकडोनल्ड तथा गोलमेज़ के सभापति लार्ड सैंकें ने कहा था, कि यह बात प्राय: निश्चित हो गई कि बर्मा भारत से अलग कर दिया जायगा, क्योंकि सभी बर्मी यही चाहते हैं, अर्थात् "ब्रिटिश सरकार इस विषय में तटस्थ है, वह केवल बर्मी जनता की इच्छा का पालन कर रही है।"

जिस समय बात यहां तक बढ़ गई थी, ब्रिटिश सरकार बर्मा को भारत से अलग कराने के लिए इतना प्रयास कर रही थी, भारतीय नेता चुप थे। कांग्रेस इस विषय में मौन थी। लिबरल लीग भी शांत थी। इन दोनों संस्थाओं ने बड़े सौजन्य के साथ केवल यही घोषित कर दिया था, कि बर्मा भारत के साथ रहेगा अथवा अलग, यह निर्णय स्वयं बर्मी ही कर सकते हैं। तटस्थ रहने का दम भरते हुए भी जहां ब्रिटिश सरकार छिपे-छिपे इस बात की चेष्टा कर रही थी कि बर्मी भूलकर भी भारत के साथ रहने का नाम न लें, कांग्रेस इस विषय में पूरी तरह तटस्थ बनी रही और उसने भूल कर भी बर्मी को यह याद नहीं दिलाया कि ब्रिटेन का बर्मा को अलग रखने का अनुराग केवल तीन कारण से है। बर्मा हित की बात तो एक आडंबर मात्र है एकमात्र वस्तु, एकमात्र कारण जिससे अनायास ब्रिटेन को बर्मा का हित "परेशान" कर रहा है, वह है बर्मा का तेल, बर्मा का चावल, बर्मा का कोयला, बर्मा की चाय और बर्मा का जहाजी अड्डा रंगून—और प्रकृति के यही वरदान इस समय बर्मा के सबसे बड़े शत्रु हो रहे हैं। इन्हीं को अपनी मुट्ठी में रखने के लिए बर्मा की जनता को वास्तविक अधिकार न देकर भारत से अलगकर दुर्बल बनाकर बर्मा को पराधीन रखने का 'षड्यंत्र' किया जा रहा है।

यह बात कांग्रेस ने बर्मा को नहीं सुझाई पर अवसर चूकने के पहले ही बर्मी जाग उठे—जाग ही नहीं उठे, उन्होंने एक स्वर में, अधिकांश की संख्या में यह कहना शुरू कर दिया कि भारत से अलग नहीं होना चाहते वे भारत के साथ ही अपना भाग्य सूत्र भी बांध देना चाहते हैं। कौंसिल का चुनाव हुआ। चुनाव में जनता ने अधिकांश संख्या में उन्हीं लोगों को प्रतिनिधि बनाकर भेजा जो पृथक्करण के विरोधी थे। कौंसिल में पृथक्करण के समर्थन में एक प्रस्ताव पेश हुआ था, वह पास न हो सका, पर इतने से भी ब्रिटिश सरकार को यह संतोष न हुआ कि "बर्मी जनता पृथक्करण नहीं चाहती।" सभाएं हुईं, जुलूस निकले—हर तरह से बर्मी जनता ने पृथक्करण का विरोध किया, फिर भी प्रधानमंत्री तथा भारत सचिव की दृष्टि में—"यह निर्णय नहीं हुआ कि बर्मा असल में क्या चाहता है"—और इसी प्रश्न पर विचार करने के लिए बर्मा कौंसिल का एक विशेष अधिवेशन बुलाया गया, जिसने अवश्य ही बहुमत से पृथक्करण के विरोध में निश्चय कर लिया होता, पर सरकारी कूटनीति तथा जन-हित के शत्रुओं की दुष्ट नीति के कारण

अधिवेशन केवल भाषणों में समाप्त कर दिया गया। पृथक्करण विरोधी नेता अपना भाषण या प्रस्ताव जेब में रखकर वापस चले गए और ब्रिटिश सरकार की दृष्टि में–"बर्मा पृथक्करण या अपृथक्करण–किसी भी बात का निश्चय नहीं कर सका।" भारत सचिव सर सेमुयेल होर का कथन है, "जितनी ही देर बर्मा इस विषय के निपटारे में कर रहा है, उतनी ही देर में उसका शासन विधान निश्चित होगा।" और भारत के प्राय: सभी ऐंग्लोइण्डियन पत्र एक स्वर में लिख रहे हैं कि, "बर्मा की यह कौंसिल इस विषय में कोई निर्णय नहीं कर सकती कि पृथ्क्करण हो अथवा नहीं।" अतएव सरकार को तुरत एक नयी कौंसिल बुलानी चाहिए–यानी नया चुनाव कराना चाहिए।

पिछले कौंसिल-अधिवेशन के समय समाचार-पत्रों में तथा कौंसिल के भाषण तक में बड़ी सनसनी भरी बातें प्रकाशित हुई थीं। कहा गया था कि पृथक्करण का समर्थक दल घूस देकर, फुसलाकर, डराकर लोगों को अपने पक्ष में कर रहा है। संभव है, यही परिस्थिति इस चुनाव के अवसर पर भी हो। यह भी संभव है, कि नए चुनाव की चाल बर्मा के प्रश्न को टालने की चाल है। भारत का संघ निर्माण रोकने की चाल है और चाल है किसी तरह चार वर्ष पहले वाली हवा फिर बह जाती ।

ब्रिटिश राजनीतिज्ञता की यही 'सच्चाई' है, कि वह सीधी-सादी चाल है, यही न्याय है–एक महादेश के प्राचीन अंग को काटकर, उसे घायल कर देने की सच्चाई है, और इसी सच्चाई के साथ हमारे 'संघ' निर्माण की चेष्टा का श्रीगणेश हुआ है। इसी से हम कहते हैं कि ब्रिटिश राजनीति एक रबड़ है, जो बड़ी सरता से घटाया बढ़ाया जा सकता है।

बर्मी नेता नए चुनाव से नहीं डरते। वे लोहा लेने को तैयार हैं। बर्मा का लोकमत पृथक्करण के विरोध में जागृत हो उठा है। फिर भी, ब्रिटेन ने अपनी असली इच्छा लोगों के सामने प्रकट कर दी है। क्या यही सच्ची राजनीति है?

[संपादकीय। 'जागरण', 22 मई 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

हुआपेक्

जापान की साम्राज्य-लिप्सा इस समय इतनी अधिक तीव्र हो उठी है कि थोड़े में उसका पेट भरने ही नहीं पाता। उसने पहले अपने पड़ोसी चीन के अंग से 'कोरिया' काट लिया फिर मन्चूरिया छीना। इसके बाद जेहोल का नंबर आया और चीनी दीवाल के दक्षिण में, पेकिंग के उत्तर में अपने नए विजित प्रदेश को 'हुआपक्' का नाम देकर वह एक नया राज्य स्थापित करना चाहता है। कोई देश कितनी वज्र नीचता कर सकता है, कोई देश अपने पड़ोसी के साथ कैसी घोर दुष्टता का व्यवहार कर सकता है, कोई देश अपने प्रत्येक साम्राज्यवादी देश का अंत देखते हुए भी इतिहास से कैसे आंखें मूंद सकता है, इसका उदाहरण है जापान और जापान से आज हम उतनी ही नफरत करते हैं जितने का वह पात्र है और इसीलिए हम बार-बार कहते हैं कि यह कैसे संभव है कि जापान भारत की सहानुभूति की आशा करे। भारत तथा चीन का साथ हजारों वर्षों का है। चीन

के प्रति भारत के हृदय में जो आदर, जो श्रद्धा, जो सद्‌भाव तथा जो प्रेम है, वह भारतीय ही जानता है। जापान एक नई शक्ति है और चीन तथा भारत ने जापान के अभ्युदय को अपने छोटे भाई की तरक्की की निगाह से, सहानुभूति से देखा था—और वही जापान आप अपने बड़े भाई का गला काटना चाहता है। जापान चाहता है कि चीन के समूचे महादेश पर अपना अधिकार जमा ले और भारत के समूचे महादेश पर अपना व्यापारिक राज्य जमा ले। भारत चीन की तरह दुर्बल अशक्त नहीं है। यह जापान का स्वप्न है और हम जापान को सचेत कर देना चाहते हैं कि भारत में जापानी माल की बिक्री केवल इसीलिए नहीं घट रही कि सरकार चुंगी लगा रही है, पर इसलिए भी कम हो रही है कि जनता ने एक आततायी देश का माल खरीदना पाप समझना शुरू कर दिया है। जापान का सारा दारोमदार व्यापार पर निर्भर करता है और यदि अभी तक वह अंधा बना हुआ है, तो भूल कर रहा है।

[संपादकीय। 'जागरण', 22 मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

अलवर नरेश

इधर कुछ वर्षों से हिन्दू राजाओं पर विचित्र विपत्ति छा रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई छिपी शक्ति इनके राज्य में विप्लव तथा हलचल मचाकर, धीरे-धीरे इन्हें चौपट करने पर तुली है और अभी तक, ऐसे कोई लक्षण नहीं प्रकट होते जिनसे यह कहा जा सके कि इस शक्ति को, इस षड्‌यंत्र को किस प्रकार फोड़ा जाय, दण्ड दिया जाय तथा हिन्दू राजाओं की रक्षा की जाय। काश्मीर के साथ जो घोरतम अन्याय हुआ है, उसका घाव अभी हमारे दिलों पर ताजा है कि अलवर की घटना सामने आ गई है। इधर अलवर में जो भीषण उपद्रव हुए हैं, तथा उसे दबाने के लिए महाराज की सरकार ने जो घोर चेष्टाएं की हैं, उसकी कहानी पूरी तरह प्रकाश नहीं पा सकी है। इसमें कोई संदेह नहीं कि महाराज अलवर में कई पाप थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि उन्होंने हिन्दू राज्य को मुसलिम रियासत बना रक्खा था, पर इसमें भी कोई संदेह नहीं कि उन्होंने सवा के विप्लव को दबाने में दृढ़ता से काम लिया था। विप्लव को दबाने की कैसी तथा किस प्रकार की चेष्टा की गयी थी, इसकी बड़ी रोचक गाथा का भंडाफोड़, ब्रिटिश सरकार ने कहां तक क्या किया, उसका रहस्योद्‌घाटन बड़ी कौंसिल के पिछले अधिवेशन में कराने का प्रयास किया गया था, पर सरकार ने बात ही टाल दी। अब यकायक उसने अलवरेन्द्र से यह कहा कि या तो वे अपने राज्य में जांच-कमीशन बैठावें या दो वर्ष के लिए राज्य को ही छोड़ दें। जांच-कमीशन का सामना करने के लिए इन्दौर-नरेश तथा भरतपुर नरेश से भी कहा गया था, पर दोनों ने ही इस अपमान को स्वीकार करना अनुचित समझा था। अलवरेन्द्र ने भी इस मांग को नामंजूर कर उचित ही किया है। अब दो वर्ष तक दूध के धोए ब्रिटिश अफसर अलवर की दशा सुधारेंगे—जैसे कश्मीर की दशा को आजकल सुधारा जा रहा है।

भारतीय नरेशों पर भारतीय सरकार का ऐसा नियंत्रण एक ओर यह परंपरा स्थापित

करता जा रहा है कि ब्रिटिश भारतीय सरकार देशी रियासतों में हस्तक्षेप कर सकती है—और बुरी तरह हस्तक्षेप कर सकती है। इस परंपरा के स्थापित हो जाने से, आगामी भारतीय सरकार भी उसी के अनुसार कार्य कर सकेगी—हमें इस बात की प्रसन्नता है। पर, आश्चर्य इतना ही है कि इस परंपरा का उपयोग हिन्दू राजाओं से ही क्यों हो रहा है। हिन्दू-सभा चिल्लाती हुई मरी जा रही है। पर भूपाल में हिन्दुओं की दशा की जांच नहीं हो रही है। भावनगर रियासत के विषय में हिन्दू सभा ने जो अपील प्रकाशित की है, उसे पढ़कर खून का आंसू उतर आता है। भावनगर में एक भी सरकारी अफसर जाकर वहां के हिन्दुओं पर होने वाले अत्याचार की जांच नहीं कर आता—सरकार उस दिशा में इतनी तत्परता नहीं दिखा रही है।

अस्तु हमारे पास जो थोड़े बहुत समाचार हैं, उनसे हम विशेष नहीं लिख सकते। फिर भी हम अलवरेन्द्र के साथ सरकारी व्यवहार को हिन्दू-नरेशों पर कुठाराघात समझते हैं। यह भी संभव है कि अलवरेन्द्र को यह अनुभव हो जायगा कि हिन्दुओं के हितों की हत्या कर, उन्होंने अपने राज्य को मुसलिम-राज्य बनाने का जो पाप किया था, उसका प्रायश्चित सामने आ गया।

[संपादकीय। 'जागरण', 29 मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

दक्षिण अफ्रिका का नया चुनाव

दक्षिण-अफ्रिका में भारतीय बहुत ही अधिक मात्रा में बसे हुए हैं। फिर भी कौंसिल में उन्हें इतना कम स्थान दिया गया है कि नए चुनाव का परिणाम देखकर यह सोचना पड़ता है कि भारतीय-विरोधी गोरे अधिक संख्या में विजयी हुए हैं, कि समर्थक नए चुनाव में हरजोग (प्रधानमंत्री) तथा स्मट्स (जेनरल-गान्धी जी के समर्थक तथा मंत्रि-मंडल के सदस्य) के मेल के कारण राष्ट्रीय सरकार बहुत बड़ी संख्या में विजयी हुई। 150 सदस्यों की कौंसिल में 150 राष्ट्रीय दल के हैं। मजदूरदल की बुरी तरह हार हुई है। इस प्रकार, इस कौंसिल में भी भारत विरोधियों का बहुमत हो गया है। यदि कोई आशा है तो जेनरल स्मट्स से। उनके मंत्रिमंडल में रहने से भारतीयों के हितों की थोड़ी बहुत रक्षा होती रहेगी।

[संपादकीय। 'जागरण', 29 मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

मंदिर प्रवेश और हरिजन

महात्मा जी के व्रत तथा तप का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है, कि हरिजनों को मंदिर-प्रवेश का अधिकार एक प्रकार से शून्य के बराबर मिला है। लाखों मंदिर वाले इस महादेश में, कुछ मुट्ठी भर और केवल साधारण मंदिर ही ऐसे हैं, जहां वे दर्शनार्थ जा सकते हैं। हम स्वयं किसी भी तर्क द्वारा यह बात समझ नहीं सकते कि हाड़-मांस की देह वाला, हिन्दू-धर्म पर अभिमान करने वाला कोई हरिजन काशी, विश्वनाथ या

किसी वैसे ही पवित्र मंदिर में क्यों नहीं प्रवेश पा सकता, जब कि स्थान-स्थान पर मल-मूत्र विसर्जन करने वाला सांड़ मंदिर में दर्शनार्थियों पर सींग चलाता हुआ स्वच्छंदता पूर्वक घूम सकता है । इस प्रकार की हठधर्मी का अब युग नहीं है और उच्चवर्ण वालों को ईश्वर को भी अपनी 'स्त्री के समान अपनी ही वस्तु' समझने की मूर्खता का परित्याग करना चाहिए।

पर, इसके साथ ही, किसी भी तर्क द्वारा हम यह नहीं समझ सकते कि अस्पृश्यता-निवारण-आंदोलन में मंदिर-प्रवेश को अनिवार्य स्थान क्यों दिया जा रहा है। समय की जैसी प्रगति है, इन मंदिरों की इस समय जैसी दशा है, उसे देखकर तो यही कहना पड़ेगा कि हमारे हिन्दू-मंदिर भोग और प्रमाद, पुरोहित और पंडे, ईश्वर के नाम पर व्यभिचार तथा दुराचार करने वाले स्वार्थी और लोलुप–दर्शन करने जाने वालों से यह पहला प्रश्न करने वाले कि पैसा चढ़ाओ–पामरों के अड्डे मात्र हैं। मन भर दर्शन नहीं करने पाइयेगा कि पुजारी जी पैसा चढ़ाओ की रट लगा देंगे। जी-भर भगवान् के रूप का ध्यान भी न कर पाइएगा कि चार-पांच आदमी जबर्दस्ती आपके सर में चन्दन-सिन्दूर-रोली रगड़ने लगेंगे और पैसा मांगते-मांगते आपकी टेंट भी टटोलना शुरू कर देंगे। हमने भगवान को मनौती से, घूस से, पैसे से, दक्षिणा से प्रसन्न होने वाला स्वार्थी बना रखा है। पग-पग पर हम पैसा देकर मुक्ति, नजात तथा स्वाधीनता खरीदना चाहते हैं। यह हमारा धर्म है, भक्ति है, अनुराग है। ऐसी दशा में मंदिरों की इतनी महत्ता व्यर्थ की है। हम मूर्ति-पूजा के विरोधी नहीं, टका-पूजा के शत्रु हैं।

हरिजनों के मंदिर-प्रवेश के शत्रु अधिकांशत: वे लोग हैं जो उनकी दरिद्रता को उपहास की, मजाक की वस्तु समझते हैं जो यह नहीं जानते कि इन दरिद्रों के मंदिर जाने-न जाने से विशेष लाभ या हानि नहीं होती है। महात्मा जी के उपवास से देश में हरिजन आंदोलन की बाढ़-सी आ गई है पर हरिजन सेवा का कार्य अवश्य बढ़ गया है। कार्यकर्त्ता वही पुराने हैं और हमें खेद के साथ लिखना पड़ता है कि महात्मा जी के व्रत के दिनों में भी हरिजनों के लिए मंदिरों के द्वार खुलने की संख्या नगण्य-सी थी।

एक ओर विश्व की विभूति अपने प्राणों की बाजी लगाकर समाज के एक परित्यक्त अंग की रक्षा करने की तपस्या कर रही है–और दूसरी ओर हमारे धर्म तथा देवताओं के ठीकेदार अपनी जड़ता, अहम्मन्यता तथा अकड़ पर दृढ़ हैं। ऐसी दशा में जो होना था, उसी के लक्षण दीख पड़ रहे हैं। गान्धी जी ने स्वयं सलाह दी थी कि यदि हरिजनों के लिए मंदिर के द्वार अन्य किसी प्रकार से न खोले जा सकेंगे तो सत्याग्रह की शरण लेनी पड़ेगी। गान्धी जी के लिए सत्याग्रह ही पवित्र तथा अंतिम अस्त्र है, जिससे अन्याय का प्रतिकार किया जा सकता है। पर, साधारण व्यवहार में इस अस्त्र से बड़ी कटुता उत्पन्न होने की संभावना है और सांप्रदायिक-युद्ध' तथा 'वर्ग-युद्ध' की भयंकर आंधी में देश के जर्जर होने की आशंका है। पर, इस समय कट्टर-पंथियों की जड़ता देखकर, ऐसा लक्षण प्रकट हो रहा है कि सुधारक मंदिरों के बहिष्कार तक का आंदोलन करने का विचार कर रहे हैं। बम्बई के 'फ्री प्रेस जर्नल' में इस विषय में एक

छोटा-सा, विचारणीय लेख प्रकाशित हुआ है। लेखक के शब्दों में

'मंदिरों के द्वार खोलने के विषय में जनता की ओर से तत्परता के अभाव का जो भी कुछ कारण हो, जो लोग हरेक प्रकार के छुआछूत को दूर करना चाहते हैं, उनको किसी प्रभावशाली रूप में यह दिखलाना पड़ेगा कि उनका उन मंदिरों के साथ कोई संपर्क नहीं है, जो अपना द्वार हरिजनों के लिए बंद रखते हैं। महात्मा जी ने स्वयं इस विचार पर जोर दिया है। महात्मा जी ने हरिजन-सेवक-समिति के इस विचार को स्वीकार किया है कि वे इस बात को भी अपने छुआछूत-निवारक कार्यक्रम का एक अंग बना लें। यह अवश्य है कि इस प्रकार का कोई कार्य करने के पहले पूरी तरह से सचेत कर देना चाहिए। ऐसे कार्य का अर्थ होगा मंदिर का बहिष्कार; पर इस बहिष्कार से लोकेच्छा के प्रवाह का पता चलेगा। विशेषकर उस स्थान के लोगों की इच्छा का पता चलेगा, जहां अधिकांश मंदिर जाने वाले यह अनुभव करते हैं कि ऐसे मंदिर में दर्शनार्थ जाना अधार्मिक है जो उसी मूर्ति के पुजारी हरिजनों को दर्शनार्थ नहीं जाने देते।'

लेखक चाहता है कि उपवास के दिनों में ही ऐसा सत्याग्रह शुरू हो जाता, पर हर्ष का विषय है कि इस दिशा में इतनी जल्दी नहीं की गई। यह एक गंभीर समस्या है और इसे अंतिम अस्त्र बनाना चाहिए। किंतु धर्म के ठेकेदार, भिक्षावृत्ति से जीने वाले, क्षेत्र में भोजन कर, मुफ्त का माल मारकर, दुराचार तथा अनाचार से पेट की गाड़ी चलाकर, आडंबर, पाखंड, स्वार्थ तथा पैसे की पूजा करने वाले क्या अब भी सचेत न होंगे? बहिष्कार बड़ी भयंकर, बड़ी कठोर, बड़ी भयावह वस्तु है। इसका सामना करना साधारण बात नहीं है। खीझकर सुधारक-समुदाय अब बहिष्कार की बात सोच रहा है। अत: हम मंदिरों के संचालकों से, यदि उनमें असली धार्मिकता अवशिष्ट है, उस धार्मिकता से, नेकनीयती तथा सच्चाई के नाते यह अनुरोध करते हैं कि वे अब दंभ छोड़ दें और समय के साथ चलना सीखें। देश को भावी धार्मिक उत्क्रांति से बचा लें, अन्यथा अनर्थ हो जाने की सम्भावना है।

हमारे इस अंक के प्रकाशित होने तक पर्णकुटी के तपस्वी का व्रत भी सकुशल समाप्त हो जायेगा; यह राष्ट्र के लिए एक आनंद का, पर्व का त्योहार का दिन होगा और इसी दिन यह सिद्ध हो जाएगा कि मुफ्त का मालपुआ खाकर पेट भरने वाला पुरोहित हमारा असली धार्मिक नेता नहीं है, पर अपना हाड़-चाम निचोड़ने वाला गान्धी ही भारत का असली धार्मिक नेता है। वह हमारा धार्मिक नेता है—और उसके उपवास के पूरा होने के दिन हमारे जड़ सनातनी अपने दंभ को फेंक देने का महान् कार्य खूबसूरती तथा सफाई के साथ कर सकते हैं।

धार्मिक विचार जो कुछ भी हो, समय एक बलवान् वस्तु होती है। और हमारी तो यही सलाह है कि समय की महत्ता को स्वीकार करना ही सबसे बड़ी बात है।

[संपादकीय। 'जागरण', 29 मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

बर्मा की असली आवाज़

बर्मा के भारत से पृथक्करण के विरोधी बहुमत के दो प्रमुख नेता यू॰ चिटहिलैंग और डॉ॰ बा मां ने निम्नलिखित संदेश भारत-सचिव वाइसराय तथा बर्मा के गवर्नर के पास तार से भेजा है। इस संदेश की भाषा इतनी स्पष्ट है, विचार इतने स्पष्ट हैं, तथा बातें इतने मार्के की हैं, कि हम नीचे उसका अविकल अनुवाद मात्र दे देते हैं। आलोचना की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। संदेश इस प्रकार है–

'४ मई को कामन्स सभा में आपका यह उत्तर कि ब्रिटिश सरकार बर्मा संबंधी नीति के निर्णय को उस समय तक के लिए स्थगित करती है, जब तक कि कौंसिल के विशेष अधिवेशन की कार्यवाही की सूचना ब्रिटेन में न पहुंच जाय–देश मे घोर असंतोष फैला रहा है। उस अधिवेशन की कार्यवाही अधूरी है, क्योंकि जिस ढंग से अधिवेशन की कार्यवाही का संचालन किया जा रहा था, उसके विरोध-स्वरूप बाध्य होकर पृथक्करण-विरोधी नेताओं को कार्यवाही से हाथ खींचना पड़ा था। इस विषय में आपका ध्यान उन संदेशों की ओर दिलाते हैं, जो हम पहले भेज चुके हैं। कौंसिल की कार्यवाही केवल पृथक्करण के समर्थक मेंबरों के प्रस्ताव को स्वत: रद्द करा देना था। खुले तौर पर यही किया गया था और इसका यही उद्देश्य था, कि पृथक्करण का समर्थक प्रस्ताव गिर न जावे तथा विरोधी प्रस्ताव पेश न कर सकें।

पृथक्करण विरोधी दल बहस समाप्त करने का प्रस्ताव भी दो कारणों से न पेश कर सका। एक तो यह कि प्रतिपक्षियों ने बहुत संशोधन पेश कर दिये थे, दूसरे सभापति का व्यवहार तथा अधिकार प्रतिकूल प्रतीत होता था। सभा के 44 सदस्यों के हस्ताक्षर से जो विज्ञप्ति गवर्नर के पास भेजी गई थी उससे पृथक्करण-विरोधी पक्ष की जीत की निश्चितता सिद्ध होती है।

ऊपर लिखी बात यह साफ तौर पर सिद्ध करती है कि बर्मा पृथक्करण का विरोधी है और वास्तव मे वह क्या चाहता है तथा प्रधानमंत्री द्वारा प्रस्तावित शर्तों के बाबत उसकी क्या मंशा है। ऐसी दशा मे ब्रिटिश सरकार अपनी नीति की घोषणा करने मे जो विलम्ब कर रही है वह बर्मा के स्पष्ट निर्णय को स्वीकार करने मे विलम्ब करने की चेष्टा मात्र है। ऐसे कार्य से बर्मा का भाग्य और भी खतरे मे पड जाएगा और उसे किसी भी प्रकार का शासन विधान न मिल सकेगा।

बर्मा-पृथक्करण विरोधी दलों की ओर से तथा बर्मा कौंसिल की ओर से हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि 44 मेंबरो द्वारा समर्पित पृथक्करण विरोधी दल के प्रस्ताव को स्वीकार, पृथक्करण विरोधी सदस्यों के बहुमत का एक प्रतिनिधि-मंडल बनाकर भारतीय संघ-शासन विधान के निर्माण मे बर्मा को उतना ही अवसर दीजिए, जितना भारत को दिया जा रहा है।

इस अपील के विरोध में बर्मा की सरकार की देखरेख में पलनेवाला मिया मिट्ठू दल कोई तर्क-युक्त उत्तर नही दे सका है। भारत सचिव बर्मा का स्वार्थ विशेषत: चाहते हैं, या अपने देश का यह इस अपील पर उनके निर्णय से तय हो जाएगा।

[सपादकीय। 'जागरण', 29 मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 मे संकलित।]

अखिल भारतवर्षीय पुस्तकालय संघ

हमारे देश में संस्थाओं और सभाओं की विशेष कमी नहीं है, किंतु उनमें अधिकांश ऐसी ही हैं, जो केवल प्रस्ताव पास करने में ही बहादुर हैं। इसका मुख्य कारण हैं सच्ची लगन वाले उत्साही कार्य-कर्त्ताओं और सहानुभूतिशील धन-दाताओं का अभाव। देश में सुशिक्षा का अभाव भी संस्थाओं और सभाओं की उन्नति में बाधक हैं, किंतु शिक्षा प्रचार द्वारा अविद्या को दूर करने का प्रयत्न भी संस्थाओं और सभाओं-द्वारा ही किया जा सकता है। इसलिए मुख्य आभाव सच्चे स्वंयसेवकों और दानियों का ही है। इसी अभाव के कारण बहुतेरे सम्मेलन और संघ निर्जीव हो रहे हैं। अखिल भारतीय पुस्तकालय संघ की भी यही दशा है।

हमें कुछ ऐसा स्मरण है कि लाहौर की स्वतंत्रता-घोषिणी कांग्रेस के समय उक्त संघ का महाधिवेशन आचार्य प्रफुल्लचन्द राय के सभापतित्व में हुआ था। उसमें कई महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुए था। सभापति के भाषण में भी पुस्तकालयों के संगठन की एक अच्छी स्कीम थी, परन्तु प्रस्ताव और स्कीम को कार्य रूप में परिणत करने के लिए कुछ उद्योग हुआ या नहीं, इसका हमें पता नहीं, क्योंकि पत्र-पत्रिकाओं में कभी इसकी चर्चा देखने में नहीं आई। प्राय: सभा-सोसाइटियों का यह ढंग देखा जाता है, वे साल भर चुप बैठी रहती हैं और साल के अन्त में महाधिवेशन करने के लिए सभापति के चुनाव आदि की चर्चा से पत्रों में कुछ धूम मचा देती हैं। अब इधर भारतीय पुस्तकालय संघ की चर्चा भी छिड़ गयी है। क्योंकि आगामी 13-14 सितम्बर को कलकत्ते में उसका एक वृहत् अधिवेशन होने जा रहा है। उसके अध्यक्ष होंगे अनामलई विश्वविद्यालय के पुस्तकाध्यक्ष डॉक्टर टामस। कलकत्ते की इम्पीरियल लाइब्रेरी के पुस्तकाध्यक्ष मिस्टर असादुल्लाह उसके मन्त्री का काम कर रहे हैं। प्रतिनीधि-शुल्क चार रुपया निश्चित किया गया है। आशा ही नहीं, विश्वास भी है, कि सम्मेलन बहुलांश में सफल होगा। विद्वानों के पाण्डित्य पूर्ण भाषण होंगे। विद्वानों के उर्वर मस्तिष्क से निकले हुए उपयोगी प्रस्ताव भी पास होंगे, किन्तु प्रति वर्ष इसी तरह रस्म पूरी करने से कोई ठोस काम नहीं हो सकता। हम सम्मेलन के संचालकों से यह आशा करते हैं कि वे इस बार कोई ऐसा कार्य-क्रम निर्धारित करें, जिसे क्रियात्मक रूप देने में विशेष कठिनाई न हो। उनके प्रशंसनीय उद्योग में सफलता होने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हुए हम कुछ मोटी मोटी बातें उनके सामने पेश करते हैं, जिन पर ध्यान दिए बिना हमारा खयाल है, कि संघ में सजीवता और कार्य-क्षमता नहीं आ सकती। बातें से हैं–

किसी केन्द्र स्थान में संघ का निश्चित कार्यालय होना चाहिए। व्यवस्था ऐसी की जाय कि कार्यालय में नियमित रूप से बराबर काम हो। आरम्भ में दो चार युवक इसके लिए अपने जीवन-भर की सेवाएं अर्पित करने को तैयार हों। त्याग के चरणों पर लक्ष्मी लोटती हैं। त्याग ही की छत्रछाया में सिद्धि बसती है। दो-चार त्यागी युवक ही सारे देश को पुस्तकालय सम्बन्धी आन्दोलन की ओर आकृष्ट कर सकते हैं। कोई एक युवक समस्त देश के पत्रों में निरन्तर पुस्तकालय संगठन की चर्चा करते रहने का भार उठा

ले। वह पत्र-सम्पादकों से भी प्रेरणा करता रहें कि वे उसके कार्य का महत्व कर उसकी सहायता करें, टिप्पणियां लिखा करें, अपीलें किया करें। वह नियमानुकूल आवश्यक पत्र व्यवहार करके ही संघ का सजीव संस्था रक्खे। दूसरा युवक साल भर सारे देश में भ्रमण करके प्रचार-कार्य करे, लोगों की सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न करे, धनिकों का सहयोग प्राप्त करे, सभी जगहों के छोटे-बड़े पुस्तकालयों का निरीक्षण करके एक रिपोर्ट तैयार करे। हमारा अनुमान है कि देश-भर में के पुस्तकालयों की सूची संघ के पास तैयार होगी। उस सूची के सहारे सब पुस्तकालयों के संचालकों से लिखा पढ़ी करके उन्हें संघ से सम्बद्ध कराने की आवश्यकता है। संघ के कार्यालय में देश भर के पुस्तकालयों की नियमावली और वार्षिक कार्य-विवरणों का संग्रह होना चाहिए। अब तक जो संघ के अधिवेशन हो चुके हैं, उनकी रिपोर्टों और स्पीचों का भी संग्रह प्रकाशित करना आवश्यक है। संघ की ओर से वार्षिक रिपोर्ट भी प्रकाशित हुआ करे, जिसमें देश-भर के पुस्तकालयों का संक्षिप्त विवरणात्मक परिचय दिया जाय। वह रिपोर्ट देश-भर के दैनिक पत्रों में प्रकाशित करा दी जाय। यदि कुछ दिनों के बाद स्थिति अनुकूल हो जाय, जिसकी पूरी सम्भावना है, तो संघ का एक मुखपत्र भी निकाला जा सकता है।

हमारी समझ में यह योजना असाध्य नहीं है। हां, इसमें आवश्यकतानुसार संशोधन हो सकता है। हम संघ के संचालकों का ध्यान इधर आकृष्ट करना चाहते हैं। साथ ही हिन्दी-पत्रकारों और पाठकों से भी हमारा अनुरोध हैं कि वे संघ की सहायता में यथाशक्ति हाथ बंटावें। इस देश में पुस्तकालयों के संगठन की बड़ी आवश्यकता है। संगठित होकर वे शिक्षा प्रचार के कार्य को बहुत आगे बढा सकते हैं। ज्ञान की ज्योति का प्रसार करने में पुस्तकालय आधुनिक स्कूल-कालेजों से भी बढ़कर हैं। देश में ज्ञान का आलोक फैलाने के लिए पुस्तकालय ही सर्वोतम साधन है। पुस्तकालय की उपयोगिता का कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। यदि सच्ची लगन से इस दिशा में काम किया जाय तो आशा है कि देश के धनी मानी लोग अवश्य ही इधर ध्यान देंगे।

[सम्पादकीय। 'जागरण' जून 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।

एक प्रसिद्ध गल्पकार के विचार

मि. जेम्स ओपेनहाइम अंग्रेज़ी के अच्छे कहानी-लेखक हैं। हाल में एक अंग्रेज़ी पत्रिका के सम्पादक ने कहानी-कला पर मि. ओपेनहाइम से कुछ बातचीत की थी उनमें जो प्रश्नोत्तर हुआ, उसका सारांश हम पाठकों के मनोरंजन के लिए यहां देते हैं। पत्रिकाओं में जितनी कहानियां आती हैं, उतने और किसी विषय के लेख नहीं आते। यहां तक कि उन सबों को पढ़ना मुश्किल हो जाता है।, अधिकांश तो युवकों की लिखी होती हैं, जिनके कथानक, भाव, भाषा, शैली में कोई मौलिकता नहीं होती और ऐसा प्रतीत होता है कि कहानी लिखने के पहले उन्होंने कहानी कला के मूल तत्त्वों को समझने की चेष्टा नहीं की। यह बिल्कुल सच है कि सिद्धान्तों को पढ़ लेने से ही कोई अच्छा कहानी-लेखक नहीं हो जाता, उसी तरह जैसे छन्द-शास्त्र पढ लेने से कोई अच्छा कवि

नहीं हो जाता। साहित्य-रचना के लिए कुछ-न-कुछ प्रतिभा अवश्य होनी चाहिए। फिर भी सिद्धान्तों को जान लेने से अपने में विश्वास आ जाता है और हम जान जाते हैं कि हमें किस ओर जाना चाहिए। हमें विश्वास है, इस कहानी-लेखक के विचारों से उन पाठकों को विशेष लाभ होगा, जो कहानी लिखना और कहानी के गुण-दोष समझना चाहते हैं–

प्रश्न–पहले आपके मन में किसी कहानी का विचार कैसे उत्पन्न होता है?

उत्तर–तीन प्रकार से। पहला, किसी चरित्र को देखकर। किसी व्यक्ति में कोई असाधारणता पाकर मैं उस पर एक कहानी की कल्पना कर लेता हूं। दूसरे, किसी नाटकीय घटना द्वारा। जब कोई रोचक और विचित्र घटना हो जाती है, तो उसमें कुछ उलझाव और नवीनता लाकर एक प्लाट बना लेता हूं। तीसरे, किसी समस्या का सामाजिक प्रश्न द्वारा। समाचार-पत्रों में तरह-तरह के सामाजिक, आर्थिक एंव राजनैतिक प्रश्नों पर आलोचनाएं होती रहती हैं। उनमें से कोई प्रश्न लेकर, जैसे बालकों के परिश्रम और मजूरी का प्रश्न, उस पर कहानी का ढांचा खड़ा कर लेता हूं।

प्रश्न–जब आप किसी चरित्र का चित्रण करने लगते हैं, तो क्या उनमें वास्तविक जीवन की बातें लिखते हैं?

उत्तर–कभी नहीं। वास्तविक जीवन की बातों और कृत्यों मे कहानी नहीं बनती। वह तो केवल कहानी के लिए ईंट-मसाले का काम दे सकते हैं। वास्तविक जीवन की नीरसताओं और बाधाओं से कुछ देर तक मुक्ति पाने के लिए तो लोग कहानियां पढ़ते हैं। जब तक कहानी में मनोरंजकता न रहेगी, तो उससे पाठकों को क्या आनन्द मिलेगा? जीवन में बहुत-सी बातें इतनी मनोरंजक और विस्मयकारी होती हैं, जिनकी कोई बड़े से बड़ा कलाकार भी कल्पना नहीं कर सकता। पुरानी कहावत है–सत्य कथा से कहीं विचित्र होता है। कलाकार जो कुछ करता है, वह यही है कि उन अनुभूतियों पर अपने मनोभावों का, अपने दृष्टि-कोण का रंग चढ़ा दे।

प्रश्न–क्या आप कल्पित चरित्र की सृष्टि करने की अपेक्षा ऐसे चरित्र का निर्माण करना ज्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं है, जो सजीव प्राणी की भाँति हंसता-बोलता, जीता जागता दिखाई दे?

उत्तर–हां, यह बिल्कुल ठीक है। इसलिए जब तक मैं चरित्र-नायक को अच्छी तरह जान नहीं लेता, उसके विषय में एक शब्द भी नहीं लिखता। इससे मुझे बड़ी मदद मिलती है। मैं हीरो के विषय में पहले यह जानना चाहता हूं कि उनके मां-बाप कौन हैं? वह कहां पैदा हुआ थ? उसकी बाल्यावस्था किन लोगों की संगत में गुज़री? उसने कितनी और कैसी शिक्षा पाई? उसके भाई-बहिन हैं या नहीं? उसके मित्र किस तरह के लोग हैं? सम्भव है, मैं इन गौण बातों को अपनी कहानी में न लिखूं, लेकिन इनका परिचय होना आवश्यक है। इन ब्यौरों से चरित्र-चित्रिण सजीव हो जाता है। अब तक लेखक को ये बातें न मालूम हों, वह चरित्र के विषय में कोई दृढ़ कल्पना नहीं कर सकता, न उसको भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रखकर स्वाभाविक रूप से उसका संचालन कर सकता है। वह हमेशा दुबधे में पड़ा रहेगा।

प्रश्न—चरित्रों के वर्णन में आप किस तरह की बाते लिखना अनुकूल समझते है?

उत्तर—मैं उसकी वेश-भूषा, रग-रूप, आकार-प्रकार आदि गौण बातों का लिखना अनावश्यक समझा हूं। मैं केवल ऐसी स्पष्ट और प्रत्यक्ष बात लिखता हूं, जिनस पाठक के सामने एक चित्र खड़ा हो सके। बहुत-सी गौण बात लिखने के चित्र स्पष्ट होने की जगह और धुंधला हो जाता है। मुझे खूब याद है कि बालजाक न अपने एक उपन्यास मे चचल रमणी के विषय में लिखा था, कि "वह तीतरी की भांति कमरे मे आई। उसके सावले रग पर लाल कपडे खूब खिलते थे।" इस वाक्य से उस स्त्री का चित्र मेरी आखो के सामने फिरने लगा, लेकिन बालजाक को इतने ही से सन्तोष न हुआ उसने डेढ पृष्ठ उस चरित्र के विषय मे छोटी-छोटी बातें लिखने में रंग दिया। फल यह हुआ कि जो चित्र मेरी कल्पना मे खडा हुआ था वह धुधला होते होते गायब हो गया वास्तव में किसी चरित्र का परिचय कराने के लिए केवल एक विशेष लक्षण काफी है। दूसरी बातें अवसर पड़ने पर आगे चलकर बयान की जा सकती है।

प्रश्न—एक बात और! क्या आप अपनी गल्पो मे दृष्टिकोण का परिवर्तन भी कभी करते है? अर्थात्—कथा के विकास और प्रगति पर कभी एक चरित्र की दृष्टि से और कभी दूसरे चरित्र की दृष्टि से नजर डालते है या नही?

उत्तर—नही मुझे यह पसन्द नही है। मै फ्रांसीसी शैली को अच्छा समझता हूं। किसी एक चरित्र को अपना मुख्य पात्र बनाकर लिखता हू और जो कुछ सोचता या अनुभव करता हू सब उसी के मुख से कहला देता हू। इससे कहानी मे यथार्थता आ जाती है।

प्रश्न—लेखकों के विषय मे अन्त.प्रेरणा के सम्बन्ध मे आपका क्या विचार है?

उत्तर—मै तो अन्त प्रेरणा को मानसिक दशा समझता हू। प्रत्येक कहानी लेखक के मन का ही प्रतिबिम्ब होती है। भावो मे तीव्रता और गहराई पैदा करने के लिए प्रबल भावावेश होना चाहिए। यदि ऐसा आवेश न हो तो भी गल्प के विषय को बार बार सोचकर मन मे उन्ही बातो की निरन्तर कल्पना करके हम अपने भावो मे तीव्रता उत्पन्न कर सकते है। मुझे किसी कहानी को शुरू करना बहुत कठिन मालूम होता है लेकिन एक बार शुरू कर देने के बाद उसे अधूरा नही छोडता।

इसके बाद और भी कुछ सवाल जवाब हुए जिनमे मि आपनहाइम ने बताया कि वह कहानी लिखने के पहले उसका कोई खाका नही तैयार करते केवल उसका अन्त और उसका उद्‌देश्य सोच लेते है। गल्प के प्रारम्भ मे आपने बताया कि उसे चाहे जिस रूप मे रखिए—वाक्य हो या सम्भाषण कोई घटना हो या कल्पना चाहे कोई अनुभूति या विचार हो—जो कुछ हो उसमे मौलिकता नवीनता और अनोखापन हो। वह सामान्य, लचर, सौ बार की दुहराइ हुई बात न हो। अन्त मे आपने कहा कि गल्प रचना मे भी अन्य कलाओं की भांति अभ्यास से सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

[सपादकीय। 'हस' जून, 1933 मे प्रकाशित। 'प्रेमचद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 मे सकलित।]

अण्डमान के कैदी-1

काले पानी में कैदियों को भेजने की प्रथा समाप्त हो गई थी, पर सरकार ने उस पुराने अस्त्र से फिर काम लेना आरंभ कर दिया है और समस्त देश ने एक स्वर से इस नीति की निंदा की है। बहुत से कैदी विशेषत: बंगाली, अण्डमान टापू भेजे जा रहे हैं। इन कैदियों को भारत से जाने में, यात्रा में, जो बहुत कुछ कष्ट होता है वह तो होता ही है, इसके साथ ही, द्वीप में भी बड़ा कष्टमय जीवन बिताना पड़ता है। इस विषय में जो बहुत-सी बातें मालूम हुई हैं, वे प्रमाण के आभाव से, कानून के भय से पत्रों में नहीं प्रकाशित की जा सकतीं। उसकी जानकारी तथा जांच-पड़ताल के लिए हमारे पास विशेष साधन भी नहीं है, किन्तु अभी हाल में 'हिन्दुस्तान टाइम्स' आदि पत्रों में एक अपील प्रकाशित हुई है, जिसमें वहां के अभागे कैदियों की दुर्दशा का करुण चित्र खींचा गया है। इस अपील को पढ़ कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मनुष्यता के नाम पर, सभ्यता के नाम पर, एक साम्राज्य के अंग होने के नाम पर, हम भारतीय सरकार से अनुरोध करते हैं कि इस विषय में जनता की शंकाओं का समाधान करने के लिए तुरंत एक जांच-कमीशन बिठाये। इससे अधिक हम इस विषय में क्या लिख सकते हैं आशा है सरकार ध्यान देगी।

[संपादकीय। 'जागरण', ५ जून, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

चिटगांव में सैनिक बर्बरता

विगत महासमर के समय में विजित तथा अधिकृत जर्मन प्रदेशों में भी ब्रिटिश तथा फ्रेंच सेना ने वहां की जनता के प्रति इतना अविश्वास न किया होगा, जितना चिटगांव में अर्द्ध सैनिक-शासन में हो रहा है। हम क्रांतिकारियों के कुकृत्यों के समर्थक नहीं हैं। हमें स्वयं चिटगांव में क्रांतिकारी उपद्रव के प्रति लज्जा आती है, पर हम किसी भी दशा में किसी भी अवस्था में, यह मानने को तैयार नहीं हैं कि नगर भर पर अविश्वास कर राह चलने लोगों का 'मित्र उदासीन शत्रु'' सूचक कार्ड देकर, उनकी तलाशी लेकर, सबके मन में अपमान तथा अनादर का भाव, असंतोष तथा अशांति का भाव भर कर सरकार किसी प्रकार क्रांतिकारियों को अपने अधिकार में कर सकती है। उनका दमन कर सकती है। इससे असन्तोषियों की मात्रा बढ़ेगी और असंतोष ही क्रांति की जड़ लगाता है। इस विषय में हम प्रयाग के 'लीडर' से पूरी तरह से सहमत हैं कि चिटगांव में क्रांतिकारी उपद्रव रोकने का एकमात्र उपाय वहां पर न्याय का समुचित शासन स्थापित करना है। और कोई उपाय सफलीभूत होगा इसमें सन्देह है।

[संपादकीय। 'जागरण', 5 जून, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

बनारस की अंधेरी कचहरियां

और जगहों का तो हमें अनुभव नहीं, पर बनारस के ऑनरेरी मुनसिफों के इजलास में

जो मुकदमा एक बार गया, बस समझ लीजिए कि चार-छः महीने के लिए छुट्टी हो गई। रोज दोनों फरीक वाले इजलास के द्वार पर जूतियां चटकाते हैं, मुकदमा पेश होता है और मुश्किल से आध घंटे की कार्यवाही के बाद दूसरे दिन के लिए मुल्तवी कर दिया जाता है। दस-दस, पांच-पांच रुपये के मामलों की पैरवी में सैकड़ों का वारा-न्यारा हो जाता है। रोज गवाहों की सवारी और जलपान का खर्च और वकील का मेहनताना चाहिए। शायद सरकार ने इन ऑनरेरी मुंसिफों को इसलिए बनाया है कि उनके इजलास में जो एक बार फंस जाय, वह फिर जिंदगी भर के लिए कान पकड़ ले और भूलकर भी कचहरी के हाते में न जाय। इन भले आदमियों को न जाने इतनी मोटी-सी बात क्यों नहीं सूझती, कि उनकी इस ढील से मुकदमे वालों को कितनी तकलीफ, कितनी परेशानी होती है। अपना सारा कारबार छोड़कर कचहरी में पड़े रहना और एक-दो-दिन नहीं, महीनों, इस तरह तो शैतान भी नहीं घुलाता। हमें याद है खफीफा में ऐसे मुआमले दस-दस मिनट में तय हो जाया करते थे। इन अंधेरी इजलासों में वकीलों की तो चांदी है। यहां दिन भर के टके से भेंट न होती थी, वहां अगर कोई मुकदमा महीने भर भी चला, तो अच्छी खासी रकम हाथ आ गयी। यह ऑनरेरी मुंसिफ अपनी अयोग्यता के कारण खुद तो सोच समझ सकते नहीं, स्वार्थी वकीलों की मनमानी करते हैं। पहले तो ऑनरेरी मैजिस्ट्रेटों का ही रोना था। अब उनके बड़े भाई आनरेरी मुंसिफ भी पैदा हुए जो बहुत सी बातों में उनसे भी बढ़े हुए हैं। हमारे एक दोस्त कहते हैं, कि एक मामूली मार पीट का मुकदमा यहीं की अंधेरी इजलास में नौ महीने चला और दोनों फरीकों के एक-एक हजार बिगड़ गए, तब सुलह हुई। इसी तरह के और भी बहुत से मुआमले सुनने में आए हैं। एक साहब तो चार बजे तक ताश खेलते हैं। उधर नीम के पेड़ के नीचे मुकदमे वाले और उनके वकील पड़े ऊंघा करते हैं। कहीं चार बजे मुंसिफ साहब आहिस्ता से इजलास पर जाते हैं और आध घंटा बैठकर फिर अंदर दाखिल हो जाते हैं। फरीकैन तबाह हों, उनकी बला से और है भी ठीक। उन्हें जब वेतन नहीं मिलता तो क्यों तनदेही से काम करें। सरकार ने उन्हें बेगार भरने के लिए नामजद कर दिया है। बेगार भरते हैं। हां, कभी-कभी अफसरों से हाथ मिलाने का सुअवसर मिल जाता है। क्या हम आशा करें कि काशी के न्याय विभाग के अधिकारी इस अंधेर की ओर ध्यान देंगे? ऑनरेरी मुंसिफ बनाना ही है, तो ऐसों को बनाइये जो कुछ दिमाग रखते हों। निकम्मे मुंसिफ बनाकर जनता का गला क्यों फन्दे में डालते हो।

[संपादकीय। 'जागरण', ५ जून, १९३३ में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग ३ में संकलित।]

श्री सम्पूर्णानन्द जी

जहां तक हमें मालूम हुआ है, श्री सम्पूर्णानन्द जी के स्वास्थ्य पर झांसी की विकट गर्मी का बहुत बुरा प्रभाव पड़ रहा है। वजन घट गया है, कमर का दर्द, बदन का दर्द बढ़ गया है। संभवतः क्षुधा भी कम हो गई है। सम्पूर्णानन्द जी काशी के प्रतिष्ठित नेता हैं। वे काशी-विद्यापीठ में दर्शन-शास्त्र के अध्यापक हैं। इसके पूर्व वे बहुत ही ऊंची नौम-

सरकारी कर चुके हैं वे कुशल संपादक तथा पत्रकार भी हैं। उन्हें केवल एक ही व्यसन है, पढ़ना ! अत्यधिक घोरतम अध्ययन करना ! इस समय वे चौथी बार, सत्याग्रह आंदोलन में एक वर्ष का कठोर कारावास भोग रहे हैं—और वह भी झांसी ऐसे गर्म स्थान में। वहां वे एक दम अकेले हैं। 'ए' क्लास के एकमात्र बंदी हैं। उनके विषय में 'भारत' में भी एक सूचना प्रकाशित हो चुकी है, जिससे पता चलता है कि उनको झांसी की गर्मी बेहद सता रही है। क्या हम आशा करें, कि सरकार शीघ्र ही उन्हें किसी पहाड़ी या देहरादून ऐसे किसी ठंडे स्थान में भेज देगी?

[संपादकीय। 'जागरण', 5 जून, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

सत्याग्रह-3

महान् व्रत समाप्त हो गया। ईश्वरीय सत्ता ने मानवीय कलेवर की रक्षा की। आत्मबल ने शारीरिक इंद्रियों को जीत लिया। लोक-तृष्णा को दैवी-महत्वाकांक्षा ने वशीभूत कर लिया। महात्मा गान्धी अपने व्रत में सफल हुए। ईश्वर ने उनकी जो परीक्षा ली थी, उसमें वे उत्तीर्ण प्रमाणित हो गये। गान्धी जी ने इस प्रकार की कई परीक्षाएं सफलतापूर्वक पास की हैं। उनके लिए यह परीक्षा भी साधारण थी। भारत ऐसे दार्शनिक देश के लिए ऐसी परीक्षाएं आश्चर्य की वस्तु नहीं हैं। आज न जाने कितने साधु-महात्मा अपनी कुटिया में एकांत में बैठ हुए ईश्वर के सामने ऐसी ही परीक्षा दे रहे हैं।

किंतु, उपवास भंग करने का क्रम बड़ी सतर्कता की आवश्यकता रखता है। कहते हैं, कि एक रात का उपवास सात दिन मौन के बराबर है। गांधीजी में इस समय भोजन ग्रहण करने की भी शक्ति, कुछ थोड़े समय के लिए तिरोहित हो गई है। अंतड़ियों का क्षुधा को, जठराग्नि का जो काम सौंपा गया था, वह कुछ समय के लिए छीन लिया गया था, बेकारी से शक्ति में जंग लग जाता है। लोहे से काम लेते ही रहना चाहिए। वह काम के लिए ही बना है, अतएव गान्धी जी को उसी समय भय से मुक्त तथा पूर्णत: स्वस्थ समझना चाहिए, जब वे लगातार पंद्रह दिन तक नियमित रूप से भोजन करते रहें, इसलिए राष्ट्र की आशंका तथा चिंता का समय अभी नहीं बाता है।

जिस उद्देश्य से उपवास किया गया था, वह पूरा हुआ या नहीं, यह तो स्वयं गान्धी जी ही कह सकते हैं। ईश्वरीय प्रेरणा से उन्होंने उपवास किया था और वही प्रेरणा इस विषय में भी अपना विचार प्रकट करेगी, पर गान्धी जी की यही प्रेरणा ही, यही ईश्वरीय निर्देशानुसार काम करने की शक्ति ही उनका सबसे बड़ा बल है। निस्संदेह आज भारत में गान्धी जी के उतने अनुयायी नहीं हैं, जितने 1921 या 1930 में थे। इस विषय में एंग्लोइण्डियन पत्र- "सिविल एण्ड मिलिटरी गजट" की सम्मति से हम सहमत हैं। यह भी प्रकट और सत्य है, कि गान्धी जी के विरोध में कांग्रेस में एक बहुत बड़ा दल तैयार होकर, उनसे उनकी निरंकुश लीडरी से, लोहा लेने के लिए पैंतरे बदल रहा है। कांग्रेस में बहुत से कार्यकर्ताओं का यह विचार है और कुछ अंश तक सत्य है, कि अछूतोद्धार आंदोलन को वर्तमान रूप देकर गान्धी जी ने सत्याग्रही तथा सरकार-

विरोधी कांग्रेस वालों के लिए केवल दो ही मार्ग छोड़े हैं–एक तो यह कि वे देश-सेवा करें, झंडा उठावें और जेल चले जायं। (श्रीमती सरोजनी नायडू ने मौजूदा कांग्रेस आन्दोलन के विषय में इसी प्रकार के भाव प्रकट किए थे।) या देश-सेवा छोड़कर हरिजन सेवा करें–और यह कोई नहीं कह सकता, कि हरिजन-सेवा देश-सेवा से बढ़कर है। दूसरी शिकायत यह है, कि उन्होंने देश के गाढ़े दु:ख-दर्द में केवल कोरी गप्प उड़ाकर, दूर के ढोल पीटकर शरीक होने वाले लिबरलों के लिए सार्वजनिक रंग-मंच पर एक 'सही-सलामत' बचे रहकर, काम करने का अवसर दे दिया। अब लिबरल देश के नेता हैं लीडराने कौम हैं, और जनता के लिए अपना प्राण तक बलिदान कर देनेवाले कांग्रेस-सेवक जेल की चिड़िया!

महात्मा जी के विरुद्ध अनेक अभियोगों में से दो ही गिनाए गए हैं। उनके दोषों पर विचार करना पहले तो असंभव-सा है दूसरे पटेल या सुभाष–ऐसी प्रतिभा तथा त्यागियों का काम है! पर एक बात स्पष्ट है–प्रकट है–मन्य है। वह यह कि उस वृद्ध का इतना विरोध होते हुए भी जब वह सामने आता है, हरेक की जबान ऐंठ जाती है, विरोधी विरोध करते हैं, पर स्वयं उन्हें अपने ऊपर लज्जा आती है। कोई हरिजन-आंदोलन में विश्वास करे या नहीं--उसे अनायास ही उसमें खिंच जाना पड़ेगा। कोई लोक-सेवा के जिस किसी भाग पर चलना चाहे, गांधी की सत्ता उसे विचलित कर देगी। यही आत्मबल है। यही आत्मशक्ति है। यही ईश्वरीय-विभूति है, जो गान्धी जी ने अपनी तपश्चर्या से उपार्जित की है।

जो मूर्ख है, अज्ञ है, अल्पज्ञ है, जो कोरी भौतिकता का ही ज्ञान रखता है, वह ईश्वरीय प्ररणा से काम करने वाले की महत्ता का अनुमान नहीं कर सकता, इसीलिए उसे ऐसे कार्यकर्ता ढोंगी मालूम होते हैं। ऊपर हमने जिस एंग्लाइण्डियन पत्र का जिक्र किया है, उसके संपादक भी इसी प्रकार के अज्ञानियों में से हैं, अन्यथा उन्होंने संपादकीय टिप्पणी लिखकर महात्मा जी के उपवास करने की नीयत पर ही शुबहा न किया होता। यही नहीं, इस पत्र को इस बात का भी खेद है कि उपवास के कारण 'कांग्रेस' का नाम फिर विशेष रूप से सुनाई देने लगा है आतिशबाजी से कुत्ते का डरना हमारी समझ में आ सकता है, पर कांग्रेस के नाम से किसी अंध गोरे का बौखला उठना समझ से बाहर की बात है। पर, इस पत्र ने यह भी सलाह देने की जल्दी की है कि यदि "गान्धी सत्याग्रह पुन: प्रारंभ कर दें, तो सरकार उन्हें फिर से कैद कर ले।" ऐसी सलाह देकर नक्कू बनने की आवश्यकता नहीं। यह तो हाथ में छुरी लेकर अनायास किसी से कहना है कि मेरी नाक काट लो। गान्धी जी का जो स्वाभिमान है, वह विदित ही है। वे यदि सत्याग्रह की घोषणा करेंगे, तो संभवत: यरवदा जेल के द्वार पर बैठकर!

अस्तु हमारा अनुरोध है कि हरिजन कार्य में गान्धी जी के उपवास की समाप्ति के कारण शिथिलता नहीं आनी चाहिए। वे अपने ... 'उपवास' के लिए हो तत्पर कर चुके हैं। ईश्वर करे, उनका यही अंतिम उपवास हो। अब ऐसी नौबत न आवे। हम यह अनुमान करते थे कि पूना-पैक्ट के समय उपवास के बाद गान्धी जी के उपवासों के प्रति जनता की सहानुभूति कम हो जाएगी, पर देखा जा रहा है कि जो सहानुभूति कम

करना चाहते थे, उन्हीं की सहानुभूति सबसे तीव्र उत्कट थी। यह भी गान्धी जी की विजय है हमारी पराजय।

गान्धी जी ने सत्याग्रह आरंभ किया था। वे ही उसे स्थगित कर सकते हैं। सरकार ने उनकी अपील नामंजूर कर दी और सत्याग्रह के बंदी नहीं छोड़े। इस नीति की जितनी निंदा की जाय, थोड़ी है। सरकार ने गान्धी जी की मांग की उपेक्षा कर यह सोचा होगा कि इसी में उनकी 'शान' है। पर यथार्थ में इस नीति से उलटे सरकार के प्रति जनता की घृणा बढ़ गई है। सरकार यदि सत्याग्रह को हानिकर समझती है, तो उसे समाप्त करने का अवसर उसके हाथों खो गया। जनता सरकार द्वारा किए गए अपमान से कुपित है। वह भी इस मोह में पड़ गई है कि वह सत्याग्रह स्थगित कर सरकार से हार मान लेती है। हमारी सम्मति में सरकार ने अपनी जड़ता दिखाकर संसार की आंखों में अपने को अपराधी प्रमाणित कर दिया है, पर यदि जड़ता का जवाब जड़ता से दिया गया, तो हमारी बुद्धिमत्ता कहां रही। हम संसार को यह कैसे दिखला सकेंगे कि देखो हम ही असली सभ्य तथा सुशिक्षित हैं।

कांग्रेस ने सत्याग्रह द्वारा वर्तमान शासन प्रणाली के प्रति जनता के भाव को व्यक्त कर दिया। निस्सन्देह लड़ाई कई वर्षो तक चल चुकी। यद्यपि पराधीनता में सुख नहीं है, पर मनुष्यता को क्षणिक सुख से बहुत कुछ शांति मिलती है। अब जनता विश्राम चाहती है। उसे अपना व्यापार, अपना कारोबार, अपना घरबार संभालना है। आपको हमको पता नहीं कि इस सत्याग्रह-संग्राम में कितने ही सुखी परिवार स्वाहा हो गए। कितने बसे घर उजड़ गए। अब, फिर से इन कुटियों का बिखरा छप्पर छा देना है। यह स्वाधीनता का संग्राम एक दिन की वस्तु नहीं, सदियों का झमेला है। तब तक, लोगों को अपने सुबोध शिशुओं को, अपनी गृह-देवियों को भूखों मारने के लिए न कहिए।

सरकार सोचती है कि कांग्रेस का बारबार अपमान करते रहने से सफल यह होगा कि वह झूठे दंभ में पड़ी रहेगी। नए शासन विधान का बहिष्कार करेगी। सरकारी पिट्ठुओं के साथ शासन में आते ही कम से कम पांच वर्ष तक, नए शासन विधान को अपने रंग में रंगने की स्वाधीनता पा जाएगी। उस समय यदि कांग्रेस वाले छूट कर आ भी जाएंगे तो भी उनकी लड़ाई भारतीय मंत्रियों से होगी। ब्रिटेन बदनामी से बचेगा।

हमारी समझ में यह है सरकारी नीति-कूटनीति। क्या कांग्रेस इस नीति के चक्कर में पड़कर देश का सत्यानाश कर देगी? क्या कांग्रेस इस अवसर पर झूठा दंभ छोड़कर, राजनीति के ऊंचे पद पर नहीं उठेगी। जिद सभी जगह बुराई पैदा करती है पर राजनीति में जिद को स्थान नहीं देना चाहिए। जब हम यह लिख रहे हैं, हमें मालूम है कि यह संपादकीय लेख गान्धी जी के सामने से नहीं गुजरेगा। पर उनके कार्यकर्त्ताओं, लेफ्टनेंटों से हमारा यह अनुरोध है कि हमारे विचार को ध्यान से पढ़ें। यदि उसमें तथ्य हो, तो स्वास्थ होते ही महात्मा जी के कानों तक पहुंचाएं। जो गान्धी-नेतृत्व के विरोधी हैं, वे भूल कर रहे हैं। इस समय भारत का नेता वही बूढ़ा हो सकता है, अतएव विरोध करने से कहीं अच्छा होगा उनके कान तक अपना मन्तव्य पहुंचाना और ईश्वरीय प्रेरणा से काम करने वाला कभी भूल न करेगा। साथ ही, हम सरकार से भी अनुरोध करते हैं

कि वह वास्तविकता को समझकर, भारत का वास्तविक कल्याण करे।

[संपादकीय। 'जागरण', 5 जून, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

अमेरिकन पादरी का पत्र के गवर्नर बंगाल के नाम

अबकी कलकत्ता कांग्रेस के गैरकानूनी जलसे में कांग्रेस प्रतिनिधियों पर जो डंडेबाजी हुई थी उसको सर सैमुएल होर ने गलत बतलाया और पूज्य पं मदनमोहन मालवीय को भी झूठा सिद्ध किया। उनका कथन था कि कांग्रेस वालों ने गवर्नमेंट पर झूठा दोषारोपण किया है जिसमें सरकार बदनाम हो। वास्तव में पुलिस ने बड़ी शांति के साथ जलसे को डिसपर्स किया था ! सर सैमुएल होर ने जो बात कह दी उस पर संदेह करने का साहस किसे हो सकता है, पर अभी एक अमेरिकन पादरी मि॰ बैंक्राफ्ट ने गवर्नर बंगाल के नाम आंखों देखी बातों के आधार पर जो पत्र लिखा है उसे पढ़कर आशा है कि सर सैमुएल होर अपने कथन पर फिर विचार करेंगे और देखेंगे कि वास्तविक बात क्या थी। हम उस पत्र का एक भाग यहां नकल करते हैं–

''जब मैं पहुंचा तो कार्रवाई शुरू हो गई थी। कांग्रेस के स्त्री-पुरुष उस समय शेड के अंदर ही थे। शेड के चारों तरफ सवार पुलिस और लाठी-पुलिस खड़ी थी। मैं भी उसी समूह में खड़ा हो गया। कई बार हमें निकल जाने का हुक्म दिया गया और हमारे बीच में घोड़े दौड़ाए गए। हम समझते थे कि एक शांतिमय जलसे को शान्त के साथ देखने का हमारा हक है, इसलिए हम कई बार लौट-लौटकर जलसे को देखते रहे। इसी बीच में एक पुलिस लारी आई। शेड के नीचे लोग थे उनमें से 9 10 लाठियों से मार-मार कर भगा दिए गए। मैंने खुद कई औरतों को बड़ी बेदर्दी से कंधे, गर्दन और पर लाठियां खाते देखा। इसके बाद कुछ लोग लारी में ढकेल दिए गए और एक आदमी जो उसी पटरी पर ठोकर खाकर गिर पड़ा, उपर उठने के पहले बुरी तरह मार पड़ी।''

पुलिस ने जो किया या बेजा, इस विषय में हमें कुछ नहीं कहना है। गवर्नमेंट का राज्य है वह जो चाहे कर सकती है ! कौन बोल सकता है !

[संपादकीय। 'जागरण', 12 जून, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

काले पानी के राजनैतिक कैदियों की मौत

पाठकों को मालूम है सन्, 21 से काले पानी के अपराधियों को अंडमान ले जाने की प्रथा सरकार ने बंद कर दी थी। वहां का जलवायु, जेलों की दशा आदि का कैदियों के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता था। जब सरकार किसी आदमी को कैद करती है, तो वह उसे स्वरक्षित रखने के कि जिम्मेदारी अपने ऊपर लेती है। सन्, 21 में एक जेल कमेटी ने अंडमान के कैदखानों का मुआयना करके यह फैसला किया और सरकार ने उसे स्वीकार कर लिया आश्चर्य तो यही है कि स्वीकार कैसे किया, लेकिन उस वक्त राजनैतिक कैदियों का इतना आतंक न था। इस जमाने में तो सरकारों की दृष्टि में सबसे

बड़ा पाप सरकार से विरोध करना है। साधारण कैदियों पर तो दया की जा सकती है, पर राजनैतिक कैदी दया की परिधि से बाहर की चीज है। रूस में फांसी की सजा केवल सोवियट के खिलाफ विद्रोह करना है। भारत सरकार ने भी ऐसे कैदियों को काले पानी भेजना तय किया और जनता के रोने-गाने की परवाह ना करके 29 आदमियों को भेज दिया। वहां कैदियों के साथ दुर्व्यवहार किए जाने की खबर है। कैदियों ने 12 मई से अनशन कर दिया था और अब तक उनमें से तीन आदमियों की मौत हो चुकी है। यह हादिसे जिन परिस्थितियों में हुए हैं वह और भी शंकाजनक है। स्व० महाबीरसिंह ने 12 मई को भूख हड़ताल शुरू की। 17 मई को सीनियर मेडिकल आफिसर ने उन्हें नाक द्वारा दूध पिलाने की आज्ञा दी। इसमें उन्हें इतना कष्ट हुआ कि दो घंटे बाद हिचकियां आने लगीं और वह मृत्यु की गोद में चले गए, लेकिन आश्चर्य यह है कि मि मणिकृष्णदास ने केवल एक दिन अनशन किया था, दूसरे दिन उन्होंने स्वेच्छा से भोजन कर लिया, पर कई दिन बाद वह भी मर गए। सरकारी विज्ञप्ति है कि उन्हें निमोनिया हो गया। इसी तरह तीसरे कैदी मोहितमोहन मित्रा को भी उसी दिन निमोनिया हुआ जिस दिन मणिकृष्णदास अस्पताल में दाखिल किए गए थे और उनके मरने के दो दिन बाद मि० मित्रा की भी मृत्यु हो गई। अब यह तीनों मित्र उस संसार में हैं जहां न राजनैतिक दंड है और न नकली भोजन की विधि और न निमोनिया। भारत में इन खबरों ने हलचल पैदा कर दी है और जनता तरह-तरह की शंकाएं करने लगी है। कई पब्लिक जलसे भी हो चुके हैं और सरकार से प्रार्थना की गई है कि इस मुआमले की कड़ी जांच होनी चाहिए, और बाकी कैदियों को भारत लौटा देना चाहिए।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 जून, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

गवर्नमेन्ट के लिए एक नया अवसर

प्रजा से समझौता करने के लिए सरकार को कई अवसर मिल चुके हैं पर उसने अपने विजय के जोम में उनकी हर बार उपेक्षा की है। जब महात्मा गान्धी ने व्रत के साथ सत्याग्रह को 6 सप्ताह के लिए बंद किया था और सरकार से राजनैतिक कैदियों को छोड़ देने का प्रस्ताव किया था, उस वक्त सरकार के लिए सत्याग्रह आन्दोलन को शांत कर देने का बड़ा अच्छा मौका था, पर सरकार ने यह अवसर भी छोड़ दिया। अब एक नया अवसर फिर आया है। देश के 72 नेताओं ने जिनमें सभी विचारों, दलों और संप्रदायों के लोग शामिल हैं, सरकार को एक पत्र लिखकर प्रार्थना की है कि राजनैतिक कैदी छोड़ दिए जायं और कांग्रेस को नए विधान में भाग लेने का अवसर दिया जाय। देखना चाहिए कि अबकी सरकार क्या जवाब देती है। सरकार का शायद ख्याल है कि उसने कांग्रेस को कुचल दिया है और अब उससे समझौता करने की जरूरत नहीं है, पर जैसा सर तेज ने अभी इंग्लैण्ड में कहा—'कांग्रेस मरी नहीं है, वह अब भी भारत की सबसे बड़ी सुसंगठित राजनैतिक संस्था है' और कांग्रेस चाहे और कुछ न कर सके पर उसकी इच्छा के विरुद्ध देश में विधान चला कर सरकार शांति से बैठ नहीं सकती और न अब वह श्वेतपत्र वाला विधान चल सकता है। विंस्टन चर्चिल साहब इंग्लैण्ड के कंजरवेटिव

दल में श्वेतपत्र को अस्वीकृति कराने पर तुले बैठे हैं। आपके विचार में श्वेतपत्र का व्यवहार होते ही भारत में अंग्रेजों का सर्वनाश हो जाएगा। तो यह मानी हुई बात है कि बहुमत को प्रसन्न करने के लिए श्वेतपत्र में अभी और कांट-छांट हो जायगी और उसमें जो कुछ रहा-सहा मसाला है, वह भी साफ हो जायगा। जब श्वेतपत्र अपने वर्तमान रूप में ही किसी को पसंद नहीं है, तो अपने विकृत रूप में वह किसे पसंद आएगा, यह मि० चर्चिल ही जानें। हां, वह हमारे अंग्रेज अधिकारियों को अवश्य पसंद आएगा, और चूंकि इंग्लैण्ड भारत पर राज्य करना चाहता है इसलिए जिनके हाथों में इस नए विधान को चलाने का अधिकार होगा, उनकी ही पसंद सबसे बढ़कर है। राष्ट्र तो अपंग है, दुर्बल है, मूक है अशक्त है। उसकी पसंद या नापसंद की परवा करना व्यर्थ है। राष्ट्रवादी इस विधान से अलग रहेंगे ही। सरकार के पिट्ठू, खुशामदी, अमन सभाई, कुछ थोड़े से दिवालिए नाम के राजा या नवाब कौंसिलों में आ जायंगे, उन्हीं में से जो ज्यादा अहमक होंगे, वह मिनिस्टिर चुन लिए जायंगे ओर गवर्नमेंट जिस तरह चाहेगी शासन करेगी। पुलिस और फौज के रहते हुए उसे डर किस बात का। यह है वह मनोवृत्ति जिस पर सरकार काम कर रही है। ऐसा शासन हो सकता है और होगा, लेकिन उससे यह आशा न रक्खो कि देश उन्नत और खुशहाल होगा और ब्रिटिश साम्राज्य का एक उपयोगी अंग होगा। नहीं, वह एक मुर्दा देश होगा, जो केवल इसलिए जीता है कि गिद्ध उसे नोच-नोच कर खा जायं।

[सपादकीय। 'जागरण', 12 जून, 1933 म प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-2 में सकलित।]

न्यू जर्नल्स लिमिटेड

इस प्रान्त में अभी तक कोई अच्छा उर्दू दैनिक पत्र न था। लखनऊ से एकाध पत्र निकलते हैं, पर न निकलने के बराबर हैं। हर्ष की बात यह है कि लखनऊ में अब कम्पनी द्वारा उर्दू दैनिक पत्र निकालने का प्रबन्ध हो रहा है। कम्पनी एक लाख की होगी। 'तेज' के भूतपूर्व सम्पादक श्री रामलाल वर्मा क पत्र के सम्पादक और मैनेजिंग डाइरेक्टर होंगे। सम्भव है, कम्पनी आग चलकर हिन्दी और अंग्रेज़ी पत्र भी प्रकाशित करे। हम रामपाल जी को उनके उद्योग की सफलता पर बधाई देते हैं। लखनऊ में बहुत दिनों से इस तरह की कोशिश हो रही थी, पर किसी को सफलता न हुई। वर्मा जी के उत्साह और लगन की जितनी तारीफ की जाय, कम है। अनुभवी और सिद्धहस्त सम्पादक हैं। अब देखना यही है कि जनता इस नए पत्र का कैसा स्वागत करती है। कम्पनी के डाइरेक्टरों में चौधरी हैदर हुसैन और राजा नवाब अली चौधरी जैसे प्रतिष्ठित नाम हैं।

[सपादकीय। 'जगरण', 12 जून 1933 में प्रकाशित। 'प्रेमचद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 में सकलित।]

भीषण दुर्घटना

भदोही के समीप ई० आई० आर० लाइन पर मंगलवार को जो भीषण दुर्घटना हुई है, उसका हाल पढ़कर ऐसा कौन है जिसके रोंगटे न खड़े हो जायं और वह कांप न उठे। एक लारी जिसमें तैंतीस आदमी थे पंजाब मेल से टकरा गई। गाड़ी आ रही थी, लेकिन मोड़ पर का फाटक खुला हुआ था। लारी वाले ने आगे-पीछे कुछ न देखा, जैसी इनकी आदत हैं, अंधाधुंध गाड़ी छोड़ देते हैं। लारी लाइन पर ही थी कि मेल आ गया। फिर उस टक्कर की तो केवल कल्पना की जा सकती है। अट्ठारह आदमी तो वहीं बुरी तरह पिस गये। जो बचे हैं उनकी दशा भी नाजुक है। कई लाशें तो रेल के इंजिन से चिमटी हुई दूर तक चली गईं, जब गाड़ी रुकी तो नीचे गिरीं। लारी तो चूर-चूर हो गई। आदमियों के छाते-जूते आदि सौ-सौ गज पर जा गिरे। पूरी बारात थी। गुमटी वाला पकड़ा गया है। उसे जो सजा चाहो दो, ये अमूल्य जानें तो अब नहीं मिलने की। बारात जिस गांव में जा रही थी, वहां उसके स्वागत की तैयारियां होती होंगी। गुमटी वाले का अपराध ता है ही, लेकिन लारी का ड्राइवर भी आंखें बंद करके गाड़ी चलाता था और बिठा रक्खे थे तैंतीस आदमी। मालूम होता है लारी का आधा भाग लाइन पार कर चुका है तब टक्कर लगी हैं, क्योंकि ड्राइवर अभी जिन्दा है।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 जून, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग २ में संकलित।]

लन्दन का आर्थिक सम्मेलन

लन्दन में आर्थिक सम्मेलन की तैयारियां बड़े धूमधाम से हो रही हैं। शायद इतना बडा सम्मेलन इसके पहले न हुआ हो। इसमें साठ राष्ट्रों के पच्चीस सौ प्रतिनिधि होंगे। सम्मेलन क्या होगा, अच्छा खासा मेला होगा, मगर सम्मेलन करेगा क्या? पुराना अनुभव तो यह बतला रहा है कि दस-पांच लाख रुपये खर्च करने और गप-शप करने के सिवा और कुछ न होगा। इस तरह के तीन सम्मेलन बड़ी लड़ाई के बाद में हो चुके हैं। यही प्रश्न उनके सामने भी थे, पर उनमें कुछ भी तय न हो सका। क्या इस बार जो प्रतिनिधि आएंगे, वह ज्यादा ऊंचे दिल और दिमाग के आदमी होंगे? जब प्रत्येक राष्ट्र अपने पड़ोसी का घर लूटकर अपना घर भरना चाहता है, जब एक दूसरे का माल रोकने के लिए तरह-तरह की रुकावटें पैदा की जा रही हैं, जब शासन और सेना के व्यय में कोई राष्ट्र किफायत नहीं करना चाहता, जब इंग्लैण्ड ने ओटावा-सम्मेलन में संरक्षण के सिद्धांत पर अमल करना शुरू कर दिया है, जब सोने के लिए चारों ओर लूट मची हुई है, तो हमें तो आशा नहीं कि इस सम्मेलन से भी दो-चार अच्छे-अच्छे प्रस्ताव करने के सिवा और कुछ हो सके। मि० लायड जार्ज ने इस सम्मेलन की चर्चा करते हुए एक जलसे में कहा है—सम्मेलन के प्रतिनिधि ' एक दूसरे की ओर देखकर मुस्कराने के सिवा और कुछ न करेंगे।' और यही होना है। अमेरिका इंग्लैण्ड की तारीफ करेगा, इंग्लैण्ड अमेरिका की, खूब दावतें उड़ेंगी, जलसे होंगे, प्रजा का धन उड़ाया जाएगा और लोग अपने-अपने घर की राह लेंगे।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 जून, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

स्वदेशी

दासता तथा दरिद्रता से–दोनों ही महान् कष्टदायक तथा अपमानजनक रोगों से, रक्षा का एकमात्र उपाय स्वदेशी को अपनाना है। मन से, वचन से, कर्म से, 'स्वदेशी' हो जाना, एक कच्चा धागा भी विलायती न खरीदना, यही एक महामंत्र है, जिसको जप कर ब्रिटेन ने आधी दुनिया अपने अधिकार में कर ली, अमेरिका स्वर्ण-भूमि बन गया और जापान एशिया का ब्रिटेन बना हुआ है। इसी एक मत्र का पाठ पहले भारत करता था, चीन करता था और दोनों अभ्युदय के ऊंचे पद पर बैठे हुए थे। जिस दिन से भारतीय बाजारों में विलायती माल भर गया, भारत का गौरव लुट गया। जिस दिन से चीन ने, जिसने स्वयं कागज बनाने का तरीका दुनिया को सिखलाया था, विलायती कागज तक अपनी दूकानों में भर लिया, उसी दिन चीन की स्वाधीनता की मृत्यु का घंटा विलायती गिरजाघरों में बजने लगा।

स्वदेशी की महानता शब्दों में नहीं समझाई जा सकती। जब हम अपने शरीर पर, अपने कमरे में, अपने पास एक तिनका भी विलायती रखते हैं, जब कि हम उसके स्थान पर देशी तिनका रख सकते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि हम उस तिनके के बराबर अपना रक्त स्वयं चूस रहे हैं, अपने भाई के सामने की थाली उठाकर दूसरों को दे रहे हैं। स्वदेशी की पूजा सम्राट् से रंक तक करते हैं। ब्रिटिश सम्राट् पंचम जार्ज ने एक बार किसी सरकारी कार्यालय का निरीक्षण किया, वहां ब्रिटेन के बने टाइपराइटर के बजाय अमेरिकन टाइपराइटर का उपयोग होते देखकर उन्हें बड़ा दुख हुआ। आज भारत में लाखों योरोपियन रहते हैं आप जरा इनके साथ बाहर चले जाइए। जर्मन जर्मनी का बना सामान खरीदता है ब्रिटिश ब्रिटेन का बना हुआ। हमारे यहां कितने ऐसे देशी नरेश हैं जिनके दफ्तरों में देश की बनी चीज काम में आती है या जो विलायत जाकर यह पूछते हैं कि -"आपके यहां अमुक वस्तु भारत की बनी हुई मिलती है?"

स्वदेशी का न अपनाना एक राष्ट्रीय दुर्गुण है। स्वदेशी सामान महंगा पड सकता है पर अपने घर का माल महंगा पड़ने पर भी खरीदा जाता है। स्वदेशी माल खराब हो सकता है पर अपनी भूल के लिए अपने ही मुंह में चपत कितने आदमी मारते हैं? अपना अपराध सबसे पहले क्षम्य होता है। ठीक यही दशा स्वदेशी की भी है।

स्वदेशी में सबसे पहले कपड़े का स्थान है। विलायती कपडा पहनना वास्तव में देश के प्रति अन्याय है। ईश्वर के प्रति अन्याय है। अपना देश जब अपना माल बनाता है तो फिर बाहरी माल क्यों खरीदा जाय। हम 'बहिष्कार' का पाठ नहीं पढा रहे हैं। किसी के प्रति भेद-भाव नहीं फैला रहे हैं। धरना देने की सलाह नहीं दे रहे हैं। हम केवल प्रत्येक व्यक्ति का अलग अलग कर्तव्य बतला रहे हैं। स्वदेशी एक धर्म है एक कर्त्तव्य है। भारत में राजनीतिक आंदोलन का प्राबल्य होते हुए भी विदेशी माल-विदेशी कपडा दिनों दिन अधिकता से आ रहा है। इस विषय में 'फ्री प्रेस जर्नल' में जो आंकड़े छपे हैं उन्हें देखकर आश्चर्य होता है। यहां पर पाठकों का ध्यान हम उन्हीं आकाड़ों की ओर आकर्षित करना चाहते हैं। पत्र लिखता है–

'स्वदेशी के प्रति ध्यान बढ़ने तथा आर्थिक मंदी होने पर भी भार में विलायती

कपड़े का आयात अनुमान से अधिक मात्रा में बढ़ता जा रहा है। बम्बई के मिल मालिक संघ की जो सबसे ताजी विज्ञप्ति प्रकाशित हुई है, उससे पता चलता है कि 1931-32 तथा 1932-33 के आर्थिक वर्षों (मार्च से मार्च) के विलायती रुई के सूत का आयात उन्चास प्रतिशत और तैयार थानों का आयात अट्ठावन प्रतिशत बढ़ गया है। इस वर्ष के पिछले तीन महीने से विलायती कपड़े का आयात--केवल जापानी सस्ता माल ही नहीं--बहुत बढ़ गया है। ब्रिटिश खाकी कपड़ा एक वर्ष में 83.3 प्रतिशत अधिक आया। जापानी खाकी कपड़ा 32.5 प्रतिशत अधिक आया। 31 मार्च, 1933 तक कुल विलायती सूत जो बाहर से आया, 45.10 पौंड था। पिछले साल 31.60 लाख गज माल आया था। ब्रिटिश सूत का आयात 11.90 लाख गज से बढ़कर 13.40 लाख गज हो गया, जापानी सूत 6.20 लाख से 8.10 लाख गज। पिछले साल 775.60 गज विलायती कपड़ा आया था, इस साल 1225.30 लाख गज ! सितम्बर, 1932 के बाद सबसे अधिक माल 1933 की मार्च में आया। विलायती माल बम्बई, मद्रास, बंगाल, सिन्ध और बर्मा--सब जगह करीब-करीब बराबर ही आया है।'

भारतीयो, सवाधान ! समूची राजनीति एक ओर और स्वदेशी एक ओर ! स्वदेशी प्रचारकों को सतर्क हो जाना चाहिए।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 जून, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

अण्डमान कैदियों का दूसरा जत्था

सब कुछ हुआ। जगह-जगह जलसे हुए, समाचार-पत्रों ने शोर मचाया, सर हेनरी हेग के पास डेपुटेशन गया, प्रार्थना की गयी कि आइंदा अण्डमान को कैदी न भेजे जायं, जांच कमेटी बैठाई जाय, पर नतीजा कुछ न निकला। केवल पंजाब से एक अंग्रेज अधिकारी अंडमान भेज दिया गया, जिसे भूख हड़तालों का अच्छा अनुभव है। वह अण्डमान जेल वालों को इस विषय में कुछ सलाह देकर लौट आएगा। बस ! पर यहां तक मुआमला खतम नहीं हुआ। 'मद्रास मेल' को खबर मिली है कि हाल में ही कैदियों का एक नया जत्था फिर अण्डमान भेजा गया है। क्यों न हो। वह सरकार ही क्या, जो किसी की बात मान ले !

[संपादकीय। 'जागरण', 19 जून, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

ईरान से ब्रिटेन का सन्धि

ईरान पर बहुत दिनों से रूस और ब्रिटेन दोनों दांत लगाए हुए हैं। रजाशाह के पहले अंग्रेजी प्रभाव वहां बहुत बढ़ गया था। जिसका नतीजा यह हुआ कि जनता में सनसनी फैली और उस ईरानी सरकार का अंत हो गया। अब खबर है कि रजाशाह फिर ब्रिटेन से संधि करने जा रहे हैं, जिसका उद्देश्य यह है कि ईरान में रूस का प्रभाव न बढ़ने पावे। उस संधि की चंद शर्तें ऐसी हैं, कि अगर वास्तव में ईरानी सरकार उन शर्तों को स्वीकार कर रही है, तो उसकी स्वाधीनता ही खतम हो जाएगी; जैसे--अंग्रेजी रिआया के साथ

हरेक आर्थिक व्यवस्था में रिआयत या सैनिक संगठन में अंग्रजों की मदद। हमें तो आशा नहीं कि हिज मैजेस्टी रजाशाह इस तरह की अपमानजनक सुलह करेंगे; लेकिन धन की उन्हें जरूरत है और इस दबाव में बड़ी शक्ति है।

[सपादकीय। 'जागरण', 19 जून, 1933 म प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

कानपुर को बधाई

कानपुर-म्युनिसिपैलिटी ने हरिजनों के मकानों के लिए जितनी उदारता से लगभग डेढ़ लाख रुपये की व्यवस्था कर दी है, उस पर हम उनके चेयरमैन मि॰ ब्रजेन्द्रस्वरूप को बधाई देते हैं। हरिजनों के उद्धार का काम रुपये में पन्द्रह आने हमारी म्युनिपैलिटियों पर निर्भर है। अगर यह संस्थाएं अपने मेहतरों और डोमों के लिए ऐसी सुविधाएं पैदा कर दें, जिससे वे आसानी से सफाई का काम कर सकें, अच्छे और साफ मकानों में रह सकें, अच्छा भोजन और वस्त्र पा सकें और अपने बच्चों को मदरसों में भेज सकें, तो हरिजन-समस्या बहुत कुछ हल हो जाती है। अब तक तो इन संस्थाओं का हरिजनों की ओर ध्यान ही न था। बेचारे पाखानों के पास, दुर्गन्धमय मकानों में पड़े रहते थे। अगर नगरों में ज्यादा अच्छे ढंग के शौच-गृह बनवाए जायं तो उनकी सफाई भी आसानी से हो जाय और यह काम इतना घृणास्पद भी न रहे।

[सपादकीय। 'जागरण' 19 जून 1933 म प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग 2 म सकलित।]

काश्मीर में उपद्रव

काश्मीर में नया प्रबन्ध हुआ। एक सिविलियन अगज अब वहा प्रधानमन्त्री है। सब-कुछ उसके हाथ में है। फिर भी वहा शान्ति नहीं हुई। आये दिन उपद्रव होते रहते हैं। नमक की खान में जो जाता है वही नमक हो जाता है।

[सपादकीय। 'जागरण' 19 जून 1933 म प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 म सकलित।]

भारत में अंग्रेजी बैंकों के अन्धा-धुन्ध नफे

लाहौर के 'डेली हेराल्ड' ने फ्रेंड्स आफ इण्डिया सोसाइटी के पत्र 'बुलेटिन' के हवाले से एक लेख प्रकाशित किया है, जिसमें दिखाया गया है कि भारत में अंग्रेजी बैंकों और अंग्रेजी कारखानों में कितना लाभ होता है और वही लाभ उठाने वाले यहां के मजूरों को कितनी कम मजूरी देते हैं।

नेशनल बैंक आफ इण्डिया 20 प्रतिशत, शांघाई बैंक 64 प्रतिशत, चारटर्ड बैंक 20.4 प्रतिशत।

कोयले की कम्पनियों के नफे तो लूट कहे जा सकते हैं।

1913 में एक कम्पनी ने 150 प्रतिशत नफा किया और 1931 में एक कम्पनी

ने 575, एक ने 80 और तीन ने 30 से ऊपर।

नफे का तो यह हाल और मजूरी इंग्लैण्ड के मजूरों की 1/4 भी नहीं।

[संपादकीय। 'जागरण', 19 जून, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

लक्ष्मी इंश्योरेंस कम्पनी, लाहौर की आश्चर्यजनक उन्नति

भारत की बीमा-कम्पनियों में लक्ष्मी इंश्योरेंस कम्पनी ने थोड़े दिनों में जो सफलता प्राप्त की है, वह वास्तव में आश्चर्यजनक है। अभी जो वर्ष अप्रैल, 33 में समाप्त हुआ है, उसमें इस कम्पनी ने 80 लाख से अधिक का काम किया है; अर्थात्–इतने रुपये की पालिसियां स्वीकृत हुई हैं। यह मन्दी और बेकारी का साल था, फिर भी इस कम्पनी ने इतना काम किया। इसका श्रोत कम्पनी की सुव्यवस्था और कार्यकर्ताओं की उद्योगशीलता की है। हमें उनगम है, कम्पनी आगे इससे भी बढ़कर काम करेगी। इस युग में जीवन बीमा हरेक गृहस्थ के लिए परमावश्यक हो गया है और बीमा-कम्पनियों को इस युग की बरकत ही समझना चाहिए।

[संपादकीय। 'जागरण', 19 जून, 1933 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 में संकलित।]

श्वेत पत्र का कंजर्वेटिव विरोध

हम तो कंजर्वेटिवों के अनुगृहित हैं, कि हम जो कुछ चाहते हैं, वह उन्हीं के हाथों पूरा हुआ जाता है। अब तक इग्लैंड की 109 प्रान्तीय कंजर्वेटिव सभाओं में 78 ने श्वेतपत्र के विरुद्ध मत प्रकट किया है। यहां मि० चर्चिल का बोलबाला है। अब राष्ट्रीय सरकार के पदाधिकारी जगह-जगह घूम कर श्वेतपत्र के अनुकूल वातावरण पैदा करने का उद्योग कर रहे हैं। अगर पार्लमेण्ट में भी कंजर्वेटिवों की यही नीति रही, तो श्वेतपत्र की वहा अन्त्येष्टि हो जायगी। शायद कोई उस पर आंसू भी न बहाए। सहयोगी 'अमृत बाजार पत्रिका' ने एक बड़ी मनोरंजक तालिका प्रकाशित की है, जिसमें उसने श्वेतपत्र के पक्ष और विपक्ष की परिस्थितियों पर अंकगणित की पद्धति से कयास दौड़ाया है। उसने कंजर्वेटिव-दल में पक्ष को 33.3 अंक दिए हैं, और विपक्ष को 66.6। और यह अनुमान निशाने पर ठीक बैठा है। तिहाई कंजर्वेटिव मेंबर श्वेतपत्र के साथ होंगे और दो तिहाई उसके विरुद्ध।

[संपादकीय। 'जागरण', 19 जून, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

स्थानीय संस्थाओं में वैमनस्य

भारतवासियों की चरित्र-हीनता का जैसा परिचय डिस्ट्रिक्ट बोर्डों और म्युनिसिपैलिटियों में मिलता है, उस पर कौन है, जो लज्जा से सिर न झुका लेगा। ऐसी शायद ही कोई स्थानीय संस्था हो, जहां दलबन्दियां, वैमनस्य, धींगा-धींगी न होती हो। लोग इन संस्थाओं

में जाते हैं जनता की सेवा करने पर आपस में लड़कर उसके धन का सत्यानाश करते हैं। वही कुटिल स्वार्थ की माया ! कोई किसी के पद के लिए षड्यंत्र रच रहा है, कोई किसी ओहदे के लिए। निस्वार्थ भाव से बिरला ही कोई जाता है। कोई अपने भतीजे को ठीकेदार बनाने पर तुला हुआ है, कोई अपने दामाद को किसी पद पर बिठाने के लिए। शिक्षामंत्री पद का यहां कोई विशेष प्रलोभन रखता है। ज्यादातर झगड़े इसी पद के लिए होते हैं। एक दूसरे को उखाड़ने की फिक्र में डूबा रहता है। ऐसे लोगों के हाथ में कोई वास्तविक अधिकार आ जाय तो दैव जाने क्या अनर्थ ढायें। जब कौड़ियों पर यह हाल है, तो मुहरों पर तो शायद खून की नदियां बहे। गुलामी का सबसे बुरा फल यही चरित्र-पतन है !

[सपादकीय। 'जागरण', 19 जून, 1933 म प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग 2 म सकलित।]

अंग्रेजी समाचार-पत्रों का प्रचार

इंगलैण्ड के दैनिकों में 'डेली मेल' का प्रचार सबसे अधिक है, अर्थात साढ़े सत्रह लाख और 'टाइम्स' का सबसे कम, अर्थात् सवा लाख। साप्ताहिक में 'न्यूज आफ दी वर्ल्ड' का प्रचार साढ़े तैंतीस लाख है और 'संडे रफरी' का सबसे कम अर्थात् एक लाख।

[सपादकीय। 'जागरण', 26 जून, 1933 म प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग 3 म सकलित।]

दक्षिण का शन्ति-निकेतन

कवीन्द्र रवीन्द्र के परिश्रम तथा दान के कारण उत्तर भारत में 'शान्ति-निकेतन' एक आदर्श शिक्षण सस्था मानी जाती है। उसे यह पद व्यर्थ ही नहीं प्राप्त हुआ है। निस्संदेह वह सरकारी पाठशालाओं तथा विश्व विद्यालयों से कहीं अच्छी तरह नियमित-परिचालित सस्था है। शान्ति निकेतन काशी विद्यापीठ प्रेम महाविद्यालय ऐसी स्वतन्त्र शिक्षण सस्थायें उत्तर भारत के लिये गर्व की वस्तु है पर दक्षिण भारत में ऐसी सस्थाओं का नितान्त अभाव था। हर्ष का विषय है कि शान्ति निकेतन के ही आधार पर दक्षिण में भी एक महान् संस्था कार्य करने लगी है। बीस वर्ष पूर्व, प्रसिद्ध शिक्षा प्रेमी मि अर्नेस्ट उड ने मदनपल्ले में 'मदनपल्ले विद्यालय' की स्थापना की थी। इसके बाद व विलायत चले गये थे। इस बीच में यह सस्था मद्रास विश्वविद्यालय के आधार पर शिक्षा देती रही। किन्तु अब मि उड पुन: भारत आ गये है। उन्होंने सपत्नीक अपना शेष जीवन इस विद्यालय की सेवा में बिताने का निश्चय किया है। उनके अतिरिक्त प्रसिद्ध शिक्षक, विश्व पर्यटक तथा साधन पूर्ण डा जे एच कजेन्स ने इस विद्यालय के लिए अपना तन-मन-धन अर्पण करने का निश्चय कर लिया है। नये उत्साह से कार्य प्रारम्भ हो रहा है। नये मन्त्र से दिक्षा दी जायेगी। विद्यालय का उद्देश्य होगा–'संस्कृति-सहचार के भाव का प्रचार करते हुए सर्वव्यापी शिक्षा देना।' पहली कक्षा से चौथी तक संगीत की शिक्षा अनिवार्य होगी, खेल-कूद तथा व्यायाम की शिक्षा एक विशेषज्ञ के हाथ में है। दोनों ही विषय अनिवार्य हैं। जो बिना डाक्टरी सार्टीफिकेट के खेल-कूद या व्यायाम से गैर-हाज़िर

रहेगा उसकी स्कूल की हाज़िरी काट ली जायगी।

विद्यालय तथा पाठशाला-भवन साठ हजार स्क्वायर फीट में बना हुआ है और पचहत्तर एकड़ भूमि में फैला हुआ है। मदनपल्ले नगर से इसे 'बहुदा' नदी पृथक् करती है। खेल के लिए अनेक अच्छे मैदान हैं। छात्रावास में एक सौ नब्बे छात्रों के रहने के लिए स्थान है। कन्याओं के लिए अलग छात्रावास बना हुआ है।

विद्यालय तीन जुलाई से खुलेगा, पाठशाला चौदह जून से खुल गई। हम इस प्रयत्न का, इस संस्था का स्वागत करते हैं, तथा मि॰ उड और कज़ेन्स की सफलता की शुभकामना प्रकट करते हैं।

[संपादकीय। 'जागरन' 26 जून, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

पुलिस को एक सबक

कलकत्ता पुलिस ने प्रेसिडेंसी मैजिस्ट्रेट से कलकत्ता कारपोरेशन के नाम एक नोटिस जारी करने की दरख्वास्त की थी कि कारपोरेशन अपनी इमारतों पर से राष्ट्रीय झंडा उतार ले। मैजिस्ट्रेट ने यह नोटिस जारी करने से इनकार कर दिया, क्योंकि कारपोरेशन को ऐसा झंडा लगाने का अधिकार है और केवल पुलिस के यह कहने से कि इस झंडे से शांतिभंग हो जायगी, वह कारपोरेशन को इस अधिकार से वंचित नहीं कर सकते। पुलिस ने शांति भंग का अच्छा ढोंग निकाल रखा है। शांति अगर किसी व्यक्ति के अधिकार-भाग में भंग होती है, तो पुलिस का कर्तव्य है कि शांति की रक्षा करे, न कि वह अधिकार ही छीन ले।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 जून, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

फिर वही शहादतें

सेलेक्ट पार्लामेन्टरी कमेटी के सामने फिर वही बयानों का नाटक शुरू हो गया जो साइमन कमेटी के सामने खेला गया था। फिर अलग-अलग संस्थाएं अपने-अपने स्वार्थों का पचड़ा गाने लगीं। जमींदारों और ताल्लुकेदारों को विशेष मताधिकार चाहिए और प्रांतों में 'ऊंची सभा' भी। फिर लीगवाले आएंगे, और सिन्ध और बलोचिस्तान का किस्सा शुरू हो जाएगा। तब गोल कांफरेंस की जगह चौकोर कांफरेंस शुरू होगा। और इसी तरह यह नाटक चलता रहेगा, और इधर भारत की दशा हीन से हीनतर होती चली जायगी, सरकार का खर्च बढ़ता रहेगा, जनता पर कर बढ़ता रहेगा, सख्तियां बढ़ती रहेंगी, बेकारी बढ़ती रहेगी। सरकार जीती हुई है और अपनी जीत के पुरस्कार में वर्सेल्ज की संधि का परिणाम कौन नहीं जानता !

[संपादकीय। 'जागरण', 26 जून 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

बौरे की भैंस

मसल है कि एक गंवार की भैंस ब्याई तो सारा गांव हांडी ले-लेकर दूध लेने दौड़ पड़ा। कुछ यही हाल आजकल पार्लमेन्टरी कमेटी का है। सिविल सर्विस संघ और पुलिस संघ, सबके सब अपने-अपने स्वार्थों की रक्षा करने दौड़ रहे हैं। उनके लिए भारत केवल उनकी नौकरी है। इस पर किसी तरह आंच न आने पाये। उनके जो अधिकार इस वक्त हैं, जो भत्ते और रियायतें उन्हें इस वक्त हासिल हैं, उनमें किसी तरह की कमी न आने पाये। अगर भविष्य में सिविल सर्विस की ऊंची जगहें तोड़ दी जायं, तो उन लोगों को जिन्हें उन जगहों को तोड़ने से हानि पहुंचेगी, हरजाना दिया जाय। मिनिस्टर को उनके विषय में बोलने का कोई अधिकार न हो, वे सीधे सीधे गवर्नर से पत्र-व्यवहार करते रहें और उनके विषय में सिवाय सेक्रेटरी के और कोई कुछ हुक्म न दे सके। अगर उनके विषय में कोई जांच कमेटी बैठाई जाय तो उस कमेटी में बैठने वाले व्यक्ति गवर्नर की स्वीकृति से चुने जायं। यह तो हुई कुछ सिविल सर्विस की मांगें। पुलिस विभाग की मांगें तो और भी जबरदस्त हैं। उसने तो अपने मेमोरेंडम की भूमिका में ही कह दिया है कि यदि उसकी यह मांग न स्वीकार की जाय तो इम्पीरियल पुलिस-विभाग को तोड़ दिया जाय। कानून और शांति-रक्षा के विभाग का मिनिस्टरों के अधिकार में दे देना उनके लिए सरासर हानिकर है। बेशक हानिकर है। जो लोग अब तक बादशाही करते आए हैं, वह यह कब पसन्द करेंगे कि उनके अधिकारों में रत्ती-भर भी कमी की जाय। श्वेत-पत्र में ढूंढ़ने से भी कहीं कुछ जान नहीं है, लेकिन उस पर भी यह हाय-बावेला मचाया जा रहा है और इसका उद्देश्य इसके सिवा और कुछ नहीं है कि आनेवाली व्यवस्था को ऐसा जकड़बंद कर दिया जाय कि मिनिस्टरों को जो थोड़ा बहुत अधिकार मिलने की आशा है, वह भी जाता रहे और नींबू निचुड़ कर बिलकुल छिलका-छिलका रह जाय। हम पूछते हैं, अगर जनता को नौकरशाही के हाथों में इसी तरह पिसते रहना है, और पुलिस और सिविल सर्विस ही के हाथों में फिर भी सारे अधिकार र[illegible] तो व्यवस्था किस मर्ज की दवा होगी।

[सम्पादकीय। 'जागरण', 26 जून, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

भारत की चांदी अमेरिका को

इंग्लैण्ड के पास सोना नहीं है,इसलिए अमेरिका ने उससे अपने कर्ज में चांदी ही लेना निश्चय किया। भारत के पास चांदी थी। इंग्लैंड से हुक्म आया, वह चांदी अमेरिका को दे दो। हुक्म की तामील कर दी गई। चांदी कितने की थी, उसका दाम कब मिलेगा, यह सब बातें पूछने से भारत सरकार को क्या प्रयोजन[illegible] मुनीम का काम सेठ की आज्ञाओं का पालन करना है। केवल बहीखाता और कुंजी हाथ में रहने से तो वह कोष का मालिक नहीं हो जाता। अब सुना जाता है कि चांदी तीन करोड़ बीस लाख की थी, और इंग्लैण्ड ने भारत को दो करोड़ बीस लाख दिए। एक करोड़ बीच में उड़ा दिया। ठीक है, उड़ा दिया। आखिर वह भी इंग्लैंड का, यह भी इंग्लैंड का। खाता है तो किसी का साझा?

वह खाएगा और बीच खेत खाएगा और डंके की चोट खाएगा। आप खाली हाय-हाय कर सकते हैं, बस हाय-हाय किए जाइए ! एक करोड़ क्या, वह दस-बीस करोड़ खा सकता है। भारत आखिर है किसकी बपौती? 170 करोड़ का सोना किसने उड़ा दिया और यहां प्रामेसरी नोटों के सिवा क्या रह गया? इंग्लैण्ड का भारत पर राज्य है, इसे न भूलो। राजा पहले अपना और अपने कर्मचारियों और अपने कुत्ते-बिल्लियों का पेट भरता है। अगर कुछ बच जाय तो प्रजा का अहोभाग्य !

[संपादकीय। 'जागरण', 26 जून, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

सुदिन अथवा कुदिन

बड़ी आशा लेकर अथवा हृदय में निराशा होते हुए भी, अपनी निराशा को छिपाते हुए अनेक लिबरल भारत के भावी संघ शासन के निर्माण में, संयुक्त-पार्लमेंटरी कमेटी के कार्यों में सहयोग देने के लिए लन्दन गए। यहां से रवाना होने के पहले ही उन्हें यह बतला दिया गया कि पार्लमेंटरी कमेटी के सामने उनका पद क्या होगा। वे केवल 'असेसर' होंगे—एक बड़ी पंचायत के अधिकार हीन पंच होंगे। न तो वे गवाही दे सकेंगे, न कमेटी की रिपोर्ट में अपना मत प्रकट कर सकेंगे, न कमेटी के कार्यक्रम की बनावट में ही उनका कोई हाथ रहेगा। उनका केवल एक काम होगा—वह होगा।कमेटी के सामने उपस्थित होने वाले गवाहों से जिरह करना और यदि हो सका, तो पार्लमेंटरी कमेटी के सामने अपना मंतव्य प्रकट कर, भारत के भावी शासन को अधिक उदार बनाने की चेष्टा करना।

जिस समय ये 'प्रतिनिधि' या 'खिलौने' लन्दन के लिए, सरकारी या प्रजा के खर्चे से रवाना होनेवाले थे, हमने, भारत के अधिकांश पत्रों ने, स्पष्ट कह दिया था कि इनकी लन्दन यात्रा का एक ही फल होगा और वह यह कि वे भारत की गर्मी से बच जायेंगे और विलायत की सैर मुफ्त में हो जायगी। लाभ कुछ भी न होगा। ज्योतिषी न होते हुए भी हमारी भविष्यवाणी सत्य निकली।

'लीडर' के लन्दन स्थित संवाददाता ने, 'हिन्दू' के (जिसके संपादक स्वयं एक 'असेसर' हैं) लन्दन-स्थित विशेष संवाददाता ने तथा 'फ्री प्रेस जर्नल' के प्रधान विलायती रिपोर्टर ने लन्दन से चिट्ठियां भेजी हैं कि "सभी असेसर यह अनुभव करने लगे हैं कि पार्लमेंटरी कमेटी के सामने उनकी हैसियत कुछ भी नहीं है। वे व्यर्थ लन्दन में समय बिता रहे हैं। भारत का भावी शासन-विधान इस दृष्टि से नहीं बनाया जा रहा है कि उससे भारतीय सन्तुष्ट हों, पर इंग्लैंड के उग्र अनुदारों को प्रसन्न करने की चेष्टा की जा रही है। सोचना यह है कि भारत को 'श्वेत-पत्र' से भी बुरा शासन-विधान न मिले।"

जिन्हें माननीय मि० शास्त्री की तरह (पूना में अपने हाल ही में दिए गए व्याख्यान में उन्होंने यही कहा था) 'ब्रिटेन तथा ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की बुद्धिमत्ता तथा न्याय-बुद्धि में' अब भी विश्वास है, वे लन्दन की सैर करते रहें, प्रजा के व्यय से यदि थोड़ा

मनोविनोद हो सके, तो उसे लगे हाथों क्यों छोड़ा जाय ! पर हम भारतीयों की समझ में ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की बुद्धि का दिवाला निकल गया है और भारत को सदियों तक झूठे आडम्बर मय अधिकार देकर पराधीन रखने का जो स्वांग रचा जा रहा है, उसी की विस्तृत, पर स्पष्ट योजना में साथ देने के कारण लन्दन-स्थित लिबरल असेसर भारत के साथ देश-द्रोह कर रहे हैं--हमारे हितों की हत्या कर रहे हैं।

विश्व आर्थिक सम्मेलन में भारत की ओर से गैर भारतीय तथा ब्रिटेन के नमकख्वार प्रतिनिधि भेजकर ब्रिटिश सरकार ने यह साबित कर दिया है, कि गुड़ चींटे को छोड़ दे पर चींटा गुड़ को नहीं छोड़ सकता। भारत के हित का ब्रिटेन कितना ध्यान रखता है, यह अभी हाल ही मे दिए गए लार्ड रादरमियर (टाइम्स आदि विश्वविख्यात पत्रों के स्वामी) के भाषण के एक अंश से ज्ञात हो जाएगा। लार्ड महोदय का कहना है कि—भारत ब्रिटिश साम्राज्य का धुरी की कील है। यदि हम भारत खो देंगे,तो साम्राज्य ही डूब जायगा। पहले उसका आर्थिक अंग डूबेगा, फिर राजनैतिक हम बिना भारत के सिंगापुर पर या मलाया राज्य पर अधिकार किये शासन न कर सकते और इन दो स्थानों के बिना हम आस्ट्रेलिया या न्यूजीलेंड कभी न पाते—या हम अपने लिए अत्यन्त ही लाभदायक, चीन में हांग कांग की 'क्राउन कालोनी' के आधार पर ब्रिटिश बाजार न बना सकते।

ब्रिटेन को बाजार चाहिए और वह भी भारत के द्वारा। वह विश्व नहीं सृष्टि का ही अर्थ-सम्मेलन क्यों न करे, उसमे भारतीय हित का विचार नहीं हो सकता। अभी, भारत सरकार की सहायता से बम्बई में चार करोड़ रुपए की चांदी, ब्रिटेन का अमेरिका का कर्जा पटाने के लिए दी गई है । जिस देश से ब्रिटेन को इतनी सहायता मिलती हो, उसे वह छोड़ नहीं सकता और सर जार्ज चेसनी की यह चेतावनी इंग्लेण्ड की दृष्टि से कितनी उचित है कि—"यदि आज अंग्रेजी मस्तिष्क इतना गिर गया है, कि उसे राष्ट्रीय-सम्मान का ध्यान नहीं है तो केवल भौतिक हानि से ही, जिसे हर घर को भुगतना पड़ेगा, हम अपने हाथ से भारत के निकल जाने से अपने नाश अनुभव करेंगे। पहले से ही इन नुकसानों की तालिका नहीं बनाई जा सकती, पर उनका सार्वजनिक प्रभाव निस्संदेह बहुत अधिक होगा।"

इस नीति या चाल को जानते-बूझते हुए भी, भारतीय "असेसरों' की तरह सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास की आंखें मुंदी हुई थीं और विश्व-आर्थिक सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधि होकर चले गए, पर लन्दन में जाकर, हवा का जो रुख उन्होंने देखा, जब यह देखा कि अर्थ ज्ञान से शून्य भारत-सचिव सर सैम्यूएल होर ने अपने को भारतीय-प्रतिनिधि-मंडल का मुखिया बना रखा है (यद्यपि भारत की व्यावहारिक संस्थाएं इस नेतृत्व के विरुद्ध लगातार तार भेज रही हैं) तो म.[illegible] स्थिति तथा अपना अपमानजनक पद इतनी अच्छी तरह समझ में आ गया कि वे तुरंत इस सम्मेलन के स्वांग से हट गए और उन्होंने एक विज्ञप्ति प्रकाशित कर भारत के भाग्य-निर्माताओं का भंडा फोड़ कर दिया। भारत-सरकार को सर पुरुषोत्तमदास से ऐसी आशा न रही होगी और वह मन ही मन जहर का घूंट पीकर रह गई होगी।

वह खाएगा और बीच खेत खाएगा और डंके की चोट खाएगा। आप खाली हाय-हाय कर सकते हैं, बस हाय-हाय किए जाइए ! एक करोड़ क्या, वह दस-बीस करोड़ खा सकता है। भारत आखिर है किसकी बपौती? 170 करोड़ का सोना किसने उड़ा दिया और यहां प्रामेसरी नोटों के सिवा क्या रह गया? इंग्लैण्ड का भारत पर राज्य है, इसे न भूलो। राजा पहले अपना और अपने कर्मचारियों और अपने कुत्ते-बिल्लियों का पेट भरता है। अगर कुछ बच जाय तो प्रजा का अहोभाग्य !

[संपादकीय। 'जागरण', 26 जून, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

सुदिन अथवा कुदिन

बड़ी आशा लेकर अथवा हृदय में निराशा होते हुए भी, अपनी निराशा को छिपाते हुए अनेक लिबरल भारत के भावी संघ शासन के निर्माण में, संयुक्त-पार्लमेंटरी कमेटी के कार्यों में सहयोग देने के लिए लन्दन गए। यहां से रवाना होने के पहले ही उन्हें यह बतला दिया गया कि पार्लमेंटरी कमेटी के सामने उनका पद क्या होगा। वे केवल 'असेसर' होंगे—एक बड़ी पंचायत के अधिकार हीन पंच होंगे। न तो वे गवाही दे सकेंगे, न कमेटी की रिपोर्ट में अपना मत प्रकट कर सकेंगे, न कमेटी के कार्यक्रम की बनावट में ही उनका कोई हाथ रहेगा। उनका केवल एक काम होगा—वह होगा।कमेटी के सामने उपस्थित होने वाले गवाहों से जिरह करना और यदि हो सका, तो पार्लमेंटरी कमेटी के सामने अपना मंतव्य प्रकट कर, भारत के भावी शासन को अधिक उदार बनाने की चेष्टा करना।

जिस समय ये 'प्रतिनिधि' या 'खिलौने' लन्दन के लिए, सरकारी या प्रजा के खर्चे से रवाना होनेवाले थे, हमने, भारत के अधिकांश पत्रों ने, स्पष्ट कह दिया था कि इनकी लन्दन यात्रा का एक ही फल होगा और वह यह कि वे भारत की गर्मी से बच जायेंगे और विलायत की सैर मुफ्त में हो जायगी। लाभ कुछ भी न होगा। ज्योतिषी न होते हुए भी हमारी भविष्यवाणी सत्य निकली।

'लीडर' के लन्दन स्थित संवाददाता ने, 'हिन्दू' के (जिसके संपादक स्वयं एक 'असेसर' हैं) लन्दन-स्थित विशेष संवाददाता ने तथा 'फ्री प्रेस जर्नल' के प्रधान विलायती रिपोर्टर ने लन्दन से चिट्ठियां भेजी हैं कि "सभी असेसर यह अनुभव करने लगे हैं कि पार्लमेंटरी कमेटी के सामने उनकी हैसियत कुछ भी नहीं है। वे व्यर्थ लन्दन में समय बिता रहे हैं। भारत का भावी शासन-विधान इस दृष्टि से नहीं बनाया जा रहा है कि उससे भारतीय सन्तुष्ट हों, पर इंग्लैंड के उग्र अनुदारों को प्रसन्न करने की चेष्टा की जा रही है। सोचना यह है कि भारत को 'श्वेत-पत्र' से भी बुरा शासन-विधान न मिले।"

जिन्हें माननीय मि० शास्त्री की तरह (पूना में अपने हाल ही में दिए गए व्याख्यान में उन्होंने यही कहा था) 'ब्रिटेन तथा ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की बुद्धिमत्ता तथा न्याय-बुद्धि में' अब भी विश्वास है, वे लन्दन की सैर करते रहें, प्रजा के व्यय से यदि थोड़ा

मनोविनोद हो सके, तो उसे लगे हाथों क्यों छोड़ा जाय ! पर हम भारतीयों की समझ में ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की बुद्धि का दिवाला निकल गया है और भारत को सदियों तक झूठे आडम्बर मय अधिकार देकर पराधीन रखने का जो स्वांग रचा जा रहा है, उसी की विस्तृत, पर स्पष्ट योजना में साथ देने के कारण लन्दन-स्थित लिबरल असेसर भारत के साथ देश-द्रोह कर रहे हैं—हमारे हितों की हत्या कर रहे हैं।

विश्व आर्थिक सम्मेलन में भारत की ओर से गैर भारतीय तथा ब्रिटेन के नमकख्वार प्रतिनिधि भेजकर ब्रिटिश सरकार ने यह साबित कर दिया है, कि गुड़ चींटे को छोड़ दे पर चींटा गुड़ को नहीं छोड़ सकता। भारत के हित का ब्रिटेन कितना ध्यान रखता है, यह अभी हाल ही मे दिए गए लार्ड रादरमियर (टाइम्स आदि विश्वविख्यात पत्रों के स्वामी) के भाषण के एक अंश से ज्ञात हो जाएगा। लार्ड महोदय का कहना है कि—भारत ब्रिटिश साम्राज्य का धुरी की कील है। यदि हम भारत खो देंगे,तो साम्राज्य ही डूब जायगा। पहले उसका आर्थिक अंग डूबेगा, फिर राजनैतिक हम बिना भारत के सिंगापुर पर या मलाया राज्य पर अधिकार किये शासन न कर सकते और इन दो स्थानों के बिना हम आस्ट्रेलिया या न्यूजीलेंड कभी न पाते—या हम अपने लिए अत्यन्त ही लाभदायक, चीन में हांग कोंग की 'क्राउन कालोनी' के आधार पर ब्रिटिश बाजार न बना सकते।

ब्रिटेन को बाजार चाहिए और वह भी भारत के द्वारा। वह विश्व नहीं सृष्टि का ही अर्थ-सम्मेलन क्यों न करे, उसमें भारतीय हित का विचार नहीं हो सकता। अभी, भारत सरकार की सहायता से बम्बई में चार करोड रुपए की चांदी, ब्रिटेन का अमेरिका का कर्जा पटाने के लिए दी गई है । जिस देश से ब्रिटेन को इतनी सहायता मिलती हो, उसे वह छोड नहीं सकता और सर जार्ज चमनी की यह चेतावनी इंग्लण्ड की दृष्टि में कितनी उचित है कि—"यदि आज अंग्रेजी मस्तिष्क इतना गिर गया है, कि उसे राष्ट्रीय-सम्मान का ध्यान नहीं है तो केवल भौतिक हानि से ही, जिसे हर घर को भुगतना पड़ेगा हम अपने हाथ से भारत के निकल जाने से अपने नाश अनुभव करेंगे। पहले में ही इन नुकसानों की तालिका नहीं बनाई जा सकती, पर उनका सार्वजनिक प्रभाव निस्संदेह बहुत अधिक होगा।"

इस नीति या चाल को जानते बूझते हुए भी, भारतीय "असमेरों' की तरह सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास की आंखें मुंदी हुई थीं और विश्व-आर्थिक सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधि होकर चले गए, पर लन्दन में जाकर, हवा का जो रुख उन्होंने देखा, जब यह देखा कि अर्थ-ज्ञान से शून्य भारत-सचिव सर सैम्यूएल होर ने अपने को भारतीय प्रतिनिधि-मंडल का मुखिया बना रखा है (यद्यपि भारत की व्यावहारिक संस्थाएं इस नेतृत्व के विरुद्ध लगातार तार भेज रही हैं) तो सारी स्थिति तथा अपना अपमानजनक पद इतनी अच्छी तरह समझ में आ गया कि वे तुरंत इस सम्मेलन के स्वांग से हट गए और उन्होंने एक विज्ञप्ति प्रकाशित कर भारत के भाग्य-निर्माताओं का भंडा फोड़ कर दिया। भारत-सरकार को सर पुरुषोत्तमदास से ऐसी आशा न रही होगी और वह मन ही मन जहर का घूंट पीकर रह गई होगी।

पर, क्या हम आशा करें कि अब 'असेसरों' की आंख खुल गयी है, और वे भी संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी का भंडा फोड़ कर तुरंत उसके प्रहसन से अलग हो जावेंगे? यदि वे ऐसा नहीं करते, तो वास्तव में देश के प्रति विश्वाघात कर रहे हैं। हमें पूरा विश्वास है कि चर्चिल-बाल्डविन-युद्ध कृत्रिम है, बनावटी है। उसका केवल एक लक्ष्य है–भारतीयों को मूर्ख बनाकर, मीठे बनकर उन्हें कुछ न देना। स्वयं पार्लमेंट के अनेक मजदूर सदस्य इस रहस्य का भंडा फोड़ कर चुके हैं। ऐसी दशा में वह निश्चित है, कि अभागे भारत का भविष्य घोर अन्धकार में है। उसे कुछ न मिलेगा।

जब एक ओर ब्रिटिश पार्लमेंट की भावी जड़ता के काले बादल इस प्रकार उठ रहे हैं, देश का नवयुवक-समुदाय क्षुब्ध तथा विचलित होता जा रहा है, महात्मा गान्धी की नर्म, सम्हली हुई, अहिंसात्मक तथा सुघड़ नीति में उसे आलस्य, संकोच तथा भय और अनुचित सतर्कता दीख पड़ती है, अराजक तथा क्रांतिकारी अपने निन्दनीय कार्यों को बढ़ाते जा रहे हैं, अहिंसात्मक, पर उत्तेजित युवक भी कांग्रेस से बगावत करने पर तुले हुए हैं। लन्दन में 'भारतीय राजनैतिक सम्मेलन' के अवसर पर मनोनीत, पर अनुपस्थित सभापति श्रीयुत् सुभाषचन्द्र बोस का भाषण कितना उग्र था, यह उसे पूरा पढ़ने से ही ज्ञात हो सकता है। बोस बाबू ने महात्मा जी के नेतृत्व को असामयिक बतलाया, 1931 की संधि को राष्ट्र की सबसे बड़ी भूल कहा और 1933 में छ: सप्ताह के लिए सत्याग्रह आंदोलन को स्थगित करना 'विगत 13 वर्षो के परिश्रम पर पानी फेर देना' बतलाया और अंत में नवयुवकों के नवीन संघठन की सलाह दी। मि बोस के इस उग्र भाषण पर टीका करता हुआ 'फ्री प्रेस जर्नल' जो विचार प्रकट करता है, उससे हम सहमत हैं। पत्र का कथन है–"देश के जिन नवयुवकों की ओर से मि बोस बोल रहे हैं, वह ऐसे नेतृत्व से संतुष्ट नही रह सकता, जो बार बार समझौता करता चलेगा या किसी सरल उपाय की खोज करेगा। छोटे-मोटे घूस (अधिकारी को) स्वीकार करने से यह अच्छा है कि लगातार युद्ध करता ही जावे। छोटे-मोटे घूस से अंतिम लक्ष्य तक पहुंचना कठिन हो जाता है। राजनैतिक नेतृत्व में पवित्रता ऐसी कोई वस्तु नहीं है। जब तक नेता राष्ट्र के मूलोद्देश्य को नहीं खो देता, उसे प्राप्त करने के लिए, कम से कम समय पाने के लिए, सब प्रयत्न करता रहता है, वह अपने नेतृत्व पर जमा रहता है, मि बोस के व्याख्यान का यही उपदेश है। यद्यपि उनकी आलोचना अनुचित है, पर चेतावनी सामयिक है।"

हमारी सम्मति में इससे बढ़कर यह चेतावनी ब्रिटिश सरकार के लिए विशेष मूल्य रखती है। यदि 'श्वेत-पत्र' ही भारत का शासन-विधान बना, यदि फ्री प्रेस लन्दन के समाचार अनुसार केवल प्रांतीय स्वाधीनता मिली, यदि भारत का भावी शासन संरक्षणों की मार से मारता रहा–तो भारतीय नवयुवकों की स्वाधीनता की प्यास के साथ कांग्रेस कहां तक नर्म तथा सम्हली नीति का सम्मिश्रण कराएगी? यह किस प्रकार संभव होगा। भारत का भविष्य क्या होगा। भारत के राजनैतिक आकाश में बड़ी काली घटाएं उमड़ रही है, हमें एक ओर सरकारी जड़ता के, दूसरी ओर नवयुवकों के विद्रोह के लक्षण दिखलायी पड़ रहे हैं। इसका फल क्या होगा? देश का सुदिन आने वाला है या कुदिन।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 जून, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

अभिनंदन-ग्रंथ और साधारण जनता

इधर एक-दो साल से अभिनंदन ग्रंथों की खासी धूम है। गुजरात में कविवर खबरदार और कविवर न्हानालाल दलपतराम को, महाराष्ट्र में श्री नरसिंह चिन्तामणि केलकर को, बंगाल में कवीन्द्र रवीन्द्र को और युक्त प्रांत में महामना मालवीय जी और आचार्य द्विवेदी जी को अभिनंदन-ग्रंथ अर्पित किए गए हैं। अभी कई अभिनंदन-ग्रंथ गर्भस्थ हैं। पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा को भी अभिनंदन-ग्रंथ दिया जाने वाला है। उधर श्री दयानन्द की मुक्तात्मा को भी अभिनंदन-ग्रंथ समर्पित करने का आयोजन हो रहा है। साहित्योत्कर्ष का यह शुभ लक्षण है। आदर्श साहित्यसेवियों का अभिनंदन होना ही चाहिए। किंतु विचारणीय प्रश्न यह है कि इन मूल्यवान् अभिनंदन-ग्रंथों से साधारण जनता को क्या लाभ है? ऐसे ग्रंथों का मूल्य स्वभावत: इतना अधिक होता है कि साधारण जनता किसी तरह खरीद नहीं सकती। धनियों में उतने अध्ययनशील और साहित्यानुरागी तथा ज्ञानपिपासु व्यक्ति नहीं मिल सकते जितने निर्धनों में पाये जाते हैं। साधारण श्रेणी के लोगों में बहुत से साहित्य-मर्मज्ञ और विद्यानुरागी पड़े हैं पर अपनी असमर्थता और शोचनीय आर्थिक स्थिति के कारण वे साहित्य-भंडार के इन उज्ज्वल रत्नों को कांति से अपने हृदय-मंदिर को नहीं जगमगा सकते। इस प्रकार के बहुत से लोग सार्वजनिक पुस्तकालायों में भी नहीं पहुंच पाते। हमारे गरीब देश में अच्छे पुस्तकालय भी इने-गिने ही हैं। फिर बड़े-बड़े पुस्तकालयों में भी अनेक मूल्यवान् ग्रंथ नहीं पाए जाते। साधारण स्थिति की जनता को यह मालूम ही नहीं कि देश-देशांतर के महान् मस्तिष्कों से ज्ञान-राशि का संचय करके जो विशाल अभिनंदन-ग्रंथ प्रकाशित किए गए हैं उनमें क्या सामग्री है। पत्र-पत्रिकाओं में यदि उनका विस्तृत परिचय अपने-अपने ढंग से प्रकाशित हो, तो इससे जनता की ज्ञानवृद्धि हो सकती है। लोगों का मनोरंजन भी होगा और बहुत संभव है कि पत्र-पत्रिकाओं की ओर लोगों की अभिरुचि भी बढ़ जाय। क्या वे ग्रंथ बड़ी-बड़ी लाइब्रेरियों और धनवानों की चमकीली आल्मारियों को ही अलंकृत करने के लिए प्रकाशित हुए हैं? क्या उनमें साधारण स्थिति की जनता के ज्ञानवर्धन और मनोरंजन की कोई सामग्री नहीं है? अवश्य है और यथेष्ट मात्रा में है। तब क्यों न उस सामग्री को पत्र-पत्रिकाएं अपने पाठकों की भेंट करें? क्यों न वह बड़े-बड़े दिमागों की ज्ञान- संपत्ति, सस्ते संस्करण के ग्रंथों द्वारा साधारण जनता तक पहुंचाई जाय? लोकहित की दृष्टि से प्रत्येक अभिनंदन-ग्रंथ का एक सस्ता संस्करण भी अवश्य निकलना चाहिए।

[संपादकीय। 'हंस', जुलाई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित]

तुलसी-जयंती या तुलसी-पुण्यतिथि?

जन्म-दिन को जो उत्सव मनाया जाता है, उसको 'जयंती' कहते हैं। उसी को 'वर्षगांठ' या 'सालगिरह' भी कहते हैं। श्रावण शुक्ला सप्तमी तो गोस्वामी तुलसीदास जी की

निधन-तिथि है, इसलिए उस दिन 'जयंती' नहीं, 'पुण्य-स्मृति-तिथि' मनाई जानी चाहिए। 'तुलसी-जयंती' की जगह 'तुलसी-पुण्यतिथि' का ही प्रयोग और प्रचार होना अच्छा है। जब गोस्वामी जी के जन्म संवत् का ही ठीक-ठीक निर्णय नहीं हो सका है, तब उनके जन्म-दिन का ठीक पता लगाना कैसे संभव हो सकता है? चूंकि वे स्वयं एक दोहे में अपनी निधन-तिथि अंकित कर गए हैं, इसलिए उसमें शक करने की कोई गुंजाइश नहीं है। ऐसी दशा में 'तुलसी-तिथि' शब्द ही सर्वथा उपयुक्त मालूम होता है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को चाहिए कि 'तुलसी-जयंती' शब्द को प्रयोग और प्रचार रोकने की कोशिश करें। हिन्दी-पत्र संपादकों को इस नियंत्रण में अधिक सफलता मिल सकती है। हिन्दी-प्रेमियों को यह भूल सुझाने का यही उपयुक्त अवसर है।

[संपादकीय। 'हंस', जुलाई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

तुलसी-स्मृति-तिथि कैसे मनाई जाय?

इस महीने (जुलाई, श्रावण) में जगह-जगह तुलसी-तिथि मनाई जायगी। 29 जुलाई (शनिवार) को इस देश के अनेक नगरों और ग्रामों में विशेष रूप से तुलसीदास संबंधी उत्सव मनाया जायगा। यों तो नित्य ही असंख्य स्थानों में तुलसीदास जी का गुणगान हुआ करता है, पर उस दिन उनके निमित्त कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य होना चाहिए।

हिन्दी-पाठकों को स्मरण होगा कि महानमा मालवीय जी ने काशी के तुलसी घाट का जीर्णोद्धार करने के लिए पत्रों में एक अपील छपवाई है। उस पर यदि साल-भर में इसी एक दिन ध्यान दिया जाय, तो कुछ ही बरसों में- और अगर सुयोग मिल गया तो एक ही साल में–तुलसी-घाट का जीर्णोद्धार हो सकता है।

तुलसीदास जी से संबंध रखने वाले अनेक स्थान काशी में हैं और सबकी दशा शोचनीय है। गोपाल मंदिर के अहाते में एक कोठरी है जिसे लोग गोस्वामी जी का निवास स्थान बतलाते हैं, वह साल-भर में एक बार सिर्फ श्रावण-शुक्ला सप्तमी को खुलती है। क्या उस अंधेरी (!!!) कोठरी का इतना ही सम्मान पर्याप्त है? जिस स्थान में महीनों और बरसों रहकर गोस्वामी जी ने 'विनय पत्रिका' के समान अपूर्व विनय-ग्रंथ लिखा, उस स्थान की दुर्दशा हिन्दी वालों के लिए घोर लज्जाप्रद है।

यही हाल अस्सी घाट वाले तुलसी-मंदिर का है। जिस भाषा में हिमायती करोड़ों हों, उस भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि के प्रति ऐसी उदासीनता ! अभाग्य तुलसीदास का जो हिन्दुस्तान में हिन्दी के कवि हुए !

हर साल लोग जगह-जगह तुलसी-जयंती के नाम से तुलसी-तिथि मनाते हैं। करते क्या हैं? गांव वाले दो-चार सेर घी आग में झोंक देते हैं। हवन के साथ-साथ ब्राह्मण-भोजन तो चाहिए ही? वह भी थोड़ा-बहुत हो ही जाता है। इसके बाद ढोलक झाल लेकर लोग तुलसी-कृत रामायण गाने लगते हैं। चार-छः घंटे लोगे गला फाड़कर चिल्लाते हैं। बस, हो गए तुलसीदास से उऋण। शहर वाले एक नोटिस छपवाकर

बंटवा देते हैं। लोग निश्चित स्थान पर जुटते हैं। भाषण होते हैं, लेख पढ़े जाते हैं, कविताएं सुनाई जाती हैं, सबमें यही कहा जाता है कि गोस्वामी जी की कविता ऐसी है वैसी है, उनके उपकारों का हम बदला नहीं दे सकते—इत्यादि। बस, एक ही तरह की बातें हर साल । नया कोई कहेगा कहां से? कोई रिसर्च तो करता नहीं और जो करता है वह उस उत्सव में आता नहीं। इस तरह एक रस्म-सी पूरी कर दी जाती है। यह तो एक तरह से बला टलना है, इससे कुछ ठोस काम नहीं हो सकता।

इस समय आवश्यकता इस बात की है कि जहां-जहां तुलसी-तिथि मनाई जाय, वहां तुलसी-निधि के लिए थोड़ा-घना, जो मिल सके, अर्थ-संग्रह किया जाय और वह द्रव्य महामना मालवीय जी को इस निवेदन के साथ भेज दिया जाय कि वे इसे तुलसीदास से संबंध रखने वाले स्थानों के जीर्णोद्धार में लगावें। इस तरह अगर कुछ साल भी हर जगह काम हो तो तुलसी-निधि में यथेष्ट धन एकत्र हो सकता है। उससे राजापुर, काशी और अयोध्या में तुलसीदास जी के जितने स्मृति-चिह्न हैं, सबकी रक्षा और पूजा-प्रतिष्ठा का प्रबंध किया जा सकता है।

तुलसीदास जी ने हिन्दूजाति और हिन्दूधर्म का जो उपकार किया है उसके वर्णन करने का यहां स्थान नहीं है। उन्होंने हिन्दू-सभ्यता और हिन्दू-संस्कृति की बड़ी रक्षा की है। हिन्दू स॰ ।ज और हिन्दू-साहित्य उनके उपकार भार से कभी मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए हिन्दू-जाति का प्रतिनिधित्व करने वाली हिन्दू महासभा का भी कर्त्तव्य है कि वह इस दिशा में अपनी कुछ शक्ति लगावें। गोस्वामी जी की रचनाएं सनातन धर्म की ढाल हैं, पर सनातनधर्म सभाओं को देश-हित के मार्ग के रोड़े अटकाने से फुर्सत ही नहीं मिलती कि वे अपने अनन्य संरक्षक की ओर कुछ भी ध्यान दें । वैष्णव-महासम्मेलन भी केवल धार्मिक झगड़ों में ही फंसा रहता है—वह संपन्न होकर भी तुलसीदास जैसे अनन्य वैष्णव के लिए आज तक कुछ न कर सका। किंतु इन निर्जीव संस्थाओं से आगे भी विशेष आशा नहीं है। अतएव हिन्दी-साहित्य से प्रेम रखने वाले लोग ही काम को अपने हाथ में लें और हिन्दी के इस लोकप्रिय महाकवि के समुचित सम्मान का आयोजन करें। किंतु इस आयोजन का श्रीगणेश अभी 29 जुलाई को हो जाना चाहिए।

काशी में अन्यत्र एक तुलसीदास जी का मंदिर भी है, जिसके विषय में कहा जाता है कि वह काशी नरेश की सहायता से बना है। उसमें गोस्वामी जी की एक शुभ्र प्रस्तरमूर्त्ति स्थापित है, जो उनके असली चित्र के आधार पर तैयार की गई है। सुनते हैं, उसी असली चित्र को काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया है। लेकिन हमने आज तक उस मंदिर को तीर्थ का रूप नहीं दिया। राजापुर की तीर्थयात्रा के लिए हम कभी उत्साहित नहीं हुए। अस्सी-घाट के तुलसी-मंदिर में जो खड़ाऊं गोस्वामी जी की रखी है उसकी ओर ध्यान कभी नहीं गया। उसी तुलसी मंदिर के पास एक तुलसी-पुस्तकालय है, जिसमें तुलसीदास-सबंधी समस्त साहित्य का संग्रह करने की हमारी प्रवृत्ति कभी नहीं हुई। फिर हम तुलसी-तिथि क्यों मनाते हैं? शेक्सपियर की जन्मभूमि को अंग्रेजों ने स्वर्ग बना डाला है और हमारी भाषा के शेक्सपियर की जो दशा है, वह सामने है।

तुलसीदास के ग्रंथों से कितने ही लोग लखपती हो गए, बहुतों ने करोड़ों रुपये कमाकर घर में डाल दिए, और न जाने कब तक यह क्रम जारी रहेगा। किंतु ऐसे लोगों में कोई ऐसा माई का लाल आज तक आगे आता नहीं दिखाई दिया जो तुलसीदास के नाम पर एक परसेंट रॉयल्टी की रकम भी खुशी से निकालकर देता। सच तो यह है कि हममें अभी अपनी भाषा के रत्नों की परख करने की योग्यता ही नहीं है, हम सिर्फ लकीर पीटने में ही बहादुर हैं। किंतु सिर्फ पुरानी लकीर पीटकर तुलसीदास जैसे महाकवि को श्रद्धांजलि देने से कोई लाभ नहीं।

[संपादकीय। 'हंस', जुलाई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

संपादनकला–विद्यालय की आवश्यकता

हिन्दी-संसार में रोज़ ही नए-नए अखबार निकल रहे हैं। हर महीने में दो-चार नई पत्रिकाएं भी निकल आती हैं। अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं पर नए-नए संपादकों के नाम देखने में आते हैं। उनमें कितने ही नाम ऐसे भी मिल जाते हैं, जो पहले कभी लेखक के रूप में कहीं नहीं देखे गए थे। कभी-कभी नवजात पत्र-पत्रिकाओं का रूप-रंग और उसकी पाठ्य-सामग्री देखकर खेद और आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। नवजात संपादकों का हौसला ही मन में ऐसा ही कुछ भाव पैदा करता है। कितने ही सज्जन पत्र-संपादक के रूप में ही पहले-पहल हिन्दी संसार में प्रवेश करते हैं। इसका परिणाम प्रत्यक्ष है।

किंतु हिन्दी की उन्नति जिस तेजी से हो रही है उसे देखते हुए यह भी नहीं कहा जा सकता कि अब नवीन पत्र-पत्रिकाओं की कोई आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता हो या न हो, हिन्दी का क्षेत्र ज्यों-ज्यों विस्तृत होता जायगा, त्यों-त्यों नवीन पत्र-पत्रिकाओं की संख्या बढ़ती जायगी। ऐसी दिशा में एक सुव्यवस्थित संपादन कला विद्यालय की आवश्यकता का अनुभव होना स्वाभाविक है।

यद्यपि उसमें शिक्षा ग्रहण करने के लिए सभी नए संपादक बाध्य नहीं किए जा सकते, तथापि ऐसे व्यवस्था की जा सकती है कि वे समय-समय पर कुछ अवकाश लेकर विद्यालय की शिक्षा से लाभ उठा सकें।

अच्छा तो यह था कि अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-संपादक-सम्मेलन केवल इसी कार्य को अपने हाथ में लेकर हिन्दी संसार में दिन-दिन बढ़ती हुई अनाड़ी संपादकों की संख्या घटाने का प्रयत्न करता। इस साल उसका अधिवेशन काशी में ही होने वाला है। काशी विद्या और साहित्य का केंद्र मानी जाती है। यहां संपादम-कला विद्यालय के लिए सुयोग्य अध्यापक भी सुगमता से मिल सकते हैं।

[संपादकीय। 'हंस', जुलाई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

अंडमान के कैदी

समाचार है कि 26 जून को अंडमान के कैदियों का अनशन समाप्त हो गया। क्यों तथा कैसे समाप्त हुआ, यह ठीक कहा नहीं जा सकता। क्या कांग्रेस, जनता तथा समाचार-पत्रों के विरोध का फल यह निकला कि सरकार ने कैदियों के संग रियायतें कर दीं? अथवा क्या कारण है? जो भी हो, अनशन की समाप्ति में सरकार का भी बहुत बड़ा हाथ रहा होगा, अतएव हम उसे बधाई देते हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 3 जुलाई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

एवरेस्ट की विजय

आखिर एवरेस्ट को विजय करने वालों को मुंह की खानी पड़ी और वह आज भी अजेय खड़ा है। हवाई जहाजों पर उसके शिखर का चक्कर लगाना तो गोली से कुश्ती लड़ना है। सारी दुनिया इस मंडली की ओर आंखें लगाए हुए थी, जो उस पर चढ़ रहे थे। उसे नीचा देखना पड़ा। कुछ तो वर्षा पहले शुरू हो गई कुछ आदमियों के बीमार हो जाने के कारण इन वीरों को नीचे आना पड़ा। संभव है अगले वर्ष यह लोग फिर आएं। योरोपियन जातियों की यही अदम्य साहसिकता है, जिसने उन्हें संसार का स्वामी बना दिया है।

[सपादकीय। 'जागरण', 3 जुलाई, 1933 मे प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-3 में संकलित।]

घोर वर्षा

अब की गरमी पड़ने के पहले ही मानसून आ गया। संदेह था कि यह मानसून धोखा देगा, और ऐसा जान पड़ता है कि यह अपना जोर दिखाकर इस संदेह को दूर करना चाहता है। देहली, मेरठ, अजमेर आदि स्थानों में लगातार एक सप्ताह से वर्षा हो रही और 10 से 12 इंच तक पानी गिर चुका है, नदियों में बाढ़ आ गई है, गांव डूब गए हैं, प्राणों की क्षति हुई है, पर हमें अब भी संदेह है कि मानसून आगे चलकर धोखा तो न देगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 3 जुलाई, 1933 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खंड-2 में सकलित।]

नेकनीयती

लंदन में विश्व-आर्थिक सम्मेलन हो रहा है। सम्मेलन का काम अब छोटी-छोटी समितियों में बंट गया है और एक समिति अर्थ द्रव्य मुद्रा तथा धातु-नीति पर विचार

कर रही है, दूसरी समिति ऋण-विनिमय आदि की समस्या को सुलझाने की चेष्टा कर रही है।

धातु का प्रश्न बड़ा टेढ़ा है। किसी देश में चांदी की मुद्रा है, किसी में सोने की। कहीं पर नोट की चलन ज़्यादा है, कहीं पर बैंक की हुंडियां बैंक के नाम हुंडियां चेक का काम करती हैं। जब हरेक देश में आपस में लेन-देन का सवाल आता है, तो बड़ी गड़बड़ी पैदा हो जाती है। किसी देश के पास नोट बहुत अधिक हैं, पर उसके पीछे संचित कोष बहुत कम है—तब क्या होगा? किसी देश के पास चांदी का रुपया है, पर कहीं पर भारत की तरह रुपये में ग्यारह आने चांदी है। कहीं डालर की तरह अधिक मूल्य है। कहीं पर बैंक के नोटों का चलन बहुत है, पर अनेक कारणों से सरकार बैंक की साख की गारंटी नहीं दे सकती। किस हिसाब से भुगतान किया जाय। किस हिसाब से नकद व्यवहार किया जाय। मान लीजिए कि जर्मनी ने अमेरिका से चार लाख मार्क का माल खरीदा। जर्मनी का मार्क अमेरिका में नहीं चलता। इसलिए जर्मनी को चार लाख मार्क एक्सचेंज बैंक में भेज देना होगा। बैंक अपना कमीशन काटकर, डालर के रूप में, अमेरिका का मूल्य चुका देगा। यदि अमेरिकन डालर सस्ता पड़ा, तो मार्क की कम मात्रा देनी पड़ेगी। फल यह होगा कि अमेरिका का माल जर्मनी में सस्ता पड़ेगा। जर्मनी तुरंत अमेरिकन माल मंगाने लगेगा। अब स्वयं जर्मन व्यवसाय को अमेरिका की प्रतिस्पर्द्धा से हानि उठानी पड़ी। इसलिए वह तुरत कड़ी चुंगी की दीवाल उठाकर अमेरिकन माल महंगा कर देगा। जो काम मुद्रा न कर सकी, वह काम चुंगी की दीवाल ने किया। फ्रान्स की मुद्रा महंगी है। मार्क के रूप में महंगी पड़ती है, इसलिए फ्रान्स को अमेरिकन डालर के सस्ता होने से बड़ी डाह होगी। वह चेष्टा करेगा कि अमेरिका के डालर का भाव गिर जाय। जो काम अर्थशास्त्री न करेंगे, वह काम स्थानीय कानून करेगा—विनिमय की दर बढ़ा दी जायगी।

भारत का रोजगार चौपट क्यों हुआ? पौंड को रुपये की पूंछ से बांध दिया गया। बिलायती माल भारतीयों के लिए सस्ता पड़ने लगा। विश्व सम्मेलन की नौबत ही क्यों आई? अमेरिका ने स्वर्ण-मुद्रा का परित्याग कर दिया। डालर का धातु-द्रव्य कम कर दिया। डालर सस्ता हो गया। अमेरिकन माल के योरोप में उतर जाने की आशंका हो गई। पौंड-स्टर्लिंग का राज्य लुट गया। सम्मेलन का विचार पहले से था ही, तुरत उसकी तैयारी की गई। इंग्लैंड तो काम सीधी चाल से नहीं कर सकता, वह काम टेढ़ी चाल से करता है। सदियों से ब्रिटिश राजनीति अमेरिकन राजनीति को पराजित करती आ रही है।

अस्तु, इसलिए संसार के व्यापार की, व्यवसाय की गड़बड़ी का एक कारण है—धातु का असंतुलन, द्रव्य का अनियमित होना, एक अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा का अभाव। इसी से चुंगी की दीवाल उठती है, इसी से व्यवसाय चौपट होता है इसी से ऋण का भुगतान ठीक से नहीं हो पाता, इसी से आपसी लेन-देन में गड़बड़ी होती है। इसीलिए, भारत के एक गांधी आश्रम ने यहां तक सलाह दी है, कि पिछले युग की 'चीजों द्वारा चीजों के परिवर्तन' की प्रणाली को लौट चलो, पर उस प्रणाली पर लौट जाने के लिए सभ्यता की प्रगति के कई पन्ने फाड़कर फेंक देने होंगे। औद्योगिक

संसार में वस्तु द्वारा वस्तु का विनिमय संभव नहीं है। विनिमय या परिवर्तन उस चीज का होता है जो अपने पास न हो। आज नियम तो यह है कि जो वस्तु कहीं भी बनायी जाती हो वह अब अपने यहां बना लेना। ऐसी दशा में वह नियम अब असामयिक और असंभव है।

ऊपर हमने यह लिख दिया है कि धातु ही सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु है। धातु का निर्णय ही विश्व आर्थिक सम्मेलन की सबसे बड़ी समस्या, सबसे बड़ी कठिनाई, सबसे बड़ी विपत्ति है। यदि इसी का निर्णय न हो सका तो अन्य निर्णय बेकार हैं। इसीलिए यह कहा जाता है कि धातु समिति सबसे महत्त्वपूर्ण समिति है और उसी के निर्णय पर सम्मेलन की बहुत बड़ी सफलता निर्भर करती है।

किंतु, क्या यह संभव है, कि धातु समिति या मुद्रा समिति किसी प्रकार का सर्वमान्य निण्रय कर सके। संयुक्त राज्य अमेरिका अपने घरेलू व्यापार नीति के लिए जो नये नियम बना रहा है, वे सभी इस ढंग के हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि लंदन का निर्णय जो कुछ भी हो, वाशिंगटन की नीति ज्यों-की-त्यों, अपनी मनमानी करती रहेगी। इस विषय में समाचार पत्रों में अनेक शंकाएं प्रकट की गई, अनेक लेख लिखे गए, अत॰ अमेरिकन प्रतिनिधि सिनेटर कोर्डेल हल ने एक विज्ञप्ति प्रकाशित कर इस प्रकार की शंका का समाधान करना चाहा है, कि अमेरिका की राष्ट्रीय अर्थ नीति तथा अंतर्राष्ट्रीय अर्थ नीति में कोई सामंजस्य नहीं है, पर आपने यह भी लिखा है कि "मेरी समझ में ही नहीं आता कि राष्ट्रीय अर्थ संकट को हल करने के लिए जो नवीन कार्यक्रम अपनाया जा रहा है, उसमें उन सभी राष्ट्रों का सहयोग क्यों न प्राप्त होगा जो अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव को हृदय से चाहते हैं।"–यह राजनैतिक भाषा है। इसका शुद्ध अर्थ यह है कि अमेरिका अपनी गृहनीति को अंतर्राष्ट्रीय-उद्धार से ज़्यादा महत्त्व देता है। मि॰ हल का यह कहना है, कि व्यापारिक बाधाएं दूर करने का नियम प्रतिनिधि-मंडल के अमेरिका से रवाना होने के पहले बन चुका था–संयुक्त राज्य का भोलापन नहीं साबित करता। इससे तो यही सिद्ध होता है कि प्रतिनिधि मंडल के रवाना होने के पहले से ही अमेरिका ने अपनी मनमानी करने की स्वच्छता दिखला दी है।

दूसरी ओर फ्रान्स है। फ्रांस की महासभा में एक प्रस्ताव पेश किया गया है, कि विश्व अर्थ सम्मेलन की बैठक तब तक स्थगित कर दी जाय, जब तक "अस्वर्ण मुद्राओं का मूल्य संतुलन न हो जाय।" लंदन की यह भी रिपोर्ट है कि फ्रेंच अर्थ-मंत्री ने फ्रान्स की ओर से यह स्पष्ट कर दिया है कि सम्मेलन की कोई कार्रवाई करने के पहले पौंड और डालर का मूल्य निर्धारित कर देना चाहिए, तभी कोई दूसरा काम आगे बढ़ सकता है। रायटर का संवाद है कि, "इस प्रस्ताव का यह अर्थ नहीं है कि फ्रान्स अपने को सम्मेलन से हटा रहा है।" पर, इच्छा क्रिया की जननी होती है। कल्पना के भीतर एक तथ्य छिपा रहता है। फ्रांस के मन में एक बात बैठ गई है। वह शुरू से ही छेड़-छाड़ कर रहा है। सब कर्जदारों ने अमेरिका को प्रसन्न करने के लिए जून की किस्त का कुछ अंश पटा दिया है। फ्रान्स ने पिछले दिसम्बर, तथा इस जून तक की किस्त का एक टुकड़ा भी नहीं दिया है। फ्रान्स जानता है कि अमेरिका

अपना कर्ज़ वसूल करने के लिए सेना नहीं भेज सकता है। इसलिए जब शरारत और छेड़छाड़ से लाभ हो सकता है–तो वही क्यों न किया जावे।

ब्रिटिश-सरकार स्वयं सम्मेलन भंग करने की बदनामी नहीं लेना चाहती है। लंदन में सम्मेलन बुलाकर, लंदन सरकार द्वारा ही उसका भंग हो जाना उसे अभीष्ट नहीं है। इसीलिए, उसने अपने पिट्ठुओं द्वारा सम्मेलन के मार्ग में रोड़े अटकाना प्रारंभ कर दिया है। भारत की ओर से 'जबर्दस्ती प्रतिनिधि' बन जाने वालों ने एक आवेदन-पत्र प्रकाशित किया है। इसमें उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि–आशा है कि सम्मेलन में इस प्रकार का कोई निर्णय न होगा, जिससे देश को अपने चुंगी-नीति को स्वाधीनतापूर्वक बर्तने की आजादी में बाधा प्रतीत होगी। भारत की चुंगी नीति का प्रधान उद्देश्य है–ब्रिटिश-वस्तु-संरक्षण। बस, इस घोषणा की आड़ में जो असलियत छिपी हुई है, वह इससे साफ मालूम हो जाती है। विज्ञप्ति ने छिपे शब्दों में 'ओटावा के समझौते को अकाट्य रखने की नीति' की घोषणा कर दी है।

बस–'संरक्षण' एक ओर होगा–दूसरी ओर समझौता होगा। यह दोनों बातें असंभव हैं। ऐसे विषय पर बिना खुले दिल से विचार किए किसी निर्णय पर पहुंच जाना असंभव है–असंभव है कोई सर्वमान्य समझौता होना। असंभव है कोई लोक-हितकारी विधान बनना। दुस्साध्य है ऐसा कोई तरीका चालू करना, जिससे सबको लाभ हो। संसार का कल्याण तभी हो सकता है जब संकुचित राष्ट्रीयता का भाव छोड़कर व्यापक अंतर्राष्ट्रीय भाव से विचार हो। विश्व-सम्मेलन में ऐसी कोई बात नहीं दीख पड़ती। ऊपर हमने केवल तीन ही उदाहरण दिए हैं। एकाग्र भाव से और उदाहरण देना असंभव है। फिर भी इनसे ही यह पता चल जाता है कि सम्मेलन के प्रतिनिधियों की नीयत ही साफ नहीं है, निर्णय क्या होगा?

[संपादकीय। 'जागरण', 3 जुलाई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसग भाग-2 में संकलित।]

भारतीय कपड़ा और भारतीय रुई

जापानी कपड़ा विदेशी होकर भी भारत की रुई काम में लाता है। भारतीय कपड़ा स्वदेशी होकर भी विदेशी रुई इस्तेमाल करता है। तो क्या भारतीय कपड़ा केवल इसलिए स्वदेशी कहा जाय कि वह भारत में बना है? कपड़े में मुख्य चीज रुई है। मोटा कपड़ा बनाने का खर्च तो पैसे दो पैसे गज से अधिक नहीं। जिस कपड़े में केवल बहुत छोटी-सी रकम भारतीय मजूरों के हाथ लगती है और बड़ी रकम विदेशी रुई की भेंट कर दी जाती है, उसे किस दलील से स्वदेशी कहा जाय? तब तो अमेरिका का तंबाकू भी भारत में सिगरेट बनकर स्वदेशी हो जाता है। जावा का गुड़ भी भारत में चीनी बनकर स्वदेशी शक्कर हो सकती है। इस विदेशी रुई के बने हेय कपड़े से कहीं ज़्यादा स्वदेशी तो जापानी कपड़ा है क्योंकि वह भारत की रुई से बनता है। लेकिन जनता से इस विदेशी रुई से बने कपड़े को स्वदेशी समझने की आशा की जाती है और स्वदेशी रुई से बने कपड़े विदेशी। हमारे मिल मालिक भारतीय

रुई नहीं खरीद सकते। जापान उसी रुई से अच्छे से अच्छे कपड़े बनाकर भारत भेजता है, पर यहां के मिलों के लिए वही रुई हेय है। उन्हें थोड़ी-सी भारतीय रुई केवल मिलावट के लिए चाहिए। शेष रुई विदेश से ही आवेगी। हमारे मिल-मालिकों में क्यों इतना देश-प्रेम नहीं है कि वे देशी रुई खरीदें और उसका व्यवहार करें? उनमें इतनी अक्ल ही नहीं है कि वे देशी रुई से काम लेना सीखें और न वह यह विद्या दूसरों से सीखना चाहते हैं। वे तो संरक्षण चाहते हैं और नफा चाहते हैं। किसान मरे या जिए, उनकी बला से। किसानों के पास इसकी एक ही दवा है और वह यह है कि वे अपनी रुई का सूत कातें और अपना कपड़ा बनाएं। और इस विदेशी रुई के कपड़े को विदेशी समझकर उसका बहिष्कार करें। अगर जापानी गांठों को ठुकराया जाता है तो यहां के मिल वालों को भारतीय रुई खरीदना चाहिए, अन्यथा उनके कपड़े का बहिष्कार होना चाहिए। जिसे हम स्वदेशी कपड़ा कहते हैं–वह विदेशी रुई से बना है और विदेशी है। और हमारे किसान अब यह बात समझने लगे हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 3 जुलाई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

महाजन और किसान

प्रांतीय व्यवस्थापक सभा में इस वक्त किसानों के ऋण का सूद घटाने और अन्य प्रकार से उन्हें महाजनों के चंगुल से बचाने के लिए तीन बिल पेश हैं, उन पर खूब आलोचनाएं हो रही हैं। हम यह नहीं कहते कि हमारे सामाजिक जीवन में महाजन का कोई स्थान नहीं है और न यह कि उससे जनता का कोई उपकार नहीं होता, मगर अभी महाजनों को अपने असामियों पर अत्याचार करने की जो कानूनी सुविधाएं प्राप्त हैं, उसमें कुछ कमी होने की परम आवश्यकता है। सूद की कोई सीमा होनी चाहिए और उसका कुछ दर भी निश्चित होना चाहिए। अभी तो यह हाल है कि किसानों से मूल का कई गुना ब्याज में वसूल कर लिया जाता है फिर भी मूल ज्यों का त्यों बना रहता है। ऐसे उदाहरण घर-घर मिलेंगे कि महाजन ने पचास रुपये देकर असामी पर दो सौ रुपये की डिगरी कराई और उसके पास जो कुछ था वह सब नीलाम करा लिया। जब सभी जगह सूद का दर गिर गया है तो किसान से क्यों वही पुराना सूद लिया जाय? इस प्रांत में हुंडी का व्यवहार बहुत किया जाता है। उसमें सूद का दर तीस प्रति सैकड़े से भी अधिक पड़ता है। यह लूट बंद होनी चाहिए। अवश्य महाजनों को टोटा होगा। लेकिन चूहे भूखों मर जाएंगे इस भय से तो बखारें नहीं खोल दी जातीं। महाजन को झक मारकर थोड़े सूद पर संतुष्ट होना पड़ेगा। वह अब थोड़े से रुपये उधार देकर किसान को पुश्तहपुश्त के लिए अपना गुलाम न बना सकेगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 3 जुलाई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

राष्ट्र के नेताओं में वर्तमान समस्या पर विचार

समाचारों से मालूम हुआ है कि वर्तमान राजनैतिक प्रश्नों पर विचार करने के लिए 12 जुलाई को पूना में नेताओं की बैठक होगी। हमें आशा है उनका निर्णय परिस्थितियों के अनुकूल होगा। सत्याग्रह आंदोलन क्रांति थी। यह मान लेने में कोई संकोच न होना चाहिए कि क्रांति असफल हो गई। राजनीति में सत्याग्रह और दुराग्रह में कोई भेद नहीं रह जाता। जब राष्ट्र कानूनी व्यवस्थाओं को तोड़ता है तो वह संगठित शासन व्यवस्था को भी कानून तोड़ने और विशेष अधिकार ग्रहण करने की प्रेरणा करता है। इसके विपरीत शासन के भीतर जाकर शक्ति-संचय करने से सफलता की अधिक संभावना है। सत्य यह है कि अब तक भारत को वैध आंदोलन का बड़ा कड़वा अनुभव है, पर इसका मुख्य कारण यह था कि जो लोग राष्ट्र के प्रतिनिधि बनकर जाते थे उनके पीछे जनमत की शक्ति न होती थी। राष्ट्र में अब कुछ राजनैतिक चेतना आ गई है और यह असंभव है कि उसके प्रतिनिधियों की अब पहले की भाँति उपेक्षा की जा सके।

[संपादकीय। 'जागरण', 3 जुलाई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

वेश्यावृत्ति

मि॰ ई॰ अहमदशाह युक्त प्रांतीय कौंसिल के उन बदनाम मेंबरों में से हैं जो सदैव प्रजा-पक्ष का विरोध ही करते रहे हैं। कौंसिल के विगत अधिवेशन के अवसर पर वे श्वेत-पत्र के 'लंबे' समर्थक थे। इसी कारण उनके किसी भी कार्य में जनता को यह आशंका रहती है कि वह वास्तव में प्रजा के हित में है या विरोध में, पर यह आवश्यक नहीं है कि मि॰ शाह जो कुछ करते हैं वह जनता के विरोध में ही होता है। उदाहरणार्थ, वेश्यावृत्ति-निवारण तथा स्त्रियों की खरीद-बिक्री रोकने के लिए जो बिल उन्होंने पेश किया है तथा इसी नैनीताल के अधिवेशन में जो 'सेलेक्ट कमेटी' के सुपुर्द भी हो गया हो, वास्तव में बड़ा उपयोगी और आवश्यक बिल है। राष्ट्र परिषद् ने भी 'ट्रैफिक इन विमेन' संबंधी इसी प्रकार के नियम बनाये हैं, पर न जाने क्यों मि॰ चिन्तामणि ऐसे व्यक्ति भी इस बिल का विरोध कर रहे हैं। इस विरोध में कोरी दलबंदी तो नहीं है? मि॰ चिन्तामणि ने इस बिल के विरोध में जो व्याख्यान दिया था वह तथ्यहीन था, उसमें केवल नए होममेंबर की प्रशंसा थी (जिस प्रशंसा को होममेंबर ने सहर्ष 'लौटाया' था) और थी मि॰ शाह की खिल्ली। हमारी समझ में मि॰ चिन्तामणि आदि का विरोध केवल दलबंदी का फल है और यदि यह बिल न पास हो सका तो इसमें दोष उनका तथा उनके समर्थकों का होगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 3 जुलाई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

किसानों का कर्ज

भारत सरकार स्वयं इतना अधिक ऋण ले रही है—और ऋण लेकर ही अपना काम चला रही है कि यह कहना अनुचित न होगा कि ऋणी लोगों के प्रति उसकी सहानुभूति स्वाभाविक है। इसीलिए पत्थर पर दूब निकल रही है, यानी—जो सरकार सदैव भारतीय किसानों के हितों के प्रति अत्यंत उदासीन रहा करती थी, जो सरकार सदैव अपनी 'लगान' की ओर ही नजर उठाए रहती थी, वह किसानों के हित में एक उदार कानून बनाने का विचार कर रही है। इस उदार कानून को जन्म देने का यश युक्त प्रांत को प्राप्त होगा और संभव है कि अन्य प्रांत शीघ्र ही इस प्रांत का अनुकरण करें।

आज भारत के किसान इतने तबाह क्यों हैं? इसलिए कि जब से अंग्रेजी शासन शुरू हुआ, यानी आज के डेढ़ सौ वर्ष पहले से विदेशी हुकूमत ने सदैव किसानों के हितों की उपेक्षा की और जमींदारों के हितों का समर्थन किया। अन्य प्रांतों की बात जाने दीजिए। युक्त प्रांत की ही दशा लीजिए। शायद ही किसी प्रांत के किसान इतने परेशान और दुःखी हों। शायद ही किसी प्रांत के किसानों को इतना कष्ट हो। शायद ही किसी प्रांत में जमींदार ताल्लुकेदार इतनी मनमानी कर सकते हों। और किसानों की कष्ट-कहानी इस डेढ़ सौ वर्ष के अंग्रेजी शासन में ज्यों की त्यों बनी हुई है। उन अभागों पर पुलीस का, जमींदार-ताल्लुकेदार का, सेठ-साहूकार का, संक्षेप में हरेक अधिकारी का जुल्म ज्यों का त्यों जारी है। युक्त प्रांतीय कौंसिल ने यदि कभी इन अभागों की सहायता करनी चाही तो प्रांत की 'ताल्लुकेदारों की कौंसिल' ने जनमत को सदैव कुचल दिया। हमारे प्रांत का यह विश्वास-सा हो रहा था कि यहां ताल्लुकेदारों-जमींदारों के लिए शासन होता है। अब भी इस प्रांत में एक 'राज-परिषद्' की व्यवस्था कर सरकार ने इस शंका को और भी मजबूत कर दिया है।

फिर भी, जहां सरकार प्रजा-हित का काम करती है, वहां हम सदैव उसे धन्यवाद और बधाई देने के लिए तैयार हैं। हम यह चाहते हैं, कि सरकार को इस प्रकार की चेष्टाओं में जनता की ओर से काफी सहायता दी जावे, हम यह चाहते हैं कि यदि प्रांतीय कौंसिल में सरकार किसानों के हित के लिए कोई कानून बनाना चाहती है, तो जनता के प्रतिनिधियों को चाहिए कि वे सरकार का समर्थन करें। प्रांतीय सरकार ने आगे किसानों के कर्ज़ का बोझ हलका करने के लिए जो नया मसविदा, कानून बनाने के लिए 4 जुलाई को कौंसिल के नैनीताल-अधिवेशन के सामने पेश किया था, वह हरेक दृष्टि से सराहनीय है और कौंसिल-सदस्यों ने सरकार को यह प्रस्ताव पेश करने के लए बधाई देने की जो बुद्धिमत्ता की है, उसके लिए हम उन्हें बधाई देते हैं। लगान में, यथाशक्य, यद्यपि आवश्यकता तथा हैसियत से कहीं कम—छूट करने के बाद, प्रांतीय सरकार का वह दूसरा प्रयत्न है, जिसके द्वारा वह जनता का वास्तविक हित करना चाहती है। सरकार इस कानून का मसविदा 13 मई को ही प्रकाशित कर चुकी थी, पर मसविदा और उस पर विचार करने के लिए बीस सदस्यों की खास कमेटी बना देने का प्रस्ताव 4 जुलाई को किया गया। इस विषय में हम कई कौंसिल-मेंबरों की इस राय से सहमत हैं कि मसविदा उपयोगी होते हुए भी

सरकार इस मामले में जल्दबाजी नहीं कर रही है। ताल्लुकेदारों की लाड़ली सरकार इस बिल पर इनता भी विचार करने का अवसर दे रही है और समर्थन कर रही है, यही हमारे आश्चर्य की बात है कि हम 'इस सुस्ती' को कुछ समय के लिए भुला देना चाहते हैं। आशा है, कि मसविदे पर बहस के बाद वह पास हो जायगा। खास कमेटी शीघ्र विचार कर उसे पास कर देगी और कौंसिल उसे कानून बना देगी।

किंतु, मसविदे का साधारण ढांचा भी पाठकों को बतला देना जरूरी है। इस संबंध में तीन बिल होंगे। एक का उद्देश्य है किसानों को कर्ज़ से पास करना, दूसरा सूद की दर घटाएगा, तीसरा ज़्यादा सूद लेना रोकेगा। पहला सिर्फ उन्हीं किसानों के सुभीत के लिए हैं, जो दो सौ रुपये ज़्यादा मालगुजारी या लगान नहीं देते। जो इनकम टैक्स (आयकर) देता है, वह किसान नहीं समझा जायगा। किसी म्युनिसिपल बोर्ड, नोटिफाइड एरिया या टाउन कमेटी की सीमा में रहने वाले तथा ग्राम में रहकर परिश्रम द्वारा, गाय, भैंस आदि के व्यवसाय से जीविका चलाने वाले लोग भी बिल के लाभ के अधिकारी होंगे। किसान तो चीज़ों का दाम मंदा हो जाने से तबाह और ऋण के भार से दबा जा रहा है, अनपढ़ होने के कारण वह महाजनों से अपने ऋण का हिसाब नहीं तलब कर सकता या समझ सकता—वह तीन का तेरह देकर भी नजात नहीं पाता। मुकद्दमेबाज़ी उसे तबाह कर डालती है। इसीलिए पहले मसविदे के अनुसार वह दीवानी अदालत से दर्खास्त कर अपने कर्ज़ का निपटारा और उसके भुगतान की किस्तबंदी करा सकता है। कर्ज़ की अदायगी के लिए अदालत में कुछ रकम जमा करने की इजाज़त मिल जायगी। डिगरी के रुपये के अंदर, महाजन चार ही साल तक खेत में पैदा हुआ अनाज भेज सकता है। वह भोगबंधक जमीन पर बीस साल से ज़्यादा दिनों तक अधिकार नहीं कर सकता। दाखिलकार किसान अपनी भूमि रेहन रखकर कोआपरेटिव सोसायटी से लंबी मियाद के लिए ऋण ले सकता है। कुछ शर्तों पर रेहन.की मियाद के भीतर ही वह अपनी ज़मीन लौटा सकता है। कर्ज़दार जब चाहे, अपना कर्ज़ चुका सकता है। महाजन को मजबूरन कर्ज़ का हिसाब रखना होगा और कर्ज़दार को हिसाब भेजना होगा। अगर वह अपने खेत में कर्ज़ की रकम बढ़ाकर लिख लेगा तो उसको सजा हो जायगी।

अस्तु दूसरे बिल के अनुसार पांच हजार रुपये तक सलाना मालगुजारी या लगान देने वालों की रक्षा के लिए यह बिल तैयार किया गया है। खेती या लगान की आमदनी से गुजर करने वालों की रक्षा की विशेष आवश्यकता है। मंदी के कारण बेचारे तबाह हो गए हैं। महंगी के ज़माने में जो कर्ज़ लिया गया था, वह सस्ती के ज़माने में नहीं पटाया जा सकता, इसलिए ज़रूरी है कि कर्ज़ के सूद की दर घटा दी जाय। सन् 1917 में महंगी का जमाना था। 1930 के बाद से सस्ती का ज़माना आया, इसलिए इस बीच में लिए गए कर्ज़ का सूद घटा दिया जायगा।

तीसरे मसविदे के अनुसार बेहद सूदखोरी रोकी जायगी और सूद की सीमा तय कर दी जायगी।

इस प्रकार पाठक देखेंगे कि वास्तव में कर्ज़दार किसानों की रक्षा के लिए आवश्यक अनेक बातों का इन मसविदों में काफी ध्यान दिया गया है। पर, इतना ही काफी

नहीं है। किसान की विपत्ति इतने से ही नहीं छूट जाती। उस पर कई नई मुसीबतें हैं। पटवारी भी उसको कर्ज़ में घसीटने में बड़ा भाग लेता है। सरकारी लगान यदि ज्यों-का-त्यों रही तो किसान कर्ज़ के बोझ से दबेगा ही। साहूकार कर्ज़ देकर किसान का खून ज़रूर चूस लेता है, पर वह गाढ़े समय उसके काम भी आता है। इतनी बाधाएं देखकर वह ऋण न देगा। इधर किसान पर लगान वगैरह का बोझा ज्यों-का-त्यों रहेगा। उसे अपना काम चलाने के लिए द्रव्य न मिलेगा। फल यह होगा कि बेदखली काफी होगी। इसलिए सरकार को इस पर काफी गौर कर लेना चाहिए। खास कमेटी को केवल साहूकार पर ही नहीं, सरकार पर भी कड़ा बंधन डालना चाहिए, जिससे वह अमुक सीमा तक मंदी होने तक अमुक मात्रा में लगान ले।

दूसरी आवश्यक बात यह है कि बिल के कानून बनने की आशंका से इधर लगातार नए दावे-मुकद्दमे होंगे। साहूकार अपना लेना-पावना तुरंत बराबर कर लेना चाहेगा। खास कमेटी से मामला निकलने में छ: महीने तक लग जायगा। तब तक के लिए कोई चालू नियम-'आर्डिनेंस' द्वारा-चालू कर देना चाहिए।

[सपादकीय। 'जागरण', 10 जुलाई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 संकलित।]

नेता-सम्मेलन

संभवत: यह पूर्णत: निश्चित हो चुका है कि बारह जुलाई से, पूने के तिलक मेमोरियल हाल में लगभग 200 प्रमुख कांग्रेसी नेताओं का सम्मेलन होगा। अधिवेशन दो दिन का होगा और वर्तमान प्रबंध के अनुसार राष्ट्रपति अणे सभापति का आसन ग्रहण करेंगे। आशा है कि सम्मेलन के पूर्व ही, निजी परामर्श द्वारा, कांग्रेस की भावी योजना के विषय में निश्चित प्रस्ताव पेश कर दिए जाएंगे। उन पर विचार कर, तब संशोधन इत्यादि होगा।

ऐसा प्रतीत होता है, कि सरकार ने भी अपनी जड़ता का रुख बदला है। वह धीरे-धीरे कांग्रेसी नेताओं को रिहा कर रही है। आचार्य नरेन्द्रदेव जी, श्री ठाकुरदास जी, श्री दुर्गाप्रसाद खत्री तथा श्री संपूर्णानन्द जी ऐसे काशी के सम्मानित नेताओं का लंबी अवधि के पहले ही छूट जाना इस बात के प्रमाण हैं। किंतु, फिर भी, आश्चर्य होता है, कि इस अत्यंत महत्त्वपूर्ण अधिवेशन के पहले श्री जवाहरलाल नेहरू क्यों नहीं छोड़ दिए जाते? पं० जवाहरलाल नेहरू से सत्याग्रह का इतना घनिष्ठ संबंध है कि बिना उनकी सम्मति के, स्वीकृति के, सत्याग्रह स्थगित नहीं हो सकता। सरकार इस बात को बखूबी जानती है, पर वह जानबूझ कर मन मारे बैठी है। पं० नेहरू अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के मेंबर हैं। उनकी तीन-चौथाई सजा पूरी हो चुकी है। उनका पूने में उपस्थित रहना अनिवार्य है, पर सरकार अच्छा भी काम करके उसके साथ कुछ बुराई कर लोकप्रियता खो देती है।

इधर शिमला का समाचार है कि लार्ड विलिंगडन उस समय तक गांधी जी से मिलने की कल्पना भी नहीं कर सकते, जब तक सत्याग्रह न स्थगित कर दिया

जाय। लार्ड महादय संभवत: लार्ड इर्विन की उस भूल का प्रायश्चित करना चाहते हैं, जो उन्होंने कांग्रेस ऐसी बागी संस्था के साथ 'पैक्ट' करके की थी, पर इस 'स्थिरता' से कोई लाभ न होकर कांग्रेस के उग्र पक्ष वालों की उत्तेजना ही बढ़ेगी।

किंतु, हम आशा करते हैं, कि कांग्रेस अपने भरसक ऐसा कोई कार्य न करेगी, जिससे देश का अकल्याण होगा। ईश्वर हमारे नेताओं को बुद्धि तथा बल प्रदान करें।

[संपादकीय। 'जागरण', 10 जुलाई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

पुलीस का काम हवाई जहाज़ों की बम-वर्षा से

ब्रिटिश सरकार बीसवीं सदी की नई अप-टु-डेट सरकार है। इसका परिचय उसने अभी हाल में दिया है। निरशस्त्रीकरण कमेटी में एक प्रस्ताव यह था कि लड़ाइयों में जो निरशस्त्र जनता पर हवाई जहाज़ों से बम बरसाने की प्रथा चल पड़ी है, उसे उठा देना चाहिए। दुर्भाग्य की बात है कि इस वक्त अंग्रेजों की हवाई शक्ति न अव्वल है, न दोयम बल्कि पंचम, फिर पिछली लड़ाई में जर्मनी के बम-बाज़ों ने इंग्लैंड वालों को बम वर्षा का थोड़ा मज़ा भी चखा दिया था। ब्रिटिश-सरकार जानती है कि कहीं फिर लड़ाई छिड़ी तो इंग्लैंड की खैरियत नहीं। इसलिए उसने असीम उदारता का भाव दिखाते हुए इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, मगर केवल एक छोटा-सा अधिकार स्वरक्षित रखना चाहा और वह यह कि इंग्लैंड अपने सीमांत-प्रदेशों में पुलीस का काम करने के लिए बम बरसाता रहेगा। कितना सरल ढंग है पुलीस के काम करने का। पुलीस का काम है जनता के जान और माल की रक्षा करना। बमों से ज़्यादा कौन यह रक्षा कर सकता है। और फिर कोई झंझट नहीं। न पुलीस को वहां जाना पड़ेगा और न कोई जोखिम उठाना पड़ेगा। चुपके से एक हवाई जहाज़ जाकर सारा काम समाप्त कर सकता है। हमारा खयाल है, अगर सरकार पुलीस विभाग तोड़कर हरेक ज़िले में एक-एक दो-दो हवाई जहाज़ रख दे, जो बम बरसाकर जनता की रक्षा किया करे, तो उसे एक बहुव्ययी पुलीस-विभाग रखने की ज़रूरत न रहेगी। लाल पगड़ी वालों की एक फौज रखकर करोड़ों रुपये साल खर्च करने से क्या फायदा? हवाई जहाज़ बड़ी किफायत से जनता की रक्षा कर सकते हैं। हम दावे से कह सकते हैं, कि फिर जनता कभी चूं तक न करेगी। कोई जबान न हिलावेगा। यह सारा सत्याग्रह का बखेड़ा और जलसे और मुकदमे शांत हो जाएंगे। जहां कोई जलसे देखो, चट दो-चार छोटे-छोटे बम गिरा दो। फिर जो एक भी विद्रोही जलसे में रह जाय तो हमारा जिम्मा। सब-के-सब इस तरह भर्र हो जाएंगे जैसे बंदूक की आवाज़ सुनते ही चिड़िया भर्र हो जाती हैं। यह बीसवीं सदी है। इसे जनतंत्र का युग कहते हैं। भला इस युग में ऐसे कम खर्च वाला नशीन नुस्खे न काम न लिया जायगा, तो कब लिया जायगा? नए आविष्कारों का ऐसा ही प्रयोग करना चाहिए। यह कैसे हो सकता है कि बीसवीं सदी में पुरानी पुलीस से काम लिया जाय। अंग्रेजी गवर्नमेंट अपने दुश्मनों पर बम नहीं बरसाना चाहती। यह तो पशुता है और बर्बरता है, लेकिन

अपनी प्रजा पर बम गिराने का उसे पूरा अधिकार है, इसमें कौन बाधक हो सकता है? मां अपने बच्चे को आखिर पीटती है या नहीं, लेकिन पड़ौसी के बच्चे को पीटे तो हम देखें।

[संपादकीय। 'जागरण', 10 जुलाई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

बात का बतंगड़

पिछले दिनों ऐसा हुआ कि हाईस्कूल सर्टीफिकेट के नतीजे 'लीडर' से पहले 'पायोनियर' में छप गए। 'पायोनियर' वालों ने चाहे जो चाल चली हो, 'लीडर' से बाज़ी मार ले गए। वही नतीजा लीडर में एक दिन पीछे निकला। हो सकता है इसमें पक्षपात हुआ हो। हम मान लेते हैं कि कुछ पक्षपात हुआ, लेकिन इस ज़रा-सी बात का इतना तूमार बांधना और काउंसिल के रुपये-पैसे को व्यर्थ के तू-तू मैं-मैं में नष्ट करना कौन-सी राष्ट्र की सेवा है, यही हमारी समझ में नहीं आया। दोस्तों के साथ थोड़ी बहुत रिआयत कौन नहीं करता। यह एक मानवीय दुर्बलता है जिससे बड़े से बड़ा आदमी भी [illegible] नहीं। यह आशा करना कि शिक्षा-विभाग के सारे आदमी देवता है, अपने खलल दिमाग को परिचय देना है। एक बात हो गई, चलो किस्सा खतम हुआ। अब बार-बार उसी रांड़ के चरखे को चलाए जाना और जहां अपने मतलब की बात आ जाय उसके लिए जमीन-आसमान के कुलाबे मिलाना और काउंसिल में हेय स्वार्थ के लिए चिल्ल-पों मचाना एक ऊंचे दरजे के जिम्मेदार आदमी को शोभा नहीं देता। इस तरह का वाद-विवाद तो नीचे दरजे के आदमियों में हुआ करता है। काउंसिल के लिए इस समय भी इस व्यर्थ के प्रश्नोत्तर से ज़्यादा महत्त्व के काम पड़े हुए हैं। यही बात है जिन्होंने काउंसिलों को डिबेटिंग क्लब बना रखा है।

[संपादकीय। 'जागरण', 10 जुलाई, 1933 मे प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' [illegible] में संकलित।]

हिन्दुस्तानी एकाडेमी

हमारी संस्थाओं में जहां रुपये-पैसे की बात आ जाती है, वहीं कार्यकर्त्ताओं में माथा-फुट्टौवल होने लगता है। एक दल चाहता है कि यह सारे रुपये हमारे मित्रों और सहयोगियों को मिल जाएं। दूसरा दल अपनी तरफ खींचता है। जिस दल को हार हो जाती है वह गुल गपाड़ा मचाना शुरू करता है और उस संस्था में और उसके जिम्मेदार कार्यकर्ताओं में नाना प्रकार के यथार्थ और काल्पनिक दोष निकालने लगता है। अगर वह खुद विजयी होता है और ज़रा भी कान-पूंछ न हिला[illegible] तब संस्था पूर्णतः नि[illegible] होती। मगर चूंकि रेवड़ियां बांटने का अधिकार उसके हाथ में नहीं है, इसलिए उसे उस संस्था में ऐब-ही-ऐब नज़र आने लगते हैं। हिन्दुस्तानी एकाडेमी भी उसी तरह की संस्था है। जो काम आज तक कोई न कर सका और वह हरेक को खुश रखना है, वह एकाडेमी करना भी चाहे, तो नहीं कर सकती। हमने इस विषय का राय साहब

श्यामसुन्दरदास का पत्र और श्रीयुत ताराचन्द मंत्री द्वारा दिया गया जवाब दोनों ध्यान से पढ़े और हमें यही जान पड़ा कि रायसाहब की आलोचना कुछ उसी तरह है जैसी हरेक संस्था के विषय में की जा सकती है। जिस संस्था के रायसाहब खुद कर्त्ता-धर्त्ता हैं और जिसे वह आदर्श संस्था समझते होंगे उसके विषय में इससे कहीं कड़ी आलोचना की जा सकती है। हां, यदि रायसाहब ने ऐसे उदाहरण दिए होते कि एकाडेमी की कार्यकारिणी कमेटी ने साहित्य-कमेटी की सम्मति के विरुद्ध अमुक लेख को पुरस्कार दिया, अमुक वाहियात किताब छापवाई, अमुक व्यर्थ का व्याख्यान दिलवाया तो एक बात होती, पर उनकी आलोचना में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता। रही यह बात, कि एकाडेमी सर्वप्रिय नहीं है, उसकी पुस्तकों की और पत्रिकाओं की अच्छी बिक्री नहीं होती, यह जरूर बेजा शिकायत है। यद्यपि एक सरकारी या अर्ध-सरकार संस्था होने क नाते एकाडेमी को यह सर्वप्रियता तो प्राप्त नहीं हो सकती। जो दूसरी साहित्यिक संस्थाओं को प्राप्त है, फिर भी हमारा यह खयाल है कि एकाडेमी अगर उद्योग करे और अपने आफिशल पोजीशन से काम ले तो उसकी प्रकाशित वस्तुओं की खपत ज़्यादा हो सकती है। मगर गंभीर विषय की पुस्तकें कहां गरम जलेबियो की तरह बिकती हैं और कौन-सी गंभीर पत्रिका नफे पर चलती है? अगर नफे का खयाल किया जाय तो आज सौ में अस्सी पत्रिकाएं बंद कर देनीं पड़ेंगी। और एकाडेमी कोई दूकान नहीं है।

[संपादकीय। 'जागरण', 10 जुलाई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 मे संकलित।]

अभागिनी विधवा

कई दिन हुए देहली में एक हिन्दू विधवा ने रेल की लाइन पर लेट कर जान देना चाहा। संयोग से ड्राइवरं ने देख लिया और इंजिन को रोक दिया। जब औरत को इंजिन के नीचे से निकाला गया, तो उसने यह करुणा में डूबे हुए शब्द कहे ''मैं बाल-विधवा हूं। मैं अपनी जिंदगी से तंग आ चुकी हूं। इस दुनिया में नहीं रहना चाहती। तुम लोग मुझे क्यों तंग करते हो, मुझे मर जाने दो।''

और उस विधवा पर अब आत्म-हत्या के अपराध में अभियोग चल रहा है।

[संपादकीय। 'जागरण', 17 जुलाई, 1933 मे प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 मे सकलित।]

फेल होने वाले लड़के

कुछ अजीब दिल्लगी है कि हमारे स्कूलों और कॉलिजों में जब कोई लड़का फेल हो जाता है, तो उसे इसकी यह सजा दी जाती है कि स्कूल से निकाल दिया जाता है, और जब अपने स्कूल ने निर्दयता से निकाल दिया, तो ऐसे निकाले हुए लड़कों को दूसरा स्कूल क्यों लेने लगा। इस प्रकार लड़के के लिए शिक्षा के द्वार चारों ओर से बंद हो जाते हैं। कितनी दयनीय परिस्थिति है। मगर इधर दूसरी समस्या यह है

कि यदि इन लड़कों को रहने दिया जाय, तो नये आने वालों को कहां से जगह मिले। नए लड़कों को भी तो आखिर अवसर मिलना ही चाहिए। बात यह है कि तैंतीस लड़कों वाली कैद ही निरर्थक है। या तो हमें इतने स्कूल चाहिए, कि सभी लड़के पढ़ सकें, या मौजूदा स्कूलों से इस कैद हो उठाकर और जगहें निकालनी चाहिए, या फिर सबसे उत्तम है कि इम्तहानों को और सरल कर दिया जाय, जिसमें अधिक से अधिक लड़के पास हो सकें। जब स्कूल या कॉलेज की सनद नौकरी के लिए बेकार हो गई है, तो क्यों लड़कों पर इतनी कैद लगाई जाएं। फिर क्या लड़के के फेल हो जाने में केवल लड़के ही की खता है? स्कूल के अध्यापकों पर उसकी कोई जिम्मेदारी नहीं आती? माना, अध्यापक घोल कर पिला नहीं सकता, लेकिन यह निर्विवाद है कि लड़कों की सफलता या असफलता, बहुत कुछ अध्यापक के व्यक्तित्व, अध्यवसाय, प्रोत्साहन पर निर्भर है। फिर किस मुंह से फेल होने वाले लड़कों को निकाल दिया जाता है।

[संपादकीय। 'जागरण', 17 जुलाई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

शक्कर सम्मेलन

शिमले में शक्कर कांफ्रेंस हो रही है। किस तरह किसानों को, जो ऊख पैदा करते हैं, मिल वालों से बचाया जाय और विदेशी शक्कर पर जो कर लगाया गया है, उसका लाभ किसान, मिल-मालिक और जनता सभी को समान रूप से मिले यह इस सम्मेलन का उद्देश्य है। एक साहब ने प्रस्ताव किया कि ऊख मूल्य सरकार द्वारा निश्चित कर दिया जाय, दूसरे साहब ने कहा नहीं इससे किसानों को घाटा होगा। एक प्रस्ताव था कि एक-एक मिल के लिए एक-एक इलाका अलग कर दिया जाय। उस इलाके की ऊख इलाके के बाहर न जा सके। दूसरे साहब ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। इस तरह सम्मेलन समाप्त हो जायगा और किसान जहां है वहीं रहेगा, समस्या हल न होगी। देखना यह है कि साधारण दशा में किसान को एक बीघे में कितना प्राप्त होता था, उतना उसे मिलना चाहिए। मसलन् उसने एक बीघा ऊख बोई, उसमें उसने बीस मन गुड़ पैदा किया, जिसका दाम एक सौ रुपये हुआ। यह रकम उसकी खड़ी ऊख बिक जाने की दशा में उसे मिलनी चाहिए, या इससे भी अच्छा तरीका यह है कि मिल को मजदूरी और थोड़ा-सा नफा देकर जो दस फीसदी से किसी तरह भी ज़्यादा न हो, जो कुछ बचे वह ऊख पैदा करने वालों को परते से दिया जाय और इसकी निगरानी सरकार खुद करे।

जब तक देश के सुदिन नहीं आते और सभी व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण नहीं हो जाता, पूंजीपतियों के हाथ में किसानों और मजदूरों की किस्मत रहेगी और सरकार ऊपरी मन से नियंत्रण करने का स्वांग भरकर कोई उपकार नहीं कर सकती। हम तो किसानों को यही सलाह देंगे कि वे खुद अपना संगठन करें और अपनी शक्कर अपनी खंडसालों में बनाकर इस ड्यूटी का पूरा फायदा उठाएं, मगर किसानों का

संगठन करें। हम तो देख रहे हैं कि राष्ट्र के वे नेता, जिनसे इसकी आशा की जा सकती थी, शक्कर-कंपनियों के हिस्सेदार या संस्थापक बने हुए हैं, और पूंजीपति की हैसियत से यह स्वाभाविक है कि वह ज़्यादा-से-ज़्यादा नफा अपनी गोट में रखने की चेष्टा करें। योरोप में 'इंडस्ट्रियलाइज़ेशन' का दुष्परिणाम देखकर भी हम नहा चेत रहे हैं और छोटे-छोटे व्यवसायों को कुचल कर महान व्यवसायों की सृष्टि और छोटे-छोटे स्वामी व्यवसायियों को कुचलकर एक बड़ी मशीन के पुरजे बनने पर तुले हुए हैं। इसका नतीजा बेकारी की वृद्धि के सिवा और क्या होगा? किसान साल के चार-पांच महीने ऊख पेरने, गुड़ या शक्कर बनाने में काट देता था। अब यह काम उसके हाथ से निकाला जा रहा है। जो काम पचास आदमी मिलकर करते थे, उसे एक आदमी मशीन के जोर से पूरा कर लेगा। बेकारी बढ़ाने का इसके सिवा और क्या इलाज है? मिलों के दो-चार सौ मजूर काम करेंगे अवश्य, पर दस-पांच हजार किसानों को तबाह करके। इस व्यवसाय-युग की यही महिमा है। यहां व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं है। यहां जो कुछ है, धन है और मशीन है। वही देहातों की तबाही, वही घरेलू व्यवसायों का सर्वनाश।

[सपादकीय। 'जागरण', 17 जुलाई, 1933 मे प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 मे सकलित।]

हज़रत मुहम्मद की पुण्य-स्मृति

गत शुक्रवार ता॰ 7 जुलाई को काशी के टाउनहाल में इस्लाम-धर्म के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद के जन्मोत्सव के उपलक्ष में जो जलसा हुआ, वह एक यादगार जलसा था। काश ऐसे अवसर और सुलभ होते। उपस्थित जनता में हिन्दू और मुसलमान दोनो ही थे। सभापति का आसन श्री डा॰ अब्दुलकरीम ने लिया था। बोलने वालों में मौलाना आज़ाद सुभानी, पंडित सुन्दरलाल जी और काशी के मौलाना अब्दुलखैर साहब थे, पर मुख्य वक्तृता पंडित सुन्दरलाल जी की थी। आपके व्याख्यान में विद्वत्ता के साथ इतनी शिष्टता, इतनी श्रद्धा और इतनी सच्चाई भरी हुई थी कि मुसलामनों का तो कहना ही क्या, हिन्दू-जनता भी मुग्ध हो गई। इतनी सदियों तक एक साथ, पड़ोस में रहने पर भी, हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के धार्मिक-सिद्धांतों और सच्चाई से इतने अपरिचित हैं कि सुन्दरलाल जी के कथन ने बहुतेरे हिन्दुओं को चकित कर दिया होगा। जिस तरह अब तक मुसलमानों ने हिन्दुओं को काफिर समझकर उनके विषय में अब और ज़्यादा जानने की जरूरत न समझी, उसी भांति हिन्दुओं ने भी इस्लाम के विषय में कुछ गलत धारणाएं बना ली हैं, और 'रंगीलारसूल' के ढंग की पुस्तकें पढ़ने से ये गलत धारणाएं और भी पत्थर की लकीर हो गई हैं। इन सभी मिथ्या धारणाओं का पंडित जी ने इतने प्रभावोत्पादक शब्दों में निराकरण किया कि बहुतों के हृदय से वे धारणाएं निकल गई होंगी। यह आमतौर पर कहा जाता है कि इस्लाम-धर्म तलवार के जोर से फैला और यह कि हज़रत मुहम्मद ने अपने संप्रदाय को आज्ञा दी है कि काफिरों को कत्ल करना ही स्वर्ग की कुंजी है, पर पंडित जी

ने बताया है कि यह बातें कितनी गलत और द्वेष करने वाला हैं। हजरत मुहम्मद ने कभी किसी पर हमला नहीं किया। उनके जीवन में ऐसी एक मिसाल भी नहीं मिलती कि उन्होंने प्रचार के लिए या विजय के लिए किसी पर फौजकशी की हो। जब भी कभी उन्होंने तलवार उठाई तो शत्रुओं से अपनी रक्षा करने के लिए और वह भी उस हालत में जब और किसी तरह शत्रु अपने अन्याय से बाज न आया। कत्ल करने की जगह उन्होंने सदैव क्षमा की। यह कहा जा सकता है कि क्षमा उनके जीवन का मुख्य तत्त्व था। मक्का वालों के जुल्म से तंग आकर वे मदीना चले गए थे। जब तेरह वर्ष के बाद उन्होंने फिर मक्का पर विजय पाई तो सारा मक्का भय से कांप रहा था कि न जाने कितनी बड़ी आफत आने वाली है, पर हजरत ने सबको क्षमा कर दिया, हालांकि वे चाहते, तो कत्ले आम करा सकते थे। यहूदियों, ईसाइयों सभी के साथ उनका यही व्यवहार रहा। वे बराबर यही कहा करते थे कि मैं खुदा की तरफ से उसकी दया और प्रेम का पैगाम लेकर आया हूं, कत्ल करने नहीं। यही शब्द हज़रत ईसा ने भी कहे थे। मगर ऐसे दया और क्षमा की मूर्ति पर लोगो ने किस बुरी तरह कालिमा पोतने की चेष्टा की है। द्वेष फैलाने वाले यहां तक कहते हैं कि हजरत मुहम्मद बड़े विलासी थे, हालांकि सत्य यह है कि उनका जीवन सच्ची साधना और तप का जीवन था। उनके जीवन-काल में ही इस्लाम ने वैभव प्राप्त कर लिया था और हजरत जितना भोग विलास चाहते, कर सकते थे, पर उन्होंने प्रजा के धन को हमेशा अपने परिवार के लिए त्याज्य समझा। वे अपने हाथों अपने कपड़े सीते थे, अपने जूते गांठते थे, और कभी-कभी अभाव के कारण यहां तक नौबत आ जाती थी कि आपको पेट में पत्थर बांध लेना पड़ता था, जिसमें क्षुधा के कारण पेट में दर्द न होने लगे। इसी संबंध में हज़रत मुहम्मद की ग्यारह स्त्रियों का जिक्र किया जाता है और कहा जाता है कि हजरत कितने विलासी थे। और भोले-भाले हिन्दू अज्ञान के कारण उन लोगों के भुलावे में आकर, जिनकी रोटियां सांप्रदायिक वैमनस्य पर चलती हैं, इसी महान् अनर्थ को सत्य मान लेते हैं। पच्चीस वर्ष की अवस्था तक हज़रत अविवाहित रहे हालांकि उस समय आप व्यापार में कुशल हो चुके थे और किसी सुंदरी के साथ विवाह कर सकते थे। पच्चीस वर्ष की अवस्था में आपने खुदैजा से विवाह किया, जिनके वह सेवक थे। हज़रत खुदैजा की उम्र उस वक्त पैंतालीस वर्ष की थी और वह विधवा थीं। अगर यह कहा जाय कि हज़रत ने खुदैजा से केवल धन के लोभ से विवाह किया, तो यह सरासर अन्याय है। धन का लोभ केवल धन के लिए नहीं, उससे भोग करने के लिए होता है। यदि हज़रत खुदैजा के धन से हज़रत मुहम्मद को भोग की इच्छा होती, तो वे साल-दो साल बाद ही नयी शादियां करने लगते। मगर हज़रत ने पच्चीस वर्ष तक खुदैजा के साथ एक पत्नीव्रत का पूर्णरूप से पालन किया। पचास वर्ष की अवस्था के बाद ही उनकी दूसरी शादियां हुईं। ऐसे महात्यागी के विषय में, जिसने पच्चीस वर्ष की अवस्था में पैंतालीस की अधेड़ स्त्री से विवाह किया और पच्चीस वर्ष तक उनके साथ सच्चे पत्नीव्रत का पालन किया, अन्याय और धार्मिक द्वेष की पराकाष्ठा है। पचास वर्ष की अवस्था के बाद अवश्य हज़रत ने कई शादियां कीं, पर हरेक शादी किसी-न-

किसी धार्मिक या सामाजिक या राजनैतिक कर्त्तव्य के अधीन हुई। उस समय जब दो कबीलों में झगड़ा हो जाता था, तो संधि के समय जीते हुए दल को हारे हुए दल की कन्या से विवाह करके संधि की मजबूती का विश्वास दिलाना पड़ता था। जीता हुआ व्यक्ति यदि विवाह से इंकार करे, तो हारने वाले को उसकी नीयत की सफाई पर विश्वास ही नहीं आता था। एक महिला के विषय में यही बात हुई। जब हारे हुए दल ने अपने कन्या से विवाह का प्रस्ताव किया, जो हज़रत ने अपने सहाबा में हरेक से उस कन्या के साथ विवाह करने का आग्रह किया, पर जब कन्या के कुरूपा होने के कारण कोई राजी न हुआ, तो मजबूर होकर हज़रत ने उस कन्या को खुद अपना महल बना लिया। क्या यह भोग-लिप्सा है? यह उस ज़माने की एक प्रथा का पालन है, और कुछ नहीं।

जरा उन कठिनाइयों का अनुमान कीजिए, जिनके अंदर हज़रत को अपने जीवन का महान् उद्देश्य पूरा करना पड़ा। कुरैश अरबों का एक शक्तिशाली कबीला था, पर अरब में जो सामाजिक बुराइयां मौजूद थीं, वह सब इस कबीले में थीं। जहां बात-बात पर खून की नदी बह जाती थी, जहां लड़कियां जन्म के समय ही मार डाली जाती थीं, जहां मूर्तियों के सामने मनुष्य तक का बलिदान होता था, जहां शराब पानी की तरह पी जाती थी, जहां हर घर का अलग देवता था और जब दो खानदानों में लड़ाई होती थी, तो जीतने वाला-दल हारने वाले के देवताओं को भी उठा ले जाता था और उसे तोड़-फोड़ डालता था, हारने वाले दल के लोग गुलाम बनाकर बेच दिए जाते थे और उनकी स्त्रियां जीतने वालों के लूट का माल समझी जाती थीं, ऐसे सामाजिक परिस्थितियों में हज़रत का जन्म हुआ। राजनैतिक दशा यह थी कि फिर अरब के एक तरफ ईरान का अधिकार था, दूसरी तरफ रूस के ईसाई बादशाह का, और तीसरी तरफ हब्श के ईसाई बादशाह का, केवल बीच का भाग स्वाधीन था। और इस स्वाधीन भाग की वह दशा थी, जो हमने ऊपर बयान किया है। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में सत्य का प्रचार करना और अंत को उसी झक्कड़ जाति से बलशाली धर्मसंख्या और साम्राज्य का निर्माण करना क्या कोई साधारण काम था? और क्या वह काम किसी विलासी, अर्थ-लोलुप मुनष्य द्वारा हो सकता था? महान् काम महान् पुरुषों द्वारा ही होते हैं। छोटे-छोटे व्यक्ति तो छोटे-छोटे काम ही कर सकते हैं।

यह भी ध्यान रखने की बात है कि हज़रत मुहम्मद ने कहीं भी नए धर्म के प्रवर्तन का दावा नहीं किया। उन्होंने बार-बार कहा कि मैं प्राचीन नबियों के धर्म को ही पुनर्जीवित करने आया हूं। उन्होंने बार-बार कहा है कि हरेक धर्म का सम्मान करो, क्योंकि सब धर्मों की तह में केवल एक सच्चाई है। किसी धर्म की उन्होंने निंदा नहीं की। जब हज़रत एक राज्य के अधिकारी हो गए और वह तलवार के जोर से जनता को मुसलमान बना सकते थे, तब भी उन्होंने हरेक धर्म को अपने मतानुसार उपासना करने की स्वधीनता दे दी थी। यहां तक कि मूर्ति-पूजकों पर भी कोई बंधन न था और हरेक धर्म के पवित्र स्थानों की रक्षा करना मुसलिम सरकार अपना कर्त्तव्य समझती थी।

यह है उस ऋषि की जीवन-कथा, जिसके नाम पर आज आधी दुनिया सिर झुकाती है। उसके त्याग की कथा अद्भुत है। जो एक राज्य का स्वामी था, वह खजूर की चटाई पर सोता था। एक बार उनकी पीठ पर बोरियों का निशान देखकर किसी ने आज्ञा मांगी कि वहां एक गद्दा बिछा दिया जाय। हज़रत ने यह कहकर इंकार कर दिया कि मैं आराम के लिए नहीं पैदा हुआ हूं। संचय का यह हाल था कि अंतिम संस्कार के समय हज़रत की जिरह पौने दो मन जौ पर गिरो रक्खी गई थी। जिस पुरुष का सारा जीवन इस तरह की तपस्या में गुजरा हो, और जिसने सामर्थ्य होने पर भी उस तपस्या में अंतर न पड़ने दिया हो, उसके प्रति हमें श्रद्धा और प्रेम होना चाहिए। कितने खेद की बात है कि ऐसे महापुरुष पर झूठे आरोप लगाकर हम द्वेष बढ़ाते हैं।

यह है उस व्याख्यान का सारांश, जो पं० सुन्दरलाल जी ने उस दिन इस इस्लामी प्लेटफार्म से दिया। हमारा ख्याल है कि ऐसे सम्मेलनों और जलसों से, जिसमें हमारे पूज्यों के विषय में आदर और प्रेम के भाव प्रदर्शित किए जाएं, इससे दोनों जातियों में प्रेम और साहिष्णुता की स्पिरिट पैदा हो सकती है और उसका यही एक मार्ग है। इस वक्त हमारे सामने इसी धर्म के द्वेष को मिटाना सबसे बड़ा काम है।

[संपादकीय। 'जागरण', 17 जुलाई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

आठ करोड़ का खर्च

साइमन-कमीशन आया, उसकी रिपोर्ट आई, तीन-तीन गोलमेज हुए, मताधिकार कमीशन आया, फिर सेलेक्ट कमेटी आई और खुदा जाने अभी क्या-क्या आना बाकी है। अब सर माल्कम हेली ने सेलेक्ट कमेटी के रू-ब-रू अपना बयान देते हुए फरमाया है, कि इस व्यवस्था से सरकार पर आठ करोड़ का बोझ और पड़ जाएगा और मज़े की बात यह है कि नए-नए सूबों के बनाने से ही यह खर्च बढ़ेगा। मसलन दो-ढ़ाई करोड़ तो बर्मा को अलग करने ही में खर्च होंगे। सिंध भी इतना ही लेगा। 1920 में जो सुधार हुए, उसमें करोड़ों रुपये का खर्च बढ़ गया, प्रजा की हालत ज्यों-की-त्यों है। अब आठ करोड़ का खर्च होगा। होने दो। प्रजा से दस-बीस करोड़ वसूल करना कुछ मुश्किल नहीं है। पांच सौ आमदनी पर टैक्स लगा दीजिए, रेल के किराए में एक पाई फी मील बढ़ा दीजिए, अव्वल, दोयम दर्जे में नहीं....डाकखाने को भी ज़रा और टटोलिए, पोस्टकार्ड एक आने का और लिफाफे दो आने का कर दिया जाय, तो कोई बुराई न होगी। इस तरह आठ करोड़ की जगह शायद 16 करोड़ हाथ आ जाय। जिन्हें खत लिखना है, वे झक मारकर लिखेंगे, जिन्हें तार देना है वे झक मारकर तार देंगे। जिन्हें रेल पर जाना है, वे झक मारकर जाएंगे, अपने बाल-बच्चों के पालन के लिए धनोपार्जन तो लोग करेंगे ही। टैक्स का क्षेत्र ज़रा और बढ़ा दो, रुपये-ही-रुपये नजर आवेंगे। यही तो होगा, लोग कहेंगे बड़ा खराब जमाना आ गया है, बड़ी गिरानी है, कुछ समझ में नहीं आता कि कैसे जिंदगी पार लगेगी। बकने

दीजिए। आपको इन बेकार की बातों से मतलब। आपको अपने काम से काम रखना चाहिए। हां, आमदनी की एक दूसरी सूरत यह है कि शादियों पर टैक्स लगा दीजिए, हस्बे-हैसियत और मौत पर भी—जायदाद के परते से। जहां जनमत की परवाह नहीं है, जहां का जनमत अपंग है, वहां जितने टैक्स चाहे लीजिए, कौन पूछता है।

[संपादकीय। 'जागरण', 24 जुलाई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

आने वाला विधान और मिनिस्टर

जो विधान आने वाला है, कब आएगा इसमें कोई बहस नहीं, उसकी मुख्य वस्तु मिनिस्टर होंगे। सब कुछ मिनिस्टरों पर ही निर्भर होगा। अगर मिनिस्टर बहुमत रखने वाले दल का नेता होगा और अन्य मिनिस्टर उसकी राय से चुने जाएंगे तब तो व्यवस्था संतोषजनक होगी। इसके विपरीत अगर मिनिस्टर को गवर्नर अपनी इच्छा से चुनेगा और अपनी इच्छा से उन्हें पदच्युत भी कर देगा, तब व्यवस्था केवल धोखे की टट्टी है। सेलेक्ट कमेटी के सामने बयान देते हुए, सर सैमुएल होर ने निश्चित रूप से इस विषय में अपना क्या मत प्रकट किया, यह तो अभी ठीक नहीं कहा जा सकता, पर रिपोर्टरों द्वारा जो खबर आई है, उससे यही विदित होता है कि गवर्नर ही मिनिस्टरों को अपनी इच्छा से चुनेगा और यदि वे उसकी इच्छानुसार काम न करेंगे तो उन्हें वह अलग भी कर देगा। इस रिपोर्ट ने वर्तमान मिनिस्टरों को बहुत आशंकित कर दिया। संयोग से इन्हीं दिनों सभी प्रांतों के मिनिस्टर शिमले में विचार-विनिमय के लिए जमा था। उन लोगों ने वाइसराय के पास जाकर अपनी शंका प्रकट की और गवर्नमेंट को एक कम्युनीक निकालकर जनता को आश्वासन देना पड़ा कि सर सैमुएल होर के बयान का यह-आशय नहीं था। अगर वास्तव में सर सैमुएल होर का यह आशय नहीं था, तब तो ठीक है, लेकिन यदि गवर्नर आजकल के मिनिस्टरों की तरह नये विधान में भी मिनिस्टरों पर नियंत्रण रखेगा तो इस नए विधान की कोई ज़रूरत ही नहीं रह जाती। इससे तो कहीं अच्छा है कि गवर्नर स्वयं अपने सेक्रेटरियों की सहायता से सभी कामों का संपादन करे। जब आने वाले मिनिस्टर भी 'हिज मास्टर्स वाइस' की भांति गवर्नर के शब्दों को दुहाराएंगे। तो व्यर्थ में जनता के सिर पर नए खर्च का बोझ लादने की क्या जरूरत है।

[संपादकीय। 'जागरण', 24 जुलाई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

इस्लाम का विष-वृक्ष

अभी हाल में इस नाम की एक पुस्तक साहित्य-मंडल देहली ने प्रकाशित की है। इसके लेखक हैं, श्री चतुरसेन जी शास्त्री। शास्त्री जी यशस्वी लेखक हैं, उनकी शैली में ओज है, आकर्षण है, तेज है, पर दुर्भाग्यवश वह कभी-कभी इन गुणों का दुरुपयोग क़िया करते हैं। थोड़े से धन और थोड़े से यश के लोग से ऐसी रचनाएं कर डालते

हैं, जिनसे सनसनी के साथ देश में सांप्रदायिक द्वेष को उत्तेजित करने की मनोवृत्ति साफ झलकती है। ऐसी जहरीली पुस्तकें बिकती ज़्यादा हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। मुसलमानों ने हिन्दुओं पर जो अत्याचार किए, उसका विषद और एकांगी विस्तार दिखाकर सांप्रदायिक मनोवृत्ति वाली हिन्दू जनता में मुसलमानों के प्रति द्वेष बढ़ाया जा सकता है। यह ऐसा मुश्किल काम नहीं, लेकिन क्या इस द्वेष को भड़काना एक यशस्वी और जिम्मेदार लेख की मर्यादा के अनुकूल है? दोष सभी धर्मों में निकाले जा सकते हैं। क्या हिन्दू-धर्म दोषों से खाली है? अपने-अपने समय में प्रभुता पाकर अत्याचार भी सभी जातियों ने किए हैं, लेकिन उन गई बीती बातों को कीने की तरह पालना और उनका प्रचार करके जनता में द्वेष फैलाना, राष्ट्र को सर्वनाश की ओर ले जाना है। 'रंगीला रसूल' के ढंग की पुस्तकों से देश का क्या कल्याण हो सकता है? 'इस्लाम का विष-वृक्ष' के पृष्ठ पैंतालीस पर कुरान में लिखी हुई बातों के विषय में कहा गया है कि कुरान के अनुसार-

1 खुदा आदमी को बहकाता है।

2 खुदा सबसे बड़ा कपटी है।

3 खुदा ने प्रत्येक शहर में पापियों के सरदार छोड़ रखे हैं, ताकि वे लोगों को बहकाते और धोखा देते रहें।

4 खुदा घात में लगा रहता है।

5 बिहिश्त में शराब पीने को, मांस खाने को, तथा सनर हूरें और लौंडे मौज करने को मिलेंगे।

हम नहीं समझते की इस तरह की लचर, बेबुनियादी, धोखे में डालने वाली बातों के प्रचार का इसके सिवा और क्या उद्देश्य है कि हिन्दुओं में इस्लाम और मुसलमानों के प्रति घृणा और द्वेष पैदा किया जाय। ऐसी मनोवृत्ति वालों से ईश्वर इस देश की रक्षा करे।

इसके आगे चलकर शास्त्री जी ने इर्विन, एलफिंस्टन आदि योरोपियन लेखकों की रचनाओं क उद्धरण देकर इस मत का समर्थन करने की चेष्टा की है कि मुहम्मद मनुष्य जाति का भयानक शत्रु था और यह कुरान में मूर्खता के सिवा और कुछ नहीं है। योरोप के इतिहासकारों ने इस्लाम को इसलिए कलंकित किया कि वे यूनान और बलकान आदि देशों से तुर्कों को निकालना चाहते थे। इस्लाम का प्रभुत्व उनकी आंखों में कांटे की तरह खटकता था। उनके कथन को प्रमाण मानकर, यहां नकल करना किसी तरह भी स्तुत्य नहीं कहा जा सकता। हम स्वयं संप्रदायों के वकील नहीं हैं। धार्मिक कट्टरता से भूमंडल को जितनी यातनाएं भोगनी पड़ी हैं, उनसे इतिहास के पोथे भरे पड़े हैं। इस लिहाज़ से क्या ईसाई, क्या बौद्ध, क्या हिन्दू सभी समान रीति से अपराधी हैं। उसमें से किसी एक धर्म को छांट लेना और सारी बुराइयां उसी में दिखाना, अस्वस्थ और पक्षपात-पूर्ण मन का परिचय देता है। यह पुस्तक इस्लाम का इतिहास है। किसी जाति या धर्म का इतिहास लिखना बुरा नहीं, यदि निष्पक्ष होकर, पूरे अध्ययन और खोज से, सत्यासत्य का पूरा विचार करने और उसके साथ सौजन्य का पालन करते हुए लिखा जाय। इस पुस्तक का नाम ही बतला रहा है

कि इसकी रचना किस भाव की प्रेरणा से हुई है, और पुस्तक के कवर पर जो रंगीन चित्र दिया है, वह तो लेखक के विषैले मनोभाव की नंगी तस्वीर है। यह इस्लाम का विष-वृक्ष रूपी मन है। इस पुस्तक में अधिकांश उन्हीं अंग्रेजी इतिहासों से नकल किया गया है, जिनमें मुसलमानों के प्रति काफी द्वेष और ईर्ष्या का भाव भरा हुआ है, जैसे 'बर्नियर' और मनूची आदि। वही बादशाहों के महल के अंदर की बातें मीनाबाजार के कपोलकल्पित किस्से, इस पुस्तक के आधार हैं। न जाने किस प्रमाण से पृष्ठ एक सौ तीन पर लिखा गया है कि मुगल बादशाह सांप पालते थे और जिस सरदार से उन्हें शंका होती थी, उसे सांप से डसवा देते थे, या ज़हरीले कपड़े पहना कर उसकी जीवन-लीला समाप्त कर देते थे। हम कहते हैं मान लो यह ठीक भी है, तो इससे क्या? उस मध्य-काल की धार्मिक कट्टरता या एकाधिपत्य में क्या नहीं होता था? हिन्दुओं के राजा भी तो विष-कन्याएं रखते थे और उनके द्वारा अपने शत्रुओं को यमराज के घर भेज देते थे। आज उन बातों पर आक्षेप करने का क्या अर्थ है?

श्री चतुरसेन जी हमारे मित्र हैं। वह विद्वान् हैं, मनस्वी हैं, उदार हैं, हम उनसे प्रार्थना करते हैं कि ऐसी जटिल और द्रोहभरी रचनाएं लिखकर अपनी प्रतिभा को और हिन्दी भाषा को कलंकित न करें और राष्ट्र में जो चाहे द्रोह और द्वेष पहले से ही फैला हुआ है, उस बारूद में आग न लगाएं।

[संपादकीय। 'जागरण', 24 जुलाई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

नयी परिस्थिति

महात्मा गांधी के दोनों तारों के वाइसराय ने जो जवाब दिए हैं, उन्हें देखकर हमें दुःखमय आश्चर्य हुआ। भारत की गवर्नमेंट भी ऐसे अवसर कम ही देती है। जब कांग्रेस की ओर से निर्णय का कोई सरकारी बयान नहीं निकला, तो वाइसराय को अखबारों की रिपोर्टों से ही क्यों राय कायम कर लेने की जरूरत हुई?

यह छिपी हुई बात नहीं है—सरकार से कोई बात छिपी रह भी सकती है?—कि कांग्रेस के नेताओं में स्वयं आंदोलन को बंद कर देने की मनोवृत्ति उत्पन्न हो गई है। ऐसा क्यों हुआ है, इसे समझने के लिए बहुत ज़्यादा बुद्धि लड़ाने की जरूरत नहीं। कांग्रेस गरीबों का आंदोलन है, थोड़े से लोगों को छोड़कर अधिकांश इसमें ऐसे ही लोग हैं, जिन पर गृहस्थी का भार है। तीन साल जेल में रहते रहते उनकी आर्थिक दशा चौपट हो गई है। जो वकील थे, उनके मुअक्किल हवा हो गए, डाक्टरों के मरीज़, व्यापारियों के ग्राहक अब ढूंढ़े भी नहीं मिलते। जिन्होंने नौकरियां छोड़ दीं, उनका तो कहना ही क्या। तीन साल तक आंदोलन को खींच ले जाना, क्या कोई छोटी बात थी। देश के प्रति जितना त्याग किया जाना संभव था, उतना उन्होंने किया। इससे अधिक त्याग की किसी से आशा रखना, उसे मनुष्यता के पद से उठा कर, हम तो कहेंगे गिरा कर, देवता बना देना है। फिर सारी जिंदगी भर असहयोग ही करके तो नहीं रहा जा सकता, उसी तरह जैसे दवाओं के भरोसे जीवन

की रक्षा नहीं हो सकती। जेल और सत्याग्रह यह तो स्वयं कोई उद्देश्य नहीं, केवल साधन है। और ऐसे आंदोलन से जिस सफलता की आशा हो सकती थी, वह बड़ी हद तक पूरी हो गई। यह तो कोई बालक भी न आशा करता था कि सत्याग्रह का फल यह होगा कि ब्रिटिश सरकार बोरिया-बक्सा संभाल कर भारत से विदा हो जायगी। अधिक से-अधिक यही हो सकता था, कि जनता में राजनैतिक जागृति हो जाय और सरकार की नैतिक पराजय हो जाय। यह दोनों बातें हासिल हो गईं और असहयोग आंदोलन का जो उद्देश्य था वह बहुत कुछ पूरा हो गया। सरकार का दर्जनों आर्डिनेंस बनने के लिए मजबूर हो जाना स्वयं इस बात का प्रमाण है, कि कांग्रेस ने उस पर विजय प्राप्त कर ली, अर्थात् नैतिक विजय। सरकार सैनिक शायन करने में सर्वथा समर्थ है, इसमें तो शायद किसी को भी संदेह न होगा ओर महात्मा गांधी ने तो स्वयं इसे स्वीकार भी किया है। आजकल हम एक प्रकार के सैनिक-शासन में रह रहे है, इसमें भी कौन इंकार कर सकता है। यह सत्य है, कि जो व्यक्ति सरकार को न छेड़ उसे सरकार भी नहीं छेड़ती। जो उसकी शक्ति को ललकारता है, उसी पर उसका फौलादी पंजा पड़ता है, पर सच्चा शासन वही है, जिसमें र जनैतिक विकास की सभी तरह की सुविधाएं हों। राजनैतिक दमन चाहे किसी व्यवस्था को जीवित रखने में सफल हो जाय, पर वह देश को उन्नति के मार्ग पर नहीं ले जा सकता। इस दृष्टि से सत्याग्रह का काम एक प्रकार से पूरा हो गया और अब कांग्रेस को वह काम हाथ में लेने की ज़रूरत है, जिसके बगैर कोई भी व्यवस्था चाहे वह कितनी भी उदार और प्रगतिशील क्यों न हो, सफल नहीं हो सकती। उसे राष्ट्र का निर्माण भी करना है और व्यवस्था का भी। उसे व्यवस्थापक सभाओं में अधिक से अधिक संख्या में जाकर शासन में उदारता और सुचारुता का संचार करना है। उन्हें अपने चरित्रबल, त्याग और सेवा के ऊंचे आदर्श का ऐसा परिचय देना है, कि सरकार को उनका बहुमत न होने पर भी लोहा मानना पड़े और जनता उन्हें अपना सच्चा हितैषी समझे। कांग्रेस ने बुनियाद खोदी है, तो उसे अपने ही हाथों दीवारों और छतों, द्वारों को भी बनाना पड़ेगा। यह आशा करना व्यर्थ है, कि उसकी खोदी हुई नीव पर, दूसरे आकर उसकी मनचाही इमारत खड़ी कर देंगे। कांग्रेस के नेताओं में सत्याग्रह को उठा लने के लिए एक मनोवृत्ति यह भी अवश्य थी। इसलिए जब हमने देखा, कि कांग्रेसी नेताओं का बहुमत आंदोलन को जारी रखने के पक्ष में है, तो हमें ताज्जबु हुआ। जब टाइम्स और बांबे क्रानिकल पत्रों का कहना है, कि सम्मेलन में बहुमत आंदोलन को उठा लेने के पक्ष में था, तो यह ताज्जुब और भी बढ़ जाता है। अगर ऐसा बहुमत था, तो यह प्रस्ताव कैसे स्वीकार हुआ? हो सकता है कि दस-पांच उग्र नेताओं को दून की लेते देखकर अन्य सज्जनों ने भी भय से कि कहीं हम डरपोक और अकर्मण्य न समझ लिए जाएं, अपने आत्म-निर्णय के विरुद्ध आंदोलन जारी रहने के पक्ष में राय दे दी हो, हालांकि ज़िम्मेदार नेताओं से यह आशा कि जाती है, कि वे आवेश में या क्षणिक उद्गार को अपने ऊपर कभी न गालिब आने दें, लेकिन इस बहुमत के होते हुए भी तो नेताओं की संख्या कम न थी, जो विसर्जन के समर्थक थे। फिर भी जब सम्मेलन ने आंदोलन के पक्ष में राय दे दी, तो उसे

अपना प्रोग्राम बनाकर उस पर अमल करना चाहिए था। इसमें वाइसराय से सलाह लेने की क्या ज़रूरत थी? और खासकर जब सरकार इसके पहले कई बार कह चुकी है, कि जब तक सत्याग्रह उठा न लिया जायगा वह समझौते की बात नहीं कर सकती। हमारी समझ में यह एक ऐसी भूल थी, जिसने बहुतों को कांग्रेस से विरक्त कर दिया है।

लेकिन उससे कहीं ज़्यादा ताज्जुब हमें वाइसराय के जवाब से हुआ इसमें संदेह नहीं कि हम इसी जवाब की आशा कर रहे थे। एक बच्चा भी जानता था, कि वाइसराय क्या जवाब देंगे। फिर भी हमें आश्चर्य भी हुआ और दुख भी। भारत का पूज्य राष्ट्रीय नेता संधि और समझौते के लिए वाइसराय से मिलने की प्रार्थना करता और उसकी प्रार्थना ठुकरा दी जाती है। इसका आशय इसके सिवा और क्या हो सकता है, कि कांग्रेस को दिखा दिया जाय कि सरकार उसे कितना जलील समझती है। और यह व्यवहार उस समय किया गया, जब वाइसराय को और गवर्नमेंट को यह मालूम था कि कांग्रेसी नेताओं में इस विषय पर गहरा मतभेद है और परिस्थिति आंदोलन के लिए सर्वथा प्रतिकूल है। इस वक्त राजनैतिक सहानुभूति दिखाकर राष्ट्र का कितना बड़ा उपकार किया जा सकता था। महात्मा गांधी यह जानते हुए वाइसराय के पास जा रहे थे, कि कांग्रेसी नेताओं की बहुत बड़ी संख्या आंदोलन के पक्ष में नहीं है, और न परिस्थिति ही ऐसी है कि आंदोलन सफलता के साथ चलाया जा सके। यह जानते हुए महात्मा जी के लिए कोई ऐसा प्रस्ताव करना असंभव था, जो कांग्रेस को आंदोलन जारी करने पर मजबूर कर दे। ऐसी दशा में भी सरकार ने सज्जनता को दफ्तरी नीति के पैरों के नीचे कुचल डालना ही उचित समझा। हमारे विचार में वाइसराय ने यह गवर्नमेंट की कमजोरी का सबूत दिया है, और एक ऐसी अच्छी परिस्थिति के जिसमें महात्मा जी को मिलने का अवसर देकर, कम से कम कांग्रेस के उन नेताओं पर वह अच्छा असर डाल सकते थे, जो विसर्जन के पक्ष में थे, हाथ से जाने दिया गया।

हमें आशा है कि कांग्रेस दोबारा आवेश में न आयगी। उसने राष्ट्र-सेवा का बीड़ा उठाया है और समय तथा अवसर का विचार करके उसे अपने आदर्श पर जमा रहना है। आंदोलन को इस समय किसी रूप में चलाने का उद्योग करना बेकार है। व्यक्तिगत-सत्याग्रह केवल दीवार से सिर टकराना है। इससे जो नतीजा या असर होना था, वह पहले ही हो चुका है। कांग्रेस की लड़ाई अब केवल ब्रिटिश सरकार से नहीं रह गई है। यह लड़ाई अब लिबरल और कंजरवेटिव मनोवृत्तियों की है। और यह दोनों दल हमेशा हारते-जीतते रहते हैं। इस वक्त कंजरवेटिव दल जरा मजबूत पड़ गया है। उसमें हमारे ज़मींदार, ताल्लुकेदार, सरकारी नौकर और इनके पिछलगुए सभी शामिल हैं। कोई मुज़ायका नहीं। अभी बहुत दिन नहीं हुए मजूरदल का प्राबल्य था। अब कंजरवेटिव-दल का प्राबल्य है। वही ब्रिटेन की दशा भारत में है। मजूरदल फिर शक्ति पाने के लिए तैयारियां कर रहा है, और अवश्य ही एक दिन उसे अधिकार मिलेगा। कांग्रेस को भी शिक्षा, प्रचार और संगठन द्वारा जनता में जागृति पैदा करना है, क्योंकि स्वराज्य-प्राप्ति का इसके सिवा दूसरा साधन नहीं है। इस अवसर पर क्रोध

या आवेश में आकर राष्ट्र के हित को भूल जाना उचित नहीं है। बहुत संभव है, यह नीति कांग्रेस को शासन-विधान से अलग रखने के लिए ही अख्तियार की गई हो। हम अपने नेताओं से और महात्मा जी से अनुरोध करते हैं कि वह आंदोलन को उठाकर कांग्रेस-संस्था को उपयोगिता की ओर ले जाएं और राष्ट्र को इस तरह तैयार करें कि उसमें राजनैतिक उन्नति के लिए त्याग करने की और उद्योग करने की शक्ति उत्पन्न हो। जब तक प्रजा चैतन्य न हो, उसे अच्छी से अच्छी व्यवस्था भी कोई लाभ नहीं पहुंचा सकती।

[संपादकीय। 'जागरण', 24 जुलाई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-2 में संकलित।]

भावी कार्यक्रम के लिए एक प्रस्ताव

श्री सम्पूर्णनन्द जी भारत के प्रमुख राष्ट्रीय नेताओं में हैं। आपने अपने लेख में पूना-सम्मेलन के विषय में जो विचार प्रकट किए हैं और राष्ट्रीय संग्राम के भावी कार्यक्रम में जिस परिवर्तन की ज़रूरत बतलाई है, वह सर्वथा विचारणीय है। हमारा खयाल है कि ये वही विचार हैं, जो इस समय प्रत्येक विचारवान् मनुष्य के मन में उठ रहे हैं और आपने उन विचारों को राष्ट्र के सामने रखकर जनमत ही को निर्भीकता से व्यक्त किया है। जैसा आपने कहा है, 'ह्वाइट पेपर' के आधार पर तो सरकार से किसी तरह का समझौता हो ही नहीं सकता, हां हमें, अपने कार्य-पद्धति को कुछ इस तरह बदलना पड़ेगा कि वह जहां जनता की राष्ट्र-भावना को प्रगतिशील रखे, वहां गवर्नमेंट को भी जनमत का सम्मान करने के लिए बाध्य कर सके।

अब तक हमने अपने असंतोष को व्याख्यानों, जुलूसों और अवज्ञा द्वारा ही प्रकट किया है। हमारे निजी, घरेलू, आंतरिक जीवन से कोई संबंध न था। मानो यह असंतोष केवल दिखाने की वस्तु है, हमारा आंतरिक जीवन उससे बिल्कुल अक्षुण्ण है। हमारे राजनैतिक और वास्तविक-जीवन में मानो कोई दावार, खिंची हुई है। हमारे शादी-विवाह, मेले-तमाशे, उत्सव-पर्व पूर्ववत् होते रहते हैं। दीवाली में दापक जलते हैं और जुआ होता है, होली में गुलाल उड़ती है और पकवान् पकते हैं। इसी तरह प्रायः सभी उत्सव उसी हर्ष और उत्साह से मनाए जाते हैं, मानो हमें कोई चिंता, कोई क्लेश नहीं है। माघ में उसी श्रद्धा से जनता स्नान करने आती है, शादियों में उसी समारोह से आतिशबाज़ियां छूटती हैं और फुलवारियां लुटती हैं। जिस राष्ट्र के यथार्थ जीवन में राजनैतिक अक्षमता इतना गौण स्थान रखती हो, उसके विषय में यही कहा जा सकता है, कि अभी राजनीति केवल उसके होंठों तक है, नीचे नहीं उतरने पाई। अगर राष्ट्र विकल है, अगर उसे स्वराज्य की लगन है, अगर उसे गुलामी अखरती है तो उसकी विकलता को, उसकी लगन को, उसकी अखर को, उसके नित्य दैनिक में व्यक्त होना चाहिए। जो पराधीनता के अपमान और अधोगति को शर्बत की भांति पीकर मस्त घूमता है, जो अपनी और अपने राष्ट्र की दुर्गति से केवल उतनी ही देर तक व्यथित होता है, जितनी देर वह किसी सभा में बैठा होता है। उसमें आज़ादी

की सच्ची प्यास जागी ही नहीं। राष्ट्र में आज़ादी की यही प्यास जगनी होगी। जब हम आज़ादी को संसार की सबसे प्यारी वस्तु समझने लगेंगे, जब उसके लिए हम निरंतर साधना करेंगे, अब उसके लिए हमारे मन में प्रचंड संकल्प होगा, जब हम अपने छोटे-छोटे हर्ष और विषाद को भूल जाएंगे, जब वह कामना इतनी बलवती हो जायगी तभी हमें उसके दर्शन होंगे। यहां छिपकर कोई काम करके अपनी आत्मा को दुर्बल बनाने की ज़रूरत नहीं। हमें कोई उत्सव मनाने के लिए मजबूर नहीं कर सकता। जब यह भाव अंदर जाग उठेगा, तो मजबूरी का प्रश्न ही न रहेगा। हमें स्वयं अपनी परिस्थिति इतनी चुभने लगेगी कि उत्सव और मेले हमें हलके मालूम होने लगेंगे। जो राष्ट्र पैरों के नीचे पड़ा हो, उसे तो देवताओं के दर्शन करते भी शर्म आनी चाहिए। वह अपनी अयोग्यता का कलंक मुख में लगाए देवताओं के सामने आकर क्या कभी उनका आशीर्वाद पा सकता है। उसकी पूजा-भेंट देवताओं को स्वीकार भी होगी?

[संपादकीय। 'जागरण', 31 जुलाई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

रिश्वत की गर्मबाज़ारी

सुधार हुए, कौंसिल बने, थोड़े बहुत अधिकार भी मिले, ऊंचे पदों पर भारत वालों की संख्या भी बढ़ी, वेतन भी बढ़े, पर भारत की कचहरियों, अदालतों में रिश्वत ज्यों की त्यों जारी है, बल्कि और भी बढ़ गई है। कोई कितना ही सच्चा और बेगुनाह क्यों न हो, अदालत में रिश्वत दिए बगैर उसकी कोई सुनवाई नहीं हो सकती। यह बात नहीं है, कि हुक्काम इस रहस्य को न जानते हों। उनमें से कितने ही तो स्वयं नीचे पदों से उन्नति करते-करते उस पद तक पहुंचे हैं, लेकिन या तो वे कुछ कर नहीं सकते या मुलाहजे और मुरौवत के कारण कुछ कह नहीं सकते और या उनके अहलकार इस लूट में, किसी-न-किसी रूप में, उनका हिस्सा भी रख देते हैं। इसी कारण बहुत से भले लोग नुकसान उठाकर और अन्याय सहकर भी अदालत नहीं जाते। सोचते हैं जितना अपमान और नुकसान हुआ उससे कहीं अधिक कचहरी में सहना पड़ेगा, इसलिए क्यों न चुप होकर बैठे रहो। जिला और म्युनिसिपल बोर्डों में तो, बड़े खेद और लज्जा से कहना पड़ता है, दशा और भी खराब हो गई है। जब जिला का हाकिम चेयरमैन होता था, तब तो अहलकारों को शायद कुछ भय होता रहा हो, अब मेंबरों के राज्य में तो कोई उनका बाल भी बांका नहीं कर सकता। दिन-दहाड़े लूट होती है, खुले खजाने होती है, पर कोई पूछने वाला नहीं। गरीब मुकदमे वाले वहां अपनी विपत्ति लेकर जाते हैं, सुधार करने नहीं जाते कि रिश्वत मांगने वालों से लड़ाई करें। उनकी चुटिया अहलकारों के पांव के नीचे दबी रहती है और बिना अमलों की पूजा किए नहीं निकल सकती। जिसे दो-चार बार कचहरी जाने की ज़रूरत पड़ी, बस समझ लो, कि उसका नैतिक पतन हो गया। और ये अमले अक्सर अच्छे-पढ़े लिखे लोग होते हैं, कितने ही तो ग्रेजुएट होते हैं, पर रुपयों की

झंकार के सामने सारी विद्या और भद्रता धरी रह जाती है और लोग निर्दयता से अपने गरीब भाइयों का खून चूसने के लिए तैयार हो जाते हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 31 जुलाई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

हमें ऐसा सुधार नहीं चाहिए

अभी 24 जुलाई को शिमले से पंजाब कौंसिल की बैठक के समय एक गश्ती चिट्ठी का खूब मज़ाक उड़ाया गया जो किसी व्यक्ति ने सारे मेंबरों और पदाधिकारियों के नाम भेजी थी। पत्र के लेखक ने अपने को "अंग्रेजी राज्य का शुभेच्छु और भारत का सच्चा हितैषी" लिखा है। उसका यह दावा स्वीकार किया जाय या न किया जाय, पर हम तो समझते हैं कि उस पत्र का मज़ाक उड़ाना सच्चे जनमत का मज़ाक उड़ाना है। यही मनोविचार अधिकांश जनता के हैं और उसमें हंसी की उतनी बात नहीं जितनी विचार करने की बात है। पूरा पत्र तो बहुत लंबा है और हमारे पास इतना स्थान नहीं है, कि हम सबका सब नकल कर सकें, पर हम उसके कुछ अंशों को नकल करके पाठकों के सामने रख देना चाहते हैं-

"शिमले में शीघ्र ही कौंसिल की खर्चीली बैठक होगी, पर उससे देश को क्या लाभ होगा? दायित्वहीन मेंबरगन कुछ प्रस्ताव पास करेंगे और सरकारी नौकरों पर कुछ आक्षेप किए जाएंगे। मैं पूछता हूं आप लोगों ने अब तक सिवाय मोटे-मोटे वेतन फटकारने के और कौन सा मैदान मारा है। जिन लोगों को मिनिस्टरी मिल गई है, ऐसे वेतन पर जो भारत में अभूतपूर्व है, उन्हीं की चांदी है। इन मिनिस्टरों ने जो पांच हजार रुपये महीना पाते हैं और इन कौंसिलों ने अब तक क्या काम किया है? ये मिनिस्टर और कौंसिल के सभापति रोज़ाना कितने घंटे काम करते हैं? कलक्टरों और कमिश्नरों की कोई बात भी नहीं पूछता, हालांकि उन गरीबों को दस घंटे रोज काम करना पड़ता है और अब नए काउंसिलर बनने वाले हैं। उनसे शासन का खर्च बढ़ जाने से देश का और कौन उपकार होगा?"

इसके बाद लेखक ने जनमत प्रधान शासक की निंदा की है और अंग्रेज अफसरों की प्रशंसा का गीत गाया है। पत्र का यही भाग ऐसा है, जिसने इसके मूल्य को कौड़ी के बराबर भी नहीं रखा। उस अंश को व्यर्थ समझकर हम छोड़ देते हैं। आगे चलकर वह लिखता है-"हमें मोटे-मोटे वेतनों पर तीन या चार मिनिस्टरों या कौंसिल के सभापति की जरूरत नहीं है, जो साल में केवल सौ घंटे के लिए आ बैठते हैं। क्या यह राष्ट्र के धन का अपव्यय नहीं है? कितने ही चपरकनाती बड़े आदमी बन गए हैं और ब्रिटिश लोग तमाशा देख रहे हैं। वे असली हालत जानते हैं और उस समय का इंतजार कर रहे हैं, जब आप हाथ बांधे हुए उनके सामने जाएंगे और कहेंगे कि हमें अराजकता से बचाइए। आपके लिए सबसे अच्छा मार्ग यह है कि कौंसिलों को भी म्युनिसिपल और जिला बोर्डों की तरह चौपट न कीजिए।"

इसमें तो कोई संदेह नहीं कि इस पत्र का लेखक उसी ढंग के जी-हुजूरों में

है, जो निस-बासर श्रीमानों के बंगलों के चक्कर लगाया करते हैं, पर जहां तक उसने कौंसिल की निरर्थकता और खर्चीलेपन का उल्लेख किया है उसने जनमत को प्रकट किया है। नए कौंसिलों से उसके मेंबरों और पदाधिकारियों को अवश्य लाभ हुआ और उस धन का कुछ अंश जो फौज और सिविलियनों पर खर्च हो जाता, दस-पांच शिक्षित मनुष्यों के हाथ लग गया है, पर जनता आज भी वहीं है, जहां पहले थी। सरकार ने 'डिमाक्रेसी' को जिस रूप मे भारत में प्रचलित किया है वह उसका निहायत विकृत रूप है। वास्तव में वह डिमाक्रेसी है ही नहीं।

[संपादकीय। 'जागरण', 31 जुलाई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

अमेरिका में कृषक विद्रोह

इस मंदी में सबसे ज़्यादा चोट किसानों को लगी है, और कृषि प्रधान देशों में किसानों में एक प्रकार का विद्रोह फैला हुआ है। अमेरिका का सबसे बड़ा व्यवसाय खेती है और कृषक विद्रोह ने वहां भयंकर रूप धारण कर लिया है। पैदावार का मूल्य कम हो जाने के कारण वहां के आधे से ज़्यादा किसान कर्ज़दार हो गए हैं और उनकी जायदादें नीलाम होती चली जा रही हैं। 1929 में पैंतालीस हजार आराज़ियां नीलाम हुईं। 30 में चौवन हजार, 31 में एक लाख और 32 में डेढ़ लाख आराज़ियां रेहनदारों के पेट में समा गईं। अमेरिका में साठ लाख काश्तें हैं, इसमें आधी रेहनदारों के अधिकार में हैं। आराज़ियों पर कुछ ऋण नौ अरब डालर है। 1920 में साढ़े तेरह अरब की उपज हुई थी। 1932 मैं वह केवल सवा पांच अरब की रह गई अर्थात् रुपये में छः आने। कर्ज़ पर किसानों को पचास करोड़ डालर सूद देना पड़ता है।

बरसों तक बेचारे अमेरिकन किसान गवर्नमेंट से सहायता की आशा करते रहे। गवर्नमेंट ने कई बार उनके उद्धार का प्रयत्न किया, पर वह सभी प्रयत्न असफल हो गए। अब मजबूर होकर उन्होंने अपने उपायों से काम लेना शुरू किया, और यह उपाय ज़्यादा सफल हो रहे हैं। उन्होंने गुट बांध कर कई शहरों के सड़कों की नाकाबंदी कर दी और देहातों से जो सामान नगर में आता था, उसे रोक दिया। जहां ज़रूरत पड़ी, वहां पशुबल से भी काम लिया। इसमें उन्हें पूरी सफलता तो नहीं मिली, पर वे बिल्कुल असफल भी न रहे।

पर दूसरा उपाय इससे कहीं ज़्यादा सफल हुआ। कृषि-प्रधान प्रांतों में किसानो ने नीलामीं को रोकने के लिए एक संगठित आंदोलन जारी किया। एक बीमा कंपनी ने एक जायदाद नीलाम करनी चाही, पर किसानों का एक दल स्थान पर जा पहुंचा और कर्मचारियों को भगा दिया। नीलाम स्थगित कर देना पड़ा। इस आंदोलन का फल यह हुआ कि 1935 के लिए आइओवा प्रांत की व्यवस्थापक सभा ने आराज़ियों का नीलाम होना बंद कर दिया है।

कांसास प्रांत में जब अदालत ने आराज़ी नीलाम करने की तैयारी की, तो कई सौ कृषक जमा हो गए और उसे फांसी दे देने की धमकी दी, बेचारा कुर्क अमीन

अपनी जान बचाकर भागा। नेब्रासका और ओहियो प्रांतों में हरेक गांव में वृक्षों से फंदे लगे रहते थे कि ज्योंही राहिन कुर्क अमीन को लेकर आए, उसे फांसी पर लटका दो कि वह बोली न बोल सके।

बहुत-सी रियासतों ने एक ऐसा विधान सोच निकाला है कि नीलाम हो भी जाय, तो जायदाद उन्हीं के हाथ में रहे। राहिन के मुख्तार को वह बोली नहीं बोलने देते। वह अगर उस स्थल पर आ जाय, तो अपनी जान से हाथ धोए। कोई बाहरी आदमी बोली बोलने वाला नहीं रह जाता, तो किसान आपस में बोली बोलकर नाममात्र मूल्य पर खरीद लेते हैं। कई प्रांतों में कृषक-रक्षिणी सभाओं द्वारा यह काम किया जाता है। सभा जायदाद खरीदकर उसके मालिक को लौटा देती है। रेहनदार के रुपये गायब हो जाते हैं। केवल एक उज्रदारी रेहनदार की तरफ से हुई है कि नीलाम बेकायदा था क्योंकि कुछ लोगों ने गुट बनाकर बाहर के आदमियों को बोली बोलने से रोक दिया। इस तरह संस्थाएं बढ़ रही हैं। आदोलन अग्नि-ज्वाला की तरह फैलता जा रहा है। किसान इस नब्बे अरब डालर के ऋण को मिटाकर रहेंगे।

[संपादकीय। 'हंस', अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

इंटरव्यू क्या है?

भारत ने योरोप से जहां और बहुत-सी अच्छी-बुरी बातें सीखी हैं, वहां पत्र-प्रकाशन भी है और पत्र-प्रकाशन में यहां भी वही नीति मान्य है, जो योरोप में है। वहां प्रथा है कि पत्रों संपादक या प्रतिनिधि विशिष्ट व्यक्तियों से भेंट करके किसी सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक या अन्य महत्त्वपूर्ण समस्या पर उनकी सम्मति जनता के सामने रखते हैं। इंटरव्यू का उद्देश्य महत्त्वपूर्ण विषयों पर अनुभवी महात्माओं की राय, दृष्टिकोण, या निर्णय प्रकाशित करके जनता में जागृति फैलाना या किसी विशेष पक्ष का समर्थन करना होता है। इसके लिए पहले ही से आज्ञा ले ली जाती है. बहुधा इंटरव्यू करने वाले पहले ही से कुछ प्रश्न बना लेते है। उन प्रश्नों का जवाब वे अक्षरश: नोट करते जाते हैं। इंटरव्यू समाप्त हो जाने पर पूरा कथन सुना दिया जाता है और इंटरव्यू देने वाले का उस पर हस्ताक्षर ले लिया जाता है! तब इंटरव्यू करने वाले को उस कथन या संस्मरण को छपाने का अधिकार होता है। वह इसकी पूरी एहतियात करता है कि कथन में एक शब्द या वाक्य भी ऐसा न आने पाये, जिससे उस विशिष्ट पुरुष के विषय में किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न हो सके। अगर ऐसा कोई वाक्य असावधानी के कारण रह भी जाता है, तो इंटरव्यू देने वाला उसी वक्त उसका संशोधन कर देता है।

[संपादकीय। 'हंस', अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'वि- ध प्रसंग' भाग-3 में सकलित।]

काशी में शिक्षा-मंत्री का शुभागमन

शिक्षा-मंत्री के आगमन से काशी में दो-तीन दिन खासी चहल-पहल रही। ऐसा मालूम होता था कि स्वयं गवर्नर साहब या वाइसराय साहब पधारे हैं। क्योंकि उन्हीं महानुभावों के शुभागमन के अवसर पर सड़कों पर पुलीस की लाइन खड़ी की जाती है। अब मिनिस्टर साहबों को भी शायद वह महान् सम्मान प्राप्त हो गया। देखिए नए स्वराज्य विधान के आते-आते और क्या-क्या खातिरदारियां होती हैं।

[संपादकीय। 'हंस', अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

मगर यहां क्या हुआ?

यहां सरस्वती-संपादक ने एक नए ढंग का इंटरव्यू लिया। आप कलकत्ते गए, चतुर्वेदीजी से मिले, उसने अपनी भक्ति और घनिष्ठता दिखाई और उसी आत्मीयता की झांक में, जिसे शायद इस भक्ति-प्रदर्शन ने और मदहोश कर दिया हो, चतुर्वेदीजी से जो कुछ बातें हुईं उन्हें घर आकर स्मृति से लिखा, जो कुछ न याद आया, वह अपनी तरफ से मिला दिया, शब्दों का हेर-फेर तो कोई बात ही न थी, न कोई कलम पकड़ने वाला था। चतुर्वेदी जी के मुंह से जो कुछ कहलाना चाहा, अपनी कलम से लिख दिया। इतनी बातें याद कैसे रहतीं, केवल उनका भाव याद रह सकता था और भावों को अपने शब्दों में लिखकर बहुत बड़ा अनर्थ किया जा सकता है। एक आदमी कहता है-'राम की कविताएं साधारण होती हैं।' इस भाव को इस तरह लिखकर-'राम के बाप ने कभी कविता की थी, वह कविता करनी क्या जाने' उसका रूप विकृत किया जा सकता है। ऐसा मालूम होता है कि श्रीनाथसिंह जी यह मंसूबा बांध कर ही गए थे कि इंटरव्यू के बहाने इनके मुंह में ऐसी-ऐसी बातें रख दूं कि सभी पत्र-संपादकों और लेखकों से चतुर्वेदी जी की लड़ाई हो जाय और वे सब श्रीनाथसिंह जी को अपना उद्धारक और हिमायती समझ कर उनकी पीठ ठोंकने लगें। मगर, हिन्दी के संपादक इतनी आसानी से चकमे में आने वाले नहीं हैं। बात के ढंग से बात करने वाले चरित्र के पर्दा खुल जाता है। अगर कोई आदमी आकर हमसे कहे कि पं॰ देवीदत्त जी शुक्ल कहते थे कि अब की प्रेमचंद प्रयाग आवेंगे, तो उनकी वह दुर्गत की जायगी कि कहानी लिखने का नाम न लेंगे, तो मैं विचार करूंगा कि कहने वाला किस ढंग का आदमी है, तुरत शुक्ल जी से लड़ने के लिए तैयार न हो जाऊंगा। जिस प्राणी का मन कुत्सा में बसता है, उसका विश्वास ही कौन करता है? दूसरों की निंदा करने वाला पगड़ी उछालने वाला, लड़ाई लगाने वाला, आदमी अगर समझे कि लोग उसका आदर करेंगे, तो उसकी भूल है। ऐसे आदमी को घृणा के सिवा और किसी बात की आशा न रखनी चाहिए। माना चतुर्वेदी जी ने कहा कि अमुक व्यक्ति को लिखने की तमीज नहीं, या उन्होंने अमुक व्यक्ति को साहित्य-क्षेत्र में आगे न बढ़ाया होता, तो वह अब तक गुमनाम पड़ा होता, या यह मि॰ एंड्र्यूज और महात्मा

गांधी उनसे मित्र भाव रखते हैं, तो क्या यह बातें लिखने की हैं। आदमी वार्तालाप में साधारणतः कुछ सतर्क नहीं रहता, शब्दों को तोल कर मुंह से नहीं निकालता, बल्कि ऐसी बातें करता है, जिन्हें वह समझता है कि सामने बैठे हुए व्यक्ति को अच्छी लगेंगी। वह मिलने वाले की रुचि और झुकाव देखकर उसी ढंग की बातें करता है। अगर मुझसे कोई शोहदा मिलने आए, तो मैं उससे वेदांत की बातें न करूंगा। अपने घर जो आदमी आता है, उसका कुछ न कुछ सत्कार करना लाज़िमी हो जाता है। श्रीनाथसिंह जी की जगह अगर मि० एंड्रयूज चतुर्वेदी जी से मिलने गए होते, तो वह प्रवासी भारतीयों का प्रसंग उठाते। श्रीनाथसिंह जी वह सारे गपोड़े लिखकर खुद अपने ही खोदे हुए गड्ढे में औंधे मुंह गिर पड़े हैं, क्योंकि चतुर्वेदी जी ने ऐसी ही बातों का पात्र समझा। अगर श्रीनाथसिंह जी जरा और जोर लगाते, तो चतुर्वेदी जी अपने अंतरंग का गुप्त भाग भी खोल देते। ऐसा कौन है, जिसने कभी ताक-झांक न की हो, कभी मनचलेपन के स्टेज पर दो-चार अभिनय न किए हों। फिर चतुर्वेदी जी तो खुदा के फजल से अभी बुढ़ापे से बहुत दूर हैं और खुदा के कहर से रंडुए भी हैं। श्रीनाथसिंह जी अगर थोड़ी-सी और चालबाजी से काम लेते, तो चतुर्वेदी जी के रसिक जीवन का भंडाफोड़ भी कर सकते थे, पर क्या यह सारी बेहूदगी एक प्रतिष्ठित पत्रिका के प्रतिष्ठित संपादक के योग्य है, और क्या सरस्वती के पाठक इसीलिए सरस्वती खरीदते हैं कि उन्हें इस तरह के लेख पढ़ाए जाएं? किसी की प्राइवेट बातचीत को, जो उसने हमें अपना मित्र समझकर हमारे ऊपर विश्वास करके, की हो, पब्लिक में लाने का हमें कोई अधिकार नहीं है। अगर हम ऐसा करते हैं, तो विश्वासघात करते हैं। आखिर इस इंटरव्यू से किस समस्या, किस प्रश्न, किस वाद पर प्रकाश पड़ा? ज़्यादा से ज़्यादा पढ़ने वाला यही समझेगा कि बनारसीदास बड़ा नीच आदमी है, बिल्कुल बना हुआ, बड़ा दंभी, बड़ा शेखीबाज़। अगर किसी आदमी के प्रति जनता में यही भाव फैलाने में हम सफल हुए, तो यह क्या कोई बड़े ऊंचे दरजे का काम है? किसी को इज़्ज़त बिगाड़ देना क्या कोई पवित्र उद्देश्य है? आपस में वैमनस्य पैदा करा देना, क्या बड़ी सराहना का काम है? श्रीनाथसिंह जी मुझसे मिले चुके हैं और कितने ही मनुष्यों के बारे में ऐसी बातें कर चुके हैं कि यदि मैं लिखूं, तो वह प्रयोग में बहुत हल्के हो जाएंगे, लेकिन ऐसी बातें करना जितनी बड़ी नीचता है, उसका जिक्र करना, उससे भी बड़ी नीचता है। इस तरह के प्रोपेगंडे से श्रीनाथसिंह जी न साहित्य का उपकार कर रहे हैं, न 'सरस्वती' का, न अपना, वरन् संसार के सामने हिन्दी के संपादकों की भद्द करा रहे हैं, उन्हें कलंकित कर रहे हैं। आपकी यह कृति देखकर इसके सिवा और क्या होगा कि दुनिया कहेगी—जब 'सरस्वती' जैसी प्रतिष्ठित पत्रिका का संपादक ऐसा लफंगापन कर सकता है, तो फिर शायद यह आंवां ही बिगड़ा हुआ है।

[संपादकीय। 'हंस', अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

साहित्यिक गुंडापन

इस होड़-युग में अन्य व्यवसायों की भाँति पत्र-पत्रिकाओं को भी अपने स्वामियों या संचालकों को नफा देने या अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए तरह-तरह की चालें चलनी पड़ती हैं। योरोप वाले तो शब्द-जाल या पहेलियों या लाटरियों का लटका निकालते हैं और अपने ग्राहकों को अपनी तकदीर आज़माने का मौका देकर अपना मतलब निकालते हैं। हिन्दी में धन के अभाव से और ढंग की चालें चली जाती हैं। पत्र में किसी तरह का विवाद छेड़ दिया जाता है, या कला के नाम पर अर्धनग्न चित्र दिए जाते हैं। अदालती नोटिसों के लिए अहलकारों की खुशामदें की जाती हैं, उनके सामने नाक रगड़ी जाती हैं, भंडाफोड़ की धमकी देकर रकमें सीधी की जाती हैं और इसे सत्योद्घाटन का महान् नाम दिया जाता है। या कोई चौंकाने वाली चीज छापी जाती है, जिसे पढ़कर लोगों में उस पत्र की ख्वाहमख्वाह चर्चा हो। जहां दो साहित्य के प्रेमी जमा हों, वहीं उसी सनसनी भरे हुए लेख पर बातें होने लगें। इनका सिद्धांत है—बदनाम अगर होंगे, तो क्या नाम न होगा, उन्हें तो पत्रिका के ग्राहक बढ़ाना चाहिए, क्योंकि उनका स्वामी नफा चाहता है और नफा न हुआ, तो बेचारे संपादक की जान की कुशल नहीं, डेरा-डंडा संभालकर अपने घर की राह लेनी पड़ेगी। रोटी का सवाल तो बड़ा टेढ़ा है। गरीब संपादक अपनी आत्मा की हत्या करके सनसनी पैदा करने के लिए या तो नास्तिकता के समर्थक लेखों की माला निकालने लगता है, या किसी भले आदमी की पगड़ी उछालता है। जान पड़ता है, प्रयाग की मासिक पत्रिका 'सरस्वती' आजकल इन्हीं गंदी चालों से अपना कोष भरने के लिए मजबूर है। उसके जुलाई के अंक में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी पर जो आक्षेपपूर्ण लेख संस्मरण के रूप में निकला है, उसके लिए दूसरा कोई उज्र नहीं हो सकता। आदमी कोई गर्हित काम उसी वक्त करता है, जब उसका जीवन संकट में पड़ जाता है और इस दृष्टि से वह दया का पात्र है लेकिन यदि वह केवल अपनी कुटिल मनोवृत्ति को संतुष्ट करने के लिए किसी को लांछित करता है, तो वह दया का नहीं, धिक्कार का पात्र है। हम नहीं समझते इस संस्मरण के लेखक, सरस्वती-संपादक ठाकुर श्रीनाथसिंह जी, दया के पात्र हैं, या धिक्कार के।

[संपादकीय। 'हंस', अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

हमारी खर्चीली आदतें

'विशाल-भारत' के अगस्त के अंक में डॉक्टर पी० सी० राय ने आजकल के छात्रों की खर्चीली आदतों पर एक विचारपूर्ण लेख लिखा है और बतलाया है कि इस तरह की शौकीनी उनके भविष्य को कितना चिंतामय बना रही है। आजकल किसी विद्यालय में भी एक छात्र का मासिक व्यय पैंतालीस रुपये से कम नहीं है। लाहौर और बंबई में तो सौ रुपये के लगभग पड़ जाता है। कई साल पहले जब यूनिवर्सिटी

से निकलते ही अच्छी जगह मिल जाने की आशा होती थी, छात्रों की फैशन परस्ती किसी हद तक क्षम्य थी, लकिन अब, जब कि प्रथम श्रेणी के छात्रों के लिए भी घर बैठे रहने के सिवा निकट भविष्य में और कोई आशा नहीं है, फैशन की उपासना किसी हालत में भी क्षम्य नहीं है। यह सत्य है कि जिसके पास साधन हैं, उसे अधिकार है कि जितना चाहे खर्च करे, और जिस तरह चाहे रहे, लेकिन अगर उसमें कुछ सहानुभूति हो और वह देखे कि वह अपनी विलास भक्ति से साधनहीन छात्रों में कितनी निराशा, कितना असंतोष और कितनी ईर्ष्या और जलन पैदा कर रहा है, तो शायद वह हफ्ते में तीन दिन सिनेमा देखने पर ज्यादा आग्रह न करे। और क्या वह उस संपन्न छात्र को जो रुपये मिलते हैं, वह उसके माता-पिता के पास भी उतनी ही आसानी से चले आते हैं, जितनी आसानी से वह खर्च करता है। ऐसे भाग्यवानों की संख्या बहुत ही थोड़ी है, जिनके अभिभावकों को उनका खर्चीलापन बुरा न लगता हो। अधिकतर संख्या तो ऐसे ही की है जिनकी सफलता अपना स्वास्थ्य खोकर, आंखें फोड़कर, त्यागमय जीवन बिताकर, मिलती है। हमारा मनचला यूनिवर्सिटी स्टुडेंट जब एक रुपये की सीट पर सिनेमा हॉल मे जा बैठता है, या ओवल्टीन का एक डब्बा और टूथपेस्ट की एक शीशी खरीदकर घर आता है और बाजार की सैर में रुपये-बीस आने केवल रेस्तरां में बैठकर चाट खाने मे उड़ा देता है, तो उसे कभी खयाल आता है कि इन दो-तीन रुपयों के लिए उसके घर वालों को अपनी कितनी जरूरतें दबानी पड़ी होंगी। अगर ऐसा खयाल नहीं आता, तो इसके सिवा क्या कहा जाय कि वह आत्मसेवी और स्वार्थी है।

लेकिन आत्मसेवा चाहे किसी छात्र के घर वालों को न अखरे और अपने लाड़ले बेटे के लिए हरेक तरह का कष्ट खुशी से उठाने के लिए तैयार हों और ऐसा कौन बाप है, जो अपनी संतान के लिए अधिक त्याग करने में आनंद न पाता हो, पर यह आदत छात्रों के लिए स्वयं उससे कहीं विनाशक है। उसके सामाजिक पहलू हो भी छोड़िए, हालांकि फूस की झोंपड़ी के पास फूलझड़ियां छोड़ना बड़ा भयंकर विनोद है और थोड़े से भाग्यवानों की शौकीनी बहुत से भाग्यहीनों के लिए घातक हो सकती है, पर इसे जाने दीजिए, यह सोचिए कि इन आदतों का स्वयं अपने भविष्य पर क्या असर पड़ेगा? मां-बाप तो हमेशा संभालने के लिए बैठे न रहेंगे। नतीजा यही होगा कि आप घर की बची-बचाई संपत्ति का सफाया करेंगे, या संदिग्ध साधनों से काम लेंगे। कहीं नौकर हो गए, तो रिश्वतें शुरू होंगी, या गबन की नौबत पहुंचेगी। व्यापार किया, तो थोड़े दिनों में पूंजी ही नफा बन जायगी और अगर बेकार रहना पड़ा, तो आत्म-हत्या के सिवा और कोई अवलंब ही नहीं रह जायगा। जीवन का स्टैंडर्ड ऊंचा रखने का अर्थ यह नहीं है कि अपने सामर्थ्य से बाहर खर्च किया जाय। फिर, स्टैंडर्ड ऊंचा रखने का अर्थ है कि थोड़े से आदमियों पर आधिपत्य हो और वे उन्हें लूटकर अपना घर भरते हों। फ्रान्स, इंग्लैंड, अमेरिका को एशिया और अफ्रीका दो महाद्वीप ऐसे मिल गए, जिससे दो सदियों तक उन्होंने जीवन का स्टैंडर्ड खूब ऊंचा किया, पर मंदी के पहले ही हमले में सभी के होश ठिकाने आ गए, और जिस दिन ये दोनों महाद्वीप सचेत हो जावेंगे, इन महान् राष्ट्रों के वैभव का अंत हो

जायगा। तब वही खेती और वही छोटे-छोटे कारखाने रह जाएंगे, जो अपनी ज़रूरत की चीज़ें बनाएंगे। संसार का व्यापार हाथ से निकल जायगा। अभी से वह समस्या उनके सामने खड़ी हो गई है, और शस्त्र-सम्मेलन और अर्थ-सम्मेलन आदि उसी सजगता के नतीजे हैं। हमारा तो खयाल है कि अपनी जरूरतों को हम जितना ही बढ़ाते हैं, उतना ही प्रकृत जीवन से दूर होते हैं और उतना ही समय की प्रगति के प्रतिकूल जाते हैं। संसार बड़ी तेजी से समष्टिवाद की ओर जा रहा है, जिसमें ऊंच नीच, शिक्षित और अशिक्षित का भेद न रहेगा। आज शिक्षित और संस्कृत समाज ने अपने को जिस किले में बंद कर रखा है, उसकी दीवारें टूट जाएंगी और चाहे क्रांति से हो, या शांति से, मानव समता का आदर्श आकर रहेगा। उस वक्त वही जातियां, वही समाज और व्यक्ति जीवित रहेंगे, जो उन नई परिस्थितियों का स्वागत करेंगे। विशेष सुविधाओं, विशेष साधनों में पले, हुए प्राणी उस संग्राम में मिट जाएंगे। हमारे छात्रों और विद्यालयों के सामने यह प्रश्न खड़ा घूर कर देख रहा है, पर वे आंखें बंद करके उसके अस्तित्व को भूल जाने की चेष्टा कर रहे हैं। फीसें बढ़ती जाती हैं, छात्रालयों के खर्च बढ़ते जाते हैं और व्यक्तियों की आमदनियां घटती जाती हैं। यह अवस्था कितने दिनों चल सकेगी। आज नहीं तो कल यूनिवर्सिटी के सामने यह मसला आएगा और चूंकि अब शिक्षा का आर्थिक महत्त्व बहुत कम हो गया है, केवल उसका सांस्कृतिक मूल्य ही बाकी रह गया है, इसलिए अवश्य ही ऐसे विद्यालय उत्पन्न हो जाएंगे, जो समय के अधिक अनुकूल होंगे और तब वर्तमान विद्यालयों को भी विवश होकर समय के सामने घुटने टेकने पड़ेंगे। दूरदर्शिता कह रही है कि अभी से चेत जाने में कुशल है।

[संपादकीय। 'हंस', अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

ऊख के किसानों का संघ

हमें यह जानकर बड़ा संतोष हुआ कि गोरखपुर और बस्ती में ऊख के किसानों का एक संघ बना गया है, जो उनके हितों की मिल वालों से रक्षा करेगा। बेचारे किसान गाड़ियों पर लादकर ऊख लाते हैं और एक-एक सप्ताह तक कर्मचारियों की खुशामद करते रहते हैं, तब जाकर कहीं उनका माल तोला जाता है। उनके ठहरने का कोई स्थान नहीं। धूप, वर्षा सब कुछ झेलते हुए, अपने काम का बड़ा नुकसान करके बेचारों को किसी तरह गुज़र करना पड़ता है। इतने दिनों में ऊख भी सूख जाती है और उससे दाम कम मिलते हैं। इन्हीं कठिनाइयों को दूर करने के लिए यह संघ बनाया गया है। गोरखपुर और बस्ती में जितने शक्कर के मिल हैं, उतने प्रांत भर में नहीं हैं। शक्कर के व्यवसाय का वह इलाका उसी तरह केंद्र हो गया है—जैसे अहमदाबाद कपड़े का। हमें आशा है, संघ के उद्योग से गरीब काश्तकारों का यथेष्ट उपकार होगा। संघ अगर किसानों को इस बात के पर संगठित कर सके कि वे अपनी ऊख मिल में न लाया करें, जिससे मिल वालों को खुद देहातों में जाकर अपनी गाड़ी

भाड़े से ऊख खरीदना पड़े, तो वह बड़ा उपकार करे। किसानों को ऊख बेचने की जितनी ज़रूरत होती है, उससे कहीं ज़्यादा ज़रूरत मिल वालों को ऊख खरीदने की होती है, पर किसान गरीब हैं, रुपये की ज़रूरत उन्हें ऊख लादकर लाने पर मजबूर करती है। अगर वे जरा धैर्य से काम लें, तो मिल वालों को खुद ऊख लेने जाना पड़े। ऊख अगर दस-पांच दिन खेतों में खड़ी रहे, तो कोई नुकसान न होगा, मिल तो एक घंटा भी बंद नहीं रह सकती है।

[सपांदकीय। 'जागरण', 7 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

कृषि सहायक बैंकों की जरूरत

कृषि भारत का मुख्य व्यवसाय है, पर उसे नोचने वाले तो सब हैं, उसको प्रोत्साहन देने वाला कोई नहीं। उसे भूखों मरकर, पैसे-पैसे के लिए महाजन का मुंह देखकर, अपना जीवन काटना पड़ता है। अब पब्लिक का ध्यान इधर हुआ है और व्यवस्थापक सभा के सामने दो-तीन ऐसे प्रस्ताव पेश हैं, जिनसे किसानों को बड़ा लाभ होगा, पर सूद की दर घटा देने से काम नहीं चल सकता। ऐसे साधन भी होने चाहिए, जिनसे किसानों को थोड़े सूद पर रुपये मिल सकें। इसके लिए कृषि-सहायक के बैंकों को खोला जाना चाहिए। इस विषय पर लीडर में मुं० गजाधरप्रसाद एम० एल० सी० का एक उपयोगी पत्र छपा है। हमें आशा है गवर्नमेंट उस प्रस्ताव पर विचार करेगी। किसानों के उद्धार का सबसे आवश्यक अंग उन्हें महाजन के पंजे से निकालना और इसके साथ ही उन्हें हलके सूद पर रुपये दिलाने की व्यवस्था करना है। यह उद्देश्य बैंकों से ही पूरा हो सकता है।

[संपादकीय। 'जागरण', 7 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 मे संकलित।]

भविष्य

महात्मा गांधी को सरकार ने गिरफ्तार कर लिया। यह पहले ही मालूम था, हमें कोई आश्चर्य नहीं हुआ। आश्चर्य होता, अगर इसके विपरीत काई बात होती। दुःख अवश्य हुआ, पर दुःख सहने के तो हम आदी हैं। प्रभुता सदैव निरंकुश होती है, उससे साधुता की आशा रखना ही भूल है। महात्मा गांधी देवता हैं। सारा भारत उनकी पूजा करता है। इससे सरकार को कोई प्रयोजन नहीं। उसकी दृष्टि में तो महात्मा गांधी इसी योग्य हैं कि जेल में बंद रखे जाएं। भारत की असंख्य जनता का उसके इस कार्य में कितना अपमान हुआ है, इसकी उसे कोई परवाह नहीं, लेकिन प्रश्न यह है कि कांग्रेस अब क्या करेगी। यद्यपि श्रीयुत अणे ने कांग्रेस को तोड़ दिया है, पर वह अभी टूटी नहीं है। उसका अस्तित्व तो तभी मिटेगा, जब देश में दरिद्र जनता की हिमायत करने वाली मनोवृत्ति का अंत हो जायगा, जो असंभव है। प्रश्न यही है कि कांग्रेस अब क्या करेगी। वैयक्तिक सत्याग्रह का कार्यक्रम राष्ट्र को स्वीकार नहीं है। संभव है, उसे पूर्ण रूप

से व्यवहार में लाया जा सके, तो राष्ट्र को उसके द्वारा स्वराज्य प्राप्त हो सके, पर यह तो उसी तरह है कि रोगी की देह में रक्त बढ़ जाय, तो वह अवश्य अच्छा हो जायगा। किसी काम की सफलता के लिए असंभव शर्त लगा देने से हम सिद्धि के निकट नहीं पहुंचते। किसी प्रोग्राम को उसकी व्यावहारिकता के आधार पर जांचना उचित है। जिस दिन देश में ऐसे आदमी बड़ी संख्या में निकल आएंगे, जो अपना सर्वस्व स्वराज्य के लिए त्यागने को तैयार हो जायं, उस दिन तो आप-ही-आप स्वराज्य हो जायगा, लेकिन ऐसा समय कभी आएगा, इसमें संदेह है। ऐसी दशा में सत्याग्रही नीति में हमें अपने उद्देश्य-प्राप्ति की आशा नहीं। सत्याग्रह करके सरकार पर दवाब डालने की संभावना अब उतनी भी नहीं रही, जितनी दो साल पहले थी। यह मालूम हो गया कि सरकार को अगर व्यापार और शासन इन दोनों में एक को लेना पड़े, तो वह शासन को ही लेगी। व्यापार तो किसी-न-किसी रूप में शासन से संबद्ध किया जा सकता है। अब व्यवसायी राष्ट्रों को भी मालूम होने लगा है कि माल की खपत का क्षेत्र दिन दिन संकुचित होता जा रहा है और अब वह समय दूर नहीं है, जब उसके माल की अन्य देशों में मांग नहीं रहेगी। सभी राष्ट्र अपनी-अपनी जरूरत की चीज़ें खुद बना लिया करेंगे। फिर जब देश में भिन्न-भिन्न विचारों के लोग मौजूद हैं, जो विदेशी माल का व्यापार किसी तरह नहीं छोड़ना चाहते और उन्हें उसे छोड़ने के लिए मजबूर करने में भीषण उपद्रव का भय है, तो पिकेटिंग से किसी विशेष उपकार की संभावना नहीं रही। कर-बंदी तो महज़ खयाली पुलाव है। जो बड़े-बड़े धनवान् हैं, वह करों को रोकने का साहस नहीं कर सकते। इसका भार किसानों पर रखा जाता है, उसी तरह, जैसे रोष प्रकट करने का भार सोलहों आना दूकानदारों पर रह गया है।

पर क्या काश्तकार को अपने दो-चार बीघे ज़मीन, अपने झोंपड़े, अपने बूढ़े बैल से कम मोह होता है? कर-बंदी का सारा भार उसके ऊपर डाल कर उसके साथ अन्याय किया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि स्वराज्य के उद्देश्यों में किसानों के उद्धार ही की प्रधानता है, पर स्वर्ग के लिए संसार का त्याग करने वालों की संख्या कभी बहुत ज़्यादा नहीं हो सकती और कानून को केवल इसलिए तोड़ना कि उससे सरकार की नीति में परिवर्तन किया जा सके, सीधे रास्ते को छोड़कर टेढ़े रास्ते से जाना है।

तो हमारे लिए केवल वैध आंदोलन ही रह जाता है। कहा जायगा, कि वैध आंदोलन से हमने पिछले पचास सालों में क्या पा लिया, जो अब उससे कुछ आशा की जा सके? यह ठीक है, कि हमने अभी तक यथार्थ में कुछ नहीं पाया, यद्यपि दिखावे में बहुत कुछ पाया। इसका कारण वैध आंदोलन की कमज़ोरी नहीं बल्कि हमारे राजनैतिक कार्यक्रम की जनता के प्रति उदासीनता थी। जनमत को अपने साथ ले चलने की नीति असहयोग आंदोलन के पहले कभी बरती ही नहीं गई। तब तो राजनीति केवल विनोद और व्यक्तियों के विज्ञापन की वस्तु थी। उसका संबंध केवल नगर के थोड़े से कुशल और महत्त्वाकांक्षी नागरिकों से था। ऐसे निर्बल आंदोलन का फल इसके सिवा और क्या हो सकता था, कि नेताओं को राजपद मिल गए, कुछ मेंबरियां मिल गईं, कुछ अधिकार मिल गए। मानो जनता को लूटने में सरकार ने

उन्हें भी अपना साथी बना लिया। वे भी उसी निर्दयता से लंबी-लंबी रकमें, वेतन या फीस के रूप में जेब में भरने लगे. उसे तो राजनैतिक आंदोलन कहना ही व्यर्थ है। हमारे प्रभावशाली नेता थोड़े से स्वार्थ को त्याग कर राष्ट्र का बहुत-सा उपकार कर सकते थे और वह आज भी किया जा सकता है। राष्ट्र में बिना अच्छी जागृति और दृढ़ संगठन पैदा किए, हम स्थायी राजनैतिक उन्नति नहीं कर सकते। हमें ऐसे देशभक्तों की ज़रूरत है, जो राष्ट्र-निर्माण-कार्य में उसी तन्मयता से, उसी उत्साह और त्याग से लिपट जाएं, जिससे वह सत्याग्रह में लिपटे थे। ऐसे प्रमुख नेताओं की, कांग्रेस की बदौलत, कमी नहीं है, जो राष्ट्र को आने वाली व्यवस्था से अधिक से अधिक लाभ उठाने के लिए तैयार कर सकते हैं। कांग्रेस के पास संघटन है, प्रभाव है, लोक सेवा की धुन है, त्याग की भावना है। वह अगर सत्याग्रह आंदोलन को त्याकर इस नए कार्यक्रम पर कटिबद्ध हो जाय, तो हमें विश्वास है कि वह राष्ट्र का बहुत बड़ा उपकार कर सकेगी।

कांग्रेस के पास राष्ट्र निर्माण का यह प्रोग्राम मौजूद है। अगर सत्याग्रह आंदोलन न छिड़ गया होता, तो कांग्रेस ने उस प्रोग्राम पर अमल किया होता। अबकी बार पूना सम्मेलन में भी निर्माण-कार्य का महत्त्व बताया गया है। यह भी कहा गया है, कि यह काम सत्याग्रह से किसी अंश में भी कम महत्त्व नहीं रखता। सत्याग्रह को युद्ध की उपाधि देकर मन में इस प्रकार की वीरता के गर्व को जो उत्तेजना मिलती है वह यहां नहीं है, पर सत्याग्रह उसी तरह युद्ध नहीं है, जिस तरह अदालत की मुकदमेबाजी युद्ध नहीं है, या बालक का घर से रूठना युद्ध नहीं है। अहिंसा और युद्ध दोनों परस्पर विरोधी चीजें हैं और यह अहिंसा भी नहीं है, क्योंकि अहिंसा का केवल कार्य से नहीं, मन और वचन से भी उतना ही संबंध है। इस दृष्टि से तो महात्मा जी के सिवा शायद कोई कांग्रेसी व्यक्ति भी अहिंसा का पालन नहीं कर सका। अधिक से अधिक वह एक नीति कही जा सकती है, जिसका हम अपनी असंगुता के कारण पालन कर रहे हैं। यह अपने को धोखा देने के सिवा और क्या है। हम कांग्रेसी नेताओं से बड़े विनम्र भाव से प्रार्थना करते हैं कि उन्होंने अपने त्याग और निर्भीकता से जनता में जो विश्वास और श्रद्धा उत्पन्न कर दी है, उसे निर्माण कार्य से और ऐसा दृढ़ करें, कि अगले चुनाव में उनका बहुमत हो जाय और गवर्नमेंट को उनका सहयोग प्राप्त किए बिना एक पग रखना भी असंभव हो जाय। निस्संदेह इस व्यवस्था में वास्तविक अधिकार गवर्नर और वाइसराय के हाथों में दे दिए गए हैं, लेकिन कोई वाइसराय या गवर्नर लगातार व्यवस्थापक सभा के बहुमत की उपेक्षा नहीं कर सकता। अंग्रेजी व्यापार और नौकरशाही के अधिकारों पर जब कभी धक्का लगेगा, वाइसराय या गवर्नर बहुमत को ठुकरा देंगे, लेकिन हमारी धारणा है, कि ऐसे अवसरों पर गवर्नमेंट कूटनीति से काम लेगी और यदि हमारे प्रतिनिधि दृढ़ता और निर्भीकता का परिचय देंगे, तो गवर्नमेंट को उनका आदेश स्वीकार करना पड़ेगा। संगठित बहुमत के सामने निरंकुशता साल दो साल टिक जाय, ज्यादा नहीं टिक सकती।

[संपादकीय। 'जागरण', 7 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

मैं राजनीति को तिलांजलि देता हूं

ये हैं वे शब्द, जो श्वेतपत्र के झमेले से आजिज़ आकर सर सप्रू ने इंग्लैंड से चलते समय कहे। आपने आज तीन साल से भावी व्यवस्था के आपत्तिजनक प्रतिबंधों के हटाने और भारत का जन्मसिद्ध अधिकार दिलाने में अपने सिद्धांतों और आदर्शों के अनुसार जिस त्याग और लगन और एकाग्रता से अनवरत परिश्रम किया है, उसकी तारीफ नहीं की जा सकती, लेकिन आपका धैर्य भी आखिर टूट ही गया। आपको भी विश्वास हो गया कि इंग्लैंड इस समय कोई तर्क और न्याय सुनने के लिए तैयार नहीं है। इन तीन गोलमेज़ों और कमीशनों और कमेटियों का अंत क्या होने जा रहा है, यह सब उनसे भी छिपा न रह सका। जिस समस्या को सर तेजबहादुर-सा दूरदर्शी और हरेक पहलू पर विचार करने वाला, सरकार के दृष्टिकोण को उदार मन से समझने की चेष्टा करने वाला, और यथाशक्ति समझौते की कोई सूरत निकालने वाला मनुष्य न हल कर सका, वह राष्ट्र के लिए कितनी उपयोगी होगी? सर तेजबहादुर ऊंचे से ऊंचे राजपद पर रह चुके हैं, अंग्रेज अफसरों के मनोभाव और व्यवहारों का उन्हें पूरा अनुभव है। बहुत-सी बातों में उनके विचार जनता से न मिलकर नौकरशाही से मिलते हैं, यहां तक जनता राजनैतिक मामले में उनकी वकालत पर विश्वास न करेगी। जो व्यवस्था ऐसे मनुष्य को संतुष्ट न कर सकी, वह किसे संतुष्ट करेगी। हमारे खयाल में सर तेज ने 'फेडरेशन' को इतना महत्त्व न दिया होता, और 'फेडरेशन' को नई व्यवस्था की कुंजी न समझा होता, तो सुधार की स्कीम इतनी खटाई में न पड़ती। अब तो ज्ञात हो रहा है कि कुछ भी होने वाला नहीं है।

[संपादकीय। 'जागरण', 7 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

सरहद पर बमबाज़ी

सरहद पर बमबाज़ी शुरू हो गई। कुछ फौजी तैयारियां भी हो रही हैं। बजौरी कबीले और खार के खॉन पर निशाने चल रहे हैं। खॉन का अपराध यह है कि उन्होंने अफगानिस्तान के तीन विद्रोहियों को अपने इलाके में शरण दे रखी है। खॉन कहते हैं कि तीनों उनके इलाके से भाग गए, अब कोई भी उनके यहां नहीं है, लेकिन उनकी बात पर विश्वास नहीं किया जा रहा है और खॉन को अंग्रेजी हवाई ताकत का सुबूत दिया जा रहा है। जेनेवा में शस्त्र नियंत्रण के विषय में यह प्रस्ताव किया था कि किसी देश की आबादी पर हवा से बम न गिराए जावें। अंग्रेज सरकार ने सरहदी प्रांत में पुलीस का काम करने के लिए हवाई जहाज़ों की ज़रूरत बताकर इस प्रस्ताव में संशोधन किया था। जिन राष्ट्रों से यह भय है कि यदि उनके नगरों और शांत जनता पर बम गिराए गए तो वे इसका दंदांशिकन जवाब देने का सामर्थ्य रखते हैं, उनके साथ तो जरूर इस तरह का समझौता कर लेना आवश्यक है, पर जिनमे इस तरह का कोई खटका नहीं, उन पर गोले गिराने में कौन-सा विचार बाधक

हो सकता है और केवल इस अपराध के लिए कि खॉन ने अफगानिस्तान के विद्रोहियों को अपने यहां छिपा रखा है। एक तरफ तो खॉन की शरणागत के प्रति यह शौर्यपूर्ण सज्जनता है, दूसरी ओर ब्रिटिश बर्बरता है, जो इस मानवता के नियम का परंपरागत पालन करने के लिए बम गिराना आवश्यक समझती है। और 'टाइम्स' खुश है कि बजौरियों को ब्रिटिश शस्त्रों के नवीन आविष्कार का मजा मिल जायगा और वे फिर ऐसी शरारत न करेंगे, लेकिन खुदा न खास्ता कोई शत्रु लंदन पर गोलाबारी करने लगे, तो फिर देखिए, इसका मजा कैसा मिलता है। और एक बार थोड़ा-सा मिल भी चुका है।

[संपादकीय। 'जागरण', 7 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

अभिवादन

जिसके सामने सारा भारत किसी-न-किसी रूप में सिर झुकाता है, जिसे आस्तिक और नास्तिक, साधु और गृहस्थ, ज्ञानी और भक्त, संन्यासी ओर कर्मयोगी समान रूप से पूज्य मानते हैं उसी की शुभ जन्म-तिथि के उत्सव में हम भी दर्द-भरा दिल और आंसू-भरी आंखें लिए आनंद मनाने आए हैं।

भगवन्, हम अपना रोना सुनाकर आपका मन व्यथित न करेंगे। हमारे थाल में फूल, धूप, दीप, नैवेद्य जो कुछ है, वह आपके चरणों पर अर्पित है। भक्त की इतनी मानरक्षा तो कीजिएगा ही। फिर इंद्रलोक हो या क्षीरसागर, जाकर स्वर्ग के सुख भोगिए। जब आप हमारी करुण-कहानी सुनना नहीं चाहते, या हम भी नहीं सुनाना चाहते। जब तक हैं आपकी पूजा करते हैं, जब न रहेंगे, तो क्या होगा, कौन जाने। आपके लिए हमारे-जैसे असंख्य हैं, हमारे लिए तो आप एक ही हैं। आप हमें विस्तृत कर दें, हमारे तो रोम-रोम में अणु-अणु में, आप विराज रहे हैं, हम आपको कैसे भुला दें।

आपने गीता का उपदेश देकर समझ लिया कि उससे अनंतकाल तक हमें जीवन, बल और ज्ञान मिलता रहेगा। क्या आपने यह सोचने का भी कष्ट उठाया है कि उस उपदेश पर चलने की योग्यता भी हममें है या नहीं? आप तो अंतर्यामी हैं। अगर वह योग्यता हममें न थी, तो क्या आप उसे प्रदान न कर सकते थे? आप में यह सामर्थ्य नहीं है, तो क्या हमें इस धोखे में डालना चाहते हैं? सूर्य मेघों की आड़ में छिपकर यह कहने का साहस रखता है कि उसमें प्रकाश नहीं? फिर, क्या हम उस योग्यता के अधिकारी न थे? भिक्षा का अधिकारी भिक्षुक के सिवा कोई और भी होता है भगवन्—लेकिन क्यों गिला करें। आप समर्थ हैं, आपको दोष देना छोटे मुंह बड़ी बात है। हमीं दुर्बल हैं, हमीं दोषी हैं, हमी अभागे हैं। योगेश्वर का अपने-पराए से क्या प्रयोजन। मोह और वात्सलय तो मानवी दुर्बलता है। मेघ का काम तो बरसना है, उसे इससे क्या मतलब कि पृथ्वी की प्यास बुझती है या किसी अभागे की मड़ैया बहती है। आपने अमर-ज्ञान की वर्षा कर दी, हम उसे नहीं हृदयंगम कर

सके तो आपका क्या दोष? माता बालक के सामने भोजन रख देती है, वह खाता है या नहीं, उसे इससे क्या मतलब। यही तो निर्मम ज्ञान है। लेकिन ऐसी माता कितने दिनों माता कहलाने का गर्व करेगी? हमारा क्या बिगड़ा? हम तो बालू के कण थे। फिर बालू में मिल जाएंगे। दुख है तो यही कि आपके नाम को कलंक लगेगा। आपको कुछ मालूम है आपकी इस जन्मभूमि में जहां आपने बाल-क्रीड़ा की थी और योग साधन भी किया था, क्या हो रहा है? उसकी दशा आंखों से देखकर भी क्या आपको चोट नहीं लगती? आपकी इस निष्ठुरता का रहस्य तो यही नहीं है कि हम आपकी नजरों से गिर गए। और क्या इसमें सारा दोष हमारा ही है? तो अब आप ही बताइए हम किसकी शरण जाएं। शायद आपने वह उपदेश देकर पृथ्वी को स्वर्ग बनाना चाहा था, पर पृथ्वी पृथ्वी बनी हुई है, जहां हिंसा, स्वार्थ और अपहरण का राज्य है। आपसे यही प्रार्थना करने की धृष्टता करते हैं कि या तो इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाइए, या हमें इस पृथ्वी पर अपने अस्तित्व को बनाए रखने की शक्ति दीजिए और या, या...संसार में हमारा निशान ही क्यों रहे?

[संपादकीय। 'जागरण' 13 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

कलकत्ता-कारपोरेशन का प्रस्ताव

कारपोरेशन ने 27 पक्ष तथा 14 के विरोध से इस आशय का एक प्रस्ताव पास किया है कि यदि भारत सरकार ने स्व० जे० एम० सेन गुप्त को रांची में सपरिवार रहने की आज्ञा देने के पूर्व ही छोड़ दिया होता, तो उनकी मृत्यु इतनी शीघ्र न होती। हम नहीं कह सकते कि यह आरोप में कहां तक प्रमाण-संगत है। रांची एक स्वास्थ्यकर स्थान है। वहां सपरिवार रहने से ही मृत्यु इतनी शीघ्र आ गई, यह बात तो समझ में नहीं आती, पर यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि जेल जीवन ने हमारे कितने ही नेताओं का स्वास्थ्य नष्ट कर दिया है, और उसी ने स्व० जे० एम० सेनगुप्त का स्वास्थ्य भी नष्ट किया, जिसका यह शोकजनक परिणाम हुआ। एक तो भारत की राजनैतिक परिस्थिति ही ऐसी है, जो मनस्वी आत्माओं को पग पग पर अपमानित करके उनका मानसिक और आत्मिक दमन करती रहती है, उस पर जब उन्हें जेल में बंद कर दिया जाता है, उनके पुष्टिकर भोजन और व्यायाम का प्रबंध नहीं किया जाता, उनको वह भार दुस्सह हो जाता है। राष्ट्रीय संग्राम की एक तैयारी यह भी है कि हमें कष्टमय जीवन का अभ्यास करना चाहिए, जिसमें हम जेल की कठिनाइयों में अपने आरोग्य की रक्षा कर सकें। सरकार से यह आशा रखना कि वह राजबंदियों के साथ खास रियासत करेगी अपने को धोखा देना है। भविष्य में संभव है, राष्ट्र के नेताओं को इससे भी बड़ी बाधाएं सहनी पड़ें। पर सरकार शायद अभी तक इस भ्रम में है कि राजबन्दियों को जेल में अधिक से अधिक समय तक डाल रखने से जनता की स्वराज्य की प्यास शांत हो जायगी। जिस शासन-व्यवस्था में महात्मा गांधी जैसे पूज्य नेता और श्री जे० एम० सेनगुप्त जैसे सच्चे राष्ट्र-सेवक के लिए जेल

के सिवा दूसरा स्थान नहीं है, वह स्वयं कलंकित है और स्वयं कह रही है कि उसका जितनी जल्दी अंत हो जाय उतना ही अच्छा। यह नीति प्रजा को आतंकित कर सकती है, सरकार के प्रति प्रजा में भक्ति नहीं पैदा कर सकती। शायद सरकार इस बात को भूल जाना चाहती है कि भारत की जनता को अब आतंक से नहीं शांत किया जा सकता।

[संपादकीय। 'जागरण', 13 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

'जागरण' का पहला वर्ष

इस संख्या से 'जागरण' का दूसरा वर्ष आरंभ होता है। भारत में आधे नवजात शिशु पहले वर्ष में ही जीवन-लीला समाप्त कर देते हैं। वह खटके का साल निकल गया और आज उसकी पहली वर्षगांठ पर हम अपने कृपालु साहित्यिक मित्रों, सहृदय पाठकों और उत्साही एजेंटों को बधाई देते हैं। हम तो निमित्तमात्र हैं। मित्रों ने जिस उदारता से हमारी सहायता की है, उसके लिए हम उनके चिर ऋणी रहेंगे। देश की जैसी दीन आर्थिक दशा है और हिन्दी समाचार-पत्रों के प्रति शिक्षित समाज में जो उदासीनता है, उसको देखते हुए यह साल इतना बुरा नहीं रहा। इन बारह महीनों में हमें जो कुछ जागरण भेंट करने पड़े, उसका खेद नहीं है। रुपये का इससे बढ़कर हम और क्या सदुपयोग कर सकते थे। अगर धन का अभाव न होता, तो 'जागरण' इस शान से निकलता कि हिन्दी संसार को उस पर गर्व होता, लेकिन हम अपनी सीमाओं के अंदर रहकर जो कुछ कर सकते थे वह किया और करते रहेंगे, व्यापारिक दृष्टि से यह उद्योग सफल हो या न हो। हम केवल इतना ही निवेदन करना चाहते हैं कि जागरण को हमने व्यापारिक लाभ के लिए नहीं निकाला था। उसका मुख्य उद्देश्य सद्विचारों का प्रचार है। हां, यह हम ज़रूर चाहते हैं कि वह अपने पैरों पर खड़ा हो जाय, क्योंकि इसी दशा में उसका जीवन निरापद रह सकता है। अगर हमारे पाठक समझते हों कि 'जागरण' राष्ट्र और साहित्य की कुछ सेवा कर रहा है तो उनका कर्त्तव्य है कि उसकी उपयोगिता का क्षेत्र बढ़ावें और 'जागरण' की बिरादरी को प्रसारित करें। इस तरह की बातें संपादक लोग किया करते हैं, पाठक परवा नहीं करते। इसलिए अपना दुखड़ा न रोना ही अच्छा है। हम इस अमर सिद्धांत पर भरोसा कर लेना ही उचित समझते हैं कि जो चीज़ अच्छी होती है, उसे ग्राहकों की कमी नहीं रहती। अगर किसी चीज़ के ग्राहक नहीं हैं तो समझ लेना चाहिए कि उसकी संसार को ज़रूरत नहीं। पाठक अपना कर्त्तव्य करें या न करें, हम तो अपना हक अदा किए ही जाएंगे। अगले अंक से हमने एक उच्चकोटि का उपन्यास धारावाहिक रूप से देने का निश्चय किया है। हम यह प्रयत्न भी कर रहे हैं कि विदेशी पत्रों से उपयोगी, ज्ञानवर्द्धक अनुवाद इससे अधिक दे सकें और कार्टून तथा चित्रों को बढ़ाने का उद्योग भी किया जा रहा है। हम आशा करते हैं कि प्रेमी पाठक हमें अपने सद्परामर्श देते रहेंगे, जिससे हम पत्र अधिक उपयोगी बनाने में समर्थ हो सकें।

[सपादकीय। 'जागरण', 13 अगस्त, 1933 मे प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

जापान की व्यापारिक सफलता का रहस्य

सर लल्लू भाई सामलदास ने जापान से लौटकर वहां के कपड़े के विषय में जो रहस्य बतलाए हैं, उन्होंने भारत के मिल-मालिकों की आंखें खोल दी होंगी और उन्होंने शर्म से सिर झुका लिया होगा। अब तक यह भ्रम था कि जापानी सरकार कपड़े के व्यापार की सहायता करती है। अब यह मालूम हुआ, कि यह कोरी गप है। इस भ्रम का भी इस बयान में निवारण हो गया कि जापानी-मजूरों के साथ बड़ी सख्ती से काम लिया जाता है और उन्हें मजदूरी बहुत कम दी जाती है। जापानी सफलता का रहस्य उनके मिलों के सुप्रबंध और उनके मजदूरों की दक्षता है। जितना काम जापान की एक सुकुमार युवती कर लेती है, उतना यहां तीन-चार मजदूर मिलकर भी नहीं कर पाते। मिल के कर्मचारियों, डायरेक्टरों आदि के वेतन जापान में भारत से बहुम कम हैं। उसी सुप्रबंध की बदौलत जापान ने सारी दुनिया के व्यापारियों का काफिया तंग कर रक्खा है। इसका निवारण किया जाता है उसके माल पर महसूल बढ़ाकर, उसके माल का बहिष्कार करने का प्रयत्न करके। चाहिए तो था कि हम अपनी कमजोरियों को सुधारते और उस लूट को कम करते, जो कर्मचारियों के राजसी वेतन के रूप में खर्च होती है, और मजदूरों को ज़्यादा शिक्षित और पटु बनाने की चेष्टा करते, पर यह करे कौन। सस्ता नुस्खा था, जापान के माल पर पचहत्तर फीसदी कर लगा देना। तब तो लोग झक मारकर यहां के मिलों के कपड़े मंहगे दामों में खरीदेंगे। यह खरीददार जनता के साथ घोर अन्याय है। यों कहना चाहिए कि उनका गला दबाकर उनकी गांठ से पैसा छीन लेना है, मिल वालों की जेब भरने के लिए। हालांकि मिल वाले यह भी समझते हैं, कि सरकार की यह नीति भारत के हित के लिए नहीं, लंकाशायर के हित के लिए रची गई है।

[संपादकीय। 'जागरण', 13 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

नया रेलवे बोर्ड

सरकार ने भारत के लिए जो नया रेवले बोर्ड निर्माण किया है, उसके लिए हम भारतवासियों को सरकार को कोटि-कोटि धन्यवाद देना चाहिए। चलो, बोझ सिर से टला। नहीं लाखों मील की रेलें, लाखों गाड़ियां, लाखों कर्मचारी, करोड़ों का हिसाब-किताब यह सब झंझट कौन पालता। यह नया रेलवे बोर्ड जैसे चाहेगा, अपना काम करेगा। यहां किसमें इतनी अक्ल ही है कि रेलगाड़ियों का प्रबंध कर दे, वह काम तो अंग्रेज ही कर सकता है, पूरा अंग्रेज न हो, आधा सही, तिहाई सही, पर कुछ-न-कुछ अंग्रेजी खून उसमें अवश्य होना चाहिए। और जहां अंग्रेजों का मुआमला है, वहां किसी तरह का दवाब, किसी तरह की निगरानी, किसी तरह की कैद उनका अपमान है। उनसे कोई गलती हो ही नहीं सकती। इस रेलवे बोर्ड के निर्यण में लेजिस्लेटिव एसेंबली को किसी तरह का दखल न रहेगा। बोर्ड को अधिकार होगा,

कि जिसे चाहे रखे, जिसे चाहे निकाले, जितना किराया चाहे बढ़ाए, मुसाफिरों को चाहे जितना कष्ट हो, एसेंबली को बोलने का हक न होगा। बोर्ड जिम्मेदार आदमियों का होगा। वे अंग्रेजी नीति के पक्के समर्थक होंगे। और यह कौन नहीं जानता कि अंग्रेजी नीति संसार में सबसे सफल है।

[संपादकीय। 'जागरण', 13 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

भीषण नाव दुर्घटना

काशी में गत सप्ताह में जो भीषण नाव दुर्घटना हुई और जिसमें बाईस आदमी जलमग्न हो गए, उस पर पब्लिक को और हमारे व्यवस्थापकों को इस दृष्टि से विचार करने की ज़रूरत है कि ऐसी दुर्घटनाएं किन कारणों से होती है और उनकी रोक कैसे की जा सकती है। देहाती लोग जल्द-से-जल्द शहर की मंडियों में पहुंचकर अपना सौदा बेचने की धुन में इस बात का विचार नहीं करते कि नाव पर काफी आदमियों की गुंजाइश है या नहीं। मल्लाह भी पैसे के लोभ में उन्हें रोकने की चेष्टा नहीं कर सकता। नतीजा यही होता है कि ऐसी वारदातें आए दिन होती रहती हैं। सरकार द्वारा यदि हरेक नाव पर बैठाए जाने वाले यात्रियों की संख्या नियत कर दी जायं, तो शायद मल्लाह उससे ज़्यादा सवारियों को न बैठाए और सवारियां भी समझ जायं कि इससे ज़्यादा सवारियों के बैठने से खतरा है। यदि हरेक नाव पर तुंबियों का प्रबंध किया जा सके जिसका दायित्व नाव के ठेकेदार पर रखा जाय, तो शायद जनता का कल्याण हो सके। हमें आशा है कि जिले के अधिकारी वर्ग इस विषय पर विचार करके कोई ऐसी व्यवस्था करेंगे, जिससे इतनी जानों की हानि न हो। बनारस पर शायद कोई ग्रह आया हुआ है। अभी लारी वाली वारदात की चोट भूलने न पाई थी कि यह दूसरी चोट लगी।

[संपादकीय। 'जागरण', 13 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

मुंगेर में कांग्रेसी उम्मीदवारों की विजय

बिहार के मुंगेर जिला बोर्ड के चुनाव में कांग्रेसी उम्मीदवारों ने, जो शायद शानदार विजय प्राप्त की है, वह इस बात की सूचक है कि यदि कांग्रेस आने वाले चुनाव में भाग ले, तो उसे कितनी सफलता मिल सकती है। वहां 28 मेंबरों में 27 कांग्रेसी उम्मीदवार ही निर्वाचित हुए। माना, मुंगेर प्रधान हिन्दू जिला है और बिहार में कांग्रेस का प्रचार भी खूब था। बंगाल और पंजाब में जहां हिन्दुओं का बहुमत नहीं है, शायद ऐसी कामयाबी न हो, पर मुसलमानों, सिक्खों, जमीदारों सभी संप्रदायों में कांग्रेसी मौजूद हैं। अगर कांग्रेसी उम्मीदवारों को इन संप्रदायों में आधी जगहें भी मिल गईं तो कांग्रेस का केंद्रीय सभा में बहुमत हो जायगा। अभी कुछ दिनों रियासती मेंबरों पर विश्वास नहीं किया जा सकता,

क्योंकि वे राजाओं के नामज़द किए हुए होंगे, पर राष्ट्रीयता में वह जादू है और समय इतना प्रगतिशील हो रहा है कि आने वाले चंद बरसों में वह बातें भी संभव हो सकती हैं, जो आज असंभव समझी जा रही हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 13 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

मेरठ के मुकदमे का फैसला

साढ़े चार साल पहले जब मेरठ में साज़िश का मुकदमा चलाया गया था, तो पुलीस ने इतना शोरगुल मचाया, इतनी धूम-धाम से तैयारियां हुईं, इतनी शहादतें जमा की गईं, इतने रुपये खर्च किए गए कि मालूम होता था यह साज़िश दुनिया का तख़्ता उलट देना चाहती थी और पुलीस ने सुराग लगाकर ऐसे तीर मारा है कि स्कॉटलैंड यार्ड वालों को आकर इनकी शागिर्दी करनी चाहिए। झूठ-मूठ शहादतें बढ़ाकर मुकदमे को तूल दिया गया, यहां तक कि साढ़े चार साल के समय और सोलह लाख रुपये का सफाया हो गया। सेशन जज ने तो इन सारी तैयारियों के अनुकूल सजा देने में ही अपनी नेकनामी समझी। कई मुलजिमों को कालेपानी तक की सजा दे डाली, जिसका उन्हें नीति के अनुसार कोई अधिकार न था। पर, हाईकोर्ट की अपील से जो फैसला हुआ है, उसने गवर्नमेंट की आंखें खोल दी होंगी, और उससे साबित हो गया होगा कि अभियुक्तों को जो काला-देव बनाकर दिखाने का प्रयत्न किया गया था, वह कितना निस्सार था। कई अभियुक्तों को हाईकोर्ट ने बिल्कुल बरी कर दिया, कुछ के लिए साढ़े चार साल की सजा जो वह भुगत चुके हैं वही काफी समझी गई। केवल चार अभियुक्तों को दो-दो साल अभी जेल में रहना पड़ेगा। शेष सभी छूट जाएंगे। जिस अपराध की सजा होईकोर्ट ने तीन साल काफी समझी, उसके लिए काले पानी की सजा तजवीज़ कर सेशन जज ने न्याय को कितना भयंकर रूप दे दिया था। इस सिलसिले में हम हाईकोर्ट के फैसले के उस अंश पर विचार आवश्यक समझते हैं, जिसमें जजों ने यह दिखलाया है कि मैजिस्ट्रेट के इजलास में पूर्ण शहादतो का दिलाना अनावश्यक ही नहीं, आपत्तिजनक है। मैजिस्ट्रेट को केवल उतनी ही शहादतें लेनी चाहिए, जिससे उसे विश्वास हो जाय कि मुकदमा सेशन जज के इजलास में भेजने योग्य है। पहले डेढ़ साल तक उसने सारी शहादतें लीं, तब मुकदमा सेशन में भेजा गया और वहां वह सारा नाटक फिर से दुहराया गया। इसमें राष्ट्र का धन जो अपव्यय हुआ वह तो हुआ ही, मुलज़िमों को ज़ितना कष्ट उठाना पड़ा और उनकी कितनी ज़िंदगी खराब हुई, इसका कौन अनुमान कर सकता है। फिर यह भी जरूरी नहीं, जैसा हाईकोर्ट ने स्पष्ट लिखा है कि एक ही बात को सिद्ध करने के लिए अकाट्य प्रमाण न देकर ख्वाम-ख्वाह व्यर्थ की शहादतें दिलाई जाएं। इन्हीं सब बेकायदगियों के कारण इस मुकदमे ने इतना तूल खींचा, जिसे अबसे तीन साल पहले ही समाप्त हो जाना चाहिए था। और पुलीस शहादतों की भरमार करती है, तो मुलज़िम भी अपनी सफाई के लिए अधिक से अधिक शहादतें तलब करता है, जिससे वह

उस लगाए हुए अभियोग की हरेक बात काटी जा सके। मगर यहां कौन पूछता है, पुलीस को कम से कम संतोष हो गया हो कि उसने इतने आदमियों को साढ़े चार साल रगड़ डाला।

[संपादकीय। 'जागरण', 13 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

शाबाश काशी-म्युनिसिपैलिटी!

अब कौन यह कहने का दावा कर सकता है कि काशी की म्युनिसिपैलिटी आदर्श संस्था नहीं है? स्व॰ सेनगुप्त के शोक में जलसा करने के लिए टाउनहॉल न दिया गया। हॉल ऐसे व्यर्थ के जलसों और तमाशों के लिए नहीं है। सरकार की म्युनिसिपैलिटी सरकार के बागी की शोक सभा के लिए अपना टाउनहॉल भला कैसे दे सकती है। कलकत्ता में उस महान् आत्मा के श्रद्धा पर कलकत्ता के हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस भी आए थे, पर यह काशी है कलकत्ता नहीं।

[संपादकीय। 'जागरण', 13 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

आयरलैंड की स्थिति

आयरलैंड में इस समय काफी उथल-पुथल मची हुई है। ब्रिटेन से स्वतंत्र होने और प्रजातंत्र की घोषणा के लिए रास्ता साफ करने के उद्देश्य से गत 9-10 अगस्त को राष्ट्रपति डी वेलरा आयरिश पार्लामेंट में कुछ बिल पेश करने वाले थे। इन बिलों को देखकर डी वेलरा के विरोधी कासग्रेव दल वाले समझ गए कि यदि ये स्वीकृत हो गए, तो फिर आयरलैंड की वर्तमान सरकार को प्रजातंत्र की घोषणा करने में देर न लगेगी। इसी से उन्होंने अपने मन में यह निश्चय कर लिया कि हम यथासंभव इन बिलों को 'डेल्न' में पेश ही न होने देंगे। नौ अगस्त की रात वाली बैठक में उन्होंने इतना शोरगुल मचाया कि डी वेलरा को बाध्य होकर पार्लियामेंट का अधिवेशन 27 सितंबर के लिए स्थगित कर देना पड़ा।

इधर कास्ग्रेव दल के अतिरिक्त एक दल और डी वेलरा का विरोधी बन गया है। यह फासिस्ट सिद्धांतों के अनुयायी नीले कुरते वालों का दल है। इस दल ने एकाएक इतनी शक्ति कैसे प्राप्त कर ली यह आश्चर्य की बात है। इसके नेता जनरल ओडफी ने हाल में ही एक घोषणा निकाली थी, जिसमें कहा गया था कि 13 अगस्त को 'ब्लूशर्ट्स नेशनल गार्ड' (नीले कुरते वाली राष्ट्रीय संरक्षक सेना) परेड अवश्य करेगी, चाहे डी वेलरा की सरकार उसमें बाधा क्यों न डाले। डी वेलरा ने सार्वजनिक शांति के लिहाज से परेड की मनाही कर दी थी, अतः ऐसा प्रतीत हो रहा था 13 अगस्त को भी भीषण अवस्था उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकती, किंतु सरकारी सेना का सुदृढ़ प्रबंध देखकर जनरल ओडफी ने परेड करना स्थगित कर दिया और देश के सौभाग्य से अशांति की आशंका दूर हो गई। इस समय तो संकट टल गया है,

किंतु संभव है कासग्रेव दल के साथ मिलकर ये लोग पुनः कोई उपद्रव खड़ा करें। देखें, वहां की स्थिति अब क्या रुख धारण करती है।

[संपादकीय। 'जागरण', 21 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

काशी-निवासी हिन्दी-प्रेमियों से प्रार्थना

काशी के एकमात्र साहित्यिक मासिक-पत्र 'हंस' के चौथे साल का पहला अंक सुसज्जित विशेषांक के रूप में निकालने का विचार स्थिर किया गया है। उसका नाम 'काशी अंक' होगा। उसमें काशी के मंदिर, घाट, मठ, क्षेत्र, विद्यालय, पहलवान, गायक, कवि, लेखक, संपादक, प्रकाशक, पंडित, कारीगर, विद्वान्, व्यापारी, प्रेस, अखबार आदि का पूरा परिचय दिया जायगा। इसलिए काशी के हिन्दी-प्रेमियों से नम्र निवेदन है कि वे स्थानीय संस्थाओं और प्रत्येक विषय के प्रसिद्ध गुणियों और जानकारों के बारे में लेख तथा चित्र भेजकर हमारी सहायता करें।

[संपादकीय। 'जागरण', 21 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

बेंत मारने की सजा

बंबई की कौंसिल में अभी हाल ही में दंगा आदि मचाने का अपराध करने वालों को बेंत मारने की सजा देने का जो कानून पास हुआ है, उस पर हम बंबई की सरकार या वहां की कौंसिल के सदस्यों को बधाई नहीं दे सकते। जहां संसार के अन्य देशों में दंड की यह निष्ठुर प्रथा धीरे-धीरे उठाई जा रही है, वहां इस देश में इसका इस तरह समर्थन किया जा रहा है, इसे हम अपना दुर्भाग्य न कहें तो और क्या कहें?

यद्यपि वहां के प्रांत-सचिव (होम मेंबर) ने इस बात का आश्वासन दिया है, कि इसका प्रयोग अत्यधिक आवश्यकता पड़ने पर विशेष परिस्थिति में ही किया जायगा, फिर भी यह कौन जानता कि मौका आने पर इतनी सतर्कता से काम नहीं लिया जाता। हम यह आए दिन देखा करते हैं कि सरकार की सेवा करने के भाव से प्रेरित होकर कुछ जोशीले न्यायकर्ता कानूनों का प्रयोग आवश्यकता से अधिक सख्ती के साथ किया करते हैं। अतः हमारे लिए यह संदेह करने का कारण है कि वहां के दो-एक मजिस्ट्रेट होममेंबर के शब्दों को भुलाकर अनावश्यक रूप से इसका प्रयोग करने से न हिचकेंगे।

हमारे मन में यह भी शंका हो रही है, कि कुछ समय के बाद सार्वजनिक शांति (पब्लिक सिक्यूरिटी) के नाम पर सविनय अवज्ञा करने वालों के लिए भी कहीं इसका प्रयोग न किया जाने लगे। जैसाकि होममेंबर साहब ने स्वयं स्वीकार किया है, पिछले आंदोलन में वहां के पचास स्वयंसेवकों को बेंत की सजा दी गई थी।

जहां तक हम समझते हैं, कानून में इस बात का स्पष्टीकरण नहीं किया गया है, कि किन-किन खास अपराधों के लिए यह दंड दिया जायगा। ऐसी अवस्था में हमारा कर्त्तव्य है कि हम स्पष्ट रूप से इस बर्बरतापूर्ण कानून का विरोध करें और बंबई कौंसिल के सदस्यों से अनुरोध करें कि वे इसे शीघ्र ही रद्द करा देने का प्रयत्न कर अपनी भूल का परिमार्जन करें।

[संपादकीय। 'जागरण', 21 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

भारत 1983 में

''जहां तक भारत की वर्तमान मनोवृत्ति का हमें परिचय है, हम कहना युक्तिसंगत है कि वह अपने लिए कोई ऐसी व्यवस्था बनाएगा, जो स्पष्ट रूप से बहुमत की जवाबदेह न होगी। यहां तक कि गरमदल के कांग्रेस वाले भी जिम्मेदार शासन की कल्पना नहीं करते, बल्कि उसी प्रणाली का उपयोग करना चाहते हैं, जो पहले से दफ्तरी शासन ने तैयार कर दी है, उसी तरह जैसे लेनिन और उनके अनुयायी अधिकार के उस क्षेत्र में कूद पड़े, जिसे दो सदियों में ज़ारशाही ने समतल कर दिया था।''

यह है वह विचार जो, संयुक्त-प्रांत के गवर्नर सर मालकम हेली ने हाल के एक जलसे में प्रकट किया। यह जलसा ऑक्सफोर्ड में रायल एंपायर सोसाइटी की ओर से हुआ था, और कथन का विषय था-'भारत 1983 में।'

सर मालकम हेली प्रगतिशाली शासकों में नहीं हैं। उनका सारा राजनैतिक जीवन भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं का दम करते गुजरा है। पिछले राष्ट्रीय आंदोलन में बार-बार उनका लोहे का पंजा देख चुके हैं, पर 'भारत 1983 में' एक ऐसा विषय था, जिस पर वह अपनी जिम्मेदारियों से ऊंचे उठकर, बिना किसी तरह के संकोच या रुकावट के भारत के विषय में भविष्यवाणी कर सकते थे। इसलिए उनके उस कथन में जहां अधिकतर ऐसी बातें हैं, जो उनके विचारों में बद्धमूल हो गई हैं और जिन्हें वह अनुदार आंखों से देखने के सिवा कुछ कर ही नहीं सकते, कुछ ऐसी बातें भी हैं, जिनमें राजनीति की सूझ और भावना है और ऊपर हमने जो वाक्य नकल किए हैं, वह इसी तरह के वाक्यों में हैं। सर मालकम हेली के विचार में भारत की परंपरा, और उसकी संस्कृति प्रतिनिधि शासन के अनुकूल नहीं है। यह कथन हमें चिंता में डाल देता है।

इतिहास में कहीं ऐसा प्रमाण नहीं मिलता कि भारत ने उस रूप राजनैतिक अधिकार के लिए उद्योग किया हो, जैसा आजकल हम समझते हैं। प्राचीन काल में कभी यह आदर्श यहां था, इसमें हमें संदेह है। बौद्ध-काल में दक्षिण में कुछ ऐसे राज्य थे, जहां प्रतिनिधि शासन के कुछ चिह्न मात्र हैं, जीते-जागते प्रमाण नहीं हैं। यूनान में जिस प्रकार प्रजा ने अधिकार के लिए संग्राम किए, जिस तरह धीरे-धीरे अमीरों के हाथ से शक्ति निकलकर प्रजा-पक्ष के हाथ में आई। रोम में भी इतिहास ने जिस तरह अपने को दुहराया, वैसा कोई प्रमाण भारत में नहीं मिलता। योरोप की

वर्तमान राजनैतिक परिस्थिति उन्हीं पुरानी परंपराओं पर टिकी हुई है। हां, वहां जनतंत्र अनेक आर्थिक और सामाजिक कारणों से जनतंत्र न रहकर पूजीतंत्र हो गया है। कम्युनिज़्म और फासिज़्म उसके विद्रोह मात्र हैं। वह जनतंत्र को वास्तविक रूप से जनतंत्र बनाये रखने के आयोजन हैं। जनतन्त्र का अर्थ इसके सिवा और क्या है कि राज्य में किसी एक गुट या दल का विशेषाधिकार न हो, और राज्य का आधार स्तंभ समता और न्याय का व्यावहारिक रूप हो। अगर जनता को इस ओर से निश्चिंतता हो जाय, तो उसे अधिकार की विशेष परवाह नहीं होती। वह अधिकार केवल इसीलिए चाहती है कि समता और न्याय का रूप विकृत न होने पावे। यह समता मनुष्य में आदि से चली आ रही है, जब कोई राजा न था, कोई प्रजा न थी, सभी अपने शक्ति और पुरुषार्थ के बल पर अपने जीवन का निर्वाह करते थे। हजारों बरस के एकाधिपत्य ने भी उस भावना को निर्जीव नहीं होने दिया है। हमारी सभी धार्मिक व्यवस्थाएं इसी समता के आदर्श को पालन करने की चेष्टाएं हैं। योरोप इस विषय में भारत से भिन्न नहीं है, क्योंकि मनुष्य स्वभाव में देश-भेद से कोई मौलिक अंतर नहीं आ जाता। योरोप में ही थोड़े दिन पहले जर्मनी, अस्ट्रिया, रूस, फ्रान्स सभी देशों में बादशाही थी, और बादशाही भी इंग्लैंड की-सी अपंग बादशाही नहीं, बल्कि जोरदार बादशाही थी।

जहां कहीं बादशाहों ने जन-पक्ष को विकास पाने का अवसर दिया, वहां बादशाही बनी हुई है, जहां समता और न्याय के आदर्श को ठुकराया गया और दलबंदी हुई, वहीं प्रजा ने विद्रोह किया। कम्युनिज़्म और फासिज़्म का आधिपत्य इसलिए नहीं है कि उनके पीछे सैनिक शक्ति है, बल्कि इसलिए कि वे प्रजाहित को ही अपना आधार बनाए हुए हैं। ज्यों ही वे इस आदर्श से गिर जाएंगे, जनता फिर चंचल हो जायगी और फिर किसी दूसरी तरह इस समस्या को हल करने की चेष्टा करेगी। लेकिन यह कहना कि भारत की परंपरा और जलवायु ही प्रतिनिधि शासन के अनुकूल नहीं, मानव-प्रकृति की समानता को अस्वीकार करना है। कोई भी मनुष्य छोटा या नीच बनकर नहीं रहना चाहता। जिसमें राजनैतिक चेतना ही नहीं, उनकी बात न्यारी है। जहां सामाजिक चेतना नहीं, वहां राजनैतिक चेतना न हो तो कोई आश्चर्य नहीं। लेकिन जिनमें कुछ भी राजनैतिक चेतना है, वे अपने देश को सुखी और संतुष्ट और गौरवयुक्त देखना चाहते हैं। जो कोई भी बाधा उनके इस आदर्श के सामने खड़ी होती है, उसका विरोध करने की उन्हें इच्छा होती है। क्या भारत में आज बादशाही होती और वह बादशाही प्रजा को लूटकर थोड़े से संबंधियों का घर भरना ही अपना दस्तूर बना लेती, तो भारतवासी उसके विरुद्ध कोई आंदोलन न करते? रियासतों में क्या इस तरह का आंदोलन नहीं है? जनमत के विरुद्ध जब शासन व्यवस्था चलती है, चाहे वह बादशाही हो, या कुबेरशाही, या प्रजाशाही, उसके विरुद्ध आंदोलन होने लगता है। जो शिक्षित हैं, वहीं विद्रोह का झंडा उठाते हैं। वही भारत में भी हुआ। यह कहना कि भारत का राष्ट्रीय आंदोलन पश्चिम का ऋणी है, और उसकी कलम वहीं से लाकर आरोपित की गयी, मानव प्रकृति से अपने अज्ञान का परिचय देना है। 'जातीयता' योरोप के कारखाने में अवश्य बनी है, पर योरोप ने भी तीन सौ साल

पहले जातीयता का रूप ऐसे इतना प्रचंड न था। उसे हम मानव जाति की कोई बड़ी विभूति नहीं समझते, उसने मनुष्य को भिन्न-भिन्न भागों में बांटकर एक-दूसरे का शत्रु बना दिया है। भारत को इंग्लैंड से कोई दुश्मनी नहीं है। वह तो केवल इतना ही चाहता है कि भारत की ऐसी अवस्था न रहे कि दूसरे तो मूंछों पर ताव देकर गुलछर्रे उड़ाएं और जो भारत-संतान हैं, जो पसीना बहाकर और अपना रक्त जलाकर धन कमाते हैं, वे दाने और वस्त्र को मुहताज हों और पशुओं की भांति जिएं। इतिहास का महत्त्व इसके सिवा और क्या है कि अपनी पिछली गलतियों को सुधारा जाए। यह खयाल करना कि किसी कारण से हममें पूर्व में जो गलतियां थीं, वही हमारी परंपरा है और उनके सुधार की चेष्टा करने में हम अपनी संस्कृति के प्रतिकूल जा रहे हैं, न्यायानुकूल नहीं है। भारत ने जो सबसे बड़ी गलती की थी वह जनता को राजनैतिक वातावरण से बिल्कुल अलग रखना था। इसका फल यह हुआ कि बड़े-बड़े राजनैतिक परिवर्तन हो गए और जनता ने किसी प्रकार का भाग न लिया। भारत फिर वही गलती न करेगा। वह इतने दिनों के अनुभव से समझ गया है कि अच्छे से अच्छा शासन-विधान यदि प्रजा की सामूहिक इच्छा पर आधारित नहीं है, यदि प्रजा का उसके बनाने में कोई भाग नहीं है, तो वह प्रजा से कोई सहायता पाने की आशा नहीं रख सकता। वह बेबुनियाद की दीवार है जो आंधी के पहले ही झोंके में जमींदोज़ हो जायगी। प्रजा में राजनैतिक चेतना लाना भारत का पहला कर्त्तव्य है। उसने बड़े कड़वे अनुभव से अपनी यह गलती मालूम की है और इसका सुधार करने की चेष्टा कर रहा है। प्रजा में चेतना आ जाने के बाद वह स्वयं अपने अधिकारों की रक्षा करना सीख जायगी। इसलिए कांग्रेस के सामने प्रतिनिधि शासन का ही आदर्श है। वह निर्वाचनाधिकार को अधिक से अधिक विस्तृत रूप देना चाहती है। वह जायदाद का या शिक्षा की कोई कैद नहीं रखना चाहती। अगर कांग्रेस ने या जनपक्ष ने विजय पाई तो प्रतिनिधि-शासन के सिवा वह किसी दूसरी व्यवस्था की कल्पना ही नहीं कर सकती, क्योंकि वह बाधाएं जो रूस या फ्रान्स में थीं यहां पहले से उनका अंत हो चुका है। पूंजीपतियों का यहां अभी न इतना जोर है और न आगे होने की संभावना है कि वह इंग्लैंड या अमेरिका की भांति जनमत पर अधिकार करके उसे साम्राज्यवाद का रूप दे दें।

इंग्लैंड का प्रभुत्व तो स्वयं भारतीय परंपरा के प्रतिकूल है। भारत में ऐसी कोई व्यवस्था कभी नहीं आयी कि किसी जाति ने दूसरे देश से उस पर शासन किया हो, और सदैव स्वदेशवासियों के हक छीनकर अपने देश वालों को ही पुरस्कृत किया हो। यह प्रणाली भारतीय परंपरा के सर्वथा विरुद्ध है। प्रतिनिधि-शासन स्वाभाविक वस्तु है। कौन नहीं चाहता कि वह अपने घर का स्वामी रहे। अगर वह भारत में बाहर की चीज़ समझी जाती है तो यह साम्राज्यवादी शासन सरासर अस्वाभाविक होने पर भी कैसे भारत के अनुकूल हो जाता है, यह हमारी समझ में नहीं आता। फिर भी हमारे शासक इसी अस्वाभाविक वस्तु को नए-नए बहाने से निकालकर चिरस्थाई बनाने की चेष्टा कर रहे हैं और संसार को इस भ्रम में डालकर कि पतिनिधि शासन भारत की आत्मा के विरुद्ध है, एक

ऐसी व्यवस्था की रचना कर रहे हैं, जिसमें भारत इंग्लैंड का मजदूर मात्र रह जाता है।

[संपादकीय। 'जागरण', 21 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

भीषण सत्य

भारत के डॉक्टरी विभाग के डाइरेक्टर जेनरल साहब ने ग्रामीणों के स्वास्थ्य के विषय में अपने मातहत डॉक्टरों से जांच कराई थी। उनकी रिपोर्ट पर आपने जो सम्मति प्रकट की है, वह हमारे लिए तो कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती, शायद सरकार बहादुर को उसमें कुछ काम की बातें मिल सकें। आपको अब पता चला है कि भारत में 39 फीसदी पेट भर, 32 फीसदी आधे पेट और 20 फीसदी भुक्खड़ हैं। आपका यह भी ख्याल है कि जांच करने वाले हिन्दुस्तानी थे, इसलिए उन्होंने जीवन का बहुत ही निम्न आदर्श अपने सामने रखा था। यदि यही जांच योरोपियन डॉक्टर करते, तो नतीजा इससे भी निराशाजनक होता। यही नहीं कि गरीबों को भोजन कम मिलता है। जो कुछ मिलता है वह पुष्टिकारक नहीं है। उस पर जनसंख्या भी दिन-दिन बढ़ती जाती है। नया काम कोई नहीं निकला। थोड़े से कारखाने ज़रूर खुले हैं, पर आबादी में जो वृद्धि हुई उसका बहुत थोड़ा हिस्सा उन कारखानों में खप सका। जमीन पर जो बोझ पहले था, वह और बढ़ गया। इसका नतीजा यह होगा कि आपके शब्दों में--

'साधारण जनता को ही जीवन के कठोर संग्राम का सामना न करना पड़ेगा, बल्कि संपन्न श्रेणी वालों को भी कठिनाइयां झेलनी पड़ेंगी, जिनकी गुजर फसलों की बचत पर होती है। अगर भूमि की सारी उपज किसानों की ही जरूरतों के लिए काफी न होगी, तो लगान कहां से आएगा, जरूरत की दूसरी चीजें खरीदने के लिए पैसे कहां से आएंगे, रेल के टिकट कैसे बिकेंगे। भारत का सारा सामाजिक जीवन अगर नष्ट न हो गया, तो उसमें भूकंप अवश्य आ जायगा।''

कितने भयंकर शब्द हैं ।। और यह किसी कांग्रेसी प्रोपागेंडिस्ट की राय नहीं है। भारत के डॉक्टरी विभाग के डाइरेक्टर जेनरल की। हमारे नेता और विचारक गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रहे हैं कि देश की हालत खराब है, शासन का खर्च घटाने की, लगान कम करने की, करैंसी में सुधार करने की प्रार्थना की जाती है, पर वह सब पोलिटिकल चाल समझी जाती है। वास्तव में देश की जो दशा है वह इससे कहीं खराब है। गांवों में मुश्किल से सौ में पांच आदमी ऐसे मिलेंगे, जो पेट भर भोजन पाते होंगे, और वह भी या तो महाजन होंगे या अन्य कर्मचारी। ऐसे दरिद्र देश के हुक्काम संसार में सबसे बड़े वेतनभोगी हों, यह अंधेर नहीं तो क्या है।

[संपादकीय। 'जागरण', 21 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

महात्मा गांधी फिर अनशन कर रहे हैं

महात्मा गांधी ने सरकार से प्रार्थना की थी कि जेल में उन्हें पूर्ववत् हरिजनों के उद्धार का काम करने की स्वाधीनता दी जाय। सरकार ने कुछ शर्तों के साथ महात्मा जी की प्रार्थना स्वीकार कर ली है। हमें आशा है कि सरकार ने ऐसी शर्तें न लगाई होंगी, जो मुख्य काम में बाधक होने के कारण महात्मा जी को संतुष्ट न कर सकें। अगर अबकी महात्मा जी ने फिर अनशन किया, तो उनका जीवन संकट में पड़ जायगा, और हमें विश्वास है, सरकार सब कुछ होने पर भी इतना बड़ा कलंक लेना पसंद न करेगी। राष्ट्र की दृष्टि में महात्माओं की यह प्रार्थना सर्वथा न्यायानुकूल है। यह ऐसा काम है, जिसे उनके सिवा कोई दूसरा नहीं कर सकता और सरकार इस शुभ कार्य में उन्हें सहयोग देकर संपूर्ण राष्ट्र की कृतज्ञता प्राप्त कर लेगी। अगर उसने ज़ाब्ते और दफ्तरी उलझनों के कारण उनकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी तो जनता में वह असंतोष होगा, जो एक हजार आर्डिनेंसों से भी न होगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 21 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार बंद कर दो

'फोर्टनाइटली रिविउ' विलायत का प्रतिष्ठित पाक्षिक पत्र है। उसमें एक अंग्रेज अर्थशास्त्री ने यह विचार प्रकट किया है कि वर्तमान मंदी का मुख्य कारण अंतर्राष्ट्रीय व्यापार है। अगर हरेक देश अपनी अपनी जरूरत भर की चीजें बनाए तो उसे क्या अपने फालतू माल की खपत के लिए अन्य देशों में ढूढ़ना पड़े, क्यों एक्सचेंज और करेंसी के झगड़े खड़े हों, क्यों आपस में प्रतियोगिता बढ़े, क्यों इतने जहाज बढ़ें और क्यों इन जहाजों की रक्षा के लिए सैनिक जहाज रखने पड़ें, क्यों आए दिन लड़ाइयां खड़ी हों, और क्यों आए दिन निरर्थक सम्मेलनों पर प्रजा का धन नष्ट हो। प्रस्ताव तो लाख रुपये का है, पर कुबेर के उपासक और साम्राज्य के भक्त योरोपियन व्यापारी भला कब मानने लगे। उन्हें तो धन चाहिए, धन के लिए माल की खपत होनी जरूरी है, और माल की खपत के लिए निर्बल देशों का होना लाजिम है। माल की खपत तो पश्चिमी संस्कृति का मूल तत्त्व है भला इसे वह कैसे छोड़ दें। मगर ऐसा मालूम होता है कि ईश्वर ने अब संसार की समस्याओं पर ध्यान देना शुरू कर दिया है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार अब एक बटा तीन मात्र रह गया है। और यह मात्रा भी दिन दिन घटती जाती है। सभी राष्ट्रों के विरुद्ध अपने अपने द्वार बंद कर रहे हैं। दूसरों के माल पर सौ-सौ फीसदी चुंगियां लगाई जा रही हैं। इससे साफ जाहिर है कि इस लेखक ने जो प्रस्ताव किया है, वह परिस्थिति को अच्छी तरह देखकर किया है। कहीं ऐसा हो जाय, तो भारत मूसलों ढोला बजावे। हां, इंग्लैंड के लिए वह पतन का दिन ही होगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 28 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

गेहूं सम्मेलन

आजकल इंग्लैंड में गेहूं पैदा करने वाले देशों के प्रतिनिधि बैठकर इस समस्या को हल करने की चेष्टा कर रहे हैं कि गेहूं का दाम कैसे चढ़ जाय। एक विद्वान् का तो यह कहना है कि आजकल संसार में जो मंदी व्याप रही है उसका कारण गेहूं की कसरत से पैदावार है। उनके कथनानुसार सन् 27, 28, 29 में इतनी इफरात से संसार में गेहूं पैदा हुआ, कि मनुष्य जाति के खाये न खाया गया। एक साल की पैदावार चुकने न पाती थी कि दूसरी फसल पहली से भी ज़्यादा ठसाठस पैदा हो जाती थी। संसार में इतना गेहूं जमा हो गया कि 1930 आते-आते उसका दाम और गिर गया उसी के कारण संसार-व्यापक मंदी ने डेरा जमा लिया। अब गेहूं की खेती में कमी करके पैदावार कम करने का प्रस्ताव हो रहा है। हमें यह सब सुनकर विस्मय होता है। खाने की चीज़ भी इतनी इफरात से हो सकती है कि उसकी पैदावार कम की जाय, हमें इस पर विश्वास नहीं आता। जिस देश के अस्सी फीसदी निवासी साल के तीन सौ साठ दिनों में आधे और चौथाई पेट खाकर दिन काट देते हों, उसे इस पर विश्वास आ ही कैसे सकता है। अगर गेहूं ऐसा ही अजीरन हो रहा है और मारा-मारा फिर रहा है, तो करोड़, दो करोड़ टन भारत क्यों नहीं भेज दिया जाता? यहां के भूखे खाकर गेहूं के व्यापारियों को कोटि-कोटि धन्यवाद देंगे। पैदावार में कमी करना तो हमें किसी सिद्धांत से भी मुनासिब नहीं मालूम होता। बस गेहूं के विशेषज्ञ को यही निश्चय करना चाहिए कि साल के अंत में जितना गल्ला बच रहे, वह जहाज़ों पर लादकर भारत भेज दिया जाय। फिर एक महीने में तेज़ी न हो जाय, तो हमारा ज़िम्मा। गेहूं बेचारे पर इतना बड़ा लांछन लगाना कि उसी के कारण संसार का व्यापार मिट्टी में मिला जा रहा है, बड़ा अन्याय है। मगर नहीं, इसी गेहूं ने हज़रते आदम को जन्नत से निकलवाया था, इसलिए अब हम उसे दुनिया से निकालकर उसको उस शरारत का मज़ा चखा देंगे। पश्चिम के अर्थशास्त्रियों की निराली अर्थनीति की बलिहारी।

[संपादकीय। 'जागरण', 28 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

दि न्यू इंश्योरेंस लिमिटेड

भारत में इस समय लगभग 110 भारतीय बीमा-कंपनियां काम कर रही हैं। विदेशी बीमा-कंपनियों की संख्या केवल 20 है। प्रतिवर्ष, भारत में साढ़े सत्ताइस करोड़ रुपये का काम होता है। भारत-सरकार की सबसे ताज़ी सूचना के अनुसार, साढ़े सत्ताइस करोड़ रुपये के काम में से केवल 15 2/3 करोड़ रुपये का काम भारतीय कंपनियों को मिलता है। विदेशी कंपनियों के अनुपात में भारतीय कंपनियां कितना कम काम कर सकती हैं तथा भारत का कितना रुपया विदेशों में बह जाता है, यह बात इसी उदाहरण से स्पष्ट है। अत: यह लिखने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं कि भारत

का एक पैसा भी बीमे के नाम पर विदेश जाना बड़े कलंक की बात है। हमें हर्ष तथा संतोष है कि इस दिशा में भारतीय पर्याप्त प्रयत्न कर रहे हैं कि उनका रुपया बाहर जाना रुक जावे। किंतु, भारत का बीमे का व्यवसाय अभी तक पर्याप्त रूप से उन्नत नहीं है तथा उसमें अभी तक वे विशेषताएं और सुगमताएं नहीं लाई जा सकी हैं, जिनकी नितांत आवश्यकता है। बीमा कराने वाले के पूर्ण हित का विचार करना, उसके लिए हर प्रकार की सुविधा देना, अशक्त तथा असमर्थ हो जाने पर उसकी पॉलिसी को ज़ब्त न कर लेना, उसके आर्थिक कष्टों में उसकी सहायता करना–ये सब बड़ी आवश्यक बातें हैं। इसके साथ ही ज़रूरत यह भी है कि भारत में जो भी कंपनी खुले, वास्तव में भारतीय हो, उसका रुपया विदेशों में न जाता हो, उसके रुपये से भारतीय व्यवसाय को पूरी सहायता मिलती हो।

हमें हर्ष है कि उपर्युक्त आवश्यकताओं की अधिक समुचित पूर्ति के पवित्र उद्देश्य को लेकर ही भारत में एक नई बीमा-कंपनी खुली है। इसका नाम 'न्यू इंश्योरेंस लिमिटेड' है, और हम काशी वालों के लिए यह गर्व की बात है कि इसका प्रधान कार्यालय काशी में है। कलकत्ता, बंबई आदि नगरों को बीमे के व्यवसाय से बड़ा लाभ हुआ है। बीमा कंपनियों के प्रधान कार्यालयों का केंद्र होने के कारण इन दोनों महानगरों की बड़ी उन्नति हुई है, अतएव इस कंपनी से काशी का बड़ा हित होगा। बहुत जल्द इसका भवन बनेगा--इससे नगर की शोभा बढ़ेगी। अनेकों नागरिकों की रोटी चलेगी और नगर के व्यापार को सहायता मिलेगी। इसलिए काशीवासियों को इस कंपनी की सहायता करनी चाहिए और इसे अपनी ही समझना चाहिए।

जहां तक हमें मालूम है, भारत-सरकार के बीमा-कानून की बंदिशों के कारण बीमा-कंपनी में रुपया लगाना किसी प्रकार का जोखिम उठाना नहीं है। अतएव इस कंपनी का नया होना इसके कार्य में किसी प्रकार बाधक नहीं होना चाहिए। कंपनी की दृढ़ता में तो किसी प्रकार की शंका हो ही नहीं सकती। जिस कंपनी के अध्यक्ष श्रीयुत घनश्यामदास जी बिड़ला हों, तथा सी॰ वाई॰ चिन्तामणि, राय गोविन्दचन्द ऐसे डाइरेक्टर हों, जिसका संस्थापक पं॰ गोविन्द मालवीय ऐसा देशभक्त व्यक्ति हो तथा जिसके मैनेजर बीमा-जगत् के अनुभव-प्राप्त श्री एल॰ एस॰ कपिल हों, उसके कार्य की सुदृढ़ता, उसके कर्त्तव्य की परिपक्वता तथा बीमेदार के हित का सुरक्षित रहना निश्चित है। बिड़लाजी व्यवसाय-जगत् तथा लोक-सेवा-जगत् के रत्नों में से हैं और हमें स्वयं आश्चर्य हो रहा था कि अभी तक वे किसी बीमा-कंपनी में क्यों नहीं शरीक हुए। पर अब यह देखकर संतोष होता है कि उन्होंने अपना कर्त्तव्य इतने अच्छे रूप में निभाया कि हमारे नगर की एक बीमा-कंपनी के अध्यक्ष हो गए और इस बीमा-कंपनी के डाइरेक्टर-बोर्ड को देखकर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह कंपनी केवल काशी की नहीं, समूचे भारत की है। यह काशी या युक्तप्रांत का नहीं, समूचे भारत का कल्याण करेगी।

कंपनी की किस्तों की तालिका हमने देखी है। जनता को व्यर्थ आकर्षित करने के लिए न तो उन्हें बहुत कम रखा गया है, न मुनाफे के लोभ से अधिक। इसके

अलावा मासिक किस्त देने वालों के साथ भी वही रियायत की गयी है, जो वार्षिक वालों के साथ। किस्त पटाने के रियायती दिन भी समान हैं और सबको सुविधा देने वाले हैं। पॉलिसियां बंधन-रहित, सार्वभौमिक हैं। बच्चों तथा कन्याओं की शिक्षा और शादी-ब्याह के लिए बड़ी सुविधाजनक दरों में बीमा हो सकता है। सब कंपनियां अगली वर्ष-गांठ से उम्र जोड़ती हैं। यह मौजूदा उम्र से जो वर्ष-गांठ अधिक निकट हो, वही जोड़ेगी। इससे बीमेदार का बड़ा लाभ होता है। पॉलिसी को डूबने से बचाने के लिए ऋण, मकान बनवाने या अपाहिज हो जाने पर भी रुपया या पेंशन पाते रहने की पूर्ण सहूलियतें हैं। डूबती हुई पॉलिसी को स्वतः जारी रखना, दुर्घटना हो जाने पर बीमे की दुगुनी कीमत देना, तथा अंतिम तालिका में बीमेदार को तिगुने लाभ का बीमा करना–ये सब बड़ी विशेषताएं हैं।

कंपनी ने अपने कार्य में सबसे सहयोग तथा सहायता की प्रार्थना की है–और हम भी कंपनी की इस प्रार्थना को दुहराते हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 28 अगस्त, 1933 मे प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 म संकलित।]

पंद्रह दिनों में मक्का की फसल

जर्मनी के एक वैज्ञानिक ने एक ऐसा चमत्कारिक मंत्र खोज निकाला है, जिससे मक्का और अन्य चीजें, जो साधारणतया तीन-चार महीनों में तैयार होती हैं, केवल पंद्रह दिनों में तैयार की जा सकती हैं और अनाज ज़्यादा मोटा, ज़्यादा पौष्टिक, ज़्यादा स्वादिष्ट होता है। सुना जाता है कि उसने बहुत से वैज्ञानिकों के सामने अपना आविष्कार सिद्ध भी कर दिया है। यह नहीं मालूम हुआ है कि खर्च में पहले से कितनी वृद्धि होगी। इस आविष्कार का सारा महत्त्व उसके सस्तेपन में है। अगर इस कसौटी पर वह पूरा उतर जाय, तब तो संसार में भोजन की समस्या ही न रहेगी। गरीब भारत भी दोनों जून डटकर भोजन करेगा। भगवान् करे वह वैज्ञानिक जल्द से जल्द अपने प्रयोग का प्रचार करे।

[संपादकीय। 'जागरण', 28 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

भारत में लाल-साहित्य

भारत सरकार यह नहीं चाहती कि भारत में लाल पर्चों का, लाल-साहित्य का अर्थात् सशस्त्र क्रांति की सीख देने वाले वर्गवादी साहित्य का, संक्षेप में रूसी बोलशेवी साहित्य का प्रचार हो। लाल-क्रांति को हम भी नहीं चाहते, पर लाल-साहित्य किसे कहते हैं तथा किसे पढ़ने से हमारा दिमाग फिर सकता है, यह हम नहीं जानते। यही बात भारत के प्रमुख पुस्तक-विक्रेता श्री एस॰ बी॰ तारापोरवाला एंड संस भी नहीं जानते। इसीलिए उन्होंने भारत सरकार को एक पत्र लिखकर पूछा था कि वह कौन

सी पुस्तकों को 'लाल' समझती है ताकि वे उन पुस्तकों की सूचना समाचार-पत्रों द्वारा हमें–जनता को दे सकें पर भारत सरकार की ओर से जो उत्तर दिया गया है, उससे तो यही स्पष्ट है कि वह स्वयं इस विषय में कोई निश्चय नहीं कर सकी है। उसे स्वयं कोई नीति निर्धारित करने में कठिनाई है। भारत सरकार तो यह कहकर उत्तर दे सकती है, पर भारत के पत्रकार तथा पुस्तक-विक्रेता क्या करें। वह नए कानून के अनुसार हरेक पत्र से किसी ऐसे पुस्तक का अंश छापने के लिए जो अभी तक बाजार में बिक रही थी तथा सब लोग पढ़ रहे थे, जमानत तलब कर सकती है। वह उस अंश को, उस पुस्तक को ही गैरकानूनी या उत्तेजक समझ सकती है। पुस्तक विक्रेता भी उत्तेजक साहित्य रखने का अपराधी हो सकता है। यह बड़ी विषम समस्या है, जिसके विषय में सरकार को अपनी नीति स्पष्ट कर देनी चाहिए

[संपादकीय। 'जागरण', 28 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

मध्य प्रांत में आबकारी से आमदनी

कभी दरिद्रता से भी कुछ उपकार हो जाता है–और इस उपकार का सबसे ताजा सबूत मध्य प्रांत के आबकारी विभाग की नई रिपोर्ट देखने से मिल जाता है। 1925 में इस महकमे में सरकार की जितनी आमदनी हुई थी, उससे एक करोड़ रुपये कम यानी पांच हजार सात सौ तैंतालीस लाख रुपये की आमदनी इस साल हुई–यह भी उस दशा में जब सरकार ने एक नए क्षेत्र में भी ठर्रे की बिक्री की इजाज़त दे दी थी। अवश्य इसका कारण दरिद्रता है, पर यह संतोष की बात होगी, यदि जिन दरिद्रों ने इस व्यसन को छोड़ दिया है, वे इसे फिर से न अपनाएं।

आबकारी के मामले में इस साल सबसे अधिक मुकदमे चलाए गए–यानी छः हजार आठ सौ छियानबे। आशा है मध्य प्रांत की सरकार इसी दृढ़ता से काम लेगी।

[संपादकीय। 'जागरण', 28 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

महात्मा जी की रिहाई

भारत सरकार ने महात्मा जी को अनशन के आठवें दिन छोड़कर उचित ही किया। खेद यही है कि उसने ऐसा करने में अनुचित विलंब किया तथा कुछ दिनों तक व्यर्थ ही लोकापवाद सहती रही। आशा है श्री देवदास गांधी के विषय में गवर्नमेंट इसी न्याय से काम लेगी। जो यह आश्वासन देने पर भी यह देहली में असहयोग का प्रचार करने नहीं आए हैं, उन्हें सजा देना ही उचित समझा।

[संपादकीय। 'जागरण', 28 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

मालवीय जी को चुनौती

महामना पं० मदनमोहन मालवीय ने बंगाल की पुलीस पर यह अभियोग लगाया था कि उसने 47वीं अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशन के समय एकत्रित प्रतिनिधियों तथा हवालात में बंद प्रतिनिधियों और अधिवेशन के समय उपस्थित दर्शकों पर बड़ी बर्बरता का प्रहार किया था। बंगाल, भारत तथा लंदन की सरकार ने इन अभियोगों को झूठा बतलाया है। अभी हाल ही में इस विषय में एसेंबली में जो प्रश्नोत्तर हुए हैं, उनसे पता चलता है कि सरकार न तो अभियोग स्वीकार करती है और न उसकी स्वतंत्र जांच कराना चाहती है। यह नीति हमारी समझ में नहीं आती।

[संपादकीय। 'जागरण', 28 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

राहु के शिकार

साल में दो-चार बार सूर्य और चन्द्र पर राहु के हमले होते हैं, पर जिन पर हमले होते हैं, उनका तो बाल भी नहीं बांका होता, हां, सौ-दो सौ आदमियों पर उनका क्रोध उतर जाता है। जिस पेट में सूर्य और चन्द्र को निगल जाने की शक्ति है, वह तो भूमंडल के निवासियों को इस तरह चटकर सकता है जैसे ऊंट के मुंह में जीरा। सौ-दो सौ को ही निगलकर वह संतोष कर लेता है, यह उसकी भलमनसी है। ग्रहण स्नान और सोमवती स्नान और लाखों तरह के स्नानों की बला हिन्दुस्तान के सिर से कभी टलेगी भी या नहीं, समझ में नहीं आता। आज भी संसार में ऐसे अंधविश्वास को गुंजाइश है तो भारत में। अब भी करोड़ों आदमी यही समझते हैं कि सूरज भगवान् और चन्द्र भगवान् पर संकट आता है और उस संकट पर गंगा-स्नान करना प्रत्येक प्राणी का धर्म है। कितने अच्छे-खासे पढ़े-लिखे लोग भी इतनी आस्था में गंगा में डुबकियां लगाते हैं, मानो यह स्वर्ग-द्वार हो। लाखें आदमी अपनी गाढ़े पसीने की कमाई खर्च करके, धक्के खाकर, पशुओं की भांति रेल में लादे जाकर, रेले में जानें गंवाकर, नदी में डूबकर स्नान करते हैं, केवल अंधविश्वास में पड़कर। कितने बच्चे और स्त्रियां खो जाती हैं, कितनी गुंड़ों के हथकंडों का शिकर हो जाती हैं, कितनों के गहने नुच जाते हैं, इसका हाल तो देव ही जाने। पुराने जमाने में जब लोग पैदल यात्रा करके स्नान करने जाते थे, तो इस यात्रा का कुछ महत्त्व भी था। मार्ग में बहुत कुछ अनुभव हो जाता था। नदियों के तट पर धर्मोपदेश सुनने का अवसर मिल जाता था। अब वह सब तो कुछ न रहा, केवल पैसे गंवाकर भांति-भांति का कष्ट सहना रह गया है। अगर धनी लोग ही यह पुण्य लूटने आते, तो कोई बात न थी। रोना तो यह है कि अधिकतर दरिद्र ही आते हैं, महाजन से रुपये कर्ज लेकर या चोरी से रेल में बैठकर। न जाने यह मिथ्या धर्म भारत का गला कब छोड़ेगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 28 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

रूस में समाचार-पत्रों की उन्नति

रूस के सिवा समस्त संसार पर पूंजीपनियों का राज्य है और समाचार-पत्रों को भी पूंजीपतियों का रोग अलापना पड़ता है, नहीं उनका दीवाला निकल जाय। अधिकांश पत्र तो पूंजीपतियों के ही धन से चलते हैं। इसलिए रूस के सोवियत शासन को काले से काले रंगों में रंगने की चेष्टा की जाती है और सिद्ध किया जाता है कि अब वह बहुत जल्द रसातल में पहुंचना चाहता है। पर रूस इतनी हवाई गति से उन्नति कर रहा है कि इन समाचार-पत्रों को भी कभी-कभी इस उन्नति को दबा रखना कठिन हो जाता है। शिक्षा-प्रचार म इन दस-बारह बरसों में उसने जो तरक्की की है, उस पर सारा संसार दांतों तले उंगली दबा रहा है। अभी तक समझा जाता था कि सिनेमा क्षेत्र में अमेरिका सबसे आगे है। पर अब मालूम हुआ कि संसार के कुल साठ हजार सिनेमाघरों में सत्ताईस हजार केवल रूस में हैं। अमेरिका में चौबीस हजार हैं। शेष नौ हजार में सारा संसार है। एशिया में एक हजार से अधिक नहीं। लोहे की चीज़ों में, बिजली के प्रसार में, खेती वृद्धि में वह बड़े वेगसे कदम बढ़ाता जा रहा है। अब ज्ञात हुआ कि उसने सोवियट-काल में समाचार-पत्रों में अश्रुपूर्व उन्नति की है। महायुद्ध के पहले रूस में कुल आठ सौ छप्पन पत्र थे, जिनकी ग्राहक संख्या सत्ताईस लाख थी, आज वहां चौवन सौ पत्र छपते हैं और ग्राहक संख्या तीन करोड़ अस्सी लाख है। अगर कागज़ का अभाव न होता, तो इससे भी अधिक प्रचार होता। कई पत्रों का प्रचार तो बीस लाख है। और उन चालबाजियों का नाम भी नहीं है, जो अन्य देशों के पत्र प्रतिद्वन्द्विता के कारण अपनी ग्राहक-संख्या बढ़ाने के लिए करते हैं। सनसनी फैलाने वाली खबरें, चोरी, बलात्कार आदि की घटनाएं, तेजी, मंदी और मिल के हिस्सों की नोटिसें और शब्द जाल और पहेलियां, फैशन और समाज के चुटकुले, उन पत्रों में नज़र नहीं आते। तलाक, जिना आदि की खबरें छपने नहीं दी जाती। हां, अंतर्राष्ट्रीय समाचारों पर काफी ध्यान दिया जाता है। यहां तक कि विदेशी भाषाओं के पत्रों का प्रचार भी एक करोड़ से कम नहीं। इन प्रमाणों के सामने कौन कह सकता है कि सोवियत शासन बौद्धिक और सांस्कृतिक उन्नति में उन्नत से उन्नत राष्ट्र से भी पीछे है।

[संपादकीय। 'जागरण', 28 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

लखनऊ विश्वविद्यालय

इस साल लखनऊ विश्वविद्यालय ने कानून के विद्यार्थियों की सालाना फीस में पच्चीस रुपया की वृद्धि कर दी है। कानूनी क्लास से पहले भी काफी बचत हो जाती थी, पर वह बचत काफी नहीं समझी गई। मगर एक तरह से उस विद्यालय ने अच्छा ही किया। कानून में अब नए वकीलों की जगह नहीं है। कुछ तो इस बाढ़ को रोकने के लिए करना ही चाहिए। हमारी राय में यदि सौ रुपया साल की वृद्धि कर दी

जाती तो कुछ नतीजा निकलता। पच्चीस रुपया तो विद्यार्थी कहीं-न-कहीं से लाकर दे ही देंगे। और सब चीज़ें मंदी हो रही हैं। कोई चीज़ तो तेज रहे। शिक्षा को तेज कर देना बड़ी सुगम नीति है। लखनऊ विश्वविद्यालय को चाहिए कि सभी विभागों में फीस दुगनी कर दे। इससे उसकी आमदनी बहुत कुछ बढ़ जायगी। सरकार भी तो खर्च कम न करके बढ़ाने के फिक्र में रहती है। विद्यालय उसी सरकार का एक अंग तो है।

[संपादकीय। 'जागरण', 28 अगस्त, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 संकलित।]

आतंकवाद का उन्मूलन

आतंकवाद को नष्ट करने के संबंध में विचार करने के लिए कलकत्ते के कुछ चुने हुए व्यक्तियों की एक सभा हुई थी। उसमें सर्वसम्मति से एक प्रार्थनापत्र तैयार किया गया है, जो सरकार के पास भेजा जाएगा। सभा करने वालों का अभिमत है कि जनता की राय को संगठित किए बिना आंतकवाद नष्ट नहीं किया जा सकता। साथ ही एक बात और भी महत्त्वपूर्ण कही गई है, वह यह है कि आतंकवाद का मूल कारण बेकारी है। निस्संदेह सभा की राय सोलहों आना सच है। 'मरता क्या न करता'। जब बंगाल का युवक अपना घर फूंककर उच्च शिक्षा के नाम पर बी० ए०, एम० ए० पास करता है और उसे उसके इस कठोर परिश्रम और सर्वस्व-स्वाहा का फल बेकारी और अपनी साधारण से साधारण आवश्यकताओं को पूर्ण करने की असमर्थता में मिलता है, तो उसे अपने जीवन से निराशा हो जाती है, वह पागल हो जाता है, उसके हृदय में विद्रोह अग्निक्रीड़ा करने लगता है।

वह सोचता है - क्या करूं? जीवन कैसे बिताऊं? क्या मुझे मेरे परिश्रम का यही फल मिलना चाहिए था? मेरे सहस्रों रुपयों के बलिदान का पुरस्कार यही बेकारी है? वह आंतकवादी बन जाता है। इसके सिवा उसके लिए जीवन को बिताने का कोई मार्ग नहीं है। इस तरह बेकारी ही आंतकवाद का मूल कारण है। जब तक बंगाल सरकार बेकार युवकों को काम नहीं देती, उन्हें अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के साधन नहीं बतलाती, तब तक वह चाहे कितने ही कठोर से कठोर और घातक कानून बना दे, कितनी ही दमननीति से काम ले, आतंकवाद के शमन में सफल नहीं हो सकती। आज भारतवर्ष के द्वारा समस्त योरोप अपने खजाने भर रहा है, जापान अपनी जेबें गरम कर रहा है। सभी मालामाल हो रहे हैं और भारतीय बच्चे भूखे तड़प रहे हैं। वे अपने ही देश में सुखी नहीं रह सकते, उनको परिश्रम करके जीवन बिताने का ठिकाना भी नहीं है। फिर वे क्यों न आतंकवादी बन जाएं, क्यों न वे विद्रोही हो जाएं? सरकार स्वयं उन्हें विद्रोह बनने का अवकाश दे रही है। अगर वह सच्चे हृदय से चाहती है कि आतंकवाद नष्ट हो जाए, तो जितनी भी जल्द हो सके उसे उनकी बेकारी का इलाज करना चाहिए। आतंकवाद को दूर करने का यही सच्चा मार्ग है।

[संपादकीय। 'हंस', सितंबर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

पं० बनारसीदास जी से दो पत्र

'सरस्वती' के यशस्वी संपादक ठाकुर श्रीनाथसिंह ने जिस व्यक्ति का नकली और फर्ज़ी इंटरव्यू छापकर उन्हें बदनाम करने की कोशिश की थी, उन्हीं पं० बनारसादास जी के दो पत्र यहां प्रकाशित किए जा रहे हैं, जिनसे पाठक अनुमान कर सकेंगे कि चतुर्वेदी जी उसी रूप-रंग के आदमी हैं, जैसा 'सरस्वती' के इंटरव्यू कला-सिद्धांत-चूड़ामणि ठाकुर श्रीनाथसिंह ने दिखाने की चेष्टा की है या कुछ और। ये पत्र चतुर्वेदी जी ने प्रयाग के पं० सुन्दरलाल के पास, 'सरस्वती' का वह यादगारी लेख पढ़ने के बाद लिखे थे। ये पत्र फर्जी या नकली नहीं हैं, हम ठाकुर साहब को इसका विश्वास दिलाते हैं। पाठक देखेंगे कि इन पत्रों में कहीं कटुता या क्रोध का, या प्रतिहिंसा का एक शब्द नहीं है। चतुर्वेदी जी की सरल, सच्ची, द्वेषरहित आत्मा उनके एक-एक शब्द में प्रस्फुटित हो रही है। नहीं कहा जा सकता अगर चतुर्वेदी जी की जगह हमारे ठाकुर साहब होते, तो कैसे पत्र लिखते? हां, हम उसका कुछ अनुमान कर सकते हैं। ठकुराई की ठसक के साथ ब्रह्म-तेज का संयोग खुदा जाने क्या ग़ज़ब ढाता है? खै़रियत यही हुई कि चतुर्वेदी चतुर्वेदी हैं और ठाकुरसाहब ठाकुर। हमें आशा है, बनारसीदासजी इन पत्रों के छापने के लिए हमें कोई बहुत कड़ा दंड न देंगे। श्रीनाथसिंह जी की तरह की बातें तो हम बर्दाश्त कर सकते हैं, लेकिन चौबे को इच्छापूर्ण भोजन कराना हमारे मान की बात नहीं, क्योंकि ठाकुर साहब को यह सुनकर प्रसन्न होना चाहिए कि हमारी आर्थिक दशा उतनी अच्छी नहीं है, जितनी चुतर्वेदी जी की।

(यहां चतुर्वेदी जी के पत्र उद्धृत नहीं किए गए है।)

[संपादकीय। 'हंस', सितंबर, 1933 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

पुस्तकालय आंदोलन

हाल में कलकत्ते में पुस्तकालयों को संगठित करने और भारत में एक पुस्तकालय संघ स्थापित करने के विचार से एक जलसा हुआ है। पुस्तकालय का राष्ट्र के जीवन में क्या स्थान है, यह लिखने की जरूरत नहीं। इतना ही कह देना काफी है कि वह विद्यालयों से कहीं महत्त्वपूर्ण है और उनसे कहीं कम खर्च और उसके साथ ही कहीं बालानशीन। अगर कोई इस बात की खोज करे कि अब तक विद्यालयों ने ज्यादा महापुरुष पैदा किए या पुस्कालयों ने, तो शायद बाजी पुस्तकालयों ही के हाथ रहेगी। आज भी संसार के महान् व्यक्तियों में अधिकांश वही हैं, जिन्होंने पुस्तकालयों के विद्यालयों में शिक्षा पाई। भारत में पुस्तकालयों पर अभी तक बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया। दानवीरों की प्रवृत्ति विद्यालयों ही की ओर रही है और इसका नतीजा यह है कि जनता में नए-नए विचारों के प्रचार के सबसे अच्छे साधन से हम वंचित रहे। सरकार ने, न स्थानीय संस्थाओं ने इस ओर अग्रसर होने की

आवश्यकता समझी।

लेकिन जैसा मि० लीच विलसन ने पुस्तकालय सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए कहा–''पुस्तकों का एक स्थान पर संग्रह कर देना ही पुस्तकालय नहीं है। पुस्तकें स्वत: कुछ भी नहीं हैं। जब पुस्तकाध्यक्ष उन्हें चुनकर, उनका वर्गीकरण करके, उन्हें आकर्षक रूप से प्रदर्शित करता है, तभी पुस्तकालय का निर्माण होता है।'' यह बात हमारे पुस्तकालयों के अधिकारी अभी नहीं समझ सके हैं और इसीलिए समाज में पुस्तकाध्यक्षों का जो स्थान होना चाहिए, वह उन्हें प्राप्त नहीं हुआ। अधिकांश पुस्तकाध्यक्ष तो अपना कर्त्तव्य यही समझते हैं कि पुस्तकों की रक्षा करते रहें और पुस्तकों को जहां तक हो सके कम इशू करें नहीं वे खराब हो जाएंगी। उन्नत देशों में पुस्तकाध्यक्ष का पद अच्छे विद्वानों को दिया जाता है और इस पद को प्राप्त कर लेना गौरव की बात है। भारत में इस पद के लिए कोई ऐरा-गैरा उपयुक्त समझा जाता है। वह पुस्तक प्रेमियों को किसी तरह की सलाह नहीं दे सकता, न अपने पद के महत्त्व को समझता है। ज्यादा-से-ज्यादा वह अपना कर्त्तव्य यही समझता है कि आप जो पुस्तक मांगें, उसे निकलवा दें। आज जब तक इस पद पर सुयोग्य व्यक्तियों को न रखा जाएगा, थोड़े-बहुत जो पुस्तकालय मौजूद हैं, उनसे भी जनता को विशेष लाभ न होगा।' सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष के शब्दों में–

''कितने शोक की बात है कि हमारे कितने बालक अध्यापकों के आपत्तिजनक दुर्व्यवहार के कारण पुस्तकों की अरुचि के साथ विद्यालय से निकलते हैं। और यदि विद्यालयों में हमें योग्य और प्रकाशवान् अध्यापकों की जरूरत है, तो पुस्तकालयों में भी विचारशील और शिष्ट मनुष्यों की जरूरत है, जिन्होंने बहुत कुछ पढ़ा हो, जो पाठकों के सलाहकार बन सकें, किसी खास विषय पर अच्छी-से-अच्छी किताबों का चुनाव कर सकें और पाठकों में स्वाध्याय की प्रवृत्ति को पुष्ट कर सकें।''

[संपादकीय। 'हंस', सितंबर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

राजा राममोहन राय

राजा राममोहन राय का स्वर्गवास हुए सौ साल पूरे हो गए और देश में उनकी यादगार मनाने की तैयारियां हो रही हैं। हम भी उनकी स्मृति में अपनी श्रद्धा के पुष्प चढ़ाते हैं। राजा राममोहन राय भारत के ही नहीं, संसार के महान् पुरुषों में हैं और जब सच्चा सार्वदेशिक इतिहास लिखा जाएगा, तो संसार के प्रवर्त्तकों में उनका नाम भी लिया जाएगा। भारत में आज जो धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और साहित्यिक जागृति है, उसका सूत्रपात राजा राममोहन राय ने ही किया। हमारे राष्ट्रीय जीवन के हरेक अंग पर उनके महान् व्यक्तित्व की छाप लगी हुई है। हम उन्हें नवीन भारत का जन्मदाता कह सकते हैं। डाक्टर टैगौर के शब्दों में–''वह इस सदी के महान पथ निर्माता थे, जिन्होंने उन बाधाओं को हमारे रास्ते से हटा दिया जो हमारी प्रगति को रोके हुए थीं और हमें संसार-व्यापी सहयोग और मानवता के इस नवयुग में सम्मिलित

कर दिया। ऐसे महान् व्यक्तियों की कीर्ति अपनी अमरता से हममें जीवन का संचार करती है और हमारी यही कामना है कि उनका आदर्श अनंतकाल तक हमारी आंखों के सामने बना रहे।

[संपादकीय। 'हंस', सितंबर, 1933 में प्रकाशित। विविधि प्रसंग भाग-3 में संकलित।]

शिक्षा का नया आदर्श

अब तक संसार के सामने शिक्षा का जो आदर्श था, वह परंपरागत समाज-व्यवस्था की ही पूर्ति करता था। समाज पर अब तक व्यक्तिवाद की प्रमुखता रही है और हमारी शिक्षा-प्रणाली भी व्यक्ति का ही समर्थन करती थी। बचपन ही से व्यक्ति का विकास होने लगता है और युनिवर्सिटियों में जाकर पूरा हो जाता है। उस सांचे में ढलकर युवक आत्मसेवी, घोर स्वार्थी, मित्रता में भी स्वार्थ की रक्षा करनेवाला, पक्का उपयोगितावादी और घमंडी होकर रह जाता है। हमारी शिक्षा हमारी सामाजिक चेतना को नहीं जगाती, उसका उद्देश्य अपने फायदे के लिए समाज से काम निकालना है। समाज केवल इसलिए है कि उसे बढ़ने और संचय करने का अवसर दे। वही मनुष्य सफल समझा जाता है जो, समाज को खूब अच्छी तरह एक्सप्लाइट कर सके। व्यवस्था ही कुछ ऐसी है कि व्यक्ति को मजबूर होकर उसी लीक पर चलना पड़ता है, दूसरा कोई रास्ता नहीं है।

लेकिन समाज-व्यवस्था में बड़े वेग से क्रांति हो रही है। कम्युनिज्म का प्रचार हो या न हो पर समाज का आदर्श बदल गया है। भारत जैसे रूढ़ियों के गुलाम देश दस-बीस साल और परलोक-चिंतन में पड़े रहें लेकिन संसार समष्टि की ओर जा रहा है और सच पूछो तो समष्टिवाद की अनीश्वरता, जो हर आदमी के लिए समान अवसर की व्यवस्था करती है, जो किसी का जन्मसिद्ध या परंपरागत विशेष अधिकार नहीं मानती, ईश्वरता के कहीं निकट है। एकात्मवाद का प्रकट रूप इसके सिवा और क्या हो सकता है। मानवी सभ्यता का और धर्म का सबसे ऊंचा आदर्श 'संसार-व्यापी भाई-चारा' रहा है। आदि से हम उसी ओर जाने की चेष्टा कर रहे हैं और वही हमारा लक्ष्य है लेकिन या तो इसलिए कि हमें इतने महान् तत्त्व की यथार्थता पर कभी विश्वास ही नहीं हुआ या इसलिए कि इसे धर्म की आखिरी सीढ़ी मानकर हमने सोच लिया कि इसके आगे और कुछ हो ही नहीं सकता। हम आज भी इस आदर्श से उतने ही दूर हैं जितने कई हज़ार साल पहले थे। लेकिन समाज के सामने उससे ऊंचे आदर्श की सृष्टि नहीं हुई और आज भी भूमंडल की आत्मा उसी अनंत भविष्य की ओर आंखें उठाए देख रही है और अब धीरे-धीरे विचारवानों का मतैक्य हो जाता है कि इस आदर्श को प्राप्त करने के लिए हमें एक नई सृष्टि रचनी पड़ेगी अर्थात् बालक के लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा को एक सिरे से बदलना पड़ेगा, जिससे समाज में संघर्ष की जगह सहयोग की प्रवृत्ति जागे, लोग एक-दूसरे से सशंकित रहने के बदले विश्वास करें

और शक्ति का संचय इसलिए न करें कि उससे दूसरों पर आतंक जमाएंगे बल्कि इसलिए कि दूसरों की सहायता करेंगे। संसार में इस समय जिस शिक्षा-प्रणाली का व्यवहार हो रहा है, वह मनुष्य में ईर्ष्या, भय, घृणा, स्वार्थ, अनुदारता और कायरता आदि दुर्गुणों ही को पुष्ट करती है और वह क्रिया शैशव की अवस्था से ही शुरू हो जाती है। संपन्न माता-पिता अपने बालक का जरूरत से ज्यादा लाड़-प्यार करके और बड़े होने पर उसको दूसरे लड़कों से अच्छी दशा में रखने की चेष्टा करके उसे इतना निकम्मा बना देते हैं और उसकी बुद्धि को इतना परिवर्तित कर देते हैं कि वह समाज का खून चूसने के सिवा और किसी काम का रह ही नहीं जाता।

इस लिहाज़ से हमारे गुरुकुल आजकल के ईटन या हैरो या राजकुमार कालेजों से कहीं उत्तम थे, वहां सभी छात्र समान थे। इससे उसमें सार्वजनिकता का भाव पैदा होता था। अब पश्चिम के विचारकों को भी यह दिखाई देने लगा है कि जिस शिक्षा-प्रणाली को वे सदियों से गले लगाए हुए हैं, वह चरित्र को दुर्बल बना देती है और मनुष्य की असामाजिक भावनाओं को प्रबल करके समाज में अमंगल और पृथकता का बीज बोती है। यह साम्राज्यवाद और व्यवसायवाद और राष्ट्रां में संघर्ष इसी कुशिक्षा के फल हैं, जिसने व्यक्ति को प्रधानता देकर उसे समाज का हिंसक जंतु बना दिया है।

शिक्षा के आदर्शों में जो सबसे बड़ी क्रांति हो रही है वह यह है कि शिशु के पहले पांच-छ: साल मनुष्य को जैसा बना देते हैं, वैसा ही वह बन जाता है। इस शैशवावस्था में उसका चरित्र जैसा बन जाता है, वह बाद को फिर किसी तरह नहीं बदला जा सकता। साधारणत: अब तक हम बाल्यावस्था को ज्यादा महत्त्व नहीं देते थे, पर इसी अवस्था में हम अपने अज्ञान के कारण बालकों का भविष्य सदा के लिए बिगाड़ देते हैं। इसी उम्र में बच्चे हमारे अज्ञान के कारण झूठ बोलना, झूठे बहाने करना और चोरी करना सीखते हैं। इसी उम्र में आलस्य की, और आरोग्य के सिद्धांतों के विरुद्ध आचरण करने की आदत पड़ती है। इसी उम्र में वे जिद्दी, स्वार्थी और कायर होते हैं। और इस लिहाज़ से मां बाप पर बालक के चरित्र के विषय में पहले से कहीं बड़ी जिम्म्मेदारी आ पड़ती है। कितने ही विचारवानों का तो यह कहना है कि बच्चा पहले ही साल में बहुत-सी अच्छी या बुरी आदतें सीख लेता है। और चूंकि इस उम्र में कोई बच्चा शाला नहीं भेजा जा सकता, इसलिए मां-बाप का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे मां-बाप बनने के पहले शिशु-पालन के सिद्धांतों से अच्छी तरह परिचित हो जाएं। यह स्वीकार किया जाने लगा है कि अधिकांश बालकों में एक-सी प्रवृत्तियां होती हैं और उन प्रवृत्तियों का सदुपयोग या दुरुपयोग उन्हें अच्छा या बुरा बना देता है।

[संपादकीय। 'हंस', सितंबर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

काशी में बिजली

युक्त प्रांतीय कौंसिल के सदस्य तथा म्युनिसिपल शासन में रुचि रखने वाले राजनीतिज्ञों का विश्वास है कि न जाने क्यों हमारे प्रांत की सरकार के लिए मार्टिन कंपनी बड़ी लाड़ली है। यह विशेष प्रेम या कृपा छिपाए नहीं छिपती, प्रकट ही हो जाती है। काशी को भी इसका थोड़ा बहुत अनुभव है। हमें उन दिनों का स्मरण है, जब स्वराजी बोर्ड काशी में बिजली की रोशनी चालू करना चाहता था। काशी विश्वविद्यालय का प्रस्ताव था कि बनारस को बिजली 'सप्लाई' करने का काम उसे दिया जाए। मार्टिन कंपनी यह अधिकार अपने लिए चाहती थी, पर स्वराजी बोर्ड का यह विचार था कि काशी विश्वविद्यालय काशी के लिए एक गौरव की वस्तु है। यदि काशी से उसकी सहायता हो सके तो अतीव उत्तम हो। साथ, ही बोर्ड का यह भी अनुमान था, कि यदि काशी में बिजली की रोशनी देने का काम काशी विश्वविद्यालय के हाथ में होगा तो बोर्ड भी अपने लिए अधिक से-अधिक सुविधा प्राप्त कर सकेगी तथा नगर को भी सस्ते में बिजली का प्रकाश मिल जाएगा। सस्ते महंगे का विचार केवल अमीरों की दृष्टि से ही नहीं, सबके हित में होता है। काशी में बिजली लग जाने से केवल अमीर ही नहीं, गरीब भी काफी फायदा उठा रहे हैं।

अस्तु, स्वराजी बोर्ड की चेष्टा बेकार गई। बोर्ड की शुभेच्छा में सरकार ने ऐसे बाधाओं की पख लगा दी, कि मजबूरन मार्टिन कंपनी को ठेका देना पड़ा। उसी ठेके के परिणामस्वरूप काशी में 'इलैक्ट्रिक सप्लाई कंपनी' की स्थापना हुई है, जिसने सच पूछिए तो लूट मचा रखी है। इस नगर में यह कंपनी कितना कमा रही है, यह नीचे की तालिका से ज्ञात हो जायगा–

अर्द्ध वर्ष की समाप्ति पर	कितने स्थान पर बिजली लगी	यूनिट बिका	आमदनी (रुपये में)
31, दिसंबर, 1931	1645	19,92,334	2,19,795
30, जून, 1932	1854	19,73,371	2,27,355
31, दिसंबर, 1932	2045	22,12,822	2,46,002

इसमें से अड़तालीस हजार चार सौ सत्तावन रुपये पौने तीन आने, 'डिप्रिसियेशन' फंड में, निर्माण के समय जो पूंजी लगाई गई थी, उसका सूद, प्रारंभिक व्यय और दलाली मद्दे तीस हजार रुपये व्यय किया। आम खर्च पंद्रह हजार एक सौ पचास रुपये साढ़े तीन आने हुआ। ऋण पर सूद और जमा मद्दे सत्रह हजार दो सौ ग्यारह रुपये सवा दो आने, बिजली पैदा करने में इक्यावे हजार दो सौ तेईस रुपये साढ़े तेरह आना, मरम्मत वगैरह में उन्नीस हजार पांच सौ अड़सठ रुपये नौ आने, किराए में तीस हजार दो सौ सत्रह रुपये सवा बारह आने कुल व्यय हुआ। यह हिसाब 31 दिसंबर, 1933 तक का है। इसके अलावा, इस अर्द्ध वार्षिक के लिए चौंतीस हजार एक सौ तैंतीस रुपये साढे नौ आने बैलेंस है, अतिरिक्त फीस बहत्तर रुपया तथा पिछले

वर्ष का बैलेंस सात हजार छः सौ तीन रुपये सवा दस आने मात्र है। यानी कुल मिलाकर दो लाख छियालिस हजार चौहत्तर रुपये साढ़े चौदह आना !!! पाठक इस हिसाब की समीक्षा करें तो उन्हें पता चलेगा, कि मार्टिन कंपनी काशी से कितनी जबरदस्त आमदनी कर रही है। और इस आमदनी का कारण क्या है। 'पायोनियर' में 25 नवंबर, 1932 को प्रकाशित एक लेख के अनुसार इस कंपनी का बिजली पैदा करने में फी यूनिट चार पाई मात्र का व्यय होता है, पर म्युनिसिपल संस्थाओं को साढ़े नौ पाई यूनिट दी जाती है। निजी उपभोगियों को आठ आना प्रति यूनिट के हिसाब से दिया जाता है, यानी म्युनिसिपल संस्थाओं से प्रति यूनिट साढ़े पांच पाई तथा निजी तौर पर लेने वालों से सात आना आठ पाई मुनाफे में प्राप्त होता है। काशी ऐसे नगर से इतनी रकम वसूल कब तक की जा सकती है, यह कहना कठिन है। यह बिजली के प्रेमियों की ही दुर्बलता है कि कंपनी नगर भर को इस तरह कंगाल बना रही है।

हमारा यह कथन अतिशयोक्ति नहीं है। दिल्ली में चार आना प्रति यूनिट (बारह प्रतिशत की छूट के साथ भी) देना पड़ता है। कलकत्ते में ढाई आना दर है। लखनऊ में पांच पाई, इलाहाबाद में दो पाई, आगरा में साढ़े पांच पाई, बरेली में नौ पाई कानपुर में पौने दो पाई, मसूरी में एक पाई, नैनीताल में केवल आधा पाई बिजली का उत्पादन व्यय है। काशी का चार पाई है। इस हिसाब से देखने पर भी काशी का खर्चा कहीं अधिक बढ़ा हुआ मालूम होता है।

रह गई दर की बात। काशी इस विषय में किसी भी धनी विदेशी देश से आगे है। इंग्लैंड, जर्मनी, फ्रान्स, स्विट्जरलैंड, इटली, अमेरिका और जापान में नौ पाई की दर से ही बिजली प्राप्त हो जाती है।

हम ही नहीं कहते कि हमारी नजर में बिजली का रेट बहुत अधिक है। कानपुर को बिजली देने वाले मैसर्स बेग सदरलैंड एंड कंपनी ने युक्त-प्रांत के वाणिज्यमंडल के एक प्रमुख सदस्य को एक पत्र में लिखा है, कि काशी का 'रेट' अत्यधिक है। इसी प्रश्न पर विचार करने के लिए विगत शनिवार को काशी के प्रमुख बिजली उपभोगियों की एक सभा हुई थी। संभवत: यह निश्चय किया जा रहा है, कि यदि कंपनी सीधे से न माने तो पहली नवंबर से बिजली लेना ही बंद कर दिया जाय। इस प्रकार सत्याग्रह यदि सामूहिक रूप से हो सके तो मार्टिन कंपनी को नीचा दिखाना सरल है, पर इसमें कानूनी अड़चनें भी होंगी। कुछ लोग साल भर का 'कांट्रेक्ट' कर चुके हैं। कुछ अवश्य ही सरकारी पिट्ठू होंगे। कुछ उपभोग सरकारी कार्यालयों में होता होगा और सबसे बड़ी बात यह है कि अब म्युनिसिपैलिटी सरकार की है। उसका एक्जीक्यूटिव अफसर एक 'तहसीलदार' है। प्रधान अफसर अतिरिक्त मजिस्ट्रेट है। अतएव इनसे कैसे आशा की जाय, कि जनता के लोकप्रिय बनने की चेष्टा करेंगे। इनसे कैसे आशा की जा सकती है कि हमारे साथ कंधे से कंधा मिलाकर अपने देश को एक कंपनी की लूट से बचा लेंगे।

फिर भी हमें, नागरियों को प्रयत्न करना चाहिए। इस विषय में आंदोलन करने के लिए एक समिति कायम हो गई है। इसके अध्यक्ष हैं श्री सरनशंकर माथुर एडवोकेट।

उपमंत्री हैं बनारस इंडस्ट्रीज के श्री सिंहदास बी० ए०। बिजली इस सभ्यता का एक आवश्यक अंग है और इसका उपयोग होना अवश्यंभावी है। बिजली के पंखे से गर्मी में बड़ी सहायता मिलती है। बनारस कंपनी को काशी से अधिक-से-अधिक चार आना प्रति यूनिट लेना चाहिए। इसमें प्रकाश तथा पंखे के लिए पच्चीस प्रतिशत मुजरा कर देना चाहिए। मोटर तथा 'गर्म करने के लिए' एक आना प्रति यूनिट लेना काफी होगा।

मार्टिन कंपनी को कितना लाभ है, यह प्रत्यक्ष है। अवश्य इसके बदले अंग्रेज मालिकों को ऊंचे पदों पर प्राय: सभी अंग्रेज या विदेशी अफसरों को मोटी तनख्वाहें मिलती हैं तथा भारतीयों का उतना ही लाभ होता है, जितना विलायती कपड़ा बेचने पर भारत के छोटे दुकानदारों को होता होगा। काशी में कंपनी के प्रबंध में हमारा कोई हाथ नहीं है। इलाहाबाद में बिजली कंपनी में म्युनिसिपल बोर्ड के दो सदस्य शामिल किए जाते हैं, पर यहां चाहे जो हो, हमें कुछ पता भी नहीं चलता। ऐसी दशा में हमको इस बात का सोलहों आना हक है कि या तो अपने नगर के लिए रेट स्वयं तय करें या कंपनी से नाता तोड़ दें।

[संपादकीय। 'जागरण', 4 सितंबर 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

गोरे-गोरे हैं, काले-काले हैं

हमारा सहयोगी 'लीडर' भी कभी कभी बेतुकी बातें कर जाता है। भला इसमें भी कोई तुक है कि हिन्दुस्तानी और अंग्रेजी सिपाहियों के लिए एक ही फौजी अस्पताल रखे जाएं। खर्च की कमी कोई दलील नहीं। अगर सरकार खर्च में कमी करने पर आ जाय, या आज शासन में जनमत की प्रधानता हो जाय, तो खर्च आधे से भी कम हो सकता है। कांग्रेस के पांच सौ रुपये अगर कम ही मान लिए जाएं तो बड़े-से-बड़े कर्मचारी के लिए एक हजार का वेतन किसी तरह कम नहीं कहा जा सकता, पर कमी करने की जब नीयत भी हो। सरकार के फौजी विभाग को इसकी क्या परवाह है कि अंग्रेजी फौजी अस्पतालों में अक्सर गिने-गिनाए मरीज ही रहते हैं, वहां के डॉक्टर और सर्जन मजे से शिकार खेलते हैं और नर्सें ब्रिज खेलकर अपना मन बहलाती हैं। ये गोरे अस्पताल तोड़ दिए जाएं तो ये डॉक्टर और नर्सें कहां जाएं? पांच-छ: सौ का लंबा वेतन कहां मिले? इतनी तकलीफें हो रही हैं, हमने तो कभी न सुना कि कोई गोरा अफसर तखफीफ में आया हो। कहीं-कहीं एकाध तखफीफ में आया भी है तो उसके लिए रियासतों में पहले ही से कोई उससे बड़ी जगह निकाल ली जाती है। फिर सबसे बड़ी बात तो यह है कि गोरे सिपाहियों का कालों से क्या संपर्क। वह कालों से चौगुना वेतन पाता है, तो उसी हिसाब से सर्जनों और नर्सों को भी कालों के अस्पतालों से चौगुना वेतन पाना लाजिम है। उसमें भला कैसे कमी की जा सकती है।

[संपादकीय। 'जागरण', 4 सितंबर 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

फिल्म संसार में एक नई योजना

फिल्म हमारे जीवन में आगे चलकर चाहे जितनी उपयोगी हो और शिक्षा तथा आरोग्य उसके द्वारा कितना ही सुलभ बनाया जा सके, पर उसकी वर्तमान प्रगति तो किसी तरह भी आशाजनक नहीं कही जा सकती। हां, अगर युवकों और युवतियों के निर्लज्ज चुंबन और आलिंगन और हत्या तथा अपराध के दृश्यों पर ही समाज की जागृति और उन्नति का दारोमदार है, तो निस्संदेह हम आंधी की चाल से उन्नति की ओर बढ़े जा रहे हैं। योरोप का विलास तो अपनी सारी बुराईयों के साथ आ गया पर योरोप का अध्यवसाय और साहस और उत्सर्ग और अन्य हजारों खूबियां जो उन विलासिता का परदा ढांकती हैं, यहां कहीं नजर नहीं आतीं। कहा जाता है एक बड़ा भारी उद्योग आरोपित हो गया है जिसकी संभावनाओं का कहीं अंत नहीं है। बेशक उसने उस धन हो बाहर जाने से रोक दिया है जो बाहर के फिल्म मंगाने में हमें देना पड़ता था पर खेद यही है कि वह ऐसे पूंजीपतियों के हाथों में है जो बड़ी निर्दयता से जनता को सामाजिक समाचार की ओर लिए जा रहे हैं। उन्हें अपने नफे से मतलब है, देश दोजख्र में जाए या बहिश्त में। हम सिनेमा के विरोधी नहीं। उसका जो दुरुपयोग किया जा रहा है उसके विरोधी अवश्य हैं। जनता का मनोरंजन होना आवश्यक है, यद्यपि ऐसे दरिद्र देश में मनोरंजन से कहीं जरूरी भोजन है। लेकिन मनोरंजन का अर्थ यह तो नहीं कि हमारी कुत्सित भावनाओं को और चाबुक लगाया जाय। सच्चा मनोरंजन तो हमें सद्भावनाओं की ओर ले जाता है। इसलिए हमें यह मालूम करके खुशी हुई कि मद्रास के फिल्म सेंसर बोर्ड ने इस बात की जांच करने के लिए एक कमेटी बनाई है कि फिल्मों का लड़कों के मन पर क्या असर पड़ता है। इस कमेटी ने एक प्रश्नावली बनाकर माता-पिताओं से अनुरोध किया है कि वे अपनी इच्छानुसार उनके जवाब लिखकर कमेटी के पास भेज दें और जो कुछ सलाह देना चाहें वह भी दे दें। उसमें से कुछ प्रश्न ये हैं-

क्या लड़कों के सिनेमा में जाने से उनकी पढ़ाई में कोई बाधा पड़ती है? लड़कों को अक्सर सिनेमा देखना चाहिए या कभी-कभी? लड़के सिनेमाघरों से क्या मनोभाव लेकर घर आते हैं? घर पर वे उनका कैसे जिक्र करते हैं? क्या वे सिनेमा में देखे हुए कृत्यों और वाक्यों को दुहराते हैं? क्या वे किसी खास ऐक्टर या ऐक्ट्रेस की प्रशंसा करते हैं? क्या वे उनकी प्रशंसा करते हैं या वैसे ही जीवन बिताने की इच्छा प्रकट करते हैं? लड़के और युवक सिनेमा के अच्छे प्रभाव ग्रहण करते हैं या बुरे? सिनेमा का, चरित्र-गठन की शिक्षा - कर्त्तव्यज्ञान, दायित्व--पर क्या असर होता है? क्या सिनेमा से चरित्र पतन के कारणों की शंका हो सकती है जो जीवन का विकृत रूप लड़कों के सामने रखता हो, अथवा दुराचारण की ओर उत्तेजित करता हो? इसके प्रमाण में उदाहरण दीजिए। आप लड़कों के लिए किस तरह के फिल्मों को अनुकूल समझते हैं—ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, नाटकीय, हास्यजनक या शिक्षोपयोगी? लड़के अपनी अवस्था के अनुसार किस तरह के फिल्म ज़्यादा पसंद करते हैं?

हमें आशा है, कमेटी इस विषय में उत्तरों का विचार करने पर अपनी सम्मति प्रकट करेगी जिसकी हम बड़ी उत्कंठा से प्रतीक्षा करेंगे।

[संपादकीय। 'जागरण', 4 सितंबर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

महिला विद्यालयों में बिहारी-सतसई

पंजाब के पत्रों में कुछ दिनों से यह बहस छिड़ी हुई है कि बिहरी सतसई को महिला विद्यालयों से क्यों न उठा दिया जाय। जिन पुस्तकों में श्रृंगार का नग्न और निर्लज्ज रूप दिखाया गया हो, उन्हें लड़कियों से ही क्यों, लड़कों से भी उठा देना चाहिए। हमारे पुराने ब्रजभाषा के अमर कवि, जिनकी शायरी का उद्देश्य ही अपने आश्रयदाताओं की लोलुप-विलासिता और कामुकता को उकसान और उभारना था, श्रृंगार जैसे पवित्र विषय को इतना गंदा और घिनौना बना गए हैं कि आज उन कवि-ां पर दया आती है, जो अपनी सुरुचि की हत्या करने के लिए मजबूर थे। हम यह नहीं कहते कि बिहारी को स्कलों से बिल्कुल उठा दिया जाय। बिहारी ने कविता के आकाश में ऐसी ऊंची उड़ान ली है और ऐसे-ऐसे अछूते और नाजुक खयाल पैदा किए हैं कि उनसे वंचित रहना साहित्य के एक बड़े आनंद से वंचित रहना है, लेकिन स्कूलों के लिए बिहारी का एक शुद्ध एडीशन होना चाहिए जिसमें से कुरुचिपूर्ण दोहे निकाल लिए जाएं, चाहे कवि ने उनकी रचना में कलम ही क्यों न तोड़ दी हो। देव और मतिराम और पद्माकर आदिम की रचनाओं के भी स्कूली एडीशन निकलने चाहिए। हम नहीं समझते, कोई अध्यापक या अध्यापिका युवकों या युवतियों के सामने उन दोहों या कवित्तों की व्याख्या कैसे कर सकती है जिसमें कूट-कूटकर रति रहस्य भरा हुआ है। इंग्लैंड में कुछ दार्शनिकों का पस्ताव है कि युवकों और युवतियों के लिए रति शिक्षक स्कूल खोले जाएं। इन श्रृंगारी कवियों को ऐसे स्कूलों में विशेष रूप से स्थान मिलना चाहिए।

[संपादकीय। 'जागरण' 4 सितंबर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

वाइसराय का भाषण

गत 30 अगस्त को शिमला में दोनों व्यवस्थापक भवनों की संयुक्त बैठक में हिज एक्सेलेंसी वाइसराय ने जो भाषण दिया उसमें देश में प्राय: सभी वर्तमान समस्याओं का उल्लेख किया गया, पर देश के सामने बेकारी की जो सबसे भीषण समस्या है उसके विषय में आपने कुछ नहीं कहा। जो कुछ हो रहा है वही होता रहेगा, यों ही बेकारी बढ़ती रहेगी, यों ही सारे टैक्स बने रहेंगे। जनता के लिए आपने कहीं आशा की कोई झलक नहीं दिखाई। कोटकाई पर गोलाबारी की आपने जो सफाई दी, उसमें कोई नई बात नहीं है। हां, यह संतोष की बात है कि इन गोलाबारियों

से निरपराध प्राणियों की हत्या नहीं हुई। आपने फरमाया—फौजी खर्च में ज़्यादा किफायत की अब गुंजाइश नहीं है। और यह भी कोई नई बात नहीं। गवर्नमेंट हमेशा यही कहती है और यही आपने भी कहा। एग्रीकल्चरल रिसर्च काउंसिल के विषय में अभी तक हमने केवल उसका नाम सुना है और इस विचार से मन को संतुष्ट कर लेते हैं कि एक परोपकारी सरकारी संस्था है जो धनाभाव के कारण अभी कुछ विशेष काम नहीं कर सकी। रियासतों की रक्षा के लिए एक नया कानून बनाया जाने वाला है। यह पहले ही से तय था और इसका यही अर्थ है कि रियासतों को इन टिकौनों से दस-बीस वर्ष और चला ले जाइए, पर उनमें जीवन शक्ति का लोप होता जा रहा है। जापान की व्यापार-संधि के विषय में आपने यह आशा नहीं दिखाई कि रुई पैदा करने वाले काश्तकारों के हित की रक्षा का क्या इंतजाम सोचा गया है। हमें आशा है, गवर्नमेंट और भारत के प्रतिनिधि इस कंवेंशन में किसानों को भूल न जाएंगे, और थोड़ा से मिल-मालिकों और लकांशायर के व्यापारियों के हितों को ही प्रधानता न दी जायगी। सुना गया है कि जापान भारतीय रुई को जापानी कपड़े के बदले में लेने का प्रस्ताव करेगा। सफेद कागज के विषय में संयुक्त कमेटी के मेंबरों के आंसू पोंछने के बाद आपने भविष्य में नवीन भारत के निर्माण में श्रोताओं के सहयोग पर जोर दिया, हालांकि उस सहयोग के लिए बहुत कम गुंजाइश रखी गई है। अंत में आपने अपील करते हुए ये सुंदर शब्द कहे—

''मैं सच्चे हृदय से आपसे आग्रह करता हूं कि आप आने वाली जिम्मेदारियों को साहस और लगन के साथ स्वीकार करें, जिसमें आपका देश अपने अंतिम लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए ब्रिटिश साम्राज्य के निर्माण में बराबर का सहयोग प्रदान करे।''

इसके उत्तर में हम यही कहना चाहते हैं कि यह सहयोग प्राप्त करने में वाइसराय ही पर सारा दारोमदार है।

[संपादकीय। 'जागरण', 4 सितंबर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

संयुक्त पार्लामेंटरी कमेटी के सामने भाई परमानन्द का बयान

भाई परमानन्द ने जाइंट पार्लामेंटरी कमेटी के सामने जो जोरदार बयान दिया और सरकार की सांप्रदायिक नीति का जितने स्पष्ट शब्दों में प्रतिवाद किया, उससे किसी भी हिन्दू या मुसलमान राष्ट्रभक्त को असंतुष्ट न होना चाहिए। जहां दो ही मुख्य जातियां हैं, वहां अगर एक के साथ जरा भी पक्षपात किया जाता है, तो दूसरी जाति को उसकी कसर पूरी करनी पड़ती है। सर जान साइमन और फ्रेंचायज कमेटी और मि॰ रामजे मैकडोनाल्ड सभी ने खुले शब्दों में सांप्रदायिकता की निंदा की, पर यह सब कुछ होते हुए भी सारी व्यवस्था सांप्रदायिकता के आधार पर कर डाली गई। जो लोग अपने लिए पृथक् निर्वाचन न चाहते थे, उन्हें भी पृथक् निर्वाचन का अधिकार दे दिया गया। उस वक्त तो सरकार जैसे सांप्रदायिकता को खोज-खोजकर पुरस्कृत करने पर तुली हुई थी। नतीजा यह हुआ कि हिन्दुओं का पचहत्तर फीसदी बहुमत

बयालीस फीसदी अल्पमत बना डाला गया। यह राजनीति का सर्वमान्य सिद्धांत है कि किसी राष्ट्र की व्यवस्था ऐसी न होनी चाहिए कि उसका बहुमत अल्पमत की अवस्था को पहुंच जाय। इसी सिद्धांत पर पंजाब और बंगाल में हिन्दुओं को अल्पसंख्या में होने पर भी वह रिआयत नहीं दी गई, जो अन्य प्रांतों में अल्पसंख्यक मुसलमानों को दी गई, इसलिए कि उन दोनों प्रांतों में हिन्दुओं के साथ थोड़ी-सी रिआयत भी मुसलमानों को अल्पमत कर देती थी, पर हिन्दू-प्रधान प्रांतों में मुसलमानों को कुछ अधिक मताधिकार देने पर भी हिन्दू बहुमत में बाधा नहीं पड़ती थी, लेकिन फेडरल एसेंबली में इस सिद्धांत का जरा भी सम्मान न किया गया और हिन्दू बहुमत इतने अल्पमत में कर दिया गया कि वह बिल्कुल पंगु हो गया है। मुसलमानों की जनसंख्या का भारतीय औसत 1/5 से कुछ ही अधिक है, पर कांग्रेस ने उन्हें तीस फीसदी जगहें देना स्वीकार कर लिया, हालांकि वह पृथक् निर्वाचन को स्वीकार न करती थी और आज तक वह सम्मिलित निर्वाचन के सिद्धांत पर जमी हुई है। मुसलमानों के लिए बड़ी भारी विजय थी, और अब सरकार ने देखा, कि कांग्रेस मुसलमानों को तीस फीसदी मताधिकार देकर उनका सहयोग प्राप्त कर लेना चाहती है, तो उसने तीस को बढ़ाकर तैंतीस फीसदी कर दिया। इस तरह इस नीलाम की बोली में मुसलमानों का मूल्य बढ़ता गया। हिन्दुओं ने राष्ट्रीयता के ऊंचे आदर्श पर एक सम्मिलित और समुन्नत भारत देखने की उत्कट इच्छा से इस फैसले का बिल्कुल विरोध न किया। यहां तक कि पंडित जवाहरलाल नेहरू और महात्मा गांधी ने तो मुसलमानों को सादा चेक दे देने की बात कही थी, लेकिन उस वक्त भी हिन्दू यह न समझते थे, कि वे इतने अल्पमत में रख दिए जाएंगे। शायद कुछ आशा भी बनी हुई थी, कि सरकार कांग्रेस से कुछ समझौता कर लेगी और सम्मिलित निर्वाचन का सिद्धांत स्वीकार कर लिया जाएगा, या व्यवस्था में कुछ ऐसी शर्तें रख दी जाएंगी कि दस या बीस वर्ष बाद स्वायत्त रीति से पृथक् निर्वाचन की जगह सम्मिलित निर्वाचन का बर्ताव होने लगेगा।

लेकिन इसी बीच में राजनीति ने पलटा खाया और असहयोग आंदोलन फिर जारी हो गया। सफेद कागज में पृथक् निर्वाचन को स्थायी मानकर हिन्दुओं को पचहत्तर फीसदी से गिराते-गिराते बयालीस फीसदी तक पहुंचा दिया। और इस अनुपात का व्यवहार धीरे-धीरे राजपदों में प्रवेश करता हुआ म्युनिसिपैलिटियों और जिला बोर्डों में भी अपना आसन जमा लेना चाहता है। शायद कोई मुसलमान यह बर्दाश्त न करेगा कि खुले मुकाबले के इम्तहानों में प्रथम श्रेणी के मुसलमानों को पीछे डालकर दूसरे और तीसरे दर्जे के हिन्दुओं को जगहें दी जाएं, लेकिन वास्तव में यही हो रहा है और आए दिन हिन्दू उम्मीदवारों को अपने हिन्दू होने का तावान देना पड़ रहा है। हमारा खयाल है कि हिन्दुओं के प्रति सरकार की जो वक्र-दृष्टि है उससे फायदा उठाकर वैमनस्य को और मजबूत किया जा रहा है और हमें आशा है, मुसलिम इस नीति को हिन्दुओं को उनके जायज हक से वंचित करने के लिए काम में न लाएंगे।

हम स्वयं सांप्रदायिकता के समर्थक नहीं हैं। हमारा दृढ़ विश्वास है कि ज्यों-

ज्यों हमारा राजनैतिक विकास होगा, सांप्रदायिकता मिटती जाएगी और आर्थिक समस्याएं उसका स्थान लेती जाएंगी। तब देश का संगठन राजनैतिक और नागरिक आधारों पर होना निश्चित है। लेकिन इस बीसवीं सदी में भी वंश और जाति-भेद मिटा नहीं है, और किसी दिन भी बरसात में सूखी जमीन से निकल आने वाले मेंढ़कों की भांति गति और ध्वनि प्राप्त कर सकता है। अतएव सांप्रदायिक नीति को छींछड़े खिला-खिलाकर मोटा करने में हम मंगलमय भविष्य का निर्माण नहीं कर रहे हैं। अगर हिन्दू मुसलमानों को असंतुष्ट रखकर शासन नहीं चला सकते, तो यह भी मानना पड़ेगा कि मुसलमान भी हिन्दुओं को अप्रसन्न रखकर और उनके आत्माभिमान को दलित करके शासन नहीं चला सकते। दस-पांच अच्छी-अच्छी जगहें पा जाने से किसी जाति का उद्धार नहीं हो जाता, लेकिन जब यह जगह एक अंग से छीनकर दूसरे अंग को दे दी जाती है तो इससे संपूर्ण जाति में असंतोष और विद्रोह और ईर्ष्या फैलती है वह बड़ी भंयकर होती है। दुर्भाग्य से जैसे मुसलमानों की बड़ी संख्या अपना मुसलमान होना नहीं भूल सकती, उसी भांति हिन्दुओं में भी ऐसे आदमियों की कमी नहीं है जिन्हें अपना हिन्दूपन उतना ही प्यारा है। हिन्दुओं ने अभी तक कांग्रेस के प्रभाव से सांप्रदायिक नेताओं की बातें नहीं सुनी हैं, लेकिन जब एक सांप्रदायिक नेता अकाट्य दलीलों और प्रमाणों से हिन्दू जनता को यह दिखाता है कि तुम्हारे स्वार्थों का खून किया जा रहा है तो राष्ट्रीय विचार वाले भी उसकी बातें सुनने और उन पर विचार करने पर मजबूर हो जाते हैं। हम भाई जी के इन शब्दों को दोहराना चाहते हैं कि ''सरकार ने भारत में सांप्रदायिकता का बीज बो दिया है और किसी दिन इस वृक्ष का फल भारत और भारतीय सरकार दोनों ही के लिए घातक होगा।''

[संपादकीय। 'जागरण', 4 सितंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 मे संकलित।]

एसेंबली में भूकंप

एसेंबली वाले बिल्कुल बच्चों की तरह काठ के घोड़े पर सवार होकर जब उचकने लगते हैं, तो समझते हैं वह सचमुच के घोड़े पर सवार हैं। वे इस खयाल से दिल में खुश होते रहते हैं कि एसेंबली ब्रिटिश पार्लयामेंट है और वे इस पार्लयामेंट के सुयोग्य मेंबर हैं, और इसलिए वहां पार्लयामेंट की हरेक नीति की नकल की जानी चाहिए, चाहे उससे कोई तत्त्व की बात निकले या न निकले। इन महानुभावों की इस सरलता पर हंसी आती है। जब ये लोग भोजवा तेली की भांति जो राजा भोज के सिंहासन पर बैठकर बहकने लगता था, पार्लामेंट की परंपराओं की अंधी नकल करने में अपनी बुद्धि की दुर्बलता दिखाने लगते हैं, बात-बात पर आर्डर-आर्डर का गुल मचाना, बात-बत पार्लामेंट के हवाले देना। अभी इसी दिन एक अजीब तमाशा हुआ। मि॰ गयाप्रसादसिंह के 'खद्दर-रक्षक बिल' पर बहस हो रही है कि यकायक लाला हरिराज स्वरूप हैट लगाए हाउस में आ जाते हैं। बस एसेंबली में हंगामा मच

जाता है। भूकंप-सा आ जाता है। चारों तरफ से आर्डर-आर्डर का हो-हल्ला मचने लगता है, मानो अंदर कोई सांड़ घुस आया है। लाला साहब भी यह फटकार पड़ते ही बदहवास होकर भागते हैं और सीधे लॉबी में जाकर दम लेते हैं। बड़ी मुश्किल से बेचारों की जान में जान आती है। किसी तरह प्राण बचे। रसीदाबूद लगाए बले बखैर गुजश्त। पूछिए एसेंबली में कोई हैट लगाकर चला जाए तो इस कदर चीखने-चिल्लाने की क्या जरूरत थी। माना ब्रिटिश पार्लयामेंट में कोई हैट लगाकर नहीं जाता। अंग्रेज छत के नीचे पहुंचते ही अपना हैट उतार लेता है, तो फिर यह क्या जरूरी है कि आप भी अपना हैट उतारें और अगर आपसे गलती हो जाए तो क्यों ऐसा हंगामा मचाया जाए। हम घर में घुसते ही अपनी टोपी उतारकर हाथ में नहीं ले लेते। अक्सर टोपी लगाए बैठे रहते हैं। फिर एसेंबली में क्यों हैट लगाकर जाना जुर्म समझा जाए। यह है दास मनोवृत्ति की इंतहा। हम खुश होते, अगर यह दास-मनोवृत्ति अंग्रेजी रीति-नीति की ज्यादा महत्त्वपूर्ण बातों की नकल भी करती। अंग्रेज संसार पर केवल इसलिए राज नहीं कर रहे हैं कि वे छत के नीचे आते ही हैट उतार लेते हैं, या अपनी लेडियों को जरा-सा हैट उठाकर सलाम करते हैं। हम इन जरा-जरा सी अंग्रेजी बेहूदगियों की नकल तो करते हैं, पर जो अंग्रेजों के जीवन की अच्छी बातें हैं उनकी तरफ से आंखें बंद कर लेते हैं। सभ्यता बाहरी नकल में नहीं है। वह अंदर के परिष्कार से उत्पन्न होती है। अंग्रेजों को मुंह चिढ़ाने से तो हमारी बेवकूफी ही जाहिर होती है।

[संपादकीय। 'जागरण', 11 सितंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 मे संकलित।]

कुरान में धार्मिक ऐक्य का तत्त्व

इन सांप्रदायिक उन्माद के दिनों में धार्मिक लड़ाइयां केवल धर्मग्रंथों का ठीक-ठीक अर्थ न समझने ही के कारण बहुधा हो जाया करती हैं। और अक्सर यह होता है कि हम अपने ही धर्मग्रंथों के अर्थ का अनर्थ कर डालते हैं। गीता पर पचासों ही टीकाएं छपी हैं। सबों में कुछ न कुछ मतभेद हैं। इसी तरह कुरान की भी कितनी ही तफसीरें मौजूद हैं। सर सैयद अहमद ने जब कुरान की तफसीर की, तब मौलवियों के कट्टर समुदाय में बड़ी हलचल मची और सर सैयद को काफिर कहा गया। मौलवी और पंडित सांप्रदायिक वातावरण में रहने के कारण कुछ तंग खयाल हो जाते हैं, और धर्म के बाह्य लक्षणों और गौण बातों को तात्विक प्रश्नों से बढ़ा देते हैं। एक कट्टर पंडित की दृष्टि में ठाकुर जी को प्रातः काल जल चढ़ाना या गंगा-स्नान कराना किसी बीमार को अस्तपाल पहुंचा देने से कहीं अधिक महत्त्व की बात है। इसी तरह मौलवियों की निगाह में भी रोजा और नमाज आदमियों की खिदमत से कहीं बढ़कर है। इसका नतीजा यह है कि आज संप्रदायों में आपस में घोर संग्राम छिड़ा हुआ है जो अक्सर दंगों के रूप में प्रकट हो जाता है। हालांकि वास्तव में धार्मिक तत्त्व सभी धर्मों में एक है। कुरान पर तरह-तरह के आक्षेप किए जाते हैं। कहा जाता है, उसमें

गैर मुसलिमों को कत्ल करने की तालीम दी गई है।

इसके प्रमाण में आयतें पेश की जाती हैं। मगर जब कोई विद्वान् शुद्ध भाव से सांप्रदायिकता से ऊंचा उठकर उन्हीं आयतों का विवेचन करता है तो हमें मालूम होता है कि हम कितनी गलती पर थे। इसी तरह की एक तफसीर मौलाना अबुल कलाम आजाद ने की थी। मौलाना आजाद किस कोटि के विद्वान् हैं, यह कहने की जरूरत नहीं। समस्त संसार में मुसलमान उनकी विद्वता के कायल हैं और लाखों ही उन्हें अपना पीर मानते हैं। उसी तफसीर के एक अंश का अनुवाद हिन्दी में हुआ है, जिसे महामना बाबू राजेन्द्र प्रसाद जी ने अपनी निगरानी में प्रकाशित कराया है। उस अनुवाद को पढ़कर हमारा जो सर्व धर्मों की एकता का पुराना विश्वास था वह पक्का हो गया। उस परिच्छेद का एक अंश हम यहां नकल करते हैं जिससे प्रकट हो जाएगा कि कुरान पर किए आक्षेप कितने भ्रमपूर्ण हैं--

''यह महान् तत्त्व (धार्मिक ऐक्य) कुरान के संदेश की सबसे पहली बुनियाद है। कुरान जो कुछ बतलाना और सिखलाना चाहता है, सब इसी पर अवलंबित है। मगर इस तत्त्व से नजर फेर ली जाए तो कुरान के संदेश का सारा ढांचा छिन्न भिन्न हो जाता है, परंतु संसार के इतिहास की आश्चर्यजनक प्रगति में यह भी एक विचित्र घटना है कि कुरान ने तत्त्व पर जितना अधिक जोर दिया था, उतनी ही संसार की दृष्टि इससे फिरी रही। यहां तक कि आज कुरान की कोई बात संसार की दृष्टि से इस दर्जे छिपी हुई नहीं है जितना यह महान् तत्त्व। यदि कोई व्यक्ति हर प्रकार के बाहरी प्रभाव से अलग होकर कुरान को पढ़े और उसके पृष्ठों में स्थान स्थान पर इस महान् तत्त्व के अकाट्य और स्पष्ट ऐलान देखे और फिर संसार की ओर दृष्टि डाले, जिसने यह समझ रखा है कि कुरान भी अन्य धार्मिक संप्रदायों की तरह एक संप्रदाय मात्र है तो वह अवश्य हैरान होकर पुकार उठेगा कि या तो मेरी निगाह मुझको धोखा दे रही है या संसार सदा बिना आंखें खोले ही अपने फैसले दे दिया करता है।''

इस भूमिका के बाद कुरान की वही आयतें और अनुवाद दिए गए हैं जिनसे इस कथन की पुष्टि होती है। पूज्य बाबू भगवानदास जी ने भी सब धर्मों की एकता सिद्ध कर दी है, पर अज्ञान का ऐसा आतंक छाया हुआ है कि संप्रदाय-भक्त सज्जन इन ग्रंथों को पढ़ने का कष्ट नहीं उठाते और स्वाध्याय तथा विचार-विनिमय से जो मानसिक विकास होता है उससे वंचित रहते हैं।

नीचे हम केवल एक आयत का तर्जुमा देते हैं जिससे इस शंका का पूर्ण रूप से समाधान हो जाता है कि इसलाम अन्य मतवालों के कत्ल की तालीम देता है

''फिर अगर यह लोग तुमसे इस बारे में झगड़ा करें तो ऐ पैगंबर तुम उनसे कहो कि मेरी और मेरे अनुयायियों की राह तो ईश्वर के आगे बंदगी में सिर झुका देना है और हमने सिर झुका दिया है। फिर धर्म-ग्रंथ वालों से और अशिक्षित लोगों से पूछो कि तुम भी परमात्मा के आगे झुकते हो या नहीं। अगर वे झुक गए तो (सारा झगड़ा खत्म हो गया और) उन्होंने राह पा ली। अगर वे मुंह मोड़ें तो फिर जिन लोगों को ईश्वर-भक्ति की ऐसी स्पष्ट बातों से भी इंकार है, उनके साथ वाद

विवाद और कलह करने से क्या लाभ? तुम्हारे जिम्मे जो कुछ है वह यही है कि सत्य का संदेश पहुंचा दो। बाकी सब कुछ परमात्मा पर छोड़ दो। परमात्मा से बंदों का हाल छिपा नहीं है।"

[सपादकीय। 'जागरण', 11 सितबर, 1933, म प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-2 मे संकलित।]

हमारी कौमी पार्लामेंट की कौम-परवरी

हमारी 'कौमी पार्लामेंट' अर्थात् 'लेजिस्लेटिव एसेंबली' ने इसके पहले भी कितनी ही बार अपनी कौम-परवरी का बहुत अच्छा परिचय दिया है, जिसके लिए भारत की जनता अपने हितैषी, महानुभावों को मुक्तकंठ से धन्यवाद दे रही है, लेकिन 6 सितंबर को रायबहादुर मथुरा प्रसाद जी मेहरोत्रा के इस प्रस्ताव पर कि राजनैतिक कैदियों और नज़रबंदों को छोड़ दिया जाए, एसेंबली ने जो निश्चय किया, वह उसे इतिहास में अमर कर देगा। इन महानुभावों को यह खूब मालूम है कि गवर्नमेंट उनकी रत्ती-भर भी परवाह नहीं करती और उनकी सिफारिशों या विरोध को समान उपेक्षा की दृष्टि से देखती है। ऐसी हालत में हम नहीं समझते इस प्रस्ताव पर उन महानुभावों ने अपनी देश-द्रोह पूर्ण मनोवृत्ति का तांडव नृत्य दिखाकर अपना या देश का कौन-सा उपकार कर दिया। क्या वे चुप न रह सकते थे? कम से कम उनका परदा तो ढंका रहा जाता। उस प्रस्ताव का इन हजरात ने ऐसा घोर विरोध किया कि उस पर राय लेने की नौबत भी नहीं आई। सरकारी मेंबरों की नीति तो हमारी समझ में आती है। सरकार असहयोग को घातक समझती है और उसके नौकर उसके हुक्म की तामील करने पर मजबूर हैं। लेकिन जो लोग राष्ट्र-द्वारा चुनकर भेजे गए हैं, जिनसे आशा की जाती है कि वे जो कुछ करेंगे राष्ट्र के प्रतिनिधि की हैसियत से करेंगे, जो राष्ट्र के हितों के पहरेदार समझे जाते हैं, जो राष्ट्रीय सम्मान के रक्षक हैं वे एक ऐसे राष्ट्रीय प्रस्ताव का विरोध करें, यह लज्जास्पद है। क्या सरकार को उन्होंने इतना कमजोर समझ लिया है कि अगर इस वक्त दौड़कर उसे संभाल न लेत तो वह बालू की भीत की तरह गिर पड़ती। ऐसा भ्रम करने का तो उन्हें कोई कारण न होना चाहिए, क्योंकि सरकार की अजेयता के उन्हें काफी तजरबे हो चुके हैं। उनकी हिमायत के बगैर भी यह प्रस्ताव गिर जाता। और अगर न गिरता तो भी ऐसी कौन-सी बड़ी आफत आ जाती थी। सरकार कैदियों को छोड़ने का वादा करके भी उन्हें बरसों जेल में डाले रह सकती है। मगर यह महानुभाव कुछ ऐसे बौखलाए कि सारी सुध-बुध भूल गए और मरी हुई लाश को पीटकर शहीदों में दाखिल हुए बगैर न रह सके। मालूम नहीं इस मुफ्त के अपयश के वे क्यों इतने बेकरार हो गए। इसमें कोई न कोई रहस्य है।

इसमें शक नहीं कि वर्तमान एसेंबली के सदस्य उस वक्त एसेंबली में आए जब कांग्रेस ने उसका बहिष्कार कर रखा था। अगर कांग्रेस ने अपने नुमाइंदे खड़े किए होते तो इन महोदयों में से बहुत थोड़े आज एसेंबली में रौनक अफरोज होते। इन्हें

राष्ट्र का प्रतिनिधि समझना ही हमारी गलती है। अगर कांग्रेस ने अपने उम्मेदवार खड़े किए तो इन्हें एसेंबली के फिर दर्शन न होंगे। फिर तो उन्हें सरकार ही की कृपा-दृष्टि का भरोसा रहेगा। एसेंबली में तो सरकार के नामजद किए हुए मेंबर रहेंगे ही। शायद इन भलेमानसों में से किसी की किस्मत लड़ जाए।

और क्या इन लोगों की समझ में अभी तक यह बात नहीं आई कि कांग्रेस यदि सत्याग्रह को सामूहिक रूप से फिर जारी करना चाहे तो वह कैदियों के जेल में रहते हुए भी कर सकती है। कांग्रेस की सेवकों की कमी नहीं है और उसके दस-पांच हजार भक्तों के जेल में पड़े रहने से उसके काम में कोई बाधा नहीं पहुंच सकती? मि० विजय कुमार बसु और नवाब मलिक मुहम्मद हयात खां ने तो जिन शब्दों में विरोध किया, वह किसी सरकारी मेंबर के मुंह से ही शोभा देते। बसु महाशय ने फरमाया—मुझे विश्वास नहीं कि बंदियों के छूटने से आने वाले सुधारों की सफलता में बाधा न पड़ेगी। मलिक साहब का कथन भी कुछ इसी ढंग का था। सर एन० चौकसी ने फरमाया कि कांग्रेस अभी तक बंबई में पिकेटिंग कर रही है और सरकार को उन्हें न छोड़ना चाहिए। होम सेक्रेटरी ने कहा कि मुल्क की आबादी को देखते हुए कैदियों की संख्या नगण्य है। सर फजल हुसेन ने फरमाया कि ऐसे प्रस्तावों से कार्उसिल का समय नष्ट करने का उद्देश्य यही है कि प्रस्तावक को वोट मिल सकें। केवल सैयद हुसेन इमाम साहब ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया। अन्य सज्जन या तो इस प्रस्ताव पर कुछ बोलने का साहस न रखते थे, या बोलना व्यर्थ समझा।

अब समस्या यह है, कि इस दशा में भी जब कि कार्उसिलों में ऐसे कौमफरोशों का बहुमत है, कांग्रेस कार्उसिलों का बहिष्कार करती रहेगी या उन्हें अपने कब्जे में लाकर ऐसे अयोग्य व्यक्तियों के लिए उनके द्वार बंद कर देगी? यह सच है कि राष्ट्र इस समय सत्याग्रह के लिए तैयार नहीं है। व्यक्तिगत सत्याग्रह का प्रोग्राम किसी तरह सफल नहीं कहा जा सकता। देश और नेता थके हों या न हों, पर इस प्रोग्राम पर अब उत्साह नहीं रहा। यों त्याग और बलिदान का जनता पर प्रभाव पड़ता ही है और वह अब भी पड़ेगा, लेकिन उस प्रभाव से काम न लिया जाए, तो नतीजा यही होगा कि सरकार को ऐसी कार्उसिलें मिलेंगी जिनसे वह मनमाने कानून बनवाती रहेगी। उसकी निरंकुशता का अंत करने के लिए यह परमावश्यक हो गया है, कि कांग्रेस आने वाली कार्उसिलों को अपने हाथ में करने की भरपूर चेष्टा करे। जनता में सत्याग्रह के लिए चाहे उत्साह न हो, पर उस कांग्रेस पर पूरा विश्वास है और वह खूब समझती है कि उनके हितों की रक्षा कांग्रेस ही कर सकती है।

हमारा यह भी खयाल है कि सत्याग्रह से जिस बात की आशा थी, वह बहुत कुछ पूरी हो चुकी है। सत्याग्रह से सरकार इतनी भयभीत हो जाएगी कि कांग्रेस के हाथों में अधिकार देकर भाग खड़ी होगी, ऐसा भ्रम तो किसी को भी न था। उसका उद्देश्य जनता में राजनैतिक जागृति पैदा करना था और वह उद्देश्य पूरा हो गया। आज मामूली औरतें भी स्वराज्य का अर्थ और उसे अपने देश के उद्धार का मूल समझती हैं। स्वराज्य के लिए कुर्बानी करने की भावना भी उनमें प्रबल है। इस भावना को अब कार्य-रूप में लाने की जरूरत है। अन्यथा जिस तरह पकी हुई खेती काट न

ली जाए, तो दाने जमीन पर गिरकर नष्ट हो जाएंगे, उसी तरह इस जागृति से काम न लिया गया, तो वह उदासीनता में परिणत हो जाएगी। सरकार इस वक्त कांग्रेस को कुचलने को धुन में चाहे कितनी ही अकड़ दिखाए, पर मन में वह खूब समझती है कि अब निरंकुश शासन के दिन विदा हो गए और भारत अब विदेशी शासन को सहन नहीं कर सकता। इस बात को वह अंग्रेज भी समझने लगे हैं जो हमेशा दमन का पक्ष लेते आए हैं। 'स्टेट्समैन' उन अखबारों में है, जिन्हें भारत से कभी सहानुभूति नहीं रही, पर मिदनापुर के जिला हाकिम मि॰ बर्ज की दुष्टता-पूर्ण हत्या पर टिप्पणी करते हुए वह लिखता है--

"जब तक भारत की आर्थिक समस्याओं को भारत के हित के दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि मांटेग्यू नारमन या किसी दूसरे महाजन के विचारों के अनुसार देखा जाएगा, जब तक यह विश्वास बना हुआ है कि नौकरी के द्वार भारतीयों के लिए बंद हैं, और शासकों और शासितों के बीच का पुल केवल तख्ते का पुल है, जो इच्छानुसार खाई पर से हटाया जा सकता है, जिससे सरकार जनता की वकील होने की जगह अपने को किले में स्वरक्षित रखती है, क्रांति यों ही गुप्त रूप से होती रहेगी।"

हम इसके पहले भी कई बार लिख चुके हैं कि इन हत्याओं से देश का उद्धार नहीं हो सकता और जो लोग ऐसा समझते हैं वे बड़े भारी भ्रम में हैं, पर जैसा 'स्टेट्समैन' ने लिखा है कि इन हत्याओं की तह में आर्थिक कठिनाइयां काम कर रही हैं और यह आमतौर पर खयाल किया जा रहा है कि जब तक शासन-व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन न किया जाएगा, जिसमें जनता के प्रतिनिधि देश की आर्थिक दशा सुधारने में समर्थ हो सकें और शिक्षित-समाज की बढ़ती हुई बेकारी का कुछ इलाज कर सकें, ये कारण दूर न होंगे। यह अवसर ऐसा नहीं है कि कांग्रेस दूर से तमाशा देखती रहे और इन आर्थिक समस्याओं के हल करने में प्रयत्नशील न हो। यह सच है कि गवर्नमेंट इस वक्त कुछ भी नहीं सुनना चाहती और वह कांग्रेस को कुचलकर दम लेना चाहती है। लेकिन कांग्रेस के कुचलने से क्या आर्थिक कठिनाइयां दूर हो जाएंगी? जब तक शिक्षित बेकारी बढ़ती रहेगी, असंतोष बढ़ता रहेगा। इस वक्त देश और गवर्नमेंट के सामने सबसे बड़ी समस्या यही बेकारी है, और कांग्रेस अधिकार में आकर इस पर बड़ी हद तक विजय पा सकती है।

[संपादकीय। 'जागरण', 11 सितंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

गवर्नर बंबई की शिकायत

उस दिन गवर्नर बंबई ने एक जलसे में स्पीच देते हुए फरमाया कि शहर वालों को देहातों की तरफ ज्यादा ध्यान देना चाहिए, क्योंकि देहातों पर ही उनकी हस्ती कायम है। आपने यह भी फरमाया कि अब तक देहातों में जो कुछ हुआ है, सरकारी कर्मचारियों द्वारा ही हुआ है। शहर के धनियों ने सरकार का हाथ नहीं बटाया और न नेताओं ही ने सरकार की मदद की। सरकारी कर्मचारियों का हमें जो अनुभव है, वह तो

बहुत उत्साहजनक नहीं है। सरकारी कर्मचारी देहात में शिकार खेलने, गरीबों से बेगार लेने, उनसे घी, दूध, मछली, गोश्त मुफ्त में लेने जाता है, और बहुधा वह गांवों को तबाह कर देता है। अफसरों के दौरे की खबर पाते ही देहातियों के प्राण सूख जाते हैं। बेचारे अपने पुआल और गाय और बकरियां छिपाने लगते हैं। अकसर देहातों में हाकिमों का खर्च अदा करने के लिए बड़े-बड़े चंदे किए जाते हैं। हाकिम जिला हो या तहसीलदार या शिक्षा का इंसपेक्टर या हेल्थ-अफसर, देहातों में सभी अफसर बन जाते हैं और सभी देहातियों पर रोब जमाते हैं। बाजार में घी का भाव सेर भर का हो मगर दौरे पर अफसर दो सेर का घी लेगा। हरेक चीज वह आधे दामों पर लेना अपना अधिकार समझता है, क्योंकि वह अफसर है। आधा दाम भी वह देते हैं जो बड़े नेकनाम हैं। अधिकतर तो सारी चीजें मुफ्त ही में ले लेते हैं। इसके सिवा तो हमने सरकार के द्वारा देहातों का कोई हित होते नहीं देखा। देहातों की सड़कों की, मदरसों की, चौपालों की, जानवरों की कौन खबर लेता है? वह फसली बीमारियों में मक्खियों की तरह मरते हैं, कौन उन्हें दवा देता है? जो सरकार अपनी कुल आमदनी का आधा फौज पर खर्च करती है, उसके पास देहातों के सुधार के लिए धन कहां है? जो कुछ होता भी है, वह सरकारी ढंग से होता है और प्रजा उसे खुशी से स्वीकार नहीं करती। सरकार जब अपने को देश का सेवक नहीं, स्वामी समझती है, और उस पर तलवार के जोर से शासन करती है, तो उसके कर्मचारी भला क्यों न अपने को प्रजा का शासक समझें। रहे, हमारे नेता। हमारा खयाल है कि सरकार ने नेताओं को कभी किसी तरह का प्रोत्साहन नहीं दिया, उलटे उनके मार्ग में रोड़े अटकाये हैं। देहातों की जागृति का अर्थ है जमींदार और हुक्काम के प्रभाव का कम होना। इसे न सरकार सहन कर सकती है, और न कर्मचारी। जागृति और लतखोरी में परस्पर विरोध है। किसान लगान दिए जाएं, हुक्काम की जबरदस्तियां सहे जाएं, यही सरकार की इच्छा है। यही हो रहा है। इस पर किसी का शिकायत करना हठधर्मी है।

[संपादकीय। 'जागरण', 18 सितंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

डिक्टेटरशिप या डिमाक्रेसी

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के यूनियन में इस विषय पर एक बड़ी मनोरंजक बहस हुई कि डिमाक्रेसी असफल हुई है और संसार का भविष्य डिक्टेटरशिप के हाथ है। एक दल डिमोक्रेसी के पक्ष में था, दूसरा डिक्टेटरशिप के पक्ष में। दोनों पक्षों ने अपना-अपना समर्थन किया और अंत में डिक्टेटरशिप पक्ष की बहुमत से जीत हुई। डिमाक्रेसी सदियों के राजनैतिक विकास का फल थी और विचारवानों की धारणा थी कि यही राजनैतिक उन्नति का शिखर है। इस पद को प्राप्त करने के लिए कितने विप्लव हुए, कितनी लड़ाइयां हुईं, कितना मानव-रक्त बहा, पर मानवी दुर्बलताओं ने उस स्वर्ण-स्वप्न को मिथ्या कर दिया। । डिमाक्रेसी केवल एक दलबंदी होकर रह गई। जिनके पास धन था, जिनकी जबान में जादू था, जो जनता को सब्जबाग दिखा सकते

थे, उन्होंने डिमाक्रेसी की आड़ में सारी शक्ति अपने हाथ में कर ली। व्यवसायवाद और साम्राज्यवाद उस सामूहिक स्वार्थपरता के भयंकर रूप थे, जिन्होंने संसार को गुलाम बना डाला और निर्बल राष्ट्रों को लूटकर अपना घर भरा और आज तक वही नीति चली जा रही है। डिमाक्रेसी की इन दो सदियों में संसार में जो-जो अनर्थ हुए, वह एकाधिपत्य की असंख्य सदियों में न हुए थे। अपने राष्ट्र के लिए डिमाक्रेसी चाहे जितनी मंगलमय सिद्ध हुई हो, पर संसार की दृष्टि से तो उसने ऐसा कोई कार्य नहीं किया जिस पर वह गर्व कर सके। अब संसार उससे तंग आ गया है और उसका अंत करके ऐसी व्यवस्था का आश्रय लेना चाहता है, जिसमें एकसत्तात्मक राज्य और डिमाक्रेसी दोनों गुण तो हों, पर अवगुण न हों। मुसोलिनी या हिटलर या स्टालिन आज ईश्वर के प्रतिनिधि राजाओं की भांति पशुबल से राज्य का संचालन नहीं कर रहे हैं। राष्ट्र उनकी संपत्ति नहीं है और न राष्ट्र का धन उनके भोग-विलास के लिए है। वे जनमत की उपेक्षा नहीं कर सकते और न उनकी अधिकार लालसा स्वार्थ के लिए है। वे राष्ट्र के सच्चे सेवक हैं और यही उनकी सबसे बड़ी शक्ति है। यह कहना मुश्किल है कि डिक्टेटरशिप चंद रोजा है या स्थाई, पर इसमें संदेह नहीं कि इस वक्त डिमाक्रेसी से कहीं उपयोगी हो रहा है। यहां तक कि प्रेसीडेंट रूजवेल्ट भी डिक्टेटर बने हुए हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 18 सितंबर, 1933, मे प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग 2 में सकलित।]

तंबाकू पीने पर सजा

प्रयाग के जिला मैजिस्ट्रेट ने एक फरमान निकाला है कि कलक्टरी में जो आदमी तंबाकू पीता हुआ पाया जाएगा, उसको सजा दी जाएगी। शायद साहब बहादुर खुद सिगार या सिगरेट से शौक नहीं करते। हम तंबाकू के प्रेमी नहीं हैं और आजकल इस बुरी आदत से जितनी हानियां पैदा हो रही हैं, उनसे भी बेखबर नहीं लेकिन इस जुर्म को हम सजा देने के लायक नहीं समझते। जब एक आदमी जेब के ढाई आने खर्च करके कैंची की एक डिबिया खरीदता है, तो क्या उसको काफी सजा नहीं मिल जाती? मगर यह हुक्म मौजूदा जिलाधीश के बाद भी रह सकेगा इसमें संदेह है। बहुत संभव है कि उनके उत्तराधिकारी साहब सिगारों के ऐसे विद्रोही न हों। यह खड़े-खड़े धुएं उड़ाने की तहजीब तो हमने साहब बहादुरों से ही सीखी है और आज हमारे कितने ही फैशनेबल दोस्त पासिंग शो के एक-दो टिन रोज पी डालते हैं। यह भी कोई इंसाफ नहीं कि शराब मुंह लग जाने पर उसका पीना जुर्म करार दिया जाए। हमें आशा है तंबाकू के प्रेमी डेपुटेशन लेकर मि० बिशप की सेवा में जाएंगे और उनसे कहेंगे–

छुटती नहीं है मुंह से यह काफिर लगी हुई।

[संपादकीय। 'जागरण', 18 सितंबर, 1933, मे प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-3 में सकलित।]

प्रयाग में महिला व्यायाम मन्दिर

प्रयाग महिला विद्यापीठ ने महिला व्यायाम मन्दिर खोलकर बड़ा सामाजिक उपकार किया है। हमारे गिरते हुए स्वास्थ्य की रोकथाम जितना महिलाएं कर सकती हैं और कोई शक्ति नहीं कर सकती। इस व्यायाम मन्दिर से यह आशा तो नहीं की जा सकती कि प्रयाग-महिलाओं की कोई बड़ी संख्या इससे लाभ उठा सकेगी। इसका काम तो केवल महिलाओं के सामने एक नमूना रख देना और कभी-कभी प्रदर्शन करके उनके मंद होने वाले उत्साह को उभारना होगा। महिलाओं के दिल में अगर यह बात बिठाई जा सके कि अपने परिवार के लिए पुष्टिकर भोजन की व्यवस्था करना, आभूषणों से कहीं ज्यादा महत्त्व की बात है और अपने बच्चों में व्यायाम की आदत डालकर वे उसके साथ सबसे बड़ा उपकार कर सकती हैं तो राष्ट्र के लिए बड़े मंगल की बात हो।

[संपादकीय। 'जागरण', 18 सितंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

बनारस की म्युनिसिपैलिटी

बनारस की म्युनिसिपैलिटी अब सरकार का एक विभाग है और सरकार का धर्म है हुकूमत करना। प्रजा को उसकी हुकूमत अखरती है, तो अखरे, उसके लिए सरकार अपनी हुकूमत थोड़े ही छोड़ देगी। बेरोजगारी का राज्य है, घरों के किराए घट गए हैं और घट रहे हैं, और सरकारी म्युनिसिपैलिटी घरों पर कर-वृद्धि का प्रबंध कर रही है। मकानों के मालिक रोने-धोने के सिवा और क्या कर सकते हैं। मगर उनके रोने की परवाह कौन करता है। सरकार जानती है घरवाले घर छोड़कर कहीं भाग तो जाएंगे नहीं, झख मारकर बेशी कर अदा करेंगे, तो क्यों ऐसा मौका जाने दें।

[संपादकीय। 18 सितंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-2 में सकलित।]

बरेली में हरिजन सभा

बरेली में हरिजनों की सरकारी सभा बड़ी धूम-धाम से हो गई है। प्रतिनिधियों के लिए आने-जाने का किराया मिला और सुना जाता है, वहां उनकी दावत का भी अच्छा प्रबंध था। इससे आशा है, डेलीगेटों की संख्या भी काफी होगी। राष्ट्र की जागृति ने प्रांतीय सरकार को भी सेचत कर दिया, यह इस आंदोलन की छोटी फतह नहीं है। जिस सरकार ने हरिजनों को कुचलने में हिन्दू-समाज से चार कदम आगे ही पांव रखा, वह आज उनकी शिक्षोन्नति में इतनी मुस्तैद है, यह बहुत बड़ी बात है। हमें आशा है हमारे हुक्काम अब दौरे पर जाएंगे तो चमारों और मेहतरों से जरा भलमनसी का व्यवहार करेंगे। यह तो कोई अच्छा दृश्य न होगा कि लड़का तो पड़ोस के मिडिल स्कूल में तीन रुपये महीना वजीफा पाए और उनके मां-बाप साहब बहादुर को वक्त पर घास या ईंधन न देने के

अपराध में पिटवाए जाएं। इन छोटी- छोटी खातिदारियों से सरल हृदय हरिजनों को बड़ी आसानी से अपना गुलाम बनाया जा सकता है। पैंतालीस हजार रुपये ही तो वजीफों में खर्च होंगे। काम कितना बड़ा हुआ जाता है। आने वाली व्यवस्था में सरकारी मेंबर तो होंगे नहीं, फिर आखिर गवर्नमेंट किसके बल पर चलेगी? सरकार अभी से अपनी तैयारियों में लगी हुई है। समाज की ओर से हरिजनों के लिए जो उद्योग किये जाते हैं, उनकी मदद करना उसकी नीति के विरुद्ध होगा। उस दशा में तो यश समाज के सेवकों को मिलेगा। सरकार इतना बड़ा त्याग नहीं कर सकती। वह हरिजनों के लिए जो कुछ करना चाहती है, अपरोक्ष रूप से करेगी। मिनिस्टर साहब ने फरमाया है कि यह निखालिस तालीमी कोशिश है। हम भी चाहते हैं कि ऐसा ही हो और प्रसन्न हैं कि गवर्नमेंट की धर्म-चेतना वास्तविक रूप से जाग उठी है और वह सच्चे हृदय से हरिजनों की तरक्की चाहती है।

[संपादकीय। 'जागरण', 18 सितंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

ब्राडकास्टिंग देहातों में

इंगलैंड से एक महाशय यहां इस बात की जांच करने आए हैं कि यहां ब्राडकास्टिंग के लिए कैसे मैदान तैयार किया जा सकता है। सबकी निगाह देहातों पर है। गांव-गांव ब्राडकास्टिंग का प्रचार हो जाए, बस करोड़ों का वारा-न्यारा है। ब्राडकास्टिंग से प्रजा का बहुत कुछ उपकार हो सकता है, इसमें संदेह नहीं। यही एक साधन है जिससे उन्हें संसार की आत्मा से मिलाया जा सकता है। बड़े-बड़े विद्वानों के भाषण, बड़े-बड़े संगीताचार्यों के गाने, सभी कुछ मिनटों में देहातियों तक पहुंचाए जा सकते हैं। लेकिन यह कंपनी कोई परोपकारी संस्था तो नहीं है, जो अपने प्रोग्राम प्रजा के हित को सामने रखकर बनाएगी। उसका उद्देश्य तो अपना जेब भरना होगा और इस व्यवसाय के युग में जैसे और हजारों चीजें फायदे की जगह नुकसान पहुंचाने वाली सिद्ध हो रही हैं, उसी तरह इसका भी दुरुपयोग किया जाए तो क्या ताज्जुब है।

[संपादकीय। 'जागरण', 18 सितंबर, 1933, मे प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

मि॰ डी॰ वेलरा से विरोध

राजनैतिक प्रभाव के बनने में चाहे जितनी देर लगे, उसके बिगड़ने में देर नहीं लगती। वही मि॰ डी॰ वेलरा जो आयरलैंड के बेताज के बादशाह थे, आज उनके विरुद्ध इतने लोग हो गए हैं कि वह प्लेटफार्म से बोल नहीं सकते। जब से डी॰ वेलरा ने इंग्लैंड को कर देना अस्वीकार किया। उसी वक्त से इंग्लैंड घात में लगा हुआ था। इंग्लैंड के बाजार में आयरिश किसानों की चीजों की खपत बंद होते ही किसानों में असंतोष होना स्वाभाविक था। डी॰ वेलरा के प्रतियोगी इसी अवसर की प्रतीक्षा में थे। उन्होंने चटपट किसानों को मिलाकर डी॰ वेलरा का विरोध करना शुरू कर दिया और ऐसा अनुमान

होता है कि शीघ्र ही वहां नया चुनाव करना पड़ेगा और कुछ नहीं कहा जा सकता कि इस चुनाव में डी॰ वेलरा की गवर्नमेंट का क्या अंत होगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 18 सितंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

राजकुमारों के रहने योग्य

हमें सर हेनरी हेग के जबानी यह सुनकर महान संतोष हुआ कि अंडमान सेलुलर जेल भारत के जेलों से कहीं बढ़िया है। उसकी इमारत तो इतनी भव्य है कि सर हेनरी के शब्दों में–"वह बड़े-बड़े मर्चेंट प्रिंसों के रहने योग्य है।" शायद वहां कैदियों का स्वास्थ्य इसीलिए नष्ट हो जाता है कि उन गरीबों को उससे कहीं ज्यादा आराम से रक्खा जाता है, जिसके वे आदी हैं। किसी को हलवा मुरब्बे खिलाकर तो निरोग नहीं रखा जा सकता। ऐसी शानदार इमारत तो रहने को मिलती है, फिर भी हम ऐसे कृतघ्न हैं कि सरकार का एहसान नहीं मानते। क्या अच्छा हो, अगर सेलुलर जेल को अधिकारियों के लिए सैनेटोरियम बना दिया जाए और साल में एक-दो महीने के लिए उस सैनेटोरियम में रहकर वे अपना स्वास्थ्य ठीक कर लिया करें। इसी के लिए उन्हें योरोप की यात्रा करनी पड़ती है, यहां थोड़े ही खर्च में वही बात हासिल हो जाएगी।

[संपादकीय। 'जागरण', 18 सितंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

रुई वालों की भी सुनी जाए

जापान और भारत में व्यापार की बातचीत जल्द ही शुरू होने वाली है। हमें आशा है कि रुई वालों को भी उसमें अपने विचार प्रकट करने का अवसर दिया जाएगा। भारत में मिलों से जितने आदमियों की जीविका चलती है, उससे कहीं ज्यादा रुई की खेती से अपना निर्वाह करते हैं। शक्कर और रुई के सिवा किसानों के पास धनोपार्जन की कोई फसल नहीं रही। गेहूं, तिलहन, सन, पटसन आदि के लिए कहीं बाजार नहीं रहा। उन दो में से रुई का बाजार भी निकला जा रहा है। जापान का कपड़ा रोक दिया गया, तो वह यहां की रुई भी जरूर रोक देगा। पिछली बार इस विषय पर एक प्रश्न का उत्तर देते हुए सरकार की ओर से कहा गया था कि जब से जापान ने भारतीय रुई बंद करने की धमकी दी है, उसने बहुत ज्यादा रुई मंगवाई है। लेकिन बाद को यह ज्ञात हुआ कि यह आर्डर पहले के थे, और वास्तव में जापान अपनी धमकी को अमल में ला रहा है। लंकाशायर जापान की जगह नहीं ले सकता, क्योंकि छोटे रेशे की रुई की उसके यहां खपत नहीं है। जापान के सिवा उसका कोई खरीदार नहीं है। जब तक हमारे मिल-मालिक इस बात का जिम्मा न लें कि वे भारत की सारी रुई खरीदेंगे तब तक उन्हें किसी प्रकार का संरक्षण न मिलना चाहिए।

[संपादकीय। 'जागरण', 18 सितंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

एक उचित परामर्श

सहयोगी 'लीडर' के कल के अंक में एक सज्जन ने शिक्षाध्यक्ष मि॰ मैकेंजी से दरख्वास्त की है कि हरेक स्कूल में शनिवार का आधा दिन पाठ्यक्रम के बाहर के विषयों के लिए सरकारी तौर पर अलग कर दिया जाना चाहिए। वाद-विवाद, ड्रामा, स्काउटिंग, तत्काल चिकित्सा आदि विषयों को स्कूलों के कर्मचारी उतना महत्त्व नहीं देते, जितना देना चाहिए। चूंकि अध्यापकों की कारगुज़ारी लड़कों के पास होने पर मुनहसर है, इसलिए लाज़िमी तौर पर अध्यापकगण इन विषयों को फालतू समझते हैं, क्योंकि इनसे लड़कों की परीक्षा पर कोई असर नहीं पड़ता। शिक्षा-विभाग यह तो चाहता है कि ये उपयोगी विषय लड़कों को सिखाए जाएं, पर वह इसे हैडमास्टरों की स्वेच्छा पर छोड़ देता है। नतीजा यह होता है कि जहां हेडमास्टरों को इन विषयों से दिलचस्पी होती है, वहां तो इन पर कुछ ध्यान दिया जाता है, पर जहां हेडमास्टर पुराने ढंग का हुआ, वहां इन विषयों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता।

यदि शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष की ओर से इस आशय का कोई हुक्म निकल जाए कि स्कूलों के कर्मचारियों को कम से कम सप्ताह में एक दिन इन उपयोगी बातों में लगाना चाहिए, तो यह प्रश्न व्यक्तिगत न रह जाए। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि लड़को के मानसिक विकास में इन विषयों का जो स्थान है, वह किसी तरह गणित या भूगोल से कम नहीं। बल्कि कई अंशों में कुछ ज़्यादा ही है। एक रुकावट यह अवश्य है, कि अभी इन विषयों के अच्छे शिक्षक नहीं मिलते और यह काम ऐसे अध्यापकों को सौंपा जाता है, जिन्हें इससे कोई परिचय नहीं होता। यह भी उनकी उदासीनता का एक कारण है। हम जिस काम में अभ्यस्त होते हैं, उसी को दिल लगाकर करते हैं। जब अध्यापक में ही उत्साह नहीं है, तो लड़कों को उस विषय से रुचि क्यों होने लगी। जहां कहीं इन विषयों पर ध्यान भी दिया जाता है, वहां भी केवल बेगार की जाती है और बेगार के काम में लड़कों को उत्साह नहीं हो सकता। शिक्षा-विभाग ने अभी तक इन बातों की ओर ध्यान नहीं दिया है। अगर शिक्षा-विभाग के अधिकारी मुआयनों में बाहरी बातों को भी कुछ देख लिया करें और उन्हें भी अध्यापकों की कारगुज़ारी में शमिल कर लें और उसके साथ उसका समय भी निश्चित कर दें, तो हमें विश्वास है यह उपयोगी शिक्षा इतनी उपेक्षित न रहे।

[संपादकीय। 'जागरण', 25 सितंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

कल्पना की उड़ान

समाचार-पत्रों को इससे ज्यादा मजा और किसी बात में नहीं आता कि उन्हें कोई सनसनी पैदा करनेवाले प्रसंग को मोटे-मोटे अक्षरों में छापने का अवसर मिले। इन दिनों पं॰ जवाहरलाल जी और महात्मा जी में जो बातचीत हुई और उन दोनों महानुभावों

ने अपने-अपने जो बयान प्रकाशित किए, उसमें हमारे कितने सहयोगियों को दोनों नेताओं में मतभेद का भूत नजर आया। फिर क्या था, कल्पना ने अपना काम शुरू कर दिया, किसी सज्जन ने लिखा, इन दोनों नेताओं में बहुत पुराना मतभेद है, पर जवाहरलाल जी महात्मा जी का प्रकट रूप से विरोध नहीं करना चाहते थे। अब वह अपना अलग-अलग दल बनाएंगे, जो बिलकुल आर्थिक प्रश्नों पर निर्धारित होगा। किसी ने इससे भी आगे बढ़कर पं० जवाहरलाल जी को उपदेश दे डाला। और शायद वे अपने दिल में खुश हो रहे होंगे कि दोनों महानुभावों में जरा चल जाए तो समाचारों में जरा तेजी पैदा हो जाए। और पं० जवाहरलाल जी बार-बार कहते हैं कि महात्मा जी से उनका कोई मतभेद नहीं है और वह अपने को महात्मा जी का एक सैनिक मात्र समझते हैं। आशा है कि पंडित जी के पिछले बयान से इस प्रकार की कल्पनाओं का अंत हो जाएगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 25 सितंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

काशी में जमींदारों की सभा

काशी जमींदारी ऐसोसिएशन के सालाना जलसे में सभापति के पद से श्रीयुत पन्नलाल जी कमिश्नर बनारस ने जमींदार को जो सद्-परामर्श दिया करीब-करीब उसी तरह के उपदेश जमींदारों को पहले भी मिल चुके हैं। खुद जमींदारों ने ही जमींदारों को जो सलाहें दी हैं, वह भी कुछ इसी ढंग की हैं। इन सभी अवसरों पर जमींदारों को यह चेतावनी दी गई है और श्री पन्नलाल जी ने भी अपने शब्दों में उसी को दुहराया है कि जमींदारों का भविष्य अब अपने असामियों के सहयोग और सदिच्छा पर निर्भर है। अगर जमींदार असामियों का सच्चा शुभचिंतक है तो उसे किसी तरह का भय नहीं, लेकिन यदि वह असामियों को केवल भोग-विलास के लिए धन संग्रह करने वाली मशीन समझता है, तो उसका भविष्य संकटमय है। पन्नालाल जी ने फरमाया कि जमींदारों को याद रखना चाहिए कि आनेवाला विधान बिल्कुल जनमत के आधार पर होगा, जिसमें जनता का काफी हिस्सा होगा और उनका निर्वाचन शिक्षा के प्रचार के साथ बढ़ता जाएगा। और जमींदारों की भलाई इसी में है कि वे जनता पर विश्वास करें। हमें आशा है कि हमारे भूपति समय के लक्षणों को पहचानेंगे और विशेष रियायतों की आड़ में छिपने की कोशिश न करेंगे।

[संपादकीय। 'जागरण', 25 सितंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

ज़बर्दस्ती या समझा-बुझाकर

दुनिया में दो स्वभाव के आदमी होते हैं, एक गर्म दूसरे नर्म। गर्म स्वभाव का आदमी छः महीने की राह एक महीने में तय करना चाहता है, नर्म स्वभाव का आदमी चाहे

रास्ते में किसी दरख्त के नीचे रात काट ले, पर दौड़ना उसे नहीं भाता। नर्म स्वभाव का आदमी लिबरल होता है, गर्म स्वभाव का रेडिकल, या और ज्यादा गर्म हुआ तो क्रांतिवादी।

किसी नीति या पालिसी या मत का प्रचार करना है। गर्म स्वभाव का आदमी जोश में चाहता है कि आन की आन में उसकी नीति सफल हो जाय, कुछ परवाह नहीं, यदि इसके लिए कठिनाइयां झेलनी पड़ें। अपनी नीति में उसे इतना विश्वास होता है कि वह समझता है इसके सफल होते ही वह संसार में एक नये युग का प्रवर्तक कहा जाएगा, सारी बाधाएं छू मंतर हो जायेंगी।

नर्म स्वभाव का आदमी उतना ही या उससे अधिक उत्साह रखने पर भी उसी मार्ग पर कदम रखते डरता है, जिसके एक ओर हरी-भरी पहाड़ियां हैं, दूसरी ओर गहरी खाई। उसे समतल भूमि चाहिए। फिसलन और रपटपन से उसके प्राण कांपते हैं। और उसकी उर्वर बुद्धि अपने इस मीठेपन के लिए कोई अच्छा बहाना खोज निकालना चाहती है जिससे वह अपने प्रतियोगी को लज्जित कर सके। और वह कहता है थोड़ा-थोड़ा खाओ, जिससे वह देह में लगे, जिससे तुम्हारी पाचन क्रिया भोजन से रक्त बनाकर तुम्हारे शरीर को पुष्ट करे। एकबारगी पेट को ठूंस लेने से बदहजमी हो जायगी। लाभ की जगह क्षति पहुंचेगी।

गर्म दिल के आदमी के पास जवाबों की कमी नहीं है। वह कहता है, जब तक पानी उबाल की बिन्दु तक न खौल जाय, उससे भोजन नहीं पक सकता। उसकी चौगुनी आंच भी अगर एक निश्चित समय के अंदर न लगाई जाय तो पानी कभी खौलेगा ही नहीं। सूर्य की गरमी जब तक किसी विधि से केंद्रित न कर दी जाय, वह ताप का अखंड भंडार होने पर भी मुट्ठी भर कोयले का भी काम नहीं कर सकती।

इसी तरह दोनों ओर से सवाल-जवाब होते रहते हैं, पर मसला हल नहीं होता। मौलिक भेद नहीं है। केवल तबीयत या स्वभाव का भेद है। दोनों के उद्देश्य एक हैं, विधि भी प्राय: एक है, केवल गति का अंतर है। गति ही से हवा आंधी भी हो सकती है और मंद समीरण भी। सूरज और हवा में एक बार मजेदार होड़ लगी। सूरज कहता था- मैं बड़ा। हवा कहती थी-मैं बड़ी। उसी वक्त एक आदमी कंबल ओढ़े आ निकला। फैसला इस बात पर ठहरा कि जो उस आदमी का कंबल उतरवा दे, वह बड़ा। हवा के नाम से टास पड़ा। उसने अपनी गति तेज करनी शुरू की। झोंके आये, फिर आंधी आई, फिर बवंडर और तूफान। पर कंबल न उतरा। नदियों का पानी चढ़ गया, दरख्त उखड़ गये, मकान गिर गये, पर कंबल न गिरा। तब सूरज की बारी आई। किरणें प्रखर हुई और एक क्षण में मुसाफिर ने कंबल उतार फेंका। एक ही नीति सब जगह काम नहीं देती। देश और काल और परिस्थिति के अनुसार नीति भी बदलती रहती है।

पर जोर स्थायी नहीं होता। जो काम समझा-बुझाकर किया जाता है, वह स्थायी और टिकाऊ होता है। जोर का काबू मन पर नहीं चलता। उसका काबू केवल देह पर चलता है। देह को परास्त करके भी आप मन को उतना ही अजेय छोड़ सकते हैं। बल्कि ऐसी अवस्था भी आती है जब देह के प्रत्येक पराजय के साथ मन और

दृढ़, और दुर्दमनीय हो जाता है। प्रेरक शक्ति तो मन के पास है। देह तो केवल उसका दास है। जब तक आप मन को नहीं जीत लेते, मन को नहीं कायल कर देते, आप भविष्य के लिए विष बो रहे हैं। अगर हम किसी नीति की सफलता के इच्छुक हैं, तो हमें बड़ी शांति, पर बड़ी लगन के साथ अपने विरोधियों का, उन लोगों का जिन्हें उस नीति की सफलता से हानि पहुंचेगी, मत परिवर्तन करना पड़ेगा। तभी हम यथार्थ में विजयी होंगे। यह सत्य है कि प्राणी अपने स्वार्थ को आसानी से नहीं छोड़ता। लेकिन जनमत में वह शक्ति है, जो असंभव को संभव कर दिखाती है। जनमत के दबाव से ही लाखों आदमी विदेशी कपड़े का लाभप्रद व्यापार छोड़कर दरिद्र हो गये, जनमत के प्रभाव से लाखों आदमी स्वेच्छा से कमर कसकर रणक्षेत्र में जाते हैं और प्राणों को उत्सर्ग कर देते हैं। जोर और सख्ती से काम लेना मानो यह स्वीकार करना है कि हमारी नीति में सत्य नहीं है। क्योंकि सत्य की विजय पाने के लिए पशुबल की आवश्यकता नहीं होती। सत्य में ऐसी आंतरिक शक्ति है, जो किसी तरह दबायी नहीं जा सकती। आज किसी को जबरन मुसलमान बना लो। कल वह अवसर पाते ही अपनी शुद्धि करा लेगा। लेकिन जो व्यक्ति इस्लाम में सत्य पाकर मुसलमान होता है, उसे कौन इस्लाम से फेंक सकता है।

बेशक समझाने-बुझाने वाली नीति में समय लगता है। जोर और जब्र से वही बात थोड़े समय में हो जाती है, लेकिन पहली दशा में फिर उस बुराई के उभड़ आने की शंका नहीं रहती। दूसरी दशा में वह शंका इतनी प्रचंड हो जाती है कि उस बुराई को दबाये रखने के लिए और भी बुराइयां करनी पड़ती हैं। और अगर दूर तक निगाह डालें, तो मालूम होगा, कि जोर या Cocrcion से जो कुछ हुआ और धैर्य से, Conversion से हो सकता था, और बिना रक्तपात के।

आज बीसवीं सदी में विशेष अधिकारों और स्तत्वों के राग अलापने का समय नहीं रहा। आज यह विषय-विवादग्रस्त नहीं है, कि मजूर और मालिक में, जमींदार और किसान में जो अंतर है वह अन्याय और जबरदस्ती पर टिका हुआ है। राज्य अब केवल एक गुट बनाकर गरीबों से कर वसूल करने और ऐश उड़ाने, अथवा उस ऐश में बाधा देने वालों से लड़ने का नाम नहीं रहा, जिसका प्रजा के प्रति अधिक से अधिक यही धर्म था कि उनके जानमाल की रक्षा करे। आज का राज्य ऐसी विषमताओं का समर्थक नहीं। आज का राज्य वह संस्था है, जिसका आधार-स्तंभ है समता। उसका धर्म है, प्रजामात्र के लिए समान अवसर, समान सुविधा और समान सत्ता की व्यवस्था करना, और जो राज्य इस सत्य को स्वीकार नहीं करता, वह बहुत दिन टिक नहीं सकता।

[संपादकीय। 'जागरण', 25 सितंबर में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

प्रयाग में रामलीला

हमें यह जानकर खुशी हुई कि प्रयाग में तेरह साल के बाद इस साल फिर रामलीला का उत्सव बिना किसी रोक-टोक के मनाया जाएगा। प्रयाग के हाकिम जिला ने इस

तत्त्व को स्वीकार करके अपनी न्यायपरता का परियच दिया है कि प्रत्येक समाज को अपने धर्मोत्सव मनाने का अधिकार है।

[सपादकीय। 'जागरण', 25 सितबर, 1933, म प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-3 मे संकलित।

मिसेज ऐनी बेसेंट का स्वर्गवास

मिसेज ऐनी बेसेंट की मृत्यु का समाचार पढ़कर हमें दुख नहीं हुआ, क्योंकि वह उस अवस्था को प्राप्त हो चुकी थीं जब उन्हें विश्राम की सख्त जरूरत थी। उनका अवसान उतना ही स्वाभाविक था जितना किसी बालक का विकास होता है। संसार में बहुत कम प्राणी हैं जिनके जीवन में कर्मयोग का ऐसा आदर्श मिलता हो। सत्य को ग्रहण करने में उन्होंने रूढ़ियों की कभी परवाह नहीं की। जब उन्हें ईसाई धर्म से असंतोष हुआ तो उन्होंने सत्य की खोज में अपने पुराने नाते तोड़ दिए। अंत में कर्म सिद्धांत ने उनकी ईश्वर-द्रोही आत्मा को शांत किया और उनका शेष जीवन इसी सिद्धांत के प्रचार में व्यतीत हुआ। उसमें कान करने की अद्‌भुत शक्ति थी।

वह अकेली जितना काम कर सकती थीं, वह शायद एक दर्जन मुनष्यों से भी न होता। एक साथ, दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्रों का निकालना, धर्म और दर्शन पर अमर ग्रंथों की रचना करना, बराबर सत्य के प्रचार के लिए व्याख्यान देते रहना और थियोसोफिकल सोसाइटी जैसी संस्था का संचालन करना और उसके साथ ही भारत के स्वाधीनता-संग्राम में भी प्रमुख भाग लेना, उन्हीं तपस्वी आत्मा का काम था। आज विशाल हिन्दू विश्वविद्यालय है, उसका हिन्दू-कालेज के रूप में मिसेज बेसेंट ने ही बीजारोपण किया था। उनके दो एक सिद्धांत से हमें मतभेद था पर उन्होंने जिस बात को सत्य समझ लिया उसके प्रतिपादन में किसी विरोध की चिंता नहीं की और उनकी वक्तृत्व शक्ति तो अद्वितीय थी। वह इस शताब्दी की सबसे यशस्वी महिला थीं और हमें विश्वास है कि उनकी मिसाल बहुत दिनों तक असंख्या स्त्री-पुरुषों को सात्विक उद्योग का आदेश देती रहेगी।

[संपादकीय। 'जागरण', 25 सितबर, 1933 म प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-3 मे सकलित।]

जस्टिस यंग के दौरे

जस्टिर यंग ने थोड़े ही दिनों में अपनी निर्भीक न्यायप्रियता से देश का सम्मान और प्रेम प्राप्त कर लिया है और हर्ष की बात है कि वह अपनी सेवा के क्षेत्र को बढ़ाते जा रहे हैं। इधर वह कितने ही जिलों में दौरे करके स्काउट-आंदोलन का बड़ा उपकार कर रहे हैं। मगर बेडेन पावेल स्काउटों की संस्था में सेवा-समिति-स्काउट क्यों मिला दिए जाएं, क्यों न बेडेन पावेल की संस्था सेवा-समिति-स्काउटों में मिला दी जाए, यह हमारी समझ में नहीं आता। सेवा-समिति संस्था राष्ट्रीय संस्था है, यानी वर्तमान दशा में जितनी राष्ट्रीय हो सकती है। बेडेन पावेल की संस्था विदेशी संस्था है, जिसकी

आत्मा में विदेशीयता भरी हुई है। जब दोनों संस्थाएं हर बात में समान हैं तो न्याय यही कहता है कि बेडेन पावेल स्काउट-दल तोड़कर सेवा-समिति में मिला दिया जाए। जस्टिस यंग ऐसा नहीं करते, तो हम उन्हें सलाह देंगे कि वह अपनी सेवाओं को हाईकोर्ट तक ही सीमित रखें, जहां वह बड़ी योग्यता का परिचय दे रहे हैं।

[संपादकीय। 'हंस', अक्टूबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग', भाग-3 में संकलित।]

जापान-भारत संवाद

जापान-भारत संवाद के समाचारों से अभी तक यही मालूम हुआ कि जापानी डेपुटेशन खूब अच्छी तरह तैयार होकर आया है, पर भारत अभी बिलकुल तैयार नहीं है। जब जापान भारत से सालाना तीस करोड़ रुपये की रुई खरीदता है, तो प्रश्न यह उठता है कि जापान ने भारत की रुई का बहिष्कार कर दिया तो रुई पैदा करने वाले किसानों को तीस करोड़ रुपये कौन देगा? यह कहना कि जापान केवल धमकी दे रहा है और उसका भारत की रुई के बगैर काम नहीं चल सकता, जनता को धोखा देना है। जब भारत के कपड़े का बाजार जापान के लिए बंद हो जाएगा, तो वह इतनी रुई लेकर क्या करेगा। उसे रुई की मांग इसलिए तो है कि भारत में उसके कपड़े की खपत है। कपड़े की मांग कम होते ही रुई की मांग आप ही आप कम हो जाएगी। कुछ वर्ष पहले तो जापान का यहां कुल दस करोड़ का कपड़ा बिकता था, हालांकि रुई वह तीस करोड़ की खरीदता था। पिछले तीन वर्षों में जापानी कपड़े की खपत यहां बढ़ गई है, फिर भी तीस करोड़ का जापानी कपड़ा किसी तरह नहीं बिकता। बाहरी कपड़े की खपत इस वक्त चालीस पैंतालीस करोड़ से अधिक नहीं है। उसमें आधे से ज्यादा अभी तक इंग्लैंड का कपड़ा है। हमें तो यही मालूम होता है कि जापानी कपड़ों को बाहर निकाल कर भारत अपने किसानों और कपड़ो को गाहकों दोनों ही के साथ अन्याय करेगा। अब कोई यह नहीं कह सकता कि जापानी कपड़ा जापानी सरकार की मदद से इतना सस्ता बिकता है। उसके सस्तेपन का रहस्य उसके मजदूरों की निपुणता और कारखानों के सुप्रबंध पर है। क्यों भारत में अच्छे कारीगर जमा करने की चेष्टा नहीं की जाती और क्यों प्रबंध किफायत मे नहीं किया जाता और उनकी अयोग्यता का तावान जनता से क्यों लिया जाता है? हम यह नहीं कहते कि जापानी कपड़ा बेरोक टोक भारत में आवे। कुछ प्रतिबंध होना आवश्यक है। इसमें हमें कोई खराबी नहीं मालूम होती कि जापान जितने की रुई खरीदे, अगर ज्यादा नहीं तो उसके आधे रुपये के कपड़े तो यहां बेच सके। मिल वालों को भी सोचना चाहिए कि जब किसानों के पास रुपये ही न होंगे तो उनके कपड़े कौन खरीदेगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 2 अक्टूबर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 मे संकलित।]

पंजाब की म्युनिसिपैलिटियां

पंजाब की म्युनिसिपैलिटियों की 1931-32 की वार्षिक आलोचना करते हुए पंजाब सरकार ने इन संस्थाओं के व्यक्तिगत झगड़ों और उनके अनुत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार की कड़ी निंदा की है। मगर पंजाब में ही नहीं, प्रायः सारे भारतवर्ष में यही दशा है। ऐसी शायद ही कोई म्युनिसिपैलटी या जिला-बोर्ड हो जहां मेंबरों का अधिकांश समय तू-तू मैं मैं और एक दूसरे को उखाड़ने की फिक्र में न लगता हो। बात यह है कि हमने अभी तक पब्लिक सेवा का महत्त्व नहीं समझा। लोग अपने-अपने स्वार्थ लेकर जाते हैं और इसीलिए ऐसे झमेले पैदा होते रहते हैं। हमारे खयाल में ऐसे ही सज्जनों को ऐसी संस्थाओं में जाना चाहिए, जो निस्वार्थ भाव से जनता की सेवा कर सकें। यहां तो लोग मेंबर होते ही निर्वाचन में जो कुछ खर्च पड़ा था, उसे किसी न किसी तरह वसूल करने के उपाय सोचने लगते हैं। हमारी संस्थाओं पर यह बड़ा बदनुमा दाग है और हमें इसे मिटाना पड़ेगा। हम यह मानते हैं कि अन्य देशों में भी इस तरह के दृश्य देखने में आते हैं, और कभी-कभी पार्लामेंटों में गाली-गलौज, लात घूंसों की नौबत आती है, पर जितनी बेईमानी यहां होती है वह तो शायद ही कहीं हो। एक बात और भी है। सरकार की भी इस मुआमले में कुछ न कुछ जिम्मेदारी अवश्य है। सरकारी नौकर जिस ढिठाई से रिश्वतें लेते हैं, उस पर सरकार कभी आलोचना नहीं करती। इसका असर पब्लिक जीवन पर पड़ना स्वाभाविक है। अगर सरकार कठोरता के साथ इस तरह की बेईमानी का दमन करे तो हमारे विचार में हवा का रुख बदल जाएगा। अभी तो मेंबर सोचता है जब सभी रिश्वतें लेते हैं तो फिर हम क्यों चूकें। इस कुत्सित स्वार्थ की जड़ खोदने में सरकार भी बहुत कुछ सहायता कर सकती है।

[संपादकीय। 'जागरण', 2 अक्तूबर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

पिछली मर्दुमशुमारी

भारत सरकार ने 1931 में जो मनुष्य गणना कराई थी, उसकी पूरी सच्चाई यानी उसके एकदम ठीक होने के विषय में बहुतों को तीव्र संदेह है और इस संदेह के कई कारण हैं। कांग्रेस का सत्याग्रह आंदोलन बहुत जोरों पर था। हिन्दुओं की एक बहुत बड़ी संख्या कांग्रेस सेवा में संलग्न थी। ऐसे अवसर पर उन्होंने मर्दुमशुमारी का बहिष्कार किया। बहिष्कार उचित था या अनुचित, इसका प्रश्न नहीं है पर यह सत्य है कि गणना करने वाले अपने मन से ही गिनती लिखकर चल देते थे। बहुतों को पता भी न चला और गिनती हो गई। मुसलमानों ने बहिष्कार का उलटा किया और अपनी संख्या अच्छी तरह लिखाई। वे जानते थे कि मताधिकार का प्रश्न आ रहा है। इसलिए गणना अधिक लिखानी ही चाहिए। इसलिए 1931 की गणना के अनुसार हिन्दू-मुसलमान अनुपात का वास्तविक अनुमान नहीं किया जा सकता।

फिर भी, गणना में सरकार की ओर से काफी परिश्रम किया गया है। जनता के सहयोग के अभाव में धांधली भी हुई, पर उसका विशेष बुरा फल न हुआ। यह अवश्य हुआ कि शारदा बिल के पंजे में फंसने से बचने के लिए 14 वर्ष के नीचे की विवाहिता कन्याओं को भी कुमारी लिखाया गया, अतएव विवाहितों की ठीक संख्या ज्ञात न हो सकी।

पर, जो रिपोर्ट अभी हाल में प्रकाशित हुई है, उससे बहुत-सी बहुत रोचक बातें मालूम हुई हैं। सबसे रोचक बात तो यह है कि आबादी की दृष्टि से भारत संसार भर में सबसे आगे है। यहां के निवासियों की संख्या चीन से भी अधिक हो गई है। अकाल, बाढ, महामारी सबका कोप होते हुए भी चीन के भीषण नर-संहार के कारण भारत, चीन के भी आगे बढ़ आया है। क्षेत्रफल में बंगाल भारत का नवां प्रांत है, पर आबादी में सबसे अधिक और समूचे ब्रिटिश भारत की आबादी का 1-6 अंश यहीं रहता है।

1921 में भारत में शिक्षितों की संख्या 22,623,651 थी, पर 1931 में ब्रिटिश शासन के दस सुनहले वर्षों में बढ़कर केवल 28,131,315 ही हो सकी। यानी आबादी का पीछे 7 प्रतिशत का औसत बढ़ कर केवल 8 प्रतिशत ही हो सका।

भारत में नागरिकों की संख्या 38,985,427 यानी कुल जनसंख्या का केवल 11 प्रतिशत ही है। कृषि की जीविका करने वालों का औसत 71 प्रतिशत है। विवाह योग्य विधवाओं की संख्या 83,13,773 है। 1931 में पागलों की संख्या 130,304, बहरों गूंगों की संख्या 231,895, अंधों की 6,01,370 और कोढ़ियों की 1,47,911 थी। संगठित मजदूरों की संख्या 5,000,000 समझनी चाहिए। व्यापार में लगे हुए लोगों की संख्या घटकर 82 लाख ही रह गई। जन-सेवा 1,040,000 से घटकर 8,41,000 रह गई, साम्राज्य तथा स्टेट सेना 4,40,000 से घटकर 3,17,000 हो गई है।

अस्तु ये रोचक आंकड़े हमारी दुर्दशा तथा अभ्युदय दोनों को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त हैं और आशा है कि पाठकों को इनसे कुछ नई बातें मालूम होंगी।

[संपादकीय। 'जागरण', 2 अक्तूबर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

प्रयाग की रामलीला बंद

पिछले अंक में हमने इस बात पर अपनी खुशी जाहिर की थी कि नौ साल के बाद इस साल फिर रामलीला हो रही है और हाकिम जिला ने बिना किसी शर्त के रामलीला का जुलूस निकालने की अनुमति दे दी है, पर जिस वक्त मि० बिशप ने यह हुक्म दिया था, प्रयाग के पुलिसाध्यक्ष नैनीताल गए थे। बाद में वह आए और तुरंत रामलीला की चारों कमेटियों को सूचना दे दी कि शाम होने के पहले सब जुलूसों को रामलीला के मैदान में पहुंच जाना पड़ेगा। स्पष्ट रूप से तो यह नहीं कहा गया है, पर इस सूचना का अभिप्राय यही है कि शाम की नमाज के पहले जुलूस निकल जाए, वरना शांति भंग हो जाने की जिम्मेदारी वह नहीं ले सकते। रामलीला कमेटियों ने इस

शर्त को नहीं स्वीकार किया और रामलीला फिर स्थगित हो गई। हम नहीं कह सकते कि पुलिस सुपरिटेंडेंट ने प्रयाग के मुसलमानों से इस विषय में सलाह करके यह नतीजा निकाला, या उन्हें शांति भंग होने का स्वयं विचार उत्पन्न हो गया। जहां हमें मालूम है मुसलमानों की तरफ से किसी तरह की आपत्ति न थी और हम यह भी मान लें कि कुछ मुतअस्सिब मुसलमानों को आपत्ति हो भी, तो उनके लिए एक पूरे समाज का धर्मोत्सव क्यों बंद कर दिया जाए। आखिर सरकार किसलिए है। उसका काम क्या यह नहीं कि समाज के हर एक अंग को, उसके जायज कामों में मदद दे। इस जिम्मेदारी से वह क्योंकर बच सकती है।

[संपादकीय। 'जागरण', 2 अक्टूबर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

ब्रिटेन के लिए असह्य

कई दिन हुए ब्रिटेन की उस पार्टी ने जो भारत को हमेशा अपने अधिकार में रखने की इच्छुक है कई पेंशनर जेनरलों की एक संयुक्त चिट्ठी छापी थी, जिसका आशय था कि ब्रिटेन अपने सैनिक शक्ति से भारत पर शासन किए जा सकता है। एक-दूसरे अंग्रेज जनरल ने जिसका नाम सर डब्ल्यू मियार्न हेनेकर है उन जेनरलों का जवाब देते हुए कहा कि यह सत्य है कि हम भारत पर सैनिक शासन कर सकते हैं, लेकिन इसका बोझ इतना अधिक होगा कि ब्रिटेन उसे संभाल न सकेगा। आप आगे कहते हैं–

"कोई व्यवस्था भारत में विद्वेष पैदा करने के लिए इससे अच्छी नहीं सोची जा सकती कि भारत को पशुबल से अपने अधीन रखा जाए। भारतीय सेना के क्रमशः भारतीयकरण का समर्थन प्रायः हरेक जी० ओ० सी० ने किया है।" लेकिन इस वक्त मि० चर्चिल के सामने किसकी चल सकती है।

[संपादकीय। 'जागरण', 2 अक्टूबर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

भारत में प्रेस

'भारत में समाचार-पत्रों की दशा' पर व्याख्यान देते हुए सर सी० वी० रमन ने बहुत ठीक कहा कि पत्रों का संपादन एक तनी हुई रस्सी पर चलने के समान है और संपादक को सदैव सचेत रहना पड़ता है, वरना जरा भी उसका बैलेंस इधर या उधर हुआ तो एक ओर वह 'प्रेस ऐक्ट' के गढ़े में गिर पड़ता है, दूसरी ओर हतक के इलजाम के मुंह में। आपने फरमाया कि ऐसे व्यवसाय में भी जहां हर वक्त सिर पर तलवार लटकती रहती है, आर्थिक कठिनाइयों के कारण दशा और भी खराब हो जाती है और इसका कारण केवल यही है कि यहां लोग दाम देकर पत्र पढ़ना नहीं चाहते। किसी ट्रेन में सफर करते वक्त जब एक सज्जन कोई अखबार मोल लेते हैं, तो कितनी उत्सुक आंखें लालसा से भरी हुई पत्र की ओर लग जाती हैं

और कितनी निर्लज्जता से लोग अखबार मांगने लगते हैं, यह हम रोज आंखों देखते हैं। गरीबी का यहां प्रश्न नहीं है। मजदूरों से, या फाका करने वाले किसानों से कोई आशा नहीं करता कि वे अखबार पढ़ेंगे। मगर जब पढ़े-लिखे आदमी जो रोज दस-पांच आने पान-सिगरेट में उड़ा देते हैं, मंगनी मांगकर पत्र पढ़ने की साध मिटा लेते हैं, तो समाचार पत्र कैसे चलें और देश में उनका कैसे वह प्रभाव हो जो अन्य देशों में पत्रों का है। अधिकांश पत्र विज्ञापनों के बल पर चलते हैं और सभी तरह के विज्ञापन छापने के लिए उनके कालम खुले रहते हैं। जिन विदेशी चीजों के बहिष्कार के लिए संपादक कालम के कालम काले करता है उन्हीं विदेशी चीजों की तारीफों के पुल वह विज्ञापनों में बांधता है। मगर वह मजबूर है। अगर ऐसा न करे, तो उसका पत्र एक दिन न चले। अन्य देशों में हजारों सुशिक्षित युवक समाचार-पत्रों में काम करके नाम और यश दोनों कमाते हैं। यहां कोई गुंजाइश नहीं।

[सपादकीय। 'जागरण', 2 अक्तूबर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 मे सकलित।]

विधवाओं के गुजारे का बिल

श्री हरिविलास शारदा ने अपनी सामाजिक सेवा से भारत के इतिहास मे अमर पद प्राप्त कर लिया है। अब उन्होंने हिन्दू-विधवाओं के गुजारे का बिल असेंबली में पेश करके समाज की जो सेवा की है, उसके लिए समाज को उनका कृतज्ञ होना चाहिए। हिन्दू-समाज के पतन का मुख्य कारण अगर जाति भेद है, तो विधवाओं की दुर्दशा भी उसका खास सबब है। वही स्त्री जो पति के जीवन काल में घर की स्वामिनी थी और जिसने उस गृहस्थी के निर्माण में पति के साथ सारी कठिनाइयां झेलीं, पति के मरते ही अनाथ हो जाती है। उसी की गोद के लड़के उससे आंखें फेर लेते है और उसकी जो दुर्गति होती है, वह हम नित्य अपनी आंखों देखते हैं। उसे केवल अपने लड़ाकों या पति के बंधुओं की दया का अवलंबन रह जाता है। पति की छोड़ी हुई संपत्ति पर उसका कोई अधिकार नहीं रह जाता। अगर सम्मिलित परिवार है, तब तो उसकी दशा और भी शोचनीय हो जाती है। वह स्वामिनी से लौंडी हो जाती है और सारे घर की सेवा करके अपने जीवन के दिन काटती है। इस दशा में कितनी ही घर से निकल जाती हैं, कितनी अपमान और कठिनाइयों से तग आकर पतिता हो जाती हैं।

यह बिल विधवाओं को अपने पति की संपत्ति में कानूनी अधिकार देने के लिए बनाया गया है। आज हमारी समझ में ऐसा शायद ही कोई शिक्षित व्यक्ति हो जो इस बिल का विरोध करे, लेकिन कट्टर संप्रदाय के महानुभावों से हमें शंका है, जिनकी संख्या असेंबली में कम नहीं है, वरना अछूतों का मंदिर प्रवेश बिल अब तक कब का पास हो चुका होता। शायद उनकी ओर से इस आधार पर विरोध किया जाए कि विधवा संपत्ति पाकर उसे अपने मैके वालों को दे देगी, या कोई उलझन पैदा की जा सकती है, पर इन महानुभावों से हमारा यही निवेदन है कि यदि आप हिन्दू समाज

के हितचिंतक हैं, तो इस बिल में रोड़े न अटकाइए। अगर पुरुष अपनी संपत्ति का जिस तरह चाहे उपयोग कर सकता है, तो स्त्री को क्यों उस अधिकार से वंचित किया जाए। जब संपत्ति पर उसका कानूनी अधिकार हो जाएगा तो उसके लड़के अथवा बंधु सभी उसका आदर करेंगे और किसी को उसकी मर्जी के खिलाफ कोई काम करने का साहस न होगा। औरत मैके की ओर तब भागती है, जब ससुराल में कोई बात नहीं पूछता। जब ससुराल में उसे आदर और रक्षा मिलेगी तो वह मैके क्यों जाने लगी। जो कुछ भी हो, इस समय हमारा सामाजिक धर्म यह है कि शास्त्रों और स्मृतियों की शरण लेकर इस बिल को रद्द कराने की चेष्टा न करें। विधवाओं के साथ समाज ने बड़ा अन्याय किया है, और अन्याय को पालकर कोई समाज सरसब्ज नहीं हो सकता।

[संपादकीय। 'जागरण', 2 अक्टूबर, 1933 म प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग 3 में सकलित।]

अजमेर में श्रीदयानन्द-निर्वाण अर्धशताब्दी

ऐसा तो भारतवर्ष में शायद ही कोई हो जो अजमेर में अर्ध शताब्दी के उत्सव का विरोधी हो। ऐसे उत्सवों में राष्ट्र में जागृति और उत्साह उत्पन्न होता है और अपने उद्धारकों की यादगारी मनाना सभ्य राष्ट्रीय जीवन का एक अंग है। यों तो हर नगर में आर्यसमाज के सालाने जलसे होते रहते हैं और गुरुकुल के उत्सवों में भी समाज के मुख्य-कार्यकर्ताओं मे विचार-विनिमय होता ही रहता है, पर स्वामी जी के निर्वाण के पचास वर्ष बीत जाने पर यह आवश्यक है कि जिस संस्था को उस महान पुरुष ने जन्म दिया, उसके प्रमुख नेता एक साथ बैठकर यह विचार करें कि जिस मार्ग पर वे अपनी संस्था को ले जा रहे हें, वही वर्तमान दशा में सबसे अच्छा मार्ग है या उसमें कुछ रद्दो बदल करने की जरूरत है। और अगर जरूरत है तो क्या है। इस उत्सव के लिए भांति-भांति के मनोरंजनों और तमाशों का प्रबंध करना उस अवसर के महत्त्व को घटा देना है। इसका अर्थ तो यही हो सकता है कि इन तमाशों के बगैर उत्सव सफल ही न होता। उसके साथ ही हम देखत हैं कि वहां कई ऐसे खर्च हैं जो किसी सिद्धांत से भी उचित नहीं सिद्ध किए जा सकते।

मसलन हमें ज्ञात हुआ है कि वहां हवन में दस हजार खर्च करने का निश्चय किया गया है। देश में जब ऐसी आर्थिक दशा फैली हुई है कि करोड़ों मनुष्यों को एक वक्त सूखा चना भी मयस्सर नहीं, दस हजार का घी और सुगंध जला डालना न धर्म है, न न्याय। हम तो कहेंगे, यह समाज के प्रति अपराध है। क्या इस रुपये का इससे अच्छा कोई खर्च न निकाला जा सकता था? बेशक इतना शानदार हवन देश में एक विलक्षण बात होगी। जो लोग हवन-कुंड के चारों ओर बैठे यज्ञ-कर्ता बने हुए घी के कुप्पे के कुप्पे आग मे झोंकेंगे उन्हें और तमाशाइयों को एक प्रकार की सनसनी अवश्य होगी, पर उस सनसनी की इतनी कीमत बहुत ज्यादा है। धार्मिकता भी खास हालतों में आपत्तिजनक हो जाती है।

[संपादकीय। 'जागरण', 9 अक्टूबर, 1933 मे प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-3 में संकलित।]

कांग्रेस और सोशलिज्म

अंग्रेजी ही नहीं, भाषाओं के पत्रों में भी इस पर बड़ा जोर दिया जा रहा है कि महात्मा गांधी और पंडित जवाहरलाल नेहरू के राजनैतिक आदर्शों में बड़ा अंतर है, दोनों ही महानुभावों की नीति अलग है, मनोभाव अलग हैं, आदि। बिल्कुल ठीक, लेकिन यह आज से नहीं, उसी वक्त से है, जब से दोनों वीरों ने कर्मक्षेत्र में कदम रक्खा। महात्माजी महात्मा हैं, जवाहरलाल महात्मा नहीं, हम और आप जैसे मनुष्य हैं। अहिंसा पं० जवाहरलाल के लिए और महात्मा जी के सिवा संपूर्ण भारत के लिए केवल एक नीति है धर्म नहीं, विश्वास नहीं, हमारा ख्याल है कि यह खुला हुआ भेद है। रहा सोशलिज्म वह तो महात्मा जी और पं० जवाहरलाल में केवल मात्रा का भेद है। महात्मा जी तो सोशलिज्म से भी आगे बढ़े हुए हैं, कम्युनिज्म से भी। वह अपरिग्रहवादी हैं, पंडित में जी सोशलिस्ट हैं और उनके साथ कांग्रेस का बहुत बड़ा भाग सोशलिस्ट है। कांग्रेस में जमींदार भी हैं, राजे भी हैं, पर मजदूर पार्टी में क्या लार्ड और सर नहीं हैं? यह तो केवल मनोवृत्ति की बात है। एक आदमी फाकेमस्त होकर भी पूंजीवादी हो सकता है, दूसरा करोड़पति भी होकर साम्यवादी हो सकता है। इस बीसवीं सदी में लार्ड और अर्ल केवल कंजरवेटिव ब्रिटेन में ही हो सकते हैं। दुनिया के शेष भागों में इन खिताबों और पदवियों को ठुकरा दिया है। कंजरवेटिज्म के लिए दुनिया में अब कहीं स्थान नहीं है। बीसवीं सदी सोशलिज्म की सदी है जो संभव है आगे चलकर कम्युनिज्म का रूप धारण कर ले। भारत जैसे देश में जहां आबादी का बड़ा हिस्सा गरीबों का है, जिनमें पढ़े-अनपढ़े सब तरह के मजूर हैं, सोशलिज्म के सिवा उनका आदर्श हो ही क्या सकता है। अगर आज कांग्रेस पार्टी का रेफरेंडम हो तो हमारा खयाल है, बहुमत सोशलिज्म का होगा, पर उसके एक ही दो कदम पीछे कम्युनिज्म भी नजर आएगा। ऐसी संस्था महज इस शंका से, कि मुट्ठी भर जमींदारों का सहयोग उसके हाथ से जाता रहेगा अपने आदर्शों का त्याग नहीं कर सकती। अगर इसके लिए वर्गवाद की विपत्ति आए, और जो लोग भूमि और धन पर कब्जा किये बैठे हैं, वे अनंत काल तक उसे भोगने की इच्छा रखें, तो संघर्ष होना लाजिम ही है। कांग्रेस संपत्तिधारियों से ख्वामख्वाह झगड़ा करने की इच्छुक नहीं। उसका बहुत बड़ा बहुमत अभी तक महात्मा गांधी के साथ हृदय-परिवर्तन का समर्थक है, रक्तमय क्रांति का नहीं। कांग्रेस ने इस नीति को कभी गुप्त नहीं रखा। उसकी अपनी उचित व्यवस्था में बड़े-से-बड़े पदाधिकारी के लिए केवल पांच सौ रुपया वेतन रखना ही बतला रहा है कि उसकी आर्थिक और सामाजिक नीति क्या है। पं० जवाहरलाल सोशलिस्ट हैं, जैसे प्राय: सभी कांग्रेसमैन हैं, व्यवहार से हों या न हों, पर विचार से अवश्य हैं और सोशलिस्ट जायदाद वालों का दोस्त नहीं होता, चाहे दुश्मन न हो।

[संपादकीय। 'जागरण', 9 अक्टूबर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

कांग्रेस के बेकार वालंटियर

हमें यह देखकर दु:ख होता है कि कांग्रेस के कितने ही नवयुवक आजकल बेकारी में मारे-मारे फिर रहे हैं और कहीं आश्रय नहीं पाते। जिस बात को उन्होंने सत्य समझा उसके लिए सब तरह के कष्ट झेले। अब उनके पास न खाने को पैसे हैं, न पहनने को कपड़े। कितने ही तो पैसे-पैसे को मुहताज हैं। तीन-चार साल से कांग्रेस की सेवा ही उनके जीवन का काम हो गया था। खेद है कि जनता उनकी ओर से बिल्कुल उदासीन हो रही है। उनमें कितने ही किसी प्रकार का काम चाहते हैं जिससे वे रोटियां कमा सकें, दूसरों के भार न बनें, पर कहां काम मिलता। यदि हमारे नेता उद्योग करें तो इन गरीबों के लिए कोई काम निकाला जा सकता है, पर आजकल तो शिथिलता छा गई है, उसने हमें इतना निरुत्साह कर दिया है कि शायद हमें अपने ऊपर भरोसा ही नहीं रहा। जिन लोगों ने तालियां बजा-बजाकर और फूलों के हार पहना-पहनाकर इन युवकों को जेल भेजा था, आज वे इनके गुजारे का कोई प्रबंध नहीं कर सकते? जिनके मां-बाप हैं, या जिनके घरवाले उनका स्वागत करने को तैयार हैं, उसने तो कोई मतलब नहीं, लेकिन जिन्होंने कांग्रेस के लिए अपना काम-धंधा छोड़ दिया, अकसर घर वालों से बिगड़ बैठे, उनके लिए अब कहां आश्रय है।

[संपादकीय। 'जागरण', 9 अक्टूबर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

खेती की पैदावार कम करने का आयोजन

योरोप के अर्थशास्त्रज्ञों ने बड़ा ही आसान नुस्खा दूंढ निकाला है। बस, जिस चीज का दाम गिर जाए उस चीज की पैदावार कम कर दो। गेहूं का दाम गिर गया। चटपट गेहूं सम्मेलन हो गया ओर उसमें यह तय कर दिया गया कि पंद्रह फीसदी गेहूं की खेती घटा दी जाए। रबर का दर गिरा, बस, रबर की खेती कम कर दो। अब चाय का दर गिर रहा है। चाय के कारखानों में नफा नहीं हो रहा है। बस, चाय के बागों के मालिकों ने तय कर लिया कि चाय कम तैयार की जाए। पूंजीपति को सस्ती काले सांप-सी नजर आती है। वह तो मंहगी चाहता है जिसमें थोड़ी-सी चीज देकर वह थैलियां भर ले। काश्तकार चाहता है और ईश्वर से मनाता है कि खेतों में इतना अनाज हो जाए कि वह दोनों हाथों लुटाए। मगर जिसने खलिहान का सारा माल अपने बखारों और खत्तियों में भरकर रखा है, वह प्रात:काल पंसेरियां लुढ़काता है कि भाव तेज हो। वह सदैव अकाल की कामना किया करता है।

आज इस सस्ती में गरीबों को भोजन नहीं मिल रहा है। सस्ती का कारण यह नहीं है कि फसल अच्छी हो रही है, बल्कि किसी के पास खरीदने का पैसा नहीं है और लोग भूखों मर रहे हैं। खाने-पीने की चीजों की उपज घटाकर व्यपारियों को नफा तो खूब होगा, इसमें शक नहीं, पर जब सस्ती में अधिकांश आदमी भूखों मर रहे हैं तो उस महंगी में उनकी क्या दशा होगी यह हमारे अर्थशास्त्री नहीं सोचते।

मर जाएंगे? मर जाएं और पृथ्वी का बोझ हल्का हो जाएगा। संसार में जो यह तबाही आई हुई है, इसका कारण योरोप के पूंजीपति हैं और आज समस्त संसार को उन्हीं के पापों का प्रायश्चित्त करना पड़ रहा है। अगर पैदावारों के घटाने की यही सनक कुछ दिन और रही, तो ये लोग संसार को निर्जन बनाकर छोड़ देंगे। यह साम्राज्यवाद की विपत्ति जिससे संसार त्राहि-त्राहि कर रहा है, यह किसकी बुलाई हुई है? इन्हीं कुबेर के गुलामों की। यह जो चुंगियों की प्रत्येक देश ने दीवारें खड़ी कर ली हैं, यह किसकी कृपा है? इन्हीं पूंजीपतियों की। यह जो बड़ी-बड़ी लड़ाइयां होती हैं, जिनमें खून की नदियां बह जाती हैं, इनका जिम्मेदार कौन है? यही लक्ष्मी के उपासक। संसार इनके भोग का क्षेत्र है। सारी राज्य-व्यवस्था, यह बड़ी-बड़ी सेनाएं, ये जंगी बेड़े, ये हवाई जहाजों की परें इन्हीं व्यापारियों के फायदे के लिए तो हैं। वे संसार के स्वामी हैं, पार्लामेंट और सेनेट-सिंडिकेट तो उनके खिलौने हैं। भारत भी उनकी माया जाल में फंसा हुआ अपनी किस्मत को रो रहा है।

[सपादकीय। 'जागरण', 9 अक्टूबर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

ज्वाइंट सेलेक्ट कमेटी में पदाधिकारियों को आश्वासन

अन्य देशों में राजनैतिक व्यवस्थाओं का एकमात्र उद्देश्य राष्ट्र का कल्याण और उन्नति होती है। एक मंत्रिमंडल जाता है, दूसरा आता है। एक दल की जगह दूसरा दल अधिकार प्राप्त करता है। यह सब कुछ जनता के हित के लिए। सरकारी कर्मचारी भी जनता ही के एक भाग हैं, उनका हित-अहित भी राष्ट्र के हित-अहित के साथ बंधा होता है, लेकिन भारत में जो व्यवस्था की जाती है उसमें सबसे पहले यह देखा जाता है, इससे कर्मचारियों–खासकर अंग्रेज कर्मचारियों को कोई नुकसान तो न पहुंचेगा, क्योंकि वहां कर्मचारी राष्ट्र के लिए नहीं हैं बल्कि राष्ट्र कर्मचारियों के लिए है। इसलिए जब से साइमन कमीशन भारत आया, तभी से पदाधिकारियों के मन में शंकाएं उठ रही हैं और वे बार-बार सरकार से इस बात का आश्वासन चाहते हैं कि उनके वेतन, भत्ते, छुट्टियां, पेंशन, अख्तियार सब कुछ ज्यों के त्यों बने रहेंगे और इस बात को वे आने वाली व्यवस्था में शामिल कर देना चाहते हैं और यद्यपि उनके हितों के लिए सरकार ने सफेद कागज में बहुत काफी बंदिशें कर दी हैं, फिर भी ज्वाइंट सेलेक्ट कमेटी की बैठक में जो अब फिर शुरू हुई है, सर सैमुएल होर से उसी विषय पर जिरहें की गई, और जैसे कोई रोगी जब तक डॉक्टर के मुंह से अपने अच्छे होने की बात न सुन ले, उसे संतोष नहीं होता, उसी तरह सैमुएल होर से अपनी इच्छित सारी बातें स्वीकार कराके पदाधिकारी हितों के रक्षकों ने खुशी की सांस ली होगी। बात तो तय थी ही, लेकिन भारत वालों को एक बार सुना देना जरूरी था और वह अभिनय कर दिखाया गया।

नौकरशाही को आने वाली व्यवस्था से शंकाएं हैं, यह तो स्पष्ट ही है, मगर इसका कारण इसके सिवा और क्या हो सकता है कि उन्हें उस वक्त जो रियायतें

और अख्तियार और फायदे हैं उन्हें वे खुद भारत की हालत को देखते हुए सीमा से बढ़ा हुआ समझते हैं, और उन्हें भय है, कि ये मौके उनके हाथ से निकल जाएंगे। वह अपने को भारत की जनता से अलग समझते हैं और उन्हें भारत के हित की उतनी परवाह नहीं है जितनी अपने फायदे की है। वे दिल में खूब समझते हैं कि भारत जैसे दरिद्र देश में जहां सौ में पचास आदमी बेकार हैं, अगर जनता के प्रतिनिधियों के हाथों में कुछ भी अधिकार आया तो ये मजे न रहेंगे। जनता सबसे पहले प्रबंध के खर्च में किफायत करेगी इसलिए वे हमेशा के लिए अपना रास्ता साफ कर लेना चाहते हैं और आने वाली व्यवस्था को ऐसा जकड़ देना चाहते हैं कि वह उनकी ओर तिरछी आंखों देख भी न सके। हम नहीं समझते, जिस व्यवस्था में पदाधिकारियों पर मंत्रियों और जनता के प्रतिनिधियों का कोई दवाब न रहेगा, वह व्यवस्था किस विचित्र ढंग की होगी। ऐसी दशा में उस व्यवस्था को ऐसी महंगी सर्विस के रहते हुए, निर्माण के कामों के लिए जनता पर नए कर लगाने पड़ेंगे और जनता में कर देने की जो शक्ति है, वह पहले ही खत्म हो चुकी है, इसलिए नई व्यवस्था को अपना-सा मुंह लेकर रह जाने के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं रह जाता। जनता प्रबंध में कोई किफायत नहीं कर सकती, नौकरों को जो अख्तियारात मिल गए हैं उनमें किसी तरह की कमी नहीं की जा सकती। ऐसी व्यवस्था उस आदमी की-सी होगी, जिसके हाथ-पांव बांधकर कहा जाए कि अब दौड़ो। वह गरीब हिल तो सकता ही नहीं, दौड़ेगा कहां से। फौज के खर्च में कमी की कल्पना ही नहीं की जा सकती, प्रबंध के खर्च में कमी हो ही नहीं सकती, फिर जनता पर कर-भार कैसे हलका हो सकता है। उसका उपाय एक यही रह जाएगा कि जो कुछ जैसे चलता है, वैसे ही चलता रहे और मंत्री और काउंसिलों के मेंबर काउंसिल भवन में ब्रिज खेलकर अपना मनो-विनोद किया करें। ऐसी व्यवस्था के लिए इतना तूमार क्यों बांधा जा रहा है। जब उससे हमारी दशा में कोई उन्नति होने की आशा नहीं, तो जो इंतजाम चल रहा है वही क्या बुरा है। करोड़ों का खर्च और बढ़ाकर बदले में कुछ न पाना, यह तो बड़ा कठोर दंड है।

[संपादकीय। 'जागरण', 9 अक्टूबर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

मि॰ लांसबरी का बाल-बहलावन

मि॰ लांसबरी ने भारत के नाम एक पैगाम भेजकर कहा है कि लेबर पार्टी बहुत जल्द अधिकार पाने वाली है। उस वक्त वह भारत को तुरंत पूर्ण स्वराज्य प्रदान कर देगी कि चाहे वह साम्राज्य का प्रमुख अंग बनकर रहे या बिलकुल स्वतंत्र हो जाए। मि॰ लांसबरी लेबर पार्टी के प्रमुख नेता हैं और कोई वजह नहीं कि हम उन पर विश्वास न करें। अब तक हमें मजदूर-दल का जो कुछ अनुभव हुआ है वह तो इस वादे पर विश्वास करने में बाधक है, पर हो सकता है कि जिस आदमी ने एक-दो बार अपने वादे न पूरे किए हों, वह तीसरी बार पूरा करे। अविश्वास करके हम अपने

हमदर्दों की हमदर्दी नहीं खो देना चाहते। सब कुछ मजदूर दल के बहुमत पर है। अगर फिर मजदूर दल को वैसा ही बहुमत मिला जैसा पिछले अवसरों पर मिल चुका है, तो मि० लांसबरी सदिच्छा रखते हुए भी कंजरवेटिव दल के सामने सिर झुकाने के लिए मजबूर हो जाएंगे। हां, अगर मजदूर दल को शुद्ध बहुमत मिला, तो हमें आशा है वह अपने राजनैतिक न्याय-नीति का परिचय देने में समर्थ हो सकेंगे। कम से कम मजदूर दलवाले मीठे वादों से दिल तो खुश कर देते हैं। कंजरवेटिव तो जबान से भी जहर ही उगलते हैं। गरीब को तसल्ली के दो शब्द भी बहुत हैं। मीठी बातें करके आप हमारा गला भी काट सकते हैं, आंखें दिखाकर और घुड़कियां जमाकर आप हमारे समीप नहीं आ सकते। यह मानना पड़ेगा कि मेकियावेलियन नीति में लेबर दलवाले कंजरवेटिव दल को अभी कुछ दिनों पढ़ा सकते हैं। मि० रैमजे मैकडोनल्ड को ही देख लीजिए। मजदूर दल का कहां शुमार नहीं है, पर आप बर्तानिया साम्राज्य के प्रधान सचिव बने हुए हैं। मि० बाल्डविन और लायड जार्ज तो क्या, मि० चर्चिल भी इतनी सफाई से चोला न बदल सकते। इस विषय में लेबर पार्टी के सामने कोई दूसरी पार्टी नहीं ठहर सकती।

[संपादकीय। 'जागरण', 9 अक्टूबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

शिमले में तिगड्डम

जापान और लंकाशायर के प्रतिनिधियों को भारत में आए कई दिन हो गए। एक सप्ताह से तो वे शिमले में ही पड़े हुए हैं, पर अभी तक दोनों पैंतरे बदल रहे हैं। और भारत के मिलमालिक एक-दूसरे को आंखें फाड़-फाड़कर देख रहे हैं कि यह तमाशे कब तक होते रहेंगे। इतनी-इतनी दूर से आए हो, तो चटपट अखाड़े में उतरो, हाथ मिलाओ और गुथ जाओ, फिर जापान कभी ऊपर आवे और ब्रिटेन के पुराने पट्ठे को घस्से दे और कभी इंग्लैंड ऊपर आकर जापान को जुजुत्स के हाथ दिखाए। घड़ी-आध घड़ी में किसी न किसी की कुश्ती हो ही जाएगी। मगर यहां तो अभी तक पैंतरेबाजियां हो रही हैं। दोनों एक-दूसरे के डंड-बल्ले देख-देखकर सहम रहे हैं और सामने नहीं आते। हमारे मिल ओनर, इनकी रूह निकली जा रही है कि इनमें जो जीता उसी से उनका फाइनल होगा। जापान जीता, तो खैर सौ-दो सौ फीसदी कर बढ़ाकर उसके माल को रोक देंगे, लेकिन कहीं बर्तानी पहलवान जीत गया, तो भारत के नौसिखिए रंगरूट की खैरियत नहीं। अभी तो जापानी नीतिज्ञों ने समाचार पत्रों को दावतें खिलाईं और उनसे खूब याराना गांठा। अब ब्रिटेन भी उनको दावतें खिला रहा है और याराना गांठ रहा है। इंग्लैंड का पक्ष मजबूत है। उसने ऐसे-ऐसे हजारों दंगल देखे हैं, और इसकी कोई हकीकत नहीं समझता। सर क्लेयरी साहब ने समाचार पत्र वालों का दावत के समय बड़े मारके की बात बतलाई। आपने फरमाया, तुम इसकी चिंता मत करो कि भारत की रुई कौन खरीदेगा। जापान भारत की रुई इसलिए नहीं लेता कि उसे भारत से कोई प्रेम है, बल्कि केवल इसलिए कि उसे सस्ती

रुई और कहीं मिलती नहीं। वह अपने सुभीते को देखकर ही यहां की रुई खरीदता है। उसके कपड़े पर कर बढ़ा दिया जाएगा, फिर भी वह भारत की रुई लेता रहेगा। और उसका सुभीता न हुआ तो चाहे भारत उसका कितना ही कपड़ा क्यों न ले, वह दूसरी जगह रुई खरीदेगा। रहा इंग्लैंड, वह भारत की ज्यादा रुई खर्च करने का विचार कर रहा है, मगर सर क्लेयरी महोदय यह आशा नहीं दे सके कि आखिर भारतीय रुई का कौन-सा भाग लंकाशायर खरीदेगा। जापान तो भारत की तीस करोड़ की रुई लेता है। लंकाशायर लेता है तीस करोड़ की रुई? तीस न सही पच्चीस सही? नहीं लंकाशायर भारत की कुल रुई का पांचवां भाग खरीदता है। तो भारत के किसानों से अगर पूछा जाए तो वे जापान को नाराज न करेंगे, यह बंबई और नागपुर वालों के लाभ के लिए अपने को तबाह नहीं करना चाहते, मगर उन गरीबों को सुनता कौन है। उनकी पहुंच भी वहां कहां। होगा यही कि महीने भर की बैताबहस और अंताक्षरी के बाद जापान पर पिचहत्तर फीसदी कर लग जाएगा, वह अपनी रोनी सूरत लिए उधर जाएगा, इधर इंग्लैंड मूछों पर ताव देता हुआ अपना खोया हुआ व्यापार वापस ले लेगा और हमारे मिल वाले आगमतल्ब सेठजी अपने भरे हुए गोदामों को देख-देखकर किस्मत ठोकेंगे।

[संपादकीय। 'जागरण', 9 अक्टूबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

कांग्रेस का नया प्रोग्राम

यह तो जाहिर ही है कि कांग्रेस-कैंप में इस वक्त दो बड़े-बड़े दल हैं, एक वह जो वर्तमान नीति से निराश होकर कौंसिलों में जाना चाहता है और गवर्नमेंट को उस किले में भी शांति से नहीं बैठने देना चाहता, दूसरा वह है जो कहता है कि जिस वक्त हमने सत्याग्रह शुरू किया उस वक्त परिस्थिति इससे कहीं अच्छी थी, न इतने सख्त कानून थे, न इतना कठोर बंधन, उस समय जब हमने सरकार का विरोध करना आवश्यक समझा, तो आज जब परिस्थिति उससे कहीं खराब हो गई है, हमारे लिए कांग्रेस में जाने का सवाल ही नहीं पैदा होता।

लेकिन सवाल यह है कि कांग्रेस कौंसिल में न जाकर किस तरह अपना संग्राम जारी रख सकेगी, किस तरह गवर्नमेंट पर दबाव डाल सकेगी।

अगर महात्मा गांधी की भांति सभी कांग्रेसमैन या कम से कम उसके नेता ही सच्चे सत्याग्रही होते और मन में बिना हिंसा या प्रतिकार का भाव आए, शत्रु से प्रेम करते हुए उसकी नीति का विरोध कर सकते, तो उसकी अवश्य विजय होती, क्योंकि गवर्नमेंट के अधिकारियों पर उनकी तपस्या का असर पड़ता और आत्महीन गवर्नमेंट में भी कहीं न कहीं से चेतना उत्पन्न हो जाती, पर कांग्रेसमैन मनुष्य हैं, तपस्वी नहीं और उनकी अहिंसा अपनी असमर्थता के ज्ञान से पैदा हुई है। इसलिए उसका कोई आध्यात्मिक मूल्य नहीं है।

अब तो फैसला संपूर्णतः भौतिक क्षेत्र में होगा। अगर हम कोई ऐसी व्यवस्था

निकाल सकें जिससे नौकरशाही को ठेस लगे, तो हमारी विजय है, अन्यथा रस्सा खींचने वालों की भांति जहां हारनेवाला लक्ष्य से दूर होता जाता है, हम भी लक्ष्य से दूर होते जाएंगे।

कपड़ों के पिकेटिंग का अब कोई असर नहीं हो सकता, क्योंकि विलायती कपड़े बेचने वालों ने अपना एक अलग बाजार बना लिया है, जिस पर कांग्रेस के आदेशों का कोई असर नहीं हो सकता। इसका नतीजा इसके सिवा कुछ नहीं है कि हम अपने छोटे-छोटे बजाजों को तबाह कर दें। तबाह तो वह पहले ही हो चुके हैं। जो कुछ कसर है वह भी पूरी कर दें। और कांग्रेस यह अस्त्र उठाए ही किसलिए? केवल इस देश के मिल-मालिकों के भोग-विलास के लिए, जो दूसरे मुल्कों के सस्ते कपड़े को रोककर अपना कपड़ा महंगे दामों बेचकर प्रजा को लूटते हैं और मजे उड़ाते हैं? उन्हें इस बात की बिल्कुल परवाह नहीं है कि यहां सस्ता कपड़ा कैसे बने, कैसे होशियार कारीगर बनाए जाएं? कैसे कारीगरों को इतना प्रसन्न रखा जाए कि वे दिल तोड़कर काम करें? कैसे दलालों और एजेंटों पर खर्च में कमी की जाय? उनकी बला इतना सिर-मगजन न करें। सरकार उन्हें संरक्षण देने पर तैयार है, उन्हें कष्ट उठाने की कोई जरूरत नहीं। ऐसे पूंजीपतियों के हित के लिए अपने असंख्य वालंटियरों को जेल भेजना शायद अब कांग्रेस भी पसंद न करे। यह उसके डिमाक्रेटिक सिद्धांतों के खिलाफ होगा। हम पूंजीपतियों का स्वराज्य नहीं चाहते। गरीबों का, काश्तकारों का, मजदूरों का स्वराज्य चाहते हैं। पिकेटिंग से यह बात सिद्ध नहीं होती। सरकारी नौकरियां हम छोड़ना नहीं चाहते। हमारे कांग्रेसी नेताओं के ही भाई-बंद, चचा-ताऊ, बेटे भतीजे सरकारी नौकर हैं और बहुधा उनके बाल-बच्चों का पालन कर रहे हैं। नहीं, सरकारी नौकरी हमें प्राणों से प्यारी है, उसके छोड़ने का सवाल नहीं उठ सकता। इस तेरह साल के सत्याग्रह-आंदोलन में मुश्किल से दस-बीस आदमियों ने नौकरियां छोड़ी होंगी। तो अब क्या बाकी रहा? लगानबंदी, करबंदी, बेशक, लेकिन इस मामले में सरकार कांग्रेस वालों को उसी तरह कोई अवसर नहीं देना चाहती, जैसे पृथकतावादी मुसलमानों को कांग्रेस के तीस प्रतिशत के मुकाबले में सरकार ने तेंतीस प्रतिशत एसेंबली की जगहें देकर कांग्रेस को निरुत्तर कर दिया। कांग्रेस किसानों का लगान आधा कर देना चाहती है। सरकार ने दो आने से लेकर आठ आने तक की छूट दे दी है, और संभव है कांग्रेस की सबसे बड़ी तोप का मुंह बंद कर देने के लिए आठ आने तक की छूट दे दी और आमदनी की कसर रेल और डाक और आमदनी और अदालत और आयात-निर्यात आदि करों से पूरा करे। और पढ़े-लिखों का दफ्तरों से निकालकर बेकारी और भी बढ़ा दे। नमक का ड्रामा खेला जा चुका और उसे सरकार की बेवकूफी से जो सफलता मिल गई, उसकी अब आशा नहीं की जा सकती। तो हम नहीं समझते कांग्रेस के पास सरकार को झुकाने का और क्या साधन है।

आदर्शवादी और राष्ट्रीय सम्मान की रक्षा करने वाला दल यह तर्क सुनकर अपनी अपंगुता तो स्वीकार कर लेता है, लेकिन उसका एक ही प्रश्न इन सारे तर्कों को भीगे हुए बारूद की तरह बेकार कर देता है। भाई साहब, आप यह सब सत्य

कहते हैं और वास्तव में दशा कुछ वैसी ही है जैसी आपने दर्शाई, लेकिन क्या आप ख्याल करते हैं, हमें कार्उसिल में घुसने दिया जाएगा। आज हम देहातों में अपना प्रोपेगेंडा करने के लिए जाएं, तो क्या हमारे काम में बाधा न डाली जाएगी? क्या पुलिस और मैजिस्ट्रेटों द्वारा हमारी जबान बंद न कर दी जाएगी? क्या आपको याद नहीं कि दो एक कांग्रेसमैनों के इस नए मत-परिवर्तन पर इंग्लैंड के एक त्र ने अपनी घबड़ाहट प्रकट करते हुए लिखा था कि अब जमींदारों और लिबरलों को सचेत हो जाना चाहिए, क्योंकि कांग्रेसमैन कौंसिल में आने के मनसूबे बांधे रहे हैं। क्या आप समझते हैं, सरकार चाहती है, कांग्रेस नए कौंसिलों में आए? किसी तरह नहीं। वह बराबर यही कोशिश कर रही है कि कांग्रेस को हर मुमकिन सूरत से कांउसिलों में न घुसने दिया जाए। तो जब यह मालूम है कि कांग्रेस वालों के कार्उसिलों में आने की कोई संभावना नहीं, तो व्यर्थ में क्यों खड़े होकर अपनी आबरू गंवाएं। बाहर रहने में कम से कम आत्म-प्रतिष्ठा तो हैं, अपनी आन पर मर-मिटने का गौरव तो है, राजपूतों के ऐतिहासिक जुहार की नामवरी तो है। कौंसिल के लिए खड़े होकर उसके अंदर घुसने न पाना तो लज्जास्पद है।

सरकार के मन की बात तो सरकार जाने, लेकिन कांग्रेसमैनों को यह शंका अवश्य है और हमारा खयाल है कि किसी हद तक ठीक भी है। ऐसी दशा में असहयोग क्या कहता है—कौंसिलों में जाने के लिए जोर लगाना, जो सरकार नहीं चाहती, या कौंसिलों से अलग रहना, जो सरकार चाहती है, उसका फैसला हमारे नेताओं पर है।

अगर कौंसिलों के बाहर रहकर कांग्रेस कोई काम कर सके तो क्या कहना, लेकिन कांग्रेस में समाज में काम करने वाली भावना मौजूद नहीं, क्योंकि वहां उन पुरस्कारों में एक भी नहीं है जो राजनैतिक क्षेत्रवालों को मिलते हैं, चाहे वह क्षणिक ही क्यों न हों। सिपाहियों और सरदारों की जरूरत नहीं, मिशनरियों की जरूरत है और मिशनरी भी वैसे नहीं जैसे हमारे साधु-संन्यासी हैं, बल्कि ऐसे मिशनरी जो मुट्ठी भर चने पर दिन काट सकती है।

आज प्रांत के कांग्रेस-नेता प्रयाग में बैठे हुए इस प्रश्न पर विचार कर रहे हैं। हमें आशा है कि वे राष्ट्र के सामने कोई व्यवस्था रखने में सफल हो सकेंगे।

महामना पंडित मदन मोहन मालवीय ने भी अपने वक्तव्य में आल इंडिया कांग्रेस-कमेटी के बुलाए जाने का प्रस्ताव किया है और उनके लिए एक व्यवस्था भी तैयार कर ली है। हमें आशा है, राष्ट्र के सामने कांग्रेस की भावी नीति जल्द से जल्द रखने की चेष्टा की जाएगी। मगर यह दुर्भाग्य की बात होगी, अगर कांग्रेस में दो दल हो गए। बहुमत के आगे हरेक को सिर झुकाना पड़ेगा, जिसमें कांग्रेस संयुक्त स्वर से अपनी आवाज उठा सके। मुल्क में यों ही दलों की क्या कमी है कि एक नया दल और कायम हो जाएगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 16 अक्टूबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

काशी में कमिश्नरों की जोड़ी

सहयोगी 'आज' को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि काशी में एक छोड़ दो-दो कमिश्नर कैसे और क्यों आ गए? आपको यह पूछने का क्या हक है? आप तीन में हैं कि तेरह में। सरकार सर्व-शक्तिमान है, वह चाहे तो इसी काशी में एक दर्जन कमिश्नर रखकर दिखला दे। आज जोड़ी देखकर ही चकरा गए। फिर आपने देखा नहीं, एक खालिस कमिश्नर, दूसरा 'एडिशनल' कमिश्नर। एडिशनल को आप कुछ समझते ही नहीं। आप असिस्टेंट कमिश्नर और डिप्टी कमिश्नर और भाँति-भाँति के कमिश्नरों को देखकर भी एक 'एडिशनल' से घबरा गए। 'कट' क्लर्कों और चपरासियों के लिए हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 16 अक्टूबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

जर्मनी में अनार्यों का बहिष्कार

इस घोर बुद्धिवाद के युग में जर्मनी आर्य-अनार्य का झगड़ा ले बैठा है। एक ओर तो संसार में भिन्न-भिन्न जातियों का सम्मिश्रण हो रहा है, दूसरी ओर वैज्ञानिक जर्मनी यह नियम बना रहा है कि उसके स्त्री-पुरुष अनार्य जातियों से शादी-विवाह न करें। जर्मनी किसी उर्दू कवि की इस उक्ति को सार्थक करना चाहता है, जो बात की खुदा की कसम लाजवाब की। व्यक्तित्व में वह जादू है कि बीसवीं शताब्दी में चाहे तो योरोप को भी संन्यास और वैराग्य का भक्त बना दे, और यंत्र-युग को भी कृषि-युग में बदल दे। संस्कृति के चक्र उलट देना उसके लिए बच्चों का खेल है। हर हिटलर एक आदेश निकाल कर विज्ञान और प्रेम और नीति का रूप पलटे देता है। फिर अगर भारत वालों ने खान-पान और शादी-विवाह कि लिए बंधन लगा दिऐ थे, तो क्या बुरा किया था। अब कोई गोरी युवती किसी हब्शी के साथ नृत्य का आनंद नहीं उठा सकती। कोई जर्मन युवक किसी यहूदी ललना के प्रेम में फंस जाए, तो फड़फड़ाते ही रह जाए, उस ललना से विवाह नहीं कर सकता। जर्मनी सारे संसार से अलग रहना चाहता है।

[संपादकीय। 'जागरण', 16 अक्टूबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

निश्शस्त्रीकरण का ड्रामा

बरसों से यह ड्रामा हो रहा है, एक परदा गिरता है दूसरा उठता है, वक्तव्य निकलते हैं, मंत्रिगण दौरे करते हैं, कांन्फ्रेंसें होती हैं, और यही सिलसिला चलता रहता है। फ्रांस शेर है, वह जर्मनी को उभरने नहीं देना चाहता । और जर्मनी कहता है, अगर मित्र-दल वर्सेल की संधि को नहीं मानना चाहते, तो मैं ही क्यों मानूं। अबकी इटली, फ्रांस और इंग्लैंड तीनों ने मिलकर जर्मनी पर दबाव डालना चाहा था, पर जर्मनी अपनी टेक पर अड़ा हुआ है। और इधर मिलबाल्डविन ने अपने कथन में कह दिया

कि अब इंग्लैंड भी अपने को भरपूर सशस्त्र करेगा। बहुत ठीक। लेकिन जर्मनी खूब समझ रहा है मि० वाल्डविन का संकेत किस ओर है और इसीलिए इस निश्शस्त्रावस्था में भी वह जरा भी नहीं दबता।

[संपादकीय। 'जागरण', 16 अक्टूबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

पंडित जवाहरलाल नेहरू की आर्थिक व्यवस्था

नेहरू जी की जिस व्यवस्था के विषय में लोग तरह-तरह के अनुमान कर रहे थे, उनके संतोष के लिए उन्होंने लीडर में एक लेखमाला लिखनी शुरू कर दी है। अब उनकी आर्थिक-नीति के विषय में किसी को भ्रम न रहेगा। आपकी नीति वही है जिससे भारत के गरीब से गरीब आदमी को भी दैहिक और मानसिक भोजन और समान अवसर मिले। आप पूंजीपतियों के फायदे के लिए चाहे देश के हों चाहे विदेश के, गरीबों और मजदूरों का पीसा जाना नहीं देख सकते और यहां आपकी नीति है। इसके सिवा अगर कोई अर्थनीति है, तो वह धनवानों की, स्वार्थियों की, मोटी तोंद वालों की नीति है। जो नीति धन वालों को गरीबों के खून पर मोटा करती है, उसका जितनी जल्द अंत हो जाए उतना ही अच्छा। अमीर गरीबो को चूसकर ही अमीर बनता है। समाज की व्यवस्था ही ऐसी रक्खी गई है कि हरेक व्यक्ति संसार को अपने स्वार्थ का क्षेत्र समझता है। वह लोग जो जवाहरलाल जी की इस नीति से चौंक उठे हैं, नित्य गरीबों को कुचले जाते देखते हैं, पर उन्हें कभी यह बात नहीं खटकती। कांग्रेस इस पूंजीपतियों की नीति का समर्थन करके राष्ट्रीय संस्था नहीं बन सकती।

[संपादकीय। 'जागरण', 16 अक्टूबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

महात्मा जी का बौद्ध मिशनरी को जवाब

उस दिन महात्मा गांधी ने उस बौद्ध को बड़ा अच्छा जवाब दिया जो चीन से आया है और भारत में बौद्ध धर्म प्रचार करना चाहता है। महात्मा जी ने कहा हिन्दू-धर्म में बौद्ध-धर्म का बहुत कुछ अंश मिला हुआ है और बुद्ध के सच्चे भक्त भारत में ही हैं। बुद्ध ने भगवान् के सिद्धांतों का प्रचार किया, उनका प्रवचन जितना ही किया जाए, उतना ही अच्छा, शर्त यही है कि बौद्ध धर्म के सच्चे सिद्धांतों का प्रचार किया जाए, उसके उन मिथ्या विश्वासों का नहीं जो हरेक धर्म के साथ उसी तरह निकल आते हैं जैसे बाग में पौधों के साथ घास निकल आती है। और धर्म के प्रचार का साधन वही है जो महात्मा जी ने बतलाया। उदाहरण--बौद्ध-जीवन के सच्चे आदर्श का पालन ही बौद्ध-धर्म का प्रचार है।

[संपादकीय। 'जागरण', 16 अक्टूबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

संरक्षण क्यों रक्खा जाय?

इस व्यापार-युग में गाहक का कोई मूल्य नहीं, जो कुछ है वह व्यापारी है। गाहक का अस्तित्व केवल इसलिए है कि वह व्यापारियों की थैलियों भरे। व्यापारी को अधिकार है, जितने दाम चाहे ले, उसके लिए कोई रोक नहीं, कोई कैद नहीं। वह सौ फीसदी, दो सौ फीसदी, पांच सौ फीसदी, जितना नफा ले सके ले, कोई उसका हाथ पकड़ने वाला नहीं। महाजन ज्यादा सूद ले तो अदालत उसे नाजायज ठहरा देगी।

आजकल भी ऐसी तजबीजें हो रही हैं कि सूद का कड़ा नियंत्रण कर दिया जाए, पर हमारा व्यापारी खुद मुख्तार है। उसके नफे पर कोई आंख नहीं उठा सकता। हां, जब कोई बाहर का व्यापारी आकर सस्ता माल बेचता है, तो हमारा यह व्यापारी राष्ट्रीय उद्योग के संरक्षण का स्वांग भर कर सरकार से इस नए प्रतिद्वंद्वी पर कड़ी ड्यूटी लगाने का आग्रह करता है और सरकार बड़ी खुशी से उसका आदेश मान लेती है। उसका इसमें क्या बिगड़ता है। अगर ड्यूटी में कुछ कमी हुई तो व्यापारियों के इन्कमटैक्स से पूरी कर ली गई। व्यापारियों के श्रद्धापात्र मुफ्त में बन गए। मगर इस तरह का संरक्षण देना जनता के साथ सरासर अन्याय है।

व्यापारियों के हित के लिए जनता से करोड़ों का टैक्स वसूल कर लिया जाता है। थोड़े से पूंजीपतियों के लाभ के लिए राष्ट्र पर कर बढ़ा दिया जाता है और राष्ट्र किसी से इसकी फरियाद नहीं कर सकता। जो भूखों मर रहा है उसे रुपये की चीज सवा रुपये में खरीदने के लिए मजबूर होना पड़ता है केवल इसलिए कि मिल-मालिकों को परता नहीं पड़ रहा है। तो अगर पूंजीपति अपना हक समझता है कि वह अपने घाटे को जनता पर कर लगाकर पूरा करे, तो क्या जनता का यह हक नहीं है कि वह उसके नफे पर भी कोई बंधन रख सके और उसे पांच या छ: फीसदी से अधिक नफा लेने पर गबन या खयानत के अभियोग में जेल की हवा खिला सके? न्याय तो यही कहता है, पर इस व्यापार युग में गाहकों की कौन सुनता है।

[संपादकीय। 'जागरण', 16 अक्टूबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

गाजीपुर का दंगल

पूरब के लोग अपने को पश्चिम वालों से कुछ नीचा समझते हैं। जो बंगाली दो-चार साल संयुक्त प्रांत में रह लेता है, वह कम-से-कम पशुबल में अपने को 'देश' वालों से श्रेष्ठ समझने लगता है। कहीं पंजाब में रहने का अवसर मिल जाए, तो कहना ही क्या। उसकी धाक जम जाती है।

पच्छिम वाले पूरब वालों को भातखोर और न जाने किन-किन उपाधियों से विभूषित किया करते हैं। शायद कुछ बिरादरियों में लड़कियों की शादी पच्छिम दिशा में ही की जा सकती है, चाहे दस-पांच मील का ही अंतर क्यों न हो। पंजाब के पहलवानों का इस प्रांत के पहलवानों पर कुछ ऐसा रोब छा गया है कि सहसा कोई

पंजाबियों से लड़ने का साहस नहीं करता। लेकिन गाजीपुर में अभी हाल में जो दंगल हुआ है, उसमें अधिकतर कुश्तियां पूरब वालों ने मारीं और लाहौर, अमृतसर आदि स्थानों के पहलवानों को नीचा देखना पड़ा। शक्ति किसी की मीरास नहीं। जहां साधना होगी, वहीं शक्ति होगी। रोटी दाल और भात-दाल का कोई सवाल नहीं। जापान के लोग भात खाते हैं, लेकिन संसार के किसी जाति के वीरों से कम नहीं हैं। हमारे गुरखे भी दाल खाते हैं। उस तराई में और होता ही क्या है, पर तेज और साहस में किसी जाट या पठान से पीछे नहीं होते। ऐसे दो-चार दंगलों में पूरब के लोग बाजी मार ले जाएं, तो पच्छिम की धाक टूट जाए।

[संपादकीय। 'जागरण', 30 अक्टूबर, 1933, मे प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-3 मे संकलित।]

जर्मनी के कम्युनिस्ट

जब हर हिटलर का निर्वाचन हुआ तो जर्मनी मे पचास लाख कम्युनिस्ट थे। हिटलर ने उनके पत्र बंद कर दिए, उनके प्रतिनिधियों को जेल में डाल दिया और उस दल को मिटा देने में कोई बात उठा न रक्खी। अनुमान किया जाता है कि वह सारे कम्युनिस्ट हिटलर-दल में मिल गए, पर एक अंग्रेजी पत्र ने पता लगाया है कि कम्युनिस्ट पत्र अभी तक गुप्त रूप से छापे जाते हैं, यहां नक कि एक पत्र तो तीन लाख छपता है और हाथों-हाथ बिक जाता है। उसके अतिरिक्त एक सौ पचास कम्युनिस्ट पत्र और भी निकल रहे हैं। पुलिस उनका सुराग नहीं लगा सकती। उस पत्र का कथन है कि कम्युनिस्ट लोग नाजीदल में केवल इसलिए घुसे हैं कि अंदर से उसमें बारूद भरें। जो कुछ भी हो, इस वक्त तो नाजियों का राज्य है।

[सपादकीय। 'जागरण', 30 अक्टूबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

भाई परमानन्द जी का भाषण

भाई परमानन्दजी ने हिन्दू-सभा के अधिवेशन में अपने सदारती भाषण में जहां और बहुत-सी बातें कहीं, वहां जनता से अपील की कि वह राष्ट्रवादी पत्रों का बहिष्कार करे ताकि इन सिरफिरों को होश आ जाए। बड़ी अच्छी और कारगर सलाह है और भाई जी ही के दिमाग से ऐसी सलाह निकल सकती थी। सरकार भी तो यही करती है। वह अखबार वालों पर कोई मुकदमा चलाने का सिरदर्द नहीं लेना चाहती। बस सीधा-सा नुसखा है--जमानत। जिस पत्र से एक ब जमानत मागी गई, उसके होश-हवास ठिकाने आ जाते हैं और राष्ट्रीयता की जो थोड़ी-सी गर्मी दिमाग पर चढ़ी होती है, वह ठंडी हो जाती है। भाईजी की सलाह के अनुसार अगर गाहक ऐसे राष्ट्रवादी पत्रों का पढ़ना ही बंद कर देंगे, तो उनका जीवन ही समाप्त हो जाएगा। फिर देश में जितने पत्र रह जाएंगे, वह भाई जी के इशारों पर चलेंगे। तब देखिए कैसी बहार

होती है और अखबारों में कैसी-कैसी सनसनीदार खबरें छपती हैं। कुछ ऐसा क्रम हो गया है कि जब राष्ट्रवाद दबता है, तो भेदभाव उठता है और बारी-बारी से दोनों अवस्थाएं अपना भोग भोगती हैं। 1925 से 27 तक भेदभाव का प्राधान्य रहा और भारत में शायद ही ऐसा कोई नगर या कस्बा बचा होगा, जहां हिन्दू-मुसलिम दंगे न हुए हों। कांग्रेस के कितने ही नेता और स्वयंसेवक हिन्दू-सभा में दाखिल हो गए। 1929 में राष्ट्रवाद फिर उठा। भेदभाव उतने दिनों कोने में दबका पड़ा रहा। अब राष्ट्रवाद का जोर कम हो चला है, तो भेदभाव का उठना लाजिम ही था। हम भाई जी को इलजाम नहीं देते, न हम शफाअत अहमद खां और मौलाना शफी दाऊ दी को ही इलजाम देते हैं। राष्ट्रवाद को तो इन दोनों दलों को एक प्लेटफार्म पर लाना है। देखिए वह समय कब आता है। अगर वह आदर्श ही रह जाए तो भी एक ऊंचा आदर्श है, जिसके लिए जिया और मरा जा सकता है। राष्ट्रवाद का भावी प्रोग्राम इसी भेदभाव को मिटाना है। जब तक यह भाव नहीं मिटता, न स्वराज्य होगा और न डोमिनियन स्टेटस और न कुछ। भाई परमानन्द जी की यह नीति, कि हिन्दुओं को अंग्रेजों से मेल करके मुसलमानों को परास्त करना चाहिए, बच्चों की-सी बात मालूम होती है।

जागा हुआ राष्ट्र कभी अपने को गुलामी की दशा में रखना बर्दाश्त नहीं कर सकता। हिन्दुओं को यह वजा शिकायत है कि वोटों के बंटवारे में उनके बहुमत को अल्पमत बना दिया गया। लेकिन इसका इलजाम राष्ट्रवादियों पर नहीं, उन्हीं भेदवादियों पर है, जो अपने स्वदेश-बंधुओं पर विश्वास नहीं कर सकते। जब तक हममें यह हिन्दूपन और मुसलिमपन रहेगा, तीसरी शक्ति को अपना प्रभुत्व जमाए रखने के लिए किसी बात की जरूरत नहीं, इसके सिवा कि कभी हमें खुश कर दे, कभी उसे। जिस दिन यह मनोवृत्ति मिट जाएगी, उसी दिन स्वराज्य आ जाएगा। राष्ट्रवाद चाहे और कोई उपकार न कर सके, देश में खून-खच्चर तो नहीं कराता, कुछ ऐसे लोगों को एकत्र तो करता है जो राष्ट्र को संप्रदाय के ऊपर समझते हैं। वही बुनियाद है जिस पर राष्ट्र का भवन खड़ा होगा। जब तक राष्ट्र के भिन्न-भिन्न अंग एक-दूसरे के अहित पर अपना हित निर्माण करते रहेंगे, राष्ट्र का पतन होता चला जाएगा। भाई जी का यह खयाल कि स्वराज्य के लिए मुसलमानों के सहयोग की जरूरत नहीं, और हिन्दू केवल अपने बल से उसे प्राप्त कर सकते हैं, गौरव-पूर्ण होने पर भी यथार्थ की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता। बेशक हिन्दुओं ने मुसलमानों की बादशाही मिटा दी थी? तो क्या मुसलमानों ने हिन्दुओं का राज्य नहीं मिटा दिया था? पुरानी अदावतों को पालते रहना स्वस्थ मनोवृत्ति नहीं है, और उसका परिणाम वही होगा, जो फूट का होता है।

[संपादकीय। 'जागरण', 30 अक्टूबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग', भाग-2 में संकलित।]

मि॰ चर्चिल के मौलिक प्रस्ताव

सर सेमुएल होर का अभिनय समाप्त हो गया। अब मि॰ चर्चिल की बारी है। सर सेमुएल ने श्वेत पत्र के रहस्यों का उद्घाटन किया। मि॰ चर्चिल उस ड्रामा का रूप

ही बदल देना चाहते हैं। दोनों महानुभाव इस प्रश्न पर तो एक हैं कि भारत को कैसे अनंत-काल तक अपने वश में रखा जाए। डीटेल में अंतर है। इन चार वर्षों में ब्रिटेन के ऊंचे-ऊंचे साम्राज्यवादियों ने जो व्यवस्था बनाई और जो उनके विचार में भारत को अधीन रखने के लिए उपयुक्त थी, उसे भी मि॰ चर्चिल घातक और नाशक बतला रहे हैं। आप कहते हैं कि भारत की जनता कोई परिवर्तन नहीं चाहती। यह स्वराज्य और सुधार थोड़े से आदमियों का खब्त है। उनकी जबान बंद कर दो और फिर भारत पर अखंड राज्य करो। और अगर तुम्हें कुछ दिखावा करना ही है, तो इस तरह करो कि असली चीज का एक अणु भी हाथ से न जाने पावे। यही आपके बयान का तत्त्व है। मगर मि॰ चर्चिल शायद भूल जाते हैं कि यह 20वीं सदी है और संसार जिस तरफ जा रहा है, उधर ही भारत का जाना अवश्यंभावी है। चाहे आज या आज के दस साल बाद।

[संपादकीय। 'जागरण', 30 अक्टूबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित]

मृत्यु पर विजय

एक सच्चे देश-भक्त के लिए जिस अच्छी से अच्छी मौत की कल्पना की जा सकती है, वही मौत श्री विट्ठल भाई पटेल को मिली। मातृ-भूमि से हजारों कोस पर, जहां अपना कोई नहीं, देह जख्मों से चूर, शत्रुदल अपनी पूरी शक्ति से वार करता हुआ, पर वही तेवर, वही गर्जन, वही अदम्य तेज जो मुश्किलों को तुच्छ समझता था। यह मौत नहीं है, मौत पर विजय, बड़ी शानदार, बड़ी ऐतिहासिक, बड़ी शक्तिदाइनी, और वह क्या शब्द थे, जो अंत समय उस सच्चे राजपूत के मुख से निकले–'मेरे देश बंधुओं को और संसार भर के भारत के हितैषियों को मेरा आशीर्वाद दो। जीवन-लीला समाप्त करने के पहले मैं भारत की आजादी के लिए प्रार्थना कर रहा हूं।' क्या यह मरने वाले के शब्द हैं? कहीं निराशा नहीं, कहीं पराजय का चिह्न नहीं। एक-एक शब्द में एक विजयी आत्मा की उमंग भरी हुई है। उसने अंत समय तक तलवार हाथ से नहीं छोड़ी। उस वक्त भी कदम पीछे न हटाया, जब वह मैदान में अकेला था। कौन कहता है कि वह मर गया? उसने मौत पर विजय पाई। उसके आशीर्वाद में विजय का मंत्र है, अमरत्व का प्रसाद है। ऐसे वीर नहीं मरते। मरते हैं हम और आप, स्वार्थों के दास, पेट के गुलाम, हिम्मत के कच्चे।

क्या उनका जीवन-वृत्तांत कहें? क्या एसेंबली की उनकी वह मरदाना आवाज आपके कानों में नहीं आ रही है? क्या उनकी वह 'रूलिंग' आपको भूल गई? क्या एसेंबली की वह सदारत फूलों की शैया थी? दफ्तरी शासन ने क्या-क्या हथकंडे नहीं खेले, कौन-कौन-सी कूटनीति नहीं चली, लेकिन कभी आपने उनके माथे पर बल देखा? वह राष्ट्र-सम्मान का रक्षक था। उसकी आंखों के सामने सर्वशक्तिमान सरकार की मजाल न थी कि वह राष्ट्र-सम्मान पर अपना आघात कर सके। क्या

आपको वह अमर शब्द भूल गए, उन्होंने सदारत से इस्तीफा देते समय लार्ड इर्विन से कहे थे–''मैंने कुरसी के मान और अधिकार को विस्तृत करने की निरंतर चेष्टा की है, एक संगठित और सबल नौकरशाही के विरुद्ध, और मुझे विश्वास है कि मैं बहुत कुछ सफल हुआ हूं।'' उनके जीवन का खुलासा केवल एक शब्द में बता दूं–वह शब्द है 'संग्राम'। उनका जीवन आदि से अंत तक एक लंबा संग्राम था, जो न त्राण मांगता था न त्राण देता था। उन्होंने समझौता करना सीखा ही न था। अपने जन्मसिद्ध स्वत्वों के साथ कैसा समझौता? आज कुछ न मिले, कल कुछ न मिले, पर कभी तो मिलेगा। जब लेंगे, तब पूरा लेंगे। उसमें रत्ती भर कमी नहीं कर सकते, यह उनका ध्येय था। समझौता वह करते हैं, जिन्हें अपने पक्ष में विश्वास नहीं होता, जो समय को देखकर अपनी नीति स्थिर करते हैं, उन्हें अपने पक्ष में अखंड विश्वास था।

वह बात क्या भुलाई जा सकती है, जब सर सुरेन्द्रनाथ जी की प्रेरणा से एसेंबली ने मांट फोर्ड सुधारों पर गवर्नमेंट को बधाई दी थी। उस वक्त अकेले मि॰ पटेल थे जिसने एक के अल्पमत से उस प्रस्ताव का विरोध किया था। उनके जीवन में यदि कोई लालसा थी, तो वह स्वराज्य था, यही उनका शौक था, यही उनका नशा था और यही उनका तप था। और वह भीड़ के साथ चलने वाले आदमी न थे। जब 1930 में कांग्रेस के सभी मेंबरों ने एसेंबली से विदा ली, मि॰ पटेल ने अपने पद पर स्थिर रहकर अपने विचार स्वातंत्र्य का परिचय दिया था। हां, जब उन्होंने सरकार की नीयत और नीति देख ली और उधर से निराश हो गए, तो सदारत को लात मार दी और राष्ट्र के साथ उसके संग्राम में शरीक हो गये। ऋषियों की-सी उनकी तेजस्वी मूर्ति, उनका अद्भुत तेज मस्तक, उनकी वह बुजुर्गाना दाढ़ी, उनकी वह मनस्वी प्रतिभा और उनके वह आहत वाक्य क्या कभी विस्मृत हो सकते हैं। हां, वह अपने शब्दों पर मखमल का गिलाफ न चढ़ाते थे। वह महात्मा न थे। वह टेढ़े को टेढ़ा कह सकते थे।

उनके पहलू में दर्द डूबा हुआ दिल था, जो आहत होने पर रोता था चिंघाड़ मारकर, जो अपमानित होने पर आवेश में आ जाता था। ठीक है, उनके शब्दों में जहर होता था। हम तो कहते हैं–उनमें ज्वाला होती थी। और क्या जलते हुए हृदय से आप शीतल गान की आशा रखते हैं? जरा उस महान् आत्मा का उत्सर्ग देखिए। वह उम्र का बोझ, वह जीर्ण स्वास्थ्य, वह घातक रोग का प्रकोप, और अमेरिका की वह कठिन यात्रा। हिलने की शक्ति नहीं है, यमराज का विमान आ चुका है, पर स्वदेश-मोह को हृदय से लगाए हुए है। अब भी यह माया उन्हें नहीं छोड़ती। कितना अक्षय अनुराग है। अंतिम शब्द जो उनके मुख से निकलता है, वह –'स्वराज्य' है, यही स्वराज्य उनके जीवन का स्वप्न था, इसी के लिए जिए, इसी के लिए लड़े, इसी पर अपना सब कुछ कुर्बान किया। यह बेटे-बेटी का मोह नहीं है, वह धन-संपदा का मोह नहीं है, जिसके बंधन ढीले पड़ जाएं, यह स्वदेश का प्रेम है, जो आत्मा के अणु-अणु में व्याप्त हो गया है, और अगर आत्मा अमर है, तो वह प्रेम भी अमर रहेगा और शायद स्वर्ग की सुखद शांति में भी यह प्रेम, यह माया, उन्हें

तड़पाती रहेगी और उनके सूक्ष्म नेत्र अपने उस अभागे देश की ओर लगे रहेंगे जिस पर उन्होंने अपना सर्वस्व वार दिया।

[संपादकीय। 'जागरण', 30 अक्टूबर, 1933 म प्रकाशित। 'विविध प्रसंग', भाग-3 में संकलित।]

अंधा पूंजीवाद

जिधर देखिए उधर पूंजीपतियों की घुड़दौड़ मची हुई है। किसानों के खेती उजड़ जाए, उनकी बला से। कहावत के उस मूर्ख की भांति जो उसी डाल की जड़ काट रहा था, जिस पर वह बैठा था, यह समुदाय भी उसी किसान की गर्दन काट रहा है, जिसका पसीना उसी की सेवा में पानी की तरह बह रहा है।

पहले जब किसान निपट मूर्ख था, उसके लिए गोरे और काले पूंजीपति में कोई अंतर न था। सांप और नाग दोनों ही उसके लिए समान थे। मि० बुल और सेठ पुनपुनवाला दोनों ही को देखकर वह कांप उठता था।

तब धीरे-धीरे उसने कुछ राजनीतिक ज्ञान सीखा, राष्ट्र और जाति जैसे शब्दों से उसका परिचय हुआ और भोले बालकों की भांति जो हरेक वस्तु को मुंह में डाल लेते हैं, इस सरल व्यक्ति ने भी सेठ पुनपुनवाला के वैष्णव तिलक और हिन्दू-धर्म के प्रति असीम श्रद्धा और उनके नाम को उजागर करने वाले धर्मशालों, मंदिरों और पाठशालों को देखकर, उनको अपना उद्धारक समझा। यही सेठ पुनपुनवाला तो हैं, जिनके नाम और यश की कथाएं मोटे मोटे अक्षरों में समाचार पत्रों में छपती हैं। ऐसे राष्ट्र-प्रेमी सेठजी से उसने मन में बड़ी बड़ी आशाएं बांध लीं। ये अपने हैं, अपने देश के हैं, कितने ही स्वार्थी क्यों न हों विदेशियों से तो अच्छे ही होंगे। इतना पुण्य कमाया है, तभी तो लक्ष्मी ने उनके ऊपर कृपा की है। अपने दुःखी देशवासियों के लिए उनके मन में कहां तक दया न होगी।

लेकिन जब पुनपुनवाला के मिलों में उसकी ऊख की खरीद होने लगी, जब उनकी आढ़तों में उसका अनाज या सन तौला जाने लगा, तब उसे अनुभव हुआ कि सेठजी बाहर से जितने बड़े धर्मातमा और देशभक्त हैं, भीतर से उतने ही लुटेरे और बंधुद्रोही भी हैं, और धन और देश प्रेम का यह सारा आडंबर उन्होंने केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए रच रखा है। पहले उसे सहसा अपनी आंखों पर विश्वास न आया। सेठ पुनपुनवाला जिनके नाम से ऐसी-ऐसी धर्म-संस्थाएं चलती हैं कभी इतने पाषाण हृदय नहीं हो सकते। यह उनके मुख्तारों और मुनीमों का चक्र है। उसने सेठजी से अपना दर्द-दिल कहने की अनुमति चाही, लेकिन बेकार, सेठजी के उसे दर्शन न हुए, उनके दर्बानों ने उसे धक्के देकर निकाल दिया, यहां तक कि जब उसने रोना शुरू किया तो धर्मात्मा सेठ पुनपुनवाला खुद हंटर लेकर दौड़े। तब अभागा कृषक समझ गया कि इन सेठजी से उसने व्यर्थ ही ऐसी आशाएं बांधी थीं। वहीं उसे दूसरा अनुभव यह हुआ, और जिससे उसे और मर्मवेदना हुई, कि मि० बुल इन सेठ पुनपुनवाला से कहीं खरे, सच्चे और सज्जन हैं। उनके मिल

में उसकी ऊख चटपट तुल जाती है, और तुरंत दाम मिल जाते हैं। रोकड़ियों और प्यादों को कुछ न कुछ चटाना जरूर पड़ता है–और इसमें उसे लेशमात्र भी आपत्ति नहीं है–पर यदि इसकी शिकायत की जाए तो मि० बुल उसे सुनने और दूर करने के लिए तैयार रहते हैं। उनकी आढ़ती में भी ज्यादा धांधली नहीं होती।

बिलकुल यही दृश्य आजकल बिहार में देखने में आ रहा है। बिहार में शक्कर के इतने मिल खुल गए हैं कि वह भारतवर्ष का खंडसाल हो गया है। वहीं की भूमि में उपजी हुई ऊख सफेद शक्कर बनाने के लिए बहुत ही उपयुक्त है। बिहार ही क्यों, संयुक्त प्रान्त के उत्तर पूर्व भाग में भी उसी तरह की जमीन है। इन मिलों के मालिक योरोपियन भी हैं, मारवाड़ी भी, पंजाबी भी, पर जहां अंग्रेजों के मिलों में किसानों के साथ सफाई का व्यवहार किया जाता है, वहां भारतीय मिलों में इन गरीबों को तरह-तरह से सताया जाता है, कई-कई दिन उनकी ऊख नहीं खरीदी जाती, यहां तक कि जब ऊख सूखने लगती है, तो उसे नाममात्र का दाम देकर गिरवा लिया जाता है। मिल के सामने गरीब किसानों को कई-कई दिन वर्षा और ठंड में पड़ा रहना पड़ता है, क्लर्कों और मुंशियों की खुशामदें करनी पड़ती हैं, तब भी कोई उसकी नहीं सुनता। इसके प्रतिकूल अंग्रेजी मिलों में उनके ठहरने और जानवरों को बांधने के लिए टीन के छप्पर डाल दिए गए हैं। मैनेजर और अधिकारी भी ज्यादा इंसानियत से पेश आते हैं। हमसे यह वृतान्त बिहार के एक सज्जन ने जिन्हें इस व्यवसाय का प्रत्यक्ष अनुभव है बयान किया है, इसलिए सत्य होने में कोई संदेह नहीं हो सकता। भारतीय पूंजीपतियों की नृशंसता इतनी बढ़ गयी है कि बिहार सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ता है और उसने एक सरकुलर निकाल कर मिल के प्रबंधकों को चेतावनी दे दी है कि वे ऊख की खरीद के दर लिखकर नगर के मुख्य-मुख्य स्थानों पर लगा दें, जिसमें किसानों को कोई धोखा न दे सके। बिहार सरकार ने शक्कर के बाजार-दर और शक्कर की तैयारी की लागत आदि का परता मिलाकर यह हिसाब लगाया है कि तेंतीस-चौंतीस में ऊख की खरीद सात आने मन के हिसाब से होनी चाहिए। अगर कोई मिल इस तरह की विज्ञप्ति न निकालेगी या इस दर से ऊख न खरीदेगी तो उस पर पांच सौ रुपये जुर्माना होगा। हम निजी मुआमलों में सरकार का पड़ना बहुत अच्छा नहीं समझते, लेकिन इस अवसर पर बिहार-सरकार की कार्रवाई पर उसे धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। हमें आशा है कि हमारे प्रांत में भी किसानों को पूंजीपतियों के पंजे से बचाने की कोशिश की जाएगी। अब किसान-सभाओं के कार्यकर्ताओं का यह काम है कि वह मिल वालों पर कड़ी निगाह रखें और किसी को बेराह चलते देखें तो सरकार को सूचना दें। यह आशा करना कि पूंजीपति किसानों की हीन दशा से लाभ उठाना छोड़ देंगे, कुत्ते से चमड़े की रखवाली करने की आशा करना है। इस खूंखार जानवर से अपनी रक्षा करने के लिए हमें स्वयं सशस्त्र होना पड़ेगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 6 नवम्बर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

ग्राहकों का बलिदान मिल-मालिकों के लिए

बम्बई के मिल-मालिकों ने लंकाशायर से समझौता करके अपना काम निकाल लिया। किसानों की रुई कहां जाएगी, इससे उन्हें कोई मतलब नहीं। न लंकाशायर रुई खरीदने का जिम्मा लेता है, न यहां के मिल वाले ही यह जिम्मा लेते हैं। उनकी मंशा तो किसी तरह जापान के सस्ते कपड़े को भारत से निकाल बाहर करना है। विलायती कपड़े पर जो पच्चीस सैकड़े का कर था, उसे घटाकर बीस प्रति सैकड़े कर दिया गया है। मि॰ मोदी ने मिल वालों के फायदे की बात तो सोच निकाली, ग्राहकों की तरफ जरा भी ध्यान नहीं दिया, जिन्हें वह महंगा कपड़ा खरीदने के लिए मजबूर कर रहे हैं। लंकाशायर भी महंगा कपड़ा बेचे, यहां वाले भी महंगा बेचें। गरीब प्रजा तो उनका पेट भरने के लिए मरती ही है। इसी विषय पर भाषण करते हुए प्रयाग विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र के प्रोफेसर मि॰ थाम्पसन ने ग्राहकों के दृष्टिकोण को इन शब्दों में व्यक्त किया है–

''अर्थशास्त्र के ज्ञाताओं का उद्देश्य यही है कि भारत अधिक संपन्न हो जाए, जिसका आशय है कि जनता के जीवन का ध्येय ऊंचा हो जाए और उसका अर्थ यही है कि लोगों को भोजन और वस्त्र प्रचुर मात्रा में मिले। यदि जापान से सस्ता कपड़ा आता है, तो गरीबों को अधिक वस्त्र मिल जाता है। मोटे तौर पर पिछले वर्ष जापानी कपड़े के आयात से यहां कपड़े की खपत लगभग अस्सी लाख परिवारों में दुगनी हो गयी। इस तरह भारत अधिक वस्त्र पाकर धनी हुआ। अब रहा भोजन। जापान ने कपड़े में जितना धन भारत से लिया, वह उससे कहीं कम है जो उसने रुई खरीद कर दिया।''

[संपादकीय। 'जागरण', 6 नवम्बर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

छोटे जमींदार या बड़े?

बिहार की एक जमींदारों की सभा में भाषण करते हुए जस्टिस स्टुअर्ट मैकफर्सन ने यह सम्मति दी है कि प्रजा को बड़े जमींदारों की अमलदारी में उससे कहीं कम कष्ट होता है, जितना छोटे जमींदारों की अमलदारी में रहने से। मुमकिन है उस सभा में बड़े-बड़े जमींदारों और राजाओं की कसरत हो रही हो और उनके मुलाहजे से साहब बहादुर ने यह सम्मति दी हो, पर हमारा अनुभव तो है कि छोटे शैतान से बड़ा शैतान हमेशा अधिक घातक हुआ करता है। छोटा शैतान एकाध बकरा, कुछ माला-फूल, कुछ बतासे पाकर संतुष्ट हो जाता है, पर बड़ा शैतान बिना प्राण लिए नहीं छोड़ता। छोटा जमींदार अपने असामियों पर ज्यादा सख्ती करते डरता है। उसका पुलिस पर, अदालत के कर्मचारियों पर और अधिकारियों पर इतना प्रभाव नहीं होता कि वह कानून अपने हाथ में ले सके और उसे जिस तरह चाहे तोड़-मरोड़ सके। प्यादों और लठैतों की फौज रखने का भी उसके पास साधन नहीं होता। फिर बहुधा वह अपने असामियों ही के गांव में रहता है और उनकी यथार्थ स्थिति से वाकिफ होने के कारण बेजा

सख्ती नहीं करता, कुछ मुलाहजा-मुरव्वत भी होती ही है। इसके विपरीत बड़ा जमींदार तो अपने इलाके का बादशाह होता है। असामियों से उसको कोई निजत्व नहीं होता। वे तो उसके लिए केवल भोग की वस्तु हैं। असामियों की करुण-क्रन्दन की आवाज भी उनके कानों तक नहीं पहुंचती। और उनके कारिंदे और प्यादे भला क्यों असामियों पर दया करने लगे? उन्हें असामियों के बनने-बिगड़ने की क्या परवाह !

संपादकीय। 'जागरण', 6 नवम्बर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।

महिला-सम्मेलन में संतान-निग्रह

अभी हाल में प्रयाग में प्रांतीय महिला-सम्मेलन हुआ, उसमें और कई महत्त्व के प्रस्तावों के साथ संतान-निग्रह का प्रस्ताव भी स्वीकृत हुआ और म्युनिसिपैलिटियों और सरकारों से इसकी विधि सिखाने का प्रबंध करने का आदेश किया गया। युजिनेक शास्त्र यह कहता है कि देश में अयोग्य स्त्री-पुरुषों को न्युटरलाइज कर देना चाहिए, अर्थात् उन्हें जनन शक्ति से वंचित कर देना चाहिए और देश में संतान उत्पन्न करने का अधिकार ऐसे प्राणियों को मिलना चाहिए, जो दिल, दिमाग और देह तीनों से मजबूत हों और इसके साथ ही खुशहाल भी हों। मजूरों और अर्ध-शिक्षित स्त्री-पुरुषों को संतानोत्पत्ति का अधिकार न होना चाहिए। अतएव देश में जो विद्वान, प्रतिभाशाली, तेजस्वी स्त्री-पुरष हैं उन्हीं पर देश में योग्य संतान पैदा करने की जिम्मेदारी आती है। अतएव इस सम्मेलन की विदुषी, मनस्वी स्वाभिमानी देवियों को जहां यह पचार करने की जरूरत है कि अयोग्य स्त्री-पुरुष संतान उत्पन्न न करें, वहां अपनी योग्य बहनों को सुयोग्य संतान उत्पन्न करने की प्रेरणा करनी चाहिए। पढ़ी-लिखी, विचारशील देवियां और उन्नत विचार वाले पुरुष संतान-निग्रह नहीं कर सकते और न राष्ट्र उन्हें इस जिम्मेदारी से आजाद कर सकता है। उन्हें तो संतान उत्पन्न करके उसका पालन करना ही पड़ेगा, अन्यथा देश में अयोग्य संतान भर जाएगी। देश ने गरीबों का रुपया लेकर आपको पढ़ाया-लिखाया और अपको इस पद पर पहुंचाया। आपकी जात से देश को क्या फायदा पहुंचा।

उधर बड़े-बड़े विज्ञानशास्त्री इस यत्न में हैं कि लेबोरेटरी में जिस तरह की संतान चाहें पैदा कर सकें। एक विद्वान ने तो यहां तक भविष्यवाणी की है कि दो हजार तैंतीस तक इस विषय में बहुत जांच-खोज हो चुकी होगी और संभव ही नहीं, निश्चित है कि दो हजार एक सौ तैंतीस तक विज्ञान द्वारा उत्पन्न स्त्री-पुरुष संसार में हलचल मचा रहे होंगे। इसलिए हमारे उन्नत समाज को यह बेगार थोड़े ही दिनों तक झेलनी पड़ेगी। फिर विज्ञान उन्हें इस जिम्मेदारी से मुक्त कर देगा। तब तक भोजन की समस्या भी हल हो चुकी होगी। एक गोली खाकर हमारी संतान उतना ही पोषण प्राप्त कर सकेगी, जितना आजकल दूध, घी, मांस-मछली भरपेट खाकर भी नहीं मिल सकता। बस, सारे दिन सैर और गाना और विहार होगा। अफसोस उस जताने में हम न होंगे।

[सम्पादकीय 'जागरण', 6 नवम्बर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

काशी की सरकारी म्युनिसिपैलिटी

काशी की सरकारी म्युनिसिपैलिटी के विषय में श्री परिपूर्णानन्द जी का एक लेख हमारे पिछले अंक में प्रकाशित हुआ है। उस संबंध में कुछ गलतफहमी फैल रही है, जिसके विषय में परिपूर्णानन्द जी लिखते हैं–"मैंने सरकारी बोर्ड की आलोचना की है और बहुत कुछ करने के लिए तैयार हूं, पर यदि मेरी सूचना में कोई भी बात भ्रमपूर्ण या गलत होगी तो अपनी भूल स्वीकार करने में मुझे सबसे अधिक हर्ष होगा। मुझे बतलाया गया है कि जो क्लर्क हटाए जा रहे हैं वे 'पचपन साला' ग्रेड के हैं। जिस क्लर्क के साथ अन्याय की बात कही गयी है, वह आफिस की कुछ भूल से हो गया। यदि ऐसा है तो मुझे कुछ नहीं कहना है, नए उम्मीदवारों को पुराने उम्मीदवारों की फेहरिस्त की अवज्ञा कर क्यों नियुक्त किया जा रहा है? दूसरी बात यह है कि मुझे नए शिक्षाध्यक्ष के ईसाई होने की शिकायत नहीं है। बीच का एक वाक्य छूट जाने से यह भ्रम हो सकता है। मुझे शिकायत है एक योग्य शिक्षाध्यक्ष के रहते उनकी नियुक्ति से उनकी खद्दरचर्चा विरोधी नीति इत्यादि से। नगर के जिस सम्मानित व्यक्ति के ऊपर प्रश्नों की बात है, वह मेरे लिए अब भी उसी प्रकार आदरणीय हैं, उन पर प्रश्न होने की अफवाह थी, शायद हुआ नहीं।" आशा है पाठकों की शंका का निवारण हो जाएगा।

[सम्पादकीय। 'जागरण', 13 नवम्बर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

तिमाही या त्रैमासिक

गत रविवार को हिन्दुस्तानी एकेडेमी के जलसे में तिमाही शब्द पर बड़ी मनोरंजक बहस हुई। बाबू श्यामसुन्दरदास का पक्ष था 'तिमाही पत्रिका' गंगा और मदार का जोड़ है। एक मुसलमान साहब 'तिमाही' शब्द को ही टकसाल बाहर बता रहे थे और इसकी जगह 'सेहमाही' रखना चाहते थे। इन महानुभावों को अभी तक यह नहीं मालूम कि हिन्दुस्तानी एकेडेमी हिन्दी या उर्दू एकेडेमी नहीं है। उसका नाम की बतला रहा है कि उसे संस्कृत या फारसी से विशेष प्रेम नहीं है। उसका एक उद्देश्य राष्ट्र-भाषा का निर्माण है और यह तभी हो सकता है, जब हम हिन्दी और फारसी का मोह छोड़कर खुले मन से हरेक भाषा के प्रचलित शब्दों को अपनावें। हिन्दी के लिए नागरी-प्रचारिणी सभा और उर्दू के लिए अंजुमन-तरक्किए उर्दू है। 'तड़ित समाचार' और 'वाष्पयान' पंड़ितों को मुबारक हो, जनता को तो अपना 'तार' और रेलगाड़ी ही पसन्द है।

[संपादकीय। 'जागरण', 13 नवम्बर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-3 में संकलित।]

नादिरशाह की हत्या

काबुल की राजनीति दिन दिन जटिल होती जाती है। अभी सर रास मसऊद, सैयद सुलेमान नदवी आदि महानुभाव काबुल विश्वविद्यालय के विषय में सलाह देने के

लिए काबुल निमंत्रित हुए थे। उनके कथन से मालूम हुआ था कि काबुल की गति प्रगतिशील है और वह थोड़े दिनों में सभ्य राष्ट्रों की पंक्ति में बैठने जा रहा है। पर इस हत्या से यह अनुमान होता है कि काबुल वाले एक कदम भी आगे नहीं बढ़ना चाहते। या कहीं ऐसा तो नहीं है कि कम्युनिज्म ने उधर कदम बढ़ाया हो।

[संपादकीय। 'जागरण', 13 नवंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

बस्ती में ईख संघ सम्मेलन

काशी विद्यापीठ के दो शास्त्रियों ने अपनी अद्‌भुत कार्य-क्षमता तथा विचार-शक्ति से काम लेकर युक्त-प्रांत की एक बहुत बड़ी आवश्यकता पूरी कर दी है। बंगाल के लिए जूट तथा बंबई के लिए रुई और उसकी मीलें जिस प्रकार समस्या हो रही हैं, उसी प्रकार संयुक्त प्रांत के लिए ईख और गन्ने के कृषकों का प्रश्न लगातार पचीसों मिल के खुल जाने से जटिल हो गया है। स्थानांतर में उनकी कुछ समस्याओं पर विचार प्रकट किया गया है, तथा उनको दूर करने के विषय में, आवश्यक प्रस्ताव प्रकाशित किए गए हैं। उनके-किसानों के-कष्टों की ओर पहले-पहल उपरिलिखित दो शास्त्रियों-श्रीरामकुमार शास्त्री तथा श्यामचरण शास्त्री-का ध्यान गया और उन्होंने ईख संघ की पांच मास पूर्व की सृष्टि की, जिसके तीन सम्मेलन खलीलाबाद, बस्ती तथा बभनान जिला गोंडा में क्रमश: श्री बाबा राघवदास, श्रीप्रकाश जी तथा पं० कृष्णाकान्त मालवीय की अध्यक्षता में हुए। भीड़ भी अपार थी, उत्साह भी अपार था। श्री कृपाशंकर तथा रामशंकर मुख्तार बस्ती में सराहनीय कार्य कर रहे हैं। सम्मेलन की सफलता तथा उसके उद्देश्य की पवित्रता पर हम बधाई देते हैं और सफलता चाहते हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 13 नवंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 संकलित।]

मि० मोदी की उदारता

बंबई के मिल वालों ने लंकाशायर के साथ जो पांच फीसदी की रियायत की है, उससे आशा है कि साम्राज्य के सारे बड़े-बड़े बाजारों में बंबई के माल की धूम मच जाएगी और यहां के भरे हुए गोदाम चट-पट खाली हो जाएंगे। हिन्दुस्तान के बाजार की गिनती ही क्या है। यहां के भुक्खड़ किसान क्या कपड़े खरीदेंगे। शायद बंबई वाले समझते होंगे भारत में स्वदेशी की भावना इतनी बलवती है कि बंबई कितना ही महंगा कपड़ा बेचे, बाजार उसके हाथ से नहीं जा सकता। मगर उसे अपनी गलती बहुत जल्द मालूम हो जाएगी।

[संपादकीय। 'जागरण', 13 नवंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

हलवाई की दुकान

प्रतिहिंसा बहुत बुरी चीज है, हजरत ईसा मरते-मरते यही सिखाते रहे और उनकी शिक्षा को जैसा सर सैमुएल होर ने अपनाया, उसकी कहां तक बड़ाई की जाए। आप अहिंसा के अवतार हैं और भारत को आप बिलकुल गऊ बना देना चाहते हैं। भारत इसका बहुत दिनों तक ऋणी रहेगा। भारत के मजदूर और व्यापारी अंग्रेजी साम्राज्य के सभी भागों में अछूत समझे जाएं, लात खाएं, बहुत अच्छी बात है। प्रतिकार की भावना उसमें न आनी चाहिए। साम्राज्य वाले यहां राजपद पर आवें या व्यापार करने आवें, भारत को उनका स्वागत करना चाहिए, उसे अपना द्वार साम्राज्य के लिए खुला रखना चाहिए। इसमें अपमान की कोई बात नहीं। लात खाना सज्जनों का काम है। यहां वही 'हलवाई की दुकान और दादे का फातिहा' वाली मसल याद आती है।

संपादकीय। 'जागरण', 13 नवंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 मे संकलित।

हिन्दी साहित्य के ईश्वर की छीछालेदर

सरस्वती के नवंबर के अंक में श्री पं० वकटेश नारायण तिवारी ने उक्त विषय पर एक बहुत ही विचारपूर्ण और विचारोत्तेजक लेख लिखकर हिन्दी की साहित्यिक और साधारण जनता का ध्यान साहित्य के उस अंग की ओर आकर्षित किया है, जो भक्तिरस के नाम से प्रसिद्ध है और जिसमें शृंगार के बड़ नग्न और अश्लील भावों का चित्रण किया है। ब्रजभाषा के कवियों ने तो कान्ह और राधा और गोपियों के प्रेम रहस्य और विरह वियोग में अपनी उम्र खत्म कर दी। बिल्कुल ठीक, लेकिन जब आप इस मामले में हिन्दू जाति को ही गुनहगार ठहराते हैं और ईसाइयों और मुसलमानों के साहित्य को इन भावों से मुक्त बताते हैं, तो यह हिन्दुओं के साथ जरूरत से ज्यादा सख्ती कर बैठते हैं। सूफी कवियों ने हजरत मुहम्मद और खुदा में इश्क की कविताएं लिखी हैं और हजरत की जुल्फ, नर्गिसी आंखों और मिश्री-जैसी मीठी बातों का उल्लेख किया है। ईसाइयों में तो आज भी मरियम की बेटियां होती हैं, जो अपना सारा जीवन ईसा की उपासना में व्यतीत करती हैं। क्या आपको खबर नहीं कि अवध में नवाब साहब सखी धर्म के पक्के अनुयायी थे, महीने में तीन दिन घर में बंद रहते थे, किसी से मिलते-जुलते न थे। आज भी ऐसे मुसलमान सखी भाव वाले फकीर नजर आते हैं, जो नाक में नथुनियां, कानों में बाले और पैरों में कड़े छड़े पहने और रंगीन ओढ़नी ओढ़े बाजारों में निकलते हैं। मुसलिम-जनता इन सखी-भाव वाले फकीरों की खूब खिदमत और इज्जत करती है। इसलिए हिन्दू-साहित्य-सेवियों और कवियों न यह कोई नई बात नहीं की, बल्कि मनुष्य-मात्र में जो ईश्वर को मनुष्य रूप में देखने की भावना है, उसी का यह प्रतिबिंब है। जब आप ईश्वर को कृष्ण के रूप में देखते हैं तो यह कैसे संभव है कि प्राणी मात्र उन्हें एक ही रूप में देखें, अपनी-अपनी रुचि और मनोवृत्तियों और भावनाओं के अनुसार ही तो वह ईश्वर की कल्पना करेंगे।

कोई उसे शिव के रूप में देखता है, कोई राम के रूप में, कोई विष्णु के रूप में, कोई कृष्ण के रूप में। जिनमें धर्म-भावना प्रधान है, वह राम की उपासना करने हैं, जिनमें शृंगार-भावना प्रधान है, वह कृष्ण की ओर, जिनमें विषय-वासना बलवती है वे पंचमकारी हो जाते हैं और भैरवी चक्र की उपासना करते हैं। ये राम और कृष्ण और शक्ति केवल हमारे भिन्न-भिन्न ईश्वर-भावना के ही खिलौने हैं। साकार उपासना को आप इन बुराइयों से किसी तरह नहीं बचा सकते। यही साकारता सारे अनाचार की जड़ है। इसी की विभूति है, कि हमारे लाखों आदमी शिव-भक्त बनकर गांजे और चरस के दम लगाते हैं, लाखों देवी की वेदी पर बलि चढ़ाते हैं, लाखों कृष्ण के सामने नाचते गाते हैं। ईश्वर को एक बार साकार मानकर आप उसे मनुष्यत्व से निष्कलंक नहीं रख सकते। आप धन के इच्छुक हैं, तो ईश्वर आपको धनोपार्जन में क्यों न सहायता दे?

ईश्वर के नाम पर बड़े-बड़े मंदिर बनते हैं, जिनमें वह विश्राम करता है, उसके जन्म, विवाह आदि संस्कारों के उत्सव मनाए जाते हैं, चोर ईश्वर को मनाकर चोरी करता है, सेठजी ईश्वर को मनाकर सूद खाते हैं और तोंद बढ़ाते हैं, उसके नाम से जमींदारियां खरीदी जाती हैं, लेन-देन किया जाता है, मुकदमेबाजी की जाती है और जो बेचारे गरीब और दुखी हैं, वे उसकी शरण में जाकर अपनी विपत्ति को भूल जाते हैं और यह कुछ हिन्दू-धर्म में ही नहीं हैं, ईसाई, मुसलमान, बौद्ध, सभी इस इल्लत में गिरफ्तार हैं। हालांकि मुसलमान साकार ईश्वर को मानते ही नहीं और बौद्धों के यहां ईश्वर का कहीं पता नहीं है। तो जब एक बार आपने ईश्वर को मनुष्य मान लिया तो मनुष्य जाति की व्यावहारिकता से आप उसे नहीं बचा सकते। वह खाएगा, सोएगा, विहार करेगा, बच्चे पैदा करेगा, सुख में हसेगा, दुःख में रोएगा, मौका पड़ने पर झूठ भी बोलेगा, बेईमानी भी करेगा और चूंकि वह ईश्वर-मनुष्य है, इसलिए उसकी सारी मानवी क्रियाएं ईश्वरत्व के रंग में रंगी हुई, अधिक महान्, अधिक व्यापक होंगी। आप पाव-आध सेर में संतुष्ट हो जाते हैं, तो ईश्वर क्या मन दो मन भी न खाए, आप दो-चार आदमियों का जीत सकते हैं, तो क्या ईश्वर दो चार अक्षाहिणियों को न जीते, आप एक-दो शादियों से संतुष्ट हो जाते हैं, तो क्या ईश्वर दो-चार हजार स्त्रियों से भोग न करे, आपकी ईश्वर-कल्पना ही दूषित है, बल्कि यों कहना चाहिए कि आपने ईश्वर की सृष्टि करके ही यह सारी बुराइयां पैदा कर लीं।

और फिर आज पाप और पुण्य, धर्म और अधर्म, श्लील और अश्लील मे भेद ही कहां रहा? जब आज के बड़े-बड़े विद्वान काम-शिक्षा के प्रचार पर जोर दे रहे हैं, जब विवाह संस्था ही अमानुषीय कही जा रही है, जब यह माना जा रहा है, कि हम जिसे पाप और अधर्म कह रहे हैं, वह केवल सामाजिक अन्याय का ही फल है और समाज का जैसा संगठन है, उसमें इसके सिवा कोई दूसरा फल हो ही नहीं सकता, तो फिर धर्म और अधर्म का पचड़ा क्यों गाइए। साहित्य जीवन से तो अलग हो नहीं सकता, फिर आप कवियों से क्यों यह आशा रखते हैं, कि वे पवित्रता और परमार्थ में गोते लगाएं। जब हम गंगा नहाकर पापों से मुक्त हो जात हैं, तो कवि क्यों न पतित पावनी गंगा की महिमा गाए। वह जो कुछ लिखता है

मनुष्यों के लिए लिखता है, खुद भी उसी संस्कार में पला है, उससे आप कैसे यह आशा रखते हैं, कि वह अपने संस्कारों से ऊपर उठ जाए।

मगर नहीं, आज हिन्दी-कवि उन भावनाओं से ऊपर उठ रहा है। उसके लिए गोपियों के हास-विलास में, श्याम की रासलीला और माखनचोरी में कोई आकर्षण नहीं रहा। वह गंगा की स्तुति भी नहीं करता और स्वर्ग की अप्सराओं और मधुसागरों की महिमा नहीं गाता। वह नयनों के कटाक्ष और चित्त की चोरी और नूपुर संगीत और रति-रहस्य जैसे कामोद्दीपक प्रसंगों से अपनी कविता को अलंकृत नहीं करता। उसका विषय मनुष्य का हृदय और उसकी भावनाएं हैं और वह प्रकृति के सौंदर्य का ही उपासक है। उसके यहां कामियों का चुंबन नहीं, भक्त की श्रद्धा और उल्लास है, वह साकार का उपासक नहीं, अनंत और अनादि की धुन में मस्त है। उसके लिए फूल की पंखड़ी, उषा की लाली, पक्षियों का गान, अनाथ के आंसू किसी बाला का रूप लालित्य या किसी गरीब किसान की कुटिया, या जंगल में भटकता हुआ पथिक, सभी समान रूप से सुंदर, नवीन और आकर्षक है वह समस्त भूमंडल को सौंदर्य का आगार समझता है, पग-पग पर उसके लिए मस्ती के सामान बिखरे पड़े हुए हैं, वह फूल की प्याली में ओस की एक बूंद पीकर नशे में चूर हो जाता है, वह साहित्य में एक नया संदेश, नया जीवन, नई भावनाएं लेकर आया है, जिसमें वासना का अमल दखल नहीं, कवि की सच्ची अभिलाषा और सच्चा प्रेम झलक रहा है। वह समाज को पवित्रता और मनावता की ओर ले जा रहा है, क्योंकि उसने साकार ईश्वर के पंजे से अपना गला छुड़ा लिया है।

[संपादकीय। 'जागरण', 13 नवबर, 1933, मे प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-3 में संकलित।]

कारमाइकेल लाइब्रेरी की हीरक जयंती

कारमाइकेल लाइब्रेरी की स्थापना सन् 1872 में हुई थी। इस प्रकार इसकी स्थापना हुए साठ बरस से ऊपर हो गए। इसकी हीरक जयंती मनाने की तैयारी हो रही है। संयुक्त-प्रांत के शिक्षामंत्री माननीय श्री जे॰ पी॰ श्रीवास्तव ने पुस्तकालय के इस महोत्सव का सभापति होना स्वीकार कर लिया है। यह पुस्तकालय इस प्रांत के पुराने पुस्तकालयों में नहीं, बल्कि बड़े पुस्तकालयों में भी है। स्वर्गीय राय संकठाप्रसाद ने इस नगर के प्रमुख नागरिकों के सहयोग से इस पुस्तकालय की स्थापना तथा इसका संगठन किया था। नागरिकों और सरकारी कर्मचारियों की सहायता से पुस्तकालय की धीरे-धीरे उन्नति होती रही। पहले यह पुस्तकालय ठठेरी बाजार के पास चौक से नीची बाग जाने वाली सड़क पर था। पीछे इसका अपना वर्तमान भवन बना और सन् 1876 में इसी में खुलने लगा। गत वर्ष के विवरण से इसकी वर्तमान दशा का कुछ परिचय मिल सकता है। पुस्तकालय के हाल में, जो इस समय बानबे फुट लंबा और इक्कीस फुट चौड़ा है, पाठकों के पढ़ने के लिए 126 सामयिक पत्र रखे जाते थे, इनमें 23 दैनिक-पत्र और 43 मासिक-पत्र थे। पुस्तकों की कुल संख्या 17549 थी, जिसमें

अंग्रेजी की 7,513; हिन्दी की 3,595; उर्दू की 2,883; संस्कृत की 2,383; बंगला की 939; गुजराती की 178 और मराठी की 76 रहीं। सदस्यों की संख्या 218 थी। आय 10,572, रु० और व्यय 11, 807 रु० था। इस विवरण से पुस्तकालय का महत्त्व प्रकट हो जाता है। बनारस म्युनिसिपैलिटी के भूतपूर्व एक्जिक्यूटिव अफसर राय बहादुर जगन्नाथ प्रसाद मेहता के पिता आरंभिक वर्षों में पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष थे, इसलिए मेहता जी उनकी स्मृति में दो हजार रुपया लगाकर पुस्तकालय के लिए कमरा बनवा रहे हैं। आशा है शिक्षा-प्रेमी इस पुस्तकालय के संबंध में अधिक दिलचस्पी लेंगे, इसकी पर्याप्त सहायता करेंगे तथा इसके प्रबंध में सुधार करेंगे, जिससे इसके द्वारा और अधिक शिक्षा प्रचार हो सके। पुस्तकालय के द्वारा वास्तविक सेवा तभी हो सकती है, जब उसमें उत्तम पुस्तकों के संग्रह का बराबर प्रबंध हो तथा पुस्तकों की सुव्यवस्थित सूची हो। इसके साथ ही हमें इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि पुस्तकालय की पुस्तकों से अधिक से अधिक सज्जन लाभ उठावें। जिस पुस्तकालय में चुनी हुई नई व पुरानी पुस्तकों का अच्छा संग्रह है, तथा उन्हें पढ़ने वालों की संख्या बहुत अधिक है, वही बहुत बड़ा पुस्तकालय है।

[संपादकीय। 'जागरण', 20 नवंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

श्री जवाहरलाल नेहरू का व्याख्यान

श्री जवाहरलाल नेहरू पिछले सप्ताह काशी आए थे। आपके आने से काशी के राजनैतिक-क्षेत्र में बड़ा उत्साह उत्पन्न हो गया था। आप इस बार जेल से लौटने पर पहली बार ही काशी आए थे, इस कारण काशीवासियों को आपके आगमन से विशेष आनंद हुआ और आपका सर्वत्र ही बड़े समारोह के साथ स्वागत किया गया। जब श्री जवाहरलाल नेहरू अपनी पत्नी श्रीमती कमला नेहरू के साथ सारनाथ मूलगंधकुटी विहार के विशाल भवन में प्रविष्ट हुए, तो वहां एकत्र-जन आपके प्रति सम्मान का भाव प्रकट करने के लिए खड़े हो गए तथा उस समय राष्ट्र-ध्वनि हुई। श्री नेहरू के तीन व्याख्यान नगर में हुए और एक व्याख्यान हिन्दू विश्वविद्यालय में हुआ। इन व्याख्यानों में संसार के विभिन्न देशों के इतिहास का थोड़े में दिग्दर्शन कराया गया और विभिन्न देशों की शासन-पद्धतियों की चर्चा की गई। श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि संसार में खाने-पहनने का काफी सामान है, तो भी बहुत-से मनुष्यों को नहीं मिलता और अगणित मनुष्यों को अपर्याप्य अन्न-वस्त्र मिलता है। यह दुःखजनक स्थिति दूर करने का एकमात्र उपाय साम्यवाद के सिद्धांतों के अनुसार समाज का संगठन करना है। अन्य पद्धतियों के द्वारा यह समस्या अब तक हल नहीं हुई और उनसे हल होने की संभावना भी नहीं है। श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपने व्याख्यानों में वैज्ञानिक साम्यवाद (साइंटिफिक सोशलिज्म) शब्द का प्रयोग किया। आपका अभिप्राय यह था कि वर्तमान समाज में मनुष्य-मनुष्य में जो भीषण असमानता है, वह दूर हो। यह ठीक नहीं है कि एक मनुष्य के पास अथाह धन भरा पड़ा हो और दूसरा मनुष्य भूखा मरता हो। समाज

का इस प्रकार संगठन होना चाहिए, जिससे कोई मनुष्य भूखा न रहने पावे, सबको पर्याप्त अन्न और वस्त्र मिले ओर सबको उन्नति करने का समान अवसर हो। साम्यवाद का मतलब सब मनुष्यों को तौल-नाप कर बराबर करना नहीं है, सब मनुष्यों की बुद्धि और शक्ति में तो अंतर रहेगा ही।

श्री जवाहरलाल का चौथा व्याख्यान हिन्दू विश्वविद्यालय में हुआ। वहां आपने हिन्दू महासभा की हिन्दू राज स्थापित करने, सरकार, राजाओं, महाराजाओं और जमींदारों से सहयोग करने, स्वतंत्रता की भावनाओं के विरुद्ध काम करने की नीति की कड़ी निंदा की।

स्थानीय रत्नाकर रसिक मंडल ने श्री जवाहरलाल नेहरू को मानपत्र दिया। उत्तर देते हुए श्री नेहरू ने हिन्दी-साहित्य की उन्नति करने पर जोर दिया।

[संपादकीय। 'जागरण', 20 नवंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

स्थानीय रामकृष्ण सेवाश्रम

काशी के रामकृष्ण सेवाश्रम के द्वारा विगत बत्तीस वर्षो से दीन-दुखियों की सेवा-सुश्रुषा हो रही है। इस आश्रम के तेईसवें वर्ष के कार्य-विवरण से प्रकट होता है कि इसके अस्पताल में सोलह सौ सात रोगी अच्छे होने पर अस्पताल से चले गए। कुल एक सौ अठासी रोगियों की मृत्यु हो गई। इतनी अधिक मौतों का करण यह है कि अस्पताल में जो रोगी भर्ती होते हैं, वे अधिकतर बहुत बूढ़े या कमजोर या असाध्य रोगों से पीड़ित होते हैं। अक्सर तो ऐसे ही रोगी भर्ती होते हैं, जो मृत्यु के निकट होते हैं। अस्पताल में रोगियों की रोजाना औसत तादाद एक सौ अठारह रही। अक्सर सड़कों, गलियों और घाटों पर ऐसे रोगी पाए जाते हैं, जिनकी खबर लेनेवाला कोई नहीं होता। अस्पताल में दो सौ सोलह रोगियो की सेवा-सुश्रुषा तथा उनकी सब प्रकार की सहायता की गयी। अस्पताल में भर्ती हुए रोगियों के सिवाय भी बहुत से रोगियों को आश्रम के दवाखानों की ओर से दवाइयां दी गईं। ऐसे रोगियों की संख्या इकतालीस हजार चार सौ नौ थी। ऐसे रोगियों की रोजाना औसत तादाद दो सौ अठानवे रही। आश्रम की ओर से गरीबों की अन्य कई प्रकार की सहायता की गई है। गत वर्ष कुल आय तिरसठ हजार एक सौ सतहत्तर रुपये और व्यय छप्पन हजार आठ सौ छिहत्तर रुपये था। इसमें आने और पाई के अंक छोड़ दिए गए हैं। आश्रम के प्रधान निरीक्षक स्वामी नरोत्तमानन्द, सभापति राजा सर मोतीचन्द, कोषाध्यक्ष श्री बलदेवदास, मंत्री राय गोविंदचन्द्र और स्थानापन्न सहायक मंत्री स्वामी सत्यानन्द हैं। समिति को सेवा का क्षेत्र बढ़ाने के लिए और भी धन की आवश्यकता है। हाल ही में आश्रम का वार्षिकोत्सव कलकत्ता के हाईकोर्ट के जस्टिस श्रीमन्मथनाथ मुकर्जी के सभापतित्व में हुआ था। उस अवसर पर होड़ा के एक सज्जन ने एक हजार रुपये का गुप्त दान और हुगली जिले की श्रीमती कालीदासी दत्त ने पांच सौ रुपये का दान किया था। यह संस्था दीन-दुखियों की वास्तविक सेवा कर रही है। आशा है

कि जनता इसकी पूरी सहायता करेगी, जिससे यह और अधिक सेवा-कार्य करने में समर्थ हो सके। ईश्वर-पूजा का सर्वोत्कृष्ट मार्ग दीन-दुखियों और आश्रयहीन रोगियों की सेवा-सुश्रुषा है और यह रामकृष्ण सेवाश्रम के द्वारा सुचारु रूप से हो सकता है।

[संपादकीय। 'जागरण', 20 नवंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

दस साल की कैद

सरकार अपने नौकरों को पचपन साले में निकाल देती है, मगर हाईकोर्ट के जज साठ साल तक अदालत की कुर्सी को सुशोभित कर सकते हैं। यह भेद क्यों? क्या मामूली डिप्टी मजिस्ट्रेट या क्लर्क पचपन ही में होश-हवास खो बैठता है और जज लोग किसी गुप्त आशीर्वाद से साठ साल तक होश-हवास कायम रखते हैं? या हाईकोर्ट के जजों के लिए होश-हवास की जरूरत नही समझी जाती और वे केवल कुर्सी तोड़ने के लिए रखे जाते हैं? अब प्रयाग विश्वविद्यालय ने भी यह प्रस्ताव किया है कि साठ साल से ऊपर कोई आदमी वाइस चांसलर न रहे। अगर साठ साल तक आदमी हाईकोर्ट का जज रह सकता है, तो निस्संदेह पछत्तर साल की उम्र तक वाइस चांसलरी कर सकता है।

[संपादकीय। 'जागरण', 27 नवंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता वर्तमान युग का कोढ़ है, उसी तरह जैसे मध्यकालीन युग का कोढ़ सांप्रदायिकता थी। नतीजा दोनों का एक है। सांप्रदायिकता अपने घेरे के अंदर पूर्ण शांति और सुख का राज्य स्थापित कर देना चाहती थी, मगर उस घेरे के बाहर जो संसार था, उसको नोचने-खसोटने में उसे जरा भी मानसिक क्लेश न होता था। राष्ट्रीयता भी अपने परिमित क्षेत्र के अंदर रामराज्य का आयोजन करती है। उस क्षेत्र के बाहर का संसार उसका शत्रु है। सारा संसार ऐसे ही राष्ट्रों या गिरोहों में बंटा हुआ है, और सभी एक-दूसरे को हिंसात्मक संदेह की दृष्टि से देखते हैं और जब तक इसका अंत न होगा, संसार में शांति का होना असंभव है। जागरूक आत्माएं संसार में अंतर्राष्ट्रीयता का प्रचार करना चाहती हैं और कर रही हैं, लेकिन राष्ट्रीयता के बंधन में जकड़ा हुआ संसार उन्हें ड्रीमर या शेखचिल्ली समझ कर उनकी उपेक्षा करता है।

इसमें तो कोई संदेह नहीं कि अंतर्राष्ट्रीयता मानव संस्कृति और जीवन का बहुत ऊंचा आदर्श और आदि से संसार के विचारकों ने इसी आदर्श प्रतिपादन किया है। 'वसुधैव कुटुंबकम्' इसी आदर्श का परिचायक है। वेदांत ने एकात्मवाद का प्रचार

ही तो किया। आज भी राष्ट्रीयता का रोग उन्हीं लोगों को लगा हुआ है, जो शिक्षित हैं, इतिहास के जानकार हैं। वे संसार को राष्ट्रों ही के रूप में देख सकते हैं। संसार के संगठन की दूसरी कल्पना उनके मन में आ ही नहीं सकती। जैसे शिक्षा से और कितनी ही अस्वाभाविकताएं हमने अपने अंदर भर ली हैं, उसी तरह से इस रोग को भी पाल लिया है। लेकिन प्रश्न यह है कि उससे मुक्ति कैसे हो? कुछ लोगों का खयाल है कि राष्ट्रीयता ही अंतर्राष्ट्रीयता की सीढ़ी है। इसी के सहारे हम उस पद तक पहुंच सकते हैं, लेकिन जैसा श्रीकृष्ण मूर्ति ने काशी में अपने एक भाषण में कहा है, यह तो ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि आरोग्यता प्राप्त करने के लिए बीमार होना आवश्यक है। तो फिर यह प्रश्न रह जाता है कि हमारी अंतर्राष्ट्रीय भावना कैसे जागे।

समाज का संगठन आदि काल से आर्थिक भित्ति पर होता आ रहा है। जब मनुष्य गुफाओं में रहता था, उस समय भी उसे जीविका के लिए छोटी-छोटी टुकड़ियां बनानी पड़ती थीं। उनमें आपस में लड़ाइयां भी होती रहती थीं। तब से आज तक आर्थिक नीति ही संसार का संचालन करती चली आ रही है, ओर इस प्रश्न की ओर से आंखें बंद करके समाज का कोई दूसरा संगठन सफल नहीं हो सकता। यह जो प्राणी-प्राणी में भेद है, फूट है, वैमनस्य है, यह जो राष्ट्रों में परस्पर तनातनी हो रही है, इसका कारण अर्थ के सिवा और क्या है। अर्थ के प्रश्न का हल कर देना ही, राष्ट्रीयता के किले को ध्वंस कर सकता है।

वेदांत के एकात्मवाद का प्रचार करके एक-दूसरे ही मार्ग से इस लक्ष्य पर पहुंचने की चेष्टा की। उसने समझा समाज के मनोभाव को बदल देने से ही यह प्रश्न आप-ही-आप हल हो जाएगा, लेकिन इसमें उसे सफलता नहीं मिली। उसने कारण का निश्चय किए बिना ही कार्य का निर्णय कर लिया, जिसका परिणाम असफलता के सिवा और क्या हो सकता था। हजरत ईसा, महात्मा बुद्ध आदि सभी धर्म-प्रवर्तकों ने मानसिक और आध्यात्मिक संस्कार से समाज का संगठन बदलना चाहा। हम यह नहीं कहते कि उनका रास्ता गलत था। नहीं, शायद वहां रास्ता ठीक था, लेकिन उसकी असफलता का मुख्य कारण यही था कि उसने अर्थ को नगण्य समझा। अंतर्राष्ट्रीयता, या एकात्मवाद या समता तीनों मूलतः एक ही हैं। उनकी प्राप्ति के दो मार्ग हैं, एक आध्यात्मिक दूसरा भौतिक। आध्यात्मिक मार्ग की परीक्षा हमने खूब कर ली। कई हजार बरसों से हम यही परीक्षा करते चले आ रहे हैं। वह श्रेष्ठतम मार्ग था। उसने समाज के लिए ऊंचे से ऊंचे आदर्श की कल्पना की और उसे प्राप्त करने के लिए ऊंचे-से-ऊंचे सिद्धांत की सृष्टि की थी। उसने मनुष्य की स्वेच्छा पर विश्वास किया, लेकिन फल इसके सिवा और कुछ न हुआ कि धर्मोपजीवियों की एक बहुत बड़ी संख्या पृथ्वी का भार हो गई। समाज जहां था, वहीं खड़ा रह गया, नहीं और पीछे हट गया। संसार में अनेक मतों और धर्मों और करोड़ों धर्मोपदेशकों के रहते हुए भी जितना वैमनस्य और हिंसा भाव है, उतना शायद पहले कभी न था। आज दो भाई एक साथ नहीं रह सकते। यहां तक कि स्त्री-पुरुष में संग्राम चल रहा है। पुराने ज्ञानियों ने सारे झगड़ों की

जिम्मेदारी 'जर,जमीन, जन' रखी थी। आज उसके लिए केवल एक ही शब्द काफी है—संपत्ति।

जब तक संपत्ति मानव-समाज के संगठन का आधार है, संसार में अंतर्राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। राष्ट्रों-राष्ट्रों की, भाई-भाई की, स्त्री-पुरुष की लड़ाई का कारण यही संपत्ति है। संसार में जितना अन्याय और अनाचार है, जितना द्वेष और मालिन्य है, जितनी मूर्खता और अज्ञानता है, उसका मूल रहस्य यही विष की गांठ है। जब तक संपत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार रहेगा, तब तक मावन-समाज का उद्धार नहीं हो सकता। मजदूरों के काम का समय घटाइए, बेकारों का गुजारा दीजिए, जमींदारों और पूंजीपतियों के अधिकारों को घटाइए, मजूरों और किसानों के स्वत्वों को बढ़ाइए, सिक्के का मूल्य घटाइए इस तरह के चाहे जितने सुधार आप करें, लेकिन यह जीर्ण दीवार इस टीप-टाप से नहीं खड़ी रह सकती। इसे नए सिरे से गिराकर उठाना होगा।

संसार आदि काल से लक्ष्मी की पूजा करता चला आता है। जिस पर वह प्रसन्न हो जाएं उसके भाग्य खुल जाते हैं। उसकी सारी बुराइयां मुआफ कर दी जाती हैं, लेकिन संसार का जितना अकल्याण लक्ष्मी ने किया है, उतना शैतान ने नहीं किया। यह देवी नहीं, डायन है।

संपत्ति ने मनुष्य को अपना क्रीतदास बना लिया है। उसकी सारी मानसिक, आत्मिक और दैहिक शक्ति केवल संपत्ति के संचय में बीत जाती है। मरते दम भी हमें यही हसरत रहती है कि हाय इस संपत्ति का क्या हाल होगा। हम संपत्ति के लिए जीते हैं, उसी के लिए मरते हैं। हम विद्वान बनते हैं संपत्ति के लिए, गेरुए वस्त्र धारण करते हैं, संपत्ति के लिए। घी में आलू मिलाकर हम क्यों बेचते हैं? दूध में पानी क्यों मिलाते हैं? भांति-भांति के वैज्ञानिक हिंसा यंत्र क्यों बनाते हैं? वेश्याएं क्यों बनती हैं, और डाके क्यों पड़ते हैं? इसका एकमात्र कारण संपत्ति है। जब तक संपत्तिहीन समाज का संगठन न होगा, जब तक संपत्ति-व्यक्तिवाद का अंत न होगा, संसार को शांति न मिलेगी।

कुछ लोग समाज के इस आदर्श को वर्गवाद, या 'क्लास वार' कहकर उसका अपने मन में भीषण रूप खड़ा कर लिया करते हैं। जिनके पास धन है, जो लक्ष्मी-पुत्र हैं, जो बड़ी-बड़ी कंपनियों के मालिक हैं, वे इसे हौवा समझकर, आंखें बंद करके, गला फाड़कर चिल्ला पड़ते हैं। लेकिन शांत मन से देखा जाए तो असंपत्तिवाद के शरण में आकर उन्हें भी वह शांति और विश्राम प्राप्त होगा, जिसके लिए वे संतों और संन्यासियों की सेवा किया करते हैं, और फिर भी वह उनके हाथ नहीं आती। अगर वे अपने पिछले कारनामों को याद करें तो उन्हें मालूम हो कि संपत्ति जमा करने के लिए उन्होंने अपनी आत्मा का, अपने सम्मान का, अपने सिद्धांत का कितना खून किया। बेशक उनके पास करोड़ों की विभूति है, पर क्या उन्हें शांति मिल रही है? क्या वे अपने ही भाइयों से, अपनी ही स्त्री से सशंक नहीं रहते? क्या वे अपनी ही छाया से चौंक नहीं पड़ते? वह करोड़ों का ढेर उनके किस काम आता है? वे कुंभकर्ण का पेट लेकर भी उसे अंदर नहीं भर सकते।

ऐंद्रिक भोग की भी सीमा है। इसके सिवा कि उनके अहंकार को यह संतोष हो कि उनके पास एक करोड़ जमा है, और तो उन्हें कोई सुख नहीं है। क्या ऐसे समाज में रहना उनके लिए असह्य होगा, जहां उनका कोई शत्रु न होगा, जहां उन्हें किसी के सामने नाक रगड़ने की जरूरत न होगी, जहां उन्हें छल-कपट के व्यवहार से मुक्ति होगी, जहां उनके कुटुंब वाले उनके मरने की राह न देखते होंगे, जहां वे विष के भय के बगैर भोजन कर सकेंगे? क्या यह अवस्था उनके लिए असह्य होगी। क्या वे उस विश्वास, प्रेम और सहयोग के संसार से इतना घबराते हैं, जहां वे निर्द्वन्द्व और निश्चिंत, समष्टि में मिलकर जीवन व्यतीत करेंगे? बेशक उनके पास बड़े-बड़े महल और नौकर-चाकर और हाथी घोड़े न होंगे, लेकिन यह चिंता, संदेह और संघर्ष भी तो न होगा।

कुछ लोगों को संदेह होता है कि व्यक्तिगत स्वार्थ के बिना मनुष्य में प्रेरक शक्ति कहां से आएगी। फिर विद्या, कला और विज्ञान की उन्नति कैसे होगी? क्या गोसाईं तुलसीदास ने रामायण इसलिए लिखा था, कि उस पर उन्हें रायल्टी मिलेगी। आज भी हम हजारों आदमियों को देखते हैं, जो उपदेशक हैं, कवि हैं, शिक्षक हैं, केवल इसलिए कि इससे उन्हें मानसिक संतोष मिलता है। अभी हम व्यक्ति की परिस्थिति से अपने को अलग नहीं कर सकते, इसीलिए ऐसी शंकाएं हमारे मन में उठती हैं। समष्टि कल्पना के उदय होते ही यह स्वार्थ चेतना स्वयं संस्कृत हो जाएगी।

कुछ लोगों को भय होता है कि तब बहुत परिश्रम करना पड़ेगा। हम कहते हैं कि आज ऐसा कौन-सा राजा या धनी है जो कि आधी रात तक बैठा सिर नहीं खपाता। यहां उन विलासियों की बात नहीं है, जो बाप-दादों की कमाई उड़ा रहे हैं। वे तो पतन की ओर जा रहे हैं। जो आदमी सफल होना चाहता है, चाहे वह किसी काम में हो, उसे परिश्रम करना पड़ेगा। अभी वह अपने और अपने कुटुंब के लिए परिश्रम करता है। क्या तब उसे समष्टि के लिए परिश्रम करने में कष्ट होगा?

[संपादकीय। 'जागरण', 27 नवंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

हिन्दू सभा के नाराज़ी

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने काशी में हिन्दू सभा पर जो आक्षेप किए थे, उसने सभा में बड़ी हलचल पैदा कर दी है। भाई परमानंद जी से लेकर डॉ. हिंगोरानी तक हरेक ने अपने बयान प्रकाशित कराके इस आक्षेप का प्रतिवाद किया है। हमें इससे बहस नहीं। संभव है पंडित जी ने गलती की हो और हिन्दू सभा सच्चाई पर हो, पर भाई जी ने पंडित जी के हिन्दू न होने का जो फतवा दिया है उसके खिलाफ आवाज उठाना जरूरी है, क्योंकि वह फतवा पंडित जी को ही नहीं पर उस तरह के विचार रखने वाले सभी सज्जनों को हिन्दू दायरे के बाहर कर देता

है। क्या हिन्दू आदर्श यही है कि अन्यायी हिन्दू राजाओं की प्रशंसा की जाए और उन्हें अपनी मुसलिम प्रजा को कुचलने में सहायता दी जाए? हरिजनों को जो अधिकार दिए गए हैं, उनका विरोध किया जाए? जो सरकार हिन्दुओं के साथ अन्याय कर रही है, उसके तलवे सहलाए जाएं? मुसलमानों की घृणित सांप्रदायिकता की आंखें बंद करके नकल की जाए? सूदखोरी से किसानों की रक्षा के लिए जो सरकारी नियम बनाए जाएं, उनका विरोध किया जाए? अगर हिन्दू होने का यही अर्थ है, तो पंडित जी ही नहीं, उनके साथ बहुत-से लोग हिन्दू दायरे से बाहर हो जाने में अपना कल्याण समझेंगे।

[संपादकीय। 'जागरण', 27 नवंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

किसान सहायक कानूनों की प्रगति

पाठकों को मालूम होगा कि कई महीने हुए सरकार ने किसानों को महाजनों के पंजे से बचाने के लिए व्यवस्थापक सभा में तीन बिल पेश किए थे, जिनके अनुसार सूद का दर घटा दिया जाएगा, दस्तावेजों की नकल असामियों के पास भी रहेगी, महाजनों को हिसाब दिखाना पड़ेगा। ये बिल कमेटियों में विचार के लिए दिए गए थे। कमेटियों ने इन पर विचार कर लिया है और अपनी रिपोर्ट तैयार कर ली है ओर अब वे बिल संस्कृत होकर कार्उसिल में पेश किए जाएंगे।

[संपादकीय। 'जागरण', 4 दिसंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

प्रयाग में मादकता की वृद्धि

प्रयाग की जिला-नशा-कमेटी ने जिले में उन्नीस मादक वस्तुओं की दुकानें बंद कर दी हैं। मगर नगर-नशा-कमेटी से नशा-विभाग का यह नुकसान न देखा गया। उसने शहर में तुरंत चार दुकानें खोल दीं। देहात को उन्नीस दुकानों में जो कुछ कमी हुई उसकी पूर्ति शहर की चार दुकानों से हो जाएगी। अगर इस तरह यह कमी न पूरी हो तो कमेटी को चाहिए कि उसके लिए नये-नये आयोजन करे। जैसे सिगरेट वाले डिब्बियों में टिकट रख देते हैं, उसी तरह अफीम और चरस की पुड़ियों में या शराब की बोतलों में टिकट रख दिए जाएं । इनाम के लालच से हजारों टीटोटलर कंठी तोड़कर कलवरिए में न पहुंच जाएं तो हमारा जिम्मा। दूसरी तरकीब यह है कि हरेक कलवरिए में नशेबाजी का रिकार्ड रखा जाए। जो सबसे बड़ा पियक्कड़ हो उसे किसी तरह का सरकारी खिताब या सम्मान का कोई दूसरा चिह्न प्रदान कर दिया जाए। फिर देखिए इस विभाग से कितनी आमदनी बढ़ती है।

[संपादकीय। 'जागरण', 4 दिसंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

मुसलिम लीग का अधिवेशन

अभी भाई परमानंद ने अजमेर में हिन्दू सभा की ओर से जो कुछ कहा, वही मुसलिम दृष्टिकोण से मुसलिम-लीग के सभापति श्री हाफिज हिदायत हुसेन ने दिल्ली में फरमाया। दोनों महानुभाव राष्ट्रीयता के पक्के समर्थक हैं, दोनों ही ब्रिटिश सरकार के कदमों से चिमटे रहना चाहते हैं, दोनों अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए सरकार का मुंह ताकते हैं, दोनों नौकरियों और मेंबरियों की वेदी पर राष्ट्रीयता को बलि देना चाहते हैं। मगर फर्क यही है कि जहां मुसलिम-लीग अपने उद्देश्यों में सफल होती चली जा रही है, हिन्दू सभा के लिए अंधकार-ही-अंधकार है, क्योंकि मुसलिम लीग की नीति राजनैतिक सिद्धांतों के अनुकूल है, हिन्दू सभा की नीति उसके प्रतिकूल। राजसत्ता अल्पसंख्यक समुदाय को प्रोत्साहन देकर बहुसंख्यक समुदाय को दबाए रख सकती है। अगर वही प्रोत्साहन वह बहुमत को भी देने लगे, तो बहुमत इतना शक्तिशाली हो जाएगा कि वह अल्पमत के लिए ही नहीं, राजसत्ता के लिए भी भारी हो जाएगा। बहुमत को सहारा देकर कोई भी सरकार समान परिस्थितियों में अपनी जड़ खोदना स्वीकार न करेगी। राजसत्ता का अस्तित्व ही बहुमत को दबाए रखने में है। उसे किसी तरह भी शक्ति संचय नहीं करने दे सकती। मुसलमान अगर शक्तिशाली होकर सिर उठाना भी चाहें, तो सरकार हिन्दुओं की सहायता से उन्हें बहुत जल्द काबू में ला सकती है। हिन्दू-बहुमत अगर शक्तिशाली हो जाए, तो मुसमलानों की सहयता से भी नहीं दबाया जा सकता। आश्चर्य है कि हिन्दू सभा के नेता इतनी मोटी-सी राजनैतिक नीति नहीं समझते। मुसलमानों को थोड़े से अधिकार या वोट ज्यादा दे देना हिन्दुओं को असंतुष्ट करके ही रह जाएगा। हिन्दू-बहुमत के लिए तो स्वराज्य हो जाएगा, और पूर्ण स्वराज्य। इसलिए हिन्दू सभा की चीख-पुकार से राजसत्ता अपने निर्दिष्ट मार्ग से हट जाएगी, यह समझना ही राजनैतिक ज्ञान-शून्यता का परिचय देना है। इसका अगर कोई उपाय है तो यही कि देश की राष्ट्रीय मनोवृत्ति को पुष्ट किया जाए, और सांप्रदायिकता और उसकी पोषक शक्तियों का संयुक्त हिन्दू-मुसलिम-राष्ट्रीयता से सामना किया जाए। यह विश्वास करना कि मुसलमानों में राष्ट्रवादियों का बिलकुल अभाव है, सत्य से मुंह फेरना है। हां, ऐसे लोग उनमें कम हैं, पर यह कमी हमेशा न रहेगी। सरकार के पास मुसलमानों को संतुष्ट करने के लिए जितने साधन हैं, वह थोड़े दिनों में समाप्त हो जाएंगे। वही शक्तियां जो हिन्दू-युवकों में काम कर रही हैं, मुसलमानों में भी जोर पकड़ेगी। कोई जाति सदैव आश्रित बनकर नहीं रह सकती। शिक्षा के साथ उसका स्वाभिमान भी जागृत होगा और वह राष्ट्रीयता का महत्त्व समझेगी। इसी शक्ति के संगठित हो जाने पर हमारे भविष्य का दारोमदार है। लेकिन अगर सांप्रदायिक शक्तियां यों ही जोर पकड़े रहीं तो समझ लना चाहिए कि भारत अनंत काल तक स्वराज्य का स्वप्न ही देखता रहेगा। यह खयाल कि हिन्दू-जाति अपने ही बल से स्वराज्य प्राप्त कर सकती है, शेखचिल्ली की-सी बात है। शिवाजी और रणजीतसिंह का समय अब नहीं है। आठ करोड़ मुसलमान जिनकी संसार की सबसे बड़ी शक्ति

मदद कर रही हो, गीदड़-भभकियों से नहीं परास्त किए जा सकते।

हिन्दू सभा की वर्तमान नीति दिन-दिन मुसलमानों में संदेह और रोष बढ़ाती जाएगी, उनकी सांप्रदायिक भावनाओं को दृढ़ करती जाएगी, जिसका अर्थ है कि सरकार की शक्ति दिन-दिन बढ़ती जाएगी और भारत एक कदम भी आगे न बढ़ सकेगा। अगर इस नीति से हिन्दू सभा को वह सफलता मिलने की कोई संभवना होती तो एक बात थी। मगर सरकार के चरणों पर सिर झुकाकर वह कुछ नहीं पा सकती। एक की पीछ ठोंककर, चार के मुकाबिले में खड़ा किया जा सकता है। चार की पीठ ठोंकना तो एक का कचूमर ही निकाल देगा और अब क्या चारों उस पीठ ठोंकने वाले ही पर न टूट पड़ेंगे।

हाफिज जी ने अपने भाषण में वही पुरानी बातें दुहरा दी हैं जो हम लीग के प्लेटफार्म से बराबर सुनते आए हैं। वही मांगे हैं, वही विशेष व्यवहार का सवाल है, वही हिन्दुओं के अन्याय का रोना है। मुसलिम जाति के लिए आप ऐसे प्रतिबंधों का होना लाजमी समझते हैं, जिनसे ये अपने "पूर्व इतिहास, अपनी मर्यादा और अपनी संस्कृति" की रक्षा कर सकें। लेकिन इसके साथ ही आपने मुसलमानों को यह भी समझाया कि "प्रतिबंध चाहे कितने ही दृढ़ क्यों न हों, उनसे सहायता नहीं मिल सकती, जब तक मुसलमान संगठित होकर अपने पैरों खड़ा होना न सीखेंगे" मगर हाफिज जी भी रिजर्व बैंक और अठारह पेंस के अनुपात के प्रश्न पर राष्ट्रीय विचार प्रकट करने से अपने को न रोक सके। यहां सांप्रदायिकता के लिए गुंजाइश ही न थी। संभव है कि भविष्य में ऐसी और भी बातें निकल आएं।

इधर 'पानइसलामिज्म' की काफी चर्चा हुई थी। खबर उड़ी थी कि 'पाकिस्तान' का नया सूबा या नया राज बनाने की तैयारियां हो रही हैं, जिसमें काशमीर, सिंध, पंजाब, सरहद और अफगानिस्तान मिला लिए जाएंगे। इस चर्चा का उद्गम कहां था, यह कोई नहीं कह सकता। शायद इंग्लैंड में इस तरह का हौवा खड़ा किया गया, जो हिन्दू-मुसलिम विरोध को और सजग कर दे और वह अपने उद्देश्य में सफल भी हुआ। ज्वाइंट कमेटी में भी इस पर काफी चहल-पहल रही। हाफिज जी ने इस विषय में जो कुछ कहा है, उसे आशा है, भयभीत होने वालों को संतोष हो जाएगा—

"मैं जानता हूं कि पंजाब में मुसलिम-स्वत्वों के विरुद्ध 'पानइसलामिज्म' और अफगान हमले का हौवा खड़ा किया गया है....पर यह मेरी समझ में, वहम है। राजनैतिक पानइसलामिज्म, जिसका अर्थ है कि मुसलमानों का एक संयुक्त राज्य स्थापित किया जाए, कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ। इसका आदर्श यही है कि इसलाम सभी जातियों और वर्गों के संयोग का आधार है, जो भौगोलिक बाधाओं को स्वीकार नहीं करता। इसका आशय यह कभी नहीं रहा कि मुसलमान सदा मक्का की ओर मुंह और भारत की ओर पीठ किए रहता है। यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि भारत के मुसलमानों का स्वार्थ भारत की ही समस्याओं पर केन्द्रित है, भारत के बाहर के प्रश्नों पर नहीं, और मुसलमान भी उसी तरह भारतीय राष्ट्र का एक अंग है, जैसे कोई अन्य जाति। यह भूत केवल मुसलमानों के प्रति योरोप और अमेरिका वालों में भय और द्वेष उत्पन्न करने के लिए रचा गया है।"

,बात यह है कि हिन्दू-सभा और मुसलिम लीग दोनों में ऐसे लोग भरे हुए हैं, जो या तो सरकारी नौकर या पेंशनर हैं। उनका मस्तिष्क नौकरियों और जगहों के सिवा कुछ सोच ही नहीं सकता। किसान और मजदूर के लिए उनके पास कुछ नहीं है, कोई निर्माणकारक स्कीम नहीं है, कोई क्रियात्मक उद्धार की नीति नहीं है। उन्हें नौकरी चाहिए, जिसका मतलब यही है कि विदेशी राज्य के साथ मिलकर गरीबों का शासन करना, उनका सबसे बड़ा आदर्श है। उन जगहों की संख्या भी बराबर बढ़ती रहनी चाहिए, वेतन और तरक्कियां भी बराबर बढ़ती जाएं, चाहे टैक्स और लगान देने वाले खर्च के बोझ से पिस ही क्यों न जाएं। हाफिज जी ने भी मुसलमानों की सबसे बड़ी मांग यही नौकरी बतलाई। आप फरमाते हैं–

''नौकरी केवल रोटी का प्रश्न नहीं है, यद्यपि यह प्रश्न भी उपेक्षणीय नहीं है, बल्कि देश और जाति की सेवा और प्रभाव का प्रश्न है। मुसलमानों में बेकारी बढ़ रही है और मैं फौज और पुलिस में विशेषकर उनकी संख्या बढ़ाने पर जोर देता हूं, जिसकी मुसलमानों में विशेष प्रवृत्ति है।''

फौज में क्या इसलिए कि तरक्कियां जल्द मिलती हैं और पुलिस में शायद इसलिए कि वहां आमदनी खूब होती है। आगे चलकर हाफिज जी फरमाते हैं–

''इसलिए यह परमावश्यक है कि भारतीय, प्रांतीय और सहायता-प्राप्त सभी विभागों के अधीन जगहों पर मुसलमानों को वहां की व्यवस्थापक सभाओं में मुसलिम मेंबरों की संख्या के अनुपात से जगहें दी जाएं, और यह अनुपात रिवाज पर न छोड़ा जाए, बल्कि व्यवस्था का अंग बना दिया जाए। फौज और पुलिस में उनकी संख्या अधिक रहनी चाहिए। उसी अनुपात से मुसलमान मिनिस्टरों की नियुक्ति भी कानून में आ जानी चाहिए।''

अगर हिन्दू सभा हाफिज जी के सामने यह प्रस्ताव रखे कि मुसलमानों और हिन्दुओं से जितना कर, लगान और टैक्स वसूल हो, उसी अनुपात से हिन्दू और मुसलिम आदमी नौकर रखे जाएं तो हाफिज जी क्या जवाब देंगे?

[संपादकीय। 'जागरण', 4 दिसंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

योरोप में निरशस्त्रीकरण की प्रगति

बरसों से सुनते आते हैं कि योरोप में लड़ाई के यंत्र घटाए जा रहे हैं। लीग में बहसें हुईं, जाने कितने सम्मेलन हुए, नेताओं ने कितनी दौड़-धूप की, मगर परिणाम क्या हुआ? 1914 में अंग्रेजों के पास एक लाख पैंतीस हजार टन की टारपीडो नौकाएं थीं, अब एक लाख सत्रह हजार टन की हैं, 1914 में फ्रांस के पास पैंतीस हजार टन थे, अब एक लाख अठानवे हजार टन हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के पास चालीस हजार टन थे अब दो लाख उनसठ हजार टन हैं जापान के पास चार हजार चार सौ सत्तर टन थे, अब एक लाख पच्चीस हजार टन हैं। अब सबमेरीनों को लीजिए। 1914 में ब्रिटेन के पास सैंतालीस हजार टन थे, अब इकसठ हजार टन हैं, फ्रांस

के पास सैंतीस हजार टन थे, अब सत्तानवे हजार टन हैं, संयुक्त राज्य अमेरिका के पास सोलह हजार टन थे, अब सतहत्तर हजार टन हैं।

यह है योरोपीय निरशस्त्रीकरण की प्रगति। जब कमी की यह प्रगति है, तो वृद्धि की क्या प्रगति होगी, इसका कौन अनुमान कर सकता है।

[संपादकीय। 4 दिसंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

आतिशबाजियों का घातक परिणाम

शबरात गुजरे पांच दिन हो गए, पर अभी तक पटाखे छूट रहे हैं और कभी-कभी हवाइयां और छछूदरें भी नजर आ जाती हैं। होली में भी हफ्तों तक लोगों पर आतिशबाजियों का नशा सवार रहता है। हर साल कई लाख रुपये बारूद में उड़ जाते हैं। रुपये तक ही बात रहती तो गनीमत थी, कितनों ही की जान भी जाती है। अभी समाचार-पत्रों में कई जिलों से आतिशबाजी के घातक परिणाम की खबरें आई हैं। और कइ दिनों तक इस तरह की खबरें आती रहेंगी। मगर समाज के नेताओं ने इस दूषित प्रथा को रोकने का प्रयत्न नहीं किया। कई साल हुए दिल्ली में मुसलिम नेताओं ने आतिशबाजियों के विरुद्ध बड़ा आंदोलन किया था, उसका नतीजा यह हुआ कि दो-तीन साल तक इसमें कुछ कमी हुई, लेकिन अब फिर वही हाल है। लुधियाने में तो एक पूरा परिवार ही खत्म हो गया।

[संपादकीय। 'जागरण', 11 दिसंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

डॉ॰ इकबाल का जवाब पंडित जवाहरलाल को

डॉ॰ इकबाल ने पंडित जवाहरलाल नेहरू का जवाब देते हुए फरमाया है कि सर आगा खां ने महात्मा गांधी को हिन्दू-मुसलिम समझौते की जो शर्त पेश की थी, उन पर मेल करने को मुस्लिम जाति आज भी तैयार है। अगर 1931 में वे शर्तें भारत की राष्ट्रीयता के अनुकूल न समझी गईं तो आज वह क्योंकर अनुकूल हो सकती हैं। हमारी सांप्रदायिक संस्थाएं हमेशा थोड़े-से पढ़े-लिखे समाज के हित को ही प्रधान समझकर चलती हैं। किसी भी प्रश्न पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार करना, उनके लिए असह्य होता है। साधारण हिन्दू या मुसलिम जनता की ओर उनमें से किसी का ध्यान नहीं जाता, जो आर्थिक और भौतिक बाधाओं का समान रूप से शिकार हो रही है। जब तक नौकरियों और मेंबरियों का यह मोह बना रहेगा, जब तक व्यक्तिगत स्वार्थ हमारा पथ-प्रदर्शक बना रहेगा, और उसको हम सांप्रदायिकता की आड़ में छिपाए रहेंगे, तब तक मेल होना मुश्किल है। जब तक हम अपने इतिहास और संस्कृति और ऐसे ही दूसरे ढकोसलों पर राष्ट्र के वास्तविक सिद्धांतों को होम करते रहेंगे, उस वक्त तक यों ही संघर्ष होता रहेगा। उसका असली

फैसला तभी होगा, जब जनता खुद अपना भला-बुरा सोचने के लायक होगी और थोड़े-से स्वार्थ-भक्त नेताओं के पीछे आंखें बंद करके चलना छोड़ देगी। जब तक आरती और नमाज और गऊ-रक्षा और कुर्बानी और बाजे के मसलों पर जनता में उत्तेजना फैलाना असंभव न हो जाएगा, उस वक्त तक यह मेल-जोल का मसला हल न होगा। और जब तक एक तीसरी पार्टी दोनों तरफ के पहलवानों को पुचारा देती रहेगी, तब तक सांप्रदायिकता अपना काम करती जाएगी। अभी बहुत दिन नहीं गुजरे कि अफ्रीका में अंग्रेजों और बोअरों में इतना द्वेष था कि दोनों में खून की नदी बह गई, पर स्वराज्य मिलते ही दोनों एक हो गए। इसी तरह कैनाडा में भी अंग्रेज और फ्रेंच जातियों में खूब लड़ाइयां होती रहीं, लेकिन अब स्वराज्य पा जाने पर उनमें कोई मतभेद नहीं नजर आता। राष्ट्र-प्रेमियों के सामने इस वक्त सबसे जरूरी काम यही है कि जनता के दिल से पाखंड, अंधविश्वास और नुमायशी धार्मिकता के भावों को दूर किया जाए और वह अपने सच्चे और नकली हितैषियों को पहचानना सीखें।

[संपादकीय। 'जागरण', 11 दिसंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

सिनेमा और युवक

सिनेमा-चित्रों में प्राय: जिस तरह के दृश्य दिखाए जाते हैं, उनका युवकों के चरित्र पर बुरा परिणाम देखकर यूरोप के कई देशों ने 16 वर्ष से कम उम्र के कुमारों को सिनेमा देखने का कानूनी निषेध कर दिया है। हत्या और डाके के जो कांड इतने सजीव रूप में दिखाए जाते हैं, उनका किसी के चरित्र पर भी अच्छा असर नहीं पड़ सकता। कुमारों के कोमल हृदय पर तो उसका असर इतना खराब होता है कि कितनों ही ने उसे कार्यरूप में लाने की चेष्टा की है और आज जेलखानों में चक्की पीस रहे हैं। शिक्षोपयोगी चित्रों से अलबत्ता युवकों का बहुत कुछ उपकार होने की आशा की जाती है। भूगोल, इतिहास, आरोग्य आदि विषयों की शिक्षा चित्रों द्वारा बहुत ही सरल और मनोरंजक हो गई है, पर शिक्षा-सिद्धांत क मर्मज्ञों को ये शिक्षा-विषयक चित्रपट भी दोष से खाली नहीं दीखते। इनका असर इतना खराब तो नहीं होता, कि कुकृत्यों की ओर ले जाए, पर बौद्धिक विकास में इससे बड़ी बाधा पड़ती है। लड़कों में जो जिज्ञासा-वृत्ति होती है, उसे शांत करने का यहां कोई साधन नहीं। वे केवल आंखों से देखते हैं, बुद्धि और तुलना शक्ति से काम लेने का उन्हें कोई अवसर नहीं मिलता। इस तरह उनका मन विलास-प्रिय हो जाता है और उसमें विचार की शक्ति शिथिल हो जाती है। यहां तक कि उनका कहना है कि बहुतेरे युवकों की मानसिक शिथिलता इतनी बढ़ गई है कि वे जो दृश्य देखते हैं, उनकी बारीकियों को याद नहीं रख सकते। बालकों में जो क्रियात्मक और नई-नई बातें खोज निकालने की प्रवृत्ति है, वह यहां बिलकुल दब जाती है। मगर सिनेमा का प्रचार दिन-दिन बढ़ता जा रहा है और अच्छे फिल्म खोजने से भी नहीं मिलते। जब तक यह व्यवसाय

सुशिक्षित और विचारशील तथा चरित्रवान व्यक्तियों के हाथ में न जाएगा, इसके सुधरने की कोई आशा नहीं।

[संपादकीय। 'जागरण', 11 दिसम्बर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

हिन्दू सोशल लीग का फतवा

मि॰ नेहरू के समाजवाद का विरोध करने का प्रस्ताव

अमृतसर में कोई सोशल लीग या उसकी शाखा है। इधर पं॰ जवाहरलाल के भाषण के विषय में हिन्दू-सभा में जो हलचल मच गई थी, उस पर उसने हिन्दू-सभाओं के नेताओं से अपील की है कि वे इस वाद-विवाद को बंद कर दें। क्योंकि इससे मनो-मालिन्य बढ़ता है। लेकिन लीग के विचार में मि॰ नेहरू के समाजवाद का बड़े जोरों से विरोध किया जाना चाहिए, जिससे देश को बहुत बड़ी हानि पहुंचने की शंका है। आगे चलकर वह कहता है–

"समाजवाद देश के दुःखों को दूर करने का कोई उपाय नहीं बताता क्योंकि वह अपने कार्यक्रम और दृष्टिकोण दोनों ही में विध्वंसात्मक है। रूस के समाजवाद ने थोड़े-से पूंजीपतियों द्वारा जनता की लूट को हटाकर उनकी जगह राज्य को बिठा दिया है।"

यह कथन पढ़ लेने के बाद अब इसमें किसे संदेह हो सकता है, कि हिन्दू सोशल लीग भी हिन्दू-सभा की भांति पूंजीपतियों की संस्था है, और वह समाजवाद का विरोध देश के हित को सामने रखकर नहीं, हिन्दू जनता के हित के लिए नहीं, बल्कि थोड़े-से हिन्दू पूंजीपतियों के स्वार्थ को सामने रखकर कर रही है। पूंजीपति क्या हिन्दू क्या मुसलमान एक ही हैं। उनकी विचार-शैली एक, उनकी स्वार्थ-लिप्सा एक। उनका उद्देश्य जनता को लूटकर अपनी जेब भरना है। जनता की आर्थिक जागृति, उन्हें अपने स्वार्थों के प्रतिकूल नजर आती है। वे चाहते हैं कि जनता सदैव इसी दशा में पड़ी रहे और वे सदैव उसका खून चूसते रहें। उनका राष्ट्र-प्रेम केवल धोखे की टट्टी है।

सोशल लीग कहता है कि समाजवाद अपने कार्यक्रम और दृष्टिकोण दोनों ही में विध्वंसात्मक है। पश्चिम में समाजवाद की प्रगति देखकर ही उसने यह नतीजा निकाला है, लेकिन क्या यह जरूरी है कि योरोप के समाजवाद ने जिस नीति को अपनाया, उसे भारत भी अपनाए। योरोप में जैसी परिस्थिति थी वैसी भारत में नहीं है। यहां तो वेदांत के एकात्मवाद ने पहले ही से समाजवाद के लिए मैदान साफ कर दिया है। हमें उस एकात्मवाद को केवल व्यवहार में लाना है। जब सभी मनुष्यों में एक ही आत्मा का निवास है, तो छोटे-बड़े, अमीर-गरीब का भेद क्यों। क्यों कुछ लोगों को नौकरों की फौज और बड़े-बड़े महल और बैंक से लाखों की पूंजी आवश्यक है? हमारा तो यह खयाल है कि जो समाजवाद का समर्थक नहीं, वह हिन्दू नहीं है। समाजवाद यही तो चाहता है कि मनुष्य-

मात्र को समान भाव से शिक्षित होने और काम करने का अवसर दिया जाए, सभी काम बराबर समझे जाएं, सभी समान रूप से प्रेम और शांति के साथ रहकर जीवन व्यतीत करें। इससे ऊंचा और पवित्र मानव-संस्कृति का उद्देश्य और क्या हो सकता है? इस सिद्धांत के विरुद्ध चलने का ही यह फल है कि आज हम जिस तरफ आंखें उठाते हैं, संघर्ष ही नजर आता है। इसी का परिणाम है कि समाज भक्ष्य और भक्षक दो श्रेणियों में बंट गया है। इसी सामाजिक विधान को कायम रखने के लिए अदालतें, पुलिस, फौजें और चकले बने हुए हैं। हजारों भिक्षुक और फकीर जो गली-गली मारे-मारे फिरते हैं, इसी विधान के शिकार होकर आज पृथ्वी का भार बने हुए हैं। इस विधान के हाथों कितने प्राणियों का जीवन नारकीय हो रहा है, संसार को उससे कितनी बड़ी क्षति पहुंची है, इसका अनुमान ब्रह्मा भी नहीं कर सकते।

समाजवाद में ऐसे संघर्ष के लिए कोई स्थान ही नहीं । जहां सभी समान धनी या समान दरिद्र होंगे, वहां चोरियां क्यों होने लगीं? जहां वैयक्तिक संपत्ति का प्रश्न ही न होगा, वहां पर अदालतें क्यों रहने लगीं? जहां नोच-खसोट, लूट-मार की वारदातें न होंगी, वहां पुलिस की इतनी बड़ी संख्या ही क्यों रहने लगी? जहां सभी को समान रूप से शिक्षा मिलेगी और समान रूप से उन्नति करने और अपने जीवन को सार्थक करने के अवसर मिलेंगे, वहां भिक्षुकों की यह अगणित सेना क्यों रहने लगी? और चकलों का तो निशान भी न रहेगा, क्योंकि चकला केवल मुफ्तखोरों या थोड़ी-सी मेहनत करके बहुत-सा धन कमाने वालों का क्रीड़ा-क्षेत्र मात्र है। समाज के जिस विधान से संसार में इतना अनर्थ फैला हुआ है उसका समर्थन करके हिन्दू-लीग अपने कृत्य पर गर्व नहीं कर सकती। एक आदमी दूसरे आदमी को अपने से नीचा समझे और उसके पसीने की कमाई से खुद मोटा होना चाहे, यह मनुष्यता का अपमान है। और यह उसी समय तक चल सकता है, जब तक जनता में जागृति नहीं है। जागृत समाज किसी तरह इस विधान के नीचे अपना सिर रखना पसंद नहीं कर सकता। आज संसार में पूंजीवाद की जड़ें खोखली हो रही हैं और उसे अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए समाजवाद से समझौता करना पड़ रहा है। फासिज्म और नाजिज्म इस समझौते के रूप हैं। पर लक्षण बता रहे हैं कि निकट भविष्य में आजकल का पूंजीवाद जमीन पर पड़ा होगा और उसकी लाश पर समाजवाद की धारा बह रही होगी। हिन्दू-सभा और हिन्दू-सोशल लीग दोनों समय और धर्म के प्रतिकूल चल रहे हैं। वास्तव में विध्वंसात्मक वह पूंजीवाद है, जिसके दामन से वह चिमटे हुए हैं, न कि समाजवाद जो भूमंडल के लिए शांति, उद्धार और स्वाधीनता का संदेश सुना रहा है।

[संपादकीय। 'जागरण', 11 दिसंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

इंग्लैंड का विश्वासी पुलिसमैन

इंडिया लीग डेपुटेशन ने लंदन पहुंचकर भारतीय परिस्थिति पर अपनी राय पहले ही प्रकाशित कर दी है। हाल में उसके एक मेंबर मि॰ लियोनार्ड मैटर्स ने कहा है–

''भारत में प्रत्येक व्यक्ति कांग्रेसी मनोवृत्ति का है। इस समय भारत में सभी अंग्रेज स्त्री-पुरुषों का जीवन महात्मा गांधी के हाथ में है और उन्हें बजातौर पर भारत में इंग्लैंड का सबसे अच्छा पुलिसमैन कहा जा सकता है।''

ऊपर के शब्दों की टीका करने की हम कोई जरूरत नहीं समझते। इनमें रत्ती-भर भी अतिश्योक्ति नहीं है।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 दिसंबर, 1932, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

क्या हरिजन आंदोलन राजनैतिक है?

हरिजन आंदोलन को सांप्रदायिक मुसलमानों ने आदि से ही संदेह की दृष्टि से देखा है और अब भी उनको इस आंदोलन से सहानुभूति नहीं है। उन्हें इसमें राजनीति की गंध आती है। डॉ॰ सर मुहम्मद इकबाल ने अपने वक्तव्य में इस ओर संकेत भी किया था। डॉ॰ सर मुहम्मद इकबाल के उसी आक्षेप के जवाब में महात्मा जी ने अपना एक अलग वक्तव्य निकाला है, आप लिखते हैं–

''हरिजनों के प्रतिनिधियों की ओर से जो मांग रखी गई थी, वह राष्ट्रीयता के विरुद्ध थी। यदि वह राष्ट्र के या हरिजनों के लिए लाभकर होती, तब अलबत्ता डॉ॰ सर मुहम्मद इकबाल का यह कहना ठीक होता कि उसका विरोध करना मेरे लिए अमानुषिक कार्य था। मेरी यह धारणा है कि मेरा वह कार्य न केवल अमानुषिक नहीं था, बल्कि हरिजनों के अनुकूल भी था। सर मुहम्मद इकबाल को मालूम होना चाहिए कि अछूतपन को जड़ से उखाड़ फेंकना मेरे जीवन का उद्देश्य है और पचास वर्षों से लगातार मैं उसी उद्देश्य को पूरा करने में लगा हूं....''

''हरिजनोद्धार के संबंध में मैं जो कुछ भी करता हूं, वह शुद्ध धार्मिक है। उसमें कोई भी राजनैतिक रहस्य नहीं है।''

[संपादकीय। 'जागरण', 18 दिसंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

सर पी॰ सी॰ राय का दीक्षांत भाषण

सर पी॰ सी॰ राय ने काशी विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण में कई बड़े महत्त्व के प्रश्न उठाए, जिन पर गंभीरता से मनन करने की जरूरत है। मसलन आपके विचार में विश्वविद्यालय में लेक्चरों का होना आवश्यक न होना चाहिए, बल्कि छात्रों में स्वयं पुस्तकावलोकन की लगन पैदा होनी चाहिए। विद्यालय छात्रों को

पाठ्यक्रम के झमेलों में फंसाकर उनकी बौद्धिक मौलिकता को नष्ट कर देता है। इसमें संदेह नहीं कि परीक्षाओं और लेक्चरों का बंधन छात्रों के स्वाध्याय में बाधक होता है और आज भी ऐसे ही कितने ही महान् पुरुष मौजूद हैं जिन्होंने विद्यालय का मुंह नहीं देखा, मगर हमारे ख्याल में बी० ए० तक के छात्रों को विश्वविद्यालय का छात्र समझा ही क्यों न जाए। हमारे यहां जो सेकेंडरी शिक्षा कहलाती है, वह मैट्रिकुलेशन तक समाप्त हो जाती है, पर उस वक्त अधिकांश छात्रों की उम्र पंद्रह से अठारह वर्ष की होती है और उनमें प्रौढ़ विचार का विकास नहीं हुआ रहता। वास्तव में बी० ए० तक उसी प्रौढ़ शिक्षा की कमी पूरी होती है। इसके ऊपर तीन साल का समय विश्वविद्यालय का होना चाहिए, जिसमें छात्रों को लेक्चरों का सुनना लाजिमी न हो और वे स्वाध्याय और खोज में अभ्यस्त हो सकें। बी० ए० तक की शिक्षा तो जहां तक सस्ती हो सके अधिक-से-अधिक छात्रों को मिलनी चाहिए। मगर आश्चर्य यही है कि इस मंदी के जमाने में जहां लोगों की आमदनियां घट गई हैं, विद्यालय का खर्च बढ़ गया है। वही दफ्तरी हुकूमत जो अन्य विभागों में राज्य कर रही है, विद्यालय पर भी आसन जमाए हुए है। वही लंबी-लंबी तनख्वाहें हैं, वही परीक्षा की फांस है, वहां छात्रों पर आतंक जमाने की धुन है। हमारा साधारण अध्यापक किसी थानेदार या डिप्टी मजिस्ट्रेट से कम रोब नहीं जमाता। खैर, यह तो विवादग्रस्त विषय है। इसके पक्ष और विपक्ष दोनों ही के समर्थक मिल जाएंगे, मगर मातृभाषा के माध्यम द्वारा शिक्षा का जो आदेश आपने दिया, उसमें तो शायद किसी को आपत्ति हो ही नहीं सकती। हैदराबाद में उर्दू द्वारा ऊंची-से ऊंची शिक्षा दी जा रही है। जो बात उर्दू द्वारा हो सकती है, वह अन्य भाषाओं द्वारा भी हो सकती है, मगर यहां कठिनाई यह पड़ती है कि हरेक प्रांत की भाषा अलग है। मुख्य भाषाओं की संख्या भी एक दर्जन से कम न होगी। अगर हरेक प्रांत में प्रांतीय भाषा ही शिक्षा का माध्यम बना दी गई, तो राष्ट्रीयता को कितना बड़ा धक्का पहुंचेगा। उसका अनुमान नहीं किया जा सकता। हमारे छात्र कूप-मंडूक होकर रह जाएंगे। इसलिए जरूरत यह है कि मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम न बनाकर राष्ट्रभाषा को माध्यम बनाया जाए। और यह तय हो चुका है कि हिन्दी के सिवा कोई दूसरी भाषा, राष्ट्रभाषा बनने लायक नहीं है। यदि बंगाल इस प्रस्ताव को स्वीकार कर ले तो हमारा विश्वास है कि अन्य प्रांत वाले भी अवश्य स्वीकार कर लेंगे। यदि राष्ट्रभाषा द्वारा शिक्षा मिलने लगे तो इंटरमीडिएट का कोर्स सरलता से मैट्रिकुलेशन में पूरा किया जा सकता है। और तब आशा है, छात्रों में वह अभिमान भी पैदा न हो, जो अंग्रेजी पढ़कर उनमें आ जाता है और उन्हें कृषि या व्यापार के अयोग्य बना देता है। मगर एक पश्चिमी भाषा की जरूरत तो हर हालत में रहेगी। उसके बिना गुजारा नहीं हो सकता। संसार की प्रगति से मिले रहने के लिए इसकी जरूरत है।

[संपादकीय। 'जागरण', 18 दिसंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

सांप्रदायिक समस्या का राष्ट्रीय समन्वय

पिछले अंक में हमने डॉ॰ सर मुहम्मद इकबाल के उस बयान की चर्चा की थी, जिसमें उन्होंने कहा था कि मुसलमान आज भी हिन्दुओं से समझौता करने को तैयार है अगर हिन्दू उनकी सारी शर्तें मान लें, और उसके साथ ही आपने महात्मा गांधी की उस सलाह को अमानुषीय कहा था, जो उन्होंने हरिजनों को हिन्दू समाज से पृथक् न करने के विषय में दी थी और हिन्दू-मुसलिम समझौता न होने का सारा इलजाम महात्मा गांधी पर रख दिया था। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने उस बयान के जवाब में अपना बयान प्रकाशित कराया है, जिसमें आपने सांप्रदायिक समस्या के हरेक पहलू पर विचार करने की चेष्टा की है, और यह सिद्ध कर दिया है कि वह विख्यात चौदह प्रश्न, जिनके आधार पर ही मुसलमान हिन्दुओं से समझौता करने को तैयार हैं और वे केवल मुट्ठी-भर शिक्षित मुसलमानों से ही संबंध रखते हैं। साधारण मुसलिम जनता को उनसे कोई लाभ नहीं। और शिक्षित मुसलमानों में भी ऐसे व्यक्तियों की काफी संख्या है, जो उन चौदह प्रश्नों का समर्थन नहीं करते, अर्थात् सम्मिलित निर्वाचन के समर्थक हैं। ऐसी दशा में किसी मुसलिम पार्टी को मुसलिम जाति की ओर से बोलने का अधिकार नहीं है। आज भी मुसलमानों में कई संस्थाएं हैं, जो मुसलिम प्रतिनिधि बनने का दावा करती हैं, पर उनके दावे केवल जबानी हैं, उनमें से किसी ने भी मुसलिम जनता की तरफ से बोलने का अधिकार नहीं प्राप्त किया है। मुसलिम जनता क्या चाहती है, इसके जानने का एकमात्र यही उपाय है कि व्यापक-से-व्यापक निर्वाचन द्वारा मुसलिम मांगें निर्धारित की जाएं और तब हिन्दू-जाति को वह निर्णय स्वीकार करना पड़ेगा। उसकी किसी सिद्धांत से भी वह उपेक्षा नहीं कर सकती। संभव है मुसलिम जनता इन चौदह बातों ही को स्वीकार कर ले, क्योंकि जनमत की बागडोर शिक्षित समुदाय के हाथों में रहती है, पर जब सभी दलों और विचारों के नेता मुसलिम जनता के सामने आ-आकर अपने दृष्टिकोण रखेंगे, उस वक्त जनता खुद अपने लिए कोई-न-कोई मार्ग चुन लेगी। तब वह संयुक्त मुसलिम जाति की मांग होगी और ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो उसका अनादर कर सके, लेकिन ऐसा प्रस्ताव किसी मुसलिम संस्था की ओर से नहीं किया गया।

बात यह है कि अभी तक कांग्रेस के सिवा और किसी राजनैतिक संस्था ने जनता का सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा ही नहीं की। वे अधिकार चाहती हैं, नौकरियां चाहती हैं और ऐसे साधन चाहती हैं, जिनसे वे जनता को अपने स्वार्थ का यंत्र बना सकें। जनसाधारण के हित का उन्हें कभी विचार ही नही आता।

वे जानती हैं कि जनता के सामने जाकर इन्हें जनता के हित के प्रस्ताव करने पड़ेंगे और जनहित का समर्थन करने में बहुत संभव है कि वे सरकार के कृपापात्र न बने रह सकें। यही कारण है वे जनता के सामने जाते डरती है। अगर आज मुसलिम लीग या मुसलिम कांफ्रेंस अपने चौदह प्रश्नों को लेकर जनता के सामने जाए, तो कदाचित् वह उन्हें ठुकरा दे। गुजरात या तमिल की मुसलिम जनता को उर्दू-लिपि से क्या प्रेम हो सकता है, सिंध बंबई में रहे या पंजाब में साधारण जनता को उससे

कोई दिलचस्पी नहीं हो सकती। उसे तो उन्हीं प्रश्नों से रुचि होगी, जो उसकी आर्थिक समस्याओं को हल कर सकें, जिनसे वह जीवन-संग्राम में सफल हो सके।

जो लोग अपनी संस्कृति या सभ्यता की रक्षा की दुहाई दिया करते हैं, उन्हें पंडित जवाहरलाल ने बड़े सारगर्भित शब्दों में उत्तर दिया है, जो हम यहां नकल करते हैं--

''लेकिन संस्कृति के इस भेद का सांप्रदायिक समस्या से क्या संबंध है? भारत में सांस्कृतिक या वंशगत भेद मौजूद हैं, लेकिन इन भेदों का संप्रदायों से कोई संबंध नहीं है। अगर कोई आदमी किसी दूसरे मत में चला जाए, तो इससे उसके वंशगत या जीवगत संस्कार नहीं बदल जाते, न उसका सांस्कृतिक आधार ही बदल जाता है। संस्कृति राष्ट्रीय वस्तु है, धार्मिक नहीं। और नई परिस्थितियां अंतर्राष्ट्रीय जाति-विभाग का ही विकास कर रही हैं। पूर्वकाल में भी भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का एक-दूसरे पर असर पड़ता था, लेकिन राष्ट्रीय प्रणाली ही प्रधान रहती थी। भारत, ईरान, चीन आदि प्राचीन देशों में ऐसा ही हुआ है।

''मुसलिम संस्कृति क्या है? यह सेमिटिक अरबी संस्कृति है या आर्य-ईरानी संस्कृति, या दोनों का सम्मिश्रण है? अरब संस्कृति कुछ दिनों के उत्थान के बाद पीछे पड़ गई, लेकिन उनके उत्थान काल में भी, ईरानी संस्कृति की उस पर छाप पड़ गई थी। भारत पर उसका बिल्कुल प्रभाव न पड़ा। ईरानी संस्कृति इसलाम के पहले की है, और यह इतिहास का एक विचारणीय प्रश्न है कि यह ईरानी-संस्कृति हजारों वर्षों से अपना अस्तित्व बनाए हुए है। आज भी ईरान अपनी सांस्कृतिक जागृति के लिए पूर्व इसलाम काल की ओर आंखें उठा रहा है। निस्संदेह इस ईरानी संस्कृति की भारत पर छाप पड़ी और भारत ने भी उस पर अपना रंग जमाया, लेकिन फिर भी भारत की प्राचीन संस्कृति भारत में प्रधान रही और बाहर वालों पर उसकी छाप पड़ गई।

''आज भारत में मुसलिम और हिन्दू जनता में कोई वंशगत या सांस्कृतिक भेद नाम को भी नहीं है। ऊंचे दर्जे के मुट्ठी-भर मुसलमान भी जो अपने को देश से बिल्कुल अलग समझते हैं, भारत के रंग में रंगे हुए हैं और केवल ऊपर-ही-ऊपर उन पर ईरान का असर पड़ा है। क्या उनमें से कोई भी ईरान या टर्की या मिस्र या अरब में जाकर वहां की परिस्थितियों में अधिक प्रसन्न होगा?''

यहां पर प्रश्न हो सकता है कि 'संस्कृति' क्या है? हमारे इस खयाल में संस्कृति के दो रूप हैं, एक बाह्य जगत से संबंध रखने वाली, दूसरी अंतर्जगत से। बाह्य संस्कृति का संबंध भाषा, पहनावा, शिष्टाचार, शादी-व्यवहार आदि से है, आंतरिक संबंध धार्मिक और आध्यात्मिक विचारों से। इस कसौटी पर मुसलिम संस्कृति को कसिए तो मालूम होगा कि प्रत्येक प्रांत में हिन्दू और मुसलिम जनता की भाषा एक है, पहनावा एक है, शादी-ब्याह की परिपाटी भी एक है। अवध या बुंदेलखंड के किसी मुसलिम या हिन्दू किसान में ऐसा कोई अंतर न मिलेगा, जो एक को दूसरे से अलग कर सके। और आंतरिक विभिन्नता तो इससे भी कम है। जीवन के विषय में दोनों का दृष्टिकोण एक है, दोनों धार्मिक हैं, दोनों ही भाग्यवादी हैं, दोनों ही

शान्तिप्रिय हैं, दोनों ही संतोषी हैं। देहातों के मुसलमान भी जात-पांत के बंधनों से उसी तरह बंधे हुए हैं, जैसे हिन्दू। अच्छाइयां और बुराइयां दोनों ही में समान हैं। फिर समझ में नहीं आता, वह कौन-सी मुसलिम संस्कृति है, जिसको इतना महत्त्व दिया जाता है। देहातों में तो त्योहार और रीति-रिवाज भी एक-से हो गए हैं। मुसलमान होली खेलते हैं, और रामलीला देखते हैं, और हिन्दू मुहर्रम में ताजिए रखते हैं और मनौतियां करते हैं। हां, इधर कुछ दिनों से दोनों ओर से मौलवी और पंडित सांप्रदायिक मनोवृत्तियों को जगाने की चेष्टा कर रहे हैं। अंत में जवाहरलाल जी ने अपने बयान में कहा है–

"बहरहाल डॉ० सर मुहम्मद इकबाल को यह मालूम हो जाना चाहिए कि अगर दोनों जातियों में से कोई भी, चाहे वह बड़ी हो या छोटी, साम्राज्यवाद से मेल करना चाहती है तो भारत की राष्ट्रीयता उसका निरंतर विरोध करती रहेगी।"

[संपादकीय। 'जागरण', 18 दिसंबर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग', भाग-2 में संकलित।]

एक हिन्दी-साहित्य विद्यालय की जरूरत

जब से मद्रास-प्रांत में हिन्दी का प्रचार बढ़ने लगा है, वहां से सैकड़ों युवक हिन्दी साहित्य का ज्ञान बढ़ाने के लिए इलाहाबाद और काशी में आने लगे हैं, लेकिन यहां ऐसी कोई संस्था नहीं है, जो उन्हें आश्रय दे सके। काशी में दीन-साहित्य-विद्यालय है, पर किसी तरफ से कोई सहायता न पाने के कारण उसकी दशा सुव्यवस्थित नहीं है, उसके संचालक यथावकाश अपना कुछ समय देते हैं और जो कुछ करते हैं वह भी गनीमत है। हिन्दी प्रचार का ठीका कुछ उन्होंने तो लिया नहीं है कि सारा दायित्व उन्हीं पर रख दिया जाए। इलाहाबाद का हिन्दी विद्यापीठ भी कुछ इसी दशा में है। यूनिवर्सिटियों में साहित्य-शिक्षा का प्रबंध है, पर उससे ऐसे विद्यार्थी क्या लाभ उठा सकते हैं। वह तो यूनिवर्सिटी के छात्रों ही के लिए है। जरूरत ऐसे विद्यालयों की है, जिसमें नियमित रूप से शिक्षा दी जाए, हिन्दी के विद्वान अध्यापक हों और छात्रों के रहने का भी प्रबंध हो। दस-पांच छात्रवृत्तियां भी हों तो और भी अच्छा। हमारे यहां आए दिन हाईस्कूल खुलते रहते हैं, जिनकी अब न कोई जरूरत है, न कोई उपयोगिता। क्या ही अच्छा हो कि किसी विद्यादानी का ध्यान इधर आकृष्ट हो जाए। अगर देहली-साहित्य-सम्मेलन में यह प्रश्न उठाया जाए और ऐसे विद्यालयों की जरूरत दिखाई जाए, तो संभव है धनिकों को ध्यान हो। अगर इस तरह का कोई विद्यालय हिन्दू-विश्वविद्यालय में खोला जाए, तो एक बहुत बड़ी कमी पूरी हो जाए। क्या यह लज्जा की बात नहीं है कि हिन्दी के प्रधान केन्द्र में एक भी ऐसा हिन्दी विद्यालय न हो, जहां हिन्दी-साहित्य की ऊंची पढ़ाई हो सके? और हिन्दी को हम राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं। अन्य प्रान्तों में हिन्दी से जो रुचि पैदा हो गई है, यदि हमारी अकर्मण्यता से वह ठण्डी पड़ गई तो फिर राष्ट्रभाषा का स्वप्न बहुत दिनों के लिए भंग हो जाएगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 25 दिसम्बर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

जुए का युग-1

यह तो नहीं कहा जा सकता कि पुराने जमाने में जुए का रिवाज न था, क्योंकि पांडवों ने कौरवों के साथ जुआ खेला था, नल भी पक्के जुआरी थे और पुराने नाटकों में भी जुए का जिक्र आया है, पर यहां जुआ खेलना बुरा समझा जाता था। दिवाली के एक दिन आगे और पीछे लोगों पर जुए का भूत सवार हो जाया करता था। लेकिन, वर्तमान युग में तो जुआ जीवन के हर पहलू में इस तरह घुस गया है कि इसे जुए का युग कहें तो अनुचित न होगा। बाजार में साबुन, तेल, सिगरेट, दंत-मंजन कुछ खरीदने जाइए, आपको दाम के बदले में केवल सौदा ही न मिलेगा, इनाम का प्रलोभन भी मिलेगा। इसलिए आप जरूरत न रहने पर भी इस जुए में अपनी तकदीर आजमाने के लिए यह चीज खरीद लेते हैं। लाटरी और घुड़दौड़ को छोड़िए, वह तो पुरानी चीज हो गई, अब तो साहित्य में भी जुए का दौर है। आप पुस्तकें खरीदिए, पुस्तक के अतिरिक्त आप‌ को इनाम भी मिलेगा। कारनिवल वाले इस तरह का प्रलोभन देते ही थे, अब स्वदेशी प्रदर्शनियों में भी लकी टिकट रखे जाते हैं और जिनके नाम वे टिकट पड़ जाते हैं, उन्हें इनाम मिलता है। समाचार वाले क्यों चूकने लगे, उन्होंने प्रतियोगिता पुरस्कार निकाल लिया और सुना है, इंग्लैंड के बाजे अखबार एक या दो लाख पौंड हफ्तेवार इनाम दे रहे हैं। गुलाम हिन्दुस्तान के लिए, तो कोई चीज योरोप से आ जानी चाहिए, वह आंखें मूंदकर उसका स्वागत करने को तैयार है। आज एक अंग्रेजी पत्र में भाग्यशाली व्यक्तियों के नाम छपे हैं, जिन्होंने कोपरन दंतमंजन खरीदा था। इसलिए जिन्हें बेकारी सता रही है, वे लपककर कोपरन टूथ पेस्ट खरीदकर अपने भाग्य की परीक्षा करें। वाह रे पश्चिम की सभ्यता, तूने मानवता के लिए तो कहीं जगह ही नहीं रखी। चारों तरफ निकृष्ट व्यवसायिकता का राज है। सुनते हैं, हमारे बड़े-बड़े मारवाड़ी सज्जन जो आज भारत के नेता कहला रहे हैं, सट्टेबाजी की बदौलत करोड़पति बन गए। आजकल तो धन पूजता है। आप किसी तरह धन के प्रभु बन जाइए, दिवाला निकालकर, जाली नोट चलाकर, या नकली दस्तावेज बनाकर--इससे मतलब नहीं। आपके पास धन होना चाहिए। आपका चारों तरफ आदर होगा, सब आपके सामने घुटने टेकेंगे। जो समाज-सुधार के दीवाने हैं, वे भी आपके द्वार पर हाजिरी देंगे, क्योंकि आपके पास धन है। आप जो चाहें कर सकते हैं। खूब जुआ खेलिए, खूब शराब पीजिए, खूब दूसरी औरतो को घूरिए और अपनी शादी न कीजिए और दिन में दो-चार दर्जन डिब्बे सिगरेट के फूंक डालिए, बस, आप औव्वल दरजे के जेंटलमैन हैं, उसमें जो शक करे वह काफिर।

[संपादकीय। 'जागरण', 25 दिसम्बर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

बेकारी के करिश्मे

खबर है कि इलाहाबाद में अबकी मादक वस्तुओं की दुकानों के ठीके के उम्मीदवारों में कई ग्रेजुएट और कई एम० ए० पास लोग भी हैं। इन्हीं दुकानों पर थोड़े दिन पहले कांग्रेस ने पिकेटिंग की थी और कितने ही युवक उस जुर्म में जेल भेजे गए थे। उन दुकानों की बोली बोलने वाले न मिलते थे। और आज शिक्षित युवक उन दुकानों के ठीके के लिए कनवेसिंग कर रहे हैं। इसमें खेद या आश्चर्य की क्या बात है। शिक्षित युवक आबकारी के अफसर नहीं हैं, जिनका कर्तव्य ही यह है कि नशे की बिक्री बढ़ाएं। शिक्षित युवक राष्ट्रीय आंदोलन को कुचलने में क्या सरकार के साथ न थे? अगर शिक्षित वर्ग में विवेक जाग उठे, तो संसार स्वर्ग हो जाए। अभी तो यह हाल है कि शिक्षित समाज राष्ट्र को Exploit करने में मस्त है। दूसरी बात यह है कि राष्ट्र में Exploit किए जाने की सामर्थ्य ही न रहे।

[संपादकीय। 'जागरण', 25 दिसम्बर, 1933, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

सर तेज बहादुर सप्रू का भाषण

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के दीक्षान्त भाषण में सर तेजबहादुर ने पाठ्यक्रम में ऐसा परिवर्तन करने के लिए आग्रह किया, जिससे छात्रों की रोटी का सवाल हल हो सके, क्योंकि रोटी का सवाल संस्कृति के सवाल से कहीं आवश्यक है। आपने बहुत बार फरमाया कि हजारों युवक अपने कानून और आर्ट और विज्ञान का डिप्लोमा लिए मारे-मारे घूम रहे हैं। आपने व्यवसायिक और औद्योगिक शिक्षा पर जोर दिया। मगर हम पूछते हैं कि औद्योगिक डिप्लोमा वालों के लिए भी कहां स्थान है? रुड़की और अन्य टेक्निकल स्कूलों को जाने दीजिए, चमारों, लोहारों और बढ़इयों के लिए भी तो काम की इफरात नहीं है। अगर उनकी संख्या और बढ़ जाए, तो उनमें भी बेकारी बढ़ जाएगी। फिर कौन-सा उद्योग सीखें जहां रोटी का सवाल हल हो सके।

मगर यहां तो सिर्फ रोटी ही का सवाल नहीं है। सम्मान का सवाल है, बंगले का सवाल है, कार का सवाल है, फर्स्ट क्लास में सफर करने का सवाल है। औरों में जो महत्त्वाकांक्षा है, क्या युवकों में उसका होना वर्जित है? बढ़ई या चमार को किसी ने शान से बंगले में रहते नहीं देखा। वह बहुत सफल हुआ तो अपनी बीवी के लिए कुछ गहने बनवा देगा, या अपने कच्चे मकान को पक्का करवा लेगा। शान से वही लोग जीवन का निर्वाह कर रहे हैं, जिन्होंने कानून पढ़ा है, जिन्होंने आर्ट और विज्ञान की डिग्रियां ली हैं। उसी रास्ते पर हमारा युवक भी चल रहा है। उसे किसी तरह संतोष नहीं होता कि उसे प्रकृति ने केवल जूते गांठने के लिए पैदा किया है, और ऊंची शिक्षा उसके लिए हानिकर होगी। वह अपने समीप जो कुछ देखता है, उसी का रंग उस पर असर करता है। जो लोग उस

पढ़ाते हैं, जो लोग उसे उपदेश देते हैं, जो लोग उसकी ज्ञानवृद्धि करते हैं, जो जीवन के सच्चे आदर्श बनकर उसके सम्मुख खड़े होते हैं, कैसे मुमकिन है कि इनका प्रभाव उस पर न पड़े। ऐसे लोग जब उससे औद्योगिक शिक्षा का अनुरोध करते हैं, तो वह अपने अंदर-ही-अंदर कुढ़ता है और सोचता है कि आप लोग तो ज़िंदगी के मजे उड़ा रहे हैं, हमें मजदूरी करने का उपदेश देते हैं। यही कारण है कि आज हजारों युवक निराश होने पर भी विद्यालयों की ओर दौड़े चले आते हैं। क्या हरज है चोटी के दो छात्रों के लिए ही कुछ आशा है, शेष के लिए कोई आशा नहीं। कौन जाने उसी की तकदीर लड़ जाए और वह उन दो आदमियों में एक हो। कुछ भी हो वह पहले से ही हिम्मत हारकर न बैठेगा। एक, दो, तीन बार अपनी किस्मत आजमाएगा, अपनी आंखें फोड़कर, स्वास्थ्य खोकर, घर को बरबाद कर वह यह परीक्षा करेगा और जब असफल हो जाएगा, तो उसे यह ढाढ़स हो जाएगा कि उसने यथाशक्ति उद्योग कर लिया। क्षेत्र से भागकर अपने को अयोग्य समझ लेने पर, उसका युवक और मनस्वी आत्मा कभी तैयार नहीं होता।

बात यह है कि समाज का जैसा कुछ संगठन है, उसमें ऐसी स्थिति का पैदा होना अनिवार्य था और वह हुई। जब तक थोड़े से आदमी मस्तिष्क के बल से अपने स्वार्थों की उन्नति करते रहेंगे, जब तक गिने-गिनाए आदमियों को भी ऐसे अवसर मिलते रहेंगे कि वे डिप्लोमा का पासपोर्ट लेकर सम्मान और ऐश्वर्य के प्रदेश में विचर सकें, उस वक्त तक विद्यालयों में छात्रों का यों ही रेलपेल रहेगा, चाहे विद्यालय उनकी आकांक्षाओं की समाधि ही क्यों न बनता रहे? यह स्थिति कुछ भारत में ही नहीं हुई है। अमेरिका, योरप के उन्नत देशों में भी जहां कहीं व्यक्ति की प्रधानता है, यही दशा हो रही है। जब तक राष्ट्र समष्टि रूप धारण न करेगा, जब तक थोड़े से चतुर व्यक्ति लक्ष्मी के कृपापात्र बनते रहेंगे, जब तक हरेक को अपनी-अपनी पड़ी रहेगी, जब तक राष्ट्र इस उत्तरदायित्व को स्वीकार न करेगा कि राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से जीवित रहने और उन्नति करने का अधिकार है, उस वक्त तक पढ़े-लिखों की यह भयंकर बेकारी दिन-दिन बढ़ती जाएगी। यह सत्य है कि आज बड़े-बड़े राष्ट्रों के विधाता वे लोग हैं, जिन्होंने विद्यालयों का मुंह तक नहीं देखा। लेकिन मसोलिनी, हिटलर और स्टालिन समाज की लीक पर चलकर इस पद पर नहीं पहुंचे हैं, वे क्रांति-मार्ग से अपने उच्च स्थान पर पहुंचे हैं। और क्रांति बच्चों का खेल नहीं है। हम अपने युवकों के मस्तिष्क में यह खयाल नहीं जमने देना चाहते कि उन्नति के द्वार उनके लिए बंद हैं और समाज और राष्ट्र से विद्रोह करके ही वे अपने लिए स्थान निकाल सकते हैं। देश के लिए वह बुरा दिन होगा अगर युवकों के दिल में यह बात बैठ गई। उसके लिए यह परमावश्यक है कि राष्ट्र इस सिद्धांत को स्वीकार कर ले कि डिप्लोमा संपत्ति और अधिकार के खजाने की कुंजी नहीं है, तभी शिक्षा का वास्तविक महत्त्व प्रकट होगा। अभी तो शिक्षा भी एक व्यवसाय है और जो अधिक-से-अधिक धन खर्च कर सकता है वह बड़ी-बड़ी डिग्रियां भी ले सकता है, बशर्ते कि वह निरा कोढ़-मग्ज न हो। राष्ट्र के भावी कल्याण के लिए यह

जरूरी हो गया है कि समाज और राष्ट्र की वह व्यवस्था जिसमें थोड़े से व्यक्ति संसार की विभूतियों पर आधिपत्य जमाएं असंतोष और संघर्ष की ज्वाला फैला रहे हैं, बदल दी जाए और हमारी महानता की कसौटी हमारी शान और विलासिता न हो, बल्कि हमारी सेवा और त्यागमय जीवन ही उसकी कसौटी हो।

[संपादकीय। 'जागरण', 25 दिसंबर, 1933, मे प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 मे संकलित।]

सामाजिक नियंत्रण की जरूरत है या नहीं?

इधर दो-तीन महीने से सहयोगी 'लीडर' में एक बड़ा मनोरंजक विवाद चल रहा है। शायद अक्टूबर के महीने में समाचार छपा था, कि इन्दौर राज मे एक ऐसा कानून जारी किया है कि बरातों और उत्सवों में पचास से ज्यादा मेहमानों को बुलाना दंडनीय समझा जाय, इस पर काशी के विद्वान् नेता बाबू श्रीप्रकाश जी ने 'लीडर' में एक पत्र लिखकर इस कानून का विरोध किया। उनके खयाल में सामाजिक जीवन में इस तरह का नियंत्रण अनावश्यक और कष्टप्रद है। गरीबों को जीवन में आनंद मनाने के इतने कम अवसर मिलते हैं कि शादी ब्याह में भी यह बाधा डाल दी गई तो जीवन बिल्कुल ही शुष्क और निरानंद हो जायगा। इस पर काशी के ही एक उदीयमान लेखक श्री लक्ष्मीकांत झा ने इंदौरी कानून का समर्थन करते हुए लिखा कि गरीबों को उनकी ही अदूरदर्शिता से बचाना राज का धर्म है और इंदौर ने यह कानून जारी करके अपनी प्रजा का बड़ा उपकार किया है। बाबू श्रीप्रकाश जी ने फिर इसका प्रत्युत्तर दिया है और उसमें अपने पूर्व कथन का समर्थन करते हुए लिखा है कि अमीरों को उस वक्त तो किफायत का खयाल नहीं आता जब वह अपनी दावतों और पार्टियों में हजारों खर्च करके कर्जदार हो जाते हैं, तो गरीबों ही के साथ क्यों यह कानून बरता जाय।

प्रश्न यह है कि सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता है या नहीं? यह तो सभी जानते हैं कि आदर्श शासन वही है जिसमें राज की ओर से कम से कम बंधन रहे। जनता अमीरों ही की नकल करती है। अगर धनवान लोग इस तरह अपव्यय न करें तो गरीबों को भी अपना घर फूंककर तमाशा देखने को हवस न हो। हम तो इसी सिद्धांत पर अनिवार्य शिक्षा का भी विरोध करते हैं। बजाय इसके जनता पर यह कड़ा प्रतिबंध लगाकर उन्हें किफायत का सबक दिया जाय, यह कहीं अच्छा है कि जाति के अगुआ खुद किफायत का आदर्श सामने रखें। जब तक धनी लोग धूमधाम के मोह में पड़े रहेंगे जनता पर कड़ा बंधन लगाकर उन्हें दूरदर्शी नहीं बनाया जा सकता।

[संपादकीय। 'जागरण', 25 दिसम्बर, 1933 मे प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 मे संकलित।]

